जायसी और उनका पद्मावत

(नागमती वियोग खण्ड तक)

मूल, टीका एवं आलोचना सहित

लेखक
राजकुमार शर्मा

•

प्रकाशक
पदम बुक कम्पनी
जयपुर

विषय-सूची

भूमिका

पद्मावत

(पाठ्य, शब्दार्थ, संदर्भ, सप्रसंग व्याख्या एवं विशेष सहित)

के बदले इन लोक प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।"

स्थूल रूप से यह बात कही जा सकती है कि सूफी मत भारतवर्ष में चार संप्रदायों के रूप में पाया:—

१. चिश्ती सम्प्रदाय—बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।
२. सुहरावर्दी संप्रदाय—तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में।
३. कादरी संप्रदाय—पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।
४. नक्शबंदी संप्रदाय—सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध।

इन चारों सम्प्रदायों के सिद्धान्त मूल रूप में समान थे। बाहरी दृष्टि से इनमें वही भेद मालूम होता था जो किन्हीं भी दो व्यक्तियों में या उनके सिद्धान्तों में दिखाई देता है। इनके धार्मिक विचारों और व्यवहारों में पर्याप्त समानता थी।

चिता के साथ सती कराकर जायसी ने आर्य सभ्यता के साथ अपने हृदय की एकरूपता प्रकट की है।

(७) मुसलमान प्रेम गाथाकारों का प्रमुख उद्देश्य था, सूफी मत का प्रचार और प्रसार। वे वस्तुतः मुसलमानों की कट्टर नीति के त्याग और हिन्दू घरानों में प्रचलित कथाओं के वर्णन के माध्यम से जनता के हृदय पर अपने धर्म की छाप लगाना चाहते थे। उनके उदार दृष्टिकोण से अनेक हिन्दू, मुसलमानों की ओर मोहित हुए और उनसे प्रेमपूर्ण दृष्टि रखने लगे। "प्रेम गाथाओं के आख्यान भारतीय होने के अतिरिक्त फारसी परम्परा से भी सबंध रखते है। जायसी के आखिरी कलाम में ऐसे आख्यानों की झलक मिलती है। यूसुफ जुलेखा भी एक ऐसा ही उपाख्यान है। इनमें भारतीय वातावरण का भी चित्रण मिलता है।"

(८) इन सभी ग्रंथों मे हिन्दुओं के अन्दर प्रचलित अनेक काल्पनिक प्रेमाख्यानों का सहारा लिया गया है। इनमे कहीं-कहीं ऐतिहासिकता की भी रक्षा की गई है।

(९) अधिकतर ग्रंथ दुखान्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। इतने पर भी धार्मिक प्रभाव से प्रेरित होकर लिखे जाने के कारण इनमें हृदय के सच्चे उद्गार अभिव्यक्ति पा सके है। इसी कारण इनमे संस्कृत काव्यों की सी सरसता और गम्भीरता दिखाई देती है।

(१०) प्रायः सभी प्रेमाख्यानों में गुरु गोरखनाथ और उनके हठयोग की चर्चा की गई है। सिंहलद्वीप मे सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त मत्स्येन्द्रनाथ और अन्य योगियों का जाना भी वर्णन की समृद्धि में सहित है। रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर हुआ है। शिवजी के मंडप में जाना और वहां अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए पूजा, अर्चना और कुछ प्रसाद चढ़ाना भी इस काव्य की परंपरा मे ही मिलते है।

(११) इन सभी काव्यों में प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त ऐसे भी पात्रों की सृष्टि है जिनमें से कुछ व्यर्थ ही दूसरों को हानि पहुंचाते हैं, दूसरों की प्रगति पर चढ़ते है और मौका पड़ने पर बुरा करने से भी नहीं चूकते है।

(१२) इन सभी कृतियों में प्रथम दर्शन के प्रेम को अपनाया गया है। इन सभी में जो प्रेम का सूत्रपात हुआ है वह रूप वर्णन, श्रवण दर्शन, चित्र दर्शन या स्वप्न दर्शन के माध्यम से हुआ है।

(१३) इन सभी काव्यों की शैली मसनवी है। इनमें भारतीय काव्यों की सर्गबद्ध शैली को स्थान नहीं मिला है।

(१४) वर्णनात्मकता, प्रगीतात्मकता, जाति, वर्ग के प्रति समान या समन्वयशील दृष्टिकोण इन सभी काव्यों में मिलता है। लौकिक वर्णन के माध्यम से अलौकिक व्यंजनाओं की ओर संकेत करना सभी प्रेम गाथाओं की विशेषता है।

(१५) सामान्यतः सभी प्रेमगाथाएं वर्णन प्रधान हैं। जहां कहीं भी इन्हें अवसर मिलता है वहां ये वर्णनों में रमते दिखाई देते हैं। वास्तविकता यह है कि इन सभी की शैली जहां एक ओर वर्णन प्रधान है, वहां दूसरी ओर सांकेतिक और प्रतीकात्मक भी है। जायसी इस कार्य में अग्रणी है।

प्रेमगाथा काव्यों की परंपरा

प्रेमगाथा काव्यों की विस्तृत परंपरा मिलती है। जायसी से पूर्व भी और बाद में भी अनेक प्रेम प्रधान काव्य लिखे गये हैं। उनका विवेचन और वर्णन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जायसी की रचना इस परंपरा की प्रौढ़तम कृति है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने प्रेमगाथा काव्य को स्थूल रूप से दो भागों में बांटा है—मुसलमान प्रेमगाथा काव्य और दूसरे हिन्दू प्रेमगाथा काव्य। मुसलमान प्रेमगाथा काव्यों में वे ही विशेषताएं मिलती हैं जो ऊपर विवेचित की गई हैं। वस्तुतः जो ग्रंथ इस परंपरा में मिलते हैं उनका विवेचन ही यहां किया जा रहा है—

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सूफी प्रेम काव्यधारा का आरंभ मुल्ला दाऊद कृत 'चंदायन' नामक ग्रंथ से माना जाता है। जायसी ने अपने पद्मावत में और भी कुछ प्रेमगाथाओं का विवेचन किया है यथा—स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती, प्रेमवती आदि। इनके अतिरिक्त और भी प्रेम काव्यों का उल्लेख मिलता है पर उनका कोई प्रामाणिक आधार देखने को नहीं मिलता। जायसी ने जिनका उल्लेख किया है उनसे सम्बन्धित पंक्तियां इस प्रकार हैं—

विक्रमधंसा प्रेम के बारा। 'सपनावति' कहें गयेउ पतारा ॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साध कुंवर खंडरावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगी ॥
प्रेमवति कहिं सुरसरि साधा। उषा लागि अनिरुध वरबांधा ॥
(जायसी ग्रंथावली से)

मृगावती:—इस प्रेम काव्य के रचयिता शेख कुतुवन थे जिनके गुरु शेख बुरहान थे। इसका रचनाकाल १५६० है। मृगावती में, मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार की प्रेम कथा का वर्णन पाया जाता है। कथा का वर्णन, दोहा, चौपाई तथा सोरठा और अरिल्ल छन्दों में हुआ है। इस कथा में शामी परंपरा और भारतीय परंपरा का समान योग मिलता है। इसकी कथा पढ़ने से स्पष्ट होता है कि चन्द्रगिरि का राजकुमार बड़ी कठिनाइयों के बाद मृगावती को प्राप्त करता है। काव्यत्व की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। भाषा अवधी है। ईश्वरीय सत्ता की ओर जो संकेत किये गये हैं वे बड़े सुन्दर हैं। कथा को भारतीयता के सांचे में ढाला गया है। इस दृष्टि से यह प्रेम कथा सूफी कवियों की पथ-प्रदर्शिका के रूप में ग्रहण की जा सकती है या की जानी चाहिए। डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "इसमें प्रेम मार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण किया गया है जिससे साधक की साधना का स्वरूप प्रकट होता है। बीच-बीच में रहस्य से भरी हुई सुन्दर आध्यात्मिक उक्तियां और अन्योक्तियां इसमें भरी पड़ी हैं।"

मधुमालती:—मधुमालती का रचयिता मंझन नाम से प्रचलित है। इसका रचनाकाल हिजरी सन् ९५२ हैं। इस प्रेम कथा में कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम कथा वर्णित है। इसकी कथा तथा वर्णन शैली अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं

की अपेक्षा अधिक जटिल, प्रांजल और मनोहर है। इसमें वर्णित प्रेमकथा के साथ ही साथ उपनायक ताराचंद तथा उपनायिका प्रेमा की कथा का भी वर्णन पढ़ने को मिलता है। यह वर्णन बड़ा भव्य, प्रभावशाली और मनोहर है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि इस प्रेमगाथा काव्य के कारण ही मंझन का नाम अमर होगया है। सरल सार' प्रेम का आदर्श इसमें दिखाया गया है। इसकी कथा में वर्णनात्मकता अधिक है और साथ ही यह वर्णनात्मकता सहृदयता से समन्वित है। प्रेम के विरहपक्ष को इसमें विशेष महत्व दिया गया है। कवि ने अपनी कोमल भावनाओं को मनोहर कथा-सूत्र में बड़ी सावधानी से पिरोया है। इस ग्रंथ के संदर्भ में डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"जायसी ने जिस मधुमालती के प्रेमाख्यान की ओर संकेत किया है, वह सम्भवतः लोक प्रचलित आख्यान रहा होगा, जिसे कत्थक यूरोपीय साझा की भांति गद्य-पद्यमय रूप में सुनाते रहे होंगे। उसका वह लिपिबद्ध रूप न रहा होगा जो इस प्रति में पाया जाता है और जिसकी रचना जायसी के पद्मावत के प्रणयन के पश्चात् हुई है।......................काल्पनिक कथानक के अन्तर्गत प्रकृति के दृश्यों का अतीव हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है। अव्यक्त की ओर उसके मधुर संकेत पढ़ते ही बनते हैं। इस ग्रंथ में कवि ने अपनी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पूर्ण परिचय देते हुए हिन्दुओं की भांति जन्मजन्मांतरों के बीच प्रेम की सतत विद्यमानता दिखाई है। मधुमालती में यह प्रेम पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता है।"

चित्रावली:—प्रेम गाथाओं की परंपरा में यद्यपि मधुमालती के बाद जायसी के पद्मावत का नाम ही लिया जाना चाहिए किन्तु इसका विवेचन हम बाद में करेंगे। चित्रावली इसी परंपरा की एक श्रेष्ठ कृति है। इसमें पद्मावत की छाया दिखाई देती है। पद्मावत की कथा में जिन-जिन विषयों का उल्लेख मिलता है उनका ही वर्णन करीब-करीब **चित्रावली** में मिलता है। **पद्मावती और चित्रावली** में प्रमुख अन्तर यह है कि पद्मावत का ऐतिहासिक आधार है और यह कोरी कल्पना पर आधारित है। इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखाई देती है—

सब वही भीतर वह सब मांही। सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
दूसर जात नाम जिन पावा। जैसे लहरी उदधि कहावा॥

"चित्रावली की कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और कौतूहल पूर्ण है। उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत करने की कल्पना भी की गई है।" चित्रावली में नेपाल के राजकुमार सुजान, रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली और सागर की राजकुमारी कमलावती की प्रेम कथा है। दोनों ही राजकुमारियों के जीवन में विवाह से पूर्व कठिनाइयां आती हैं। इन कठिनाइयों का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। कल्पना में और वर्णन में अध्यात्म का रंग है। चित्रावली जब जल में छिप जाती हैं तो कवि सखियों से अलौकिक व्यंजना कराता है:—

गुपुत तोहि पावहि का जानी।
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू। रहा खोज पै पाव न भेदू॥

संकर पुनि हारे कै सेवा। ताहि न मिलहि और को देवा॥
हम अंधा जेहि आपु न सूझा। भेद तुम्हार कहां लौ बूझा॥
कौन सो ठाउं जहां तुम नाहीं। हम चख ज्योति न देखहि काहीं॥

इसके उपरांत जान कवि कृत २१ सूफी प्रेम काव्यों का उल्लेख मिलता है जिनमें कनकावती, कामलता और छीता अधिक प्रसिद्ध हैं। कनकावती में मरथनेर के राजकुमार परमरूप तथा निद्यपुरी की राजकुमारी कनकावती के प्रेम की कथा है। 'कामलता में हंसपुरी नगरी के राजा रसाल तथा सुन्दरपुरी की शासिका कामलता के प्रेम की कथा है तथा छीता में देवगिरि के राजा देव की पुत्री छीता तथा राजा राम के प्रेम की कथा है। इस पर पद्मावत का पर्याप्त प्रभाव प्रतीत होता है। इनके ही समकालीन शेखनबी कवि हैं। इनकी कृति का नाम ज्ञानद्वीप है।

ज्ञानद्वीपः—इस ग्रंथ में राजा ज्ञानद्वीप और देवजानी की कथा वर्णित है। इस में भी परंपरागत गुणों और यथेष्ट सरसता का समावेश है। हंस-जवाहिर में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम की कहानी है। इसके रचने वाले कासिमशाह दरियाबाद (बाराबंकी) में उत्पन्न हुए थे। इसमें जो कथा है उससे स्पष्ट है कि सुल्तान बुरहान के घर एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ और चीनाधिपत्य आलमशाह के घर जवाहर नाम की एक सुन्दरी कन्या ने जन्म लिया। बड़े होकर भी इन दोनों के हृदयों में प्रेम का बीजारोपण हुआ है। यह अध्यात्मपरक ही है। इन्द्रावती और अनुराग बांसुरी के रचयिता नूर मुहम्मद हैं। ये जौनपुर जिले में सबरहद नामक स्थान के रहने वाले थे। बाद में आजमगढ़ में अपने ससुर शमसुद्दीन के यहां रहने लगे। इसके रचना के पश्चात् पद्मावती का उल्लेख भी मिलता है। 'प्रेमागाथाओं के द्वारा मुसलमान सूफी कवियों ने हिन्दू घरानों में प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर अपने सूफी सिद्धान्तों को अप्रत्यक्ष रीति से हिन्दू घरानों तक पहुंचाया। उन्होंने हिन्दुओं के पुनर्जन्म, सती महात्म्य, अवतार जैसे सिद्धांतों को भी हृदयंगम किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को समझने लगे और परस्पर भ्रातृवत व्यवहार करने लगे।"

जो धारणा बनती है वह यही है कि कवि का मानस प्रेम और अध्यात्म की गहराइयों में डूबता उतराता एक रोचक और मनहरण कथा भी प्रस्तुत करता है। राजा रत्नसेन और रानी पदमावती के प्रेम सम्बन्ध को जिस मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है, वह मार्मिकता और गंभीरता दूसरे काव्यों में नहीं मिलती है।

आचार्य शुक्ल ने प्रेम पक्ष का मूल्यांकन करते समय नागमती के विरह वर्णन की विशेष प्रशंसा की है और कहा है कि नागमती का विरह हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। नागमती विरह की घड़ियों में सारे संसार को विरहमय देखती है—

नैनन चली रकत की धारा। कंथा भीजि भयउ रतनारा
सूरज बूड़ि उठा हुई ताता । औ मजीठ टेसू बन राता ।।

जायसी के पदमावत में रहस्यवाद का भी सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। "हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी कल्पना उच्चकोटि की है।" प्रतिबिम्बवाद की सुंदर झलक इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

नैन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर ।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नगहीर ।।

पदमावत एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता का इतना सुन्दर विनियोजन किसी भी सूफी काव्य में नहीं मिलता है। इस ग्रंथ में सूफी सिद्धान्तों को तो देखा जा सकता है साथ ही साथ नाथ-पंथियों की प्रभावात्मक शब्दावली भी देखी जा सकती है। इस काव्य की रचना मसनवी शैली में हुई है। प्रारम्भ में ईश्वर, गुरु, रसूल और शाहेवक्त की वंदना की गई है। सम्पूर्ण काव्य की रचना भाषा की दृष्टि से अवधी में की गई है। दोहे और चौपाई को इसकी शैली के रूप में देखी जा सकती है। सर्गों के स्थान पर खण्डों की योजना है। कथा को जिस सफलता के साथ निभाया गया है वह सर्वथा अलग और स्तुत्य है।

प्रकृतिवर्णन पद्मावत की एक अपनी विशेषता है। प्रकृति परक पंक्तियों में शुद्ध रहस्यवाद को देखा जा सकता है। सारी प्रकृति में जो भी सौन्दर्य है उसको एकत्र कर पदमावती को सजाया गया है। सम्पूर्ण कहानी को जायसी ने अन्त में एक अन्योक्ति का रूप भी प्रदान किया है। कुल मिलाकर जायसी का पदमावत अपने ढंग का अनूठा काव्य है। रसात्मकता, सुनिश्चित अलंकार योजना, प्रकृति की मनोहर झांकी, विचारों की गुरू गंभीरता और रहस्यवादी शैली से परिपूर्ण काव्यों की श्रेणी में पदमावत का स्थान पहला है। अपनी परम्परा के काव्यों में जायसी का यही प्रदेय है जिसके कारण वे अधिक प्रतिभासम्पन्न कवि कहे जा सकते हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"पदमावत में जिस भावराशि का परिपाक है, वह भी परिस्थिति के विपरीत नहीं है। कवि ने उपयुक्त मर्मस्पर्शी स्थलों का चुनाव किया है। नागमती का वियोग वर्णन भावात्मकता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा। गोरा बादल की प्रतिज्ञा और पदमावती एवं नागमती का रत्नसेन की चिता पर सती हो जाना

तो ऐसे भाव स्थल हैं जिनके कारण आर्य संस्कृति की महत्ता चिरकाल तक मानव-मानस में प्रतिष्ठित रहेगी।" कवि का ध्यान स्वयं इस महत्ता की ओर गया है। उसने लिखा है—

गिरी, समुद समि, मेघ रवि, सांहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि॥

परिणाम भी चित्त को क्षुब्ध करने वाला नहीं है। पदमावत का अन्त औदास्य में अवश्य ओतप्रोत है, पर जीवन सतत सुख का सदन नहीं बना रहता है, यह दुःख से आक्रान्त होता ही है। भारतीय मनीषा ने इसीलिए उसका संवरण शान्तरस में किया है। पदमावत के पाठ के सम्बन्ध में आज दो तीन दृष्टिकोण प्रचलित है—

(१) आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली का पाठपरक दृष्टिकोण।

(२) वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा संपादित-विवेच्य और व्याख्या के रूप में प्रस्तुत पदमावत।

(३) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी पदमावत का पाठ प्रस्तुत किया है तथा उसमें शुक्लजी द्वारा दिये गये अनेक पदों को प्रक्षिप्त करार दिया है।

इतने पर भी जायसीजी की काव्यकृति बेजोड़ है।

या यूहन्ना भी सूफ (ऊन) धारी था, पर अब सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिये ही नियत-सा समझा जाता है।"

डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' में बतलाया है—"ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ; राजनैतिक नहीं धार्मिक। पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। इसने परम्परागत मुस्लिम आदर्शों का ऐसा घोर विरोध किया कि कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई। इस सम्प्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलांजलि-सी दे दी। संसार के सारे ऐश्वर्यों और सुखों को स्वप्न की भांति भुला दिया। सादगी और सरलता ही उसके बाह्य जीवन की अभिरुचि बन गई। कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से उसे घृणा हो गई। सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रख कर उस सम्प्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र भी बहुत साधारण रखे। वे थे सफेद ऊन के साधारण वस्त्र। फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ' कहते हैं ! इसी शब्दार्थ के अनुसार सफेद ऊन के वस्त्र पहिनने वाले व्यक्ति 'सूफी' कहलाने लगे। उनके परिधान के कारण ही उनके नाम की सृष्टि हुई।'

प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में यह कह देना भी उचित है कि सूफी शब्द किस व्यक्ति के साथ, कब से उपाधि के रूप में प्रयुक्त होने लगा है नहीं कहा जा सकता है। कुथैरी के अनुसार इस शब्द का प्रचलन ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो हो गया था। लेकिन कुछ भी हो समस्त विचारों में कल्पना का ही प्राधान्य है। जामी का कहना है कि सर्व प्रथम कूफा के अबहासिम ने 'सूफी' शब्द को अपने नाम के साथ प्रयुक्त किया। इसी संदर्भ में प्रो० रामपूजन तिवारी ने अपनी पुस्तक "सूफीमत साधना और साहित्य" में लिखा है कि—

"इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि प्रारम्भिक काल में सन्यास जीवन बिताने वाली प्रवृत्ति ही प्रमुख थी जिसने बाद में रहस्यवादी प्रवृत्तियों को अपनाया। सन्यास जीवन और रहस्यवादी प्रवृत्ति का संयोग उमैय्या खलीफों के शासन के अन्तिम दिनों में देखने लगता है और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। अब्बासी खलीफों के शासन के प्रारम्भिक काल में ही यह प्रवृत्ति अत्यधिक व्यापक हो उठती है और 'सूफी' शब्द का प्रसार अधिक से अधिक हो जाता है। पहिले जहां यह शब्द व्यक्तियों के नाम के साथ जुड़ा हुआ मिलता है, वहां पचास वर्षों के भीतर इसका प्रयोग सम्पूर्ण ईराक के रहस्यवादी साधकों के लिये होने लगा और दो सौ वर्ष बीतते-बीतते प्रायः सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिये इसका व्यवहार होने लगा। तब से आज तक सूफी शब्द का व्यवहार उसी अर्थ में होता आ रहा है।"

'सूफी' शब्द को चाहे किसी व्यक्ति ने व्यवहृत किया हो लेकिन इस शब्द की उत्पत्ति अवश्य सूफ (ऊन) से मानी जा सकती है। ऊन के सफेद वस्त्र धारण करने वाले ही सूफी कहलाये। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ आदि विद्वानों ने सिद्ध भी कर दिया है कि सूफी शब्द सूफ से बना है। जहां तक सूफी मत का सम्बन्ध है इसके आविर्भाव के बारे में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। डा० विमलकुमार जैन ने अपनी पुस्तक "सूफी मत और हिन्दी

साहित्य' में बतलाया है कि—'सूफी शब्द का प्रचलन चाहे जब हुआ हो, परन्तु इसमें अन्तर्निहित भावना उतनीही प्राचीन है जितना कि विकसित मानव हृदय; क्योंकि सूफी भावना भी मानव में सदैव से तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। मानव मन निसर्गत: एक-सा है जो सदा आत्मा के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है। मुस्लिम साधकों के मन में भी यही भावना देश काल के साधन पाकर उद्बुद्ध हुई और अन्त में सूफी मत के रूप में संसार के समक्ष आविर्भूत हुई।"

इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि सूफी मत का सम्बन्ध इस्लाम से है। यद्यपि अनेक सूफी लोग ऐसे निकले जिन्होंने अपने आपको मुहम्मद के सिद्धांत और मत से पृथक रखा फिर भी कुछ न कुछ किसी न किसी मत में आ ही गया। ये मुसलमानों की अपेक्षा कोमल प्रकृति के जीव थे। कुछ सूफियों की मान्यता है कि सूफी मत का आदम में बीज वपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहिम में कलिका खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम।

इस मत को ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के पतनोत्थान मसीहियों का विकास हुआ तथा ये लोग सूफी मत को अपनी ओर खींचने लगे। वास्तव में ऐसा हो न सका, क्योंकि इन दोनों में अन्तर है। मसीह का मूल मत विराग है जब कि सूफी मत के मूल में प्रेम का निवास है। अतः मसीह मत को सूफी मत का मूल नहीं कहा जा सकता। मसीह मत में जो प्रेम का भाव देखा जाता है वह सूफी मत का प्रभाव है।

सूफीमत का आदिम स्रोत ढूंढने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि इस मत में कौन कौन सी प्रमुख बातें थीं। यह जानलेने से इनके आदिम स्रोत का पता लग सकता है। सूफीमत की मूल भित्ति रतिभाव था जिसका विरोध शामी जाति द्वारा किया गया। मूसा और मोहम्मद साहब ने सयत काम की अनुमति दी और उसका विधान भी किया। मूसा ने प्रेम का लौकिक स्वरूप बतलाया और प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन किया। सूफी इश्कमजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। सूफियों के इलहाम और हाल की दशा का मूल भी आर्य जातियों में मिलता है। किन्तु ये लोग स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे अतः नबी सुलतान फह-[illegible]। [illegible] की [illegible] की परम्परा सूफियों में [illegible] और [illegible] के रूप में [illegible] हुई।

भारतवर्ष में सूफीमत का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी में हुआ। मुहम्मद साहब के भारत आते ही सूफीमत ने अपने पोषण के लिए बहुत से तत्त्व भारत से लिये। भारतीय वेदान्त ने सर्वाधिक रूप से इस मत को प्रभावित किया। वेदान्त का प्रभाव ग्रहण करके सूफियों ने अपना स्वतन्त्र विकास किया और इसी में कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का समाहार भी इसके अन्तर्गत कर लिया गया। सूफीमत को हठयोगियों ने भी प्रभावित किया। योगियों की प्राणायाम पद्धति को अपनाकर सूफियों ने जैसे अपने को धन्य समझा।

बारहवीं शताब्दी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आविर्भाव से ही सूफी मत का सूत्रपात मानना चाहिए। इनके पश्चात् भी १५वीं शताब्दी तक कई और सूफी सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसके सम्बन्ध में कुछ और ही लिखा है। उनकी दृष्टि में इसका श्रेय प्रसिद्ध अलहुज्वरी को है। ये अलहुज्वरी साहब भी १२वीं शताब्दी में ही भारत आये। उन्होंने सूफीमत के सिद्धांतों का विश्लेषण और विवेचन करने के लिए एक पुस्तक 'कुश्फुल महजूब' लिखी। आइने अकबरी में जिन सम्प्रदायों का उल्लेख है, उनमें से प्रमुख सूफी सम्प्रदाय ये हैं—कादरी सम्प्रदाय, सुहारावर्दी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी तथा चिश्ती सम्प्रदाय। इनमें चिश्ती सम्प्रदाय को विशेष ख्याति मिली। इसी से सूफीमत को बहुत बढ़ावा मिला। अतः स्पष्ट है कि भारत में सूफीमत का प्रचार १०वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था। ११वीं शताब्दी में विकास हुआ और १६वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही इसका पतन प्रारम्भ होगया। सूफीमत के सिद्धांत की इस सम्प्रदाय के कवियों ने लोकप्रिय गाथाओं के माध्यम से स्थापना की। इस मतका प्रमुख तत्त्व प्रेम तत्त्व है। प्रेम के द्वारा ही सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुन्दर और आनन्दमय है उतना ही कंटकाकीर्ण भी।

कबीर आदि निर्गुनिये कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की दरार को पाटने का कार्य किया किन्तु सूफी साधकों ने हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों में सांस्कृतिक एकता का भी स्तुत्य प्रसार किया। विद्वानों के मनानुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि एकता के इस प्रचार और प्रसार कार्य में सूफियों और उनके प्रयत्नों का ही महत्व अधिक है। सूफी कवि उस निर्गुण निराकार भगवान की उपासना करते थे जो अनन्त प्रेम का आगार है। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर की प्रेम की अभिव्यंजना की। इन के जो प्रेमाख्यान हैं उनमें ऐतिहासिकता का अभाव है। इसका कारण स्पष्ट है—ये लोग इनका प्रयोग अलौकिक प्रेमाभिव्यजना के लिये करते थे। सूफियों के प्रेमाख्यान विशेषतः हिन्दू-समाज के लिए लिखे गये हैं तथा हिन्दू-जीवन के प्रति सहानुभूति भावना भी प्रदर्शित करते हैं। इनकी प्रेमगाथाओं की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—प्रेममार्गी सूफी कवियों की गाथाओं का प्रणयन भारतीय चरित्र काव्यों की सर्गबद्ध शैली में नहीं हुआ बल्कि फारसी की मनसवी शैली के ढंग पर हुआ है। मनसवी शैली के अनुसार कथारम्भ में ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति,

प्रेमकाव्य के दोहों का अपना अलग महत्व है। बड़ा तीव्र व्यंग्य इनमें है। ये दोहे बड़े परिष्कृत हैं।

प्रबन्ध में वस्तु एवं घटना-वर्णन में जो प्रवाह और गतिमयता अपेक्षित है, उसका इनमें अभाव है। इन प्रेमाख्यानों में वर्णन पद्धति को अधिक महत्व मिला है। उदाहरणार्थ जायसी जब वर्णन करने लगते हैं तो कभी पक्षी का नाम उनसे छूटता है तो कभी खाद्यानों का। नगरों का वर्णन, समुद्र वर्णन, सरोवर और वाटिकाओं के वर्णन भी इसके प्रमाण हैं।

भाषा शैली में इन्होंने अवधि को ही विशेषत: अपनाया है। उसमान और नजीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मोहम्मद ने कहीं कहीं ब्रज भाषा का प्रयोग भी किया है। अवधी तद्भव शब्द, अरबी फारसी के शब्द आदि भी मिलते हैं। सूफियों ने लोकोक्तियों और मुहावरों से भी भाषा शैली को गौरव प्रदान किया। कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं कि जायसी की अवधी तुलसी की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और स्वाभाविक है। दोहा-चौपाई को अपनाकर अपने काव्यों की सृष्टि की गई है; कहीं कहीं सोरठे, सवैये आदि का भी प्रयोग मिलता है।

अलकारों में प्राय: प्रचलित अलंकारों को ही अपनाया गया है। फारसी साहित्य से प्रभावित होकर भी उपमादि अलंकारों के प्रति मोह प्रदर्शित किया है। रूप वर्णन में उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षाओं का खूब प्रयोग है। कभी कभी अतिशयोक्ति तो बड़ी हास्यास्पद भी हो गई है।

सूफियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से जिस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया था, उसके लिए इन्होंने कुछ प्रतीकों को भी अपनाया है। इनकी प्राय: सभी रचनाओं में कुछ सांकेतिक शब्द मिलते हैं। जायसी ने तो कथान्त में सारे प्रतीकों को समझा दिया है—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा ।।"

जैसी पंक्तियां इसी प्रयास की पूर्ति करती हैं।

जायसी का जीवन वृत्त तथा व्यक्तित्व

महात्मा कबीर की भांति ही जायसी की जीवन तिथि भी सदिग्ध है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस सम्बन्ध में मत व्यक्त किये हैं। सामान्यतया पद्मावत की रचना का समय ९२७ हिजरी संवत् १५२० विक्रमी माना जाता है। इसका आधार निम्नलिखित पंक्ति है—

सन् नवसैंतालीस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा ।।

जन्म-काल—जायसी के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने जायसी की कृति 'आखिरी कलाम' जो फारसी में छपी है, रचनाकाल ९३६ हिजरी सन् १५२८ ई० के आसपास बताई है। इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। इसी कृति में जायसी के जन्म के सम्बन्ध में लिखा गया है—

भा अवतार मोरे नव सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी ।।

शुक्लजी ने लिखा है कि इन पंक्तियों का अर्थ ठीक से स्पष्ट नहीं होता है।

'नवसदी' पाठ ही मानें तो जन्मकाल ९०० हिजरी (सन् १४९२ के लगभग) ठहरता है। दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी अच्छी कविता करने लगे।...शुक्लजी का ही कथन है कि पद्मावत की कथा के आरम्भिक वचन कवि ने ९२७ हिजरी (१५२० के लगभग) कहे थे किन्तु ग्रंथारम्भ में कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहे वक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है जिसके शासन-काल का आरम्भ ९४७ हिजरी अर्थात् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा में यही सम्भव जान पड़ता है कि कवि ने थोड़े से पद्य सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया था। इसी कारण कवि ने भूतकालिक क्रिया 'अहा' (=था) और कहा का प्रयोग किया है (पहले संस्करण में दिये हुए सन् को शेरशाह के समय में लाने के लिए 'नव सै सैंतालिस' पाठ माना गया था। फारसी लिपि में 'सत्ताइस' और सैंतालिस में भ्रम हो सकता है पर 'पद्मावत' का एक पुराना बंगला अनुवाद है उसमें भी 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है)। यों थोड़े बहुत पद पद्मावत की कथा को लेकर जायसी ने रचे थे। उसके पीछे वे जायस छोड़कर बहुत दिनों तक इधर उधर रहे। अंत में, जब वे फिर जायस में आकर रहने लगे तब उन्होंने इस ग्रंथ को उठाया और पूरा किया। इस बात का संकेत इन पंक्तियों में पाया जाता है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहां आइ कवि कीन्ह बखानू॥

'तहां आइ' से पं० सुधाकर और डाक्टर ग्रियर्सन ने यह अनुमान किया था कि मलिक मुहम्मद किसी और जगह से आकर जायस में बसे थे। यह ठीक नहीं है क्योंकि जायस वाले ऐसा नहीं कहते हैं। उनके कथनानुसार मलिक मुहम्मद जायस के ही रहने वाले थे। उनके घर का स्थान अब तक लोग वहां के कंचाना मुहल्ले में बताते हैं।[1]

है—"इसके अनुसार जायसी कबीर के समकालीन व्यक्ति ठहरते हैं, किन्तु इस बात का सकेत किसी भी स्थल पर नहीं मिलता है। दूसरे, जायसी को शेरशाह के समय तक ले जाने पर उनकी अवस्था लगभग १०० वर्ष से अधिक हो जायगी। यह बात कल्पनातीत है कि जायसी ने १०० वर्ष से अधिक अवस्था में पद्मावत जैसे सरस और रस प्रधान काव्य की रचना की थी।"

३. **डाक्टर कमल कुलश्रेष्ठ** ने एक नवीन मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने जायसी का जन्मकाल ९०६ हिजरी माना है। उनका तर्क है कि जायसी से आखिरी कलाम ९३६ में लिखा था। पद्मावत लिखते समय उनकी अवस्था ३० वर्ष की थी। वे नवीं सदी में पैदा हुए थे। यदि ९३६ में से ३० वर्ष निकाल दें तो ९०६ हिजरी उनका जन्मकाल ठहरता है। उनका कथन है कि भूकम्प और सूर्यग्रहण वाली घटनाएं भी इस जन्मकाल से मेल खा जाती हैं। वे ९११ वाले आगरे के भूकम्प को ही जायसी के जन्मकाल का भूकम्प मानते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि ९०२ हिजरी में सूर्यग्रहण भी पड़ा था। जायसी ने इसी की ओर संकेत किया है।"

४. जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी मानना कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है—पद्मावत की रचना उन्होंने ९२७ हिजरी में प्रारम्भ की। अगर इस मत को स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ यह होगा कि २७ वर्ष की उम्र में कवि ने पद्मावत की रचना आरम्भ की।

५. **डाक्टर माताप्रसाद गुप्त** ने 'सन् नव सै सत्ताइस अहा' के स्थान पर 'सन् नौ सै सैंतालीस अहै' पाठ को स्वीकार किया है। अगर इसे सही मानलें तो "निष्कर्ष यह होगा कि ४७ वर्ष की अवस्था में कवि ने पद्मावत की रचना आरम्भ की। लेकिन दोनों ही पाठों में यह कठिनाई आ जाती है कि पदमावत के अन्त में जायसी ने अपनी वृद्धावस्था का जो वर्णन किया है उससे इनकी संगति कैसे बिठाई जा सकती है। ठीक इसी तरह से कवि ने जो बादशाह शेरशाह को आशीर्वाद दिया है उसकी भी संगति नहीं बैठती है क्योंकि उस समय शेरशाह की अवस्था ५३–५४ वर्ष से अधिक थी। कम उम्र वाले जायसी को इतनी अवस्था में आशीर्वाद देना कुछ जंचता नहीं है।" (रामपूजन तिवारी के आधार पर)

६. **रामपूजन तिवारी के मतानुसार** जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार से पं० चन्द्रबली पांडेय के मत को स्वीकार करना भी कठिन है। पाण्डेयजी के मतानुसार जायसी का जन्म ८३० हिजरी में हुआ और पद्मावत की रचना का प्रारम्भ ९४७ हिजरी में। इसका अर्थ है कि पद्मावत को रचना जायसी ने ११७ वर्ष की उम्र में की और आखिरी कलाम की रचना १०६ वर्ष में की। इन सारी कठिनाईयों और असंगतियों को ध्यान में रखते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रोफेसर अस्करी और श्री इन्द्रचन्द्र नारग आदि विद्वानों का मत है-"नवीं सदी हिजरी अर्थात् सन् १३९८ ई० से सन् १४९४ ई० के बीच किसी समय जायसी का जन्म हुआ।" डाक्टर अग्रवाल ने पद्मावत की अपनी संजीवनी व्याख्या के प्राक्कथन (पृ० ३२) में इसे और भी स्पष्ट करते हुए

लिखा है कि नवीं सद से यह अर्थ लेना कि ठीक ९०० हिजरी (१४९४) में जायसी का जन्म हुआ था, कवि के जीवन की अन्य तिथियों से यह संगत नहीं ठहरता है।"

७. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत और श्री रामपूजन तिवारी जायसी के जन्म के विषय में एकमत हैं। डॉ० त्रिगुणायत ने लिखा है कि जायसी का जन्मकाल ८७० हिजरी के आस-पास हुआ था। यही बात उनकी 'भा अवतार मोरनो सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी।' से भी ध्वनित होती है। इन पक्तियों का सीधा साधा अर्थ यही है कि उनका जन्म ९०० हिजरी बतलाया जाय तो उसमें ३० वर्ष अधिक समझना चाहिए। रामपूजन तिवारी ने इस अर्थ को और अधिक प्रामाणिक बनाते हुए अपने कुछ तर्क दिये हैं। वस्तुतः ये भी इसी मत के समर्थक हैं। श्री तिवारी जी कहते हैं–कवि ने अपने जन्म के वर्ष का संकेत किया है। कवि यह कहना चाहता है कि मेरा जन्म ९०० हिजरी में हुआ लेकिन मैंने इसे तीस वर्ष बढ़ाकर कहा है अर्थात् ९०० हिजरी से तीस वर्ष पहले उसका जन्म हुआ। बहुत से विद्वानों ने बदी का अर्थ काव्य करना माना है लेकिन यहां बदी का अर्थ काव्य करना नहीं बल्कि कहना है। रामचरित मानस में भी बद का प्रयोग कहने के अर्थ में किया गया है। उत्तरकाण्ड में कहा गया है—

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥

लंकाकाण्ड में भी निम्नलिखित चौपाई में बद का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है—

तुम्हारे कटक माझ सुन अंगद।
मोसम भिरहि कवन जोधा बद॥

डॉ० त्रिगुणायत ने इस ८७० हिजरी को जायसी का जन्मकाल मानते हुए निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

१. उनका यह समय कबीर के समय से बहुत दूर नहीं पड़ता है। साथ ही वह कबीर के समकालीन सिद्ध नहीं होते हैं।
२. जायसी ने पद्मावत की रचना ९४७ में की थी। उपर्युक्त जन्म तिथि के अनुसार उनकी यह रचना लगभग ७७ वर्ष की आयु में सम्पन्न हुई थी। काव्यत्व और आध्यात्मिक विचारधारा को देखते हुए यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता है कि ऐसी प्रौढ़ रचना प्रौढ़ावस्था की ही कृति या सर्जना हो सकती है।
३. आखिरी कलाम की रचना अवधि ९३६ हिजरी अर्थात् १५३१ ई० ही है। उस समय कवि की अवस्था ६७ वर्ष की रही होगी। रचना की आध्यात्मिक विचारधारा को देखते हुए इतनी अवस्था में उसका रचा जाना बहुत उचित भी प्रतीत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी का जन्म लगभग ८७० हिजरी में हुआ।

वास्तव में जायसी की जन्म तिथि ८७० हिजरी मानना सभी कठिनाइयों से मुक्त है। इससे कोई भी अप्रासंगिकता सामने नहीं आती है वरन् इससे मार्ग की अन्य बाधायें भी दूर हो जाती हैं।

मृत्युकाल—जन्म की भांति ही जायसी की मृत्यु भी विवाद का विषय बनी हुई है। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी की 'याददाश्त' के अनुसार जायसी की मृत्यु ४ रिजव, ६४६ हिजरी (अर्थात् सन् १५४२) को हुई। पं० चन्द्रवली पांडे (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृष्ठ ४१७) इस तिथि को सही मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन्देह प्रकट किया है कि इस काल को कहां तक ठीक माना जा सकता है। उनका कथन है– 'अगर इस तिथि को स्वीकार किया जाय तो जायसी का परलोकवास ४६ वर्ष से भी कम अवस्था में सिद्ध होता है जो पद्मावत की वृद्धावस्था से मेल नहीं खाता है।"

श्री रामपूजन तिवारी का कथन है कि "वास्तव में शुक्लजी ने जायसी की जन्म तिथि ६०० हिजरी स्वीकार करली है इसीलिए उन्हें यह संदेह हुआ है।......मृत्यु के समय जायसी की अवस्था ७६ वर्ष की हो जाती है तथा जायसी की रचनाओं में वर्णित सभी तिथियों से इसकी संगति बैठ जाती है।"

कुछ विद्वान जायसी की मृत्यु तिथि १०४६ हिजरी मानते हैं (सैयद कल्बे मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ ७५), अगर इस मत को माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि जायसी १७६ वर्ष तक जीवित रहे किन्तु इसकी स्थिति संदेहास्पद है। इसका कोई प्रमाण भी नहीं है।

कुछ अन्य लोग जायसी की मृत्यु तिथि १६५६ ई० भी बतलाते हैं (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २१ पृष्ठ ५८) इसका अर्थ है–जायसी १७६ वर्ष से भी अधिक जीवित रहे। इन्हें स्वीकारना ठीक नहीं और व्यावहारिक भी नहीं है। रामपूजन तिवारी के शब्दों में जायसी की मृत्यु तिथि ६४६ हिजरी या १५४२ ई० ही मानना उपयुक्त और संगत जान पड़ता है।

जायसी की मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि अमेठी में ही इनकी मृत्यु हुई थी। उनकी कब्र अमेठी के राजा के कोट से पौन मील की दूरी पर है। कहावत है कि जायसी के आशीर्वाद से अमेठी नरेश पुत्रवान हुए थे। इनकी मृत्यु सम्बन्धी घटना अत्यन्त करुण है–"कहा जाता है कि जब अमेठी के राजा जायसी के दर्शन के लिए जाते, उनके साथ उनका बहेलिया भी जाता क्योंकि जायसी का स्थान जंगल के बीच था। जायसी उस बहेलिये की बहुत खातिरदारी करते। जब कोई इसका कारण पूछता तो कहते कि यह उनका कातिल है। जायसी सिद्ध फकीर थे। राजा को भय हुआ कि सचमुच कहीं वैसा ही न हो जाये। इसीलिए उन्होंने आज्ञा दी कि वह बहेलिया अपने पास तलवार बन्दूक आदि कोई भी अस्त्र न रखे लेकिन होने वाली बात होकर ही रही। किसी दिन अंधेरी रात में बहलिये को राजा के यहां से अपने घर को जाना था। उनके घर का रास्ता जंगल से होकर था। जगली जानवरों आदि से बचाव के लिए उसने राजभवन के दरोगा से रातभर के लिए बन्दूक मांग ली। जगंल से होकर जब वह बहेलिया जा रहा था तब उसे शेर के गुर्राने की आवाज सुनाई पड़ी। आवाज की दिशा में बहेलिये ने गोली छोड़ी। आवाज बन्द हो गई और बहेलिये ने अपने घर की राह ली। कहते हैं कि राजा उस समय स्वप्न देख रहा था। उसने देखा कि वह तो सो रहा है और उधर बहेलिये ने उस सिद्ध पुरुष को मार डाला। राजा घबराकर उठा और उसी

समय जायसी के रहने के स्थान की ओर दौड़ा-दौड़ा गया। जायसी को गोली लगी थी और उनकी मृत्यु हो चुकी थी। राजा ने अपने गढ़ के पास उनकी समाधि बनवा दी थी।"

निवास स्थान : गुरु परम्परा और मित्र—इस विषय में भी पर्याप्त चर्चा हुई है। निवास स्थान के विषय में प्राय: यह पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

जायस नगर मोर अस्थानू।
नगर क नावँ आदि उदयानू॥
तहां दिवस दस पहुंने आएउं।
भा वैराग बहुत सुख पाएउं॥
जायस नगर धरम अस्थानू।
तहां आइ कवि कीन्ह बखानू॥

सामान्यत: कहा जाता है कि जायसी का जन्म रायबरेली के कनचाने मुहल्ले में हुआ था। इस मुहल्ले के एक पुराने मकान को इनका जन्म स्थान कहा जाता है।

डॉ० विमलकुमार जैन का कहना है किसी भी व्यक्ति का धर्म स्थान वही हो सकता है जो उसके लिए सर्वाधिक प्रिय और पवित्र हो। डॉ० जैन 'धरम अस्थानू' का विशेष अर्थ लेते हैं जिसे सामान्य तीर्थ स्थानों की श्रेणी में रखना कठिन है। अस्तु, निश्चय ही जायस मलिक मुहम्मद का जन्म स्थान न रहा होगा अन्यथा वे उसे 'धरम अस्थानू' न लिखते। डॉ० रामरतन भटनागर अनुमान करते हैं कि "वे जायस में पहले-पहल दस दिन के लिए

मियां सलोने—आले मेहर के अनुसार जायस में सलोने नामक वीर व्यक्ति थे। कवि का सम्बन्ध सभी व्यक्तियों से था। ये बड़े ही वीर थे—

मियां सलोने सिंग वरियारु।
वीर खतेरन खडग जुझारु॥

शेख बड़े—शेख बड़े साहब जायसी के परम मित्र थे। ये बहुत पहुंचे हुए सिद्ध थे। इनके सम्बन्ध में जायसी ने लिखा है—

शेख बड़े-बड़ सिद्ध बखाना।
किए आदेश सिद्ध बड़ माना॥

ये चारों ही व्यक्ति जायसी के परम मित्र थे। इसका प्रमाण इन पंक्तियों में मिल जाता है—

मोहम्मद चारिउ मीत मिलि भयेउ जो एकं चित्त।
यहि जग साथ जो निबहा ओ जग बिछुरन कत॥

ये चारों ही मित्र चौदहों विद्याओं में निपुण थे और मन्त्रों तरह इन सबने शिक्षा पाई थी—

चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े।
ओ संजोग गोसाई गढ़े॥

गुरु परंपरा—जायसी के गुरु कौन थे, कैसे थे और थे जायसी को किस मार्ग की ओर प्रेरित करते थे—आदि बातें ही विवाद की दृष्टि से महत्व की अधिकारिणी हैं। इनके दो गुरुओं का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से मिल ही जाता है-शेख मुबारक शाह बोदले और शेख मुहीउद्दीन। गुरु का परिचय प्रदान कराने वाली ये पंक्तियां बहुउद्धृत हैं:—

सैयद असरफ पीर पियारां।
जेहि मोहि दीन्ह पंथ उजियारा॥
ओहि घर रतन एक निरमरा।
हाजी सेख सबै गुनभरा॥
जेहि घर दुइ दीपक उजियारे।
पंथ देइ कहं दई संवारे॥
सेख मुहम्मद पून्यो करा।
सेख कमाल जगत निरमरा॥

गुरु मोहिदी सेवक मैं सेवा। चले उताइल जेहि घर सेवा॥
अगुआ भये सेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरु। दीन दुखी रोसन सुरखुरु॥
सैयद मुहम्मद के वै चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहि खेला॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरत बाज खिजिर तेहि पाए॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिये मेरइ जहं सैयद राजे॥
मनिक एक पाएउं उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा॥

पा पाएउं गुरु मोहिदी मीठा।
मिला पंथ सो दरसन दीठा॥
नांव पियार सेख बुरहानू।
नगर कालपी हुत गुरु थानू॥

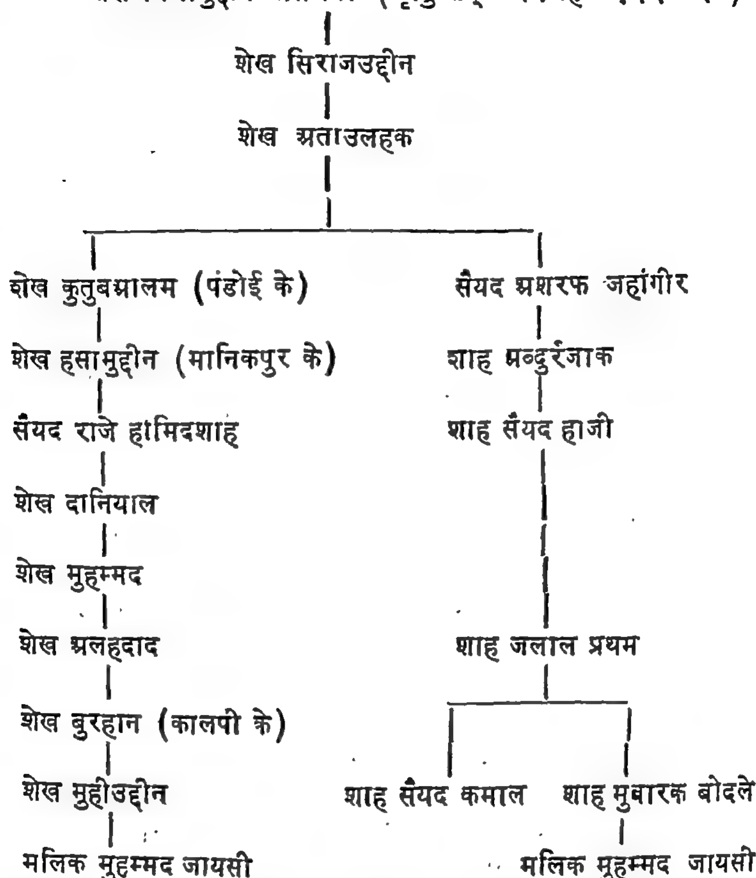
है इन्होंने [illegible] गुरु रूप में [illegible] प्राप्त किया हो। जो भी हो, इतना निश्चित है कि जायसी के दो गुरु थे।

माता-पिता, जाति-पांति और आकृति—जायसी के पिता का नाम शेख ममरेज था। वे प्रायः ससुराल में ही रहा करते थे। इनकी ससुराल मानिकपुर में थी। इनके नाना का नाम शेख अलहदाद था। "इनका बाल्य-काल इनके नाना के यहाँ ही व्यतीत हुआ था। इनकी माता के नाम का पता नहीं चलता है किन्तु इतना अवश्य प्रसिद्ध है कि वह जायसी को बहुत अधिक प्यार करती थीं। बाल्यकाल में जब इनके ऊपर चेचक का प्रकोप हुआ तो इनकी माता ने ही [illegible] की मनौती करके इनके प्राणों की रक्षा की थी, किन्तु [illegible] इनकी आंख जाती रही।" जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। मलिक शब्द का अर्थ होता है—बादशाह, सुल्तान, अमीर या बड़ा व्यापारी। इससे यह पदवी प्रायः अरब के बड़े व्यापारियों और जमींदारों को प्राप्त थी। वंश परंपरा के कारण ये भी इसी पदवी से [illegible]। "इनके पूर्वज अरब से आये थे और यह परंपरा से ही मुसलमान थे—कट्टर मुसलमान थे।"

जायसी [illegible] एक आंख खो चुके थे। इस बात का संकेत इन्होंने स्वयं भी किया है। सैयद तुरफा ने तो यह भी लिखा है कि वह [illegible] थे। प्रमाणों के अभाव में इस मत का कोई आधार नहीं है। शारीरिक स्वरूप के सम्बन्ध में ये पंक्तियां पढ़िये:—

एक नयन कवि मोहम्मद गुनी।
सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी॥

ये दोनों ही औलिया परम्परा में पड़ते हैं। वह इस प्रकार है :—



अखरावट नामक ग्रंथ में जायसी ने पदमावत की भांति ही अपनी दो पंरपराओं का उल्लेख किया है किन्तु यहां पर इन्होंने प्रथम पंरपरा में केवल निजामुद्दीन-चिश्ती तथा अशरफ जहांगीर के प्रति ही श्रद्धा प्रकट की है। दूसरी परंपरा में अपूर्णता है। हजरत ख्वाजा खिजिर तक लाकर ही वह समाप्त हो गई है या करदी गई है। इसमें सैयद राजे का नाम भी नहीं है। आखिरी कलाम में इन्होंने सैयद अशरफ के प्रति निम्नलिखित आदरणीय विचार व्यक्त किये हैं—

मानिक एक पायउं उजियारा।
सैयद अशरफ पीर पियारा॥

इससे सैयद अशरफ पीर के प्रति अपार श्रद्धा का पता चलता है। अतः डॉक्टर गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में यह स्वीकार करने में [illegible] भी संकोच नहीं होना चाहिए कि गुरु अशरफ जहांगीर के उत्तराधिकारी [illegible] मुबारक ही इनके परमश्रद्धेय गुरुवर थे।………शेख मेहदी से इन्होंने [illegible] और कैसे दीक्षा प्राप्त की थी—यह बहुत स्पष्ट नहीं है। शेख मेहदी का सम्बन्ध [illegible]यसी के नाना अलहदाद से था। संभव है, इसीलिए जायसी ने अपने [illegible] जीवन

में उनसे ही गुरु रूप में सत्संग प्राप्त किया हो। जो भी हो, इतना निश्चित है कि जायसी के दो गुरु थे।

माता-पिता, जाति-पांति और आकृति—जायसी के पिता का नाम शेख मुमरेज था। ये प्रायः ससुराल में ही रहा करते थे। इनकी ससुराल मानिकपुर में था। इनके नाना का नाम शेख अलहदाद था। "इनका बाल्य-काल इनके नाना के यहां ही व्यतीत हुआ था। इनकी माता के नाम का पता नहीं मिलता है किन्तु इतना अवश्य प्रसिद्ध है कि वह जायसी को बहुत अधिक प्यार करती थी। बाल्यकाल में जब इनके ऊपर चेचक का प्रकोप हुआ तो इनकी माता ने ही शाहमदार की मनौती करके इनके प्राणों की रक्षा की थी, किन्तु परिणामस्वरूप इनकी आंख जाती रही।" जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। मलिक शब्द का अर्थ होता है—बादशाह, सुल्तान अमीर या बड़ा व्यापारी। इससे यह पदवी प्रायः अरब के बड़े व्यापारियों और जागीरदारों को प्राप्त थी। वंश परंपरा के कारण ये भी इसी पदवी से जाने जाते थे। "इनके वंशज अरब से आये थे और यह परंपरा से ही मुसलमान थे—भारतीय मुसलमान थे।"

माता के प्रकोप में ये एक आंख खो चुके थे। इस बात का संकेत इनकी रचनाओं में मिलती है। सैयद मुस्तफा ने तो यह भी लिखा है कि वह (जायसी) लूले और लगड़े भी थे। प्रमाणों के अभाव में इस मत का कोई आधार नहीं है। शारीरिक स्वरूप के सम्बंध में ये पंक्तियां पढ़िये:—

एक नयन कवि मोहम्मद गुनी।
सोइ बिना हो जेइ कवि गुनी॥
जग सूझा एक नयनांहा।
उआ सूक जस नखत नन्ह मांहा॥
एक नयन जस दरपन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रूपवंत पाऊँ गहि मुख जोवहिं चाउ॥
मुहम्मद बांई दिसि तजा एक सरवन, एक आंखि॥

ओर और भी अधिक हो गई। उक्त घटना की ओर संकेत लोग अखरावट के इस दोहे में बताते हैं"—

बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हैरान मुहम्मद आपुहिं आपुमहँ ।।
(आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली, पृ० ७)

जायसी का पारिवारिक जीवन भी कुछ विचित्र ही रहा है। बाल्यकाल में ही इनके माता पिता इन्हें छोड़कर चल बसे। इनके जीवन का अधिकांश भाग साधु-संतों के सम्पर्क में व्यतीत हुआ बताया जाता है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखित लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कुछ किवदंतियों के आधार पर इनका विवाह नहीं हुआ था। ये मृत्यु तक साधु-फकीरों की संगत में लगे रहे। कुछ इसके विपरीत किवदंतियां भी प्रचलित हैं—इनका विवाह हुआ था और इनके पुत्र भी थे किंतु वे मकान के नीचे दबकर मर गये थे। एक किवदंती यह है कि इनके सात पुत्र थे जो गुरु से शापित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। इनके सम्बंध में और भी बहुत सी किवदतियां हैं जिससे इनके जीवन की अनेक घटनाएं सामने आती हैं। एक किवदंती है कि "एक सेविका इनके लिए एक पात्र में थोड़ी सी खीर लायी। इनका नियम था कि वे बिना किसी को खिलाये कुछ खाते नहीं थे। खीर उनके सामने रखी हुई थी। वे इस प्रतीक्षा में थे कि कोई व्यक्ति आवे और उसे वे खिलाकर स्वयं खावें। इतने में ही एक कोढ़ी आ गया। उसे खिलाया और स्वयं खाया।"

कहा जाता है कि जायसी के माता पिता बहुत गरीब थे, किन्तु अपने धर्म तथा पीरों और फकीरों में उनका गहरा विश्वास था। यह तो निश्चित है कि जायसी का व्यक्तित्व शारीरिक रूप में इतना महान् व सुंदर नहीं था जितना कि चारित्रिक आभ्यांतरिक और कविरूप में। जायसी की बदशक्ल तो जगत प्रसिद्ध है। इनकी कुरूपता के सम्बंध में एक किवदंती यह भी है कि वे एक बार शेरशाह के दरबार में गये। शेरशाह उनके भद्दे चेहरे को देखकर हँस पड़ा। इस पर जायसी ने अत्यंत ही शांत भाव से बादशाह से पूछा **'मोहि का हंसेसि कि कोहरहिं'** अर्थात् तू मुझ पर हँस रहा है या उस कुम्हार या शरीर निर्माण करने वाले कुम्हार पर ? कहा जाता है कि विद्वान् जायसी के इन गंभीर शब्दों को सुनकर बादशाह बहुत लज्जित हुआ, और उसने उनसे क्षमा मांगी।

अध्यात्म की ओर रूझान—जायसी प्रारंभ में ही अनाथ हो गये, परिणामतः साधु संतों का संसर्ग उन्हें प्राप्त हुआ किन्तु शीघ्र ही विधाता ने उसके जीवन का रुख बदल दिया। जीवन और जगत के प्रति जायसी उदासीन भाव रखने लगे। साधुओं और फकीरों के सदुपदेशों से इनके जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हो गया। उनकी पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र बन गई। उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएं और व्यापार थे। सहपाठी ज्ञानेन्द्रियां और सत्संग थे, तथा पुस्तक निर्मल हृदय था जिसमें जीवन और जगत के अनेक व्यापार आते और अपना प्रभाव छोड़ जाते थे। इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि जायसी मननशील और चिन्तनशील थे। दूसरे वे ईश्वरोन्मुख हो गये थे जिससे आध्यात्मिक चेतना का विकास आवश्यक था।

सूफी मुसलमान फकीरों के सिवा कई संप्रदायों (यथा गोरखपंथी, रसायनी, वेदान्ती) के हिन्दू साधुओं से भी उनका सम्पर्क रहा था इससे उन्हें विविध विषयों की जानकारी प्राप्त हुई। हठयोग, वेदांत, रसायन आदि की बहुत सी बातों का सन्निवेश उनकी रचनाओं में मिल जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "जायसी साधारण मुसलमान फकीरों के समान नहीं थे। वे सच्चे जिज्ञासु थे और हर एक मत के साधु महात्माओं से मिलते जुलते रहते थे और उनकी बातें सुना करते थे। सूफी तो वे थे ही ....इस उदार सारग्रहिणी प्रवृत्ति के साथ ही साथ उन्हें अपने इस्लाम धर्म और पैगम्बर पर भी पूरी आस्था थी। यद्यपि कबीरदास के समान उन्होंने भी उदारतापूर्वक ईश्वर तक पहुंचने के अनेक मार्गों का होना तत्वतः स्वीकार किया है।" उन्होंने लिखा है—

विधिना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवां जेते।

इन अगणित मार्गों के होते हुए भी, तथा इनसे परिचित होने पर भी मुहम्मद साहब के मार्ग पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है। वे सदैव मुहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित और परिचालित मार्ग पर दौड़ते रहे तथा उसे ही सर्वोत्तम मार्ग स्वीकार किया। उन्होंने लिखा भी है—

तिन्ह महँ पथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।।
से बड पंथ मुहम्मद फेरा। है निरमल कैलास बसेरा।।

भगवद भक्त—जायसी एक भावुक, सहृदय और संवेदनशील व्यक्ति के साथ ही ईश्वर प्रेम से भरपूर व्यक्तित्व वाले थे। सभी धर्मों के प्रति उदारता रखना उनकी प्राथमिक और अन्यतम विशेषता थी। अहंकार से वे कोसों दूर थे, विनम्रता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। कबीर की भांति वे नया पंथ चलाने के पीछे कभी नहीं दौड़े। आचार्य शुक्ल के शब्दों में--"कबीरदास के समान उन्होंने अपने को सबसे अधिक ऊंचा कभी नहीं कहा है। कबीर ने तो यहां तक कह डाला कि इस चादर को सुर नर, मुनि सबने ओढकर मैली किया पर मैंने 'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया'। इस प्रकार की गर्वोक्तियों से जायसी बहुत दूर थे।""उनका औदार्य वह प्रच्छन्न औद्धत्य न था जो किसी वर्ग को चिढ़ाने के काम में आ सके। उनकी वह उदारता थी जिससे कट्टर-पन को भी चोट नहीं पहुंच सकती थी। प्रत्येक प्रकार का महत्व स्वीकार करने की क्षमता उनमें थी। वीरता, धीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष पर मुग्ध होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त था, तभी पद्मावत जैसा चरित्र काव्य लिखने की उत्कंठा उनके मन में हुई थी।"

पंडित होकर भी अपने को वे पंडितों का अनुयायी या पिछलगू ही मानते थे। वे कबीर को भी महान् साधक मानते थे। निम्नलिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो सकता है—

हौं पंडितन्ह केरे पिछलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा।
कबीर के विषय में लिखा है—
ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौं मैं हारा।
पेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।।

जायसी ज्योतिष, ऋतु, त्यौहार आदि के विशेष जानकार थे। इतिहास, भूगोल और राजनीति आदि के सफल और अधिकारपूर्ण प्रयोग उनके द्वारा किये गये हैं। वे व्यवहार कुशल थे। हिन्दू परिवार की प्रत्येक गतिविधि का सम्यक् अध्ययन उन्होने किया था।

अन्त में निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जायसी मननशील व्यक्ति थे। डाक्टर जयदेव के शब्दों में कहा जा सकता है—"जायसी की धारणा और मर्मवेक्षण शक्ति विलक्षण थी। इनकी सहायता से वे अपने अनुभव को, जो उन्होंने सत्संग में, पर्यटन में, व्यवहारादि में प्राप्त किया था। अपने काव्यों में इस युक्ति से उपयोगी बनाकर सज्जित किया है कि उनके अक्षय ज्ञानागार को देखकर चकित होना पड़ता है। निस्संदेह उनका साहित्यिक तथा धार्मिक ज्ञान साधारण इतिहास तथा भूगोल का विशेष और व्यवहार-पटुता तथा अनुभव शक्ति उच्चकोटि की थी।"

प्रेम की पीर के कवि जायसी का हृदय कोमल तथा सहृदय भावनाओं का अक्षय भंडार था। उनका व्यक्तित्व महान् था तथा स्वभाव शांत था। पद्मावत उनके व्यक्तित्व का खुला निदर्शन है। हिन्दू मुस्लिम संस्कृति के समन्वयकर्त्ता तथा सहृदय विचारक और विनयी भगवत् भक्त के रूप में जायसी सदैव जनता का आदर पाते रहेंगे। उनका पद्मावत साहित्यमर्मज्ञों के मनोरंजन, ज्ञानवर्धन, रसनीयता और उच्चकोटि की भावुकता का जीता जागता प्रमाण है।

जायसी का कृतित्व और पद्मावत की प्रेरक शक्तियां

जायसी की प्रमुख कृति पद्मावत है किन्तु उन्होंने और भी अनेक ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार की रचनाओं का विवरण विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। कुछ लोग इसे भी विवाद का विषय बनाये हुए हैं। वस्तुतः जायसी की तीन रचनाएं तो सर्व प्रसिद्ध हैं—पदमावत, अखरावट और आखिरी कलाम। इन कृतियों की ही विस्तृत चर्चा और समीक्षा हुई है। इनके अतिरिक्त भी करीब १७ ग्रन्थों का उल्लेख जायसी के नाम से किया जाता है। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. पदमावत
२. अखरावट
३. आखिरी कलाम
४. सखरावत
५. चम्पावत
६. इतरावत
७. भटकावत
८. चित्रावत
९. नैनावत
१०. पोस्तीनामा
११. खुर्वानामा
१२. मोराईनामा
१३. मुकहरानामा
१४. मुहरानामा
१५. कहारनामा
१६. मेखरावट नामा
१७. घनावते
१८. सोरठ
१९. परमार्थ जपजी
२०. स्पुटछंद
२१. मुखरानामा

यहां केवल प्रमुख तीन ग्रंथों की चर्चा की जा रही है। इनमें भी

पद्मावत की चर्चा आगे के पृष्ठों में करेंगे—शेष, अखरावट और आखिरी कलाम का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

अखरावट—अखरावट जायसी का सिद्धांत ग्रंथ माना गया है। इसमें सूफी सिद्धांतों का निदर्शन है तथा इसमें ५४ दोहे, ५४ सोरठे और ३७१ चौपाइयां हैं। वर्णमाला के अक्षरों को लेकर एक-एक वर्ण पर क्रम से वर्णन किया गया है। भूमिका भाग में सृष्टि का वर्णन है। जायसी ने कहा है "आरम्भ में मही, आकाश आदि कुछ न थे। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। आदि में केवल ईश्वर था। चौदहों भुवनों का विस्तार उसी का खेल है और उसमें वही व्याप्त है। इन भुवनों में अठारह सहस्र योनियों के सभी जीव उसी से उत्पन्न हुए हैं। यह दृश्य-जगत उसी का प्रपंच है। वास्तव में वही एक है, दूसरा कोई नहीं। सर्व प्रथम शून्य ही था, जिस में वही ईश्वर व्याप्त था। तदनन्तर उसने मुहम्मद नाम की ज्योति का निर्माण किया।"

रचनाकाल—इस ग्रन्थ का रचनाकाल विदित नहीं है। मसनवी काव्य होने के कारण इसमें शाहेवक्त की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार की स्थिति में इस काव्य के रचना काल का निश्चय अन्य बातों के सहारे उठाना है। इसके सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. सैयद कल्बे मुस्तफा के अनुसार इसकी रचना पद्मावत के बाद में हुई। डा० जयदेव और शिरेफ ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

२. डाक्टर जयदेव ने इसे आखिरी कलाम से पूर्व की रचना सिद्ध किया है। उनका तर्क है—इसमें दो गुरु परम्पराओं का उल्लेख है जबकि आखिरी कलाम में एक ही गुरु परम्परा का। डा० जयदेव की मान्यता है कि जायसी का प्रारम्भ में केवल एक ही गुरु परम्परा से सम्बन्ध था, बाद में दूसरी से भी सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी कारण जायसी ने बाद के काव्य ग्रन्थों में दो गुरु परम्पराओं का उल्लेख किया है जैसा कि हम अखरावट और पद्मावत में पाते हैं। डा० जयदेव अखरावट को पद्मावत से पहले की रचना मानते हैं। वस्तुतः यह पद्मावत से बाद की रचना है। डा० जयदेव ने इसे पद्मावत से पूर्व की रचना सिद्ध करने के लिए जो सबसे सबल तर्क दिया है, वह है अखरावट में आई निम्नलिखित चौपाई—

कहा मुहमद प्रेम कहानी।
सुनि सो ज्ञानी भये ध्यानी॥

रामपूजन तिवारी ने इस मत की आलोचना की है। उनकी दृष्टि में यह सबल तर्क निस्सार प्रतीत होता है। उनका कथन है "कि ऊपर की चौपाई में जो प्रेमकहानी की बात आई है, उसे डा० जयदेव पद्मावत ही समझते हैं। अखरावट को पढ़ने पर इस तर्क की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। सूफियों का चरम लक्ष्य परम प्रियतम को प्रेम द्वारा पाना है। उस प्रेम तक पहुंचने के लिए जिस साधना को अपनाने की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन जायसी ने 'अखरावट' में कई स्थलों पर किया है।" प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी को अखरावट की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है उसकी पुष्पिका में जुम्मा ८ जुल्काद, ६११ हिजरी लिखा हुआ है। "अतएव यह मानने में संकोच

नहीं होना चाहिए कि अखरावट की रचना ६११ हिजरी में या उसके पहले ही हो चुकी थी और यह ग्रंथ न पद्मावत के बाद का है और न आखिरी-कलाम के।" (रामपूजन तिवारी की कृति जायसी, पृ० ११० से उद्धृत)

वर्ण्य विषय और विशेषताएं—ग्रंथ का आरम्भ दोहे से किया गया है तथा उसमें मुहम्मद साहब के नूर के सर्वप्रथम निर्माण किये जाने की घोषणा की गई है। इसमें एक दोहे के पश्चात् एक सोरठा है और फिर सात अर्द्धालियां हैं। इसी प्रकार दोहे, सोरठे, अर्द्धालियों का चक्र निरन्तर, काव्य में प्रवाहित है।

इस कृति में कवि के सिद्धांत और दार्शनिक विचार देखने को मिलते हैं। कवि ने योग, उपनिषद, अद्वैतवाद, भक्ति और इस्लामी एकेश्वरवाद आदि से महत्वपूर्ण सामग्री ग्रहण कर अपने ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का निर्माण किया है। अखरावट का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

गगन हुता नहि महि हुती, हुते चन्द नहिं सूर।
ऐसेइ अन्धकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर॥

न आकाश था, न पृथ्वी और न चन्द्रमा और सूर्य ही थे। इसी प्रकार के अन्धकूप में परमात्मा ने मुहम्मद के नूर (नूरे मुहम्मद अर्थात् मुहम्मद की ज्योति) की रचना कर डाली। वस्तुतः इस ग्रन्थ की रचना सिद्धांत-प्रतिपादन के लिए हुई थी। वे अपने अध्यात्म दर्शन या रहस्यवादी विचारों को स्पष्ट करना चाहते थे। जायसी ने अखरावट में परमात्मा, आत्मा, सृष्टि तत्व पर सूफी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है और उसके पश्चात् साधना और चरम लक्ष्य के रहस्यों को प्रकाशित और उद्घाटित किया है। श्री रामपूजन तिवारी ने लिखा है—"जहां तक परमात्मा, आत्मा, सृष्टि तत्व और चरम लक्ष्य का प्रश्न है जायसी का दृष्टिकोण वही है जो साधारणतः सूफीमत में मान्य है किन साधना की बात जब वह करते हैं तब स्पष्ट ही लगता है कि एक ओर तो उन्होंने सूफियों से प्रेरणा ग्रहण की है और दूसरी ओर भारतीय साधनाओं जैसे नाथपन्थी जोगी और सिद्धों की साधना को अपनाया है।"

सृष्टि, आत्मा और परमात्मा के आपसी सम्बन्धों का वर्णन जिस पद्धति से जायसी ने किया है उसमें एक ओर सूफियों की चिन्तनधारा समाहित है तो दूसरी ओर जोगियों और नाथपंथियों की विचारधारा भी समाहित है। जायसी की दृष्टि में ये दोनों ही सहज और स्वाभाविक थीं। दोनों को पृथक करके देखना उनके वश की बात नहीं थी। परमात्मा की सार्वजनीयता तथा सर्वत्र विस्तारक व्यापकता तथा हृदय में उसे पाने की बात सूफी और नाथ जोगी समान रूप से कहते हैं। जायसी ने लिखा है—

जो न देस महँ संवरै जहवाँ। तो न देस सो जानहु तहवाँ॥

वास्तव में उसकी सर्व व्यापकता और सर्व पृथकता भी स्पष्ट है—

जगमग जल में दीखै जैसे। नाहि मिला नहिं बेहरा तैसे॥

इतने पर भी विलक्षणता तो इसलिए है कि वह हृदय में निवास करता है। यह तो और भी अधिक आश्चर्य की बात है कि बीज में ही वृक्ष और बूंद में ही समुद्र समाहित है। बीज वृक्ष है और बूंद ही समुद्र। कवि ने लिखा है—

देखहु मन हिरदय बसि रहा । खम मंहजाइ जहां कोइ चहा ।।
देखहु कौतुक आइ रुख समाना बीज महं ।
आपुहि खोदि जमाइ मुहम्मद सो फल चाखई ।।

अथवा

बुंदहि समुंद समान यह अचरज का सों कहों ।
जो हेरा सो हेरान मुहम्मद आपुहि आपुमंह ।।

सूफियों के अनुसार ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त है । दृश्यमान संसार उसी ईश्वर का प्रतिरूप है । ससार की समस्त वस्तुएं उसी की सत्ता से सत्ता वाली है । जायसी ने कहा है—

ठाकुर वड़ आप गुसाईं । जेइ सिरजा जग अपानिहिं नाईं ।।
सबै जगत दरपन कै लेखा । आपुहि दरपन आपुहि देखा ।।
आपुहि पुहुप फूलि वन फूले । आपुहि भवंर वास रस भूले ।।
आपुहि फल आपुहि रखवारा । आपुहि सो रस चाखनहारा ।।
आपुहि घट–घट मह मुख चाहै । आपुहि आपन रूप सराहै ।।
आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लेखनहार ।
आपुहि लिखनी आखर आपुहि पण्डित अपार ।।

प्रतिविम्ब का उल्लेख भी जायसी के इस ग्रंथ में मिलता है । वे परमात्मा की प्राप्ति के लिए अहं का विलयन आवश्यक समझते थे—

गगरी सहस पचास जो कोउ पानी भरि धरै ।
सुरुज दिपै अकास मुहमद सब महं देखिये ।।
(प्रतिबिम्बवाद)

हों कहते भए ओट पियै खंड मो सों किएउ ।
भए बहु फाटक कोट मुहमद अब कैसे मिलहिं ।।

एक दूसरे स्थल पर भी जायसी ने ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं । अहं का विसर्जन बड़ा महत्वपूर्ण और आवश्यक माना गया है बशर्ते कि परमात्मा को पाना हो । उनका विश्वास था कि अपने को खोने या मिटाने से ही प्रिय परमात्मा के दर्शन होते हैं । इस बात को गांठ बांधने की सलाह देते हुए जायसी कहते हैं—

आपुहि खोइ पिउ मिलै पिउ खोए सब जाइ ।
देखहु बूझि विचार मन लेहु न हेरि हेराइ ।।

स्पष्ट ही अखरावट की विशेषता आध्यात्मिक विचारों के प्रतिपादन में ही है । ब्रह्मवाद, हठयोग, चक्रभेद और आनंदवाद तथा सूफी इस्लामी सिद्धान्तों का समन्वयात्मक प्रस्तुतीकरण अखरावट की उपलब्धि है । डॉ० रामरतन भटनागर ने अपनी कृति जायसी में अखरावट की विशेषताओं का संक्षिप्त किन्तु महत्वनिदर्शक परिचय इस प्रकार किया है—

(१) प्रारम में एक चित् सत्ता ही की स्थिति है । उसे चाहे आदि गोंसाई कहो या नूर कहो या अल्लाह या सुन्न (शून्य), कालान्तर में इसी से जग का निर्माण किया गया है ।

(२) नारद या शैतान के भुलावे में आकर जीव की अभेद स्थिति जाती रही, आदमस्वर्ग से निकाला गया । जीव अल्लाह के जमाल और जलाल से वंचित हुआ ।

(३) जीव में इसी वियोग की तड़फन है। वह एक बार इसी अल्लाह के जमाल और जलाल को प्राप्त करना चाहता है।

(४) इसके निमित्त प्रधान साधन है मन का परिष्कार।

(५) किन्तु केवल मन के परिष्कार से ही कुछ नहीं होता है। साधक को कुछ विशिष्ट साधनाओं की भी आवश्यकता पड़ती है। जायसी का सूफी ग्रंथ पर विशेष आग्रह है, यद्यपि वह प्रत्येक पंथ को उपादेय मानते हैं।

(६) जायसी का सूफी पंथ उनकी अपनी खोज है। वह न शास्त्रीय सफीपथ है, न केवल भावनात्मक रहस्यवादिता। उनके अंग हैं—

(अ) नमाज, तरीकत, शरीअत, हकीकत और मारफत। ये इस्लामी विधि विधान हैं परन्तु जायसी ने इनकी नई व्याख्या की है, यद्यपि इनके संबंध में विस्तारपूर्वक उन्होंने नहीं लिखा है।

(ब) उसमें योग की भांति कायानिष्ठ ब्रह्म की भावना है। इस पिंड में ही अल्लाह समाया है। त्रिकुटि, चक्रभेद आदि यौगिक साधनाओं द्वारा उसे प्राप्त करना संभव है।

(स) नैतिक आचरण और हृदय मन की शुद्धता।

(द) प्रेम की पीर की साधना।

(७) जायसी ने प्रेम की पीर पर विशेष बल दिया है। सूफी तो एकमात्र प्रेम को ही जानता है। पद्मावत में इस अंग को ही काव्य का विषय बनाया गया है। पद्मावत में प्रेम कहानी कहने वाला कवि अखरावट में प्रेम-साधना पर विस्तार से विचार नहीं करता है। प्रेम पंथ में गुरु का निर्देशन तथा स्वयं साधक का आगे बढ़ते जाने का हौंसला आवश्यक है। कवि ने प्रेमपंथ के साधक का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

प्रेम तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बांधि।
पारध जैस अहेरे कहं लाग रहे सर सांधि॥

(८) अध्यात्म दर्शन के रूप में जायसी औपनिषदिक ब्रह्मवाद से भी आगे चले जाते हैं। वे कहते हैं—

जो किछु है सो है सब ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ॥

(वे जीव, ब्रह्म और प्रकृति को तत्वत: एक मानते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं जहां वे प्रकृति को उसकी छाया कहते हैं, वहां प्रतिबिम्बवाद की झलक आ जाती है। जो अन्तर है यह माया के कारण नहीं है, शैतान की करनी है। शैतान के भुलावे में आकर जीव अपने जमाल और जलाल को भूल गया है। इसी से उसके, अल्लाह के और प्रकृति के बीच में परदा पड़ गया है, परंतु जब सब अल्लाह ही अल्लाह है तो यह दुख-सुख, पाप-पुण्य इत्यादि द्वंध स्थिति क्यों है? जायसी ने इसका उत्तर भी दिया है—जैसे जीवात्मा शुद्ध आनन्द स्वरूप है पर शरीर के संयोग में दुख आदि से युक्त दिखाई पड़ता है वैसे ही शुद्ध ब्रह्म संसार के व्यावहारिक क्षेत्र में भला बुरा आदि कई रूपों में दिखाई पड़ता है।)

कवि ने लिखा है—

सुनु, चेला! जस सब संसारू। ओहि भांति तुम कया विचारू॥
जो जिउ कया तो दुख सौं भीजा। पाप के ओट पुन्नि सब छीजा॥

जस सूरज उग्र देख अकासू। सब जस पुञ्जि उहै परगासू ।।
मल औ मंद जहां लगि दोई। सब पर धूप रहै पुनि सोई ।।
मंदे पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैल नैन सों ढरई ।।
अस वह निरमल धरति अकासा। जैस मिली फूल मंह वासा ।।
सबै ठांव औ सब परकाए। ना वह मिला न रहै निनाए ।।
ओहि जोति परछाहीं। नवौ खण्ड उजियार ।।
सूरज चांद कै जोती। उदित अहै संसार ।।

जायसी ने अखरावट में एक स्थान पर 'माया' का उल्लेख किया अवश्य है, किन्तु शंकराद्वैत के अर्थों में नहीं। जायसी जोव ब्रह्म के बीच में माया की स्थिति को स्वीकार नहीं करते हैं।

(डॉ० रामरतन भटनागर के जायसी के आधार पर)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी की कृति अखरावट दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यंजना करने वाली कृति है। इसमें सूफी साधना और दर्शन, अद्वैतवाद और औपनिषदिक सिद्धान्तों का समन्वय है। गुरु चेला का प्रसंग भी इसमें आया है। कबीर आदि संतों की भांति ही 'अखरावट' में कहा गया है—

गा सो प्रान परेवा कै पींजर तन छूंछ।
मुए पिण्ड कस फूलै चेला गुरु सग पूंछ ।।

आखिरी कलाम:—जायसी की कृति 'आखिरी कलाम' का परिचय सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' के माध्यम से कराया। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी थोड़े हेर फेर के साथ इसी पाठ को स्वीकार किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है— 'इस ग्रंथावली में सम्मिलित आखिरी कलाम का भी पाठ शुक्लजी के संस्करण के अनुसार रखा गया है, किन्तु उसकी एक लीथो की प्रति लखनऊ के श्री कल्बे मुस्तफा जायसी से मिल गई। श्री मुस्तफा साहब का कथन है कि इसी प्रति से शुक्लजी ने भी उसका पाठ अपनी कृति में दिया है। शुक्लजी के पाठ को इस प्रति के पाठ से मिलाने पर यह बात ठीक ज्ञात हुई किन्तु इस प्रति में प्रायः प्रत्येक पंक्ति में एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा किये गये संशोधन भी हैं, जिनका आधार संशोधकों की कल्पना के अतिरिक्त कदाचित् और कुछ नहीं है। शुक्लजी ने अधिकतर संशोधनों को स्वीकार किया है और अपनी ओर से भी कुछ संशोधन करते हुए रचना का पाठ अपने संस्करण में दिया है। मैंने उक्त लीथो की प्रति का ही पाठ दिया है। इसलिए दोनों पाठों में अन्तर यथेष्ट मिलेगा।' खैर इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि ग्रंथ की रचना इस्लाम धर्म में प्रचलित विश्वासों की भूमिका पर ही हुई है और इसी कारण डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने जिन संशोधनों की ओर संकेत किया है वे प्रामाणिकता के निकट प्रतीत होते हैं।

रचना काल—इस कृति का रचनाकाल ९३६ हिजरी है। इसमें संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। मसनवी काव्य की तत्व-रेखाएं इसमें उपलब्ध होती है। इसके नाम के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियां प्रचलित हैं। 'आखिरी कलाम' का 'आखिरी' शब्द विद्वानों के इस भ्रम का कारण बना है कि यह जायसी की आखिरी यानी अन्तिम रचना है। 'कलाम' का असली अर्थ वक्ता,

साहित्यिक कृति और आपत्ति है। वास्तव में आखिरी कलाम में सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन किया गया है। कवि ने इसमें मुहम्मद साहब के दैन्य तथा अपने अनुयायियों के उद्धार के लिए उनकी तीव्र लालसा का वर्णन तथा उनके महत्व को सर्वोपरि करार दिया है।

कुछ विद्वान् इसे आखिरीनामा भी कहते हैं। कारण यह 'नामा' शब्द उनके अन्य ग्रंथों के नाम-संदर्भ से भी ठीक बैठ जाता है—पोस्तीनामा, खुर्वानामा, मुराईनामा, मुकहरानामा और कहारनामा आदि। विवाद से परे यह बात कही जा सकती है कि यह कृति आखिरी कलाम के नाम से ही संसार के सामने है, अतः इसी नाम को स्वीकारना सारपूर्ण प्रतीत होता है। वर्ण्य- विषय की दृष्टि से इस कृति का नाम आखिरी कलाम ठीक भी बैठ जाता है।

डॉ० जयदेव ने सूफी महाकवि जायसी नामक शोध कृति में आखिरी कलाम की कथावस्तु इस प्रकार दी है—

"कवि ने सर्वप्रथम ईश स्तुति करके अपने जन्मकाल के भूकम्प का वर्णन किया है। तत्पश्चात् रसूल स्तुति करके बाबरशाह की प्रशंसा की है। इसके बाद गुरु-वदना, जायस वर्णन माया वर्णन करके काव्य का रचना काल दिया है।"

कृति का उद्देश्य—जायसी की यह कृति आखिरी कलाम न तो दर्शन की चर्चा और न काव्योत्कर्ष के परिचय की दृष्टि ही से की गई है, अपितु इस्लाम धर्म का प्रचार ही इस कृति का उद्देश्य जान पड़ता है। कवि बराबर व्यक्ति के उस आने वाले दिन की ओर सकेत करता रहा है। उसने स्थान-स्थान पर कृति के माध्यम से याद दिलाया है कि व्यक्ति उसे भूले नहीं तथा अपने धर्म-पथ पर अड़िग रहें। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में आखिरी कलाम लिखने का उद्देश्य व्यंजित किया गया है। कवि ने कहा हैं—

अस जिनि जानेउ ओहट है दिन आवत नियरात।
कहै सो बूझि मुहम्मद फिर-फिर कहों असि बात॥

कवि बताना चाहता है कि वह दिन दूर नहीं है—वह तो समीप आता जा रहा है। इसी लक्ष्य से उसने उस दिन की ओर संकेत किया है। कवि को धर्म पथ से विचलित कभी नहीं होना चाहिए—यही आखिरी कलाम का संदेश है। उस दिन के आने की सूचना स्वरूप जो लक्षण दिखाई देते हैं वे इन पंक्तियों में व्यक्त हुए हैं—

जबहिं अन्त कर परलौ आई। धरमी लोग रहै न पाई॥
जाई मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आई बेरा॥
उठि हैं पंडित वेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहि पयाना॥
धूमवरन सूरज होइ जाई। किस्न वरन सिष्टिहि दिखाई॥
चढ़ि गदहा निकसै दर जालू। हाथ खण्ड होइ आए कालू॥

'मच्छ रूप कै आई बेरा' पंक्ति से प्रलय के दिन के निकट आने की ओर संकेत किया गया है। जायसी ने इस कृति में उस अद्भुत जानवर की ओर भी संकेत किया है जो प्रलय के एक दिन पूर्व दिखाई देता है—"वह साठ हाथ ऊंचा होगा तथा कई जानवरों के अंगों को जोड़कर बनाया हुआ होगा जैसे,

जस सूरज उग्र देख अकासू। सब जस पुनि उहै परगासू ॥
मल औ मंद जहां लगि दोई। सब पर धूप रहै पुनि मोई ॥
मंदे पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैल नैन सों ढरई ॥
अस वह निरमल धरति अकासा। जैस मिली फूल मंह वासा ॥
सबै ठांव औ सब परकाए। ना वह मिला न रहै निनाए ॥
ओहि जोति परछाहीं। नवौ खण्ड उजियार ॥
सूरज चांद कै जोती। उदित अहै संसार ॥

जायसी ने अखरावट में एक स्थान पर 'माया' का उल्लेख किया अवश्य है, किन्तु शंकराद्वैत के अर्थों में नहीं। जायसी जीव ब्रह्म के बीच में माया की स्थिति को स्वीकार नहीं करते हैं।

(डॉ० रामरतन भटनागर के जायसी के आधार पर)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी की कृति अखरावट दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यंजना करने वाली कृति है। इसमें सूफी साधना और दर्शन, अद्वैतवाद और औपनिषदिक सिद्धान्तों का समन्वय है। गुरु चेला का प्रसंग भी इसमें आया है। कबीर आदि संतों की भांति ही 'अखरावट' में कहा गया है—

गा सो प्रान परेवा कै पींजर तन छूंछ।
मुए पिण्ड कस फूलै चेला गुरु सग पूंछ ॥

आखिरी कलाम:—जायसी की कृति 'आखिरी कलाम' का परिचय सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' के माध्यम से कराया। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी थोड़े हेर फेर के साथ इसी पाठ को स्वीकार किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है— 'इस ग्रंथावली में सम्मिलित आखिरी कलाम का भी पाठ शुक्लजी के संस्करण के अनुसार रखा गया है, किन्तु उसकी एक लीथो की प्रति लखनऊ के श्री कल्बे मुस्तफा जायसी से मिल गई। श्री मुस्तफा साहब का कथन है कि इसी प्रति से शुक्लजी ने भी उसका पाठ अपनी कृति में दिया है। शुक्लजी के पाठ को इस प्रति के पाठ से मिलाने पर यह बात ठीक ज्ञात हुई किन्तु इस प्रति में प्रायः प्रत्येक पंक्ति में एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा किये गये संशोधन भी हैं, जिनका आधार संशोधकों की कल्पना के अतिरिक्त कदाचित् और कुछ नहीं है। शुक्लजी ने अधिकतर संशोधनों को स्वीकार किया है और अपनी ओर से भी कुछ संशोधन करते हुए रचना का पाठ अपने संस्करण में दिया है। मैंने उक्त लीथो की प्रति का ही पाठ दिया है। इसलिए दोनों पाठों में अन्तर यथेष्ट मिलेगा।' खैर इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि ग्रंथ की रचना इस्लाम धर्म में प्रचलित विश्वासों की भूमिका पर ही हुई है और इसी कारण डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने जिन संशोधनों की ओर संकेत किया है वे प्रामाणिकता के निकट प्रतीत होते हैं।

रचना काल—इस कृति का रचनाकाल ९३६ हिजरी है। इसमें संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। मसनवी काव्य की तत्व-रेखाएं इसमें उपलब्ध होती हैं। इसके नाम के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियां प्रचलित हैं। 'आखिरी कलाम' का 'आखिरी' शब्द विद्वानों के इस भ्रम का कारण बना है कि यह जायसी की आखिरी यानी अन्तिम रचना है। 'कलाम' का असली अर्थ वक्ता,

साहित्यिक कृति और आपत्ति है। वास्तव में आखिरी कलाम में सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन किया गया है। कवि ने इसमें मुहम्मद साहब के दैन्य तथा अपने अनुयायियों के उद्धार के लिए उनकी तीव्र लालसा का वर्णन तथा उनके महत्व को सर्वोपरि करार दिया है।

कुछ विद्वान् इसे आखिरीनामा भी कहते हैं। कारण यह 'नामा' शब्द उनके अन्य ग्रंथों के नाम-संदर्भ से भी ठीक बैठ जाता है—पोस्तीनामा, खुर्वानामा, मुराईनामा, मुकहरानामा और कहारनामा आदि। विवाद से परे यह बात कही जा सकती है कि यह कृति आखिरी कलाम के नाम से ही संसार के सामने है, अतः इसी नाम को स्वीकारना सारपूर्ण प्रतीत होता है। वर्ण्य- विषय की दृष्टि से इस कृति का नाम आखिरी कलाम ठीक भी बैठ जाता है।

डॉ० जयदेव ने सूफी महाकवि जायसी नामक शोध कृति में आखिरी कलाम की कथावस्तु इस प्रकार दी है—

"कवि ने सर्वप्रथम ईश स्तुति करके अपने जन्मकाल के भूकम्प का वर्णन किया है। तत्पश्चात् रसूल स्तुति करके बाबरशाह की प्रशंसा की है। इसके बाद गुरु-वदना, जायस वर्णन माया वर्णन करके काव्य का रचना काल दिया है।"

कृति का उद्देश्य—जायसी की यह कृति आखिरी कलाम न तो दर्शन की चर्चा और न काव्योत्कर्ष के परिचय की दृष्टि ही से की गई है, अपितु इस्लाम धर्म का प्रचार ही इस कृति का उद्देश्य जान पड़ता है। कवि बराबर व्यक्ति के उस आने वाले दिन की ओर सकेत करता रहा है। उसने स्थान-स्थान पर कृति के माध्यम से याद दिलाया है कि व्यक्ति उसे भूले नहीं तथा अपने धर्म-पथ पर अड़िग रहें। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में आखिरी कलाम लिखने का उद्देश्य व्यजित किया गया है। कवि ने कहा हैं—

अस जिनि जानेउ ओहट है दिन आवत नियरात।
कहै सो बूझि मुहम्मद फिर-फिर कहौं असि बात।।

कवि बताना चाहता है कि वह दिन दूर नहीं है—वह तो समीप आता जा रहा है। इसी लक्ष्य से उसने उस दिन की ओर संकेत किया है। कवि को धर्म पथ से विचलित कभी नहीं होना चाहिए—यही आखिरी कलाम का संदेश है। उस दिन के आने की सूचना स्वरूप जो लक्षण दिखाई देते हैं वे इन पक्तियों में व्यक्त हुए हैं—

जबहिं अन्त कर परलौं आई। धरमी लोग रहै न पाई।।
जाई मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आई बेरा।।
उठि हैं पंडित वेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहिं पयाना।।
धूमवरन सूरज होइ जाई। किस्न बरन सिष्टिहिं दिखाई।।
चढ़ि गदहा निकसै दर जालू। हाथ खण्ड होइ आए कालू।।

'मच्छ रूप कै आई बेरा' पंक्ति से प्रलय के दिन के निकट आने की ओर संकेत किया गया है। जायसी ने इस कृति में उस अद्भुत जानवर की ओर भी संकेत किया है जो प्रलय के एक दिन पूर्व दिखाई देता है—"वह साठ हाथ ऊंचा होगा तथा कई जानवरों के अंगों को जोड़कर बनाया हुआ होगा जैसे,

साँड के समान सिर होगा, सूअर की तरह आँखें, हाथी की तरह कान तथा बिल्ली जैसी पीठ आदि" (इस्लाम डिक्शनेरी, पृ० ५३६ से)। जायसी ने वर्णन किया है—

पुनि एक अचरज संचरै आई। नाव मजारी भयों बिलाई।
ओहि के मूँधे जिये न कोई। जो न मरै तेहि गवबै सोई।।

इस कृति के अन्त में स्वर्ग और वहां के रहन-सहन का वर्णन किया गया है। जायसी की कृति 'आखिरी कलाम' इस वर्णन से समाप्त होती है—

नित पिरीत नित नव-नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू।।
नितह नित औ बारि बियाहै। बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै।।
तहाँ न मीचु न नींद दुख, रह न देह महँ रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानै भोग।।

आखिरी कलाम को प्रबंध के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के दो भाग हैं—पहले भाग में काव्य का वह अंश समाहित है जो धार्मिक ग्रंथों पर आधारित है यथा कयामत का होना, प्राणियों का उठना, पुल सरात को पार करना, परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होना, रसूल के अनुयायियों को ईश्वर द्वारा क्षमा प्रदान करना तथा अन्त में शाश्वत स्वर्ग-विहार आदि है। द्वितीय भाग में काव्य का वह अंश आता है जिसका आधार कवि कल्पना है। इसमें ४० दिन अग्नि ज्वाल वर्षण, ४० दिन जल-वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकांतवास और विचार, प्राणियों का नंगे बदन होना, नाद से जागृत होना, रसूल या अन्य पैगम्बरों के पास जाकर दैन्य प्रदर्शन, फातिमा की खोज, फातिमा का क्रोध, खुदा का रसूल पर धौंस गालिब करना, रसूल का फातिमा को समझाना, अतिरंजित रूप से दावत का वर्णन, ईश्वर दर्शन, दो दिन तक सब का बेहोश पड़े रहना आदि का वर्णन है।

इस काव्य के द्वितीयांश के सम्बन्ध में जीवनप्रकाश जोशी और दानबहादुर पाठक द्वारा सम्पादित ग्रंथ पद्मावत में लिखा है—"द्वितीयांश कवि-कल्पना प्रसूत है जो काव्य को आवश्यकता से अधिक कमजोर बना देता है। अनेक स्थल तो ऐसे हैं जहां प्रगीता द्वारा कवि कर्म की भी रक्षा नहीं हो पाई है। कुछ बातें बेसिर पैर की मालूम होती हैं जिनका काव्य के साथ कोई मेल नहीं बैठता है। ये रसाला प्रसंग वर्णन बड़े विचित्र और हास्यास्पद हैं। इन स्थलों में काव्य की प्रबंधात्मकता को बड़ा धक्का लगता है।"

१. आखिरी कलाम में इस्लामी विचारों का समावेश है जिससे कवि की धर्म विषयक मोटी मोटी मान्यताओं का पता चल जाता है।
२. काव्य में विरह की अभिव्यक्ति, गुरु महिमा, श्रद्धा और विश्वास-पूर्ण वर्णन द्वारा उनके सूफीमत की ओर झुकाव का संकेत मिलता है।

पुनि पूछव यम ! सब जिउ लिन्हा । एकौरहा बांचि जौ दीन्हा ।।
अल्लाह का संहारक रूप शंकर के रूप के समकक्ष रखा जा सकता है—

जो जम आन जिउ लेत हैं, शंकर तिनहू कर जीव लेउ ।
सो अब तरैं मुहम्मद, देखु तहूं जिव देव ।।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि आखिरी कलाम धर्म ग्रंथ है । इसमें अभिव्यक्ति कौशल का पूर्ण वैभव देखने को नहीं मिलता है । अभिव्यक्तियां कमजोर, भाषा अपरिपक्व, शैली सीधी और सरल है । कवि ने धर्म का वर्णन तो बड़े मनोयोग से किया है किन्तु उसमें साहित्यिक गरिमा के अभाव ने आकर्षण के स्थान पर विकर्षण की स्थिति उत्पन्न करदी है ।

चित्ररेखा

जायसी के ग्रंथों में 'चित्ररेखा' एक ऐसी कृति के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसमें प्रेमकाव्यानंद भरा हुआ है । पद्मावत के अलावा यह दूसरी प्रेम कथा है जिसमें प्रेम की इतनी गंभीर चर्चा हो सकी है । 'चित्ररेखा अभी तक तो अज्ञात थी । जायसी लिखित पुस्तकों की जो सूची सैयद आले मुहम्मद ने बतलाई है उसमें एक पुस्तक का नाम चित्रावत है । संभव है कि यह एक स्वतंत्र काव्य ग्रंथ हो अथवा यह भी संभव है कि चित्रावत ही चित्ररेखा हो ।' 'चित्ररेखा' का सम्पादन पं० शिवसहाय पाठक ने किया है । इसका प्रथम संस्करण अप्रैल सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ है । श्री पाठक ने भूमिका में लिखा है—"चित्ररेखा और चित्रावत अभिन्न हैं, वैसे किसी प्रमाण के अभाव में दृढ़तापूर्वक कुछ भी कहना असंभव ही है ।" (भूमिका पृ० ५९)

उन्होंने (पाठकजी ने) चित्ररेखा के सम्पादन के सम्बन्ध में जो सूचना दी है वह इस प्रकार है:— 'चित्ररेखा के सम्पादन में दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है । हैदराबाद के सालारे जंग संग्रहालय की प्रति का नाम मैंने सुविधा के लिए प्रति 'क' और अहमदाबाद वाली प्रति का नाम प्रति 'ख' रख लिया है । ये दोनों प्रतियां लगभग समान हैं । कहीं प्रति 'क' में एक दो अर्द्धालियां अधिक हैं तो कहीं प्रति 'ख' में एक दो अर्द्धालियां अधिक हैं ।...... अहमदाबाद वाली प्रति फारसी लिपि में है और हैदराबाद वाली उर्दू के अक्षरों में । अहमदाबाद वाली में कुछ अन्तिम पृष्ठ नहीं हैं । कुछ स्थल दीमकों की कृपा के शिकार हो चुके हैं ।"

वास्तव में चित्ररेखा सामान्य प्रेम काव्य है । लोक प्रचलित कहानी के सहारे इस काव्य का महल खड़ा किया गया है । "न तो काव्य की दृष्टि से और न वक्तव्य की दृष्टि से इसका कोई मूल्य है । इस काव्य में जिस प्रेम कथा का वर्णन है उसमें किसी प्रकार की आध्यात्मिकता को ढूंढना व्यर्थ का प्रयास है । गांव में जो कहानी कहने की शैली है और जिस सहज ढग से कहानी कही जाती है उसी प्रकार से जायसी ने कहानी कह डाली है । इतना अवश्य है कि उन्होंने-बीच बीच में समासोक्ति पद्धति का सहारा लेकर आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया है ।"

श्री रामपूजन तिवारी का कथन है कि "यह छोटा सा काव्यग्रंथ पद्मावत के तुरन्त बाद का लिखा हुआ है जब कि वह परम प्रियतम के प्रेम में

सांड के समान सिर होगा, सूअर की तरह आंखें, हाथी की तरह कान तथा बिल्ली जैसी पीठ आदि" (इस्लाम डिक्शनेरी, पृ० ५३९ से)। जायसी ने वर्णन किया है—

पुनि एक अचरज संचरै आई। नाव मजारी मवों बिलाई।
ओहिके सूंघे जिये न कोई। जो न मरै तेहि भक्खै सोई।।

इस कृति के अन्त में स्वर्ग और वहां के रहन-सहन का वर्णन किया गया है। जायसी की कृति 'आखिरी कलाम' इस वर्णन से समाप्त होती है—

नित पिरीत नित नव-नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू।।
नित्तइ नित्त ओ बारि बिया है। बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै।।
तहां न मींचु न नींद दुख, रह न देइ महँ रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानैं भोग।।

आखिरी कलाम को प्रबंध के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के दो भाग हैं—पहले भाग में काव्य का वह अंश समाहित है जो धार्मिक ग्रंथों पर आधारित है यथा कयामत का होना, प्राणियों का उठना, पुल सरात को पार करना, परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होना, रसूल के अनुयायियों को ईश्वर द्वारा क्षमा प्रदान करना तथा अन्त में शाश्वत स्वर्ग-विहार आदि है। द्वितीय भाग में काव्य का वह अंश आता है जिसका आधार कवि कल्पना है। इसमें ४० दिन अग्नि उपल वर्षण, ४० दिन जल-वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकांतवास और विचार, प्राणियों का नंगे बदन होना, ताल में आगे होना, रसूल या अन्य पैगम्बरों के पास जाकर दैन्य प्रदर्शन, फातिमा की खोज, फातिमा का क्रोध, खुदा का रसूल पर धौंस गालिब करना, रसूल का फातिमा को समझाना, अतिरंजित रूप से दावत का वर्णन, ईश्वर दर्शन, दो दिन तक सब का बेहोश पड़े रहना आदि का वर्णन है।

इस काव्य के द्वितीयांश के सम्बध में जीवनप्रकाश जोशी और दान-बहादुर पाठक द्वारा सम्पादित ग्रंथ पद्मावत में लिखा है—"द्वितीयांश कवि-कल्पना प्रसूत है जो काव्य को आवश्यकता से अधिक कमजोर बना देता है। अनेक स्थल तो ऐसे हैं जहां प्रणेता द्वारा कवि कर्म की भी रक्षा नहीं हो पाई है। सभी बातें बेसिर पैर की मालूम होती हैं जिनका काव्य के साथ कोई मेल नहीं बैठता है। ये स्वतन्त्र प्रसंग वर्णन बड़े विचित्र और हास्यास्पद हैं। इन स्थलों में काव्य की प्रबंधात्मकता को बड़ा धक्का लगता है।"

१. आखिरी कलाम में इस्लामी विचारों का समावेश है जिससे कवि की धर्म विषयक मोटी मोटी मान्यताओं का पता चल जाता है।
२. काव्य में विरह की अभिव्यक्ति, गुरु महिमा, श्रद्धा और विश्वास-पूर्ण वर्णन द्वारा उसके सूफीमत की ओर झुकाव का संकेत मिलता है।
३. नाथपंथियों और योगियों का भी आंशिक प्रभाव इस कृति पर पड़ा है।
४. हिन्दू, मुस्लिम संस्कृति में मेल करने का प्रयास भी कवि ने किया है। कवि की यह प्रवृत्ति उस युग की प्रेरणा है। देखिये तो सही—

पुनि पूछब यम ! सब जिउ लिन्हा । एकौरहा बांचि जौ दीन्हा ।।

अल्लाह का संहारक रूप शंकर के रूप के समकक्ष रखा जा सकता है—

जो जम आन जिउ लेत हैं, शंकर तिनहू कर जीव लेउ ।
सो अब तरै मुहम्मद, देखु तहूं जिव देव ।।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि आखिरी कलाम धर्म ग्रंथ है । इसमें अभिव्यक्ति कौशल का पूर्ण वैभव देखने को नहीं मिलता है । अभिव्यक्तियां कमजोर, भाषा अपरिपक्व, शैली सीधी और सरल है । कवि ने धर्म का वर्णन तो बड़े मनोयोग से किया है किन्तु उसमें साहित्यिक गरिमा के अभाव ने आकर्षण के स्थान पर विकर्षण की स्थिति उत्पन्न करदी है ।

चित्ररेखा

जायसी के ग्रंथों में 'चित्ररेखा' एक ऐसी कृति के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसमें प्रेमकाव्यानंद भरा हुआ है । पद्मावत के अलावा यह दूसरी प्रेम कथा है जिसमें प्रेम की इतनी गंभीर चर्चा हो सकी है । 'चित्ररेखा अभी तक तो अज्ञात थी । जायसी लिखित पुस्तकों की जो सूची सैयद आले मुहम्मद ने बतलाई है उसमें एक पुस्तक का नाम चित्रावत है । संभव है कि यह एक स्वतंत्र काव्य ग्रंथ हो अथवा यह भी संभव है कि चित्रावत ही चित्ररेखा हो ।' 'चित्ररेखा' का सम्पादन पं० शिवसहाय पाठक ने किया है । इसका प्रथम संस्करण अप्रैल सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ है । श्री पाठक ने भूमिका में लिखा है—"चित्ररेखा और चित्रावत अभिन्न हैं, वैसे किसी प्रमाण के अभाव में दृढ़तापूर्वक कुछ भी कहना असंभव ही है ।" (भूमिका पृ० ५९)

उन्होंने (पाठकजी ने) चित्ररेखा के सम्पादन के सम्बन्ध में जो सूचना दी है वह इस प्रकार है:— 'चित्ररेखा के सम्पादन में दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है । हैदराबाद के सालारे जंग संग्रहालय की प्रति का नाम मैंने सुविधा के लिए प्रति 'क' और अहमदाबाद वाली प्रति का नाम प्रति 'ख' रख लिया है । ये दोनों प्रतियां लगभग समान हैं । कहीं प्रति 'क' में एक दो अर्द्धालियां अधिक हैं तो कहीं प्रति 'ख' में एक दो अर्द्धालियां अधिक हैं ।...... अहमदाबाद वाली प्रति फारसी लिपि में है और हैदराबाद वाली उर्दू के अक्षरों में । अहमदाबाद वाली में कुछ अन्तिम पृष्ठ नहीं हैं । कुछ स्थल दीमकों की कृपा के शिकार हो चुके हैं ।"

वास्तव में चित्ररेखा सामान्य प्रेम काव्य है । लोक प्रचलित कहानी के सहारे इस काव्य का महल खड़ा किया गया है । "न तो काव्य की दृष्टि से और न वक्तव्य की दृष्टि से इसका कोई मूल्य है । इस काव्य में जिस प्रेम कथा का वर्णन है उसमें किसी प्रकार की आध्यात्मिकता को ढूंढना व्यर्थ का प्रयास है । गांव में जो कहानी कहने की शैली है और जिस सहज ढंग से कहानी कही जाती है उसी प्रकार से जायसी ने कहानी कह डाली है । इतना अवश्य है कि उन्होंने—बीच बीच में समासोक्ति पद्धति का सहारा लेकर आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया है ।"

श्री रामपूजन तिवारी का कथन है कि "यह छोटा सा काव्यग्रंथ पद्मावत के तुरन्त बाद का लिखा हुआ है जब कि वह परम प्रियतम के प्रेम में

शरावारे तो थे, लेकिन उनके शरीर में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि वे इस प्रेमाख्यान को बड़ा सा सुनियोजित रूप दे सकें।"

१. इस प्रेम काव्य में अध्यात्म तत्व खोजना व्यर्थ प्रयास है।

२. इसमें कहानी कहने से पूर्व ईश्वर की संस्तुति अवश्य मिलती है।

३. चौरासी लाख योनियों के उल्लेख से भारतीय विचारधारा का स्पष्टीकरण भी हो जाता है—

जीया जोनि लाख चौरासी। जल थल मांह कीन्ह सब वासी॥

४. सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन सूफियाना ढंग का है। ज्योति से ही ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। जायसी ने 'अल अमा' की ओर संकेत भी किया है। वे ज्योति को नूर मुहम्मद कहते हैं। इसी ज्योति के कारण परमात्मा, सृष्टि करने में सफल हुआ है—

पेम पिरीति पुरुख एक किया। नाउं मुहम्मद दुहुं जग किया॥
अंधकूप भया अहा निरासा। ओन के प्रीति जोति परकासा॥
होइ परगट पय जोति अनूपा। घट-घट पूरि रहा सब रूपा॥
....

....

उन ते भया संसार संपूरन, सुनहु बैन अस्थूल॥

५. बाह्याचार को जायसी व्यर्थ मानते थे—कृति से यह प्रमाणित होता है। अहं का विसर्जन करने से ही हृदय की शुद्धि संभव है। इस शुद्धि के अनंतर ही परमात्मा जो हमारे भीतर है-प्राप्त किया जा सकता है—

हौं तो दोउ बीच की फाई। जब छूटी तब एक होइ जाई।
हियकर दरपन मनकर मंजन। देखु आपु महं आप निरंजन॥
भया प्रकट मत्र सेन अपाना। अंध मूरख सों कहे जहाना।
अगिन काठ घिव-नीर सो कथा। सो जानी जो मन देइ मथा॥

(पृ० ६९)

जायसी कहते हैं कि उसका रस वही ले सकता है जो प्रेम करता है—

भवर भयेऊ जस केतकि कांटा। सो रस पाइ होइ चुर चांटा।

जप-तप, यज्ञ, नियम, व्रत सभी को जायसी व्यर्थाडम्बर कहते थे। परमात्मा की प्राप्ति तभी संभव है जबकि हृदय चिर विरह दाव नहीं करे। वे स्पष्ट कहते हैं—

जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम धरम सत नेम॥

कहरानामा

कि गहरे जल में पड़कर डूबने की आशंका और जमीन पर गड्ढे में गिरने का भय है। अतः जायसी को यह कहना पड़ा है कि—

कहै मुहम्मद रहो सम्हारे पांव पानि में घालें रे।
टोइ—टोइ भुइ पांव उठाओ नाहि तौ परिहो खालें रे।

इस्लाम धर्म में जकात (दान) एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। पार करते समय गिड़गिड़ाने पर भी केवट रूपी परमात्मा किसी की बातों की ओर ध्यान नहीं देता है। भाई, बंधु, मित्र कोई भी काम नहीं आते हैं। अतः जायसी का संदेश यह है कि व्यक्ति को समझ सोचकर कर्म करने की ओर अग्रसर होना चाहिए। संसार नदी की विभीषिका भी बड़ी भयावह है। उदाहरणों के माध्यम से ये तत्व स्पष्ट हो जाते हैं—

(क) परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है—
और अस्तुती पांव परि विनवै विनती किए न मानै रे।
रंचहु रहा न कीन्ह चिन्हारी अब कैसे पहिचाने रे॥
(ख) भाई बन्धु औ मीत संघाती सो न मिलै जेहि चाहै रे।
(ग) चेतावनी है कि—
कहै मुहम्मद पंथ न भूलउ आगें अइस उतारा रे।
सो कै चलहु पार जेहि उतरहु नत बूड़हु मंझधारा रे॥
(घ) संसार-नदी बड़ी भयंकर है। तभी तो जायसी को कहना पड़ा है—

उठहि पवन औ समुंद हिलोरैं पवन बात खट डोलै रे।
देखि वार जिउ खिन-खिन कंपै कौन भरोसें बोलै रे॥
कछू औ सूए चहुँ दिसि उठहीं मगर गोह घरियारा रे।
होइ मझधार डरावन लागै कैसे उतरब पारा रे॥

श्री रामपूजन तिवारी ने लिखा है कि "कहरानामा में किसी प्रकार की प्रेम कथा की योजना नहीं है। कबीर की तरह ही जायसी ने अपनी इस कृति में माया मोह के त्याग तथा परमात्मा के प्रति अपने आपको अर्पित कर देने की बात कही है। जायसी ने इसमें गुरु का आश्रय लेना, संसार में अच्छे कर्म करना, दान देना, अपने आपको पहचानना तथा चित्तको एकाग्र करने आदि की बात कही गई है। गुरु की आवश्यकता पर विशेष महत्व के साथ वर्णन किया है। वे कहते है" —"गुरु खेवक हैं जो परम प्रियतम के सेवक हैं।'

है कापर झांगर अरुझाना सकहुँ त चलहु छंडाई रे।
एक राह जो गुरु बताई साथ पांच समुहाई रे॥

"पद्मावत में जायसी ने परम प्रियतम को दुलहा और इस संसार को नैहर कहा है। पद्मावत की तरह 'कहरा' में भी दुलहिन (आत्मा) सखियों से दो चार दिन खेल लेने के लिए कह रही है। प्रियतम से मिलन के समय की आशंकाओं से उसका चित्त व्याकुल है। जायसी कहते हैं—

बात सुनहु तुम्ह सखी सहेली सत बोलौं तुम आगे रे।
संवरि सेज मन पियकै डरपों रहे खुरुक जिमि लागे रे॥
गीत वाद मोहि कछू न भावै हौं तेहि संग लगाई रे।
कंत बांह धरि पूंछै बैना कहा कहब तेहि ठाईं रे॥

गरावारे तो थे, लेकिन उनके शरीर में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि वे इस प्रेमाख्यान को बड़ा सा सुनियोजित रूप दे सकें।"

१. इस प्रेम काव्य में अध्यात्म तत्व खोजना व्यर्थ प्रयास है।
२. इसमें कहानी कहने से पूर्व ईश्वर की संस्तुति अवश्य मिलती है।
३. चौरासी लाख योनियों के उल्लेख से भारतीय विचारधारा का स्पष्टीकरण भी हो जाता है—

जीया जोनि लाख चौरासी। जल थल मांह कीन्ह सब वासी॥

४. सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन सूफियाना ढंग का है। ज्योति से ही ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। जायसी ने 'अल अमा' की ओर संकेत भी किया है। वे ज्योति को नूर मुहम्मद कहते हैं। इसी ज्योति के कारण परमात्मा, सृष्टि करने में सफल हुआ है—

पेम पिरीति पुरुख एक किया। नाउं मुहम्मद दुहं जग किया॥
अंधकूप भया अहा निरासा। ओन के प्रीति जोति परकासा॥
होइ परगट पथ जोति अनूपा। घट-घट पूरि रहा सब रूपा॥
....
....
उन ते भया संगार संपूरन, सुनहु बैन अस्थूल॥

५. बाह्याचार को जायसी व्यर्थ मानते थे—कृति से यह प्रमाणित होता है। अहं का विसर्जन करने से ही हृदय की शुद्धि संभव है। इस शुद्धि के अनंतर ही परमात्मा जो हमारे भीतर है-प्राप्त किया जा सकता है—

हौं तो दोउ बीच की फाई। जब छूटी तब एक होइ जाई।
हियकर दरपन मनकर मंजन। देखु आपु महं आप निरंजन॥
भया प्रकट सब गेन अपाना। अंध मुरख सों कहे जहाना।
अगिन काठ घिव-खीर सो कथा। सो जानी जो मन देइ मथा॥
(पृ० ६९)

जायसी कहते हैं कि उसका रस वही ले सकता है जो प्रेम करता है—
भवर भयेऊ जस केतकि कांटा। सो रस पाइ होइ चुर चांटा।

जप-तप, यज्ञ, नियम, व्रत सभी को जायसी व्यर्थाडम्बर कहते थे। परमात्मा की प्राप्ति तभी संभव है जबकि हृदय चिर विरह दाव नहीं करे। वे स्पष्ट कहते हैं—

जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम धरम सत नेम॥

कहरानामा

कि गहरे जल में पड़कर डूबने की आशंका और जमीन पर गड्ढे में गिरने का भय है। अतः जायसी को यह कहना पड़ा है कि—

कहै मुहम्मद रहो सम्हारे पांव पानि में घालें रे।
टोइ—टोइ भुइ पांव उठाओ नाहि तो परिहो खालें रे।

इस्लाम धर्म में ज़कात (दान) एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। पार करते समय गिड़गिड़ाने पर भी केवट रूपी परमात्मा किसी की बातों की ओर ध्यान नहीं देता है। भाई, बंधु, मित्र कोई भी काम नहीं आते हैं। अतः जायसी का संदेश यह है कि व्यक्ति को समझ सोचकर कर्म करने की ओर अग्रसर होना चाहिए। संसार नदी की विभीषिका भी बड़ी भयावह है। उदाहरणों के माध्यम से ये तत्व स्पष्ट हो जाते हैं—

(क) परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है—
और अस्तुती पांव परि विनवै विनती किए न माने रे।
रंचहु रहा न कीन्ह चिन्हारी अब कैसे पहिचाने रे॥
(ख) भाई बन्धु औ मीत संघाती सो न मिलै जेहि चाहै रे।
(ग) चेतावनी है कि—
कहै मुहम्मद पंथ न भूलउ आनें अइस उतारा रे।
सो कै चलहु पार जेहि उतरहु नत बूड़हु मंझधारा रे॥
(घ) संसार-नदी बड़ी भयंकर है। तभी तो जायसी को कहना पड़ा है—

उठहि पवन औ समुंद हिलोरैं पवन बात खट डोलै रे।
देखि वार जिउ खिन-खिन कंपै कौन भरोसें बोलै रे॥
कछु औ सूए चहुँ दिसि उठहीं मगर गोह घरियारा रे।
होइ मझधार डरावन लागै कैसे उतरब पारा रे॥

श्री रामपूजन तिवारी ने लिखा है कि "कहरानामा में किसी प्रकार की प्रेम कथा की योजना नहीं है। कबीर की तरह ही जायसी ने अपनी इस कृति में माया मोह के त्याग तथा परमात्मा के प्रति अपने आपको अर्पित कर देने की बात कही है। जायसी ने इसमें गुरु का आश्रय लेना, संसार में अच्छे कर्म करना, दान देना, अपने आपको पहचानना तथा चित्तको एकाग्र करने आदि की बात कही गई है। गुरु की आवश्यकता पर विशेष महत्व के साथ वर्णन किया है। वे कहते है"—"गुरु सेवक हैं जो परम प्रियतम के सेवक हैं।'

है कापर झांगर अरुझाना सकहुँ त चलहु छंडाई रे।
एक राह जो गुरु बताई साथ पांच समुहाई रे॥

"पद्मावत में जायसी ने परम प्रियतम को दुलहा और इस संसार को नैहर कहा है। पद्मावत की तरह 'कहरा' में भी दुलहिन (आत्मा) सखियों से दो चार दिन खेल लेने के लिए कह रही है। प्रियतम से मिलन के समय की आशंकाओं से उसका चित्त व्याकुल है। जायसी कहते हैं—

बात सुनहु तुम्ह सखी सहेली सत बोलौं तुम आगे रे।
संवरि सेज मन पियकै डरपौं रहे खुरुक जिमि लागे रे॥
गीत बाद मोहि कछु न भावै हौं तेहि संग सगाई रे।
कंत बांह धरि पूंछै बैना कहा कहब तेहि ठाईं रे॥

इहां खेलि लेहु जो खेलन उहां खेल कम होई रे।
सास नंनद देइ हैं उलहाना लाज रहव मुंह गोई रे॥

इस कृति का सम्पादन डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है। श्री रामपूजन तिवारी की दृष्टि में यह पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है फिर भी इस कृति की विचारधारा से परिचय अवश्य मिल जाता है। डॉ० शिवसहाय पाठक ने अपने शोध प्रबंध में कुछ और प्रतियों की सूचना दी। एक हस्तलिखित प्रति 'कामनवेल्थ रिलेशंस आफिस लन्दन' में सुरक्षित है। रामपुर स्टेट लायब्रेरी में एक प्रति है जिसमें रचना काल ९४७ हिजरी दिया हुआ है। यह पूर्ण सुलिखित प्रति है। इसके अलावा मनेर शरीफ में एक अपूर्ण प्रति मिली है और एक बिसवां (जि० सीतापुर) में।"

[यह विवेचन श्री रामपूजन तिवारी की कृति के आधार पर प्रस्तुत किया गया है]

मसला

इस कृति को उद्घाटित और प्रकाशित करने का गौरव डॉ० शिवसहाय पाठक को प्राप्त है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में जो प्रति उन्हें मिली है उसमें कुल तीन पृष्ठ हैं। वे लिखते हैं—"एक तो प्राचीन लिखाई, दूसरे पढ़ने की कठिनाई, तीसरे लिपिक की असावधानी और चौथे खण्डित प्रति–इन सभी कारणों से पुस्तक की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती है। इतना स्पष्ट है कि 'मसला' में अवध के मुहावरे, लोकोक्तियां और कहावतें आदि सुन्दर रूप में प्रयुक्त हैं।"

"मसला में पांच अर्द्धालियों के बाद एक दोहा दिया गया है। प्राप्त प्रति में साठ अर्द्धालियां और बारह दोहे हैं। इसमें भगवान के प्रति प्रेम, मायामोह का त्याग, एकमात्र परमात्मा को जानना तथा नीति सम्बन्धी बातों के समर्थन के लिए लोकोक्ति या कहावत का प्रयोग है।" श्री तिवारी ने निम्नलिखित कुछ उदाहरण भी दिये हैं जिससे उपर्युक्त मत का समर्थन भी हो जाता है—

रूप निरंजन छांड़ि कै, मायां देखि लुभाइ।
१. कुत्ता भोक चढ़ाइये, चाकी चाटन जाइ॥

२. जीवन को व्यर्थ खोने के विषय में कहते हैं—
देवस गंवायो बैठि सब, सांझ भए उठि बाट।
जैसे कुत्ता धोबि को, भयो न घर को घाट॥

३. प्रेम का ढोंग करने वाले व्यक्तियों पर कबीर की भांति ही जायसी ने भी व्यंग्य किया है। वे कहते हैं कि परमात्मा के हम प्रेमी हैं लेकिन प्रीति का पता चल जाता है, वह छिपती नहीं है—
प्रीतम–प्रेम कोइ कहे आना। धान का पेत पयारहिं जाना॥

४. शरीर से दान–धर्म करने का उपदेश देते हुए जायसी कहते हैं—
खाहु खवावहु देहु कछु नेकु न करहु विचार।
आगि लगै ते झोपरा, जो निकसै सो सार॥

अतः स्पष्ट है कि मसला में संतों की सी वाणी सुरक्षित है।

पद्मावत की सृजन प्रेरणायें

साहित्य रचना के पीछे कोई न कोई प्रेरणा अवश्य होती है। सृष्टि का प्रत्येक तत्व या कण किसी न किसी प्रेरणा का माध्यम बन सकता है। साहित्यिक कृतियों की पृष्ठभूमि में कुछ न कुछ प्रेरिकाएं अवश्य होती हैं। कालिदास की यह उक्ति भी यही सिद्ध करती है—"क्रियाणा खलु धर्माणां सत्यन्तयो मूलकारणम्।"

प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी कवि कहीं न कहीं से प्रेरणा पाते रहे हैं। मलिक मुहम्मद जायसी की कृति पद्मावत की पृष्ठभूमि में भी कुछ प्रेरणाओं का विशेष हाथ है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने पद्मावत की रचना निम्नलिखित प्रेरणाओं के फलस्वरूप स्वीकार की है। निम्नलिखित पांच प्रेरणायें हैं—

१. प्रेम कथा की परम्परा में योग देने की कामना से।
२. आध्यात्मिकता की मधुर शैली में अभिव्यक्ति के हेतु।
३. यश-कामना से।
४. इस्लाम के प्रचार के हेतु।
५. सूफी सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए।

पद्मावत की स्तुतिखण्ड की इन पंक्तियों से उसकी 'प्रसादता' सिद्ध होती है। पद्मावत परमात्मा का प्रसाद है—

ओहि सेवत में पाई करनी।
उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी॥

गुरु की सेवा के परिणामस्वरूप ही पद्मावत लिखा जा सकता है। गुरु की कृपा से ही जायसी परमात्मा का साक्षात्कार कर सके हैं—

वे सुगुरु हौं चेला नित विनवौं भा चरे।
उनहुं त देखैं पाएहुं दरस गुसाईं करे॥

इससे एक निष्कर्ष और आसानी से निकाला जा सकता है कि जायसी ने पद्मावत की रचना ब्रह्मानुभूति के पश्चात् की थी।

अध्यात्मप्रियता—पद्मावत की एक प्रेरिका आध्यात्मिकता की भावना है। जायसी आध्यात्मिक विचारों वाले कवि थे। यह कथन पद्मावत के अन्तिम कथन से भी सिद्ध होता है जब वे कहते हैं—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुवा जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निर्गुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बांचा सोई न जो यहि चित बंधा॥
राघव चेतन सोई सैतानू।
माया अलादीन सुलतानू॥

ये पंक्तियां जायसी की आध्यात्मिक प्रेम भावना का रहस्योद्घाटन करती हैं हां, यदि इन्हें प्रक्षिप्त भी मान लें तो भी इतना निश्चित है कि वे आध्यात्मिक चिन्तना से भरपूर थे। इसका प्रमाण वे कथन हैं जहां पर वे लौकिक वर्णन

इहां खेलि लेहु जो खेलन उहां खेल कम होई रे।
सास ननद देइ हैं उलहाना लाज रहव मुंह गोई रे।।

इस कृति का सम्पादन डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है। श्री रामपूजन तिवारी की दृष्टि में यह पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है फिर भी इस कृति की विचारधारा से परिचय अवश्य मिल जाता है। डॉ० शिवसहाय पाठक ने अपने शोध प्रबंध में कुछ और प्रतियों की सूचना दी। एक हस्तलिखित प्रति 'कामनवेल्थ रिलेशंस आफिस लन्दन' में सुरक्षित है। रामपुर स्टेट लायब्रेरी में एक प्रति है जिसमें रचना काल ९४७ हिजरी दिया हुआ है। यह पूर्ण सुलिखित प्रति है। इसके अलावा मनेर शरीफ में एक अपूर्ण प्रति मिली है और एक बिसवां (जि० सीतापुर) में।"

[यह विवेचन श्री रामपूजन तिवारी की कृति के आधार पर प्रस्तुत किया गया है]

मसला।

इस कृति को उद्घाटित और प्रकाशित करने का गौरव डॉ० शिवसहाय पाठक को प्राप्त है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में जो प्रति उन्हें मिली है उसमें कुल तीन पृष्ठ हैं। वे लिखते हैं—"एक तो प्राचीन लिखाई, दूसरे पढ़ने की कठिनाई, तीसरे लिपिक की असावधानी और चौथे खण्डित प्रति—इन सभी कारणों से पुस्तक की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती है। इतना स्पष्ट है कि 'मसला' में अवध के मुहावरे, लोकोक्तियां और कहावतें आदि सुन्दर रूप में प्रयुक्त हैं।"

"मसला में पांच अर्द्धालियों के बाद एक दोहा दिया गया है। प्राप्त प्रति में साठ अर्द्धालियां और बारह दोहे हैं। इसमें भगवान के प्रति प्रेम, मायामोह का त्याग, एकमात्र परमात्मा को जानना तथा नीति सम्बन्धी बातों के समर्थन के लिए लोकोक्ति या कहावत का प्रयोग है।" श्री तिवारी ने निम्नलिखित कुछ उदाहरण भी दिये हैं जिससे उपर्युक्त मत का समर्थन भी हो जाता है—

रूप निरंजन छांड़ि कै, मायां देखि लुभाइ।
१. कुत्ता चौक चढ़ाइये, चार्को चाटन जाइ।।

२. जीवन को व्यर्थ खोने के विषय में कहते हैं—
देवस गंवायो बैठि सब, सांझ भए उठि बाट।
जैसे कुत्ता धोबि को, भयो न घर को घाट।।

३. प्रेम का ढोंग करने वाले व्यक्तियों पर कबीर की भांति ही जायसी ने भी व्यंग्य किया है। वे कहते हैं कि परमात्मा के हम प्रेमी हैं लेकिन प्रीति का पता चल जाता है, वह छिपती नहीं है—
प्रीतम—प्रेम कोइ कहे आना। धान का पेत पयारहिं जाना।।

४. शरीर से दान—धर्म करने का उपदेश देते हुए जायसी कहते हैं—
खाहु खवावहु देहु कछु नेकु न करहु विचार।
आगि लगै ते झोपरा, जो निकसै सो सार।।

अतः स्पष्ट है कि मसला में संतों की सी वाणी सुरक्षित है।

पद्मावत की सृजन प्रेरणायें

साहित्य रचना के पीछे कोई न कोई प्रेरणा अवश्य होती है। सृष्टि का प्रत्येक तत्व या कण किसी न किसी प्रेरणा का माध्यम बन सकता है। साहित्यिक कृतियों की पृष्ठभूमि में कुछ न कुछ प्रेरिकाएं अवश्य होती हैं। कालिदास की यह उक्ति भी यही सिद्ध करती है—"क्रियाणा खलु धर्माणां सत्यन्तयो मूलकारणम्।"

प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी कवि कहीं न कहीं से प्रेरणा पाते रहे हैं। मलिक मुहम्मद जायसी की कृति पद्मावत की पृष्ठभूमि में भी कुछ प्रेरणाओं का विशेष हाथ है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने पद्मावत की रचना निम्नलिखित प्रेरणाओं के फलस्वरूप स्वीकार की है। निम्नलिखित पांच प्रेरणायें हैं—

१. प्रेम कथा की परम्परा में योग देने की कामना से।
२. आध्यात्मिकता की मधुर शैली में अभिव्यक्ति के हेतु।
३. यश-कामना से।
४. इस्लाम के प्रचार के हेतु।
५. सूफी सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए।

पद्मावत की स्तुतिखण्ड की इन पंक्तियों से उसकी 'प्रसादता' सिद्ध होती है। पद्मावत परमात्मा का प्रसाद है—

ओहि सेवत में पाई करनी।
उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी॥

गुरु की सेवा के परिणामस्वरूप ही पद्मावत लिखा जा सकता है। गुरु की कृपा से ही जायसी परमात्मा का साक्षात्कार कर सके हैं—

वे सुगुरु हौं चेला नित बिनवौं भा चरे।
उनहुंत देखैं पाएहुं दरस गुसाईं करे॥

इससे एक निष्कर्ष और आसानी से निकाला जा सकता है कि जायसी ने पद्मावत की रचना ब्रह्मानुभूति के पश्चात् की थी।

अध्यात्मप्रियता—पद्मावत की एक प्रेरिका आध्यात्मिकता की भावना है। जायसी आध्यात्मिक विचारों वाले कवि थे। यह कथन पद्मावत के अन्तिम कथन से भी सिद्ध होता है जब वे कहते हैं—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुवा जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निर्गुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बांचा सोई न जो यहि चित बंधा॥
राघव चेतन सोई सैतानू।
माया अलादीन सुलतानू॥

ये पंक्तियां जायसी की आध्यात्मिक प्रेम भावना का रहस्योद्घाटन करती हैं हां, यदि इन्हें प्रक्षिप्त भी मान लें तो भी इतना निश्चित है कि वे आध्यात्मिक चिन्तना से भरपूर थे। इसका प्रमाण वे कथन हैं जहां पर वे लौकिक वर्णन

करते-करते आध्यात्मिक व्यंजना करने में समर्थ सिद्ध हुए हैं या प्रयासशील रहे हैं। डा० त्रिगुणायत ने लिखा है कि "हमारी समझ में पद्मावत की सर्जना सूफी-सिद्धान्तों की सांकेतिक अभिव्यक्ति के हेतु हुई थी, यह हो सकता है कि यह उनका लक्ष्य न रहा हो किन्तु यह पद्मावत की रचना का एक प्रेरक उपादान अवश्य है। सूफी मत की आधारभूमि प्रेम और विरह है। जायसी ने पद्मावत में इन दोनों की मधुर अभिव्यक्ति की है।" उन्होंने शायद इसी कारण यह कहा जान पड़ता है कि इस काव्य को जो भी सुनेगा वह आध्यात्मिक प्रेम की पीड़ा से व्यथित हो उठेगा—

मुहमद कवि यह जोर सुनावा।
सुना सो पीर प्रेम कर पावा।।
जोरी लाम रकत के लेई।
गाढ़ि प्रीति नयनन जल भेई।।

इस्लाम के प्रचार की भावना ने भी पद्मावत लिखने की प्रेरणा जायसी को दी थी। यही कारण है कि इसमें इस्लामिक संकेत मिल जाते हैं। इस्लाम धर्म के प्रति उनकी आस्था बड़ी दृढ़ थी। अटूट श्रद्धा के परिणाम स्वरूप ही पद्मावत के स्तुति खण्ड की प्रारम्भिक पंक्तियों में एकेश्वरवादी भावना की व्यजना की गई है। इस्लाम की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने पद्मावत मे स्थान-स्थान पर **'तेहि म ह बड़ पथ मुहम्मद केरा'** जैसी इस्लाम धर्म का प्रचार करने वाली पंक्ति भी लिखी है।

यशकामना भी पद्मावत की प्रेरिका शक्ति है 'काव्य यशसे' की उक्ति की सार्थकता इन पंक्तियों से हो जाती है—

धनि सोई जस कीरत जासू।
फूलमरे पै मरे न बासू।।
केहि न जगत जस बेचा।
केहि न लीन्ह जस मोल।।
जो यह पढ़ै कहानी।
हम सुमिरै दुइ बोल।।

प्रेम काव्यों की परम्परा में जायसी का पद्मावत एक महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ता है। वे परम्परा में अपना नाम सार्थकता के साथ जोड़ना चाहते थे। इससे पद्मावत की सर्जना का एक कारण यह भी है। सामान्यतः यश कामना और प्रेम-परम्परा के क्षेत्र में एक कड़ी और जोड़ने की कामना भी यशकामना' से बहुत दूर नहीं है। अतः जायसी के पद्मावत के पीछे कुछ प्रेरिकाएं रही हैं।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मावत की सर्जना भी कुछ प्रेरिकाओं का परिणाम है। उसमें प्रेम की व्याख्या, आध्यात्म की व्यंजना, इस्लाम का प्रच्छन्न संकेत, यशकामना और प्रेम गाथा काव्यों की परम्परा में एक शृंखला जोड़ने की भावना थी। प्रेरिकाओं और उद्देश्य में अन्तर है। प्रेरिकाएं पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं तो उद्देश्य में कवि का दृष्टिकोण फलीभूत होता है। इस प्रकार प्रेरक तत्व भूमि तैयार करते हैं तो उद्देश्य उसे विस्तार देता है, व्याख्या प्रदान करता है।

पदमावत कथा : इतिहास और कल्पना का संगम

संक्षिप्त कथा—पद्मावत में जो कथा दी गई है उसमें विस्तार पर्याप्त है। उसकी कथा ५८ खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड स्तुति खण्ड है जिसमें कवि ने सृष्टिकर्ता की स्तुति की है तथा साथ ही पैगम्बर के चारों दोस्त और शाहेवक्त का परिचय व अपना भी संक्षिप्त परिचय दिया है।

दूसरा खण्ड **सिंहलद्वीप खण्ड** है। इसमें कवि द्वीप का वर्णन करते हुए राजा गर्धवसेन के चक्रवर्ती होने की चर्चा करता है। उसकी प्रधान रानी चंपावती है। सिंहल का वर्णन बड़ा विशद है। वहां के ऊंचे-ऊंचे मकान, बाजार, वेश्याओं, मालिन, पडित, नट आदि का भी वर्णन है।

तीसरा खण्ड **जन्म खण्ड** है। इसमें शिक्षा तथा सखियों के साथ क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। पद्मावती का साथी हीरामन सुग्गा है जो उसका मनोरंजन करता है। वही सेवा मे भी लगा रहता है। पद्मावती के यौवन विकास को देखते हुए हीरामन उसे विवाह के योग्य बताता है। राजा गधर्वसेन को जैसे ही यह मालूम होता है वह तोते को मारने की आज्ञा दे देता है। पद्मावती उसे छिपा लेती है। किन्तु जैसे ही सखियों के साथ पद्मावती मानसरोवर पर जाती है वैसे ही वह उड़कर भाग जाता है।

मानसरोवर खण्ड में पद्मावती के सरोवर पर जाकर जलविहार करने का वर्णन है। एक समय पूर्णमासी के दिन पद्मावती सखियों के साथ मानसरोवर स्नानार्थ जाती है। वहां पर पद्मावती की एक सखी ने कहा—रानी मन में विचार कर देखो। इस नैहर में हमें दो चार दिन ही रहना है। जब तक पिता का राज्य है तभी तक तो हम यहां खेल सकती हैं फिर ससुराल जाने पर तो यह सरोवर नहो मिलेगा। ससुराल में सास और ननदें हमें बोलने तक नहीं देंगी।

सुग्राखण्ड (पांचवें खण्ड) में हीरामन जंगल में जाकर पकड़ा जाता है। अन्य पक्षियों की भांति वह भी पकड़ा जाता है। बहेलिया उसे अपने लोभ में फंसाकर डोली में डालकर चला जाता है। पक्षी उससे मिलते हैं—आदर करते हैं।

रत्नसेन जन्मखण्ड में चित्तौड़ के चित्रसेन नामक राजा का वर्णन किया गया है। इसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इसी का नाम रत्नसेन था। ज्योतिषियों ने उसके जन्म लेते ही बताया कि यह लड़का बड़ा सौभाग्यशाली है। वह पद्मावती से विवाह करेगा। सिंहलद्वीप में जाकर सिद्ध पुरुष बनेगा।

सातवें बनजारा खण्ड में बनजारों की प्रासगिक कथा है। इसमें बताया गया है कि चित्तौड़ के वजारों के साथ एक गरीब ब्राह्मण भी सिंहल जाता है। और सभी तो मणि-माणिक्य की खरीद-विक्री में लग जाते हैं और ब्राह्मण सिंहल के हाट में, व्याध से हीरामन सुग्गे को खरीद लेता है। सभी चित्तौड़ लौट आते है। उस समय रत्नसेन वहां का राजा था। राजा तोते की खबर पाता है और एक लाख रुपये में तोते को खरीद लेता है।

आठवें खण्ड में नागमती तोते से वार्तालाप करती है। रूपगर्विता नागमती सुग्गे से पूछती है कि उसके समान कोई और सुन्दरी है? सुग्गा पद्मावती की प्रशंसा करता है। रानी चिढ़कर उसे मारने का आदेश देती है किन्तु धाय

उसे छिपा लेती है, मारती नहीं है। शिकार से लौटने पर राजा सुग्गे के विषय में पूछता है—नागमती निन्दा करती है, किन्तु धाय उसे लाकर दे देती है।

नवें खण्ड में राजा सुग्गा संवाद है। सुग्गा पद्मावती और सिंहल देश का विस्तार से वर्णन करता है। राजा पद्मावती की ओर आसक्त हो जाता है। तोता यहां प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का भी वर्णन करता है।

दसवें खण्ड में नखशिख वर्णन है। इस खण्ड में पद्मावती के सौन्दर्य का नखशिख वर्णन है। लौकिक वर्णन के बीच–बीच में पद्मावती के विराट सौन्दर्य की झलक दिखाकर कवि ने रहस्यात्मकता की व्यंजना की है।

ग्यारहवें खण्ड प्रेमखण्ड में राजा पद्मावती के रूप का वर्णन सुनकर मूर्छित हो जाता है। सुग्गा उसे जोग और भोग के जीवन के अन्तर को बतलाता है।

बारहवें खण्ड में (जोगी खण्ड) राजा जोगी के वेश में साथियों सहित निकल पड़ता है। माता तथा नागमती तथा अन्य लोगों के अनुरोध और विलाप की ओर वह ध्यान नहीं देता है। शुभ मुहूर्त में वह चित्तौड़ का परित्याग कर देता है। दण्डकवन, विंध्यवन और मृगारण्य को पार करके वह समुद्र के किनारे पर जा पहुँचता है।

तेरहवें खण्ड राजागजपति संवाद में उड़ीसा का राजा गजपति, रत्नसेन को निमंत्रण देता है। राजा निमन्त्रण अस्वीकार कर जहाज देने के लिए कहता है। गजपति जहाज दे देता है तथा समुद्र यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन करता है। राजा अपने प्रेम में सभी कुछ त्याग देने का संकल्प दुहराता है।

चौदहवां खण्ड बोहित खण्ड है और पन्द्रहवां खण्ड **सात समुद्र खंड है।** समुद्र की कठिनाइयों का वर्णन तथा सातों समुद्रों—खारी, खीर, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और मानसर की सभी बाधाओं को पार कर रत्नसेन और उसके साथियों के सिंहल पहुँच जाने का वर्णन है। **सिंहलद्वीप खण्ड** सोलहवां खण्ड है। तोता सिंहलद्वीप तथा सिंहलगढ़ की अगम्य ऊंचाई और वहां तक पहुँचने की कठिनाइयों का वर्णन करता है। बसन्त पचमी के दिन शिव की पूजा के समय सिंहल में प्रवेश की युक्ति बतलाता है। हीरामन इसके बाद पद्मावती के पास जाता है।

सत्रहवां खण्ड मण्डपगमन खण्ड है। राजा शिव मन्दिर में जाता है, दर्शन करता है और सिंह की चर्म बिछाकर तपस्यालीन हो जाता है। पद्मावती का नाम जपता रहता है। अठाहरवां खण्ड **पद्मावती वियोग खण्ड है।** इसमें पद्मावती,राजा के ध्यान में लीन होकर विह्वलता का अनुभव करती है। वर्णन मधुर है।

उन्नीसवां खण्ड पद्मावती सुआ खण्ड है तथा बीसवां खंड बसन्त खंड है। हीरामन की भेंट पद्मावती से होती है वह उससे अपनी सभी कहानी दुहराता है। राजा का पद्मावती के प्रति आकर्षण तथा यहां तक आने का वर्णन करता है। बसन्त खण्ड में बसन्त पंचमी के दिन सखियों के सहित पद्मावती महादेव के मंडप में पहुँचती है। पद्मावती देवता के चरणों में पड़कर वर की कामना से प्रार्थना करती है। एक सखी पद्मावती से आकर पूर्व द्वार पर

आकर टिके जोगियों की खबर कर देती है। पद्मावती वहां जाती है किन्तु जोगी राजा, उसके सौन्दर्य को देखकर मूर्छित हो जाता है। पद्मावती चन्दन से उसके हृदय पर लिखती है—जब वह भीख लेने आई तब वह मूर्छित हो गया। अब वह सूर्य, यदि उस चांद पर अनुरक्त है तो उसे पाने के लिए सातवें आसमान पर आना होगा। पद्मावती इस प्रकार महलों को लौट जाती है।

इक्कीसवें खण्ड में राजा रत्नसेन की परीक्षा के लिए पार्वती महेश खण्ड का विधान किया गया है। बाइसवें खण्ड में राजागढ़ छेका खण्ड है। सिद्धि गुटका के सहारे राजा महल में घुस जाता है। गन्धर्वसेन को सूचना मिल जाती है। नौकर आकर जोगियों को टालने की बात करते हैं, किन्तु भिखारी भिक्षा के रूप में पद्मावती को मांग लेते हैं। राजा इसे जानकर बड़ा क्रुद्ध होता है। तेईसवां खण्ड गंधर्वसेन मन्त्री खंड है। इसमें राजा मंत्रियों से सलाह मशविरा करता है। बंदी बनाकर वह पकड़ लिया जाता है। पद्मावती इससे बड़ी दुखी होती है, चेतनाहीन होकर वह गिर पड़ती है। चौबीसवां खण्ड शूली खण्ड है। इसमें राजा रत्नसेन को शूली देने का निर्णय लेता है। समय पर एक भाट आकर रत्नसेन का असली परिचय दे देता है। हीरामन तोता उसकी पुष्टि कर देता है। अन्त में उसे मुक्ति मिल जाती है।

पच्चीसवां खंड और छब्बीसवां खड रत्नसेन और पद्मावती के विवाह से सम्बन्धित खण्ड है। इन्हीं में विवाह के खान-पान और परस्पर मिलन का बड़ा मनहरण वर्णन कवि जायसी ने किया है। सत्ताईसवें खण्ड में रत्नसेन के साथियों का विवाह वर्णित है। अट्ठाईसवां खण्ड षट् ऋतु वर्णन से युक्त है। २९वें खण्ड में नागमती वियोग और ३०वें नागमती संदेश खण्ड है। वियोग में नागमती की स्थिति का वर्णन बड़ा स्वाभाविक है। वह सामान्या की भांति पेड़-पौधों से प्रिय का पता पूछती-फिरती है। अन्त में प्रिय के पास संदेश भेजती है—

पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा हे भौंरा हे काग !

३१ वें खण्ड में रत्नसेनकी विदाई का समाचार है। ३२वां खण्ड देश यात्रा खण्ड है, वापिस चित्तौड़गढ़ की कथा इसमें वर्णित है। मार्ग की कठिनाइयों का बड़ा भयानक वर्णन किया गया है। तैंतीसवें खण्ड में लक्ष्मी का पद्मावती को पाना वर्णित है। लक्ष्मी पद्मावती की रक्षा करती है और उसके दुखातिरेक में सहानुभूति का प्रदर्शन करती है। लक्ष्मी अतुल सम्पत्ति देकर तथा दोनों का मिलाकर विदा कर देती है। चौंतीसवें खण्ड में चित्तौड़ आगमन वर्णित है। इसमें राजा के आगमन की प्रशंसा से नागमती के हृदय का आनंद और उच्छलन वर्णित है। राजा दोनों रानियों के साथ समान प्रेम निभाता है। आगे चलकर दोनों लड़ बैठती हैं। यह ३५ वें खण्ड, नागमती-पद्मावती विचार खण्ड का विषय है। छत्तीसवें खण्ड में रत्नसेन के दोनों रानियों से दो पुत्रों-नागसेन और पदमसेन-का वर्णन है। सैंतीसवें खण्ड में राघव चेतन का देशनिकाला जाना वर्णित है। यहां कहानी नया मोड़ लेती है। राघव चेतन नाना प्रकार की विद्याओं का ज्ञाता है। वह रत्नसेन के दरबार में स्थान पाता है। इतना ही नहीं, वह राजा का कृपा पात्र भी बन जाता है। अपनी विद्या के बल पर वह अमावस्या को दूज का चन्द्रमा

के सती होने की कथा वर्णित है। ५७ वें खण्ड और उपसंहार में ग्रन्थ की समाप्ति तथा कथा की रहस्यात्मकता की ओर संकेत किया है। अन्त में वृद्धावस्था की करुण दशा का वर्णन प्रस्तुत करके कृति समाप्त हो जाती है। जायसी के पद्मावत की यही संक्षिप्त कथा है।

ऐतिहासिक तत्व—पद्मावत के सम्बन्ध में प्रायः ऐतिहासिकता का प्रश्न उठाया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पद्मावत इतिहास नहीं, काव्य है। उसके कुछ नाम और कुछ घटनाएं ऐसी अवश्य हैं जिनके आधार पर उसे इतिहास-प्रेरित माना जा सकता है, किन्तु केवल कुछ नामों और घटनाओं के आधार पर ही कोई भी निष्कर्ष इस प्रकार का नहीं निकाला जा सकता है, कि यह इतिहास सम्मत काव्य है। असल में, पद्मावत का ऐतिहासिक आधार बहुत क्षीण है। कवि की प्रतिभा के प्रकाश में सामान्यतः इतिहास का अभाव खला भी नहीं है वरन् कल्पना ने इतिहास की रिक्तता को पूरी की है।

श्री रामपूजन तिवारी का मत है कि पद्मावत में किसी प्रकार के इतिहास को ढूंढना व्यर्थ प्रयास माना जायगा। कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम तथा घटनाओं का वर्णन पद्मावत में अवश्य है लेकिन उनका उपयोग जायसी ने अपने ढंग से किया है। जायसी ने इसमें भारतीय परम्परा का ही पालन किया है। भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों को नायक बनाया गया है लेकिन उन्हें लेकर जिन कथाओं की सृष्टि की गई है वे कवि कल्पित हैं या लोकप्रचलित कथाओं पर आधारित हैं। पद्मावत के कथानक को भी इसी दृष्टि से देखना समीचीन होगा।

पद्मावत का कथानक दो भागों में बांटा जा सकता है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में पद्मावती, रत्नसेन और अलाउद्दीन के नाम मात्र आये हैं। वस्तुतः यह अंश कल्पित है। कथानक के उत्तरार्ध में जिन घटनाओं को लिया गया है, वे अवश्य ही इतिहास के सस्पर्श में आकर ऐतिहासिक सी बन गई हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि पद्मावत की कथा का सर्वप्रथम उल्लेख 'आइने अकबरी' में है। कथा 'आइने अकबरी' में इस प्रकार दी गई है—चित्तौड़गढ़ के राजा रतनसी अर्थात् रत्नसेन बड़े तेजस्वी थे। उनकी पत्नी परम सुन्दरी पद्मिनी जाति की सी थी। अलाउद्दीन ने उनकी इस पद्मिनी को लेने के लिए चित्तौडगढ़ पर आक्रमण किया। वहां उसे पहली बार मुंह की खानी पड़ी। दूसरी बार भी पराजित हुआ। कुछ दूर जाकर उसने संधि प्रस्ताव भेजा। रत्नसेन भी युद्ध से ऊब गया था। अलाउद्दीन लोट आया और उसने विश्वासघात करके रत्नसेन को मार डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात् अरसी को गद्दी पर बिठाया गया किन्तु अलाउद्दीन ने उसको पराजित करके अपने वश में कर लिया किन्तु फिर भी उसे पद्मावती नहीं मिली।

टॉड का ऐतिहासिक विवरण—आचार्य शुक्ल ने तथा राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टॉड ने पद्मावत की कथा की आधारभूत सामग्री को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-"संवत् १३३१ में चित्तौड़गढ़ में लखनसी सिंहासनारूढ़ हुए। वे अल्प आयु थे। इसी कारण उनके स्थान पर भीमसिंह राज्य करता था। भीमसिंह का विवाह चौहान के राजा अमीर की दुहिता पद्मिनी से हुआ था। वह अद्वितीय सुन्दरी थी। अलाउद्दीन ने उसके रूप की चर्चा

सुनकर चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण किया। घमासान युद्ध हुआ किन्तु अलाउद्दीन गढ़ को न तोड़ सका तब उसने संधि प्रस्ताव भेजा कि यदि उसे पद्मिनी के रूप की झांकी भी दिखला दी जाये तो वह लौट जायेगा। इस पर राणा ने कहलवा दिया कि वह केवल दर्पण में, पद्मिनी की छाया भर देख सकता है। सुल्तान इस पर भी राजी हो गया। जब वह पद्मिनी की छाया देखकर लौट रहा था, तो राजा उसे पहुंचाने के लिए गढ़ के बाहर तक आया। वहां अलाउद्दीन के सैनिक पहले से ही तैयार थे। उन्होंने भीमसिंह को कैद कर लिया। सुल्तान ने घोषणा की कि जब तक पद्मिनी नहीं मिलेगी तब-तक इसे छोड़ा नहीं जायगा। इस घटना से हाहाकार मच गया।

रानी ने गोरा-बादल से मन्त्रणा की और राजा को छुड़ाने के लिए उपाय निकाल लिया। अलाउद्दीन को कहलाया गया कि पद्मावती अपनी सहेलियों के साथ आयेगी अलाउद्दीन ने इसे स्वीकार कर लिया। सौ पालकियां सजाई गई तथा प्रत्येक पालकी में सशस्त्र वीर राजपूत बैठाया गया। शाही पड़ाव पर पहुंचने पर पालकियों को चारों ओर से घेर लिया गया। पद्मिनी ने अपने पति से अन्तिम बार मिलने की इच्छा प्रकट की। इस बहाने, राजा की बेड़ियां काट दी गईं। पालकियों में से वीर राजपूत निकल पड़े और इतने पर भी अलाउद्दीन भीमसिंह को पकड़ नहीं सके। पराजित हो दिल्ली लौट गये।

फरिश्ता के अनुसार, १३३० ई० में अलाउद्दीन ने चित्तौडगढ़ पर फिर आक्रमण किया। राणा अपने ग्यारह पुत्रों सहित वीरगति को प्राप्त हुए और पद्मिनी वीर नारी की भांति, सती होने को सजग होने लगी।

इससे इतिहास के सम्बन्ध में जो बातें सामने आती हैं उनके सत्य की कोई कसौटी नहीं है। चित्तौडगढ़ के राजा की चर्चा विवादास्पद है। 'आइने अकबरी' में रतनसिंह नाम दिया हुआ है। फरिश्ता ने भी यही नाम दिया है। राजस्थान की कुछ पुरानी वातों और ख्यातों में भी इसी नाम से राजा की प्रशस्ति गाई गई है, किन्तु टॉड ने 'रतनसिंह' के स्थान पर 'भीम-सिंह' नाम दिया है। दूसरी बात यह है कि चित्तौडगढ़ का घेरा आठ वर्ष और १२ वर्ष में कौन सा सही है। ऐतिहासिक दृष्टियों से ये प्रामाणिक नहीं हैं। इतिहासकारों का कथन यह है कि रतनसिंह ने एक साल से अधिक राज्य-कार्य संभाला ही नहीं है। डॉ० त्रिगुणायत ने ८ वर्ष और १२ वर्ष वाली बात काव्य सत्य के अन्तर्गत मानी है।

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने चित्तौड के राजा का नाम रत्न-सिंह ही दिया है। "वहां (चित्तौड़) का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मण सिंह आदि कई सामंतों सहित मारा गया।" इस प्रकार रतनसेन नाम तो इतिहास प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन के इतिहास—सम्मत व्यक्ति होने में भी कोई संदेह नहीं है। इतने पर भी पद्मावत के पूर्वार्द्ध में इतिहास नहीं है।

हां, उत्तरार्ध के इतिहास सम्मत होने का प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है। रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध के विषय में इतिहास के ग्रंथों में संकेत मिलते हैं किन्तु पद्मावत के सभी तथ्य इतिहास पुष्ट नहीं हैं।

रत्नसेन की मृत्यु मुसलमान सेनानी द्वारा न होकर देवपाल के हाथों हुई, यह बात भी इतिहास सिद्ध नहीं है : अलाउद्दीन के नियंत्रण से रत्नसेन

के भाग जाने की बात पर भी विश्वास आसानी से नहीं किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि—

(१) रत्नसेन, पदमावती, अलाउद्दीन, युद्ध आदि अर्द्ध ऐतिहासिक हैं।
(२) देवपाल, राघव चेतन, देवपाल-रत्नसेन युद्ध काल्पनिक प्रसंग है।
(३) पूर्वार्द्ध की कथा लोक कथाओं और रूढ़ियों पर चलती है।

वास्तव में पदमावत की कथा में इतिहासाभास है। पदमावत का अधिक भाग कवि कल्पना पर आधारित है। ऐसा अनुमान भी किया गया है कि, साहित्य में भी यही कथा, जायसी से पूर्व हो स्थान पा चुकी थी। डॉ० रामसिंह तोमर का कथन है कि प्राकृत की 'रमण सेहनरवरइ' कथा पदमावत की कथा से मिलती जुलती है। डॉ० यमुनार्थसिंह ने तो यहां तक लिखा है कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नावली नाटिका की रत्नावली और लीलावती कहानी की लीलावती ये दोनों नाम मिलकर रत्नशेखरनरपति कथा में रत्नावली हो गये हैं और चित्तौड़ की पद्मिनी को उससे मिलाकर और स्वप्नवासवदत्त आदि के पदमावती नाम का संस्कार होने से, जायसी ने 'रत्नावली' को बदल कर पदमावती कर दिया है। रत्नशेखर का नाम चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह के नाम से मिलते ही जायसी के सामने पूरी कहानी का ढांचा अपने आप खड़ा हो गया होगा। पदमावती रानी और हीरामन तोता नामक लोक कथा को भी उन्होंने आधार बनाया होगा। यह भी हो सकता है कि एक ही मूलस्रोत (लोक कथा) के आधार पर इन दोनों ग्रंथों की कथा निर्मित हुई हो।"

लोक कथात्मक सूत्र—वास्तव में प्रतीत ऐसा होता है कि, पदमावत का आधार लोक कथात्मक सूत्रों से ज्यादा निष्पन्न मालूम पड़ता है। हां, इस लोक कथा में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए इतिहास के कतिपय बिखरे सूत्र तथा सुने सुनाये नाम अवश्य दे दिये गये हैं। पदमावती की कथा लोककथाओं में बहुत प्राचीन है। 'भास के स्वप्नवासवदत्त नाटक अथवा प्रतिज्ञा यौगन्धरायण नाटक में उदयन और पदमावती की प्रेमकथा वर्णित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी पदमावती की कथा आती है। मयूर कवि की पदमावती कथा ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी की रचना है। इनके साथ ही यह सही है कि पन्द्रहवीं शती या उसके पहले से ही पदमावती और सिंहलगढ़ तथा रत्नसेन की कहानी बहुत प्रचलित थी।"

डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ ने राजवल्लभ द्वारा लिखित (१४६७ विक्रमीय संवत) रत्नसेन और पदमावती की कहानी का जिक्र किया है। रासो का पदमावती समय भी पद्मावत के पूर्वार्द्ध के निकट है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' में बलपूर्वक कहा है कि "पदमावती की वही लोक प्रचलित कथा रासो में भी ग्रहण की गई है जो जायसी के काव्य का आधार है।"

डाक्टर त्रिगुणायत ने पदमावत की कथा का आधार राजस्थानी लोक कथा, अवध के गांवों की लोक कथा तथा नाथ पंथी लोक कथा सभी को बताया है। इन सब को मिला जुला कर जायसी ने यह कथा गढ़ली है। कवि की मौलिकता और कल्पनाओं ने उसे और भी अधिक सरस और सुन्दर रूप प्रदान कर दिया है।

कल्पना तत्त्व—वस्तुतः जायसी के पदमावत में इतिहास की आवाज

गूंजने का आभास भले ही हो, वह इतिहास सम्मत कृति नहीं है। उसमें ऐतिहासिक तत्वों का बिखरा हुआ और सुना सुनाया रूप मिलता है। हां, यह ठीक है कि कवि जायसी ने इतिहास के नाम पर कथा का जो ढांचा खड़ा किया है वह कल्पना कौशल का परिचायक है। जायसी की प्रतिभा का खुला प्रमाण है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह कथन सही है कि "इतिहास के अभाव में लोगों ने पदमावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया है जो अनुचित है। वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कविताबद्ध कथा है।" (उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १८७) लोक कथाओं के आधार पर खड़ा किया गया व इतिहासाभास देने वाला, पदमावत का कथानक रुचिवर्द्धक और मनोरंजक अवश्य है। पदमावत में आये मौलिक कल्पना प्रसूत तथ्यों को डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

(१) राघव चेतन की कथा की कल्पना जायसी की अपनी है।

(२) सिंहलदीप का वर्णन काल्पनिक सा ही है।

(३) रत्नसेन और पदमावती के पिताओं के नाम भी काल्पनिक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से रतनसी के पिता का नाम समरसिंह था। पदमावती के पिता का नाम भी यह नहीं था जो पदमावत में प्राप्य है।

(४) मानसरोदक खण्ड का प्रसंग पूर्णतः कल्पनिक है।

(५) बनिजारा खण्ड भी कल्पनाश्रित है।

(६) नागमती और तोते का सम्वाद भी काल्पनिक है; हां, पदमावत की कथा शृंखला में आकर्षण लाने के लिए अवश्य मधुर लगता है।

(७) राजा-गजपति संवाद भी काल्पनिक है।

(८) सात समुद्र खण्ड काल्पनिक है, किन्तु साधक रतनसेन की तपस्या की परीक्षा की घड़ी वह भी है।

(९) मण्डपगमन, वसंतागमन खण्ड भी काल्पनिक हैं।

(१०) रत्नसेन के पुत्रों के नाम भी पूरी तरह कल्पनाश्रित हैं।

(११) देवपाल-दूती खण्ड भी बहुत कुछ काल्पनिक है।

(१२) समुद्र में पाये हुए पांच रत्नों की कल्पना भी जायसी की प्रतिभामय कल्पना की ही उपज है।

(१३) कवि ने कहीं-कहीं मूल कथा में अन्तर भी कर दिया है यथा कवि ने रत्नसेन का अलाउद्दीन के शिविर में बंदी होना न दिखला कर दिल्ली में उसका बंदी होना दिखलाया है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी ने इस कृति में अनेक लोक कथाओं के सहारे इतिहास का सा रंग छिटकते हुए पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसकी पृष्ठभूमि में सूफी कथाओं की प्रेरणा भी है। कवि ने सभी कुछ अपनी प्रतिभा के द्वारा ऐसा प्रस्तुत किया है कि कई तत्वों का इसमें संगम और मधुर मिलन हो गया है। लोक कथात्मक तत्व, इतिहास का रंग और एक भावुक कवि की कल्पना ने मिलकर काव्य में अद्भुत रसात्मकता को प्रश्रय दिया है। इस प्रकार का मधुर संगम कम काव्यों में देखने को मिलता है।

पद्मावत में प्रेम निरूपण

पद्मावत एक प्रेम कहानी है। इसमें प्रेम का जो स्वरूप वर्णित है वह सर्वथा नयी चेतना को प्रकट करने वाला है। जायसी ने प्रेम तत्व का निरूपण अपने पद्मावत में कई स्थलों पर किया है। प्रेम का स्वरूप कहीं तो लौकिक है और कहीं लोकबंधन से परे है। "पिछले रूप में प्रेम इस लोक के भीतर अपने लक्ष्य तक पहुंचता हुआ नहीं जान पड़ता है। उसका उपयुक्त आलम्बन वहीं दिखाई पड़ता है जो अपने प्रेम से, संपूर्ण जगत की रक्षा करता है।"

जायसी की प्रेम भावना में भारतीय और फारसी दोनों प्रेम-पद्धतिय का सम्मिश्रण है। जायसी के प्रेम में लौकिक से अलौकिक प्रेम व्यंजना भी देखने को मिलती है। वास्तव में भारतीय प्रेम पद्धति को आधार बनाकर जिस प्रेम की महिमा का वर्णन किया गया है उसमें न तो प्रेम की महिमा को अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण रूप में अंकित किया गया है और न विरह-वेदना और सौन्दर्य की महत्ता को ही अधिक प्रदर्शित किया गया है। इसके साथ ही फारसी प्रेम-पद्धति पर लिखित प्रेमाख्यानों में जिस तरह प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, अन्योक्ति या समासोक्ति का आश्रय न लेकर प्रेम कथा का विकास दिखाया गया है वैसा ही भारतीय प्रेमकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है।" सूफी पद्धति पर पल्लवित प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें 'इश्क-मजाजी' के द्वारा 'इश्क हकीकी' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। इसको यों भी कहा जा सकता है कि पद्मावत क्योंकि सूफी काव्य है अतः उसमें लौकिक प्रेम की व्यंजना के आधार पर अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गई है। सभी सूफी कवियों ने लौकिक या सांसारिक प्रेम को अपने काव्य का आधार बनाया है और उसके माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है।

पद्मावत में राजा रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम कथा है और उस कथा के माध्यम से ही संकेत भी किये गये हैं। पद्मावती अनुपम सुंदरी है किन्तु साथ ही वह ब्रह्म की प्रतीक भी है। रत्नसेन प्रेमी है, राजा है किन्तु साथ ही साधक भी।

भारतीय और सूफी पद्धति का सम्मिश्रण जायसी ने बड़े कौशल के साथ किया है। सूफी प्रेम पद्धति का अनुकरण करने के कारण ही कवि जायसी ने प्रथम तो इसमें पद्मावती के रूप-सौन्दर्य को अनुपम और अद्वितीय सिद्ध किया है—जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई-कह कर कवि ने पद्मावती को अनुपम ज्योति सुंदरी सिद्ध किया है। साथ ही 'रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती' से भी उसी ज्योति से सूर्य चन्द्र को प्रकाश ग्रहण करते हुए सिद्ध किया गया है।' फारसी प्रेम पद्धति के अनुसार ईश्वर को नारी रूप में देखा जाता है। प्रेम का जो गहन और गंभीर विवेचन किया गया है वह सब फारसी प्रेम पद्धति के कारण ही है। प्रेम गगन से ऊंचा है और ध्रुव से भी ऊंचा है तथा अटल और स्थिर है। प्रेम भाव जैसे ही जाग्रत हो जाता है वैसे ही साधक प्रेमी को तीनों लोक दिखाई देने लगते हैं—

तीन लोक चौदह खण्ड, सबै परै मोहि सूझ।
प्रेम छांडि नहि लोन किछु, जो देखे मन बूझ॥

फारसी प्रेम पद्धति के आधार पर जो प्रेम की पीर है उसका वर्णन भी जायसी ने किया है। नागमती के विरह का चित्रण करके कवि ने बताया है कि विरह की आग में जलने से जो धुंआ उठता है उसी से बादल काले पड़ गये हैं। राहु के साथ केतु भी जल गया है। सूर्य जल गया है और चन्द्रमा भी जलने से नहीं बचा है। कवि ने लिखा है—

अरन परजरा विरह कर जठा। मेघ साम भये धूम जो उठा॥
दाधा राहु केतु, गा दाधा। सूरज जरा चांद जरि आधा॥
औ सब नखत तराई जरहीं। टूटहि लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहि ठाऊं। दहकि पलासि जरै तेहि दाऊं॥
विरह सांस तस निकसै भारा। दहि दहि पलन होहिं अंगारा॥
भवर पतंग जरै औ नागा। कोइल भुजइल डोना कागा॥

फारसी प्रेम पद्धति के प्रभाववश ही पद्मावत में जो प्रेम है—लौकिक प्रेम है-वह आध्यात्मिक संकेत भी करता चलता है। सिहल के वर्णन में, प्रकृति के चित्रण में, और सम्पूर्ण घटनाओं के चित्रण में, सभी कुछ प्रतीकात्मक है—पद्मावती ब्रह्म है, रत्नसेन जीवात्मा, हीरामन तोता गुरू, नागमती सांसारिक सम्बध, अलाउद्दीन माया।राघव चेतन को शैतान, सिहल को हृदय, मानसरोवर को ब्रह्मांध्र तथा सिहल यात्रा को आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक कहा जा सकता है। पद्मावत का अन्तिम स्थल इसी ओर संकेत करता है। **'तन चितउर मन राजा कीन्हा'** आदि पंक्तियों से यही भाव ध्वनित होता है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि पद्मावत में जो प्रेम का स्वरूप है वह फारसी प्रेम पद्धति और भारतीय प्रेम पद्धति का सम्मिलित रूप है। इस प्रेम कथा का मूलाधार भारतीय है और प्रेम पद्धति फारसी या सूफी प्रेमी की भूमिका प्रस्तुत करती है। आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना से ही इसमें प्रेम, भारतीय और फारसी पद्धति का मिला जुला रूप प्रस्तुत करता है।

प्रेम की विभिन्न स्थितियां

प्रेम क्या है? इसके सम्बन्ध में अनेक बातें कही जाती हैं। इतने पर भी इस तत्व की व्याख्या करना सरल कार्य नहीं है। प्रेम **'अकथ कहानी प्रेम की, कछु कही नहि जाय।'** के आधार पर अकथ्य और अनुभूति का विषय है। प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है—स्नेह, वात्सल्य, करुणा, दाम्पत्य जीवन, श्रद्धा और प्रणय आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। प्रेम शृंगार के अन्तर्गत आता है। प्रेम भी रसमय है और शृंगार रसराज। इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि प्रेम आत्मसमर्पण, आत्मबलिदान और साधना या त्याग की अपेक्षा रखता है। सूफी कवियों ने संभवतः इसी कारण प्रेम पंथ को कठिन और कंटकाकीर्ण कहा है:—

प्रेम के फांद जनि कोई परहि। जनि होइ कोइ प्रेम करहि॥
प्रीति वेलि जनि उरझै कोई। अरुझै मुए न छूटै सोई॥
प्रीति वेलि ऐसे तन डाढ़ा। पलुहत सुख वाढ़त दुख वाढ़ा॥
प्रीति अकेलि वेलि चढ़ि छावा। दूसर वेलि न संचार पावा॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेम की चार प्रणालियां बताई हैं—

(१) "सबसे पहले इस प्रेम को लीजिए जो आदि काव्य रामायण

में दिखाया गया है। इसका विकास विवाह सम्बन्ध हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट स्थितियों में दिखाई पड़ता है। राम के वन जाने की तैयारी के साथ ही सीता के प्रेम का स्फुरण होता है; सीताहरण होने पर राम के प्रेम की कांति सहसा फूटती हुई दिखाई पड़ती है.........यह प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है। विलासिता और कामुकता से एकदम दूर है।

(२) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह उसका परिणाम होता है। इसमें नायक नायिका संसार क्षेत्र में घूमते-फिरते हुए कहीं जैसे उपवन, नदी, तट-वीथी आदि पर परस्पर एक दूसरे को देखकर मोहित हो जाते हैं। प्रीति बढ़ती जाती है। इसमें सयोग और विप्रलंभ दोनों का प्रसार हो जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय का प्रेम इसी कोटि का है।

(३) तीसरे प्रकार का प्रेम प्रायः राजाओं के अन्तःपुर, उद्यान आदि से सम्बन्धित होता है। इसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास परिहास और राजाओं की सोठाता आदि का दृश्य होता है। उत्तरकाल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन, निस्सार और विलासमय प्रेम का प्रायः वर्णन हुआ है। रत्नावली, प्रियदर्शिका और कर्पूर मंजरी आदि इसके उदाहरण हैं। इसमें नायक को कहीं बाहर वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ता है। वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।

(४) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुण श्रवण, चित्र दर्शन और स्वप्न दर्शन आदि से बैठे बिठाये उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को मिलन के लिए प्रेरित करता है। उषा और अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का है जिसमें प्रयत्न स्त्री जाति की ओर से होने के कारण कुछ अधिक विस्तार या उत्कर्ष प्राप्त नहीं कर सका है।

आचार्य शुक्ल के ही अनुसार तथा स्वतंत्र दृष्टि से देखने पर भी यही कहा जा सकता है कि पद्मावत में जो प्रेम है वह चौथे प्रकार का है। राजा रत्नसेन हीरामन तोते से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य को सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए चल पड़ता है। इसके साथ ही साथ यह भी ठीक है कि इस प्रेम की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। शुक्लजी ने लिखा है कि "आलिंगन, चुम्बन और स्पर्श आदि का वर्णन नहीं के बराबर है। अधिकतर वेदना और मन के उल्लास का वर्णन किया गया है। प्रयत्न नायक की ओर से है और उसकी कठिनता द्वारा कवि ने नायक के प्रेम को नापा है।" इसमें नायक का प्रेम उस आदर्श के लिए है जिसका सुन्दर स्वरूप हमें लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद आदि के किस्से कहानियों में मिलता है। जायसी ने नायक और नायिका के प्रेम की तीव्रता को समान रूप दिया है जिससे भारतीय तथा [illegible] दोनों प्रणालियों का समन्वय हो गया है।

त्मकता का सन्निवेश कर कवि ने जीवन और प्रेम दोनों पक्षों की अविच्छिन्नता की रक्षा की है। पूर्वार्द्ध में पूर्णतया प्रेम ही है। उत्तरार्द्ध में जीवन के विभिन्न अंगों का स्पर्श मिलता है, पर पूरी तरह परिपुष्ट नहीं है।

आचार्य शुक्ल के इस कथन का भी बड़ा मूल्य है—"जायसी ने यद्यपि इश्क के दास्तान वाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है पर बीच-बीच में भारत के लोक व्यवहार के सलग्न स्वरूप का भी मेल किया है। इश्क की मसनवियों के समान पद्मावत लोक पक्ष शून्य नहीं है।" उदाहरणार्थ राजा जब जोगी होकर घर से निकलता है तो परिजन, पुरजन और स्वजन सभी रोते कलपते हैं। यह ठीक वैसे ही है जैसे पद्मावती विवाहोपरांत जब विदाई लेती है तो मिल-मिलकर रोती है। इतना ही नहीं राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना ही कगन दानस्वरूप देकर सतुष्ट करना चाहती है। प्रेम का लोकपक्ष बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। कवि की लोक ज्ञान चेतना का सुन्दर निदर्शन और क्या हो सकता है?

पद्मावत के पात्र रत्नसेन, पद्मावती और नागमती के हृदय में जो प्रेम भाव मिलता है वह भी पद्मावत की प्रेम पद्धति को समझने के लिए आवश्यक है। रत्नसेन पद्मावती के रूप की चर्चा सुनकर घर से तुरन्त ही चल पड़ता है। प्रारम्भिक स्थिति में रत्नसेन का प्रेम, लोभी का प्रेम है। इसमें हृदय की सच्चाई कम, लोभ की आतुरता अधिक है। किसी के रूप-गुण की प्रशसा सुनते ही एकबारगी प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता है। प्रेम दूसरे की आंखों से नहीं देखता, अपनी आंखों से देखता है। "अतः राजा रत्नसेन तोते के मुह से पद्मावती का अलौकिक रूप वर्णन सुनकर जिस भाव की प्रेरणा से निकल पड़ता है वह पहले रूप लोभ ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कवि जो उसके प्रयत्न को तप का स्वरूप देता हुआ आत्मत्याग और विरह-विह्वलता का विस्तृत वर्णन करता है वह एक नकल मालूम पड़ता है। प्रेम-लक्षण तो उसी समय दिखाई देता है जब वह शिव-मंदिर में पद्मावती की झलक देखकर बेसुध हो जाता है। इस प्रेम की पूर्णता उस समय स्फुट होती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण करके उसके सामने आती है।

भलेहि रंग अछरी तारे राता। मोहिं दुसरे सौं भाव न बाता॥

हां, इस कथन से विदित होता है कि प्रेमी अपने प्रिय को छोड़कर किसी दूसरे की कामना नहीं करता है। प्रेमजन्य एकनिष्ठता और दृढ़ता का भाव ही प्रेम को परिपक्वता प्रदान करता है। इस कथन से पूर्व तक का सारा प्रेम-व्यापार काल्पनिक और लोभ के निकट ही कहा जायगा क्योंकि प्रेम का अदम्य स्वरूप और प्रबल प्रवेग यहीं आ सका है। पूर्वराग में आई अस्वाभाविकता का भी कारण है और वह है लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम को क साथ व्यक्त करने का प्रयत्न।

पद्मावती का प्रेम भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। वह भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में रत्नसेन से बहुत भिन्न नहीं है। राजा रत्नसेन के निकट पहुँचने पर पद्मावती की प्रेमपरक व्याकुलता काम का ही पर्याय हो

सकती है। रत्नसेन का नाम सुनते ही उत्पन्न व्याकुलता के लिए जो समाधान दिया जा सकता है—वह निम्नलिखित पंक्ति के आधार पर—

पदमावति तेहि जोग-संजोगा।
परी प्रेम बस गहे वियोगा॥

सूफियों के प्रेम में अज्ञात के प्रति जो आकर्षण मिलता है, वह पद्मावत में है। पद्मावती के हृदय में पूर्वराग का आरम्भ उस स्थल से होता है जहां से कि हीरामन तोता आकर पद्मावती के समक्ष यह कहता है कि रत्नसेन बड़ा सुन्दर है।

विवाहोपरांत पद्मावती का प्रेम दो अवसरों पर देखा जा सकता है—एक तो उस समय जब राजा रत्नसेन के दिल्ली में बंदी होने का समाचार मिलता है और फिर उस समय जब राजा युद्ध मे मारा जाता है। ये विपत्ति या संकट के अवसर हैं। साधारणतः एक में आशा की हल्की सी किरण दिखाई देती है तो दूसरे में निराशा का गहन अंधकार है। "पद्मावती सच्चे पहुँचे हुए प्रेमी के समान प्रथम स्थिति में तो संसार की ओर दृष्टि रखती हुई विह्वल और क्षुब्ध दिखाई देती है और दूसरी स्थिति में दूसरे लोक की ओर मुंह फेरे हुए पूर्ण आनन्दमयी और प्रशान्त।" बंदी होने के अनंतर गोरा बादल के पास जाकर पद्मावती बचाने के लिए प्रयत्न करती कराती है, व्याकुल होती है और मरण के अनंतर प्रिय से दूसरे लोक में जाकर मिलने के लिए तैयार हो जाती है।

नागमती का प्रेम भी परिपुष्ट और आर्हस्थिक है। पद्मावती का प्रेम नव स्फुटित और नव विकसित है तो नागमती का गृहस्थ जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। पद्मावती प्रेमिका है जिसे रत्नसेन ने बड़े संकटों को पार कर प्राप्त किया है जबकि नागमती पति परिणीता हिन्दू गृहिणी है जिसके साथ पति रत्नसेन का सम्बन्ध प्रगाढ़ और आदर्श प्रेरित लगता है। इसमें धर्म का विशेष स्थान है। वह रूपगर्विता और प्रेमगर्विता नायिका के रूप में दिखाई देती है। इन दोनों गर्वो में आदर्श हिन्दू नारी का आचरण दिखाई देता है। नागमती रत्नसेन से अलग नहीं है और अलग रहने की कल्पना मात्र से उसका हृदय दहल जाता है। वियोग की ज्वाला में जलती हुई नागमती हिन्दू जीवन और आदर्श जीवन बिताने वाली नारी के रूप में सामने आती है। सच्चे प्रेमी को प्रिय की हर वस्तु प्रिय लगती है। यही कारण है कि नागमती प्रिय की ओर ले जाने वाले मार्ग को बड़ी प्रिय दृष्टि से देखती है—

वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं।
सीस चरन के चलौं सिधारौं॥

वास्तव में रत्नसेन का और पद्मावती का प्रेम विषम से सम की ओर अग्रसर हुआ है जिसमें एक पक्षीय कष्ट और दूसरे पक्ष में पहले करुणा और दयाद्र प्रेम की प्रतिष्ठा करता है। रत्नसेन को समागम का सा ही आनन्द मिलता है जबकि पद्मावती की संजीवनी शक्ति से वह जाग उठता है—

सुनि पद्मावति कै असि मया।
भा दसंत, उपनी नइ कया॥

सुआ क बोल पवन होइ लागा ।
उठा सोइ हनुवंत अस जागा ।।

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने प्रेम का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और इस सदर्भ में नवीन दृष्टिकोण दिया है—

१. **प्रेमयोग में मरण:**—प्रेम साधना है तथा मरण का द्योतक है। यह मरण रत्नसेन को उस समय पहले पहल मिलता है जबकि शुक, रत्नसेन से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करता है। यही मरण की अवस्था परमसुख की अवस्था है। यही कारण है कि जब रत्नसेन चेत में आता है, वह रो पड़ता है और कहता है—

जौं भा चेत उठा बैरागा।
बाउर जनहुँ सोइ अस जागा ।।
आवन जग बालक जस रोवा ।
उठा रोइ हा ज्ञान सो खोवा ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहां ।
इहां मरनपुर आए हु कहां ।।

२. **प्रेम मार्ग मुक्ति मार्ग:**—जायसी के अनुसार प्रेम एक पदार्थ है जो साधक को दोनों जगत् में सिद्धि और मुक्ति प्रदान करने वाला है—

भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला ।
दुइ जग तरा पेम जेहुं खेला ।।

३. **प्रेम सौन्दर्य का विधायक है.**—इस सृष्टि में जो सौन्दर्य है वह प्रेम के अतिरिक्त कुछ नही है। सौन्दर्य का समुद्र पद्मावती है। प्रेमलोक एक ज्योतिलोक है। जो कोई भी उसके दर्शन कर लेता है उसे इस संसार में कहीं भी कुछ दिखाई नहीं पड़ता है—उसे तो वही वह दिखाई देता है:—

हिएकी जोति दीप वह सूझा ।
यह जो दीप अँधियार भा बूझा ।।
उलटि दिस्टि माया सौं रूठीं ।
पलटि न फिरी जानि के झूठीं ।।

४. **प्रेम मार्ग जीवनोत्सर्ग का मार्ग है:**—प्रेम मार्ग लौकिक साधनों से प्राप्य नहीं है। उसे पाने के लिए प्राणी का उदासी, योगी, यती, तपी और सन्यासी बनना पड़ता है। रत्नसेन ऐसे ही साधक हैं। वह पद्मावती को प्राप्त करने के लिए सिद्धि के सोपानों से गुजरता है, सिद्धि के समय अपना सिर काट कर चढ़ाना पड़ता है—

साधन्ह सिद्धि न पाइये जौलहि साधन तप्प ।
सोई जानहि बापुरे जो सिर कटाहि कलप्प ।।

इसी प्रकार की बात कबीर ने भी कही है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि ।
सीस उतारै भुंई धरै सो पैसे इहि माहि ।

निर्विवाद रूप से यह बात कही जा सकती है कि जायसी का प्रेममार्ग दूसरों के प्रेममार्ग से सर्वथा भिन्न है। उनका प्रेम तो शूलियों का पंथ है जिस पर कोई विरला ही चढ़ सकता है।

५. प्रेममार्ग की बाधा शरीरासक्तिः—जायसी प्रेम के मार्ग को बाधा-पूर्ण मानते थे। वे शरीरासक्ति को प्रेममार्ग की भयंकर बाधा मानते थे। स्पष्ट शब्दों में प्रेम की प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अपना शरीर है। 'साढ़े तीन हाथों का यह शरीर बीच में सुमेरु बनकर' आता है। इतना ही नहीं जायसी के प्रेमपंथ में काया के नवद्वारों और पचविकारों पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है, अन्यथा सिद्धि की बात सोचना भी गलत है। जायसी सांसारिक भोगवाद के विरोधी थे। वे कहते हैं कि जो शरीर के पोषण में लगे रहते हैं वे अन्ततोगत्वा संसार के बंधन में पड़ जाते है। इस बंधन को वे ही पार कर पाते हैं जो शरीर को तपस्या की आग में जलाकर कृश बना देते हैं—

माटी छार मद्ध नहि बांचे। बांचहि का जो भोग सुख रांचे॥
मारे कह सब असकैं पाले। को उबरा एहि सरवर घाले॥
एहि दुख कठ सारि कै अगुमन रकत न राखा देह।
पथ भुलाइ आइ जल बाझे झूठे जगत सनेह॥

"जायसी की प्रेम साधना में काम को भी स्थान प्राप्त है। वह एक-दम निषिद्ध नहीं है। वह यदि प्रेम के साथ आता है तो वह स्पृहणीय है। जायसी ने काम, मार तथा अनंग आदि शब्दों का प्रयोग प्रेम-प्रसंगों में बिना किसी संकोच के किया है और पति के साथ काम-क्रीड़ा को स्त्री का एक आवश्यक धर्म स्वीकार किया है"—

किरिए काम केलि मनुहारी। किरिए जेहिं नहिं सो न सुनारी।
किरिए होइ कंत कर तोखू। किरिए किहैं पाव धनि मोखू॥
जेहि किरिए सो सुहाग सुहागी। चंदन जैस स्यामि कंठ लागी॥

जायसी के प्रेममार्ग में विरह को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। सच भी है, प्रेम विरह की आग में तप कर स्वर्णिम रूप में हमारे सामने आता है। प्रेम की वास्तविकता विरह की आंच में तपकर ही सामने आती है। जायसी का प्रेम रहस्यात्मक है, आध्यात्मिक है। संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में प्रेम आध्यात्मिक स्वरूप लेकर आता है। इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी प्रेमी कवि थे। उनके प्रेम में एक साधना है और है तपस्या जो कि जीवन के श्रेय और प्रेय दोनों से युक्त है। इस प्रेम में भारतीय और फारसी दोनों प्रेम-पद्धतियों का मिलाजुला रूप देखने को मिलता है।

पद्मावत की शृंगार योजना

पद्मावत जायसी की अमर कृति है। प्रेम की पीर के अमर गायक जायसी की इस कृति में शृंगार रस प्रधान भूमिका लिये हुए है, यद्यपि यह ठीक है कि इसमें शृंगारेतर रस भी आये हैं। शृंगार के दोनों पक्ष, संभोग शृंगार और वियोग शृंगार, इस काव्य को अलंकृत कर रहे हैं। पद्मावत में संयोगपक्ष और वियोग पक्ष इस बात को सिद्ध करते जान पड़ते हैं कि कवि शृंगार वर्णन करने में सिद्धहस्त है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उसकी कोमल भावनाओं का मधुरतम शृंगार-भाव, वियोग में अधिक व्यक्त हुआ है। संयोग के स्थलों पर कवि वियोग की तुलना में कम रसिकता का परिचय देता है।

संभोग श्रृंगार—पद्मावत में संभोग श्रृंगार का जो रूप मिलता है, वह वियोग की तुलना में कम रसनीय है। सूफी कवियों ने संभोग का वर्णन किया है। जायसी भी इसके अपवाद नहीं हैं किन्तु फारसी शैली के प्रभाव और तीव्र आध्यात्मिक झुकाव से रस-भंग उपस्थित हो गया है। कुछेक स्थलों पर तो वर्णन बड़ा ही स्थूल और निकृष्ट कोटि का हो गया है। जायसी में भी ये बातें मिलती हैं। यदि जायसी आध्यात्मिकता से बुरी तरह आक्रान्त न हुए होते तो संभोग श्रृंगार भी बड़ा रमणीय बन गया होता। फिर भी उसकी महत्ता को ठुकराया नहीं जा सकता है। षटऋतु वर्णन संभोग श्रृंगार का उदाहरण प्रस्तुत करता है ठीक वैसे ही जैसे बारहमासा वियोग की भावनाओं को उद्दीप्त करता है। संयोग के क्षणों में पद्मावती को वर्षाऋतु की शोभा कैसी मनोहर लगती है—

पद्मावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई॥
चमक बीजु,बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती पीतम संग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूंद ऊंच चौपारा। हरियर सबै देखाइ संसारा॥

सुख के क्षणों में पद्मावती को सम्पूर्ण प्रकृति आनन्दप्रदायक प्रतीत होती है। कवि ने इस प्रकार के वर्णन परम्परानुसार ही किये हैं। नागमती और रत्नसेन के मिलन का वर्णन कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। रत्नसेन सिंहल से लौटकर नागमती के पास जाता तो है, किन्तु यह पूर्णतः मिलन नहीं कहा जा सकता है। कारण उसमें अधिकांशतः नागमती द्वारा मानप्रदर्शन और सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ही व्यक्त हुआ है। 'नागमती मुख फेरि बईठी' जैसी पंक्ति इसी भाव को व्यक्त करती है। व्यंग्यभरा ताना तो इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

काह हंसौ तुम मो सौं, किएउ और सौं नेह।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह॥

इस प्रकार ईर्ष्या और व्यंग्यपूर्ण कथन से संयोगजन्य आनन्द विनष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं रत्नसेन का मिलन के क्षणों में यह कहना कि रानी नागमती तुम तो मेरी पहली पत्नी हो अतः तुम्हें तो इस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिए, मिलन के आनन्द को ही समाप्त कर देता है। देखिये तो सही, कवि ने क्या कहलाया है—

नागमती तू पहिल बियाही। कठिन प्रीति दाहै जसदाही॥
बहुतै दिनन आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ॥
काह भयेउ तन दिन दस दहा। जो बरखा सिर ऊपर अहा॥

इसके बाद ही रत्नसेन का यह आचरण, जिसमें वह नागमती को हृदय से लगाकर मना लेता है और फिर से नागमती प्रसन्नवदना हो जाती है, संयोग का आनन्द प्रदान करता है। वार्तालाप में से शुष्कता निकल जाती है और प्रेमःजन्य आनन्द की नई ताजगी और स्फूर्ति आ जाती है। कवि कहता है—

कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी सों बिरह सींचि पलुहाई॥
करै सहस साख होइ दारिउं-दाख-जंभीर।
सबै पंख मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भइ भीर॥

पलुही नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलवारी।।
संग सहेली नागमती, आपनि बारी मांह।
फूल चुनहि फल तूरहि, रहसि कूदि सुख-छांह।।

इस वर्णन से जायसी ने रत्नसेन और नागमती के बीच हुए मिलन में रसात्मकता का वातावरण पैदा कर दिया है। सामान्यतः पद्मावत में रत्नसेन और पद्मावती के संभोग का वर्णन तीन स्थलों पर हुआ है—

१. वसन्त खण्ड में
२. विवाह तथा पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड
३. षट् ऋतु वर्णन खण्ड।

वसन्त खण्ड में भी संयोग का पूर्ण आनन्द नहीं हो सका है। पद्मावती अपनी सखियो के साथ जैसे ही रत्नसेन से आंखें मिलाती है वैसे ही रत्नसेन उसकी रूप-राशि को देखकर मूच्छित हो जाता है। इस स्थल पर जायसी चाहते तो संयोग का मधुरिम वातावरण पैदा कर सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। रत्नसेन की बेहोशी ने संयोग का सारा आनन्द ही किरकिरा कर दिया। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी जब रत्नसेन होश मे नहीं आता है तो फिर पद्मावती निराश और हताश वापिस लौट जाती है। इस प्रकार मिलन का सारा आनन्द ही हवा हो जाता है।

वास्तविक समागम तो पद्मावती और रत्नसेन के विवाहोपरान्त ही सामने आता है। विवाहोपरान्त के इस दृश्य में कवि ने हल्का सा सखियों का विनोद भी दिया है। सखियां पद्मावती को छिपा देती हैं और राजा उससे मिलने के लिए आतुरता प्रदर्शित करता है। सखियों का पद्मावती को छिपा कर किया गया विनोद और राजा की मिलनातुरता का दृश्य बड़ा मनोहर और आकर्षक हो सकता था, किन्तु जायसी इससे भी बच निकले। परिणाम विपरीत ही निकला। कवि के मन में उस मधुर स्थल पर रसानियों की परिभाषाएं हावी हो जाती हैं। धातु कमाइ 'सिखें ते जोगी' जसी पंक्तियों में मिलन-सुख की अपेक्षा धातुवादियों की सी बर्राहट है। इस वर्णन से पाठक का मन विक्षुब्ध हो उठता है और परिणामतः कवि की नीरसता पर खीझने भी लगता है।

आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "प्रथम समागम के रस-प्रवाह के बीच पारे, गंधक और 'हरताल' का प्रसंग अनुकूल नहीं पड़ता है। यदि प्रसंग अनुकूल हो तो उसका समावेश रसधारा के बाहर नहीं लगता है जैसा कि इसी समागम के प्रसंग में 'सोलह शृंगार' और 'बारह आभरण' का वर्णन। फिर भी वस्तुओं की गिनती से पाठक या श्रोता का जी अवश्य ऊबता है।"

इतने पर भी जायसी का यह वर्णन अन्य वर्णनों की अपेक्षा नीरस और हल्का नहीं कहा जा सकता है। पद्मावती जिस क्षण शृंगार प्रसाधनों से अलंकृत होकर 'सजन' के पास जाती है तो कवि की वर्णन-कल्पना की दाद देनी पड़ती है—

साजन लेइ पठावा, आयसु जाय न मेट।
तन, मन, जोबन साजि कै देइ चली लेइ भेंट।।

"इस दोहे में तन, मन और यौवन तीनों का अलग-अलग उल्लेख बहुत ही सुन्दर है। मन का साजना क्या है?—समागन की उत्कंठा या अभिलाषा। बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती है।" देखिये तो सही प्रिय के पास जाते समय कवि परम्परा के अनुसार शेष सृष्टि से चुनकर सौन्दर्य का कैसा संचार कैसी सीधी-साधी भाषा में किया गया है—

पदमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंअर लाज मेलि सिरधूरी ।।
बदन देखि घटि चंद समाना। दसन देखि कै बीजु लजाना ।।
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना ।।
पहुंचहिं छपी कंवल पौनारी। जांघ छपा करली होइ बारी ।।

स्पष्ट ही जायसी पहले तो सौन्दर्य के साक्षात्कार से हृदय के उस आनंद सम्मोह का दर्शन करते हैं जो मूर्छा की दशा तक पहुँचा हुआ जान पड़ता है और फिर अपने दुख की कहानी तथा प्रेम मार्ग मे अपने ऊपर आये कष्टों का वर्णन प्रेम मार्ग को उस सामान्य प्रवृत्ति का परिचय देता है जिसके अनुसार प्रेमी अपने प्रियतम के हृदय में अपने प्रति दया या करुणा का भाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया करता है।

संयोग शृंगार के संदर्भ में हावों का वर्णन करना कवि-स्वभाव रहा है। जायसी ने हावों का वर्णन नहीं किया है। शुक्लजी ने बिब्बोक हाव की झलक दिखाते हुए कहा है—

ओहट होसि, जोगि! तोरि चेरी। आवे बास कुरकुटा केरी।
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागि चहै मोरे अंग छाया ।।

वास्तविकता यह है कि हावों की समुचित योजना के अभाव में संयोग-पक्ष वैसा मधुर नहीं बन सका है जैसा कि होना चाहिए था। कवि ने दोनों के मिलन का वर्णन इस प्रकार किया है—

कहि सत भाउ भएउ कंठ लागू। जनु कंचन सो मिला सोहागू ।।
चौरासी आसन बर योगी। खट रस बिदक चतुर सो भोगी ।।
कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चंपा गहि डार ओनाई ।।
करी बेधि जनु भँवर भुलाना। हना राहु अर्जुन के बाना ।।
कंचन करी चढ़ी नग जोती। बरमा सो बेधा जनु मोती ।।
नारंग जानु कीर नख देई। अधर आंबु रस जानहु लेई ।।
कौतुक केलि करहिं दुख नसा। कुंदहिं कुरलहिं जनु सर हंसा ।।
रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेद।
जो अस पदुमिनि रीवें, सो जाने यह भेद ।।

"संयोग शृंगार की रीति के अनुसार जायसी ने अभिसार का पूरा वर्णन किया है। पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियां अश्लील भी हो गई हैं, पर और सर्वत्र जायसी ने प्रेम का भावात्मक रूप ही प्रधान रखा है। शारीरिक भाग विलास का वर्णन कवि ने यहां कुछ ब्यौरे के साथ किया है, पर इस विलासिता के बीच बीच में भी प्रेम का भावात्मक स्वरूप प्रस्फुटित दिखाई पड़ता है।" राजा प्रेम की सुरा मे मदोन्मत्त है। 'सुनि धनि! प्रेम-सुरा के पिए। मरन-जियन-डर रहै न हिए' जेहि मद तेहि कहां संसारा।

की सो घूमि रह, की मतवारा।' पंक्तियां इस संदर्भ में विशेषोल्लेख्य हैं। जायसी ने षड्ऋतु वर्णन में संयोग शृंगार का छककर वर्णन किया है लेकिन यहां पर भी कवि जैसे सब समय यह याद दिलाता रहा है कि पद्मावती परम सत्ता है और उनकी परम सौन्दर्य का यह विलास है। जायसी रतनसेन के जोगी तथा साधक रूप को भूलते नहीं है और न पद्मावती के परमात्मास्वरूप को, इसी कारण संयोग शृंगार का वर्णन यद्यपि सरस और हृदयाग्रही है, फिर भी हाव, विब्बोक आदि का सयोजन वह शृंगार के वर्णन में नहीं कर सके। वर-वधू को रहने के लिए जो गृह दिया गया है उसे जायसी ने कैलास कहा है और यह भी बतलाया है कि उसे देखते ही सभी पाप भाग जाते हैं।

श्री रामपूजन तिवारी ने लिखा है कि संयोग शृंगार के वर्णन में जायसी के स्पष्ट ही तीन दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं–आध्यात्मिक, सामान्य गृहिणी के रूप में चित्रण और परंपरायुक्त शृंगार वर्णन।" संयोग शृंगार के आध्यात्मिक पक्ष की संगति संयोग जैसे मधुर अवसर से बैठ नहीं पायी है। इस दृष्टिकोण का बहुत अधिक प्रभाव जायसी के वर्णन में है। अतएव जहां कवि ने विब्बोक की योजना की है वहां योगी, योग आदि का समावेश अपने आप हो गया है। इसी कारण इसमें सरलता नहीं रह गई है। पद्मावती ने कहा है--

ओहट होहि जोगि तोरि चेरी। आवै बास कुरकुटा केरी।
देखि भभूति भूति मोहि लागा। कांपै चाद राहु सौं भागा॥
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागी चहै अंग माहि छाया।
बारि भिखारि न मांगसि भीखा। मांगै आइ सरग चढ़ि सीखा॥

इसी प्रकार का वर्णन यह भी है जिसमें संयोग की सी मधुरता नहीं है--

जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहि आपन भए करै सो कोऊ।
एक ठांव वै थिर न रहाहीं। मधु लै खेलि अनत कहं जाहीं॥

"गृहिणी का रूप भी जायसी के सामने अवश्य ही वर्तमान था, किन्तु संयोग शृंगार के वर्णन में पद्मावती का वह रूप कवि को बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर सका। भारतीय आदर्श को ध्यान में रखकर सखियां पद्मावती को समझाती है कि माता पिता कन्या का विवाह करके निश्चिन्त हो जाते हैं लेकिन जन्मभर पति से ही निर्वाह होता है।" पद्मावती भी इसी आदर्श को मानती है और अपने प्रिय को सन्तुष्ट और आनंदित करने के लिए कवि ने पद्मावती से निम्नलिखित पंक्तियां कहलाई--

जो तुम्ह चाहहु सो करहु नहिं जानहु भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहि तुम्हहि पै चहौ अनंद॥

संयोग वर्णन का जो तीसरा रूप श्री रामपूजन तिवारी ने बताया है वह परंपरा युक्त है। बहुत से अध्येताओं ने इस वर्णन को अश्लील कहा है तथा इसे फारसी काव्य का प्रभाव कहा है। जो लोग संयोग वर्णन की भारतीय परंपरा से परिचित हैं वे ऐसी बात नहीं कह सकते हैं। अतः संयोग शृंगार के सम्बंध में यही कहा जा सकता है कि जायसी विरह के कवि हैं; संयोग उन्हें रुचा नहीं है और यदि रुचा भी है तो कम स्थलों पर। अधिकांश संयोग वर्णन आध्यात्मिक और किसी समस्या या व्याख्या में उलझे हुए हैं।

विरह वर्णन—जायसी सूफी कवि थे और सूफी कवि होने के कारण उनके काव्य में प्रेम की पीर का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। जायसी का पद्मावत प्रेम प्रधान काव्य है और प्रेम का सम्बंध शृंगार से है। प्रेम का वास्तविक मूल्य विरह की घड़ियों में ही प्रतीत होता है। प्रेम की परिपक्वावस्था विरह की मंजिल के बाद की स्थिति है। विरह की आग में तपकर प्रेम का दिव्य स्वरूप दिखाई देता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि विरह के कारण प्रेम कम हो जाता है। आंखों से दूर हो जाने के कारण एक प्रेमी दूसरे के दिल से भी निकल जाता है किन्तु इस बात में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता है। विरह में प्रेम की प्रतीक्षा और प्रतीक्षा में आंखें बिछाने वाले बहुत कम होते हैं। यदि प्रेम सच्चा रहा तो विरह में वह घटता नहीं अपितु बढ़ता है। सूफी कवियों के विरह की एक विशेषता है कि यहां प्रेम के साथ ही विरह बढ़ता है। प्रेम उत्पन्न होते ही या प्रेम का बीज पड़ते ही विरह की आग भी धधक उठती है। अतः इन कवियों ने प्रेम और विरह को एक दूसरे का पर्याय माना है। जायसी के पद्मावत में भी विरह की प्रधानता है। सम्पूर्ण काव्य में विरह आद्यन्त विद्यमान है। जायसी के पद्मावत को पढ़ने से यह बात भली भांति विदित हो जाती है कि इस काव्य के कवि के हृदय में जैसे विरह मूर्तिमान हो उठा है। पद्मावत एक विरह काव्य है। इसमें जायसी ने राजा रत्नसेन, पद्मावती, नागमती और बादशाह अलाउद्दीन की विरह-भावना को चित्रित किया है। पद्मावती के रूप-सौन्दर्य को देखकर राजा विरह का अनुभव करता है और इसी विरह भावना में वह उसे प्राप्त करने चल पड़ता है।

रत्नसेन की विरहावस्था का वर्णन निम्नलिखित स्थलों पर मिलता है:—

१. प्रेम खण्ड में हीरामन के मुख से पद्मावती के अलौकिक सौन्दय पर रीझने के उपरांत।
२. राजा गजपति खण्ड में वार्तालाप के दौरान।
३. रत्नसेन सती खण्ड में पद्मावती के चले जाने पर।
४. पार्वती महेश खण्ड में—महादेवजी से वार्तालाप करते समय।
५. राजा गढ़ छेका खण्ड के अन्तर्गत।
६. लक्ष्मी समुद्र खण्ड में पद्मावती ने समुद्र में बिछुड़ने पर राजा रत्नसेन की विरह-विह्वल स्थिति का चित्रण किया गया है।

पद्मावती की विरह भावना पांच स्थलों पर मिलती है। विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है:—

१. पद्मावती वियोग खण्ड में वह अचानक ही विरह-व्यथित दिखाई गई है—

पद्मावति तेहि जोग संजोगा। परी पेम बस गहे वियोगा॥
नींद न परै रैनि जो आवा। सेज केवाँच जानु कोइ लावा॥
...   .
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै॥

अनुर दिसा चितवै जनु भूली। जोबन कहँ नहिं मानति फूली ?
कवल भौंर ओहीं बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै ?
अंग अंग अस कवल सरीरा। हियमा पियर कहै पर पीरा॥

२. गन्धर्वसेन मंत्री खण्ड में रानी पद्मावती राजा रत्नसेन के बारे में विचार करती हुई विरहाकुल स्थिति में देखी जा सकती है। वियोग की स्थिति का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है--

पदमावति सग सखीं सयानी। गनत नखत सब रैनि बिहानी।
जानहि मरम कवल कर कोई। देखि बिथा बिरहिन कै रोई॥
बिरह कठिन काल कै कला। बिरह न सहै, काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह-काल मारे पर मारा॥
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाव पर घाव बजागी॥
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला॥
तन रावन होइ सर चढ़ा, बिरह भयउ हनुवंत।
जारे ऊपर जारै, चित मन करि भसमंत॥

३. लक्ष्मी समुद्र खण्ड में राजा रत्नसेन से वियुक्त होकर रानी पद्मावती को विरह व्यथित स्थिति में चित्रित किया गया है।

४. नागमती विलाप खण्ड में राजा रत्नसेन के बंदी बनाये जाने पर रानी पद्मावती को अत्यधिक व्यथित दिखाया गया है। कवि की भावों में प्रस्तुत मार्मिक भावनाएं पाठक के मन प्राण पर छा जाती है।

५. पद्मावती का विरह गोरा बादल संवाद खण्ड में गोरा और बादल दिल्ली जाने के विषय में वार्तालाप के दौरान प्रदर्शित किया गया है।

वस्तुतः जायसी ने पद्मावती के विरह वर्णन में प्रेमिका के अन्तर्गत का मार्मिक विरहोद्घाटन किया है। इस विरह वर्णन के आधार पर कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सामान्यतः ये निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं-

१. पद्मावती यहाँ निरी व कला प्रिय प्रेयसी है।

२. भावों की गहराई की अपेक्षा उसका विरह कल्पना सागर की तरंगों के समान है। परिणामतः उसमें गाम्भीर्य की स्थिति कम है।

३. विरह-वर्णन में कवि ने परम्पराओं, आलंकारिक चमत्कारों आदि की ओर विशेष दृष्टि रखी है। पीड़ा का वर्णन अतिरंजित और ऊहात्मक है।

४. पद्मावती के विरह-वर्णन में विरह-दशाओं की और काम-दशाओं की शास्त्रीय व्यंजना भी पाई जाती है, किन्तु उसमें वह भावात्मक संवेदनशीलता नहीं है जो नागमती के विरह में व्यक्त होती है।

५. नव यौवन के भार से दबी पद्मावती काम भाव से पीड़ित अधिक है। उसमें प्रणय की निश्छल और निःस्वार्थ भावना दबती हुई जान पड़ती है।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने पद्मावती के विरह पर प्रकाश डाला है और कहा है कि इसके (पद्मावती) विरह-वर्णन में साहित्यिक चमत्कार की मात्रा अधिक है। वेदना के विविध रूपों की विवृत्ति कम है। इसका होते हुए भी कहीं-कहीं पर संवेदनशीलता की बड़ी निर्बाध और बड़ी सरल अभिव्यक्ति

नागमती जिस पक्षी को अपने विरह का संदेश सुनाती है और उसे प्रियतम तक पहुँचाने के लिए कहती है वह जल जाता है। इतना ही नहीं वह पेड़ भी जल कर नष्ट हो जाता है। वस्तु-व्यंजना ही यहां प्रधान हो उठी है। जायसी के विरह वर्णनों में अत्युक्तियों का अभाव नहीं है, लेकिन उनके द्वारा वस्तु-व्यंजना नहीं हुई है, संवेदना ही अभिव्यंजित हुई है। इस प्रकार के स्थलों पर कवि जायसी हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिये बिना अपना स्पष्टीकरण नहीं दे सके हैं। इसमें हेतु कल्पित होता है; फिर भी इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती है। इस युक्ति से कवि विरह ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता-बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है। निम्नलिखित चौपाइयों में मेघों की श्यामता, राहु केतु का कालापन, सूर्य का तपना, चन्द्रमा की कला का खण्डित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं, किन्तु उनके लिए जो कल्पना की गई है वह कारण कल्पित है। देखिये तो सही—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भरा धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरुज जरा, चांद जरि आधा॥
औ सब नखत तराई जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महं परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊं। दहकि पलास जरै तेहि दाऊं॥

"ताप के अतिरिक्त विरह के और अंगों का विन्यास भी जायसी ने इसी हृदय हारिणी और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को

२. नागमती के विरह का दूसरा स्थल नागमती सदेश खंड है। इस स्थल पर नागमती पक्षियों से अपना विरह निवेदन करती है।

३. नागमती विरह का हल्का सा स्वरूप पद्मावती नागमती विलाप खंड में देखा जा सकता है।

इन विरह स्थलों के अतिरिक्त और कहीं कोई चित्रण इस प्रकार का नहीं हुआ है जिसके आधार पर हम नागमती के विरह को देख सकें। प्रमुख बात यह है कि विरहात्मक उक्तियों में (पात्रों की) कवि ने नागमती और पद्मावती के विरह को ही विशेष सहृदयता से दिखाया है। नायक रत्नसेन के विरह में वह मार्मिकता नहीं है। अतः प्रमुखतः इस विरह व्यापकता का विवेचन हमें इन्हीं दो आधारों पर करना है।

आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरह को हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु कहा है। नागमती का विरह एक भारतीय नारी का विरह है जो राजमहलों और रनिवासों को छोड़कर सामान्य नारी की भांति वन वन भटकती फिरती है और वृक्षलता और पशु-पक्षियों से पूछती फिरती है और अपनी विरह-व्यथा को दूसरों से व्यंजित करती फिरती है। समस्त प्रकृति उसके आंसुओं में भीगी हुई है। इसमें वासना नहीं है अपितु दर्शनोत्कंठा और मिलनोत्कंठा है। कवि के ही शब्दों में इसे यों पढ़ा जा सकता है—

पद्मावति सौं कहेउ विहंगम।
कंत लुभाइ रहिउ करि संगम॥
हमहु वियोगी संग ओहि पीऊ।
आपुहि आपु जानु पर जीऊ॥
मोहि भोग सौं काज न बारी।
सौंह दीठि कै चाहन हारी॥

इन पंक्तियों का संदेश भारतीय नारी का सदेश है जो गर्व से फूली न समाने की स्थिति है। यह वासना और ऐश्वर्य से दूर है—सामान्य नारी का करुण विलाप है जिसमें मिलनोत्कंठा है, प्रेम का परिष्कार है, कालुष्य नहीं है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "जायसी का विरह ऊहात्मक और अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की सीमा तक नहीं पहुँच पाया है। उसमें गांभीर्य बना हुआ है। जाड़े के दिनों में पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, शरीर पर रखे हुए कमल पत्तों को भुनकर पापड़ बनाने वाले, विरह से कृशकाय होकर श्वास-प्रश्वास के पालने में झूलने वाली नायिका के रूप का चित्रण इसमें नहीं हुआ है।" यद्यपि नागमती का ताप किसी से कम नहीं है। कवि ने चित्रित किया है—

हाड़ भये सब किंकरी—नसें भई सब तांति।
रौंव रौंव ते धुनि उठै कहौं बिथा केहि भांति॥
दहि कोयला भई कंत सनेहा। तोला मांस रहा नहिं देहा॥
रकत न रहा विरह तन जरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥

ऊहात्मक पंक्तियां भी पद्मावत में देखने को मिलती हैं—

जेहि पंखी के नियर होइ कहै विरह की बात।
सोइ पंखी जाइ जरि तरिवर होइ निपात॥

नागमती जिस पक्षी को अपने विरह का संदेश सुनाती है और उसे प्रियतम तक पहुँचाने के लिए कहती है वह जल जाता है। इतना ही नहीं वह पेड़ भी जल कर नष्ट हो जाता है। वस्तु-व्यंजना ही यहां प्रधान हो उठी है। जायसी के विरह वर्णनों में अत्युक्तियों का अभाव नहीं है, लेकिन उनके द्वारा वस्तु-व्यजना नहीं हुई है, संवेदना ही अभिव्यंजित हुई है। इस प्रकार के स्थलों पर कवि जायसी हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिये बिना अपना स्पष्टीकरण नहीं दे सके हैं। इसमें हेतु कल्पित होता है; फिर भी इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती है। इस युक्ति से कवि विरह ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता-चढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है। निम्नलिखित चौपाइयों में मेघों की श्यामता, राहु केतु का कालापन, सूर्य का तपना, चन्द्रमा की कला का खण्डित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं, किन्तु उनके लिए जो कल्पना की गई है वह कारण कल्पित है। देखिये तो सही—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भरा धूम जो उठा ॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरुज जरा, चांद जरि आधा ॥
औ सब नरवत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति मह परहीं ॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊं। दहकि पलास जरै तेहि दाऊं ॥

"ताप के अतिरिक्त विरह के और अंगों का विन्यास भी जायसी ने इसी हृदय हारिणी और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिबिम्ब सा दिखाते हुए किया है।" नागमती के आंसुओं से सारी सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है। नागमती के विरह-जन्य दुख और ताप का प्रतिबिम्ब बाह्य प्रकृति में भी दिखाई देता है। कवि का कथन है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आंसु घुंघुंची वन बोई ॥
पै करमुखी नैन तज राती। को सिराव विरहा दुख ताती ॥
जह-जह ठाढ़ि होइ बनवासी। तहं-तहं होइ घुंघुचिन्ह कै रासी ॥
तेहि दुख उहे पराम निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते ॥
देखिअ जहां सोइ होइ राता। जहां सो रतन कहै को बाता ॥
राते बिम्ब भींजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहू ॥

कवि का कथन है कि प्रकृति में नागमती के दुख को भी देखने का उपाय उसके प्रियतम के पास नहीं है अन्यथा वह अवश्य लौट आता। जिस देश में उसका पति बसा हुआ है, लगता है वहां प्रकृति के कोई भी उपकरण वर्तमान नहीं जो नागमती की याद उसे दिलाते—

ना पावस ओहि देसरे ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कन्त ॥

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने नागमती के विरह-वर्णन का विवेचन शारीरिक, मानसिक और व्यावहारिक दृष्टि से भी किया है। उन्होंने भारतीय और फारसी साहित्य पर आधारित विरह-अवस्थाओं का चित्रण किया है। शारीरिक व्यथाओं की अभिव्यक्ति प्रायः सात्विकों और अनुभावों

के सहारे की गई है। आठों सात्विकों की स्थिति नागमती के विरह-वर्णन में यथा-स्थान मिल जाती है। 'स्तंभ' और 'स्वेद' इन दो सात्विकों की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है—

विरह बान तस लाग न डोली। रकत पसोज भीजि गइ चोली।

इसी प्रकार अश्रु सात्विक का उदाहरण भी दिया जा सकता है—

रकत के आंसु परहिं भुंइ टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी॥

विरह के शारीरिक पक्ष में ही शरीर का मुरझा जाना, सूख जाना, पीला पड़ जाना, जीर्ण हो जाना आदि बातें भी आती हैं। नागमती का शरीर विरह में मुर्झा गया है—कवि ने वर्णन किया है—

सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।
झुरि-झुरि पींजर हो गई, विरह काल मोहि दीन्ह॥

शारीरिक पक्ष में ही फारसी साहित्य की तीन विरह दशाओं का चित्रण भी किया गया है—आहे सर्दो (ठण्डी आहें भरना), रंगे जर्दो (रंग का पीला पड़ जाना), चश्मेतर (आंखों का भीग जाना) इन तीनों दशाओं के विविध चित्र नागमती वियोग खण्ड में मिलते हैं। क्रमशः उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. आहे सर्दो :—आह जो मारी विरह की आगि उठी तेहि हांक।
हंस जो रहा सरीर महं पांख जरे तन थाक॥
२. रंगे जर्दो :—तन भा पियर पात जस मोरा।
३. चश्मेतर :—ऊपर 'रकत के आंसु'.........वाला उदाहरण इसी विधान के अन्तर्गत आता है।

इनके अतिरिक्त नागमती के विरह वर्णन में और भी अनेक ऐसी स्थितियां हैं जो न तो भारतीय और न फारसी शास्त्रीय-विधान के अन्तर्गत आती हैं। उदाहरणार्थ एक चित्र देखिये—नायिका की श्वास की गति विचित्र है। पहले क्षण में श्वास पेट में जाती है, दूसरे क्षण में श्वास निकल जाती है, जिससे सखियां निराश हो जाती हैं कि कदाचित् फिर श्वास वापस ही न आवे—

खिन इक आव पेट में स्वासा।
खिनहिं जाइ सब होइ निरासा॥

भारतीय आचार्यों ने विरह की जो मानसिक दशाएं बताई हैं—चिन्ता, अभिलाषा, स्मृति, उद्वेग, गुणकथन, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि व मरण का वर्णन पद्मावत के विरह वर्णन विशेषतः नागमती के विरह वर्णन में मिल जाता है। डा० त्रिगुणायत ने इसका विस्तार से विवेचन किया है।

फारसी के काम शास्त्र में भी विरह की मानसिक स्थितियों का संकेत किया गया है। वहां भी विरह की नौ दशाएं बतलाई गई हैं—आहे सर्दो, रंगे जर्दो, चश्मेतर, इन्तजारी, बेकरारी, बेसब्री, कम खुर्दनो, कम गुफ्तनो और नींदे हराम। इनमें से प्रथम तीन शारीरिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हैं जिनका सोदाहरण विवेचन पीछे किया गया है। शेष मानसिक हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है।

इन्तजारी का बड़ा ही हृदय स्पर्शी चित्र है। नागमती कहती है कि संध्या होने पर उनकी प्रतीक्षा करती हूं। न मालूम वह कौन सी घड़ी होगी जब प्रियतम अपने घर को लौट कर आयेंगे –

सांझ भए झुरि-झुरि पथ हेरा। कौन सो घरी करे पिउ फेरा॥

बेकरारी—इसके विविध चित्र नागमती के विरह में मिलते हैं। प्रिय विरह में नागमती का मन मोर जों बावला सा हो गया है। वह पपीहे की तरह पी-पी रटने लगी है। काम उस स्त्री को अधिक सताने लगा है। वह तोता प्रियतम के नाम से ही प्राण हर ले गया—

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपीहा तस बोले पिउ पीऊ॥
अधिक काम दाधे सो रामा। हरि जीउ ले सो गयउ पिउ नामा॥

बेसब्री—इस स्थिति में नायिका अपने प्रिय से मिलने के लिए धैर्य खो बैठती है। वह उड़कर प्रिय के पास पहुंच जाना चाहती है। कवि ने श्रावण मास के वर्णन में नागमती से कहलाया है—

बाट असूझ अथाह गभीरी। जिउ बाउर मा फिरै भंभीरी॥
जग जल बूड़, जहां लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी॥
परवत समुद्र अगम बिच वन बेहड़ घन ढख।
किमि करि भेंटों कन्त तोहि ना मोहि पाव न पख॥

विरह में ईर्ष्या भाव भी प्रबल हो उठता है। हीरामन तोता उसकी ईर्ष्या का केन्द्र बिन्दु है तभी तो वह कहती है—

सुआ काल होइ लेगा पीऊ। पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ॥

विरह में एकाकीपन निरलम्बता की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इस निरवलम्बता की स्थिति में घर की सभी वस्तुएं खाने को दौड़ती हैं—

मंदिर सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै घै धै डसा।
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैना पसारि मरौं हिय फाटी॥

नागमती का व्यावहारिक जीवन ही विरह में बदल गया है। उसका खाना-पीना, सेवा, श्रृंगार आदि सभी व्यर्थता के द्योतक है। इसी कारण नागमती कहती है—

प्रकृति भी नागमती के विरह से बच नहीं सकी है। कवि ने नागमती के लौकिक विरह को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करने की कामना से उसे विश्व-व्यापी और विराट रूप में चित्रित किया है। 'मनुष्य के आश्रित, मनुष्य के पाले हुए, पेड़ पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुख से दुखी दिखाई देते हैं, यह दृश्य बड़े कौशल और बड़ी सहृदयता से जायसी ने दिखाया है। नागमती की विरह दशा में उसके बाग बगीचों से उदासी बरस रही थी। पेड़ पौधे सब मुरझाये पड़े थे। उनकी सुध कौन लेता है? पर राजा रत्नसेन के चित्तौड़ लौटते ही—

पलुही नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलवारी॥
जावत पंखि रहे सब दहे। सबै पंखि बोलै गहगहे॥

जब पेड़ पौधे सूख रहे थे तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोगदशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं पशु पक्षियों और पेड़ पौधों तक दिखाई पड़ता था। कालिदास ने पाले हुए मृग और पौधों के प्रति शकुन्तला का स्नेह दिखाकर इसी व्यापक और विशद भाव की व्यंजना की है।"

पद्मावत में विरह प्रधान है। विरह दशा के वर्णन में भारतीय पद्धति और फारसी पद्धति दोनों का सम्मिलन हुआ है। भारतीय पद्धति पर आधारित वर्णन अरुचिकर नहीं हैं। कृशता, ताप और वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने श्रृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि पद्मावत में यद्यपि हिन्दू जीवन के परिचायक भावों की ही प्रधानता है, पर बीच-बीच में फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के भी छींटे कहीं-कहीं मिलते हैं। विदेशी प्रभाव के कारण वियोग दशा के वर्णन में कहीं-कहीं वीभत्स चित्र सामने आ जाते हैं जैसे 'कबाब मांस' वाला यह भाव—

बिरह सरागन्हि भूँजै मांसू। गिरि गिरि परै रकत कै आँसू॥
कटि-कटि मांसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु मांसु सब रोवा॥
खिन एक बार मांसु अस भूंजा। खिनहि चबाइ सिंघ अस गूंजा॥

विरह में जो शारीरिक कृशता आ जाती है उसकी जायसी ने पूरी अत्युक्ति की है। इस अत्युक्ति में भी पूरी गंभीरता बनी हुई है। वह खिलवाड़ या मजाक नहीं होने पाई है। जायसी की निम्नांकित पंक्तियों में हृदय द्रवीभूत करने की पूरी शक्ति है—

दहि कोयला भइ कंत सनेहा। तोला मांसु रही नहिं देहा॥
रकत न रहा, विरह तन जरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥

बारहमासा—नागमती के विरह-वर्णन के संदर्भ में प्रसिद्ध बारहमासा भी आता है। "वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। इतने पर भी विरह वर्णन का अंश बहुत कुछ अनिर्वचनीय रह जाता है। बारह मासे में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलंभ श्रृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है जिसमें आनन्दप्रद वस्तुओं का दुखप्रद होना दिखाया जाता है।"

आचार्य शुक्ल ने इस बारहमासे में दो बातों की विशिष्टता से चर्चा की है—

१. प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन ।

२. दुख के नाना रूपों और कारणों की उद्‌भावना ।

प्रथम के अन्तर्गत परिचित प्राकृतिक दृश्यों को साहचर्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है। इस प्रकार के बहुत ही सुन्दर संकेत, बहुत ही रमणीय और मनहरण झलक इस बारहमासे में मिलती है—

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा ॥
धूम साम धौरे घन धाए । सेत धजा बग पांति देखाए ॥
खड़्ग बीजु चमकै चहुं ओरा । बुंद बान बरिसहिं चहुं ओरा ॥
... ...
... ...
बाट असूझ अथाह गंभीरी । जिउ बाउर भा फिरै भंभीरी ॥
जगजल बूड़ जहां लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
जेठ जरै जग चलै लुवारा । उठहिं बवंडर परहिं अंगारा ॥
उठै आगि औ आवै आंधी । नैन न सूझ मरौ दुख बांधी ॥

बारहमासे के अन्तर्गत सबसे बड़ीविशेषता यह है कि नागमती रानी होकर भी अपने रानीपन को बिल्कुल भूल जाती है और अपने आपको सामान्य नारी के रूप में देखती है। "परिणामतः सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह वाक्य छोटे, बड़े, सबके हृदय को समान रूप में स्पर्श करते हैं। यदि कनकपर्यंक, मखमली सेज, रत्न जड़ित अलंकार, संगमरमर के महल, खसखाने आदि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं। पर जायसी ने स्त्री जाति की या कम से कम हिन्दू गृहणी मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलम्भ शृंगार के अत्यन्त समुज्ज्वल रूप का विकास दिखाया है।" चौमासे में स्वामी के न रहने पर घर की जो दशा होती है वह किस प्रकार गृहणी के विरह का उद्दीपन करती है—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा ।

इन पंक्तियों में भारतीय नारी का मर्यादित विरह है। यह सात्विक है, उज्ज्वल है।

(७) बारहमासे में वर्णित दुख के नाना रूपों और कारणों को भी लिया जा सकता है। नागमती सभी जीव जंतुओं और पशु पक्षियों के प्रति सहानुभूति की भावना प्रकट करती हुई कहती है—

पिउ सौं कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जनि मुई. ते हिक धुआं हम्ह लाग॥

विरह में सुखद वस्तुएं भी दुखद दिखलाई देती हैं किन्तु सुख में आनन्द ही आनंदित करता है। विरह में जो दुख होता है वह कष्टदायक होता है। अतः बारहमासे में प्रत्येक मास अपनी-अपनी विशिष्टता से मंडित है। सावन, भादों माघ, पूस आदि सभी मास विरहिणी के लिए उद्दीपन का काम करते हैं। सावन भादों के महिनों में यौवन का उद्दामज्वार हृदय को पीड़ा पहुंचाता है। बिजली की चमक और चातक की पिउ-पिउ की रट हृदय को कचोटती जान पड़ती है। क्वार के महिने में विरह का हाथी शरीर को सालता है तथा शरीर को चूर्ण-चूर्ण कर देता है—

विरह-हस्ति तन साले खाई करे तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहू-गाजहू होई सदूर॥

कार्तिक मास में दीपावली का त्यौहार नागमती को प्रिय की याद दिलाता है। सभी सखियां हर्षोल्लास मनाती हैं किन्तु नागमती दीन-दुखियारी खिन्न है। कार्तिक की शीतल रात्रि उसके हृदय को दग्ध करती है—

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं विरहै जारी॥
चौदह करा चांद परगासा। जनहुं जरै सब धरति अकासा॥
तन, मन, सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चंद भयउ मोहि राहू॥

शीतकाल में सर्दी का जोर बढ़ता जाता है। इतना ही नहीं वह कांपती है और प्रिय के अभाव में जैसे-तैसे कर दिन रात काटती है। देखिये तो सही—

१. कांपै हिया गनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ संग पीऊ॥
पहल-पहल तन रुई झांपै। हहरि-हहरि अधिको हिय कांपै॥
२. चरिहु पवन झकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी॥
उठै आगि औ आवै आंधी। नैनन सूझ, मरौं दुख बांधी॥

नागमती के हृदय में प्रकृति और वनस्पति भी वेदना को जाग्रत करती है। वह सोचती है सभी के मित्र और प्रिय आ रहे हैं किन्तु कंत का कोई पता ही नहीं है। यह भावना उसके दुख को द्विगुणित करती है। यह स्वाभाविक भी है। सभी सखियां फाग खेल रही हैं और मेरे हृदय में विरह की आग जल रही है। पपीहे का प्रिय पयोधर भी आ गया है, सीप के मुंह में स्वांति की बूंदें पड़ गई हैं पर नागमती का प्रिय नहीं आ सका है—

करहि बनसपति हिए हुलासू। मोकहँ भा जग दून उदासू॥
फागु करहिं सब चांचरि जोरी। मोहि तन लाई दीन्हि जस होरी॥

... ...

चित्रामित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारता पावा॥
स्वांति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरलाईं खजन देखाए॥

चतुर्दिक फैले वातावरण की हरियाली हृदय को शांति देने की अपेक्षा दुखदग्ध करती है। 'मघा' नक्षत्र झकोरि-झकोरि कर बरसता है। 'मघा' की बरसात नागमती को उसके नेत्रों से झड़ती बूंदे सी लगती है। माघ मास में शीत से हृदय कांपता है। शरीर जितना ढका जाय उतना ही वह शीत से कांपता है, ठिठुरता है। परिणामतः नागमती निवेदन करती है कि, हे प्रिय, तुम सूर्य बन कर तपो जिससे मेरा शीत छूट जाय। विलासी भावों का उद्दीपक यह माघ मास विरहिणी को काटने को आता है। नागमती का फूल सा सुकुमार यौवन रत्नसेन भ्रमर की प्रतीक्षा में रहता है। महावट के नीर की भांति नागमती के नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लग जाती है। कवि की ये पंक्तियां देखिये—

आइ सूर होइ तपु रे नाही। तेहि बिनु जाउ न छूटै माही ॥
एहि मास उपजें रस मूलू। तू सौं भवर मोर जीवन फूलू ॥
नैन चुवहि जस माहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू ॥
टूटहि बूंद परहि जस ओला। विरह पवन होइ मारै झोला ॥

ठीक इसके विपरीत वैशाख मास की स्थिति है। ताप की मात्रा बढ़ जाती है। हृदय में मास की तपन और विरह की तपन दोनों की गर्मी से हृदय और शरीर जले जाते हैं। नागमती प्रियतम से रक्षा करने के लिए कहती है। उसका विश्वास है कि प्रिय दर्शनों से ही हृदय शीतल हो जायगा। हे प्रिय ! तुम शीघ्र आकर इस तपन को फूलों की शीतलता और प्रेम की गंध से भर दो। इसका उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

भा वैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चंदन भा लागी ॥
सूरज जरत हिवंचल ताका। विरह बजागि सोह रथ हांका ॥
जरत बजागिनि होउ पिउ छांहा। आइ बुझाउ अंगारन्ह माहां ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आई आग सो करू फुलवारी ॥

....

....

सरवर हिय फटत निति जाई। टूक-टूक होइ होइ बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्टि दवंगरा मरेवहु एका ॥
कवल जो बिगसा मानसर बारहि मिलै सुखाइ।
अबहु बेलि फिरि पलुहै जो पिय सींचहु आइ ॥

स्पष्ट ही नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। उसमें हृदय की कोमल भावनाओं का प्रसार है। नागमती का चरित्र विरह के ताप से पिघलकर और भी अधिक चमक गया है। उसमें प्रेम का प्रकाश है, भावना का विकास है और जीवन को प्रभावित कर प्रेरणा देने वाला दिव्य और अनुपम संदेश।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इसी प्रसंग में बताया है कि नागमती के विरह को जायसी ने कहीं-कहीं विराट रूप दे दिया है। परिणामस्वरूप वह लौकिक होते हुए भी अलौकिकोन्मुख हो गया है। लौकिकता में अलौकिकता का आरोप ही नागमती के विरह-वर्णन की सबसे प्रमुख विशेषता है। उसको इसी विशेषता ने उसे हिन्दी साहित्य की अन्य नायिकाओं के विरह-वर्णन से

सर्वथा अलग कर दिया है । "जेठ की ज्वाला के प्रसंग में ही कवि ने लिखा है कि पर्वत, समुद्र, मेघ, शशि और सूर्य इस आग को सहन नहीं कर सकते हैं । इस विराट ज्वाला में जलने की शक्ति भारत की सती नारी में ही होती है ।" यहां पर कवि ने एक ओर तो नागमती के लौकिक विरह-वर्णन में अलौकिकता की व्यंजना की है और दूसरी ओर भारतीय नारी के महान् आदर्श को मूर्तिमान कर दिया है । वस्तुतः लौकिक से अलौकिक की व्यंजना जायसी ने समयानुसार और आवश्यकतानुसार कर ही ली है । यही उनकी उपलब्धि है । निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि नागमती का विरह-वर्णन कलात्मकता, अभिव्यंजना, सौष्ठव और मानसिक व व्यावहारिक तथ्यों से भरपूर है । इसमें कवि जायसी के संवेदनशील हृदय ने बड़ी मार्मिक उक्तियों से नारी मनोविज्ञान तथा उसकी प्रवृत्तियों का भी परिचय दिया है। जब कभी भी विरह-वर्णन की चर्चा होगी और साहित्य के जिज्ञासु, नारी की विरहानुभूति का चित्र खींचेंगे तो नागमती का स्थान व्यावहारिकता और मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से सर्वोपरि और सर्वोत्तम सिद्ध होगा ।

मूल्यांकन—पद्मावत में प्रतिपादित विरह को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया जा सकता है—

१. जायसी का विरह-वर्णन रुदन प्रधान है । जिन पात्रों को विरह है वे रो-रोकर अपने आंसू बहाते हुए ही हमारे सामने आते हैं । उनके आंसू भी कोई मामूली आंसू नहीं है वरन् बड़े तीव्र प्रवाहशील हैं क्योंकि उनमें बड़े-बड़े पर्वत, समुद्र डूब जाते हैं और समुद्र भी उमड़ने लगते हैं । 'रोवत बूढि उठा संसारू' में इसी भाव की सूचना है ।

२. जायसी का विरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । इसी व्यापकता के कारण उनके विरह की निश्चित सीमा नहीं है, वह तो मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पक्षी, पेड़ पौधे, जड़, चेतन सभी में व्याप्त है । सूर्य और चन्द्र भी उसी विरह में जलते हैं—

विरह को आगि सूर जरि कांपा ।
एतिहु दिवस जरै ओहि तापा ।।

३. जायसी के विरह-वर्णन में कहीं कोई ऐसा भेद-भाव नहीं है कि राजा-रानी महलों में ही रोते कलपते हों, वे तो सामान्य मानव की तरह वन-वन भटकने वाले हैं । उदाहरणार्थ नागमती रानी, अनेक नौकरों के होते हुए भी वर्षा ऋतु के आते ही चिन्ता से व्यथित हो उठती है । वर्षा में उसे सबसे बड़ी चिन्ता इस बात को लेकर है कि 'हौं बिन नाह मन्दिर को छावा' ।

४. जायसी के विरही विरह में तपकर ऐसे कुन्दन बन गये हैं कि मान, सम्मान, गर्व, हास-विलास आदि को भूल गये हैं। विरह की यही सच्ची स्थिति है जबकि व्यक्ति का अहं विगलित हो जाता है और वह सामान्य प्राणी की भांति रुदन करने लगता है । नागमती और रतन-सेन की यही स्थिति है—रतनसेन पद्मावती के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता है तथा नागमती मोहिं भोग सों काज न बारी—कहकर यही व्यक्त करती है ।

५. "जायसी ने केवल विरहताप का ही स्वरूप अंकित नहीं किया है, अपितु उसके वेदनात्मक स्वरूप की भी अत्यन्त विशद व्यंजना की है ।

कवि ने विरही की पीड़ा, व्यथा, वेदना, कसक और टीस के बड़े मर्मस्पर्शी चित्र उतारे हैं ।"

खिनहिं उसास बूडि जिउ जाई ।
खिनहिं उठै निसरै बौराई ॥
खिनहिं पीत खिन होइ मुख सेता ।
खिनहिं चेत खिन होइ अचेता ॥

६. जायसी ने विरह में प्रकृति को भी आंसुओं से गीली दिखाई है । जायसी ने विरह-दशा के अन्तर्गत विरही की निरवलम्बता का बड़ा ही विशद चित्र प्रस्तुत किया है ।

७. जायसी ने विरह के कष्ट की तीव्रता को बढा चढ़ाकर चित्रित किया है तथा सयोग के सुखद व्यापारों का उल्लेख करके उनसे विरही की असह्य पीड़ा का अनुभूतिपरक चित्र दिया है ।

८. जायसी के विरह-वर्णन पर फारसी वर्णन-पद्धति की छाया भी स्पष्टतः देखी जा सकती है । यही कारण है कि कवि ने इस प्रकार की पंक्तियां लिखी हैं—

'नैनन चली रकत की धारा' और "विरह सरागनि भूंजै मांसू गिरि-गिरि परहिं रकत के आंसू।" निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी के विरह-वर्णन में गंभीरता हो न हो, व्यथा का आधिक्य है, कोमलता है, सरलता है । ऊहात्मक वर्णन होकर भी उसमें संवेदनीयता है ।

पद्मावत का अध्यात्म या अलौकिक पक्ष

पद्मावत एक प्रेम प्रधान काव्य है । इसकी प्रेमकथा का मूल आधार तो भारतीय है, किन्तु इसकी प्रेम पद्धति पूर्णतः फारसी या सूफी प्रेम पद्धति के आधार पर ही पल्लवित हुई है । इसी कारण इसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक या आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की गई है या यों कहिए कि पार्थिव प्रेम के माध्यम से अपार्थिव प्रेम की व्यंजना की गई है । इसके लिए कवि ने प्रेम की गम्भीरता, प्रेम की पीर की तीव्रता, प्रेममार्ग की भयंकर विघ्न बाधायें और आपत्तियां, पूर्ण मिलन के हेतु 'फना' की स्थिति आदि का निरूपण किया है और इसके द्वारा एक उपासक जीव को अपने उपास्य-परमात्मा से मिलता हुआ दिखाया है । इस काव्य में व्यंग्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ भी प्रधान है । यही कारण है कि जायसी की प्रेम-पद्धति में लौकिक प्रेम और आध्यात्मिक प्रेम तथा इश्क मजाजी तथा इश्क-हकीकी दोनों का सफल सम्मिश्रण मिलता है ।

जायसी ने वैसे अपने पद्मावत के अन्त में इस बात की सूचना दी है कि यह जो कथा है वह मानवीय प्रेम की कथा न होकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है । जीवात्मा रूप धारण करने वाला रत्नसेन, ब्रह्म रूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन कष्टों का सामना करता है, वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयां हैं । जायसी ने लिखा भी है:—

मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा ।।
चौदह भुवन जो तर ऊपर ही। ते सब मानुष के घट मांही ।।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदिमिनि चीन्हा ।।
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।।
नागमती यह दुनियां धंधा। बांचा सोइ न रगई नित बन्धा ।।
राघवदूत सोई सैतानू। माया अलादीन सुलतानू ।।
प्रेमकथा इहि भांति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु ।।
तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि मह मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि ।।

अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय-कथा साधारण मानवीय प्रेम की कथा न होकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है। जीवात्मा रूप रत्नसेन, ब्रह्म रूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिए जिन जिन कष्टों का सामना करता है वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयां हैं। सिद्धि को प्राप्त करने के हेतु इन सभी विषम स्थलों से प्रत्येक सूफी साधक को गुजरना पड़ता है। सूफी साधना में जगत और प्रकृति का बहिष्कार नहीं हुआ है, वरन उसके कण कण में ब्रह्म के अपरिमित सौन्दर्य का दर्शन किया गया है। जीवन और जगत का सौन्दर्य उस परम ब्रह्म का सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से ही पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन समस्त सूफी साधकों और कवियों को अभिप्रेत रहा है। जायसी उन सभी कवियों के शिरोमणि हैं। पद्मावत के विविध संदर्भ और स्थल इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

कुछ विद्वान उपर्युक्त उद्धरण को प्रक्षिप्त मानते हैं, (मैं एहि अरथ......आदि) किन्तु जो इसे स्वीकार करके प्रामाणिक मानते हैं, वे इसी आधार पर इसे अन्योक्ति सिद्ध करते हैं। पदमावत असल में अन्योक्ति न होकर समासोक्ति है। पदमावत की प्रेमपद्धति के प्रसंग में तो यह बात सच है कि इसमें आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना मिलती है किन्तु इसके अतिरिक्त इस काव्य में और भी अनेक स्थल हैं जहां अलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पद्मावत में जो सौन्दर्य प्रधान स्थल हैं वे सब बड़े मधुर हैं। जीवन और जगत का सौन्दर्य भी उसी ब्रह्म की अनुभूति है। समस्त सूफी कवियों की यह धारणा रही है कि वे लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन करने की ओर विशिष्ट भाव से आकर्षित हो सकते हैं।

पद्मावत के प्रमुख स्थलों में जो अलौकिक सत्ता की ओर संकेत करते हैं, प्रेम ही हैं किन्तु कुछ अन्य स्थल भी हैं यथा—

१. सिंहल द्वीप वर्णन में
२. प्रकृति वर्णन में
३. रूप वर्णन में
४. मानसरोवर खण्ड
५. मिलन के समय का वर्णन
६. सखियों का वार्तालाप

७. विरह वर्णन (नागमती आदि का वर्णन)

८. सम्पूर्ण प्रेम कथा में यह सांकेतिक व्यंजना अनुस्यूत है।

प्रेम कथा—"जायसी का झुकाव सूफी मत की ओर था जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक भेद न माना जाने पर भी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की जाती है।" इस सिद्धान्त के आधार पर पद्मावत की प्रेम कहानी बीच-बीच में अलौकिक सत्ता की ओर संकेत करती जान पड़ता है, प्रेम की गम्भीरता और व्यापकता, अनन्तता की ओर अग्रसर दिखाई देती है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबंधों से परे होकर आध्यात्मिक स्रोत में जाता दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है। क्या संयोग का और क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है, जिसमें जगत् के समस्त व्यापार उसकी छाया से प्रतीत होते हैं। वियोग पक्ष में जब कवि लीन होता है तो सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सब उसी परम विरह में जलते और चक्कर लगाते दिखाई देते हैं, प्राणियों का लौकिक वियोग जिसका आभास मात्र है—

विरह के आगि सूर जरि कांपा। रातिउ दिवस जरै ओहि तापा॥

प्रणय कथा के अनन्तर ही लौकिक सौन्दर्य का वर्णन, रूप-वर्णन, या नख-शिख वर्णन अलौकिक सौन्दर्य की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि सभी स्थलों पर ऐसा नहीं हो सका है। जहां भी है वहां अन्योक्ति मानना व्यर्थ है क्योंकि ये स्थल कथा के ही अंग हैं। इस प्रकार "इन स्थलों के वाच्यार्थ को अप्रस्तुत नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिए।" पद्मावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं। जहां भी ये संकेत हैं वहां कथा पक्ष प्रधान है, हां, उससे कोई दुहरा अर्थ ध्वनित हो जाय यह बात अलग है।

सिंहल द्वीप वर्णन खंड में लौकिक से अलौकिक की व्यंजना जायसी ने की है। जायसी ने जहां भी अवसर पाया है वहीं पर इस अलौकिक अर्थ को ला पटका है। जायसी की यह बड़ी भारी विशेषता है कि इस प्रकार के अवसरों को हाथ से नहीं जाने देते हैं। योग मार्ग में सिद्धि प्राप्ति के पूर्व आनन्द का आविर्भाव होता है, अनहद नाद सुनाई पड़ता है; ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है और सम्पूर्ण वातावरण जैसे दैवी सुगन्ध से भर जाता है। जायसी ने इस प्रकार के वर्णन किये हैं सिंहलद्वीप के वर्णन में। देखिये, कवि कहता है—

नव पौरी पर दसवं दुवारा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी।
पहर-पहर सों आपनि बारी॥
जबहि घरी पूजि वह मारा।
घरी-घरी घरियार पुकारा॥

और इनके अतिरिक्त ये पंक्तियां भी देखिए—

नव पौरी बांकी नव खण्डा।
नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा।।
नित गढ़ बांचि चलै ससि सूरू।
नाहिं त होत बाजि रथ चूरू।।
फिरहिं पांच कोटवार सु-भौंरी।
कांपै पांव चपत वह पौरी।।
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाई।
जगमगहिं गढ़ ऊपर ताई।।
नवौ खण्ड नव पंवरी औ तहं वज्र किवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरे पार।।

इसी प्रकार सिंहलगढ़ का निम्नांकित वर्णन हठयोग के विभागों के अनुसार शरीर का वर्णन है। ("हठयोगी अपनी साधना के लिए शरीर के भीतर तीन नाड़ियां मानते हैं। मेरुदण्ड या रीढ़ की बाईं ओर इला और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। स्वरोदय के अनुसार बांए नथने से जो सांस आती जाती है, वह इला नाड़ी से होकर और दाहिने नथने से होकर जो सांस आती जाती है वह पिंगला से होकर आती है। यदि श्वास कुछ क्षण दाहिने ओर कुछ क्षण बाएं नथने से निकले तो समझना चाहिए कि वह सुषुम्ना नाड़ी से आ रही है। मध्यस्था सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्म स्वरूप है और उसी में जगत अवस्थित है। बिना इन नाड़ियों के ज्ञान के, योगाभ्यास में सिद्धि नहीं होती। जो योगाभ्यास करना चाहते हैं वे पहले इला फिर पिंगला और उसके अनन्तर सुषुम्ना को साधते हैं। सुषुम्ना के सबसे नीचे के भाग में, नाभि के नीचे, योगी, कुंडलिनी मानते हैं। इसे जगाने का प्रयत्न वे करते हैं। जाग्रत होने पर कुंडलिनी, चंचल होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर भीतर सिर की ओर चढ़ने लगती है। छः कमल और बारह चक्रों को पार करती हुई ब्रह्मरंध्र या मूर्द्ध-ज्योति तक चली जाती है। जैसे-जैसे वह ऊपर को चढ़ती जाती है, योगी के सांसारिक बन्धन ढीले पड़ते जाते हैं। यहां तक कि ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर मन और शरीर से उसका सम्बन्ध छूट जाता है और साधक पूर्ण समाधि या तुरीयावस्था को प्राप्त करता है तथा ब्रह्म में लीन या मग्न हो जाता है।")

वर्णन इस प्रकार है :—

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया।।
पाइय नाहि जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हें।।
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहिं पांच कोटवारा।।
दसवें दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बांका।।
भेदै जाइ कोइ वह घाटी। जो लह भेद चढ़ै होइ चांटी।।
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि मांहाँ। तहँ वह पंथ, कहौं तोहि पाहां।।
दसवें दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिष्टि जो लाव सो देखा।।

इसमें नौ पौरी नाक, कान, मुँह आदि नव द्वार हैं। दशमद्वार ब्रह्मरंध्र है जिसके पास तक पहुंचने में बहुत से विघ्न या अंतराय पड़ते हैं। पांच कोतवाल काम क्रोध, आदि विकार हैं। गढ़ के नीचे का कुंड नाभि कुंड है

जहां कुंडलिनि है। इस नाभि कुंड से गई हुई सुरंग सुषुम्ना नाड़ी है जो ब्रह्मरंध्र तक चली जाती है। वह ब्रह्मरंध्र बहुत ऊंचे पर है, वहां तक पहुंचना अत्यन्त कठिन है। संसार से अपनी दृष्टि हटाकर जो उसकी ओर निरंतर ध्यान लगाये रहता है वही साधक वहां तक पहुंच सकता है। स्पष्ट है कि कवि ने सिंहलद्वीप के वर्णन प्रसंग में अलौकिक या आध्यात्मिक संकेत सूत्र दिये हैं।

प्रकृति वर्णन के संदर्भ में भी यह तथ्य भुलाया नहीं जा सकता है। प्रकृति की सूक्ष्म और बहुरंगी तसवीरों में हम अलौकिक संकेतों को पाते हैं। बारहमासा वर्णन या मानसरोवर की प्रकृति और स्थान—स्थान पर कहे गये सुन्दर कथन इसे प्रमाणित करते हैं। कमल का प्रसंग अप्रस्तुत है और विरहिणी की दशा प्रस्तुत है।

कँवल जो विगसा मानसर, विनु जल गयउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिर पलु हैं, जो पिय सींचै आइ॥

सृष्टि के नाना पदार्थ रूप, रस, गंध आदि का जो विकास है—सौन्दर्य और माधुर्य है वह मानो उस अनन्त ब्रह्म का ही प्रकाश है तथा उसके ही पास पहुँचने का साधन है—

पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा।
मकु हिरकाई लेहि हम्ह पासा॥

पद्मावती का रूप वर्णन भी लौकिक से अलौकिक सत्ता का आभास देता है। नायिका पद्मावती अपरिमित सुन्दरी है। उसके सौन्दर्य में जायसी ने उस परम प्रियतम के अपार सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। वह ब्रह्म की प्रतीक है। पद्मावती क्योंकि ब्रह्म का अंश है इसलिए उसमें जो अंश है और दीप्ति है वह बहुत विशाल विराट और गंभीर है। पद्मावती का सौन्दर्य देखिये तो सही, उससे रवि, शशि और नक्षत्रों को भी आभा प्राप्त है। कवि ने लिखा है-

जेहि दिन दसनज्योति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई॥
रवि, ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि ओहि जोति ओरु को दूजी॥
विहँसत हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे भराक्कि॥
दारिवँ सरि जो न कै सका, फाटेऊ हिया दरक्कि॥

वास्तव में इस काव्य में जो सौन्दर्य वर्णन है वह प्रेम के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। तोते द्वारा पद्मावती के मादक सौन्दर्य का वर्णन सुनकर ही रत्नसेन उसकी प्राप्ति के निमित्त लालायित होता है और उसकी यह लालसा धीरे-धीरे पूर्वराग तथा परिपक्व प्रेम में बदल जाती है। यदि तोते ने रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के अपार और अद्भुत सौन्दर्य का उद्घाटन न किया होता तो शायद इस प्रेम कथा का श्री गणेश ही न हो पाता।

तोते द्वारा किया गया पद्मावती के बालों का वर्णन भी आध्यात्मिक व्यंजना से परिपूर्ण है। लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते करते कवि की दृष्टि किस प्रकार उस चरम सौन्दर्य की ओर जा पड़ती है, यह रूप-सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग में भली भांति देखा जा सकता है। उसकी वेणी, अलकावली का बिखुरना और उसका परिणाम परमात्मा के प्रभाव से कम नहीं है तथा उसकी

झलक सृष्टि के वृक्ष, वल्ली, पशु-पक्षी, पृथ्वी आकाश सभी को प्राप्त है। सभी के हृदय में मानो उसी पद्मावती की दृष्टि कोर गड़ी हुई है, सभी उसके विरह में लीन हैं। कवि के ये दोनों ही वर्णन देखिये, जिनमें लौकिक सौन्दर्य वर्णन के साथ ही अलौकिक वर्णन की ओर कवि किस प्रकार झुक गया है—

भँवर केस, वह मालति रानी। विसहर लुरहिं लेहिं अरघानी ॥
बेनी छोरि झार जौं वारा। सरग पतार होइ अँधियारा ॥
कोवँर कुटिल केस नग कारे। लहरान्हि भरे भुअंग विसारे ॥
बेधे जानु मलैगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा ॥
अस फँदवारे केस वे राजा। परा सीस गियें फाँद ॥
अस्टौ पुरी नाग ओरभावे। भै केसन्हि के बांद ॥

और उस पद्मावती की ओर दृष्टि करें—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। वेधि रहा सगरो संसारा ॥
गगन नखत जो जाहि न गनै। वे सब बान ओहि के हनै ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोवं रोव मानुस तन ठाढ़े। सूनहि सून वेध अस गाढ़े ॥
बरुनि बान अस ओपह-वेघे रन, वन ढांख।
सौजहि तन सन रोवाँ पांखिहि तत सब पाँख ॥

मानसरोवर वर्णन प्रसंग में भी लौकिक से अलौकिक की गंभीर व्यंजना देखी जा सकती है। मानसरोवर पर सखियां नैहर सुख और प्रेम का महत्व बतलाती हैं किन्तु वह वर्णन आध्यात्मिक संकेतों से युक्त है। 'नैहर' से तात्पर्य संसार से है। जीव को इस संसार में चार दिन ही रहना है, फिर परलोक गमन करना है। यहां, संसार रूपी मानसरोवर में, जीव को अनेक आमोद-प्रमोद के साधन हैं, पर अन्त में उसे पार अवश्य करना है, जहां प्रियतम परमेश्वर है। सास ननद के कटु वचन से तात्पर्य कर्मों को गणना से है और जीवन गुणावगुणों की आलोचना से भी है। मुसलमानों के मतानुसार पुनर्जन्म नहीं होता है, इसी कारण जायसी ने लिखा है कि 'दारुण ससुर' आने नहीं देता है—

ए रानी! मन देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जो लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गौनव काली। कित हम कित यह सरवर पाली ॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलकै खेलब एक साथा ॥
पिउ पियार सब ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निवाह ॥

सखियों का वार्तालाप भी इसी ओर संकेत करता है। उपर्युक्त उदाहरण दोनों कार्य करता है—मानसरोवर का वर्णन भी तथा सखियों की चित्तवृत्ति से व्यंजित आध्यात्मिक चेतना की प्रतीति भी।

मिलन खण्ड या रत्नसेन पद्मावती के मिलन का अवसर जितना मधुर और मनहरण हो सकता था, कवि ने नहीं किया है। वह तो वहां भी योगियों की करामातें और हठयोगियों की सी तात्विक चर्चा ले बैठा है। वास्तव में जायसी ने इस प्रकार के स्थलों पर तो अध्यात्म को जबरदस्ती

वर्णनों से मिलाने की कोशिश की है। राजा रत्नसेन 'धातु' की व्याख्या करता हुआ बौराया सा प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि— सखियों के मुख से धातु कवाइ सिखै ते जोगा' सुनते ही राजा धातुवादियों की तरह वर्णन लगता है जिसमें पाठक या श्रोता का हृदय कुछ भी लीन नहीं होता है।...... ... प्रथम समागम के रस-प्रवाह के बीच 'पारे गंधक और हरताल' का प्रसग अनुकूल नहीं पड़ता।"

विरह वर्णन में भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहां कवि ने आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की है। नागमती के विरह-वर्णन मे विशेषतः यही बात दिखाई देती है। उसके आंसुओं के प्रवाह म समग्र सृष्टि भीगी हुई दिखाई देती है। (इसके लिए पीछे वाला प्रसंग—विरह वर्णन भी पढ़िये।)

इन स्थलों के अतिरिक्त और भी कुछेक स्थल हैं जहां आध्यात्मिक व्यंजना सरलता से हो गई हैं। नागमती जब चाल खेलती है और धोखे से हीरामन तोते को मरवाना चाहती है तो रत्नसेन क्रोधित हो जाता है। नागमती उसे मनाती है। उसके मनाने के प्रसग में भी लौकिक से अलौकिक संकेत देखने को मिलता है। वह कहती है कि हे प्रिय मैं तो तुम्हे अपने ही अन्दर समझती थी, किन्तु तुम तो सर्वत्र व्याप्त हो—

मैं जानउं तुम्ह मोही माहां।
देखौं ताकि तो हो सब पाहो॥
का रानी, का चेरी कोई।
जा कह मया करहु भल सोई॥
तुम सों कोइ न जीता, हारे वररुचि भोज॥
पाहिले आयु- जो खोवै, करै तुम्हारा खोज॥

व्यंजना है कि ईश्वर निर्लिप्त है। उसका आध्यात्मिक प्रणय-प्रकाश घट-घट में समान रूप से समाया हुआ है। साधक परमेश्वर के प्रेम पर एकाधिपत्य नहीं रख सकता है, उसे तो ईश्वर का कृपाकांक्षी रहने का ही अधिकार है। उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता है, उसका प्रेम तो त्याग और बलिदान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

एक दूसरे स्थल पर—पद्मावती के प्रथम मिलन के अवसर पर जब राजा मूर्छित हो जाता है तो उस से पद्मावती को अलौकिक सत्ता का आभास मिलता है। द्वितीय मिलन आध्यात्मिक प्रणय की ओर ही संकेत करता है—

को सोवै को जागे, अस हौं गयउ विमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जह देखौं तह तोहि॥

एक अन्य उदाहरण लीजिए। राजा रत्नसेन जब दिल्ली में कैद हो गये तब रानी पद्मावती इस प्रकार विलाप करती है—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहि पूछहुं, को कहै सदेसू॥
जो कोइ जाइ तहां कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगमपथ पिय तहां सिधावा। जोरे गयऊ सो बहुरि न आवा॥

आचार्य शुक्ल का इस संदर्भ में कथन है कि—"प्रबंध के भीतर ये सारे वाक्य प्रस्तुत प्रसंग का वर्णन करते हैं पर इनमें परलोक यात्रा का अर्थ भी

व्यंग्य है। यहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को अप्रस्तुत मानकर तथा "कोई बिछु जान न" और "बहुरि न आवा" को दिल्ली गमन और परलोक गमन दोनों के सामान्य कार्य ठहराते हुए दिल्ली गमन में परलोक गमन के व्यवहार का आरोप करके हम समासोक्ति ही कह सकते हैं।"

आध्यात्मिकता की परीक्षा—इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने अनेक स्थलों पर योगमार्ग के सहारे अपने अभीष्ट आध्यात्मिक अर्थ को भर दिया है। "इसमें जो प्रेमकथा वर्णित है उसके बीच-बीच में अनेक स्थानों पर ससार की नश्वरता, शरीर की क्षण भंगुरता, साधना की जटिलता तथा प्रेम की सर्वश्रेष्ठता आदि की ओर संकेत करते रहे हैं। लौकिक प्रेमकथा तो उनके आध्यात्मिक विचारों के प्रकट करने का एक माध्यम सी प्रतीत होती है।" इस कथन से सहमत होना कठिन है। यह ठीक है कि लौकिक से अनेक स्थलों पर अच्छे आध्यात्मिक संकेत निकलते हैं किन्तु स्मरणीय यह भी है कि यह समासोक्ति ही हैं क्योंकि जायसी कथा कहने के प्रमुख लक्ष्य से प्रेरित हैं। हां; कुछ प्रसंगों में जायसी ने जो संकेत दिये हैं, उनमें प्रायः जायसी की उक्तियों का अर्थ आध्यात्मिक पक्ष में भी ठीक ठीक बैठ जाता है किन्तु कुछ स्थलों पर नहीं भी बैठता है। इस बात को मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जायसी के अध्यात्म की मूलभावना प्रेम पर आधारित है। 'इश्क मजाजी' के द्वारा ही 'इश्क हकीकी' पर पहुँचा जा सकता है। यही कारण है कि लौकिक कहानी के साथ-साथ जहां भी जायसी को अवसर मिल गया है, वहां वे अलौकिक व्यंजना कर गये हैं।

आध्यात्मिकता से काव्य को भी बड़ी क्षति पहुँची है विशेषकर विरह वर्णन और मिलन प्रसंगों को। इसकी जबरदस्ती ठूंस-ठांस से पद्मावत के अनेक स्थल नीरस भी हो गये हैं। वास्तव में कवि ने इसको कथा के सहारे आध्यात्मिकता का प्रचार न किया होता तो काव्य का व्यक्तित्व और निखरकर सामने आया होता, सरसता से रसिकता में और वृद्धि हुई होती, और काव्य सिद्धान्तों को प्रौढ़ता मिली होती। इस आध्यात्मिकता के तीन परिणाम सामने आये हैं—

१. सरसता विनष्ट हो गई है तथा शुष्कता और अनावश्यक अध्यात्म पाठक को प्रभावित नहीं कर पाता है।

२. कथा बोझिल हो गई है, उसके प्रवाह में विघ्न उपस्थित हो गया है। मिलन प्रसंगों में आये आध्यात्मिक संकेत शर्बत से लबालब भरे गिलास में किरकिराहट बन कर रह गये हैं। इससे अभिव्यक्ति शैथिल्य और अस्वाभाविकता बढ़ गई है।

३. काव्य को पर्याप्त क्षति पहुँची है। काव्य के सुमधुर प्रवाह में अध्यात्म का संतुलित मेल संभव नहीं हो सका है।

पद्मावत की इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता

यह निर्विवाद है कि पद्मावत हिन्दी के उन महाकाव्यों में से हैं जो कि अपनी गंभीरता और विराटता के लिए प्रसिद्ध हैं। जायसी के पद्मावत में इतिहास और कल्पना का जो उचित समन्वय मिलता है वह उसे और

भी गौरव प्रदान कराता है। साधारणतः पद्मावत की कथा को दो भागों में बांटा जा सकता है–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इसी प्रकार ऐतिहासिक और काल्पनिक। रत्नसेन की सिंहलद्वीप तक की यात्रा से लेकर पद्मिनी को लेकर लौटने तक की कथा को हम पूर्वार्द्ध मान सकते हैं। इसके बाद राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक को उत्तरार्ध।

स्मरणीय तथ्य यह है कि इस कथा का पूर्वार्द्ध कल्पना पर आधारित है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक प्रतीत होता है। कवि ने इतिहास और कल्पना को इस प्रकार मिलाया है कि वह पहचाना नहीं जा सकता है।

पद्मावत मे इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता के समुचित संयोग को दो रूपों में देखा जा सकता है—

१. इतिहास और कल्पना का समन्वय करके।
२. वर्णना के बीच-बीच में भाव प्रवण स्थलों के विनियोजन से।

इतिहास को अपनाते हुए भी कवि ने जिस कल्पना को अपनाया है वह कल्पना पद्मावत को रसात्मकता प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है। इतिहास और कल्पना के योग से खड़ी कथा में जो तत्व हैं उन्हें स्पष्टतः ही समझा जा सकता है—गधर्वसेन सिंहल द्वीप का राजा था। उसकी रानी का नाम चम्पावती थी। इनकी जो संतान थी वह पद्मावती थी। पद्मावती शिक्षित और अनिंद्य सुन्दरी सतान थी। उसके पास पालतू हीरामन नामक एक तोता था। पद्मावती उससे सभी प्रकार की बातें किया करती थी। एक बार उसने वर-प्राप्ति की कामना की। राजा को पता चल गया तो उसने तोते को मार डालने की इच्छा प्रकट की। एक बार पद्मावती जल विहार के निमित्त गई और तोता भी उसके साथ ही उड़कर चल दिया। उसके लिए उड़ने के सिवाय और कोई चारा न था। वह उड़ते-उड़ते वन में पहुँच गया और वहां बहेलिये द्वारा पकड़ा गया।

दूसरे पक्ष की कथा में चित्तौड़ के राजा के पुत्र रत्नसेन की कथा आती है। बचपन में ही, उसे ज्योतिषियों ने बताया था कि उसका विवाह पदमावती के साथ होगा। उसने एक बार व्यापारियों से तोता भी खरीदा और नागमती उस से रोज अपना दिल बहलाया करती थी। इसी बीच एक दिन सिंहल की नारियों के प्रसग में पदमावती का प्रसंग भी आया और नागमती उसको सहन न कर सकी। उसने तोते का मार डालने की आज्ञा दी। यह बात किसी प्रकार राजा को विदित हुई। रत्नसेन राजा, पदमावती के रूप-सौन्दर्य का तोते के मुख से वर्णन सुनकर सिंहलद्वीप के लिए योगी के वेश में चल पड़ा। मार्ग में अनेक कष्टों को झेलता हुआ वह सिंहल पहुंचा और वहां शिव के मंदिर में उसे पहले पहल पदमावती के दर्शन हुए। वह उसे देखते ही मूर्छित हो गया। पदमावती ने उसके हृदय पर अंकित कर दिया कि योगी तूने भीख लेना नहीं सीखा है। जब मिलन की घड़ी आई, तभी तू सोगया। तू अभागा है।

खैर · जैसे तैसे इन दोनों का विवाह हुआ। विवाहोपरांत महल के सातवें दरवाजे पर उनकी सुहाग रात का आयोजन किया गया। पदमावती ने भी संकोच दूर करके सुखपूर्वक रति क्रीड़ा की। उधर नागमती प्रियतम (पति) रत्नसेन के वियोग में जैसे तैसे अपना समय बिता रही थी। कवि ने उसके

जीवनयापन और विरह-घड़ियों का बड़ा संवेदनापूर्ण वर्णन किया है। (जानकारी के लिए पिछले पृष्ठों में इस संदर्भ को पढ़िये—नागमती विरह वर्णन)। रत्नसेन पर्याप्त धन-धान्य लेकर अपने देश को चल पड़ा। रास्ते में समुद्र मे जहाज डूब गया और दोनों बिछुड़ गये पर सयोगवश दोनों का मिलन भी तत्काल ही हो गया। चित्तौड़ पर पहुंच कर बहुत से उत्सव मनाये गये।

यहां तक जो कथा है वह पूर्वार्द्ध की कथा है जिसकी ऐतिहासिकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। यहां कवि की कल्पना ने बड़े उर्वर कल्पनाचित्रों की समष्टिगत योजना प्रस्तुत की है। उत्तरार्ध में जो कथा है उसका सम्बंध भी पूर्वार्द्ध की कथा स बड़े सुन्दर ढंग से जोड़ा गया है। उत्तरार्ध की कथा इस प्रकार है—

"चित्तौड़गढ़ के दरवार में राघव चेतन नाम का एक पण्डित था जिसे पक्षिणी सिद्ध थी। दरबार में एक दिन विवाद हो गया। राजा ने उसे देश से निकालने की आज्ञा दे दी। राघव चेतन दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन से जा मिला और उसे पदमावती के लिए बहकाया। बहकावे में आकर अलाउद्दीन ने पदमावती के लिए प्रस्ताव भेजा। रत्नसेन इस स बड़ा क्रोधित हुआ। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा, सन्धि भी हुई तो कुछ शर्तों पर। राजा ने अलाउद्दीन को साथ घूम-घूम कर महल दिखाया। पदमावती की छाया दीख जाने के कारण उसके मन में फिर वासना जाग्रत हो गई। भारतीय परपरानुसार रत्नसेन उसे द्वार तक पहुंचाने आया किन्तु रत्नसेन को कैद कर लिया गया। आगे चलकर देवपाल से उसका युद्ध हुआ और उस युद्ध में वह वीर गति को प्राप्त हो गया। पदमावती और नागमती दोनों ही सतियां हो गईं।

ऐतिहासिकता—इस कथा का उत्तरांश ऐतिहासिक है। इसके लिए टाड के राजस्थान में दिये गये चित्तौड़गढ़ के आक्रमण को पढ़ने से पता चलता है कि विक्रम संवत् १३३१ में लखनसी चित्तौड़ के सिंहासन पर जा बैठा। उसकी आयु छोटी थी, इस नाते उसके स्थान पर उसका चाचा भीमसी ही राज्य करता था।

भीमसी का विवाह सिंहल के चौहान राजा हम्मीर शक की कन्या पदमिनी से हुआ था जो रूप-गुण में जगत में अद्वितीय थी। उसके रूप की ख्याति सुन कर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई की। घोर युद्ध के उपरान्त अलाउद्दीन ने संधि का प्रस्ताव भेजा कि मुझे एक बार पदमिनी के दर्शन हो जायें तो मैं दिल्ली लौट जाऊं। इस पर यह ठहरी कि अलाउद्दीन दर्पण में पदमिनी की छाया मात्र देख सकता है। इस प्रकार युद्ध बंद हुआ और अलाउद्दीन बहुत थोड़े सिपाहियों के साथ चित्तौड़गढ़ के भीतर लाया गया। अलाउद्दीन जब दर्पण में छाया देख कर वापस जाने लगा तब राजा उसे विश्वास सहित गढ़ के बाहर तक पहुँचाने आया। बाहर अलाउद्दीन के सैनिक घात में पहले से ही तैयार थे। ज्यों ही राजा उसके साथ आया वह पकड़ लिया गया और मुसलमानों के शिविर में लाकर कैद कर लिया गया। राजा को कैद करके, पदमिनी को लेने की सोची गई। युद्ध हुआ और वह (पदिमनी) रत्नसेन को गोरा तथा बादल की सहायता से छुड़ा लाई। दूसरे युद्ध में महाराणा अपने पुत्रों सहित मारे गये और रानी ने जौहर कर डाला।

टाड का यह वृत्त राजपूताने में रक्षित चारणों के इतिहास पर आधारित है, दो चार ब्यौरों को छोड़ कर ठीक यही वृतान्त 'आइने अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी के नाम से मिलता है। रतनसी के मारे जाने का ब्यौरा भी दूसरे ढग पर है। 'आइने अकबरी' में लिखा है कि अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में भी हार कर लौटा। वह लौटकर चित्तौड़ से सात कोस पहुंचा था कि रुक गया और मैत्री का नया प्रस्ताव भेज कर रतनसी को मिलने के लिए बुलाया। रतनसी ने बार-बार की दिक्कत को टालने के लिए मिलना स्वीकार कर लिया। वह मिलने आया और धोखे से मार डाला गया। उसका सम्बन्धी आरसी चटपट चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठाया गया। अलाउद्दीन चित्तौड़ फिर लौटा तथा अधिकार कर लिया। आरसी मारा गया और पदमिनी सभी स्त्रियों सहित सती हो गई।

काल्पनिक—अपनी कथा को काव्योपयोगी स्वरूप प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं के ब्यौरों में कुछ हेर फेर करने का अधिकार कवि को बराबर रहता है। जायसी ने भी इस अधिकार का प्रयोग कई स्थलों पर किया है। सबसे पहले तो हमें राघवचेतन की कल्पना मिलती है। इसके उपरांत अलाउद्दीन के चित्तौड़गढ़ घेरने पर संधि की शर्त जो (समुद्र से पाई हुई वस्तुओं को देने की) अलाउद्दीन की ओर से पेश की गई थी वह भी कल्पित है। इतिहास में पदमिनी को दर्पण में देखने की शर्त प्रसिद्ध है, पर दर्पण में प्रतिबिम्ब देखने की बात जायसी ने आकस्मिक घटना के रूप में वर्णन की है। इतना परिवर्तन कर देने से रत्नसिंह के गौरव की रक्षा हुई है। पदमिनी की छाया भी दूसरे को दिखाने पर तैयार हो जाना; रत्नसिंह के लिए कवि ने अच्छा नहीं समझा है। तीसरा परिवर्तन कवि ने यह किया है कि अलाउद्दीन के शिविर मे रतनसेन के बंदी होने के स्थान पर दिल्ली में बंदी होना लिखा है। रतनसेन को दिल्ली ले जाने से कवि को दूती और जोगिन के वृतान्त, रानियों के विरह और विलाप, तथा गोरा-बादल के प्रयत्न, विस्तार से वर्णन करने का पूरा अवकाश मिला है। इस अवकाश के भीतर जायसी ने पदमिनी के सतीत्व की मनोहर व्यंजना के अनंतर बालक बादल का वह क्षात्र-तेज तथा कर्त्तव्य की कठोरता का वह दिव्य और मर्मस्पर्शी दृश्य दिखाया है जो पाठक के हृदय को द्रवीभूत कर देता है। देवपाल और अलाउद्दीन का दूती भेजना तथा बादल का उसकी स्त्री का संवाद,ये दोनों प्रसंग इसी निमित्त कल्पित किये गये हैं। देवपाल कल्पित पात्र है। पीछा करते हुए अलाउद्दीन के चित्तौड़ पहुंचने के पहले ही रतनसेन का देवपाल के हाथों मारा जाना और अलाउद्दीन के हाथ से न पराजित होना दिखाकर कवि ने अपने चरित नायक की आन रखी है। (आचार्य शुक्ल की जायसी ग्रंथावली से उद्धृत।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक कथावस्तु के चार केन्द्र मुख्य रूप से बनते हैं–नागमती, पदमावती, रतनसेन और अलाउद्दीन। स्थानों में तीन नाम आते हैं–चित्तौड़, सिंहलद्वीप और दिल्ली। नागमती चित्तौड़ के राजा रतनसेन की विवाहिता थी। पदमावती पहले प्रेयसी थी फिर विवाहिता बन गई। सिंहल, चित्तौड़ और दिल्ली तीनों ही ऐतिहासिक स्थान हैं, किन्तु जायसी द्वारा चित्रित सिंहल, ऐतिहासिक सिंहल (अथवा वास्तविक सिंहल-लंका द्वीप) नहीं हो सकता है क्योंकि वहां के लोग अत्यन्त काले-कलूटे होते

हैं। अपूर्व सुन्दरी पदमावती सिंहल (लंका द्वीप) की नहीं हो सकती है। सिंहल में पदमिनी की कल्पना गोरख पंथी साधुओं की कल्पना की उपज है।

कथा के उत्तरार्ध अंश का ऐतिहासिक परीक्षण कर लेने के उपरांत अब हम पूर्वार्द्ध की ओर चलते हैं। पूर्वार्द्ध की कथा के सम्बन्ध मे छानबीन करने से यह पता चलता है कि अवध प्रांत में पद्मिनी रानी और हीरामन सुए की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है। इतिहास की जानकारी रखने के कारण जायसी ने रत्नसिंह, अलाउद्दीन आदि नाम दिये हैं, पर कहानी कहने वाले नाम नहीं लेते हैं, केवल एक राजा था, दिल्ली का बादशाह था, इत्यादि। यह कहानी बीच बीच में गा–गा कर कही जाती है। जैसे राजा की पहली रानी जब दर्पण में अपना मुंह देखती है तब सुए से पूछती है कि—

है कोई एहि जगत मंह, मोरे रूप समान।

सुआ उत्तर देता है—

काह बखानौं सिंहल की रानी। तोरे रूप भरै सब पानी॥

यह अनुमान किया जाता है कि जायसी ने उसी प्रचलित कहानी को लेकर बीच-बीच में सूक्ष्म मनोहर कल्पना करके, उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दे दिया। इस कहानी को कई लोगों ने काव्य का रूप दे दिया, जैसे—

१. हुसैन गजनवी—किस्साए पद्मावत (फारसी काव्य)

२. रायगोविंद मुंशी—तुहफतुल कुलूब (फारसी गद्य)

३. मीर जियाउद्दीन तथा गुलाम अली—उर्दू शेरों में लिखा।

अतः पूर्वार्द्ध की कथा काल्पनिक होते हुए भी ऐतिहासिक सम्भावनाओं से युक्त है।

सम्बन्ध निर्वाह—सम्बन्ध निर्वाह की दृष्टि से देखने पर भी पद्मावत की कथा खरी उतरती है। प्रबन्ध काव्य की सबसे बड़ी विशेषता सम्बन्ध निर्वाह पर ही अवलम्बित है। कथा के सभी प्रसंग अवान्तर कथायें और घटनाएं मुख्य कथा से सम्बन्धित होनी चाहिए। पद्मावत में यही सब देखने को मिलता है। सभी प्रासंगिक कथाएं और वस्तु वर्णनों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं, उदाहरण के लिए हीरामन तोता की कथा। कवि ने उसके पांडित्य और पथ-प्रदर्शन कार्य की महत्ता को प्रदर्शित किया है, जिससे वह आगे चलकर राजा रत्नसेन और पदमावती को मिलाने में सहायक सिद्ध होता है। महादेव और पार्वती के आगमन की कथा द्वारा कवि ने भारत की प्राचीन परम्परा के साथ अपनी कथा का सम्बन्ध स्थापित किया है। समुद्र और लक्ष्मी के वृतान्त द्वारा कवि ने पुनः मार्ग की बाधाओं के साथ-साथ नायक और नायिका के अनन्य प्रेम की परीक्षा का अवसर निकाल लिया है, जिसमें नायक उत्तीर्ण होकर नायिका को पुनः प्राप्त कर लेता है। राघव के वृतान्त द्वारा कवि ने पुनः प्रेम मार्ग की बाधाओं का उल्लेख करके अलाउद्दीन के आक्रमण तथा राजा के बंदी होने के द्वारा नायक-नायिका के बिछोह का अवकाश निकाल लिया है, तथा देवपाल और उसकी दूती के वर्णन द्वारा नायिका के प्रेम की दृढ़ता का विवेचन किया है। स्पष्ट है कि सभी कथाएं मुख्य कथा को आगे

बढ़ाती है तथा सम्बन्ध निर्वाह की दृष्टि से पद्मावत एक सफल प्रबन्ध काव्य ठहरता है।

इतिवृत्तात्मक और रसात्मक

सामान्यतः पद्मावत की कथा वर्णन प्रधान है। इसमें घटनाओं के वाहुल्य के साथ-साथ वर्णन-बाहुल्य भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। प्रारम्भ से ही वर्णनों की भरमार प्रारंभ हो जाती है। कवि जायसी को जैसे ही कहीं थोड़ा बहुत अवसर मिलता है वैसे ही उनकी बहुमुखी प्रतिभा वर्णनों का अम्बार लगा देती है। ये वर्णन कहीं सघन या संश्लिष्ट हैं तो कहीं विरलता लिए और हल्कापन लिए हुए भी हैं। वर्णनों की अतिरेकता ने अनेक स्थलों को शुष्क और नीरस बना दिया है तो अनेक स्थलों पर रसमयता भी आ गई है। नीरसता और रसहीनता को द्योतित करने वाले स्थल वे हैं जो परिगणनात्मक शैली में वर्णनों को प्रस्तुत करते हैं या उस अवसर पर कवि ने मुख्य घटना को छोड़कर वर्णन को महत्व प्रदान कर दिया है।

पद्मावत एक महाकाव्य है। अतः इस दृष्टि से उसमें इतिवृत्तात्मक शैली या वर्णन शैली को प्राथमिकता मिल जाना स्वाभाविक है, किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि कवि को इन वर्णनों की ओर जागरूक दृष्टि रखनी चाहिए। प्रत्येक समर्थ और प्रतिभा सम्पन्न कवि को वर्णन पटु होना अनिवार्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों में यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि उसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रातः, मध्यान्ह, मृगया, संभोग, विप्रलंभ, रण प्रयाण, पुत्रजन्म इत्यादि घटनाओं तथा पर्वत, सागर, आकाश, नगर आदि प्राकृतिक तत्वों का यथायोग्य और सांगोपांग वर्णन होना चाहिए—

"संध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलतुर्वन सागराः
संभोग विप्रलभौ च मुनि स्वर्गपुरा ध्वराः
रणप्रयाणोपयम् मंत्र पुत्रोदया दयः
वर्णनीया यथायोगः सांगोपांगा अमीदशः"

इस दृष्टि से यदि पद्मावत में वर्णनातिरेक है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वर्णन की दो शैलियां प्रचलित हैं—

१. बिम्ब ग्रहण शैली।
२. वस्तु परिगणन शैली।

वस्तु वर्णनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना सकते हैं। वस्तु वर्णन या इतिवृत को पद्मावत में बिम्ब ग्रहण शैली के माध्यम से व्यक्त किया गया है। किन्तु इसका प्रयोग बहुत कम मिलता है। इन्होंने जहां-जहां वस्तु वर्णन किया है वहां-वहां भाषा कवियों की पृथक्-पृथक् वस्तु परिगणन वाली शैली ही पर अधिकतर किया है।

वस्तु वर्णन में जायसी ने घटनाचक्र के बीच उपयुक्त स्थलों का चुनाव किया है और उनका विस्तृत वर्णन अधिकतर भाषा कवियों की पद्धति पर होते हुए भी बहुत ही भावपूर्ण है। पद्मावत के वर्णन सामान्यतः जो इतिवृत्तात्मक और एकात्मक हैं, निम्नलिखित हैं —

१. रूप-वर्णन।

२. भाव-वर्णन ।
३. घटना वर्णन ।
४. प्रकृति वर्णन ।

रूप वर्णन—पद्मावती का रूप-वर्णन इतिवृत्तात्मक होकर भी रसात्मक है। दो स्थलों पर यह देखने को मिलता है—१. हीरामन द्वारा रत्नसेन के प्रति पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन। २. राघवचेतन द्वारा दिल्ली में अलाउद्दीन के समक्ष पद्मावती के रूप का वर्णन। इन दो स्थलों के अतिरिक्त पद्मावती के रूप-वर्णन को मानसरोवर में स्नान करते समय पद्मावती का रूप वर्णन, रत्नसेन पद्मावती भेंट के समय पद्मावती के शृंगार का वर्णन तथा अलाउद्दीन द्वारा पद्मावती का रूप-दर्शन और उसका वर्णन। एक उदाहरण देखिये—

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।।
ओ नए मेघ परी जग छांहा। ससि की सरन लीन्ह जनु रांहा।।
... ...
पाये रूप रूप जस चहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।।

भाव वर्णन—"भाव वर्णन के अन्तर्गत पात्रों की मानसिक दशाओं, मन में उठने वाले विचारों, संकल्पों, परिस्थितिजन्य संकल्पों इत्यादि की अभिव्यक्ति करना कवि कर्म में प्रमुख है। पद्मावत के कथानक में वैविध्य है। ...कवि द्वारा मानव जीवन की ऐसी परिस्थितियों के वर्णन, अनुभूति की तीव्रता और सत्यता की अपेक्षा रखते हैं तथा जायसी में इन तत्वों का प्राचुर्य है। अनेक घटनाओं और परिस्थितियों के बीच जायसी ने अपने पात्रों की मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की है।" रत्नसेन को वर रूप में बारात लेकर आते हुए देखकर पद्मावती की जो आनंदातिरेक की स्थिति होती है, उसका वर्णन कितना मनोरम है:—

हुलसे नैन दरस मदमाते।
हुलसे अधर रग रस राते।।
हुलसा वदन ओपि रवि आई।
हुलसा हिया कंचुकि न समाई।।

प्रथम समागम से सशंकित पद्मावती का चित्र भी सुन्दर है:—

हौं सो बारि औ दुलहिनि, पिय सो तरुन औ तेज।
नहि जानौं कस होइहि, चढ़त कत की सेज।।

पद्मावती और नागमती के सती होने के पश्चात् सुलतान के हाथ निराशा की राख लगी, सुल्तान की तज्जन्य मनोस्थिति का कितना स्वाभाविक वर्णन जायसी ने किया है—

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी।
दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी भूठी।।
जो लगि ऊपर छार न परई।
तब लग नाहि जो तिस्ना मरई।।

इस प्रकार के और भी अनेक भाव वर्णन इस कृति में मिलते हैं जो रसात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

घटना वर्णन—आचार्य शुक्ल का कथन है–"जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है, वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा प्रवाह के बीच बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है।' शुक्लजी के अनुसार पद्मावत में अनेक स्थल ऐसे हैं--मायके में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का विलाप, प्रेम मार्ग के कष्ट, रत्नसेन के लिए सूली की व्यवस्था, इस संवाद से पद्मावती की करुण सहानुभूति, रत्नसेन पद्मावती संयोग, सिंहल से लौटने पर मार्ग में समुद्र की घटना, नागमती का वियोग वर्णन, युद्ध प्रस्थान, दूती से पद्मावती के सतीत्व-गौरव की रक्षा करना, पद्मावती और नागमती का उत्साहपूर्ण सहगमन, चित्तौड़ की यात्रा करना इत्यादि। उदाहरण के लिए गोरा बादल युद्ध की घटना कदाचित् पद्मावत की सर्वाधिक प्रभावोत्पादक घटना है, जिसका वर्णन भी कवि ने बड़े ही समर्थ शब्दों में किया है:—

सबहिं कटक मिलि गोरा छेका।
गुंजर सिंह जाइ नहिं टेका॥
जेहि दिसि उठैं सोइ दिसि खावा।
पलटि सिंह तेहि ठायन्ह आवा॥

गोरा बादल और अलाउद्दीन युद्ध का वर्णन भी बड़ा सजीव और प्रभावकारी है। कवि ने लिखा है—

ओनई घटा चहुं दिसि आई। छूटहिं बान मेघ झरि लाई॥
हाथन्ह गहे खडग हरद्वानी। चमकहि सेल बीजु की बानी॥
रुण्ड मुण्ड अब टूटहि, स्यो बखतर औ कूड।
तुरय होइहिं बिनु कांधे, हस्ति होइहिं बिन सूंड॥

इसी प्रकार गोरा और उसके दल की वीरता का वर्णन भी बड़ा भव्य बन पड़ा है—

भइ बगमेल सेल घनघोरा। औ गजपेल अकेल सो गोरा॥
सहस कुंवर सहसौ सत बांधा। भार पहार जूझकर कांधा॥
लगे मरै गोरा के आगे। बाग न मोर घाव मुख लागे॥
जैसे पतंग आगि धंसि लेई। एक मुवै दूसर जिउ देई॥

पद्मावती और नागमती के सहगमन की घटना भी पूर्णतः रसात्मक है। इसमें संसार की असारता का भव्य चित्र है—

लागि कंठ आगि दै होरी। छार भई जरि अंग न मोरी॥
राती पिय के नेह गई, सरग भयउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोउ संसार॥

प्रकृति वर्णन की रसात्मकता भी अविस्मरणीय है। इसका स्वतन्त्र विवेचन किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्मावत के वर्णन पूर्णतः नहीं, तो अधिकांशतः रसात्मकता और इतिवृत्तात्मकता के संगम हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'पद्मावत' के घटनाचक्र के भीतर प्रेम-वियोग, माता की ममता, यात्रा का कष्ट, विपत्ति, आनंदोत्सव, युद्ध, जय, पराजय आदि के साथ-साथ विश्वासघात, वैर, छल, स्वामि-भक्ति

पतिव्रत, वीरता आदि का भी विधान है पर पदमावत, शृंगार रस प्रधान काव्य है। इसी से इसके घटना चक्र के भीतर जीवन दशाओं और मानव सम्बंधों की वह अनेकरूपता नहीं है जो रामचरित मानस में है। इसमें रामायण की अपेक्षा बहुत कम मानव दशाओं और सम्बधों का रसपूर्ण प्रदर्शन और बहुत कम प्रकार के चरित्रों का समावेश है। इसका मुख्य कारण यह है कि जायसी का लक्ष्य प्रेम पथ का निरूपण है। जो कुछ हो, यह अवश्य मानना पड़ता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंध काव्य का जैसा घटनाचक्र चाहिए पद्मावत का वैसा ही है। चाहे इसमें अधिक जीवन दशाओं को अंतर्भूत करने वाला विस्तार और व्यापकत्व न हो, पर इसका स्वरूप बहुत ठीक है।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति और मानव का गहन सम्बंध है। मानव प्रकृति की गोद में जन्म लेता है और वहीं पर उसका पालन पोषण होता है। प्रकृति शृंगार और सौन्दर्य का आगार होती है। अनादिकाल से लेकर ही प्रकृति मानव की चिर सहचरी रही है। प्रकृति की गतिविधि और मानव की गतिविधि में प्रकृति प्रारंभ से ही डोलती आई है। कविता में सुन्दर भावनाओं और कल्पनाओं की प्रेरिका के रूप में प्रकृति का सहयोग कभी भुलाया नहीं जा सकता है।

सूफी काव्य में प्रकृति वर्णन मिलता है। जायसी सूफी कवि थे और प्रकृति के कवि थे। उनका हृदय भी प्रकृति की मनोहर और मंजुल कृतियों को देख देखकर मयूर की भांति नृत्य करता हुआ भाव-विभोर हुआ है। जायसी के पदमावत में प्रकृति का सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है। आलम्बन, उद्दीपन और विविध अलंकारों से युक्त कविता में प्रकृति का स्वरूप देखने को मिलता है। प्रकृति के प्रांगण में जायसी के भावुक हृदय ने विविध क्रीड़ाएं की हैं। उनके काव्य में प्रकृति के हृदय ग्राही स्थल हैं। सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव शक्ति का पता इस कृति पदमावत से लग जाता है। सूफी, प्रकृति को परमात्मा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस दृष्टि से प्रकृति उन्हें बड़ी प्रिय है। प्रकृति प्रेम को परमात्मा तक पहुंचाने का साधन मानते हैं। जायसी के प्रकृति प्रेम को कई रूपों में देखा जा सकता है:—

१. आलम्बन रूप में।
२. उद्दीपन रूप में।
३. रहस्यात्मक रूप में।
४. उपदेशात्मक रूप में।
५. प्रतीकात्मक रूप में।
६. मानवीकरण रूप में।
७. वातावरण निर्माण के लिए।
८. संदेश वाहक के रूप में।
९. संवेदनात्मक रूप में।
१०. आलंकारिक रूप में।

प्रकृति प्रेम को व्यक्त करने के लिए निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग भी जायसी ने किया है। ये शैलियां कवि की प्रतिभा का परिचय देती हैं:—

१. परिगणन शैली:—इसमें वस्तु का नाम कथन मात्र ही होता है।

२. रोमांचक शैली:—इनमें वस्तु का अतिशयोक्तिपूर्ण चमत्कारिक वर्णन होता है। साधारण वस्तु को असाधारण और अलौकिक बनाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है।

३. रहस्यवादी शैली:—इसमें कवि योग का, सूफीमत के आधार पर कोई प्राकृत रूप खड़ा करता है।

४. उपमान शैली:—उपमानों के रूप में प्रकृति के अनेक व्यापारों का व्यापक प्रयोग रहता है। इसके कई वर्ग हो सकते हैं—

(अ) जहां उपमान काव्योपयोगिता की दृष्टि से आये हैं।

(ब) जहां उपमान उपदेश देने के लिए या किसी उपदेश को पुष्ट करने के लिए आये हैं।

(स) नखशिख के प्रसंग में।

(द) मानवी भावनाओं के वर्णन में।

(इ) प्रतीक शैली।

वस्तुत उपर्युक्त दोनों ही एक बिन्दु और दृष्टिकोण का हो परिचय देते है अतः इनके बीच विभाजक रेखा खींचना अच्छा नहीं है।

आलम्बन रूप:—पद्मावत में प्रकृति का आलम्बन रूप भी देखने को मिलता है। ' इस प्रकृति का यह चित्र दो रूपों में पाया जाता है—एक तो कवि ने बिम्बग्रहण प्रणाली के आधार पर रम्य और भयंकर रूप में चित्रित किया है तथा प्रकृति के संश्लिष्ट और बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत किये है और दूसरे नाम परिगणन-प्रणाली को अपनाकर प्राकृतिक वस्तुओं के केवल नाम ही गिना दिये गये हैं।" इस कथन के उदाहरण स्वरूप हम मानसरोवर के वर्णन को ले सकते हैं जिसमें निर्मल जल, सुगंधि, सुन्दर घाट, मनोरम सीढ़ियां, उसमें खिले हुए कमलदल आदि का मर्मिक और हृदय—स्पर्शी वर्णन किया गया है—

मान सरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा॥
फनि मोती असि निरमल तासू। अमृत आनि कपूर सुवासू॥
सकदीप कै सिला अनाई। बांधा सरवर घाट बनाई॥

भयानक प्रकृति का चित्र किलकिला समुद्र के वर्णन में देखते ही बनता है। प्रकृति वर्णन के कवि जायसी ने नाम परिगणन प्रणाली का प्रयोग सिंहल-द्वीप वर्णन में किया है। जायसी ने उस स्थल पर समस्त वृक्षों, फलों, फूलों और पशु-पक्षियों के नामों की अच्छी खासी सूची पाठकों को दी है। हम समझते हैं कि यह प्रकृति वर्णन की पद्धति ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार प्रकृति वर्णन का कोई व्यापक और संश्लिष्ट वर्णन सामने नहीं आता है—

फरे आंब अति सघन सुहाये। औ जस फरे अधिक सिरनाये॥
कटहर डार पींड सन पाके। बड़हर, सो अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खांड अस मीठी। जामुन पाकि भंवर अति डीठी॥
नरियर फरे, फरी फरहरी। फरे जानु इन्द्रासन पुरी॥

पुनि महुवा चुम्र अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस वासू।।
और खजहजा अनबन नाऊँ। देखा सब राउन अमराऊँ।।
लवंग सुपारी, जायफल, सब फर फरे अपूर।
आस पास घन इमली, औ घन तार खजूर।।

उद्दीपन रूप:—प्रकृति का उद्दीपन भाव भी पद्मावत में सहज ही प्राप्त होता है। जो प्रकृति मानव की चिर सहचरी है वह उसके मनोभावों के साथ भी सुखद और दुखद रूप में हमारे सामने आती है। रत्नसेन और पद्मावती के संयोग काल के समय प्रकृति का सुन्दर वातावरण देखने को मिलता है। इस वातावरण में प्रकृति की रम्य स्थिति, संयोगकाल के वातावरण को और भी सुखद बना देती है। संयोग की इस स्थिति में दोनों को पृथ्वी और आकाश भी बड़े मधुर प्रतीत होते हैं। बिजली की चमक के साथ बरसता हुआ वर्षा का जल एसा प्रतीत होता है मानो सोना बरस रहा हो, दादुर, मोर आदि के शब्द भी मधुर जान पड़ते हैं और सारा ससार ही हरा भरा दिखाई देता है—

पद्मावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सुहाई।।
चमकि बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।।
रग राती पीतम संग जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी।।
शीतल बूंद, ऊंच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा।।
हरियर भूमि कुसुंभी चोला। औ धनि पिउ सग रचा हिंडोला।।

नागमती को जो बूंदें विरह दशा में बाण की तरह लगती हैं पद्मावती को संयोग दशा में वे ही बूंदे कौंधे की चमक में सोने की सी लगती हैं। शरद ऋतु का वर्णन इस संदर्भ में विशेषोल्लेख्य है:—

आइ शरद ऋतु अधिक पियारी। नौ कुआर कतिक उजियारी।।
पद्मावति. भै पूनिउं–कला। चौदह चांद उइ सिंहला।।
सोरह कला सिंगार बनावा। नखत भरा सूरुज ससि पावा।।
भा निरमल सब धरति अकासू। सेज संवरि कीन्ह फुल बासू।।
सेज बिछावन औ उजियारी। हसि–हसि मिलहिं पुरुष औ नारी।।
सोन-फूल भइ पुहुपी फूली। पिय धनि सों, धनि पिय सौं भूली।।
चखअंजन देइ–खंजन देखावा। होई सारस जोरी रस पावा।।
एहि ऋतुकंता पासजेहि, सुख तेहि के हिय मांह।
धनि हंसि लागै पिउ गरे, धनि गर पिउ के बांह।।

प्रकृति के सुखद उद्दीपन के रूप में पद्मावत के और भी अनेक स्थल लिये जा सकते हैं। हेमन्त और बसंत के विना तो यह वर्णन अधूरा और निस्सार ही कहा जायगा। हेमन्त ऋतु के संदर्भ में कही गयी ये पंक्तियाँ देखिये—

ऋतु हेमन्त संग पियउ पियाला। अगहन पूस शीतल सुख काला।।
धनि औ पिउ मंह सीउ सोहागा। दुहुंक अंग एक मिलि लागा।।
मन सौं मन, तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिचहार न रहा।।
जानहुं चदन लागउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।।
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन लेखे सब सिष्टि जुड़ानी।।
बूझ दुवौ जोवन सौं लागा। बिचहुत सीउ जीउ लेइ भागा।।
दुइ घट मिलि एकै होइ जाही। ऐस मिलहिं तबहूं न अघाहीं।।

हंसा केलि करहिं जिमि खूंदहिं कुरलहिं दोउ ।
सीउ पुकारि कै पार भा, जस चकई क बिछोउ ।।

सामान्यत: यह सत्य है कि संयोग के दिनों में जो प्रकृति सुखद प्रतीत होती है वही विरह में कष्टकारक और हृदय विदारक बन जाती है। नागमती प्रिय विरह में सूखती जा रही है। उसे प्रकृति की हरियाली भाती नहीं है उसे देखते ही उसके हृदय का दुख दूना हो जाता है। जहां तक उसकी दृष्टि जाती है वहां तक फैली प्रकृति उसके हृदय को दग्ध करती जान पड़ती है। आसाढ़ के घिरते हुए बादल नागमती के लिए मदन की दुंदुभी लेकर आते हैं तो कातिक में शरद ऋतु का चन्द्रमा विरह को द्विगुणित करता जान पड़ता है। बारहमासा वर्णन इस दृष्टि से बड़ा आकर्षक और सटीक है—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा । साजा विरह दुंद दल साजा ।।
धूम, साम धौरैं घन धाए । सेत धजा बग पांति देखाये ।।
खडग बीजु चमकै चहुं ओरा । बुंद-बान बरसहिं घनघोरा ।।
ओनई घटा आइ चहुं फेरो । कंत ! उबारू मदन हौं घेरों ।।
दादुर मोर कोकिला, पीऊ । गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ ।।

कातिक की शरदकालीन रात्रि का चन्द्र भी, दाहक है—

कातिक सरद चन्द उजियारी । जग सीतल हौं विरहै जारी ।।
चौदह करा चांद परगासा । जनहुं जरै सब धरति अकासा ।।
तन मन सेज करै अगिदाहू । विकसत चंद, मयऊ मोहि राहू ।।

फागुन में भी पवन के झकोरे शरीर को शोलों के समान कष्ट देते हैं, किन्तु प्रियतम के अभाव में वह शीत के दिनों में जली जाती है। विरह में शरीर पीले पत्ते के समान हो गया है और उस पर विरह ऊपर से अलग प्राण हरे लेता है। सभी वनस्पतियां विकसित होकर हृदय में उल्लास बिखेरती हैं किन्तु संसार मे दूना उदासी छायी हुई है। सभी सखियां चांचरि का खेल खेलती हैं, किन्तु नागमती के हृदय में होली जलती रहती है।

रहस्यात्मक रूप—पद्मावत में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप भी मिलता है। जायसी ने प्रकृति के रहस्यात्मक रूप के द्वारा रहस्यमयी सत्ता की ओर भी संकेत किये हैं। इन संकेतों में कवि की प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही उस परम सत्ता का अलौकिक आभास भी मिलता है। उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्य सत्ता की ओर लौकिक दीप्ती और सौन्दर्य के द्वारा जायसी कितना सुन्दर संकेत करते हैं—

बहुतै जोति-जोति ओहिभई ।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ।।
जहं जहं विहंसि सुभावहिं हसी । तहं-तहं छिटकि जोति परगसी ।।
नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर ।
हसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर ।।

मानस के भीतर प्रियतम के सामीप्य से उत्पन्न उस अपरिमित विश्वव्यापी आनन्द की व्यंजना में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप ही चित्रित हुआ है। वर्णन की हृदयग्राहिता इस स्थल पर देखते ही बनती है—

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइन होइ छावा ।।
गा अंधियार रैन मसि छूटी । मा भिनसार, किरन रवि फूटी ।।
कंवल बिगस तहं बिहंसी देही । भंवर दसन होइ कै रस लेही ।।

उपदेशात्मक रूप—जायसी की प्रकृति इन सभी रूपों के साथ उपदेश भी प्रदान करती है । कवि ने अनेक स्थलों पर उपदेश दिये हैं । सुआ खण्ड में तोता जब बधन में फस जाता है तो उसकी स्थिति के चित्रांकन के समय मानव को दिया गया उपदेश बड़ा सारगर्भित है । उसने स्थान स्थान पर उपदेशक रूप में प्रकृति के अनेक पदार्थों द्वारा अपने तात्विक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—

१. पिव-पिव कर लाग पपीहा । तुही-तुही कर गडुरी जीहा ।
२. जावत पछी जगत के भरि बैठे अमराऊं ।
आपनि आपनि भाषा, लेइ दई कर नाऊं ।।

एक अन्य स्थल पर कवि जायसी ने लोभ को पाप की नदी बताते हुए लिखा है—

लोभ पाप कै नदी अकोरा । सत्त न रहै हाथ जो बोरा ।।

प्रतीकात्मक रूप में—पद्मावत की प्रकृति प्रतीकात्मक रूप में भी सामने आती है । इसमें प्रतीकों की सुन्दर योजना तो है ही, साथ ही प्रकृति का सुन्दर स्वरूप भी देखने को मिलता है । इसमें कवि प्रकृति की कुछ विशेष वस्तुओं को प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है । सूर्य, चन्द्र, कमल, भ्रमर आदि प्रतीक बराबर पद्मावती और रत्नसेन के लिए प्रयोग में आये हैं । जहां कवि अभिधेयार्थ को छोड़कर एकदम आध्यात्मिक अर्थों को उपस्थित करना चाहता है, वहां वह वर्ण्यवस्तु की जगह कोई न कोई प्रतीक रख देता है । देखिये:—

१. नितगढ़ बांचि चलै ससि सूरू ।
२. सोगढ़ देखु गगन से ऊंचा । नैन न देखा कर न पहुंचा ।।
३. चांद सुरूज औ नखत तराई । तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाई ।।

सिंहलगढ़ को कवि ने परलोक का प्रतीक माना है । वहीं पर आतंकित होकर चन्द्र, सूर्य तथा नक्षत्र तारे आदि परिभ्रमण करते हैं—

बिजुरी चक्र फिरै चहुं फेरी । औ जमकात फिरै जम केरी ।।
धाइ जो बाजा कै मन साधा । मारा चक्र भएउ दुइ आधा ।।

कुछ आलोचक इस शैली को रहस्यात्मक शैली के ही अन्तर्गत मानते हैं किन्तु कहीं-कहीं इसका स्वतन्त्र चित्रण भी मिलता है । निम्नलिखित पंक्तियों में उस परम प्रियतम पुरुष के प्रेम से प्रकृति कैसी बिद्ध दिखाई दे रही है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा । बेधि रहा सगरो संसारा ।।
गगन नखत जो जाहिं न गने । वे सब बान ओहि के हने ।।
धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहि सब साखी ।।
रोव-रोव मानुस तन ठाढ़े । सूतहिं सूत बेद अस गाढ़े ।।
बरुनि चाप अस ओपहं, बेधे रन-बन ढाख ।
सौजहि तन सब रोआं, पखहिं तन सब पाख ।।

मानवीकरण रूप में प्रकृति का चित्रण भी बड़ा हृदयहारी है । यह

प्राचीन काव्य में प्राय: नहीं मिलता है, किन्तु जायसी के पद्मावत में एक स्थान पर इसका प्रयोग हुआ है। सामान्यतः आधुनिक छायावादी कविता में इस शैली को प्रोत्साहन दिया गया है। पद्मावत की ये पंक्तियां देखिये—

भा निरमल तिन पायन बरसे।
भा सीतल जै तपनि बुझाई।।

वातावरण निर्माण के लिए किया गया प्रकृति वर्णन भी सराहनीय है। इस प्रकार के वर्णन और भी अनेक स्थलों पर मिल सकते हैं, किन्तु सर्वाधिक सुन्दर वर्णन इन पंक्तियों में दिखाई देता है—

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अन्धियार रैनि मसि छूटी। भा भिनसार किरनि रवि फूटी।।

संवेदनात्मक रूप में किया गया प्रकृति चित्रण भी बड़ा सराहनीय है। वियोगिनी नागमती के प्रति प्रकृति ने पूरी-पूरी संवेदना और सहानुभूति को अपनाया है। एक पक्षी तो पूछता है—

तू फिरि-फिरि दाहै सब पांखी। कोहि दुख रैनि न लावसि आंखी।।

भावात्मक रूप में किया गया प्रकृति चित्रण पद्मावत की अपनी विशेषता है। कवि ने अपने भावुक और संवेदनशील हृदय की आंखों से प्रकृति की छटा को देखा और परखा है। परिणामतः वर्णन में अतिरंजना आ गई है, किन्तु प्रकृति का सत्य पूर्ण वेग से उद्घाटित हुआ है। यह तो निश्चित है कि समुद्र का वर्णन करके जायसी ने प्रकृति साहित्य में नव्यता और मनोहरता को प्रतिष्ठापित किया है किन्तु उसकी भावातिरेकता और मनहरण पद्धति देखते ही बनती है। किलकिला समुद्र के वर्णन को ही लीजिए; उसमें लहरों के उठने-बैठने का वर्णन बिम्बात्मक शैली में किया गया है। सागर की भयानकता, बड़ी बड़ी गम्भीर लहरों, हिलोरों का कितना सजीव चित्रण है। भवरों के वर्णन में उसने मनोहरता की पराकाष्ठा को चित्रित कर दिया है—

भा किलकिला अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटे चहुँ ओरा।।
उठे लहर परवत की नाईं। फिर आवै जोजन सौ ताईं।।
धरती लेइ सरग लेहि बाढा। सकल समुद्र जनहुँ भा ठाढ़ा।।
नीर होय तर ऊपर सोई। माथे रंग समुद्र जस होई।।
फिर समुद्र जोजन सौ ताका। जैसे भंवै कोहार को चाका।।

प्रकृति का संदेशवाहक रूप भी रानी नागमती की विरहाकुल अवस्था में देखा जा सकता है। रानी नागमती की विरहाकुल अवस्था पर एक पक्षी को दया आ जाती है और वह नागमती का संदेशवाहक बनकर चला जाता है—

लेइ सो संदेस विहंगम चला। उठी आगि सिगरो सिंहला।।

अलंकार रूप में प्रकृति का उपयोग भी जायसी ने पर्याप्त मात्रा में किया है। प्रकृति के क्षेत्र में बिखरे अनेक उपमानों का लाभ उठाकर जायसी ने अपने प्रकृति चित्रण को सरस और प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि जायसी की विशेष रुचि इस ओर रही है। प्राकृतिक पदार्थों के साथ कवि ने सच्चा सम्बन्ध जोड़ा है। उसने प्रकृति-प्रांगण में लहराते उपमानों के मनोहर उपवन से मनचाहे पुष्पों का चयन किया है। देखिये तो सही, तोता रत्नसेन से पद्मा-

डा० शिवसहाय पाठक ने पद्मावत के पात्रों के पांच प्रकार के स्वभावों की चर्चा की है—आदर्श स्वभाव, जातिगत स्वभाव, व्यक्तिगत स्वभाव, सामान्य स्वभाव और अलौकिक स्वभाव, किन्तु हमारे विचार से व्यक्तिगत स्वभाव के अन्तर्गत आदर्श, जातिगत और सामान्य स्वभाव का अन्तर्भाव लिया जा सकता है। कारण यह है कि आदर्श, जातिगत गुण तथा सामान्य स्वभाव सम्बन्धी गुणों का आलम्बन तो व्यक्ति स्वयं ही है, फिर इन गुणों को उससे पृथक् दिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इस प्रकार जायसी के पात्रों का व्यक्तित्व केवल दो प्रकार का है—

१. व्यक्तिगत अथवा वह लौकिक महत्व जिसका कि अंकन कवि ने रत्नसेन पद्मावती कथा कहने के उद्देश्य से किया है—

सिंहलदीप पद्मिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीन दिल्ली सुलतानू। राघो चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरकंहि भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथ्था अहैं। लिखि भाषा चौपाई कहैं॥

२. आध्यात्मिक अथवा अलौकिक व्यक्तित्व, जिसका संकेत जायसी ने प्रत्येक पात्र को एक दिव्यतर व्यक्तित्व का व्यजक बनाकर दिया है। दूसरे शब्दों में जायसी ने प्रत्येक पात्र पर उसके आध्यात्मिक प्रतिरूप का आरोप किया है। 'मन राजा तन चितउर कीन्हा' आदि पंक्तियों में जायसी ने अपनी बात स्पष्ट भी कर दी है। अतः जायसी के चरित्रों के इस द्विविध व्यक्तित्व के दोनों पक्षों की रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

रत्नसेन

रत्नसेन पद्मावत का नायक है। उसका व्यक्तित्व द्विविध है। लौकिक धरातल पर वह शूरवीर और प्रेमी है। अपने मनोगत भावों को सफलता के सोपान तक पहुँचाने वाला रत्नसेन बड़ा पक्का प्रेमी है। पद्मावत में उसका व्यक्तित्व जो आद्यंत व्याप्त है वह एक दृढ़ निश्चयी प्रेमी का व्यक्तित्व है। वह जंबूद्वीप के चित्तौड़ देश के चौहान वंशी महाराज चित्रसेन का पुत्र है और पद्मावत महाकाव्य का धीरोदात्त दक्षिण नायक है। उसके प्रारम्भिक जीवन की कोई क्रियात्मक गति और प्रगति पद्मावत में आकार नहीं पा सकी है। प्रायः मानस जैसे महाकाव्यों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु पद्मावत अपने ढंग का महाकाव्य है—या नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाला काव्य है। परिणामतः यह इस तथ्य या इस वर्णन से निरपेक्ष महाकाव्य है। यों वह राजा के रूप में कलाप्रेमी और गुणग्राहक राजा के रूप में सामने आता है। गुणग्राहिता के पश्चात् ही उसके व्यक्तित्व का प्रेमी या प्रणयी पक्ष प्रस्तुत होता है। हीरामन तोते के मुख से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर उसकी ओर मुग्ध हो जाना रत्नसेन के प्रेमी पक्ष का आरम्भ है।

रत्नसेन का व्यक्तित्व रूप-लोभी का सा प्रतीत होता है। यह बात अवश्य है कि उसके चरित्र में प्रेम काम प्रेरित है, किन्तु उसकी प्रणयी के रूप में जो स्थिति पद्मावत में है वह अनेक पद्धतियों का मिश्रण है। उसमें भारतीय हिन्दू और फारसी जीवन की गतिशीलता और स्पंदन है। वह आदर्श

इस प्रकृति चित्रण में विभिन्न शैलियों का समावेश है किन्तु उसमें प्रकृति का वह स्वतन्त्र, भव्य, सौंदर्यशाली रूप नहीं उद्घाटित हो सका है जिसकी हम जायसी जैसे विविध और व्यापक ज्ञानी से आशा करते हैं। आध्यात्मिक अर्थ का आशिक कवि जायसी प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य की ओर दृष्टि दौडाने में सकोची ही रहा है। विशद सौन्दर्य और भव्य छवियों के लिये जहां खुला अवकाश था, वहां भी जायसी की चिन्तन और भावना–शक्ति आगे नहीं बढ़ सकी है। इतने पर भी यह तो नहीं कहा जा सकता है कि कवि की आँखें प्रकृति-सौन्दर्य की ओर से एकदम विमुख हैं और उसका मन उधर से एकदम कटा हुआ है। विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि जायसी का प्रकृति–काव्य मनोहारी है।

पद्मावत में चरित्र चित्रण

पद्मावत महाकाव्य है और महाकाव्य के अन्तर्गत रस को अधिक महत्व प्राप्त है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से विशेष चर्चा नहीं हुई है। यहां पर (भारतीय) सभी काव्यों के नायक की चार कोटियां निर्धारित की गई है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर प्रशान्त और धीरललित।

'पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी मूलतः व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के चित्रण की अपेक्षा जातिगत चित्रण को अधिक महत्व दिया गया है किन्तु फिर भी पाश्चात्य साहित्यकार इस विषय में अधिक सतर्क थे। पुनर्जागरण (Renaissance) के पश्चात् शेक्सपियर तक आते-आते चरित्र चित्रण पर बल दिया जाने लगा था।"

चरित्र चित्रण दो प्रकार से किया जा सकता है या किया जाता रहा है—वर्णनात्मक ढंग से और व्यंजनात्मक पद्धति से। वर्णनात्मक प्रणाली में कवि चरित्र और पाठक के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है तथा स्थान-स्थान पर अपनी चारित्रिक विशेषताओं का अभिव्यंजन करता चलता है। यह पद्धति अभिनन्दनीय नहीं हो सकती है। चरित्रचित्रण की प्रभावकारी पद्धति तो व्यंजनात्मक प्रणाली ही हो सकती है।"इसमें पात्र की चरित्रगत विशेषताओं को परिस्थितियों और घटनाओं की उथल-पुथल के बीच आप से आप व्यंजना होती चलती है। दूसरे शब्दों में पात्रों का चरित्र शनैः शनैः विकास को प्राप्त होता है। सहृदय को दृष्टि मे रख कर ऐसा चरित्र चित्रण ही श्रेष्ठ है, कारण कि पात्रों के गुणों-अवगुणों के स्वाभाविक विकास से ही, न कि उनमें गुणों-अवगुणों का आरोप करने से साधारणीकरण की स्थिति तक पहुंचने में सुविधा रहती है।"

सामान्यतः पद्मावत में जो चरित्र विधान मिलता है वह व्यंजकता लिए हुए है। कवि जायसी ने बड़े कौशल के साथ अपने पात्रों को उनके पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उभारा है। प्रत्येक पात्र अपना व्यक्तित्व लेकर आता है; यह बात दूसरी है कि उसका व्यक्तित्व अलौकिक तत्वों से पूर्णतः मंडित हो। पात्र विधान की दृष्टि से महाकाव्य की सफलता असंदिग्ध है। पद्मावत के पात्रों का व्यक्तित्व दो धाराओं में बहता हुआ दिखाई देता है। एक धारा तो है लौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित और दूसरी है अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित।

डा० शिवसहाय पाठक ने पद्मावत के पात्रों के पांच प्रकार के स्वभावों की चर्चा की है--आदर्श स्वभाव, जातिगत स्वभाव, व्यक्तिगत स्वभाव, सामान्य स्वभाव और अलौकिक स्वभाव, किन्तु हमारे विचार से व्यक्तिगत स्वभाव के अन्तर्गत आदर्श, जातिगत और सामान्य स्वभाव का अन्तर्भाव लिया जा सकता है। कारण यह है कि आदर्श, जातिगत गुण तथा सामान्य स्वभाव सम्बन्धी गुणों का आलम्बन तो व्यक्ति स्वयं ही है, फिर इन गुणों को उससे पृथक् दिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इस प्रकार जायसी के पात्रों का व्यक्तित्व केवल दो प्रकार का है—

१. व्यक्तिगत अथवा वह लौकिक महत्व जिसका कि अंकन कवि ने रत्नसेन पद्मावती कथा कहने के उद्देश्य से किया है—

सिंहलद्वीप पद्मिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीन दिल्ली सुलतानू। राघो चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरकहिं भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथ्था अहैं। लिखि भाषा चौपाई कहैं॥

२. आध्यात्मिक अथवा अलौकिक व्यक्तित्व, जिसका संकेत जायसी ने प्रत्येक पात्र को एक दिव्यतर व्यक्तित्व का व्यजक बनाकर दिया है। दूसरे शब्दों में जायसी ने प्रत्येक पात्र पर उसके आध्यात्मिक प्रतिरूप का आरोप किया है। 'मन राजा तन चितउर कीन्हा' आदि पंक्तियों में जायसी ने अपनी बात स्पष्ट भी कर दी है। अतः जायसी के चरित्रों के इस द्विविध व्यक्तित्व के दोनों पक्षों की रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

रत्नसेन

रत्नसेन पद्मावत का नायक है। उसका व्यक्तित्व द्विविध है। लौकिक धरातल पर वह शूरवीर और प्रेमी है। अपने मनोगत भावों को सफलता के सोपान तक पहुँचाने वाला रत्नसेन बड़ा पक्का प्रेमी है। पद्मावत में उसका व्यक्तित्व जो आद्यंत व्याप्त है वह एक दृढ़ निश्चयी प्रेमी का व्यक्तित्व है। वह जंबूद्वीप के चित्तौड़ देश के चौहान वंशी महाराज चित्रसेन का पुत्र है और पद्मावत महाकाव्य का धीरोदात्त दक्षिण नायक है। उसके प्रारम्भिक जीवन की कोई क्रियात्मक गति और प्रगति पद्मावत में आकार नहीं पा सकी है। प्रायः मानस जैसे महाकाव्यों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु पद्मावत अपने ढंग का महाकाव्य है—या नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाला काव्य है। परिणामतः यह इस तथ्य या इस वर्णन से निरपेक्ष महाकाव्य है। यों वह राजा के रूप में कलाप्रेमी और गुणग्राहक राजा के रूप में सामने आता है। गुणग्राहिता के पश्चात् ही उसके व्यक्तित्व का प्रेमी या प्रणयी पक्ष प्रस्तुत होता है। हीरामन तोते के मुख से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर उसकी ओर मुग्ध हो जाना रत्नसेन के प्रेमी पक्ष का आरम्भ है।

रत्नसेन का व्यक्तित्व रूप-लोभी का सा प्रतीत होता है। यह बात अवश्य है कि उसके चरित्र में प्रेम काम प्रेरित है, किन्तु उसकी प्रणयी के रूप में जो स्थिति पद्मावत में है वह अनेक पद्धतियों का मिश्रण है। उसमें भारतीय हिन्दू और फारसी जीवन की गतिशीलता और स्पंदन है। वह आदर्श

प्रेमी है। उसके प्रेम का प्रारंभ भले ही रूपाकर्षण से हुआ हो, किन्तु यह सत्य है कि वह आगे चलकर पर्याप्त गंभीर, एकनिष्ठ और सच्चाई से ओत-प्रोत है। पद्मावती की प्राप्ति के निमित्त वह अपने प्राणों का बलिदान करने को भी उद्यत हो जाता है। सूली पर चढ़ने की स्थिति भी इसी का प्रमाण है। इसी बीच उसके चरित्र विषयक अनेक गुण सामने आते हैं—साहसिकता, धीरता (कष्ट-सहिष्णुता), अहिंसा, सत्याग्रह और त्याग तथा बलिदान आदि। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनेक गत्यावरोधों को सहन करके भी अभीष्ट को पा लेना उसके चरित्र को भव्यता की ओर ले जाता है।

रत्नसेन को अपनी साधना के प्रति पूर्ण विश्वास है। इसी कारण वह लोक धर्म या रीति नीति की मिथ्या परवाह नहीं करता। वह अपने वचन का और धुन का पक्का है। वह एकनिष्ठ प्रेमी भी है। पार्वती आदि की परीक्षाएं उसके सम्मान और व्यक्तित्व को ठेस पहुँचाती हैं। पद्मावती के प्रति रत्नसेन की यह निष्ठा, प्रेम की यह दृढ़ता, वास्तव में अपूर्व है असाधारण है।

रत्नसेन क्षत्रिय है। गर्व तथा पौरुष उसके अणु-अणु में व्याप्त है। राघव चेतन से पद्मावती के रूप की चर्चा सुनकर अलाउद्दीन रत्नसेन के पास पद्मावती को समर्पित करने के लिए दूत भेजता है—उस समय रत्नसेन के मुख से निःसृत वचन उसके संस्कारों में व्याप्त जातीय अभिमान को कितने ओजयुक्त शब्दों में व्यक्त करते हैं—

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहु देव तड़पि घन गाजा ॥
मलेहे साह पुहुमीपति भारी। मांग न कोई पुरुष के नारी ॥
× × × × × ×
का मोहि तैं अस सूर अंगारा। चढ़ै सरग खसि परै पतारा ॥
× × × × × ×
बिक्रम सरिस कीन्ह जेहि साका। सिंघल दीप लीन्हि जो ताका ॥
ताकि सिंघ कै गहै को मोछा। जो अस लिखा होइ नहिं ओछा ॥

इनमें रत्नसेन का लोकरंजनकारी स्वरूप है।

पवित्र प्रणय का एकनिष्ठ पुजारी होने के नाते प्रबल प्रेम के आवेग में उसने जो कुछ भी करणीय-अकरणीय किया है उसका विचार साधारण धर्म नीति पर करना न्यायसंगत न होगा। अपेक्षाकृत लोकनीति की दृष्टि से देखने से, उसे भावोत्कर्ष की दृष्टि से देखना ही अधिक समीचीन होगा।

प्रसिद्ध भाववेत्ता मनोवैज्ञानिक सेण्ड (Shand) ने भी कहा है—

" Every sentiment tends to acquire the virtues and vices that are required by the system......These virtues and vices reaccounted such form the different points of view; first from the point of view of society; secondly, from the point of view of sentiments itself according to a standard which itself furnishes......". —[Foundation of Chancler]

("प्रत्येक भाव—रति, शोक जुगुप्सा आदि के कुछ अपने निज के गुण

होते हैं जिनमें से लोकनीति के अनुसार कुछ सदगुण कहे जाते हैं और कुछ दुर्गुण, जो उस भाव की लक्ष्यपूर्ति के लिए परम आवश्यक होते हैं।")

रत्नसेन के व्यक्तित्व में एक कमजोरी सी दिखाई देती है कि वह पदमावती के रूप सौन्दर्य की चर्चा सुनकर सभी कुछ छोड़ देता है, यहां तक कि अपनी परिणीता प्रिया नागमती को भी। यहां पर वह अपने कर्त्तव्य और कर्म से च्युत होता है, किन्तु ये सभी कृत्य उसे अपने लक्ष्योन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—"प्रेम के साधनकाल में जो साहस, कष्ट, सहिष्णुता, नम्रता, कोमलता, त्याग आदि गुण तथा अधीरता, दुराग्रह और चौर्य आदि दुर्गुण दिखाई पड़ते हैं वे प्रेमजन्य हैं, वे स्वतन्त्र गुण या दोष नहीं माने जा सकते हैं। यदि ये बातें प्रेमपन्थ के अतिरिक्त, जीवन के अन्य व्यवहारों में भी दिखाई गई होतीं तो इन्हें हम रत्नसेन के व्यक्तिगत स्वभाव के अन्तर्गत ले सकते थे।"

एक बात यह भी है कि रत्नसेन के सभी कार्यों के संदर्भ में कोई न कोई आध्यात्मिक संकेत वर्तमान है। इस दृष्टि से उसकी चरित्रगत त्रुटियां दूसरे ही स्तर पर खड़ी दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ चोरी से गढ़ में घुसना लौकिक अर्थ में बुरा है, सांकेतिक अर्थ में यह यौगिक क्रियाओं की अभिव्यजना करने में सहायक है।

इसी प्रकार सिंहल से लौटते समय कवि जायसी ने रत्नसेन का जो अर्थ लोभ दिखाया है उसे भी हम सामान्य व्यक्ति के लोभ की श्रेणी में रखने को तैयार नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार "किसी विशेष अवसर पर असाधारण सामग्री के प्रति लोभ प्रकट करते देख हम किसी को लोभी नहीं कह सकते हैं।"

एक अन्य स्थल पर गोरा बादल की चेतावनी को न समझने के कारण राजा रत्नसेन गढ़ के बाहर तक चला जाता है। यहां स्पष्ट है कि वह अपनी सुरक्षा के प्रति सतर्क नहीं है, अदूरदर्शी है किन्तु व्यक्तिगत दृष्टिविन्दु से देखने पर उसकी उदारता और सरलता ही प्रकट होती है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि रत्नसेन क्षत्रिय है और उसका यह जातिगत स्वभाव है कि वीर हो, स्वाभिमानी हो। ये तत्व हमें उस समय दिखाई देते हैं जबकि वह दिल्ली से छूटकर चित्तौड़गढ़ आने पर तथा पद्मिनी द्वारा देवपाल की क्रूरता का समाचार सुनकर क्रोधाविष्ट हो जाता है। प्रतिकार की यह प्रबल भावना रजपूती शान और स्वभाव के अन्तर्गत ही आती है। अलाउद्दीन के दूत को रत्नसेन द्वारा दिया गया उत्तर भी उसके व्यक्तित्व और चरित्र को उद्घाटित करता है। देखिये तो सही, ये पंक्तियां इस दृष्टि से कितनी सार्थक हैं—

का मोहि सिंघ दिखावसि आई। कहौं तो सारदूल धरि खाई।।
हौं रनथंमउर नाह हमीरू। कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू।।
तुरुक ! जाइ कहु मरै न धाई। होइसि इसकन्दर की नाई।।
कालि होइ जो आगमन। सो चलि आवै आज।।

अलौकिक दृष्टिविन्दु पर रत्नसेन का व्यक्तित्व एक साधक का—ब्रह्मसाधना में रत व्यक्ति का व्यक्तित्व है। यद्यपि जायसी ने उसके साधकत्व का स्पष्ट उल्लेख

नहीं किया है किन्तु पद्मावत के पूर्वार्द्ध में दी गई पंक्तियों से यह स्पष्टतः लक्षित हो जाता है—

चला मगुति मांगे कहं साधि कया तप जोग ।
सिद्ध होउं पद्मावति, पायें हृदय जेहिक वियोग ।।

राजा गजपति को कही गई ये पंक्तियां भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं—

सरग सीस, घर धरती, हिया सो पेम समुंद ।
नैन कौड़िया होइ रह लै लै उठहिं सो बुंद ।।

हां, यह तथ्य है कि रत्नसेन के व्यक्तित्व की यह सांकेतिकता, यह अलौकिक व्यक्तित्व का आभास देने वाली प्रवृत्ति जितनी पूर्वार्घ में है उतनी उत्तरार्ध में नहीं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि रत्नसेन एक आदर्श, उच्चकोटि का प्रेमी, गुणग्राहक, कलाप्रिय, साहसी, उदार व्यक्ति और धीरोदात्त दक्षिण नायक है। व्यक्तित्व की कुछ कमजोरियां भी हैं, किन्तु उसके गुणों की उदात्तता और प्रभासमन्वित भावना रत्नसेन के चरित्र को प्रभापूर्ण बनाती है।

पद्मावती

पद्मावती नायिका है और रत्नसेन की पहले प्रेयसी है और फिर पत्नी। सर्वप्रथम तो वह रत्नसेन के प्रेम की आधारशिला बनकर आती है। उसके चरित्र में आदर्शोन्मुखता है। सिंहल के आवासकालीन जीवन में उसका स्वरूप एक सच्ची प्रेमिका का है। इस तथ्य का उद्घाटन कवि ने कई बार किया है। प्रमुख रूप से उस समय तो यह अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है जब रत्नसेन को शूली चढ़ाने का आदेश हो जाता है। पद्मावती ने कहा है—

काढ़ि प्रान बैठों लेइ हाथा। मरे तो मरौं जिऔं एक साथा ।।

वास्तव में लौकिक स्तर पर वह आदर्श निष्ठावती, प्रेमिका और व्यवहार कुशल नायिका है। उसकी व्यवहार कुशलता कई अन्य स्थलों पर देखी जा सकती है। नागमती और पद्मावती का परस्पर वार्तालाप इसी ओर संकेत करता है। पद्मावती की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता भी दिखाई देती है। इसकी सूचना दो स्थलों पर होती दिखाई देती है—एक स्थल तो वह है जब रत्नसेन ने पंडितों के कहने में आकर राघव चेतन को देश निर्वासन का दण्ड दिया था। पद्मावती इस कार्य को राजहित में अच्छा नहीं समझती है। कवि ने कहा है—

ग्यान दिस्टी धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा ।।
जेइ जाखिनी पूजि ससि काढ़ी। सुरुज के ठाउं करै पुनि ठाढ़ी ।।
कवि के जीभ खरग हिरवानी। एक दिसि आग दुसर दिसि पानी ।।

पद्मावती राघव चेतन को दक्षिणा देने के बहाने बुलाती है। वह उसे अपना कंगन देकर प्रसन्न करना चाहती है। यही उसकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता है। "पद्मावती गोरा बादल खण्ड' में पद्मावती के चरित्र की और भी स्पष्ट रेखाएं व्यक्त हो जाती हैं। वह अपने कदमों से चलकर गोरा-बादल के पास जाती है, मानो अपने पति द्वारा किये गये उन दोनों वीरों के प्रति अन्याय का समाधान करने आयी हो।" राजा के सच्चे हितैषी और वीरवर उन दोनों योद्धाओं को पहचानने में पद्मावती की यह सतर्कता और सजगता

दूरदर्शिता का परिचय देती है। वह पद्मिनी जाति की सौन्दर्यमयी नारी है। पद्मिनी जाति की होने से उसके वंश, कर्म और रूप-सौन्दर्य का पता भली भांति चल जाता है। उसमें प्रेम के प्रति निष्ठा है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि पद्मिनी नारियों में यह निष्ठा स्वतः ही होती है।

डॉ० मनमोहन गौतम ने लिखा है "कि आज के मनोविज्ञान की शब्दावली में कहें तो स्पष्ट होगा कि पद्मिनी नारी में यौन स्थापन अथवा यौन निष्ठा (Sexual Fixation) अन्य नारियों की अपेक्षा सर्वाधिक होती है। पद्मावती में यह गुण है और स्थल-स्थल पर प्रकट होता है। रत्नसेन के प्रति उसकी सारी व्याकुलता इसी कारण है कि रत्नसेन उसकी Sexual Fixation का आधार है। देवपाल दूती खण्ड और बादशाह दूती खण्ड में वह अपने सतीत्व की रक्षा इसी कारण कर पाती है। इस यौन-निष्ठा की चरम परिणति के दर्शन हमें पद्मावती-नागमती सहगमन में होते हैं।" पद्मावती कहती है—

एहि दिवस हौं चाहति नाहा। चलौं साथ बाहौं गल बांहा॥
सारस पंख न जियैं निनारे। हौं तुम्हें बिनु का जियौं पियारे॥

और इसके पश्चात् वह कहती है—

लागि कंठ आगि दै होरी। छांर भई जरि अंग न मोरी॥

यह निष्ठ प्रेम परिणति पद्मावती में प्रकृति-जन्य है। यों वह गृहिणी के रूप में भी देखी जा सकती है। चित्तौड़ से लौटते समय मार्ग में ही उसका गृहिणीत्व देखा जा सकता है। पुरी में पहुंच जाने पर जब रत्नसेन के पास कुछ भी शेष न रहा तो पद्मावती ने आदर्श गृहिणी की भांति पांच रत्नों को बेचने का आग्रह किया। ये उसके अपने रत्न थे जिन्हें वह पति को संकट में पाकर बेचने को तत्पर हो जाती है। परिणामतः वह आदर्श गृहिणी के रूप में पद्मावत में अवतरित होती है।

पद्मावती में सपत्नी के प्रति ईर्ष्या-भाव भी पाया जाता है। वह रूपगर्विता और प्रेमगर्विता दोनों ही कोटियों में ठीक-ठीक उतरती है। ज्यों ही वह यह जान पाती है कि प्रियतम, नागमती के प्रमदवन में विहार कर रहा है त्योंही वह वहां स्त्री-सुलभ स्वभावगत भावना के अनुसार वाद-विवाद छेड़ देती है। वह एकनिष्ठ भाव से प्रेमिका और पत्नी है। उसकी जीवनगत सभी आशाएं और अभिलाषाएं रत्नसेन तक केन्द्रित हैं। 'दूती संवाद' पद्मावती के पवित्र और एकनिष्ठ प्रेम की सच्ची किन्तु मधुर तस्वीर है। प्रिय मृत्यु का समाचार पाते ही वह सपत्नी नागमती के साथ चिता पर चढ़ कर प्रियतम के शव से लिपट कर सती हो जाती है। हिन्दू नारी का चरमोत्कर्ष यहां व्यंजित किया गया है।

पद्मावती के व्यक्तित्व का अलौकिक पक्ष भी है। वह ब्रह्म की प्रतीक है। जायसी ने पद्मावती-विषयक जो आध्यात्मिक संकेत दिए हैं वे स्पष्ट ढंग से इसी कथन के समर्थक हैं। पद्मावती का नख शिख वर्णन उसके व्यक्तित्व की अलौकिकता का सच्चा उद्घाटक है—

बेनी छोरि झार जो बारा। सरग पतार होइ अंधियारा।

इसी प्रकार मानसरोदक खण्ड में 'पावा रूप रूप कै दरसै" जैसी

पंक्तियों में यही दिव्यता व्यंजित है। सूफी कवियों के अनुसार पद्मिनी नारी साक्षात् ब्रह्म की प्रतिकृति है। यही कारण है कि पद्मावती के व्यक्तित्व में अलौकिक अंश आ गया है। निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि पद्मावती दिव्य और पावन प्रेम की पुजारिन है। उसके व्यक्तित्व में लौकिक दृष्टि से आदर्श प्रेमिका, आदर्श पत्नी और आदर्श राजरानी के सभी गुण है। कवि जायसी ने व्यक्तित्व का उल्लेख बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

नागमती

नागमती, राजा रत्नसेन की प्रथम परिणीता पत्नि है। उसके विवाह और वैवाहिक जीवन की विविध चेष्टाओं का वर्णन और सांकेतिक अभिव्यंजन जायसी ने नहीं किया है। सर्वप्रथम काव्य में वह रूपगर्विता नारी के रूप में ही प्रस्तुत की गई है। उसके सम्बन्ध में कही गई निम्नलिखित पंक्तियां उसके व्यक्तित्व की कई विशेषताओं को व्यक्त करती हैं। कवि ने लिखा है—

नागमती रूपवती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिनु कीन्हा॥
बोलहु सुआ पियारे नाहां। मोरे रूप कोई जग माहां॥
हंसत सुआ पहं आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी॥
सुआ बानि कसि कहु कस सोना। सिंहलद्वीप तोर कस लोना॥
कौन रूप तोरी रूपमनी। दहुँ हौं लोनि, कि वे पदमिनी॥
जो न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महं मोरे रूप समान॥

रूपगर्विता नारी होने के साथ ही उसे तोते के मुख से जैसे ही सूचना मिलती है वैसे ही वह तोते को मारने को आज्ञा दे देती है क्योंकि उसके मन में आशंका और ईर्ष्या दोनों के तत्व विद्यमान हैं। वह कहती है कि इस कुभाखी पक्षी को नहीं रखना चाहिए क्योंकि कभी समयानुसार इसने यदि सिंहल की पद्मिनी की चर्चा कर दी तो राजा वियोगी होकर चला जायगा और इस प्रकार मेरा सौभाग्य शृंगार छिन जायगा।

नागमती इसके साथ ही आदर्श गृहिणी भी है। पदमावती के वियोग में घर छोड़कर जाते समय उसने राजा से जो सतीत्व भरा निवेदन किया है, उसमें उसके गृहिणीत्व की मर्यादा, संयम और पावनतामय दृढ़ता व्यंजित होती है। उसका कथन आदर्श नारी का प्रमाण है—

अब को हमहिं करहि भोगिनी। हमहूँ साथ होब जोगिनी॥
की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा॥
तुम अस बिछुरै पीउ पिरीता। जहंवा राम तहां संग सीता॥
जो लहि जिउ संग छांड न काया। करिहौं सेव पखारिहौं पाया॥

नागमती के चरित्र का उज्ज्वलतम रूप उसके विरह-विदग्ध रूप में मिलता है। नागमती वियोग की ज्वाला में जलती हुई रत्नसेन की प्रतीक्षा करती रहती है। रत्नसेन पदमावती के संसर्ग में अपने भोग की तृप्ति में संलग्न था तब नागमती विरह की ज्वाला में भस्म होती रहती है। पदमावत में नागमती का विरह-वर्णन पढ़ कर लगता है जैसे जायसी ने अपनी प्रतिभा की समस्त शक्ति को उसमें लगा दिया है। स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता

है कि "नागमती के आंसुओं में डूबकर जायसी की लेखनी ने उसकी वियोग दशा का वर्णन किया है।" नागमती को कवि ने एक आदर्श भारतीय रमणी के रूप में देखा है और उसके विशाल हृदय की पवित्रता और संवेदनशीलता का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। नागमती प्रिय विरह में जलभुनकर पिंजर मात्र या ठठरी मात्र ही रह गई है। इन पंक्तियों से उसके व्यक्तित्व की एक झांकी स्पष्ट हो जाती है। देखिये—

सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ।
झुरि झुरि पींजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह ।।

वेदना की व्यापक और सीमाहीन गम्भीरता देखिये—

खिन एक पेट आव मह सांसा । खिनहि जाइ जिउ होइ निरासा ।।
पवन डोलावहिं सींचहि चोला । पहर एक समुझहिं मुख बोला ।।

नागमती के व्यक्तित्व की असली व्यंजना नागमती के विरह में ही हुई है। विरह के क्षणों में वह सामान्य गृहिणी के रूप में पाठकों का मन मोह लेती है। वह प्रिय के अभाव में जीवन बिताती है तथा उसके बिना अपने जीवन को निस्सार देखती और समझती है। 'बारहमासा' वर्णन उसके इस व्यक्तित्व को प्रमाणित करता है। उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर पक्षी व्याकुल हो उठते हैं और अन्त में एक पक्षी पूछ ही लेता है। वह इस विरह-व्यथा को इस प्रकार व्यक्त करती चलती है—

पदमावति सौं कहेउ विहंगम । कत लोभाय रही करि संगम ।।
हमहू बियाही संग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर जीऊ ।।
अबहू मया करु करु जिउ फेरा । मोहि जियाउ कत देइ मोरा ।।
मोहि भोग सों काज न बारी । सौंह दीठि के चाहन हारी ।।

इन पंक्तियों में नागमती के चरित्र की उज्ज्वलता और पावनता के दर्शन होते हैं। उसके ये शब्द कितने मार्मिक हैं तथा उसे एक निष्ठा से प्रेरित आदर्श पतिप्राणा सिद्ध करते हैं। वस्तुतः उसकी वियोग दशा ही नागमती के चरित्र की सच्ची उद्घाटक स्थिति है। देखिये—

सवति न होसि तू बैरिन मोर कंत जेहि हाथ ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पांय मोर माथ ।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "पतिपरायणा नागमती जीवन काल में अपनी प्रेम ज्योति से गृह को आलोकित करके अन्त में सती की दिगत व्यापिनी प्रभा से दमक कर लोक से अदृश्य हो जाता है।" नागमती का चरित्र वास्तविकता और आदर्श का मिला-जुला प्रतिरूप है। उसके व्यक्तित्व में एक ऐसी निष्ठामय ज्योति है जो नारी जाति का गौरव बनी रह सकती है।

जायसी का रहस्यवाद

जायसी और कबीर दोनों ही श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहे जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि 'हिन्दी के कवियों में यदि कोई रमणीय और अद्वैतवादी कवि हैं तो वे जायसी हैं जो श्रेष्ठ रहस्यवादी कहे जा सकते हैं, शुक्ल जी की दृष्टि में जायसी का रहस्यवाद रमणीय है और कबीर का शुष्क।

वस्तुतः यह बात नहीं है क्योंकि हठयोग के प्रसंगों में तो जायसी भी कबीर की भांति शुष्क है और कबीर की विरहिणी आत्मा की पुकार में जो रस है वह भूलने भुलाने की वस्तु नहीं है। अतः तटस्थ आलोचक की दृष्टि मे ये दोनों ही समान हैं। खैर, यहां पर हमें केवल जायसी के रहस्यवाद का विवेचन करना है।

रहस्यवाद का अर्थः—अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' शब्द का हिन्दी शब्द रहस्यवाद है। इसकी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती है। विभिन्न विद्वानों की लेखनी से निकले शब्दों में विभिन्नता के लिए यहां अधिक गुंजाइश है। हम कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाओं का उल्लेख यहां कर रहे हैं—

१. "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बंध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अंतर ही नहीं रह जाता है।" (डॉ० रामकुमार वर्मा)

२. "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

३. 'रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपनी ससीम और पार्थिव स्थिति से उस असीम एवम् स्वर्गिक महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।" (गंगाप्रसाद पांडेय)

४. आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार रहस्यवादी वह है जो ज्ञानातीत सत्ता की आध्यात्मिक अनुभूति में विश्वास करता है।

५. स्पर्जन साहब के मतानुसार लोक में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग गूढ़ तुच्छ भावना की व्यंजना करता प्रतीत होता है। इसमें सामान्य तथा जादू–टोने आदि के भाव से लेकर आध्यात्मिक बातें तक सम्मिलित की जा सकती है।

६. अन्डरहिल ने रहस्यवाद की सारगर्भित परिभाषा की है–"रहस्यवाद मानव की परात्पर के साथ भावात्मक ऐक्यानुभूति की प्रवृत्ति का प्रकाशन है। धार्मिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद का स्वरूप कुछ भी हो, उसकी कुछ भी सीमा हो, विस्तारगत हो किन्तु उनकी विचारधारा के आधार पर बड़े से बड़े रहस्यवादियों की भावना क्रमशः चेतना की सम्पूर्ण भूमि को आक्रान्त करती चली जाती है।" ......अनुभूति के क्षेत्र में इसे रहस्यात्मक मिलन कहते हैं।" एक दूसरे स्थल पर उन्होंने रहस्यवाद को "सत्य के प्रति उद्भूत भावात्मक प्रतिक्रिया कहा है।" वास्तव में रहस्यवाद भगवत्सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है।

७ डॉ० राधाकृष्णन ने भी रहस्यवाद की परिभाषा की है। वे लिखते है कि "प्रत्येक धर्म में कुछ विधि–निषेध होते हैं। आध्यात्मिकता में विधि–निषेधों की प्रतिष्ठा न होकर सर्वोच्च सत्ता को जानने, उसमे तादात्म्य स्थापित करने और जीवन के सर्वांगीण विकास के विस्तार पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता है। आध्यात्मिकता वास्तव में धर्म का अन्तर्सार है।" वास्तव में डा० राधाकृष्णन रहस्यवाद का सम्बंध धर्म से जोड़ते हैं।

८. प्रोफेसर रानाडे ने रहस्यवाद शब्द की व्याख्या 'Mysticism in Maharashtra' नामक पुस्तक में की है। वे लिखते हैं—"रहस्यवाद एक प्रकार से मानसिक परिस्थिति का प्रकाशन है जिसमें साधक को परमात्मा का सीधा और सच्चा अनुभूतिमूलक ज्ञान प्राप्त होता है।

इन सभी परिभाषाओं में अपने-अपने ढंग से मत व्यक्त किये गये हैं। प्रत्येक विद्वान की दृष्टि अपनी मनोनुकूल बात को व्यक्त करने की ओर लगी रही है। इस उल्लेख से जो कोई भी निष्कर्ष निकल सकता है वह डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. रहस्यवाद का प्रतिपाद्य ज्ञानातीत सत्य है।

२. वह ज्ञानातीत सत्य आध्यात्मिक चिन्तन का ही नहीं वरन् अनुभूति का विषय है।

३. रहस्यवाद दो प्रकार होता है-निम्नकोटि का और उच्चकोटि का। निम्नकोटि के रहस्यवाद में जादू-टोने आदि जैसी तुच्छ साधनाएं आवेंगी और उच्चकोटि के रहस्यवाद का लक्ष्य आध्यात्मिक तथ्यों का भावात्मक निरूपण है।

४ रहस्यवाद जीवात्मा और परमात्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति की प्रवृत्ति का प्रगटीकरण है।

५. रहस्यवाद की सीमा बड़ी व्यापक है। वह सम्पूर्ण मानव-चेतना को आक्रान्त कर सकता है।

६. ईश्वर में तन्मय होना ही रहस्यवादी होना है। तन्मयता की स्थिति का प्रकाशन ही रहस्यवाद कहलाता है।

७. रहस्यवाद स्वतंत्र अनुभूति का विषय है। इसमें दिव्य रहस्यों का उद्घाटन होता है। रहस्यवादी एक परम उदार प्राणी है।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत की मान्यता है कि उपर्युक्त सभी विद्वान रहस्यवाद की आंशिक व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि रहस्यवाद की सीमा और परिधि बड़ी व्यापक है। रहस्य के निरूपण के जितने भी रहस्यपूर्ण रूप और प्रकार हैं उन सबको रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है, किन्तु अब रहस्यवाद शब्द का प्रयोग कुछ सकुचित अर्थ में किया जाने लगा है। वह साहित्य और अध्यात्म क्षेत्रों में ही प्रतिष्ठित रह गया है। इनमें भी अब धार्मिक साहित्य में ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। रहस्यवाद से सामान्यतया साहित्यिक रहस्यवाद का बोध होता है। आध्यात्मिक रहस्यवाद, रहस्यमयी जीवात्मा की भाव विशिष्टता की एवं प्रकृति तथा रहस्यमय पुरुष तथा तत्सम्बन्धी विषयों के प्रति उद्भूत होने वाली भावात्मक ऐक्यानुभूति की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की निष्कपट अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति जब कलापूर्ण साहित्यिक भाषा और शैली में की जाती है तब उसे साहित्य क्षेत्रीय रहस्यवाद कहा जाने लगता है। संक्षेप में रहस्यवाद को हम मानव की आध्यात्मिक अनुभूतियों के भावात्मक इतिहास का साहित्यिक निरूपण कह सकते हैं। अधिक बंधे हुए शब्दों में कहना चाहें तो कहेंगे कि रहस्यवाद उस रहस्यमय अध्यात्म पुरुष के विराट सौन्दर्य से मुग्धभूत जीवात्मा की उस भावमयी साधना का सरस प्रकाशन है जिसमें वह अपने प्रियतम से सुहाग प्राप्त करने के लिए तड़प उठती है और यह तड़प इस

सीमा तक बढ़ जाती है कि उस पीड़ा में उसके अस्तित्व का विलय हो जाता है तथा दोनों नीर-क्षीर या शराब-पानी की तरह मिलकर एक हो जाते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रहस्यवाद एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। इसका सम्बध अभिव्यंजना से भी है। यही कारण है कि रहस्यवाद को साहित्यिकता प्रदान करने में अभिव्यक्ति का विशेष योग होता है। इसमें हठयोग, साधना तत्व, भावना तत्व, अभिव्यक्ति, प्रकृति सौन्दर्य आदि का भी समावेश हो जाता है। संभवतः इसी आधार पर डॉ० त्रिगुणायत ने रहस्यवाद के ६ रूपों की ओर सकेत किया है—

१. भावात्मक या प्रेम प्रधान रहस्यवाद।
२. प्रकृतिमूलक रहस्यवाद।
३. आध्यात्मिक रहस्यवाद।
४. यौगिक रहस्यवाद।
५. अभिव्यक्तिमूलक रहस्ययाद।
६. जादू-टोनापरक रहस्यवाद।

रहस्यवादी के लक्षण—रहस्यवादी भावनाओं का वाहक प्रत्येक कवि नहीं हो सकता है। उसके कुछ अनिवार्य लक्षण होते हैं। उनकी संक्षिप्त विवेचना करना यहां अप्रासंगिक न होगा। रहस्यवादी कवि को निम्नलिखित लक्षणों म युक्त होना चाहिए—

१. आस्तिक— रहस्यवाद की आधारशिला आस्तिकता है। आस्तिक्य-भावना के अभाव में किसी भी कविका आध्यात्मिक या रहस्यवादी होना संभव नहीं है। जायसी कट्टर आस्तिक थे। पद्मावत का स्तुति खण्ड इसका प्रमाण है।

२. उपास्य का स्वरूप—रहस्यवादी कवि का उपास्य सबसे अलग-थलग स्वरूप वाला होता है। रहस्यवादी का उपास्य निर्गुण और सगुण दोनों होता है। अन्डरहिल ने बताया है—The absolute of the mystics is lovab'e, attainable, alive and personal अर्थात् रहस्यवादियों का ब्रह्म परात्पर, पूर्ण ब्रह्म, प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और वैयक्तिक होता है। मानसरोदक खण्ड मे तथा कुछेक अन्य स्थानों पर भी पद्मावत में यह बात देखी जा सकती है।

३. प्रेम तत्व—रहस्यवादी का मन प्रेमिल हो, यह आवश्यक माना गया है। रहस्यवादी कविता के कवियों की दृष्टि में यही सबसे बड़ी शक्ति है। प्रेम की प्राथमिक विशेषता है कि साधक आत्म-समर्पण करदे। सूफी संत का कहना भी है-"प्रेम का अर्थ अपने पास की समस्त वस्तुओं को प्रियतमसात् कर देना है; फिर प्रिय का अपना कुछ रह ही नहीं जाता है।" जायसी प्रेमी कवि थे। उनके समान प्रेम के रहस्य को जानने वाला दूसरा कवि कौन हो सकता है? उन्होंने तो यहां तक लिखा था—

तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझ।
पेम छाँडि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि॥

४. लोकाप्य—दैवी प्रेम के जगते ही मनुष्य लोकाभिरुचि को समाप्त

करता जाता है और उसके स्थान पर वैराग्य भाव की ओर बढ़ता जाता है। कवि ने लिखा है—

जब भा चेत उठा बेरोगा। बाउर जनौं सोय उठि जागा॥

५. **मादक भाव**—आध्यात्मिक प्रेम के अन्तर्गत रहस्यवादी का मादक भाव से सम्पन्न होना अनिवार्य है। सूफियों में यह मादक भाव अपनी चरम सीमा पर पाया जाता है। जायसी भी इसके अपवाद नहीं हैं—

पेम-सुरा जेहि के हिय मांहा। कित बैठे महुआ कै छाहां॥

६. विरह—आध्यात्मिक प्रेम का प्राण तत्व या अत्यन्त मधुरिम तत्व विरह ही है। विरह की तप्त भावनाएं रहस्यवादी को शुद्ध कंचन के समान निखार देती हैं। प्रेम में विरह का रस होने के कारण उसमें मादकता द्विगुणित हो जाती है। विरह, प्रेम का सच्चाई का उद्घाटक है। प्रेम की तीव्रता के अनुसार ही विरह की तीव्रता भी आवश्यक है—विशेषकर रहस्यवादी के लिए। जायसी का पद्मावत इसका ज्वलंत प्रमाण है।

७. **त्याग और सत्य भावना**—प्रेम का मूल रहस्य त्याग और आधार-भूमि 'सत्यता' की भावना है। राजागढ़ छेका खण्ड में राजा ने प्रेम के अन्तर्गत 'आत्मत्याग' की बात कही है और बोहित खण्ड में कही गई ये पंक्तियां सत्य-भावना का परिचय देती हैं—

हौं अब कुसल एक पै मांगौ। प्रेम पंथ सत बाँधि न खागौ॥

८. **तादात्म्य भाव**—सच्चा साधक जब तक ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित नहीं करेगा, तब तक उसका कल्याण सम्भव नहीं है। जायसी ग्रंथावली में भी यह भावना विविध स्थलों पर दुहराई गई है।

९. **सहिष्णुता और ज्ञान विशिष्टता**—आध्यात्मिक प्रेम के पुजारी रहस्यवादी कवि को सहनशील और उदार रहना चाहिए तथा ज्ञान-सम्पन्न भी होना चाहिए। प्रेम का पुजारी जब तक संयमित और मर्यादित नहीं होगा, तब तक सफलता नहीं पा सकता है। प्रेम खण्ड में कवि ने लिखा है—"जब वह उस प्रेममूलक हाल की हालत में उठा तो उसे वैराग्य ने आ घेरा।"

१०. **वासनाहीनता**—आध्यात्मिक प्रेम के साधक को ब्रह्म से सम्बन्ध और तादात्म्य स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि वासना का बहिष्कार हो। पद्मावत में पद्मावती को संदेश भेजते समय नागमती ने जो कामना की है, उसमें वासना का कालुष्य नहीं है—

मोंहि भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी॥

जायसी ब्रह्म प्रेम को योग के समान मानते थे।

११. **परिष्कार**—आध्यात्मिक प्रेम तो अग्नि के समान है। वह मनुष्य या साधक की देह और आत्मा का परिष्कार करता है। यह दिव्योपम प्रेम पद्मावत में मिलता है। कवि ने स्वयं कहा है कि यदि रत्नसेन का प्रेम वैकुण्ठी न होता तो उसकी मानवी शक्ति इतनी कहां थी कि वह पद्मावती रूपी विराट ब्रह्म को प्राप्त कर लेता—

मानुष प्रेम भएउ वैकुण्ठी। नाहित काह छार भरि मूठी॥

इसी परिष्कार का कारण तथा दिव्य प्रेम की उत्पत्ति का कारण सौन्दर्य है—वह भी असाधारण सौन्दर्य। जायसी ने इस सौन्दर्य का भी बड़ा मार्मिक वर्णन किया है।

रहस्य साधना के सोपान—रहस्य साधना के विविध सोपान बताये जाते हैं। सूफियों ने प्रायश्चित, अकिंचनता, त्याग, संतोष, ईश्वर, विश्वास और धैर्य का इस संदर्भ में उल्लेख किया है। तिब्बती रहस्यवाद में रहस्य साधना में ६ सोपान बताये गये हैं—स्वाध्याय, धर्म-पद्धति विशेष का पालन, उदारता और विनम्रता, द्वन्द्वातीत होना, पूर्ण वैरागी होना और शून्य का अनुभव।

पाश्चात्य महिला अण्डरहिल, जिन्होंने रहस्यवाद पर स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टि से विचार किया है रहस्यवाद की पांच स्थितियां बतलाई हैं—जाग्रतावस्था, परिष्कार की अवस्था, आंशिक अनुभूति की अवस्था, विघ्नों की अवस्था और तादात्म्य की अवस्था।

साधना-सोपानों की दृष्टि से अण्डरहिल द्वारा बताई गई पांचों स्थितियां ही प्रमुखतः रहस्यवादियों में पाई जाती हैं। जायसी की कृति पद्मावत में तो इन्हें बड़ी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने रहस्यवाद की इन्हीं पांचों भूमिकाओं को वैज्ञानिक स्वीकार किया है, और फिर भी जायसी के रहस्यवाद के संदर्भ से उन्होंने १४ भूमिकाओं का उल्लेख किया है। उनका यह विवेचन इस प्रकार है:—

१. सत्यानुभूति के लिए तीव्र औत्सुक्य।
२. गुरु की खोज, प्राप्ति और गुरु-मन्त्र आदि।
३. आध्यात्मिक जागरण।
४. विवेक और वैराग्य।
५. आत्म-परिष्करण की अवस्था (*Self Purification*)।
६. भावातिरेक की अवस्था।
७. आंशिक अनुभूति की अवस्था।
८. विघ्न की अवस्था।
९. विरह की अवस्था।
१०. आत्म-समर्पण की अवस्था।
११. मिलन की पूर्वावस्था।
१२. मिलन की अवस्था।
१३. पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था।
१४. पूर्ण तादात्म्य या प्रियतमसात् की अवस्था।

जायसी का रहस्यवाद—जायसी के पद्मावत में रहस्यवाद की ये सभी भूमिकाएं आसानी से खोजी जा सकती हैं, किन्तु उनका विवेचन करना यहां सम्भव नहीं है, किन्तु यह बताना आवश्यक है कि जायसी का रहस्यवाद कितने रूपों में हमारे सामने आता है। वस्तुतः जायसी के रहस्यवाद के विविध रूप हैं किन्तु प्रमुखतः हम उसके चार भेद तो स्पष्टतः व आसानी से कर सकते हैं—

१. अद्वैत भावना पर आवृत रहस्यवाद जिसे अद्वैती भावात्मक रहस्यवाद की अभिधा से मण्डित किया जा सकता है।

२. प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त प्रकृतिमूलक रहस्यवाद।

३. भारतीय योग मार्ग की साधना-पद्धति के माध्यम से अभिव्यक्त रहस्यवाद अथवा साधनात्मक रहस्यवाद।

४ प्रेममूलक या प्रेमपरक रहस्यवाद।

अद्वैती भावात्मक रहस्यवाद—भारतीय अद्वैतवाद एक दार्शनिक सिद्धांत है जिसके दो पक्ष हैं—आत्मा और परमात्मा की एकता और ब्रह्म और जगत की एकता। इन्हीं दोनों की व्यावहारिक और भावात्मक रूप प्रकृति की समस्त विभूतियों में परमप्रिय की प्रतिभासिक सत्ता का आभास कहा जा सकता है। यही सर्ववाद है जिसका श्रीमद्भगवद् गीता में भावात्मक सदर्भों में निरूपण किया गया है। यही अद्वैती भावात्मक रहस्यवाद है।

जायसी के रहस्यवाद में हम इस रहस्यवाद को पाते हैं। इसके रूप में रहस्यवादी भक्त, परमात्मा को अपने साध्य और प्रिय की छवि के रूप में देखता है। वह उस परमसत्ता के साथ साक्षात्कार और मिलन के लिए सर्वाधिक तीव्रोत्कंठा और आकुलता का अनुभव करता है। उसमें अभेदजन्य व्याकुलता और मिलनोत्पन्न विह्वलता भी पूरी तरह समाविष्ट होती है। जायसी की रहस्य-साधना में यही बात देखने को मिलती है। जायसी ने सर्वत्र व्याप्त उस परम-सत्ता के आभास के लिए नितान्त रमणीय और मर्मस्पर्शी व सांकेतिक वर्णन उपस्थित किये हैं। जायसी की निम्नलिखित पक्तियां देखिये जिनमें रूप-सौन्दर्य चित्रण के माध्यम से परोक्ष ज्योतिस्वरूप सत्ता की ओर संकेत किया गया है तथा बताया गया है कि उसी अलौकिक शक्ति से सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ ज्योतित और आभासित है। देखिए तो सही, उसकी रमणीयता और मनो-हरता का प्रभाव कितना व्यापक और विशद है—

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहं जहं विहँसि सुभावहिं हंसी। तहं-तहं छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि ओहि जोति और को दूजी॥
\+ \+ \+ \+
बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा। भइ तहं ओप जहां जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा। ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

इन पक्तियों में परमतत्व की अलौकिक सत्ता की ओर जो सकेत किया गया है वह भावात्मक है और अद्वैती भावना के अनुकूल है। इतना ही नहीं उस परमसत्ता की ओर तो और भी कई प्रकार से सकेत किया गया है। कहीं तो उसकी अव्यक्त और अगोचर सत्ता की ओर सकेत किया गया है और कहीं उस आलोकमयी और ज्योतिर्मय सत्ता की सर्वव्यापकता की ओर 'ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भरपूर' सकेत किया गया है। इतना ही नहीं, कहीं तो उसकी सर्व विद्यमानता इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

परगट गुपुत सकल मह पूरि रहा सो नांव॥
जहां देखो तह ओही दूसरि नहि जहँ जांव॥

नखशिख खण्ड में उसी परमात्मा के लिए कहा गया है कि उसके दृष्टि-बाणों से प्रकृति का अणु-अणु बिंधा पड़ा है। 'उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहो सिगरो संसारा' तथा 'पिउ हिरदय में भेंट नहिं होई।' जैसी पंक्तियों के माध्यम से प्रत्येक जीवात्मा के अन्तर्गत अद्वैत भाव के साथ विद्यमान उसी परम सत्ता की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने सर्वात्मवाद, प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के सहारे उस अगम, अगोचर सत्ता को अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त बताया है तथा जीव और जगत् के साथ उसका अद्वैत भाव बताते हुए विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उसी परमसत्ता का प्रतिबिम्ब सिद्ध किया है। जायसी के रहस्यवाद की इसी अद्वैती और भावात्मक स्थिति पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लट्टू हुए थे तथा उनकी लेखनी से ये शब्द निकल पड़े थे। वे लिखते हैं—"हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊंची कोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना पद्मावत में अधिक मिलती है।"

प्रकृतिमूलक रहस्यवादः—इस वर्ग के रहस्यवाद में प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा आत्मा और परमात्मा का सम्बंध निरूपित किया जाता है। इस पद्धति का सहारा लेने वाला कवि प्रकृति के अपरिमित सौन्दर्य को देखता है तथा उसके कण-कण में उसी परमतत्व का आभास पाता है। जायसी का पदमावत इस पद्धति का भी विशेष कायल है। सिंहलद्वीप की अमराइयों के निम्नांकित वर्णन में अनिर्वचनीय सुखदायी छाया का वर्णन करके कवि की लेखनी ने आनद स्वरूपिणी छाया की ओर ही आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किये हैं। कवि ने लिखा है—

घन अमराउ लाग चहुं पासा। उठा भूमिहुत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छांह रैनि होइ आई॥
मलै समीर सुहावन छाहां। जेठ जाड़ लागै तेहि माहां॥
ओही छांह रैनि होइ आवै। हरि हर सबै अकास दिखावै॥
पथिक जो पहुंचे सहि के घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥
जेहि वह पाई छांह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥

प्रकृति को परमसत्ता की साधक के रूप में भी चित्रित किया गया है। जिस प्रकार मनुष्य उस परमसत्ता की साधना में रत दिखाई देता है, उसी प्रकार समस्त प्रकृति भी उसी परम प्रिय की आराधना किया करती है। जायसी अपने पद्मावत में परमसत्ता के साथ साक्षात्कार कराना भी नहीं भूल सके हैं। सरोवर, परम ब्रह्म की प्रतीक पद्मावती के सौन्दर्य को देखकर हर्षातिरेक और आनन्द से भर जाता है। उसका हृदय हिलोरें लेने लगता है और पद्मावती-ब्रह्म के चरणों का स्पर्श प्राप्त करना चाहता है। चरणों का स्पर्श करते ही उसका हृदय पवित्र हो जाता है तथा शरीर और मन निर्मल बन जाता है। उसके स्पर्श और दर्शन से मनोवांछित ब्रह्मानंद प्राप्त होता है।

शरीर की सम्पूर्ण तपन बुझ जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में प्रकृति और पुरुष के इसी साक्षात्कार को व्यंजित किया गया है—

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पांव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ॥
कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहां लगि आई।
भा निरमल तिन पायन परसे। पावा रूप–रूप के दरसे॥
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई॥

जायसी के प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत ही प्रकृति में परम तत्व के सान्निध्य से उत्पन्न असीम आनन्द और हर्षातिरेक–साक्षात्कार की स्थिति की विवेचना की गई है। स्पष्ट है कि उस आन्तरिक परम ज्योति का सांकेतिक आभास पाकर ही मानस प्रफुल्लित हो उठता है। पुरइन के पात और फूले हुए शतदल के रूप में मानसर, का चारों ओर उल्लास ही उल्लास व्याप्त हो जाता है। इस ज्योति के साक्षात्कार से अज्ञानांधकार विलीन हो जाता है तथा साधक के नेत्रों में नवीन ज्योति का आगमन हो जाता है। तात्पर्य, सभी कामनाएं पूरी होती दिखाई देती हैं—

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
भा अंधियार–रैनि मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
अस्ति–अस्ति सब साथी बोले। अंध जो अहै नैन विधि खोले।
जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥

जायसी के प्रकृतिमूलक रहस्यवाद में दो बातों का और उल्लेख करके हम रहस्यवाद के दूसरे रूप की ओर झुकेंगे। इनमें पहला रूप तो है—

१. प्रकृति के माध्यम से गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना करना।

२. दूसरा रूप है प्रकृति के रहस्यात्मक वर्णन करना।

पहले रूप के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जायसी ने अपने मंतव्य को प्रकट करने के लिये कई बार प्रकृति को भी ग्रहण किया है और इस प्रकार रहस्यवाद की एक नई शैली और खोज निकाली है। जायसी ने अनेक स्थलों पर इसका परिचय दिया है। सामान्यत: यह एक आध्यात्मिक तथ्य है कि सृष्टि के आरम्भ में अद्वैत तत्व था। किन्हीं समय के परिवर्तनगत कुछ कारणों से यह अद्वैतता नष्ट हो गई और उसके दो रूप हो गये:—एक स्त्री और दूसरा पुरुष। दूसरे शब्दों में एक उपरि–स्थाई और दूसरा अधः स्थाई। इसी द्वैत से धीरे-धीरे आगे चलकर सृष्टि का विकास हुआ। कवि जायसी ने इसी आध्यात्मिक सिद्धान्त की व्यंजना के लिए प्रकृतिमूलक–रहस्यवादी शैली का सहारा लिया है। वह कहता है—"पहले पहल धरती और स्वर्ग मिले हुए थे और एक थे किन्तु धरती और स्वर्ग या स्त्री और पुरुष इन दोनों को किसी ने अलग कर दिया। परिणामत: दोनों मिलन के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं।"

प्रकृति का रहस्यपूर्ण वर्णन भी इसी प्रकार का है। सात समुद्र खण्ड वर्णन प्रत्यक्षत: भले ही भौतिक लगता हो लेकिन उसकी रहस्यात्मक वर्णन-पद्धति से इन्कार नहीं किया जा सकता है। क्षीर–समुद्र के ही वर्णन को

लीजिए—"इसका जल श्वेत है। पीने में दूध के समान स्वाद है। उसमें माणिक्य, मोती, हीरे आदि डूबते उतराते हैं। इसके अन्दर की सम्पत्ति को देखकर मन लोभ से द्रवीभूत हो जाता है।" 'मानसर समुद्र' का वर्णन तो और भी रहस्यात्मक है। मानसर समुद्र को कवि ने सौन्दर्य,प्रकाश के रूप में व्यंजित किया है। यही प्रकृतिमूलक रहस्यवादी कवि जायसी की प्रतिभा का नमूना है। यों प्रकृतिमूलक रहस्यवाद की अनेक पद्धतियां हैं, किन्तु प्रमुख ये ही हैं।

साधनात्मक रहस्यवाद:—जायसी पर नाथपंथियों का और हठयोगियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनके साधनात्मक रहस्यवाद का मूल बिन्दु यही प्रभाव है। वास्तव मे जायसी ने अपनी रहस्य-भावना की अभिव्यंजना के लिये हठयोगियों में प्रचलित साधना-पद्धति को स्वीकार किया है। यही साधनात्मक रहस्यवाद है। उन्होंने अपनी प्रेम साधना के अन्तर्गत हठयोगियों के कुंडली योग की सभी परिभाषाओं और तत्वों को स्वीकार कर लिया है। पद्मावत का नायक रत्नसेन इसी कारण हाथ में किंगरी, सिर पर चक्र, गले में जोग-पट्ट तथा रुद्राक्ष की माला, कानों में मुद्रा तथा शरीर पर कंथा डालकर ही पद्मिनी रूप परमात्मा की खोज के लिए निकलता है। उसका यह रूप गोरख पथी योगी का रूप है। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत ही जायसी ने अनहद नाद, ब्रह्मरंध्र और नाथपंथियों के 'उल्टा साधना' की व्यंजना की है। सहस्त्रार चक्र में महासुख के निवास की ओर भी जायसी का स्पष्ट संकेत मिलता है। देखिये एक वर्णन में अनहद नाद का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

घरी-घरी घरियार पुकारा। पूजी बार सो आपन मारा।
नौ पौरी पर दसवं दुआरु। तेहि पर बाज राज परियारु॥

शरीर के नवद्वारों और उसके बाद आने वाले दसवें द्वार तक का उल्लेख भी जायसी ने सिंहल गढ़ के सन्दर्भ में किया है। दसवां दरवाजा ब्रह्मरंध्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जायसी ने लिखा है—

दसव दुआर गुपुत एक नांकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांकी॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चांटी॥
दसवं दुआर तारकै लेखा। उलटि दिष्टि जो लाव सो देखा॥

सहस्त्रार चक्र में महासुख के निवास का संकेत भी जायसी की निम्नलिखित पक्तियों में मिल जाता है—

सात खण्ड ऊपर कविलासू। तहं सोव नारि सेज सुखबासू॥
तेहि मंह पलग सेज सोडासी। का कहं ऐसी रची सुखवासी॥

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने जायसी के यौगिक या साधनात्मक रहस्यवाद की चर्चा करते समय बताया है कि हठयौगिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हुई है—

१. भावना या प्रेमभाव के आवरण में आवृत्त।
२. प्रकृति के आवरण में आवृत्त।
३. जटिल अभिव्यक्ति के आवरण में आवृत्त।

जायसी ने सूर्य-चन्द्र साधना की अभिव्यक्ति पदमावत में की है। काव्य-

नायक रत्नसेन सूर्य रूप है और नायिका पदमावती चन्द्र रूप है। "वास्तव में जायसी की कला की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि उन्होंने योग मार्ग तथा मधुर प्रेम-मार्ग का सामजस्य किया है।" जायसी ने इस बात का संकेत 'बनिजारा-खण्ड' में किया है। स्पष्ट लिखा है—"सूर्य-चन्द्र की कथा मैंने कही है। उसकी अभिव्यक्ति प्रेम के पुट से हुई है।" राजा-सुआ संवाद खण्ड में रत्नसेन कहता है—'अब हौं सुरुज चांद वह छाया'। इसी भांति राजागढ़ छेका खण्ड में कवि ने लिखा है कि यदि सूर्य, आकाश पर चढ़कर राहु के सदृश भयंकर रूप धारण करे तो चन्द्ररूपिणी पदमावती को पा सकेगा। रत्नसेन पदमावती विवाह खण्ड की 'तू जस चांद सुरुज तोर नाहू' पंक्ति भी इसी का प्रमाण है।

डॉ० त्रिगुणायत ने बताया है कि योग के भावात्मक वर्णनों में पदमावत के वे समस्त सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन आवेंगे जिनमें सहस्त्रार या ब्रह्मरंध्र के स्वरूप की व्यंजना की गई है।

कुछ स्थलों पर जायसी ने हठयौगिक वर्णनों को प्रकृति के आवरण में छिपा कर भी प्रस्तुत किया है। प्रतीप रूपक व उत्प्रेक्षा अलंकारों का सहारा पाकर इस प्रकार के वर्णन सामने आये हैं। "गढ़ पर खीर नीर दुई नदी। पानी भरहिं जस दुरपदी" आदि पंक्तियों में रूपकात्मक प्रतीक के सहारे सहस्त्रार का सश्लिष्ट चित्र खींचा गया है। कवि ने बताया है—गढ़ पर दो नदियां हैं-एक नीर की और दूसरी क्षीर की। इड़ा और पिंगला की ओर संकेत है। वहां द्रोपदी के सदृश पनिहारिन है। प्राणों की स्वामिनी सुषुम्ना नाड़ी को यह प्रतीक दिया है। वहां मोतीचूर का एक कुण्ड है। ब्रह्मरूप ही कुंड है। उस कुंड के जल की समता अमृत से तथा कीचड़ की कपूर से की गई है।

प्रेमपरक सूफी रहस्यवाद—जायसी प्रेमी कवि थे। उन्होंने प्रेम की पीर को सर्वाधिक प्रमुखता दी है। जायसी ने सूफी भावनानुकूल ही ईश्वर की कल्पना प्रेम के रूप में की है। पदमावत में चित्रित प्रेम, लोकोत्तर या अलौकिक प्रेम है। लौकिक तथ्यों के माध्यम से अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना करना जायसी का लक्ष्य रहा है। रत्नसेन भक्त की भांति हा ब्रह्मस्वरूपिणी पदमिनी के सौन्दर्य पर मुग्ध है। ब्रह्म-साक्षात्कार की यह स्थिति सूफी-भावना के मेल में बिठायी जा सकती है। देखिये—

सुनतहि राजा गा मुरझाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई।
... ...
अहुठ हाथ तन सरवर, हिला कंवल तेहि मांह॥
नैनन्हि जानहुं नियरे, कर पहुँचत अवगाह॥

कुछ पंक्तियां और भी द्रष्टव्य हैं—

विरह भंवर होइ भांवरि लेइ। खिन-खिन जीव हिलोरहि लेई॥
खिनहिं निसास बूढ़ि जिउ जाई। खिनहिं उठे विससै बौराई॥
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत खिन होइ अचेता॥

पदमावती के रूप को देखकर रत्नसेन के बेहोश हो जाने पर ब्रह्म-साक्षात्कार की अनुभूति का या उसकी मन ही मन आनंदानुभूति का चित्रण जायसी ने मार्मिक ढग से किया है—

आवत जग बालक जस रोवा। उठ रोइ हा ग्यान सो खोवा ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहां। इहां मरनपुर आएउ कहां ।।
केइ उपकार मरन कर दीन्हा। सकति हकारि जीउ हरि लीन्हा ।।

भगवत् सम्पर्क में आने पर भक्त को जो आनंदानुभूति होती है, उसी का रहस्यवादी पद्धति पर अभिव्यक्तिकरण किया गया है। सूफियों के प्रेममूलक रहस्यवाद में विरह की मार्मिक व्यंजना की गई है। जायसी ने भी प्रेमजन्य विरह की स्थिति का अच्छा वर्णन किया है। उसकी गर्मी से या तपन से स्वर्ग और पाताल भी जलते है। सूर्य भी उसी की आग में जलता-भुनता कांपता रहता है। नक्षत्र और तारागण भी उसी विरह में दग्ध हैं। वास्तव मे यह परमब्रह्म का विरह है। यह अलौकिक या आध्यात्मिक विरह है। सम्पूर्ण सृष्टि परमतत्व में ही विलीन होती दिखाई देती है—

विरह की आगि सूर जरि कांपा। रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ।।
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक धरति महं परहीं ।।

... ...

धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा ।।
पवन जाइ तहं पहुंचै चहा। मारा तैस लोटि भुईं रहा ।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी के रहस्यवाद में विविध प्रकार का रहस्यवाद मिलता है। कुछ लोग अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की चर्चा भी करते हैं। वास्तव में जायसी के काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यंजना दो रूपों में मिलती है।

(१) कथात्मक समासोक्ति या अन्योक्ति के रूप में।
(२) प्रतीकों के रूप में।

इसमें भी समासोक्ति प्रधान है। यों तो समासोक्ति के उदाहरण पदमावत में अनेक स्थलों पर मिल जाते हैं, किन्तु विशेषतः पदमावत के प्रेम-खण्ड और मानसरोदक खण्ड आदि समासोक्ति पद्धति के ही उदाहरण हैं। प्रतीकाधारित रहस्यवादी भावना साधनात्मक रहस्यवाद के रूप में मिलती है। रहस्य-भावना के द्योतक कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं—

१ मुट्ठी भर धूल—मानव का प्रतीक।
२. सूर्य चन्द्र—पदमावती (ब्रह्म) के प्रतीक—
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सबघट पूरि हिए परगसी ।।
३. गंगा-जमुना—इड़ा-पिंगला के प्रतीक यथा—
तुम्ह गंगा जमुना दुई नारी, लिखा मोहम्मद जोग ।।
सेव करहु मिलि दूनहु औ—मानहु सुख भोग ।।
४. घड़ियाल—अनहद नाद का प्रतीक।
५. दुर्ग—शरीर का प्रतीक है। यथा—

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। परखि देखि है ओहि के छाया ।।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी सर्वाधिक रहस्यवादी कवि हैं। उनका रहस्यवाद साधनात्मक, भावात्मक और अद्वैती है। उसमें वर्णनगत सरसता का अंश अधिक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सूफियों के प्रेम तत्व ने इस रहस्य-भावना में माधुर्य का मधुर-द्रव घोला है। जायसी की रहस्यवादी देन महत्वपूर्ण है।

जायसी और कबीर का रहस्यवाद

जायसी और कबीर दोनों ही रहस्यवादी कवि हैं। प्रायः देखा जाता है कि विद्वान लोग इनके रहस्यवाद की तुलना करने लगते हैं। कवियों की प्रवृत्ति की तुलना करना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु पक्षपात हीन होकर करना बड़ी बात है। इन दोनों कवियों के रहस्यवादी दृष्टिकोण और रहस्यवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। हिन्दी के आचार्य शिरोमणि विद्वान् आचार्य शुक्ल और श्यामसुन्दर दास की सम्मतियों में ही पर्याप्त अन्तर है। उनके कथनों को देखकर लगता है कि दोनों ही अपने-अपने इष्ट कवि के पक्षधर बन गये हैं और इस धुन में तटस्थ आलोचक की दृष्टि विकसित नहीं हो सकी है। हम समझते हैं कि आज आवश्यकता है कि सत्यता को जान लें और लीक को पीटने की परम्परा को निभाने के कारण ही हम कहीं असलियत को दरगुजर न कर जायें।

"रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊंचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली सा लगता है और प्रबंध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

(डा० श्यामसुन्दरदास)

"कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में; जिनकी भावुकता उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्तिभावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"

(शुक्ल)

"कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं है"। (डाक्टर चन्द्रबली पाण्डेय)

विद्वानों के ये मत निष्पक्ष नहीं हैं। इनमें अपने-अपने दृष्टिकोण की पुष्टि का प्रयास किया गया है। वास्तव में कबीर और जायसी दोनों का रहस्यवाद कुछ दृष्टियों से साम्य और कुछ दृष्टियों से परस्पर विषमता रखता है। जहां तक कबीर के शुष्क और हठयोगिक रहस्यवाद का प्रश्न है वहां तक यह भी विस्मरणीय नहीं है कि जायसी के रहस्यवाद का भी एक पक्ष हठयोगिक और शुष्क या नीरस है। जहां कवि हठयोगिक प्रक्रियाओं से गुजरता है वहां उसका नीरस और शुष्क हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में दोनों ही कवि आते हैं। अतः इनकी तुलना करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दोनों का रहस्यवाद परिस्थिति या संदर्भ के अनुकूल साधनात्मक और भावात्मक होता चलता है। इस प्रकार किसी एक के लिए शुष्क रहस्यवादी और दूसरे के लिए भावुक सहृदय रहस्यवादी कहना ठीक नहीं है।

यह तो सर्वविदित है कि भावना के क्षेत्र में कबीर और जायसी

आवत जग बालक जस रोवा । उठ रोइ हा ग्यान सो खोवा ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहां । इहां मरनपुर आएउ कहां ।।
केइ उपकार मरन कर दीन्हा । सकति हकारि जीउ हरि लीन्हा ।।

भगवत् सम्पर्क में आने पर भक्त को जो आनंदानुभूति होती है, उसी का रहस्यवादी पद्धति पर अभिव्यक्तिकरण किया गया है । सूफियों के प्रेममूलक रहस्यवाद में विरह की मार्मिक व्यंजना की गई है । जायसी ने भी प्रेमजन्य विरह की स्थिति का अच्छा वर्णन किया है । उसकी गर्मी से या तपन से स्वर्ग और पाताल भी जलते हैं । सूर्य भी उसी की आग में जलता-भुनता कांपता रहता है । नक्षत्र और तारागण भी उसी विरह में दग्ध हैं । वास्तव में यह परमब्रह्म का विरह है । यह अलौकिक या आध्यात्मिक विरह है । सम्पूर्ण सृष्टि परमतत्व में ही विलीन होती दिखाई देती है—

विरह की आगि सूर जरि कांपा । रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ।।
औ सब नखत तराईं जरहीं । टूटहि लूक धरति महं परहीं ।।

... ...

धाइ जो बाजा कै मन साधा । मारा चक्र भएउ दुइ आधा ।।
पवन जाइ तहं पहुंचै चहा । मारा तैस लोटि भुइं रहा ।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी के रहस्यवाद में विविध प्रकार का रहस्यवाद मिलता है । कुछ लोग अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की चर्चा भी करते हैं । वास्तव में जायसी के काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यजना दो रूपों में मिलती है ।

(१) कथात्मक समासोक्ति या अन्योक्ति के रूप में ।
(२) प्रतीकों के रूप में ।

इसमें भी समासोक्ति प्रधान है । यों तो समासोक्ति के उदाहरण पदमावत में अनेक स्थलों पर मिल जाते हैं, किन्तु विशेषतः पदमावत के प्रेम-खण्ड और मानसरोदक खण्ड आदि समासोक्ति पद्धति के ही उदाहरण हैं । प्रतीकाधारित रहस्यवादी भावना साधनात्मक रहस्यवाद के रूप में मिलती है । रहस्य-भावना के द्योतक कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं—

१ मुट्ठी भर धूल—मानव का प्रतीक ।
२. सूर्य-चन्द्र—पदमावती (ब्रह्म) के प्रतीक—
जनु होइ सुरुज आइ मन दसी । सब घट पूरि हिए परगसी ।।
३. गंगा-जमुना—इड़ा-पिंगला के प्रतीक यथा—
तुम्ह गंगा जमुना दुई नारी, लिखा मोहम्मद जोग ।।
सेव करहु मिलि दूनहुं औ—मानहु सुख भोग ।।
४. घड़ियाल—अनहद नाद का प्रतीक ।
५. दुर्ग—शरीर का प्रतीक है । यथा—

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया । परखि देखि है ओहि के छाया ।।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी सर्वाधिक रहस्यवादी कवि हैं । उनका रहस्यवाद साधनात्मक, भावात्मक और अद्वैती है । उसमें वर्णनगत सरसता का अंश अधिक है । इसमें कोई संदेह नहीं कि सूफियों के प्रेम तत्व ने इस रहस्य-भावना में माधुर्य का मधुर-द्रव घोला है । जायसी की रहस्यवादी देन महत्वपूर्ण है ।

जायसी और कबीर का रहस्यवाद

जायसी और कवीर दोनों ही रहस्यवादी कवि हैं। प्रायः देखा जाता है कि विद्वान लोग इनके रहस्यवाद की तुलना करने लगते हैं। कवियों की प्रवृत्ति की तुलना करना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु पक्षपात हीन होकर करना बड़ी बात है। इन दोनों कवियों के रहस्यवादी दृष्टिकोण और रहस्यवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। हिन्दी के आचार्य शिरोमणि विद्वान् आचार्य शुक्ल और श्यामसुन्दर दास की सम्मतियों में ही पर्याप्त अन्तर है। उनके कथनों को देखकर लगता है कि दोनों ही अपने-अपने इष्ट कवि के पक्षधर बन गये हैं और इस धुन में तटस्थ आलोचक की दृष्टि विकसित नहीं हो सकी है। हम समझते हैं कि आज आवश्यकता है कि सत्यता को जान लें और लीक को पीटने की परम्परा को निभाने के कारण ही हम कहीं असलियत को दरगुजर न कर जायें।

"रहस्यवादी कवियों में कवीर का आसन सबसे ऊंचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रवन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली सा लगता है और प्रबंध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

(डा० श्यामसुन्दरदास)

"कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में; जिनको भावुकता उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्तिभावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"

(शुक्ल)

"कवीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं है"।

(डाक्टर चन्द्रवली पाण्डेय)

विद्वानों के ये मत निष्पक्ष नहीं हैं। इनमें अपने-अपने दृष्टिकोण की पुष्टि का प्रयास किया गया है। वास्तव में कवीर और जायसी दोनों का रहस्यवाद कुछ दृष्टियों से साम्य और कुछ दृष्टियों से परस्पर विषमता रखता है। जहां तक कवीर के शुष्क और हठयौगिक रहस्यवाद का प्रश्न है वहां तक यह भी विस्मरणीय नहीं है कि जायसी के रहस्यवाद का भी एक पक्ष हठयौगिक और शुष्क या नीरस है। जहां कवि हठयौगिक प्रक्रियाओं से गुजरता है वहां उसका नीरस और शुष्क हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में दोनों हो कवि आते हैं। अतः इनकी तुलना करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दोनों का रहस्यवाद परिस्थिति या संदर्भ के अनुकूल साधनात्मक और भावात्मक होता चलता है। इस प्रकार किसी एक के लिए शुष्क रहस्यवादी और दूसरे के लिए भावुक सहृदय रहस्यवादी कहना ठीक नहीं है।

यह तो सर्वविदित है कि साधना के क्षेत्र में कवीर और जायसी

दोनों ही साधनात्मक रहस्यवाद को मानते हैं किन्तु अन्तर केवल भावात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में है। "कबीर प्रकृति को मिथ्या मानते हैं, इस नाते उनके यहां से प्रकृति तिरस्कृत है, परन्तु जायसी के यहां "सर्व खल्विद ब्रह्म" होने के कारण प्रकृति परमात्मा की झलक का साधन बन गई है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कबीर में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध हैं, जब कि जायसी में प्रकृति, परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाशन होने के कारण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। कबीर में ज्ञान, प्रेम पर विजयी लगता है, परन्तु जायसी में प्रेम ने ज्ञान पर विजय प्राप्त की है। इस प्रकार एक ही लक्ष्य तक पहुँचने वाले इन दो साधकों को भावनाओं में पर्याप्त भेद हो गया है। वैसे जहां दोनों में प्रेम की तन्मयता की स्थिति है, वहां उनकी उक्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि दोनों में कोई भेद है ही नहीं।"

साम्य :—

१. विरह की अनुभूति दोनों को एक ही समान होती है। दोनों की रचनाओं से उदाहरण लेकर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। कबीर और जायसी दोनों ही कवि प्रेम की तन्मयता और प्रेमानुभूति का उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कबीर की विरहिणी आत्मा की स्थिति तथा पद्मावत के विरह और प्रेमानुभूति से सारोबार वर्णन इस सदर्भ में ध्यान देने योग्य हैं। इसी कारण प्रेम की तीव्रता, विरह की मादकता, वियोग-जन्य विह्वलता और बेचैनी अपने साध्य के निमित्त सभी कुछ त्यागने और अर्पित करने की उत्कट कामना, लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में परिणित करने की अनुपम क्षमता, आत्मा-परमात्मा के मिलन की रमणीयता आदि की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकती है—

(१) हाड़ भये सब किंगरी नसैं भई सब तांति।
रोंव रोंव सों धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भांति॥
—(जायसी)

(२) सब रंग तंत रबाव तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित॥
—(कबीर)

(३) यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहं पांव॥
—(जायसी)

(४) यह तन जालौं मसि करौं, ज्यूं धूंआ जाइ सरग्ग।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्ग॥
—(कबीर)

कबीर की विरहिणी आत्मा सोते, जागते और स्वप्न की तीनों स्थितियों में अपने प्रिय से विलग नहीं रहती है। सोते समय स्वप्न में, जागते समय मन के अन्दर अपने प्रिय के साथ समागम करती रहती है—

सोवौं तो सपने मिलैं, जागौं तो मन मांहि।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नांहि॥
—(कबीर)

जायसी के काव्य में भी इस प्रकार का वर्णन किया गया है । कवि ने लिखा है कि-

कर सिंगार तापर का जाऊं । ओही देखहुँ ठावँहि ठाऊं ॥
जो जिउ में तो उहै पियारा । तन मन सौं नहिं होइ निनारा ॥

जायसी की आत्मा—

कुहुकि कुहुकि कोयल जस रोई । रकत के आंसु घुंघुचि बन बोई ॥
जह-जह ठाढ़ होहि बनबासी । तहं तह होहि घुंघुचि कै रासी ॥
बूंद-बूंद में जागहु जीऊ । गुंजा-गुंजि करें पिउ-पीऊ ॥
—(जायसी)

और कबीर की ये पक्तियां देखिये :—

नैनां नीझर लाइया, रहट बसै निसि जाम ।
पपिहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबहि मिलोगे राम ॥
—(कबीर)

२. कबीर और जायसी दोनों के मिलन प्रसंगों में भी समानता दिखाई देती है । मिलन की अनुभूति भी इन दोनों कवियों को एक सी प्रतीत होता है । जायसी की आत्मा का प्रतिबिम्ब धारण करने वाली ये पक्तियां देखिये जिनमें मानसरोवर, पद्मावती ब्रह्म को पाकर हृदय में कितना उल्लसित होता है । कबीर की आत्मा तो मंगलाचार गाती दिखाई देती है । उसके हर्षोल्लास और आनंदातिरेक का भी कोई ठिकाना नहीं है—

(१) देखि मानसर रूप सुहावा । हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
गा अंधियार रैंनि मसि छूटी । भा भिनसार किरन-रवि फूटी ॥
'अस्ति-अस्ति' सब साथी बोले । अंध जा अहे नैन जिन खोले ॥
—(जायसी)

(२) दुलहिन गावहु मंगलचार ।
हमारे घर आये राजा राम भरतार ।
तनरति करि मैं मनरति करि हौं पांचों तत्त बराती ।
रामदेव मोहे पाहुन आये; मैं जोबन मदमाती ॥
सरिर सरोवर वेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा ।
रामदेव संग भांवरि लैहौं, धनि-धनि भाग हमारा ॥
सुर तैंतीसो कौडक आये, मुनिवर सहस अठासी ।
कह कबीर मोहि ब्याहि चले है पुरुष एक अविनासी ॥
—(कबीर)

कहने का अर्थ यही है कि जहाँ मिलन की तीव्रता को रूपायित किया गया है, वहां शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर दोनों में कोई भेद नहीं है । दोनों की मिलन और विरह की अनुभूतियां सूफी सिद्धान्तों से प्रभावित हैं । कुछ स्थलों पर तो इतनी समानता मिलती है कि यह जानना ही कठिन हो जाता है कि प्रारम्भ में अमुक भाव की उद्दीपक पक्तियां किस कवि ने पहले लिखी हैं ।

३. कबीर और जायसी दोनों ही आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया को ठगिनी और बाधक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं । यही कारण है कि जब तक माया का पर्दा बीच से नहीं हट जाता है, तब तक

ब्रह्म की प्रतीति तक नहीं हो सकता है। एकीकरण की स्थिति माया के निवारण के पश्चात् की ही स्थिति है। कबीर ने इसका चित्रण किया है तथा उसे डाकिनी और पिशाचिनी कहा है—

माया महा ठगिन हम जानी।
तिरगुन फांस लिए कर डोले, बोलै मधुरी बानी ॥
अथवा
इक डाइन मोरे हिय में बसी, निसि दिन मोरे हिय को डसी।
या डाइन के लरिका पांच, निस दिन मोहिं नचावैं नाच ॥

वे स्पष्ट कहते हैं कि हरि मिलन के लिए मेरे मन में प्रबल अभिलाषा है किन्तु मेरे और भगवान दोनों के बीच में यह माया ही पिशाचिनी है जो अन्तर या व्यवधान डाल देती है। कबीर की दृष्टि में इसको दूर करने का एक मात्र साधन ज्ञान ही है। जायसी ने माया के प्रतीक रूप में अलाउद्दीन को रखा है। उनकी प्रतिपादना है कि दोनों आत्मा और परमात्मा के बीच में या इनके मिलन मार्ग में माया ही बाधक तत्व है।

४. दोनों कवियों ने परमात्मा से वियुक्त आत्मा को पहले परमात्मा के वियोग में पागल और विह्वल बताया है; तत्पश्चात् मिलन के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हुए नाना विघ्नों और बाधाओं का सामना करते हुए भी चित्रित किया है। "अपनी एकाग्रता, अनन्यता और लगन के कारण सम्पूर्ण विघ्नों और अवरोधों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा के साथ एकात्मभाव प्राप्त करते हुए अंकित किया है।" अतः दोनों ने प्रेम, विरह, प्रयत्न और मिलन की समान अवस्थाओं को चित्रित किया है।

५. कबीर और जायसी दोनों ही रहस्यमयी-सत्ता को सर्वव्यापक, सर्वान्तियानी तथा सार्वभौमिक मानते हैं। दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

६. अनंत सत्ता के साक्षात्कार के लिए दोनों ही रहस्यवादी कवियों ने विषय-वासनाओं और समस्त विकारों के पूर्ण परित्याग द्वारा सांसारिकता का विरोध किया है तथा एक दिव्य और आध्यात्मिक वातावरण द्वारा उसके निकट पहुंचने का प्रयत्न किया है। एक शब्द में दोनों ही सांसारिकता और भौतिकता के विरोधी है। 'आध्यात्मिकता से ही रहस्यानुभूति की प्रक्रिया में सफलता संभव हैं' इस मूलमंत्र से दोनों ही कवियों की आत्मा अनुप्राणित है।

७. कबीर और जायसी दोनों ही दाम्पत्य भाव द्वारा आत्मा और परमात्मा का मिलन व्यंजित करते हैं। दोनों ही रतिभाव को महत्व देते हैं तथा मिलन के क्षणों का मर्मस्पर्शी वर्णन करते हैं।

८. गुरु के महत्व को दोनों ही स्वीकारते हैं। आत्मा के विकास तथा परमात्मा से मिलन के लिए गुरु की सत्ता अपरिहार्य है। जायसी के पदमावत में हीरामन तोता इस साधक रत्नसेन के मार्ग निर्देशन का कार्य करता हुआ गुरु की भूमिका अदा करता है और कबीर स्पष्ट ही गुरु के समक्ष नतशिर रहे हैं—

गुरु गोविंद दोउ खड़े का कै लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपणें गोविंद दियो बताय ॥

६. दोनों ही कवि भौतिकता और वासना का विरोध करते हैं, उचित भी है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है "वह सांसारिकता का बहिष्कार कर दिव्य और अलौकिक वातावरण पाकर आत्मा खिल उठती है। वह ईश्वर के निकट पहुंच जाती है जो इस विश्व का निर्माणकर्ता है। उस ईश्वर का नाम है सापुरुष। सापुरुष के संसर्ग में वह आत्मा उस दैवीशक्ति के कारण हतबुद्धि सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है। वह अवाक् रह जाती है। वह ईश्वरीय शक्ति अनुभव करती है, पर उसे प्रक: नहीं कर सकती। इसलिए गूंगे के गुड़ के समान वह स्वयं तो परमात्मानुभव करती है पर शब्दों में कुछ नहीं कह सकती है। कुछ समय के बाद जब उस में कुछ बुद्धि आती है और कुछ जबान खुलती है तो वह एकदम से पुकार उठती है—

"कहहिं कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिए ताहि"

आत्मा सापुरुष का रूप देख कर मोहित हो जाती है। धीरे धीरे आत्मा परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है और उस समय वह आनंदातिरेक से परमात्मा के गुण वर्णन करने लगती है—

अहि कारण शिव अजहूँ वियोगी। अंग विभूति लाइ भे जोगी॥
शेख सहस मुख पार न पावैं। सो अब खसम सहित समुझावैं॥

प्रियतम से मिलन होने से आनंदानुभव करती हुई कबीर की आत्मा कह उठती है—

हरि मोर पिउ साइ हरि मोर पीव। हरि बिन रहि न सकै मोर जीव॥
हरि मोर पीव मै राम की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

रहस्यवाद की चरम सीमा उस समय देखी जा सकती है जब आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मा से सम्बन्धित हो जाती है। दोनों का एकाकार होने पर दोनों की सत्ता एक हो जाती है। कबीर ने इसे यों अनुभव किया है—

हम न मरैं मरि है संसारा। हमको मिला जिवावनहारा॥
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं। हरि न मरैं तो हम काहे को मरिहैं॥

वैषम्य:—अब तक तो कबीर और जायसी के रहस्यवाद में समानताओं का विवेचन किया गया है किन्तु अब उसकी विषमताएं भी जान लेना अनिवार्य है। दोनों के रहस्यवाद में कोई सीमा ऐसी अवश्य है जो दोनों को रहस्यवादी दृष्टि से पृथक् करती है—

(१) कबीर के रहस्यवाद में भारतीय साधना-पद्धति, दार्शनिक विचारधारा और भक्तिमार्ग का प्रभाव अधिक है। परिणामतः वैयक्तिकता और एकांतिकता को प्रमुख स्थान मिला है। जायसी के रहस्यवाद में सूफी साधना की प्रधानता है और इसी कारण वह समष्टिमूलक और सांकेतिक अधिक है।

(२) प्रकृति के सरस, सुन्दर और मनोरंजक वर्णनों के कारण जहां जायसी की रहस्यवादी कविता एक अद्भुत और अलौकिक सरसता और सजीवता का वातावरण पैदा करती है, वहां प्रकृति की उपेक्षा वृत्ति, बहिष्कारक साधना और यौगिक साधना के कारण कबीर की रहस्यमयी उक्तियां शुष्क

और नीरस पथ की ओर अग्रसर हैं। यही कारण है कि जायसी का रहस्यवाद अधिक भावात्मक और कबीर का अधिक साधनात्मक है।

(३) कबीर का रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा दोनों का स्पष्ट और Direct यानी सीधा सम्बन्ध प्रतिपादित करता है। इसके विपरीत जायसी ने आत्मा और परमात्मा के मध्य प्रकृति को भी महत्व प्रदान किया है। यही कारण है कि "कबीर जहां प्रकृति के 'माया' रूप की निंदा करते हैं, उसे महाठगिनी या 'कलवारिन' या 'रमैया की जोरू' कहते हैं, वहां जायसी प्रकृति की प्रशसा करते हुए नहीं अघाते और 'गगन नखत जो जाहि न गनैं सो सब बान ओहि के हनैं' कह कर आकाश के नक्षत्रों आदि प्रकृति के पदार्थों को ब्रह्म का ही रूप सिद्ध करते हैं।"

(४) कबीर में यदि किसी तत्व का प्राधान्य है तो ज्ञान का, जब कि जायसी में भावना की अनुभूति का। यही कारण है कि कबीर के ज्ञान की आंच में प्रेम, विरह की अनुभूतियां तप कर वह गई हैं।

(५) "जायसी ने प्रेम कथा के बीच-बीच में रहस्यमयी उक्तियों को हठात् ठूंसकर कथा प्रवाह में बाधा उत्पन्न की है और इसी से उनके प्रबन्ध के बीच में रहस्यमयी उक्तियां थिगली सी जान पड़ती हैं जबकि कबीर ने किसी भी प्रेमाख्यान का सहारा नहीं लिया है, वे विशुद्ध रहस्यवादी हैं।" इसी कारण उनके रहस्यवाद में शुद्धता और जायसी के रहस्यवाद में 'मिश्रता' या मिश्रण की बात कही गई है।

(६) यों तो दोनों ने रहस्यवाद के अन्तर्गत दाम्पत्य भाव को स्वीकार किया है किन्तु जायसी ने फारसी पद्धति के सहारे आत्मा को पुरुष और परमात्मा को स्त्री रूप में माना है जबकि कबीर ने भारतीय पद्धति के आधार पर आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष रूप में चित्रित किया है।

(७) जायसी का रहस्यवाद समष्टिमूलक है अतःवे परमात्मा की सत्ता विश्व के कण-कण में और अणु-अणु में व्याप्त मानते हैं। कबीर ने विश्व को मिथ्या मानकर विश्व के किसी भी पदार्थ में अनंत आलोक और अनत सौन्दर्य के दर्शन नहीं किये हैं।

(८) जायसी का रहस्यवाद नाटकीय और मधुर है क्योंकि उसकी पीठिका प्रेम से तैयार हुई है। कबीर इससे सर्वथा दूर हैं।

(९) "कबीर ने ब्रह्म का विवेचन करते हुये उसे स्थान-स्थान पर अकथ, अनिर्वचनीय आदि विशेषण प्रदान किये हैं जबकि जायसी ने उसे दुर्गम तो बताया है किन्तु इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है।"

(१०) कबीर के रहस्यवाद में सर्वात्मवाद मिश्रित अद्वैतवाद की छाया प्रमुख है और जायसी के रहस्यवाद में सर्वात्मवाद, प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद तीनों का मधुर सम्मिलन है।

(११) कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन के निमित्त सदाचार, भक्ति, योग और मध्यम मार्ग को ग्रहण किया है तथा आन्तरिक-साधना पर विशष बल दिया है। "जायसी ने शरीअत, तरीकत हकीकत और मारिफत नामक दशाओं पर आधृत अन्तिम मारिफत दशा में 'आलमे लाहूत' के अन्तर्गत आत्मा के फना होने पर ही आत्मा-परमात्मा को शराब और पानी

की भांति घुलते मिलते सिद्ध किया है। अतः कबीर में आत्मा ब्रह्मरूप हो जाती है जबकि जायसी में आत्मा परमात्मा में पूर्णतया विलीन होकर परमात्मभाव को प्राप्त होती है।"

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जायसी और कबीर दोनों ही श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। जायसी का रहस्यवाद भावात्मक अधिक है और कबीर का साधनात्मक अधिक है। दोनों में किसी एक को छोटा और दूसरे को बड़ा बताना कठिन है। इतने पर भी यह निश्चित है कि कबीर जायसी की अपेक्षा कम भावात्मक हैं और जायसी कबीर की अपेक्षा कम ज्ञानात्मक या हठयोगी कवि रहस्यवादी हैं।

पद्मावत का काव्य-सौष्ठव

महाकवि जायसी के काव्य-सौष्ठव का विवेचन करने से पूर्व काव्य के दो पहलुओं (भाव पक्ष और कला पक्ष) को समझना आवश्यक है, जिनमें से भाव पक्ष का वर्णन इसी कृति में पीछे किया जा चुका है; अतः इस शीर्षक के अन्तर्गत केवल उनके कला पक्ष का ही विवेचन किया जायेगा। जायसी की कलात्मकता उनके साहित्यिक जीवन की अनमोल निधि है।

पद्मावत का कला पक्ष

भाषा-शैली—भाषा विचाराभिव्यक्ति का एक माध्यम है। माध्यम के गौरव को वहन करने वाली शैली होती है और शैली के गौरव के लिए उत्तरदायी प्रमुखतः कवि की भाषा ही है। कवि, भाषा का गौरव रक्षक एवं उसकी भव्यता का स्थापक होता है इसलिए एक समर्थ कवि को पाकर भाषा धन्य होती है। उच्चकोटि की कलाकृतियों के द्वारा ही भाषा की प्रतिष्ठा बनी रही है। संस्कृत एवं ग्रीक भाषाओं का महत्व आज भी अक्षुण्ण है क्योंकि इन भाषाओं के साहित्य में इनके कवियों की लिखित वाणी अमर है। भाषा को अमरता कवि प्रदान करता है और भाषा, कवि की रचना को सजीवता प्रदान करती है।

जायसी ने पद्मावत में ठेठ अवधी भाषा का प्रयोग किया है। अवधी भाषा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

शुद्ध अवधी की बोलचाल में क्रिया का रूप सदा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है; कर्म के अनुसार सकर्मक भूतकालिक क्रिया में भी नहीं होता क्योंकि पूर्वी बोलियां भूतकाल में कृदन्त रूप नहीं लेती हैं, तिङत रूप ही रखती हैं। जैसा कि कहीं लिंग भेद से प्रगट होता है इन भाषाओं का मूल चाहे कृदन्त ही हो किन्तु व्यवहार तिङन्त ही जैसा होता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण निम्न उदाहरणों में किया गया है—

(१) उत्तम पुरुष—

(क) देखेउँ तोरे मंदिर घमोई (पु० एक वचन) मैं

(ख) ढूंढिउँ बालनाथ कर टीला (स्त्री० एक वचन) मैं

(ग) ओ हम देखा, सखी सरेखा (पु० स्त्री० बहुवचन) हम

(२) मध्य पुरुष—

(क) चाहेसि परा नरक के कूँआ—धातु कमाय सिखे तैं जोगी।
(पु० स्त्री० एक वचन) तू या तैं

(ख) रू चीन्ह कै जोग विसेखेहु (पु० बहु वचन) तुम

(३) प्रथम पुरुष—

(क) रोई हंकारेसि माझी सूआ (पु० स्त्री० एक वचन) वह

(ख) कहेन्हि "न रोव, बहुत त रोवा" (पु० बहु वचन) तुम

जहां खड़ी बोली में साधारण क्रिया का प्रयोग होता है वहां मध्यम पुरुष के रूप ही आज्ञा में भी आते हैं, उदाहरण के लिए—

आपसु लिहे रहियु निति हाथा, सेवा करिउ लाइ भुंइ माथा।

'एसि' और एनि' के स्थान पर प्रथम पुरुष की भूतकालिक क्रिया के स्त्रीलिंग रूपों में 'इसि' और 'इनि' अन्त में होते हैं। बोलचाल में साधारणतया प्रत्य 'नि' निकाल कर बचे हुए खण्ड के अन्तिम स्वर को सानुनासिक कर देते है। जायसी ने अपने काव्य में बोलचाल के इस रूप का भी प्रयोग किया है—

लक्षिमी लखन बतीसौ लखीं। (लखीं=लखिन्हि या लखिनि)

सकर्मक क्रिया के रूपों के उपरोक्त दिये गये सभी उदाहरण ठेठ या पूर्वी अवधी के हैं और उनमें पुरुष भेद बराबर बना हुआ है। पश्चिमी हिन्दी की सकर्मक क्रियाओं मे पुरुष भेद नहीं होता, उदाहरण के लिए उसने किया, तुमने किया, मैंने किया। वर्तमानकालिक क्रिया के रूप ब्रजभाषा के समान ही होते हैं। केवल मध्यम पुरुष या एक वचन के रूप के अन्त में संस्कृत के समान 'सि' होता है यथा जासि करसि—

तू जुग सारि चहसि पुनि छूवा।

विधि और आज्ञा म भी यही रूप रहता है किन्तु कभी-कभी संस्कृत के समान 'हि' से अन्त होने वाला रूप भी आ जाता है, जैसे—

तू सपूत माता कर अस परदेस न लेहि।
अब ताई होईहि, मुए जाइ गति देहि॥

ठेठ अवधी की यह विशेषता है कि इसमें कारक चिन्ह प्रथम पुरुष, एक वचन की वर्तमानकालिक क्रिया के रूप में लगता है जैसे आवै, कहं, खाप मां, बैठे कर, आदि; जबकि खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों के कारक चिन्ह सदैव क्रिया के साधारण रूप में लगते हैं जैसे, करने का, करने को या करिबे को—

(क) सती होइ कहं सीस उघारा।
(ख) दीन्हेसि स्रवन सुनै कहं बैना॥

कहीं-कहीं पर कारक चिन्हों का भी लोप मिलता है और संयुक्त क्रिया में भी जहां पहले साधारण क्रिया का रूप रहता है वहां भी अवधी में यही वर्तमान का सा रूप रहता है।

(क) तपै लागि अब जेठ असाढ़ी।
(ख) मरै चहहि, पै मरै न पावेहि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अवधी भाषा की विशेषताओं (व्याकरण विषयक) का विवेचन अपनी जायसी ग्रंथावली में किया है जो बड़ा महत्वपूर्ण है। अध्येयताओं को शुक्ल कृत 'जायसी ग्रंथावली' के उस अंश का अध्ययन मूल कृति से ही करना चाहिए। हमने यहां पर जो थोड़ा व्याकरण विषयक

विवेचन किया है वह शुक्लजी के विवेचन के ही आधार पर है। जायसी की भाषा के सम्बन्ध में यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि वह अवधी भाषा है किन्तु विस्मरणीय यह भी नहीं कि जायसी ने बीच-बीच में कुछ ऐसे प्रयोग दे दिये हैं जो अवधी भाषा की पंक्ति में विचित्र से लगते हैं। इसी कारण कुछ व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी किये गये हैं। इतने पर भी यह मानना भूल होगी कि व्याकरण की असंगति से पक्ति का संगठन शिथिल हो गया है। यह असंगति स्त्रीलिंग और पुल्लिग के कारण हुई है। "दसन देखि कै बीजु लजाना" पंक्ति में बिजली स्त्रीलिंग के लिए लजाना शब्द का प्रयोग ध्यान देने पर ही खटकता है। वास्तविकता यह है कि भाषागत प्रवाह में बहता हुआ पाठक वाक्य गठन के आकर्षण से इस पर ध्यान ही नहीं दे पाता है।

जायसी की भाषा अवधी प्रधान जन-मन की भाषा है। उसमें ऐसा प्रवाह है कि पाठक प्रसंग और संदर्भ के अनुकूल ही रसास्वादन करता है। भाषा में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे हैं—चित्रात्मकता, नाद सौंदर्य और अर्थ सम्प्रेषणीयता। जायसी का पद्मावत इन गुणों से ओत-प्रोत है। अवधी भाषा के प्रयोग के बीच में संस्कृत के शब्द बहुत कम आये हैं; किंतु फारसी के शब्द काफी आ गये हैं। संस्कृत शब्दों के सदर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि उनको ज्यों का त्यों जायसी ने कहीं भी नहीं रखा है, उनको अवधी की प्रकृति के अनुकूल सरल बना दिया है। उदाहरण के लिए—

बरनौ सूर पहुमी पति राजा। भूमि न भार सहै जिहि साजा ॥
हय गय सेन चलै जग पूरी। परवत टूटि उडहिं होइ धूरी ॥
मुइ उड़ि अंतरिक्ख मृनमंडा। खंड खंड धरती बरम्हंडा ॥
डोलै गगन इन्द्र डरि कांपा। बासुकि जाइ पतारहिं चांपा ॥

भूमि, भूमिपति, इन्द्र, गगन, बासुकि इत्यादि तत्सम शब्द हैं। फारसी के सुल्तान, असवार इत्यादि शब्द भी आये हैं किन्तु इन शब्दों को जायसी ने अवधी के अनुरूप ही ढाल लिया है। सेना, सेन-सज्जा, बादशाह भोज खड इत्यादि में अनेक नाम अभारतीय हैं किन्तु वे अपने मूलरूप में प्रयुक्त न होकर अवधी की प्रकृति के अनुसार ढाल दिये गये हैं।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से पद्मावत की भाषा बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी सहायता से १६वीं शताब्दी की अवधी भाषा के उस रूप को समझने में सहायता मिलती है जो कि उसका लोक व्यवहार का रूप था। इस सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं "पद्मावत का महत्व उसके सुरक्षित रूप में है अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है। हिन्दी साहित्य के जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति वास्तविक रूप में हमारे सामने है। जायसी ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा अवधी में अपनी रचना की। इनकी कृति स्वाभाविक बोलचाल के यथा तथ्यों से परिपूर्ण है।" पद्मावती की भूमिका में डॉ० ग्रियर्सन का कथन भी उल्लेखनीय है "पद्मावत सोलहवीं सदी में बोली जाने वाली अवधी का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी पद्मावत का महत्व अक्षुण्ण है।"

मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग—भाषा को चुस्त बनाने के लिए

मुहावरों एवं लोकोक्तियों की बहुत आवश्यकता पड़ती है। पद्मावत में लोकोक्तियों का प्रचुर एवं सुन्दर प्रयोग मिलता है। सम्पूर्ण पद्मावत में जायसी ने अति सुन्दर मुहावरों की योजना की है जिससे इनकी भाषा की व्यंजकता और भी खिल उठी है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है "पद्मावत में कहावतें और मुहावरे भी कहीं कहीं मिलते हैं पर वे यों ही भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में आये हुए हैं. काव्य रचना का कोई आवश्यक अंग समझ कर नहीं बांधे गये हैं। मुहावरों को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद समूहों में भाषा बंधी सी रहती है, उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं हो पाता है। कवि अपने विचारों को ढालने के लिए नये सांचे न तैयार करके बने बनाये सांचों में ढलने वाले विचारों को ही बाहर करता है।" उदाहरण के लिए कुछ मुहावरे इस प्रकार हैं—

नीर खीर छाने दरबारा।
दूध पानि सब करैं निनारा॥ }—दूध का दूध पानी का पानी।

पिता हमार न आंख लगावहि]—आंख लगना।

गउ सिंह रंगहि एक बाटा।
दूनौं पानि पियहिं एक घाटा॥ }—गऊ सिंह का एक घाट पानी पीना।

मुख कह आन पेट बस आना।]—मुख में और, पेट में और।

अस बड़ बोल जीभ मुंह छोट।]—छोटे मुंह बड़ी बात।

परवत उड़हिं सूर के फूंके।]—फूंक कर पहाड़ उड़ाना।

कुछ स्थानों पर जायसी ने अन्य भाषाओं की सूक्तियों को भी ग्रहण किया है, जैसे संस्कृत के श्लोक—

"शैले शैले माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
सघवो नाहिं सर्वत्रं, चंदनं न बने बने॥"

का यह ज्यों का त्यों अनुवाद सा प्रतीत होता है—

थल थल नग न होहिं जेहि जोती। जल जल सीप न उपजहिं मोती॥
बन बन बिरछ न चदन होई। तन तन बिरह न उपजै सोई॥

फारसी की प्रसिद्ध सूक्ति—

"इश्क का मुश्करा नहवां नहुँ फतन"

का जायसी ने इस प्रकार प्रयोग किया है—

"परिमल पेम न आछै छपा"

इस प्रकार की अन्य भाषाओं की सूक्तियों का प्रयोग जायसी ने बहुत कम किया है। अधिकांश बाह्य भाषाओं की सूक्तियां फारसी की ही हैं। उन्होंने प्रमुख रूप से अवधी के लोक प्रचलित रूप को प्रधानता दी है तथा उन्हीं लोकोक्तियों और मुहावरों का संयोजन किया है जो कि अवधी के लोक प्रचलित साधारण व्यवहार में प्रयुक्त हो चुके थे।

जायसी की भाषा के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं "जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलम्बित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। मंजु, आनंद आदि की चाशनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा

और तुलसी की भाषा में यही बड़ा भारी अन्तर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी पर गोस्वामीजी की पहुंच दीर्घ संस्कृत कवि परम्परा द्वारा परिपक्व चाशनी के भंडागार तक भी पूरी पूरी थी। यदि गोस्वामीजी ने अपने 'मानस' की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी कि इन चौपाइयों की है—

कौऊ नृप होऊ हमें का हांनी, चेरी छांड़ि अब होव नि रानी।
जारै जोग सुभाउ हमारा, अनमल देखि न जाइ तुम्हारा॥

तो उनकी भाषा 'पद्मावत' की ही भाषा होती और यदि जायसी ने सारी 'पद्मावत' की रचनाएं ऐसी भाषा में की होतीं जैसी कि इन चौपाइयों की है—

उदधि आइ तेइ बंधन कीन्हा। हति दसमाथ अमर पद दीन्हा॥

तो उनकी और 'रामचरितमानस' की एक भाषा होती। पर जायसी में इस प्रकार की भाषा ढूंढने से कहीं एकाध जगह मिल सकती है। तुलसी दासजी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह जगह मिलती है। सारांश यह है कि तुलसीदासजी को दोनों प्रकार की भाषाओं पर अधिकार था और जायसी को एक ही प्रकार की भाषा पर। एक ही ढंग की भाषा की निपुणता उनकी अनूठी थी। अवधी की खालिस, बेमेल मिठास के लिए पद्मावत' का नाम बराबर लिया जायगा।"

अलंकार—जायसी ने अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। इनके अन्तर्गत उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का बाहुल्य रहता है। इनमें से भी जायसी ने हेतूत्प्रेक्षा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। इसके माध्यम से जायसी ने अपनी कल्पना का खूब विस्तार किया है। रूप वर्णन में तो अलंकारों की बाढ़ सी आ गई है। नीचे कुछ प्रमुख अलकारों के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

कंचन देख कसोटी कसी। जनु घन महं दामिनी परगसी॥
सुरज किरन जनु गगन विसेखी। जमुना मांह सुरसाती देखी॥

कटि की सूक्ष्मता देखिये—

मानहु नाल खड दुइ भए। दुंहु बिच लंक तार रहि गये॥

आंख की आकृतियों का वर्णन देखिये—

"वरुनी का वरनौ इमि वनी। साधे बान जान दुई हनी॥
जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुद भये दुई नैना॥

इनमें वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिये—

सहस किरिनि जो सुरुत दिखाई। देखि लिलार सोऊ छिपि जाई॥
० ० ० ०
दारिउ सरि जो न कै सका। फाटेउ हिया दरक्कि॥

क्रियोत्प्रेक्षा—

अस वे नयन चक दुइ, भंवर समुद उलथांहि।
गनु जिउ घालिहि ओल महं, लेइ आवहि लेइ जाहि॥

फलोत्प्रेक्षाः—पहुँव सुगंध करहिं एहि आसा । मकु हरिकाई लेइ हम पासा ।।

\+ \+ \+ \+

करवत तपा लेहिं होइ चूरू । मकु सो रूहिर लेइ देइ सेंदूरू ।।

व्यतिरेक—

का सरवरि तेहि देऊँ मयंकू । चांद कलंकी वह तिकलंकू ।।
औ चांदहि पुनि राहु गरासा । वह बिनु राहु सदा परगासा ।।
सुआ सो नाक कठोर पंवारी । वह कोमल तिल-पहुँप संवारी ।।

रूपकातिशयोक्ति—

रांते कँवल करहि अलि भंवा । घूमति माति चहहि अपसवां ।।

\+ \+ \+ \+

कवल कली तू पदमिनी । गइ मिसि भयउ विहानु ।
अबहुँ न सपुट खोलसि, जबरे उता जग भानु ।।

सांगरूपक—

जोबन-जल दिन दिन जस घटा । मंवर छपा हँस परगटा ।
अलंकार के भी कुछ उदाहरण देखिए—
धरती बान बेधि सब राखो । साखी ठाढ़ देखि सब साखी ।।

निदर्शना एवं यमक—

तारे गिनत छिपह सब तारे । दिन न दिपहि पुतरी के तारे ।।

तद्गुण अलंकार—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर ।।

निदर्शना—

जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति जोति ओहि भई ।।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोति । रतन पदारथ मानिक मोती ।।

दृष्टांत—

मुहम्मद बाजी प्रेम की ज्यों भावै त्यों खेल ।
तिल फूलहि के सग ज्यों होत पुनि पीलू बेल ।।

विभावना—

जीउ नाहि पै जिए गुसाईं । फिर नाहीं पै करे सवाईं ।।

संदेह अलंकार—

मनहुँ जमी भौरन्ह के पाती । चंदन खांभ वास कं माती ।
की कालिन्दी विरह सताई । तेहि प्रकार अरइल बिच जाई ।।

उपमा अलंकार—

क्या कपूर हाड़ जनु मोती, तेहिते अधिक दीन्ह विधि जोती ।

\+ \+ \+ \+

सुरज कान्ति कर जसि, निरमल नीर सरीर ।

उपर्युक्त अलंकारों के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने अर्थ विस्तार और भावों के उत्कर्ष के लिए अलंकारों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढंग से किया है । अलंकारों के प्रयोग में जायसी अधिकांशतः परम्परावादी हैं

जिससे कहीं कहीं भद्दी परम्परा का भी चित्रण होगया है। निम्न दो उदाहरणों में इस तथ्य का स्पष्टीकरण होजाता है। प्रथम उदाहरण में सामग्री शृंगार रस की है, उनमें उन्होंने वीर रस का आरोप किया है और द्वितीय उदाहरण में सामग्री वीर रस की है किन्तु शृंगार का आरोप किया है। प्रथम उदाहरण परिणाम अलंकार का है। बादल युद्ध क्षेत्र में जाने के लिए तैयार है, ऐसे अवसर पर उसकी नवागता पत्नी उससे वाद विवाद करते हुए कहती है—

जो तुम चहहु जूझि, प्रिय। कीन्ह सिंगार जूझ में साजा ॥
जोबन आई सौंह होई रोपा। बिघला विरह काम दल कोपा ॥
भौंहे धनुष नयन सर साँधे। बरुनि बीच काजर विष बांधे ॥
अलक फांस गिउ मेलि असूझा। अधर मधर सो चाहहि जूझा ॥
कुंभ स्थल कुच दोऊ मैमता। पैलों सौंह संभारहु कंता ॥

द्वितीय उदाहरण स्त्री के रूप में तोप का वर्णन प्रस्तुत करता है—

कहौं सिंगार जैसि वे नारी। दारू पियहिं जैसी मतवारी ॥
सेन्दुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरबिन चमकत जाहीं ॥
कुच गोला दोइ हिरदय लाई। अंचल धुजा रहे छिटकाई ॥
रसना लूक रहहि मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले ॥
अलक जंजीर बहु गिउ बांधे। खींचहि हस्ती, टूटहि कांधे ॥
वीर सिंगार दोउ एकै ठांऊँ। सत्रु-साल गढ़-भंजन नाऊँ ॥

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में रस विरोध है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि फारसी के प्रभाव एवं परम्परा को निभाने के कारण ही जायसी के अलंकारिक वर्णन में वीभत्सता उत्पन्न होगई है। जहां कहीं भी उक्त दोनों बातों से परे रहकर उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है, वह बड़ा सफल एवं सार्थक है।

शैली—जायसी का 'पद्मावत' मसनवी शैली में लिखा गया है। 'मसनवी' का शाब्दिक अर्थ समानान्तर है। मसनवी ग्रंथों में एक पंक्ति के समानान्तर (एक पंक्ति के वजन पर) दूसरी पंक्ति होने के कारण ही संभवत: इस रचना शैली को यह नाम दिया गया है, ऐसा विद्वान मानते हैं। इस शैली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

(१) प्रत्येक पद अपने आप में स्वतंत्र, पूर्ण तथा तुकांत होता है; एक चरण के शब्द दूसरे चरण में नहीं जा सकते।

(२) इसका प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक काव्यों, प्रेमाख्यानों, उपदेशात्मक या धार्मिक ग्रंथों के लिए अधिक सुन्दर समझा जाता है।

(३) इस शैली के काव्य के प्रारम्भ में ईश्वर, पैगम्बर के मित्र, कवि के गुरु और सामयिक राजा की प्रशंसा रहती है। इसके पश्चात् कवि अपना परिचय तथा कथा का सांकेतिक सूत्र बताता है।

(४) ग्रंथ के खण्ड या विभाग होते हैं फिर ये सर्गबद्ध किये जाते हैं। सर्गों का नाम वर्ण्य-विषय के अनुसार रखा जाता है।

(५) अन्त में उपसंहार होता है जिसमें कवि अपनी रचना का उद्देश्य तथा ग्रंथ की समाप्ति की तिथि का उल्लेख करता है।

उक्त बिन्दुओं के ही आधार पर पद्मावत की परीक्षा की जारही है कि वह फारसी शैली का मसनवी काव्य है अथवा नहीं—

जहां तक प्रथम बिन्दु का प्रश्न है, पद्मावत का प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण, स्वतंत्र तथा तुकांत है। मसनवी में प्रत्येक दो मिसरे समतुकान्त होते हैं इसलिए एक अर्द्धाली की ही चर्चा की जारही है जिसको पूर्ण चौपाई के रूप में जायसी ने अपनाया है। उदाहरण—

अनचिन्ह पिऊ कांपों मन मांहा। का मैं कहब गहब जो ब्राहां ॥
बारि बैस गहै प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत लुमानी ॥
जोबन गरब न किछु में चेता। नेह न जनौं साम कि सेता ॥
अब सो कंत जो पूर्छहि बाता। कस मुख होइहि पीत की राता ॥
+ + + +
कि करि सिंगार तापहं का जाऊँ। ओहि देखहुँ ठांवहि ठाऊँ ॥
जौं जिउ मैं तौ उन्हें पियारा। तन मन सो नहि होइ निनारा ॥
नैन मांह है बाहैं समाना। देखौं तहां नांहि कोउ आना ॥
पद्मावति सो कहेउ विहगम। कंत लुभाइ रही करि संगम ॥
ताहि चैन सुख मिलै सरीरा। यौ कह हिये दुंद दुख पूरा ॥
हमहुं बियाही संग ओहिपीउ। आपुहि पाइ, जानु पर जीऊ ॥
मोहि भोग सो काज न, बारी। सौंह दिस्टि कै चाहन हारी ॥

'पद्मावत' एक प्रेमाख्यान काव्य है। राजा रत्नसेन एवं पद्मावती की प्रणय कथा का वर्णन ही इसका केन्द्र बिन्दु है। कथा का प्रारम्भ मसनवी शैली पर किया गया है और प्रेम का प्रसग भी फारसी प्रेम शैली पर है। पदमावती के रूप वर्णन से ही राजा रत्नसेन मूर्छित हो जाता है इसके अतिरिक्त विरह वर्णन में भी प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिए कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमा को लांघ गया है। रूप वर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविकता में बाधा डालता है। उदाहरण के लिए—

हिया थार कुच कचन लाडू। कनक कचोर उठे करि चाडू ॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूदे। अमृत भरे रतन दुई मूंदे ॥
बधे भवर कंट केतुकी। चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी ॥
जोबन बान लेहि नहिं बागा। चाहहिं हुलसि हिए हठि लागा ॥
अगिनि बान दुई जानहुं सांधे। जग वेधहिं जो होहि न बांधे ॥
उतग जंभीर होई रखवारी। छुई को सका राजा कै बारी ॥
दारिव दाख भरे अनचाखे। अस नारग दहुं का कंह राखे ॥
राजा वहुत मुए तपि, लाइ लाइ भुंई माथ।
काहू छुअै न पारै, गये मरोरत हाथ ॥

इस पद में तोता, रत्नसेन से पद्मावती के स्तनों का सौन्दर्य-वर्णन कर रहा है।

सुनतहि राज गा मुरछाई। जानहु लहरि सुरज कै आई ॥
पेम घाव दुःख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होई विष भारा ॥
विरह भंवर होइ भांवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहिं लेई ॥
(प्रेम-खण्ड)

जेहि पंछी कह अठवौं, कहि सो विरह कै वात।
सोई पंखी जाइ उहि, तरुवर होइ निपात ॥
(नागमती वियोग खण्ड)

पद्मावत के प्रेम का यह स्वरूप मसनवी शैली से आरम्भ होकर अन्त में भारतीय परम्परा से समन्वय कर लेता है।

पद्मावत के आरम्भ में ईश्वर वंदना की गई है। ग्रंथ की प्रथम पंक्ति में ही ईश्वर स्मरण किया गया है। आगे चलकर कवि मुहम्मद साहब का स्मरण करता है। तत्पश्चात् कवि ने पैगम्बर मुहम्मद साहब के चारों मित्रों का वर्णन किया है। इसके बाद शाहेवक्त दिल्ली के अधिपति शेरशाह का वर्णन है। शेरशाह के वर्णन के बाद कवि ने अपने गुरु का स्मरण किया है जिसने उसे पथ प्रदर्शित किया। इसके बाद कवि ने शेख मुईउद्दीन के प्रति भी गुरु के समान ही श्रद्धा अर्पित की है। गुरुओं के स्मरण के पश्चात् कवि ने स्वयं का परिचय दिया है जिसमें सर्व प्रथम अपनी कुरुपता का ही उल्लेख किया है—

एक नैन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेइ कवि सुनी॥
चांद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकइ नैनाहां। उआ सूक अस नखतन्ह मांहा॥
जौ लहि अम्बहि ढाभ न होई। तौ लहि सुगंध बसाइ न सोई॥
कीन्ह समुद्र पानि जो खारा। तौ अति भएहु असूझ अपारा॥
जौ सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचन गिरि लाग अकासा॥
जौ लहि घरी कलंक न परा। कांच होई नहि कंचन करा॥
एक नैन जस दरपन, औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पांव गहि, मुख जोवहि कइ चाउ॥
—(स्तुति खण्ड)

अपना परिचय देने के पश्चात् कवि ने अपने चारों मित्रों का वर्णन किया है; अपना निवास स्थान बताया है और फिर खण्ड के अन्त में कथा का सार संक्षेप में कह दिया है।

कवि ने पद्मावत का विभाजन सर्गों में न करके खण्डों में किया है। ग्रंथ में ५८ खण्ड हैं। वर्ण्य-विषय के आधार पर प्रत्येक खण्ड का नामकरण किया गया है।

ग्रंथ के अन्तिम खन्ड का शीर्षक उपसंहार है। सम्पूर्ण काव्य की कथा का सार कवि ने इस खण्ड में निचोड़ कर रख दिया है तथा कथा लिखने का कारण भी बताया है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेउ जो बूझै पारहु॥
तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महं मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि॥

तथा

मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा । सुना सो पीर प्रेम करि पावा ।।
जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढ़ि प्रीति नयन्ह जल भेई ।।
श्रौ मैं जानि गीत अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा ।।
कहां सो रतनसेन अब राजा । कहां सुश्रा अस बुधि उपराजा ।।
कहां अलाउद्दीन सुल्तानू । कहां राघव जेइ कीन्ह बखानू ।।
कहां सुरुप पद्मावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।।
धनि सोई जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ।।
केइ न जगत जस बेंचा, कंइ न लींह जस मोल ।
जो यह पढै कहानी, हम संवरे दुइ बोल ।।

कवि ने ग्रंथ के समापन की तिथि का उल्लेख नहीं किया है जिसके कारण विद्वानों को काफी मुसीबत उठानी पड़ती है ।

उक्त बातों के उल्लेख से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पद्मावत मसनवी शैली पर लिखा हुआ काव्य है । यदि बारीकी से अध्ययन किया जाय तो पद्मावत पूर्णतः मसनवी शैली के लक्षणों पर आधारित नहीं है किन्तु उसमें अधिकांश लक्षण तो मिलते ही हैं । इसी कारण, इसे मसनवी पद्धति पर आधारित काव्य कहा जा सकता है किन्तु उस पर भारतीय शैली का प्रभाव है।

पद्मावत के भाव और भाषा में सबसे अधिक खटकने वाला दोष पुनरुक्ति का है। उसमें एक ही भाव, एक ही उपमा और यहां तक कि एक ही वाक्य कई बार आ गये है । पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन जहां-जहां भी किया गया है उसमें अलकारों में, भाषा में और भाव में साम्य होने से पुनरुक्ति का दोष आ गया है । बार-बार सूर्य और चंद्र का जोड़ा प्रत्येक पृष्ठ पर आता है। वस्तुवर्णन में जायसी की शैली नाम-वर्णनात्मक शैली के लिए अधिक प्रसिद्ध है । कहीं ता जायसी ने वस्तु पदार्थों, फलों, पौधों, वृक्षों के नाम ही गिनकर प्रकृति चित्रण कर डाला है । जायसी ने रत्नसेन के विवाह और बादशाह की दावत के वर्णन के समय पकवानों की लम्बी सूची तैयार कर दी है । कहीं पर युद्ध यात्रा के समय घोड़ों की जातियां ही गिनाते हैं । कहीं कहीं जायसी ने अरोचक और अनपेक्षित प्रसंगों का वर्णन भी जरूरत से अधिक कर दिया है। रत्नसेन और पद्मावती के समागम पर राजा का रसायनी प्रलाप और शतरज के मोहरों और चालों का बेढंगा वर्णन मिलता है । कहीं कहीं कामशास्त्र में वर्णित चार प्रकार की स्त्रियों का वर्णन वे पद्मावत में ले बैठे जो काव्य का विषय नहीं है । इस काव्य में कहीं कही न्यून पदत्व का दोष भी आ गया है । कारक चिन्हों, सम्बन्ध वाचक सर्वनामों विभक्तियों आदि में मात्राओं का लोप हो गया है । कहीं पर अनुचितार्थत्व का दोष भी आ गया है । शृंगार में रत्नसेन को रावण के अर्थ में प्रयुक्त किया है । रावण बड़ा प्रतापी और वीर था पर यहां मनोहर नायक के लिए रावण शब्द उपयुक्त नहीं जंचता है ।

कवि की भाषा शैली में इन दोषों के होते हुए भी जायसी को किसी भी आधार पर निम्न कोटि का कवि नहीं बताया जा सकता है क्योंकि कवि ने अपनी रोचक शैली के द्वारा प्रेम मार्ग का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण किया है । वास्तव में पद्मावत का सा प्रबन्ध सौष्ठव भी अन्यत्र नहीं मिलता है । कथा-

वस्तु में रोचकता है। कहीं पर भी घटनाओं का मोड़ आश्चर्यजनक नहीं है। इस प्रकार, दोषों के होते हुए भी जायसी का भाषा सौष्ठव और भाषा शैली उत्कृष्ट है।

छंद-योजना—जायसी का पद्मावत चौपाई और दोहा छंद में लिखा गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पद्मावत एक चरित काव्य है तथा चरित काव्य के लिए उपयुक्त छंद दोहा और चौपाई है। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस इसका ज्वलंत प्रमाण है। इसके साथही महत्वपूर्ण बात यह है कि जायसी की दोहा चौपाई शैली त्रुटिपूर्ण है। अनेक स्थल ऐसे हैं जहां शास्त्रीय नियमों का पालन ही नहीं किया गया है। कहीं पर तो तेरह, ग्यारह पर ही यति करदी गई है और कहीं दोहे में १६-१६ की यति से ३२ मात्राएं हो गई हैं तथा कुछ स्थलों पर इससे कम भी मिलती हैं। चौपाई में भी कहीं १६ के स्थान पर १५ मात्राएं हैं और इसी कारण वहां वाक्य-विन्यास शिथिल हो गया है। डा० शम्भूनाथसिंह ने पद्मावत की छंद पद्धति को 'कडवकबद्ध पद्धति' कहा है तथा अपभ्रंश और पद्मावत की छंद पद्धति का अन्तर बताते हुए संकेत किया है कि "अपभ्रंश काव्यों में कड़वक के भीतर पज्झटिका, अडिल्य, चउपई, मदनक, त्रोटक आदि ऐसे कई छंदों का प्रयोग होता है जिनमें दो-दो चरण सममात्रिक और समतुकांत होते है। यद्यपि 'कडवक' में घत्ता से पहले आद्यंत एक ही छंद होता है। पदमावत में आदि से अन्त तक सभी कड़वकों में छंद का और कड़वकान्त में घत्ता के रूप में दोहा छंदों का प्रयोग हुआ है।"

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पद्मावत काव्य और दर्शन का समुचित संगम है। उसमें एक ओर सूफी और भारतीय धर्म का प्रवाह है तो दूसरी ओर अध्यात्म का हल्का गहरा रंग है। इन सभी को प्रेषणीयता से युक्त करने वाला पद्मावत का शिल्प हिन्दी महाकाव्यों में अग्रणीय है।

पदमावतः समासोक्ति या अन्योक्ति

जायसी के पद्मावत में प्रेम तत्व प्रधान है। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस मत को व्यक्त किया है या अपने पाठकों को कवि जायसी इस तथ्य का बराबर स्मरण कराते रहते हैं कि मैं प्रेम कथा लिख रहा हूं। पद्मावत में रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम वर्णन के माध्यम से जिस प्रेम की व्यंजना की गई है, वह नायक और नायिका के मध्य लौकिक प्रेम न होकर जीवात्मा एवं साधक और परमात्मा या परमसत्ता के मध्य विकसित होने वाला आध्यात्मिक या अलौकिक प्रेम है। इसी कारण पद्मावत में लौकिक प्रेम-वर्णन के अन्तर्गत कवि की दृष्टि अलौकिक प्रेम-वर्णन की ओर, और लौकिक सौंदर्य वर्णन के अन्तर्गत अलौकिक सौन्दर्य की ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है। यही आध्यात्मिकता पद्मावत की महत्तम विशेषता है।

जायसी के काव्य में प्रदर्शित आध्यात्मिकता प्रेम के सहारे ही व्यक्त हुई है। पद्मावत की कथा में आध्यात्मिकता का समावेश किस रूप में हुआ है, यही विचारणीय प्रश्न है। यह व्यंजना, अभिव्यक्ति दो रूपों में संभव है—एक तो अन्योक्ति शैली में और दूसरे, कथामूलक समासोक्ति शैली में।

प्रश्न यह है कि पद्मावत में अन्योक्ति शैली प्रधान है या समासोक्ति शैली या दोनों का समुचित संगम है। बहुत से विद्वान् पद्मावत की कथा को अन्योक्ति मानते हैं और कुछ समासोक्ति। अन्योक्ति मानने वाले विद्वानों की दृष्टि में पद्मावत की कथा में आध्यात्मिक भावना या जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति कथामूलक अन्योक्ति शैली में हुई है। इस मत के विरोध में ही एक दूसरा दल है जो पद्मावत को समासोक्ति मानता है। इस वर्ग का कहना है कि पद्मावत की कथा में आध्यात्मिक भावना या जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद की अभिव्यंजना कथामूलक समासोक्ति शैली में हुई है। इस स्थल पर यही निश्चय करना है कि पद्मावत अन्योक्ति है या समासोक्ति, किन्तु इसके समाधान के लिए यही आवश्यक है कि पहले यह समझ लिया जाय कि समासोक्ति और अन्योक्ति से क्या तात्पर्य है? अन्योक्ति और समासोक्ति शैली के अर्थ को जानने के लिए विभिन्न विद्वानों के मत मतांतरों को व्यक्त करना आवश्यक है।

समासोक्ति—'समासोक्ति' शब्द का विवेचन समास+उक्ति दोनों शब्दों के संयोग से हुआ है। इसका अर्थ होता है संक्षेप में कही गई उक्ति। समासोक्ति की परिभाषा के विषय में चन्द्रालोककार ने कहा है—"जहां किसी प्रस्तुत विषय को उठा कर उसी वाक्य में लिंग, क्रिया आदि के रूप में गर्भित किसी अन्य अप्रस्तुत विषय की झलक दिखाई जाती है या संक्षिप्त रूप में कही जाती है वहां समासोक्ति अलंकार होता है।" सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि "जहां प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से अप्रस्तुत का भी बोध कराया जाय वहां समासोक्ति अलंकार होता है।"

भिखारीदास ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहां प्रस्तुत के कथन में अप्रस्तुत का ज्ञान पाया जाय, उसका वर्णन किया जाय अथवा अप्रस्तुत का वर्णन भी निकलता हो वहां समासोक्ति अलंकार होता है। उसकी पहचान कहीं वाचक तथा कहीं श्लेष के माध्यम से होती है—

जहां प्रस्तुत में पाइये, अप्रस्तुत को ग्यान
कहुँ वाचक कहुँ श्लेष ते समासोक्ति पैहचान ॥

स्पष्ट बात यह है कि प्रायः सभी आचार्यों ने इस तथ्य को विशेष बलपूर्वक कहा है कि प्रस्तुतार्थ बोधक अर्थ के द्वारा किसी दूसरे में प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना हो और वह व्यजना विशेष्य-वाचक पद की सामर्थ्य से नहीं वरन् विशेषण वाचक पदों की महिमा से श्लेष के सहारे प्रकट की जाय जिस से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थ सरलता से प्रकट हो जायें।

अन्योक्ति—इसमें अप्रस्तुत वर्णन के माध्यम से किसी प्रस्तुत अर्थ को व्यंजित किया जाता है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अन्योक्ति की परिभाषा में लिखा है—

क्वचिद् विशेषः सामान्यात्, सामान्यवा विशेषतः।
कार्यान् निमित्त कार्यञ्च हेतारेथ समात् समम्।
अप्रस्तुतात् प्रस्तुत चेद् गम्यते पंचधा ततः।
अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्........................ ॥

इस प्रकार इस अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति अलंकार में ऊपर से

वर्णन तो अप्रस्तुत विषय का होता है, परन्तु वास्तव में उसके द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाती है। स्पष्ट ही अन्योक्ति में वर्णित विषय को अप्रस्तुत या अप्रधान रखा जाता है और प्रस्तुत अर्थ जिसकी व्यजना करना कवि का असली लक्ष्य होता है, व्यंग्य होता है और वही प्रमुख भी होता है।

पद्मावत के संदर्भ से विवेचन—समासोक्ति और अन्योक्ति की परिभाषाओं का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् यह आसानी से जाना जा सकता है कि पदमावत अन्योक्ति है या समासोक्ति। यदि पद्मावत में कथा प्रधान है और उसके द्वारा आध्यात्मिक व्यंजना भी की गई है तो समासोक्ति मानना उचित है और यदि वर्णित कथा गौण है और उससे व्यंजित अप्रस्तुतार्थ प्रमुख है तो अन्योक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस विषय में चार मान्यताएं सामने आती हैं—

१. पदमावत का कोई निश्चित आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। कवि ने केवल अपनी भौतिक व लौकिक भावनाओं पर आध्यात्मिकता का आवरण चढ़ाने के लिए अपनी कथा के अन्त में एक विस्तृत अन्योक्ति का क्रम देने की चेष्टा की है। प्रसिद्ध विद्वान शिरेफ ने इस प्रकार का मत व्यक्त किया है। उनके वास्तविक शब्द हैं—

"I doubt very much whether he (the poet) had any definite allegory present to his mind throughout; the key which he gives us in the first Stanza of the envoy does not by any means fit the lock."

२. पद्मावत एक विशुद्ध अन्योक्ति काव्य है। सम्पूर्ण कथा में एक व्यवस्थित प्रस्तुत अर्थ है और वर्णित कथा सर्वथा अप्रस्तुत है।

३. पद्मावत एक समासोक्ति काव्य है। उसमें कवि ने प्रस्तुत वर्णनों में यत्र-तत्र सर्वत्र एक आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना की है, जो अप्रस्तुत है। अतः समस्त कथा समासोक्ति ही है, अन्योक्ति नहीं। आचार्य शुक्ल की यही मान्यता है।

४. पद्मावत में जायसी ने समष्टि रूप से सम्पूर्ण कथा को अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, साथ ही कुछ फुटकर प्रसंगों की दृष्टि से कवि ने स्थान-स्थान पर अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ की व्यजना भी की है। पद्मावत की कथा के सम्बन्ध में यह चौथी विचारधारा डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने अभिव्यक्त की है। उन्होंने लिखा है-"अन्योक्ति के साथ-साथ कवि समासोक्ति के नियोजन में भी सफल हो गया है। यहां पर प्रश्न उठता है कि जब समासोक्ति तथा अन्योक्ति दोनों की प्रकृति परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है तो एक ही काव्य में इन दोनों शैलियों की अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में मेरा यही कहना है कि पद्मावत अध्यात्म-प्रिय साधकों के लिए तो अन्योक्ति है। उनकी दृष्टि में इसका लौकिक अर्थ अप्रस्तुत कहा जायगा तथा इसका आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत होगा। इसके विपरीत लौकिक व्यक्तियों के लिए पद्मावत एक लौकिक काव्य है तथा उसका कथात्मक अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है। उनमें बीच-बीच में कवि ने केवल अपनी अध्यात्मप्रियता व्यंजित करने के लिए समासोक्ति के सहारे अप्रस्तुत अर्थ की

व्यंजना कर दी है । इस दृष्टिभेद के कारण ही पद्मावत अन्योक्ति भी है और समासोक्ति भी ।"

पद्मावत अन्योक्ति नहीं है—जो लोग पद्मावत को अन्योक्ति मानते हैं वे जायसी के उपसंहार स्वरूप लिखी गई पंक्तियों को अपने समर्थन का सशक्त आधार मानते हैं । पद इस प्रकार है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं । ते सब मानुस के घट मांहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय-सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुआ जो पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धंधा । बांचा सोइ न जो एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू । माया अलादीन सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥

इन पंक्तियों को डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने प्रक्षिप्त स्वीकार किया है । यदि ये पंक्तियां प्रक्षिप्त हैं तो इन प्रतीकों से निकलने वाला अर्थ कोई मूल्य ही नहीं रखता है, इतना ही नहीं, पद्मावत को अन्योक्ति मानने का सारा प्रमाण-बल ही समाप्त हो जाता है । यदि इसमें व्यक्त अर्थ को और इस पद को कुछ अन्य प्रतियों के आधार पर प्रामाणिक भी मान लिया जाय तो भी पदमावत अन्योक्ति की सीमा में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं रहता है । यह भी अकारण नहीं है । इसके भी कई कारण हैं । कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं-

१. इस, दिये गये प्रतीक कोष के आधार पर मन के दो प्रतीक रत्नसेन और सिंहल उपयुक्त नहीं ठहरते हैं ।

२. नागमती को दुनिया धंधा या माया नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्वयं कवि ने रत्नसेन के मुख से नागमती को निष्ठावान कहलाया है । रत्नसेन नागमती और पदमावती दोनों से ही समान व्यवहार करता है । दोनों ही पति के मरणोपरांत चिता पर जल कर भस्म हो जाती हैं । नागमती के जलने से स्वर्ग रतनार हुआ बतलाया गया है, फिर वह दुनिया धंधा कैसे हो सकती है ?

३. मन (रत्नसेन) और बुद्धि (पद्मावती) का समन्वय हो जाने पर माया द्वारा उनका विच्छेद नहीं हो सकता है ।

अतः यह कहना ही अधिक सही है कि उपर्युक्त प्रक्षिप्त पद में दिये गये प्रतीक पद्मावत के संदर्भ में सही नहीं उतरते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि पद्मावत अन्योक्ति नहीं है । पद में वर्णित प्रतीकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. पदमावती—बुद्धि की प्रतीक ।
२. सिंहल—हृदय ।
३. नागमती—दुनिया धंधा ।
४. राघव चेतन —शैतान ।
५. रत्नसेन—मन ।
६. चित्तौड़—तन ।
७. अलाउद्दीन—माया ।

८. हीरामन तोता—गुरु।

इन प्रतीकों को देखने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्ण अन्योक्ति में (यदि माना जाय तो) तीन पक्ष उद्घाटित हुए हैं—

१. प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष—पंडितों द्वारा दिया गया अर्थ।
२. प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष—सूफी साधनापरक अर्थ।
३. अप्रस्तुत पक्ष—कथा पक्ष।

इन तीनों पक्षों के समन्वय के सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है—"इन तीनों पक्षों का सामन्जस्य स्थापित करना थोड़ा कठिन है क्योंकि कवि कभी एक पक्ष में उलझ गया है तो कभी दूसरे में। कभी-कभी वह दोनों पक्षों को भूल कर केवल अप्रस्तुत पक्ष में ही रम गया है। ऐसे स्थलों पर जब उसे ध्यान आ जाता है तो वह उसमें आध्यात्मिकता ठूंसने लगता है। उसके इसी प्रयास के फलस्वरूप कथात्मक अन्योक्ति में बीच-बीच में समासोक्तिमूलक आध्यात्मिक संकेत पाये जाते हैं।"

वस्तुतः कवि जायसी के इस काव्य में अन्योक्ति का निर्वाह नहीं हो सका है। अन्योक्ति का सूत्र एक सिरे से लेकर अन्त तक नहीं मिलता है। इसे अन्योक्ति न मानने के पक्ष में और भी अनेक कारण दिये जा सकते हैं। श्रीरामपूजन तिवारी ने पद्मावत का विश्लेषण करते हुए और भी कुछ कारण दिये हैं—

१. पद्मावती को बुद्धि और राजा रत्नसेन को मन कहा गया है। यहां एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि सूफी साधना में बुद्धि को कोई भी स्थान नहीं दिया गया है। कहा गया है कि बुद्धि 'अहं' का विषय है और जब तक इस 'अहं' पर विजय प्राप्त नहीं करली जाय तब तक सूफी साधना सफल नहीं हो पाती है।

२. सूफी साधना के केन्द्र में परमात्मा है तथा परमात्मा को छोड़कर सूफियों के किसी भी सम्प्रदाय की, साधना की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रायः सभी सूफी सम्प्रदायों में साधक का चरम लक्ष्य परमात्मा को पाना कहा गया है और यह भी कहा गया है कि साधक उसे प्रेम के द्वारा पा सकता है। साधारणतः इन सम्प्रदायों में साधक को प्रेमी तथा परमात्मा को प्रेमिका के रूप मे चित्रित किया गया है।.........अतः यह कहना ठीक नहीं जंचता कि शुद्ध बुद्धिस्वरूपा आत्मा की साधना से जायसी प्रभावित थे। कुछ लोग पद्मावती को शुद्ध बुद्धि स्वरूपा आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त मानने के पक्ष में हैं। यह इस आधार पर संभव नहीं है।

३. सांकेतिकता की दृष्टि से भी ये उक्तियां ठीक नहीं बैठती हैं। सबसे पहले तो यही बात खटकती है कि मन और बुद्धि का सम्बन्ध राजा रत्नसेन और पद्मावती के परस्पर आकर्षण और प्रेम द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। शुद्ध-बुद्धिस्वरूपा आत्मा की साधना की अभिव्यंजना रत्नसेन और पद्मावती के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रेम की नाना मनोदशाओं के चित्रण द्वारा कहां तक उपयुक्त मानी जा सकती है यह विचारणीय है।

४. असंगति यह भी है कि कहीं पद्मावती का चित्रण परमतत्व के रूप में किया गया है तो कहीं पद्मावती के मुंह से राजा रत्नसेन का चित्रण

परमतत्व के रूप में किया गया है। परमसत्ता और परमसौन्दर्य के रूप में पद्मावती का चित्रण बहुत स्थलों पर मिलता है। मानसरोदक खण्ड की ये पंक्तियां देखिये—

कहा मानसर चाह हो पाई। पारस रूप इहां लगि आई ॥
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप रूपके दरसे ॥

नख-शिख खण्ड की 'जेहि दिन दसन जोति निरमई और रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती' आदि पंक्तियां भी इसी प्रकार की हैं। जन्म खण्ड में भी पद्मावती का वर्णन इसी प्रकार किया गया है। सभी योगी, जती और सन्यासी उसे पाने को उत्सुक हैं—

जग कोइ दिस्टि न आवै आछहि नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी तप साधहि तेहि आस ॥

इसके साथ ही निम्नलिखित पंक्तियों को भी पढ़िये जिनमें रत्नसेन का स्मरण परमसत्ता के रूप में किया गया है। वह यहां सर्वव्यापक और शाश्वत सिद्ध किया गया है—

कै सिंगार तापह कह जाऊं। ओहि कहं देखौं ठांवहि ठाऊं ॥
जौ जिउ महं तौ उहै पियारा। तन महं सोइ न होइ निनारा ॥
नैनन्ह मांह तो उहै समाना। देखऊं जहां न देखउं आना ॥

निष्कर्ष यह है कि पद्मावत को अन्योक्ति सिद्ध करने के लिए जो पद्द दिया गया है, उसे मान लेने पर मन (राजा) को परमसत्ता के स्थान पर स्वीकार करना पड़ेगा और कभी बुद्धि (पद्मावती) को। इस प्रकार की स्थिति में पद्मावत की अन्योक्ति का प्रश्न स्वयं ही खण्डित हो जाता है। श्री तिवारीजी के शब्दों के साथ यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण पद्मावत को एक विशुद्ध अन्योक्ति काव्य कहना ठीक नहीं प्रतीत होता है।

पद्मावत एक समासोक्ति है—पदमावत की कथा का जिस ढंग से वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि यह एक समासोक्ति है। यद्यपि कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जहां अप्रस्तुत और आध्यात्मिक अर्थ लगाया जा सकता है या उसके संकेत-सूत्र खोजे जा सकते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का यह कथन बड़ा उपयुक्त लगता है—'जायसी का संकेत विशेष २ स्थानों पर ही है। सारी कथा का घटना पक्ष आध्यात्मवाद से नहीं मिल सका है। पद्मावत में जिन विशेष स्थलों पर जायसी आध्यात्मिकता की व्यंजना कर सके हैं या जिनमें स्तुत अर्थ के साथ-साथ अप्रस्तुत अर्थ को भी महत्वपूर्ण स्थान है, उनमें से कुछ स्थल इस प्रकार हैं—सिंहलदीप वर्णन, मानसरोदक खण्ड, सिंहलगढ़ वर्णन, पद्मावती का नख-शिख वर्णन, प्रेम खण्ड और समुद्र वर्णन आदि। ये सारे वर्णन और प्रसंग सूफी भावात्मक प्रेम और ईश्वरीय साधना के अनुकूल हैं।"

पदमावत को समासोक्ति सिद्ध करने वाले स्थल कई हैं। राजा रत्नसेन की मूर्छित अवस्था का वर्णन है। पद्मावती रूपी परमसत्ता के अलौकिक सौन्दर्य के वर्णन मात्र से रत्नसेन उसी प्रकार मुग्ध हो जाता है जिस प्रकार भक्त परमात्मा के सौन्दर्य से मोहित होता है। ब्रह्म-साक्षात्कार की अनुभूति की व्यंजना ही निम्नांकित पंक्तियों का अप्रस्तुत अर्थ है जो समासोक्ति का द्योतक है—

सुनतहिं राजा गा मुरछाई । जानौ लहरि सुरुज कै आई ॥
× × ×
बिरह-भंवर होइ भांवरि देई । खिन-खिन जीव हिलोरहिं लेई ॥
खिनहिं निसास बूड़ि जिउ आई । खिनहिं उठै बिसमै बौराई ॥
खिनहिं पीत खिन होइ मुख सेता । खिनहिं चेत खिन होइ अचेता ॥

'सात समुद्र-खण्डों' का वर्णन भी समासोक्तिमूलक है । कवि ने स्पष्टतः समासोक्ति के सहारे ही अपने वर्णन को आगे बढ़ाया है । सातवें समुद्र में पहुंचने पर दुख की सारी छाया का हट जाना, आनन्द का प्रसार होना, सूर्य किरण का उदय होना कहकर साधक को अपनी साधना के निकट पहुँचाना, उस समय सारे भ्रमों और संतापों का दूर हो जाना और आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर होना व्यंजित किया गया है—

देखि मानसर रूप-सोहावा । हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
गा अंधियार रैनि मसि छूटी । भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥

पद्मावती का नखशिख वर्णन खण्ड में भी समासोक्ति पद्धति का विनिवेश किया गया है । परमसत्ता के सौन्दर्य की झांकी समासोक्ति के सहारे व्यंजित की गई है । उसी परम ब्रह्म के प्रकाश से सारी वस्तुओं को सौन्दर्य प्राप्त होता है । कवि ने लिखा है—

जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति ओहि जोति भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जंह-जंह बिहंसि सुभावहिं हसी । तंह-तंह छिटकि जोति परगसी ॥

मानसरोदक-खण्ड का पद्मावती सौन्दर्य वर्णन भी समासोक्तिपरक है । इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थल हैं जहां समासोक्ति शैली का प्रयोग किया गया है । सिंहलदीप के वर्णन में वृक्षों की छाया का प्रसंग भी समासोक्ति शैली का ही परिचायक है । 'जेहि वह पाई छांह अनूपा । फिरि नहि आइ सकै यह धूपा' और 'पथिक जो पहुंचै सहिकै घामू । दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥' जैसी पंक्तियों में समासोक्ति पद्धति का सौन्दर्य ही परिलक्षित होता है ।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मावत की वर्ण्य कथा प्रस्तुत है और स्थान-स्थान पर आये आध्यात्मिक वर्णन समासोक्ति की ही सूचना देते हैं । वास्तव में पद्मावत समासोक्ति ही है क्योंकि जायसी का लक्ष्य प्रेमकथा कहने का था और वे कथा को 'प्रेमकथा' को ही कृति का मूल विषय मान कर चले हैं । अतः इसमें कथा ही प्रधान है । जो भी आध्यात्मिक या अलौकिक संकेत मिलते हैं वे गौण हैं और इस प्रकार समासोक्ति का ही परिचय देते हैं । आचार्य शुक्ल की ये पंक्तियां इस संदर्भ में विशेषोल्लेख्य हैं— "यदि कवि के स्पष्टीकरण के अनुसार व्यंग्य अर्थ को ही प्रधान या प्रस्तुत मानें तो जहां-जहां दूसरे अर्थ भी निकलते हैं वहां-वहां अन्योक्ति माननी पड़ेगी किन्तु ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा के अप्रस्तुत होने की धारणा किसी पाठक को हो ही नहीं सकती है । अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिए । पद्मावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है । केवल बीच-बीच में

कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है। अतः इन स्थलों पर वाच्यार्थ से अन्य अर्थ, जो साधना पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है और समासोक्ति ही माननी पड़ेगी।" इसके विपरीत अन्योक्ति तो पद्मावत को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

पदमावत का महाकाव्यत्व

महाकाव्य के स्वरूप निर्धारण के सम्बध में भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही वर्ग के विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। भारतीय काव्य परंपरा में महाकाव्य को सर्गबद्ध रचना कहा गया है जिसमें महान चरित्र, सालंकारिक श्लिष्ट भाषा, सरद्धयता, नायक और साथियों का वर्णन, पंच संधियों, चतुर्वर्ग का विधान आदि तत्वों का समावेश होता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में महाकाव्य के लिए 'Epic' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में महाकाव्य के जो लक्षण दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—प्रकथन प्रधान, लोक विश्रुत और महत्वपूर्ण कथानक, गुणी शूरवीर और विजयी नायक, अति प्राकृत और अलौकिक तत्वों का सम्मिश्रण, असाधारण शालीन और गरिमासम्पन्न भाषा, जातीय भावों का प्राधान्य, विविध दृश्यों, उपाख्यानों और घटनाओं आदि का वर्णन। पाश्चात्य विद्वान 'डिक्सन' ने लिखा है कि– 'महाकाव्य सभी देशों में एक जैसा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सर्वत्र उसकी आत्मा और प्रकृति में एकता है। महाकाव्य कहीं भी सर्जित हो, उसकी रचना सुश्रृंखलित होती है। वह प्रकथन प्रधान होता है, उसका सम्बध महान् चरित्रों से होता है, उसमें महत्कार्य, गरिमामयी शैली की योजना होती है। उपाख्यानों और सविस्तार वर्णनों से उसका कथानक समृद्ध बनाया जाता है।"

महाकाव्य विषयक इन दोनों मतों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. महती कथा--उसका सुगठित विन्यास, निर्दोष प्रबंध कल्पना और विभिन्न प्रसंगों का संबंध निर्वाह।

२. महत् और उदात्त चरित्र।

३. महतकाव्यत्व—रसात्मकता और प्रभावान्विति।

४. महत्कार्य।

५. उदात्तभाषा—शैली गुरुत्व और गांभीर्य।

६. महत्त उद्देश्य—महत्प्रेरणा, जातीय भावों की अभिव्यक्ति।

७. विविध-वर्णन—युग जीवन के विविध चित्र।

इनके अतिरिक्त पद्मावत में कुछ लक्षण और भी स्वतः ही मिल जाते हैं—

१. सर्गों की संख्या तथा आकार।

२. काव्य का नामकरण।

३. वस्तु का उपाख्यान—मंगलाचरण आदि।

४. छन्द विधान।

(१) महती कथा प्रबंध-कल्पना और सम्बंध निर्वाह:—पदमावत हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें

चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल की राजकुमारी पदमावती की कथा है। पूर्वार्द्ध में पद्मावती की कहानी ही प्रमुख है और उत्तरार्ध में अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण से, देवपाल के साथ युद्ध में रत्नसेन के मारे जाने और रानी पद्मावती तथा नागमती के सती हो जाने तक की कथा का विधान है।

इसका कथानक स्पष्टतः एक जीवन्त कथानक है। आदि, मध्य और अन्त का आनुपातिक विकास है। 'पद्मावत' के प्रारंभ से लेकर पदमावती के विवाह तक की घटनाएं कथा के आदि भाग के अन्तर्गत आती हैं, उसके पश्चात् राघव चेतन देश निकाला खण्ड तक की घटनाएं मध्य भाग के अन्तर्गत और इसके बाद से लेकर अन्त तक की घटनाएं अन्त भाग से सम्बंधित हैं। प्रबंध-कल्पना और सम्बंध निर्वाह की दृष्टि से भी पद्मावत की कथा निर्दोष सिद्ध होती है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"जायसी का सम्बंध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की शृंखला बराबर लगी है।" डा० शिवसहाय पाठक ने भी पद्मावत के सम्बंध-निर्वाह और प्रबंध कल्पना के सम्बंध में इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं—"पदमावत का कथानक मूलतः और पूर्णतः सुसंगठित और सुशृंखलित है। इस प्रकार अरस्तू की कार्यान्विति और पाश्चात्य देशीय कार्यावस्थाओं की कसौटी पर पद्मावत पूर्णतः खरा उतरता है। पद्मावत में कोई भी घटना कथा की दृष्टि से अनावश्यक नहीं है। सभी घटनाएं और प्रसंग एक दूसरे से कार्य-कारण शृंखला में बंधे हैं। प्रत्येक घटना कथा-प्रवाह में योग देती है। पदमावत का कथानक सुसंगठित, कलात्मक और अन्विति युक्त है।"

नाट्य संधियों और कार्यावस्थाओं पर विचार करने से भी इसकी कथा सफल दिखाई देती है। जायसी के पदमावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध की घटनाएं एक दूसरे से इस प्रकार पृथक होगई हैं कि उन दोनों में पृथक-पृथक अवस्थाओं का विधान भी हो सकता है। पूरी कथा में भी प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, और नियताप्ति, फलागम की स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। प्रारंभ अवस्था हीरामन के द्वारा पद्मावती के नख-शिख वर्णन में उत्पन्न होती है। यहीं से नायक नायिका को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा से भर उठता है। रत्नसेन का योगी वेश में घर से निकल पड़ना प्रयत्न अवस्था का सूचक है। शिवमंडप तथा सिंहल पहुंचने पर प्राप्त्याशा की स्थिति है। यह प्राप्त्याशा 'सूली खण्ड' तक चलती है। इसी स्थल से रत्नसेन का वास्तविक परिचय पाने के पश्चात् कथा नियताप्ति की ओर अग्रसर होती है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध की कथा में नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। उत्तरार्द्ध की स्थिति भी स्पष्ट है। पूरी कथा में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध के संगम पर संघर्ष का चरम और बाद में संघर्ष की निवृत्ति और अवसाद दिखाई पड़ता है। इस प्रकार महाकाव्य के लिए पद्मावत का कथा विधान सर्वथा उपयुक्त है।

(२) महान और उदात्त चरित्र—महाकाव्य का महत्वपूर्ण लक्षण महान और उदात्त चरित्र से सम्बन्धित है। भारतीय साहित्य के अधिकांश विद्वान महाकाव्य को चरितकाव्य कहते हैं। पद्मावत में नायक रत्नसेन में सभी उदात्त चरित्र की तथा नायकोचित गुणों की स्थिति स्पष्ट है। वीरता, धीरता, दृढ़ता, उत्साह, स्फूर्ति, प्रेम आदि सभी रत्नसेन के चरित्र में समाविष्ट

हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि–"रत्नसेन पर्याप्त गंभीर है, पद्मावती के प्रति उसका उन्माद नहीं है, वह दृढ़ और स्थिर प्रेमी है। सिंहल से लौटते समय गंधर्वसेन से कही गई उसकी उक्ति विनयशीलता की घोषणा करती है।"

पद्मावती और नागमती में भी जायसी ने अपेक्षित गरिमा का सन्निवेश कर दिया है। वे उदात्त हैं। उनका व्यक्तित्व महान् है। दोनों ही आदर्श गृहिणी और पत्नी हैं, दोनों ही आदर्श प्रेमिकाएं हैं। दोनों ही पति के प्रति निष्ठा भाव से परिपूर्ण हैं। उनकी चरित्रगत महत्ता और उदात्तता का वर्णन पद्मावत के अन्त मे रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् मिलता है, जब वे राजा की चिता पर सती हो जाती हैं।

जियत कंत तुम्ह हम्ह गर लाईं। मुए कंठ नहिं छोडहिं साईं॥
औ जो गांठि कंत तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइ न छोरी॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम्ह तुम्ह नाह दुहू जग साथी॥

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पद्मावत के पात्रों की उदात्तता का वर्णन करते समय उनकी प्रतीकात्मकता का भी उल्लेख किया है।

(३) **महत् काव्यत्व : रसात्मकता और प्रभावान्विति**—भारतीय साहित्य शास्त्र में रसात्मकता को उत्कृष्ट काव्यत्व की अभिधा प्राप्त हुई है। वस्तुतः रसात्मकता और प्रभावान्विति दोनों का समुचित सम्मिलन ही काव्य को महाकाव्य की अभिधा से मंडित कर देता है। रसनीयता और सभी सम्बन्धित सूत्रों का एकान्वयन किसी भी काव्य को महनीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से भी पद्मावत महाकाव्य की अभिधा का अधिकारी है। शृंगार रस की प्रधानता इस महाकाव्य को रसात्मक और प्रभावशाली बनाने में सफल सिद्ध हुई है। इस में शृंगार के सभी प्रसंग पद्मावत को महाकाव्य की अभिधा प्रदान कराने में समर्थ हैं। शृंगार के बाद पद्मावत में करुण और शांत रसों का भी समावेश मिलता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"पद्मावत के अन्तिम भाग में शान्त रस की प्रतिष्ठा है। उससे शान्तिपूर्ण उदासीनता टपकती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण-क्रन्दन नहीं पूर्ण शांति है। राजा के मरने पर रानियां केवल विलाप ही नहीं करती हैं, बल्कि इस लोक से अपना मुंह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये, आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्तरस में पर्यवसान किया है।"

प्रभावान्विति की दृष्टि से भी पद्मावत विशेष महत्व का अधिकारी है। पद्मावत की आध्यात्मिकता इस संदर्भ में स्मरणीय रहनी चाहिए। कवि ने पद्मावत में आध्यात्मिक व्यंजना के समावेश द्वारा काव्यत्व और प्रभावान्विति में विशेष उत्कर्ष ला दिया है। पद्मावती सौन्दर्य–वर्णन के सारे प्रसंग इसी प्रकार के हैं। उनकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार भी संदेह प्रगट नहीं किया जा सकता है।

(४) **महत् कार्य**—महाकाव्य पद्मावत जितना उदात्त है, महनीय है, रसात्मक है, और प्रभावोत्पादक है उतना ही उसका कार्य महत् है। कार्य, महाकाव्य का एक ऐसा तत्व है जिसकी ओर महाकाव्य की सभी घटनाएं उन्मुक्त

हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि–"रत्नसेन पर्याप्त गंभीर है, पद्मावती के प्रति उसका उन्माद नहीं है, वह दृढ़ और स्थिर प्रेमी है। सिंहल से लौटते समय गंधर्वसेन से कही गई उसकी उक्ति विनम्रशीलता की घोषणा करती है।"

पद्मावती और नागमती में भी जायसी ने अपेक्षित गरिमा का सन्निवेश कर दिया है। वे उदात्त हैं। उनका व्यक्तित्व महान् है। दोनों ही आदर्श गृहिणी और पत्नी हैं, दोनों ही आदर्श प्रेमिकाएं हैं। दोनों ही पति के प्रति निष्ठा भाव से परिपूर्ण हैं। उनकी चरित्रगत महत्ता और उदात्तता का वर्णन पद्मावत के अन्त में रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् मिलता है, जब वे राजा की चिता पर सती हो जाती हैं।

जियत कंत तुम्ह हम्ह गर लाईं। मुए कंठ नहिं छोड़हिं साईं॥
औ जो गांठि कंत तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइ न छोरी॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम्ह तुम्ह नाह दुहू जग साथी॥

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पद्मावत के पात्रों की उदात्तता का वर्णन करते समय उनकी प्रतीकात्मकता का भी उल्लेख किया है।

(३) महत् काव्यत्व : रसात्मकता और प्रभावान्विति—भारतीय साहित्य शास्त्र में रसात्मकता को उत्कृष्ट काव्यत्व की अभिधा प्राप्त हुई है। वस्तुतः रसात्मकता और प्रभावान्विति दोनों का समुचित सम्मिलन ही काव्य को महाकाव्य की अभिधा से मंडित कर देता है। रसनीयता और सभी सम्बन्धित सूत्रों का एकान्वयन किसी भी काव्य को महनीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से भी पद्मावत महाकाव्य की अभिधा का अधिकारी है। शृंगार रस की प्रधानता इस महाकाव्य को रसात्मक और प्रभावशाली बनाने में सफल सिद्ध हुई है। इस में शृंगार के सभी प्रसंग पद्मावत को महाकाव्य की अभिधा प्रदान कराने में समर्थ हैं। शृंगार के बाद पद्मावत में करुण और शांत रसों का भी समावेश मिलता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"पद्मावत के अन्तिम भाग में शान्त रस की प्रतिष्ठा है। उससे शान्तिपूर्ण उदासीनता टपकती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण-क्रन्दन नहीं पूर्ण शांति है। राजा के मरने पर रानियां केवल विलाप ही नहीं करती हैं, बल्कि इस लोक से अपना मुंह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये, आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्तरस में पर्यवसान किया है।"

प्रभावान्विति की दृष्टि से भी पद्मावत विशेष महत्व का अधिकारी है। पद्मावत की आध्यात्मिकता इस संदर्भ में स्मरणीय रहनी चाहिए। कवि ने पद्मावत में आध्यात्मिक व्यंजना के समावेश द्वारा काव्यत्व और प्रभावान्विति में विशेष उत्कर्ष ला दिया है। पद्मावती सौन्दर्य-वर्णन के सारे प्रसंग इसी प्रकार के हैं। उनकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार भी संदेह प्रगट नहीं किया जा सकता है।

(४) महत् कार्य—महाकाव्य पद्मावत जितना उदात्त है, महनीय है, रसात्मक है, और प्रभावोत्पादक है उतना ही उसका कार्य महत् है। कार्य, महाकाव्य का एक ऐसा तत्व है जिसकी ओर महाकाव्य की सभी घटनाएं उन्मुख

होनी चाहिए। इस महाकाव्य के कार्य के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती का सती होना पद्मावत का कार्य बतलाया है। पं० रामकृष्ण शिलीमुख पद्मावतीकी प्राप्ति को ही पद्मावत का कार्य स्वीकार करते हैं। डॉक्टर शम्भूनाथसिंह के विचार से पद्मावत में कोई भी कार्य नहीं है क्योंकि वह पाश्चात्य ढंग की कार्य क्षय या नायक का विनाश की प्रवृत्ति के अनुकूल एक दुखांत काव्य है। डाक्टर सिंह का यह कथन पूर्ण-रूपेण उपयुक्त है। वास्तव में पद्मावत में केवल पूर्वार्द्ध तक की कथा में ही कार्य की योजना देखी जा सकती है और वह कार्य पद्मावती की प्राप्ति ही है। वह अपने में महत् कार्य है और महाकाव्य की वस्तु के योग्य है। भारतीय साहित्य में स्त्री की प्राप्ति को कार्य बनाने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पद्मावत में इसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'कार्य' की दृष्टि से भी पद्मावत के महाकाव्यत्व में कोई अवरोध आकर उपस्थित नहीं हो पाता है। वह सफल महाकाव्य ही ठहरता है।

(५) **उदात्त शैली : गुरुत्व और गांभीर्य**—शैली की दृष्टि से पद्मावत भव्य और उदात्त कृति है। इसकी शैली विचित्र भावों और नाना दृश्यों के चित्रण में समर्थ और प्रवाह युक्त है। महाकाव्योचित गरिमा पद्मावत की शैली में विद्यमान है। वस्तुतः महाकाव्य की महत्तीकथा और महतकाव्यत्व के साथ ही उसमें गंभीर और उदात्त शैली भी अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से भी पद्मावत कहीं से उतरा हुआ नहीं है। "भाषा शैली और उदात्तता की दृष्टि से पद्मावत में सर्वत्र एकरूपता मिलती है, जिसमें अवधी बोली का मिठास, समासोक्ति और अन्योक्ति पद्धति, प्रतीक योजना, सहज और स्वाभाविक अलंकरण पद्धति, मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग आदि विशेषताओं का समावेश हुआ है। पद्मावत में आदि से लेकर अन्त तक भाषा का एक ही रूप मिलता है। पद्मावत में कहने की शैली अत्यन्त अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण, सरल और प्रभविष्णु है।" डॉ० शम्भूनाथसिंह की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—"सरल किन्तु गंभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी में अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। पद्मावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परम्परा प्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है।"

(६) **महत् उद्देश्य : महत् प्रेरणा और जातीयता**—जायसी ने पद्मावत की रचना प्रमुख रूप से सूफी मत और सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के निमित्त की है। इस दृष्टि से इसकी लौकिकता स्पष्ट है। प्रमुखतः इसका उद्देश्य काम और मोक्ष की प्राप्ति माना जा सकता है। इनमें भी कवि का रुझान काम पर ही विशेष रूप से केन्द्रित है। इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि कवि जायसी मोक्ष की ओर अपने पाठकों की रुचि मनोवैज्ञानिक पद्धति से ले जाता है। "...जिस तरह सूरदास, मीरा, नन्ददास आदि प्रभुतिवक्त कवियों का प्रेम, शृंगार और विलास का वर्णन लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रंग में रंगा हुआ है उसी तरह जायसी की प्रेमभावना और शृंगार की व्यंजना लौकिक होकर भी आध्यात्मिक रंग में डूबी हुई है। अतः अप्रत्यक्षतः पद्मावत का फल मोक्ष है।" कवि ने मोक्षमार्ग पर बढ़ने वाली निर्वेग की भावनाओं की अभिव्यक्ति काव्यान्त में स्पष्ट रूप से की है—

हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि—"रत्नसेन पर्याप्त गंभीर है, पद्मावती के प्रति उसका उन्माद नहीं है, वह दृढ़ और स्थिर प्रेमी है। सिंहल से लौटते समय गंधर्वसेन से कही गई उसकी उक्ति विनयशीलता की घोषणा करती है।"

पद्मावती और नागमती में भी जायसी ने अपेक्षित गरिमा का सन्निवेश कर दिया है। वे उदात्त हैं। उनका व्यक्तित्व महान है। दोनों ही आदर्श गृहिणी और पत्नी हैं, दोनों ही आदर्श प्रेमिकाएं हैं। दोनों ही पति के प्रति निष्ठा भाव से परिपूर्ण हैं। उनकी चरित्रगत महत्ता और उदात्तता का वर्णन पद्मावत के अन्त में रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् मिलता है, जब वे राजा की चिता पर सती हो जाती हैं।

जियत कंत तुम्ह हम्ह गर लाईं। मुए कंठ नहिं छोड़हिं साईं॥
औ जो गांठि कंत तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइन छोरी॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम्ह तुम्ह नाह दुहू जग साथी॥

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पद्मावत के पात्रों की उदात्तता का वर्णन करते समय उनकी प्रतीकात्मकता का भी उल्लेख किया है।

(३) महत् काव्यत्व : रसात्मकता और प्रभावान्विति—भारतीय साहित्य शास्त्र में रसात्मकता को उत्कृष्ट काव्यत्व की अभिधा प्राप्त हुई है। वस्तुतः रसात्मकता और प्रभावान्विति दोनों का समुचित सम्मिलन ही काव्य को महाकाव्य की अभिधा से मंडित कर देता है। रसनीयता और सभी सम्बन्धित सूत्रों का एकान्वयन किसी भी काव्य को महनीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से भी पद्मावत महाकाव्य की अभिधा का अधिकारी है। शृंगार रस की प्रधानता इस महाकाव्य को रसात्मक और प्रभावशाली बनाने में सफल सिद्ध हुई है। इस में शृंगार के सभी प्रसंग पद्मावत को महाकाव्य की अभिधा प्रदान कराने में समर्थ हैं। शृंगार के बाद पद्मावत में करुण और शांत रसों का भी समावेश मिलता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"पद्मावत के अन्तिम भाग में शान्त रस की प्रतिष्ठा है। उससे शान्तिपूर्ण उदासीनता टपकती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण-क्रन्दन नहीं पूर्ण शांति है। राजा के मरने पर रानियां केवल विलाप ही नहीं करती हैं बल्कि इस लोक से अपना मुंह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये, आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्तरस में पर्यवसान किया है।"

प्रभावान्विति की दृष्टि से भी पद्मावत विशेष महत्व का अधिकारी है। पद्मावत की आध्यात्मिकता इस संदर्भ में स्मरणीय रहनी चाहिए। कवि ने पद्मावत में आध्यात्मिक व्यंजना के समावेश द्वारा काव्यत्व और प्रभावान्विति में विशेष उत्कर्ष ला दिया है। पद्मावती सौन्दर्य-वर्णन के सारे प्रसंग इसी प्रकार के हैं। उनकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार भी संदेह प्रकट नहीं किया जा सकता है।

(४) महत् कार्य—महाकाव्य पद्मावत जितना उदात्त है, महनीय है, रसात्मक है, और प्रभावोत्पादक है उतना ही उसका कार्य महत् है। कार्य, महाकाव्य का एक ऐसा तत्व है जिसकी ओर महाकाव्य की सभी घटनाएं उन्मुख

होना चाहिए। इस महाकाव्य के कार्य के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती का सती होना पद्मावत का कार्य बतलाया है। पं० रामकृष्ण शिलीमुख पद्मावतीकी प्राप्ति को ही पद्मावत का कार्य स्वीकार करते हैं। डॉक्टर शम्भूनाथसिंह के विचार से पद्मावत में कोई भी कार्य नहीं है क्योंकि वह पाश्चात्य ढ़ग की कार्य क्षय या नायक का विनाश की प्रवृत्ति के अनुकूल एक दुखांत काव्य है। डाक्टर सिंह का यह कथन पूर्ण-रूपेण उपयुक्त है। वास्तव में पद्मावत में केवल पूर्वार्द्ध तक की कथा में ही कार्य की योजना देखी जा सकती है और वह कार्य पद्मावती की प्राप्ति ही है। वह अपने में महत् कार्य है और महाकाव्य की वस्तु के योग्य है। भारतीय साहित्य में स्त्री की प्राप्ति को कार्य बनाने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पद्मावत में इसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'कार्य' की दृष्टि से भी पद्मावत के महाकाव्यत्व में कोई अवरोध आकर उपस्थित नहीं हो पाता है। वह सफल महाकाव्य ही ठहरता है।

(५) उदात्त शैली : गुरुत्व और गांभीर्य—शैली की दृष्टि से पद्मावत भव्य और उदात्त कृति है। इसकी शैली विचित्र भावों और नाना दृश्यों के चित्रण में समर्थ और प्रवाह युक्त है। महाकाव्योचित गरिमा पद्मावत की शैली में विद्यमान है। वस्तुत: महाकाव्य की महतीकथा और महतकाव्यत्व के साथ ही उसमें गंभीर और उदात्त शैली भी अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से भी पद्मावत कहीं से उतरा हुआ नहीं है। "भाषा शैली और उदात्तता की दृष्टि से पद्मावत में सर्वत्र एकरूपता मिलती है, जिसमें अवधी बोली का मिठास, समासोक्ति और अन्योक्ति पद्धति, प्रतीक योजना, सहज और स्वाभाविक अलंकरण पद्धति, मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग आदि विशेषताओं का समावेश हुआ है। पद्मावत में आदि से लेकर अन्त तक भाषा का एक ही रूप मिलता है। पद्मावत में कहने की शैली अत्यन्त अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण, सरल और प्रसविष्णु है।" डॉ० शम्भूनाथसिंह की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—"सरल किन्तु गंभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी में अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। पद्मावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परम्परा प्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है।"

(६) महत् उद्देश्य : महत् प्रेरणा और जातीयता—जायसी ने पद्मावत की रचना प्रमुख रूप से सूफी मत और सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के निमित्त की है। इस दृष्टि से इसकी लौकिकता स्पष्ट है। प्रमुखत: इसका उद्देश्य काम और मोक्ष की प्राप्ति माना जा सकता है। इसमें भी कवि का रुझान काम पर ही विशेष रूप से केन्द्रित है। इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि कवि जायसी मोक्ष की ओर अपने पाठकों की रुचि मनोवैज्ञानिक पद्धति से ले जाता है। "...जिस तरह सूरदास, मीरा, नन्ददास आदि प्रभूनिवक कवियों का प्रेम, शृंगार और विलास का वर्णन लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रंग में रंगा हुआ है उसी तरह जायसी की प्रेमभावना और शृंगार की व्यंजना लौकिक होकर भी आध्यात्मिक रंग में डूबी हुई है। अत: अप्रत्यक्षत: पद्मावत का फल मोक्ष है।" कवि ने मोक्षमार्ग पर बढ़ने वाली निर्वेद की भावनाओं की अभिव्यक्ति काव्यान्त में स्पष्ट रूप से की है—

हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि—"रत्नसेन पर्याप्त गंभीर है, पद्मावती के प्रति उसका उन्माद नहीं है, वह दृढ़ और स्थिर प्रेमी है। सिंहल से लौटते समय गंधर्वसेन से कही गई उसकी उक्ति विनम्रशीलता की घोषणा करती है।"

पद्मावती और नागमती में भी जायसी ने अपेक्षित गरिमा का सन्निवेश कर दिया है। वे उदात्त हैं। उनका व्यक्तित्व महान है। दोनों ही आदर्श गृहिणी और पत्नी हैं, दोनों ही आदर्श प्रेमिकाएं हैं। दोनों ही पति के प्रति निष्ठा भाव से परिपूर्ण हैं। उनकी चरित्रगत महत्ता और उदात्तता का वर्णन पद्मावत के अन्त में रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् मिलता है, जब वे राजा की चिता पर सती हो जाती हैं।

जियत कंत तुम्ह हम्ह गर लाईं। मुए कंठ नहिं छोड़हिं साईं॥
औ जो गांठि कंत तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइन छोरी॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम्ह तुम्ह नाह दुहू जग साथी॥

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पद्मावत के पात्रों की उदात्तता का वर्णन करते समय उनकी प्रतीकात्मकता का भी उल्लेख किया है।

(३) महत काव्यत्व : रसात्मकता और प्रभावान्विति—भारतीय साहित्य शास्त्र में रसात्मकता को उत्कृष्ट काव्यत्व की अभिधा प्राप्त हुई है। वस्तुतः रसात्मकता और प्रभावान्विति दोनों का समुचित सम्मिलन ही काव्य को महाकाव्य की अभिधा से मंडित कर देता है। रसनीयता और सभी सम्बन्धित सूत्रों का एकान्वयन किसी भी काव्य को महनीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से भी पद्मावत महाकाव्य की अभिधा का अधिकारी है। शृंगार रस की प्रधानता इस महाकाव्य को रसात्मक और प्रभावशाली बनाने में सफल सिद्ध हुई है। इस में शृंगार के सभी प्रसंग पद्मावत को महाकाव्य की अभिधा प्रदान कराने में समर्थ हैं। शृंगार के बाद पद्मावत में करुण और शांत रसों का भी समावेश मिलता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"पद्मावत के अन्तिम भाग में शान्त रस की प्रतिष्ठा है। उससे शान्तिपूर्ण उदासीनता टपकती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण-क्रन्दन नहीं पूर्ण शांति है। राजा के मरने पर रानियां केवल विलाप ही नहीं करती हैं, बल्कि इस लोक से अपना मुंह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये, आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्तरस में पर्यवसान किया है।"

प्रभावान्विति की दृष्टि से भी पद्मावत विशेष महत्व का अधिकारी है। पद्मावत की आध्यात्मिकता इस संदर्भ में स्मरणीय रहनी चाहिए। कवि ने पद्मावत में आध्यात्मिक व्यंजना के समावेश द्वारा काव्यत्व और प्रभावान्विति में विशेष उत्कर्ष ला दिया है। पद्मावती सौन्दर्य—वर्णन के सारे प्रसंग इसी प्रकार के हैं। उनकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार भी संदेह प्रगट नहीं किया जा सकता है।

(४) महत कार्य—महाकाव्य पद्मावत जितना उदात्त है, महनीय है, रसात्मक है, और प्रभावोत्पादक है उतना ही उसका कार्य महत् है। कार्य, महाकाव्य का एक ऐसा तत्व है जिसकी ओर महाकाव्य की सभी घटनाएं उन्मुक्त

होनी चाहिए। इस महाकाव्य के कार्य के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती का सती होना पद्मावत का कार्य बतलाया है। पं० रामकृष्ण शिलीमुख पद्मावतीकी प्राप्ति को ही पद्मावत का कार्य स्वीकार करते हैं। डॉक्टर शम्भूनाथसिंह के विचार से पद्मावत में कोई भी कार्य नहीं है क्योंकि वह पाश्चात्य ढ़ग की कार्य क्षय या नायक का विनाश की प्रवृत्ति के अनुकूल एक दुखांत काव्य है। डाक्टर सिंह का यह कथन पूर्ण-रूपेण उपयुक्त है। वास्तव में पद्मावत में केवल पूर्वार्द्ध तक की कथा में ही कार्य की योजना देखी जा सकती है और वह कार्य पद्मावती की प्राप्ति ही है। वह अपने में महत् कार्य है और महाकाव्य की वस्तु के योग्य है। भारतीय साहित्य में स्त्री की प्राप्ति को कार्य बनाने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पद्मावत में इसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'कार्य' की दृष्टि से भी पद्मावत के महाकाव्यत्व में कोई अवरोध आकर उपस्थित नहीं हो पाता है। वह सफल महाकाव्य ही ठहरता है।

(५) **उदात्त शैली : गुरुत्व और गांभीर्य**—शैली की दृष्टि से पद्मावत भव्य और उदात्त कृति है। इसकी शैली विचित्र भावों और नाना दृश्यों के चित्रण में समर्थ और प्रवाह युक्त है। महाकाव्योचित गरिमा पद्मावत की शैली में विद्यमान है। वस्तुतः महाकाव्य की महतीकथा और महतकाव्यत्व के साथ ही उसमें गंभीर और उदात्त शैली भी अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से भी पद्मावत कहीं से उतरा हुआ नहीं है। "भाषा शैली और उदात्तता की दृष्टि से पद्मावत में सर्वत्र एकरूपता मिलती है, जिसमें अवधी बोली का मिठास, समासोक्ति और अन्योक्ति पद्धति, प्रतीक योजना, सहज और स्वाभाविक अलंकरण पद्धति, मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग आदि विशेषताओं का समावेश हुआ है। पद्मावत में आदि से लेकर अन्त तक भाषा का एक ही रूप मिलता है। पद्मावत में कहने की शैली अत्यन्त अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण, सरल और प्रभविष्णु है।" डॉ० शंभूनाथसिंह की ये पक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—"सरल किन्तु गंभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी में अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। पद्मावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परम्परा प्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है।"

(६) **महत् उद्देश्य : महत् प्रेरणा और जातीयता**—जायसी ने पद्मावत की रचना प्रमुख रूप से सूफी मत और सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के निमित्त की है। इस दृष्टि से इसकी लौकिकता स्पष्ट है। प्रमुखतः इसका उद्देश्य काम और मोक्ष की प्राप्ति माना जा सकता है। इनमें भी कवि का रूझान काम पर ही विशेष रूप से केन्द्रित है। इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि कवि जायसी मोक्ष की ओर अपने पाठकों की रुचि मनोवैज्ञानिक पद्धति से ले जाता है। "...जिस तरह सूरदास, मीरा, नन्ददास आदि प्रभूतिवक्त कवियों का प्रेम, शृंगार और विलास का वर्णन लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रंग में रगा हुआ है उसी तरह जायसी की प्रेमभावना और शृंगार की व्यंजना लौकिक होकर भी आध्यात्मिक रंग मे डूबी हुई है। अतः अप्रत्यक्षतः पद्मावत का फल मोक्ष है।" कवि ने मोक्षमार्ग पर बढने वाली निर्देश की भावनाओं की अभिव्यक्ति काव्यान्त में स्पष्ट रूप से की है—

राती पिय के नेह गई सरग भयउ रतनार।
जो रे उवा से अथवा रहा न कोउ संसार॥

डा० शम्भूनाथसिंह ने व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टि से भी पद्मावत का उद्देश्य महान बतलाया है। पद्मावत में मानवता के उस सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया गया है जो प्रेम, उदारता, त्याग और सहिष्णुता की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित है। अतः उसका उद्देश्य व्यापक और उदार, मानवता का प्रसार, और मानव हृदय का विस्तार और परिष्कार करना है। यद्यपि पद्मावत मूलतः एक आध्यात्मिक काव्य है किन्तु जायसी ने अपनी आध्यात्मिकता और मतवाद को पाठक पर बलात् लादने का प्रयत्न नहीं किया है। अपनी बात उन्होंने ऐसी मार्मिक पद्धति से कह दी है कि उनका उद्देश्य भी सिद्ध हो जाता है और पाठकों को इस बात का पता भी नहीं चलता है कि उनका हृदय परिवर्तन किया जा रहा है। हृदय परिवर्तन की इस प्रक्रिया में जाति, धर्म, रंग और राष्ट्रों के ऊपरी भेद-बंधन सहज ही टूट जाते हैं और मनुष्य इस काव्य सरोवर में स्नान करके स्वाभाविक और विशुद्ध मानव बन कर निकलता है उसका हृदय कोमल, उदार और प्रशस्त बन जाता है। इस हृदय परिवर्तन को शुक्लजी के शब्दों में यों कहा जा सकता है—'एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटाकर एकत्व का अनुभव करने लगता है।'' स्पष्ट ही जायसी के महाकाव्य पद्मावत का उद्देश्य मानव मन को एक ही उच्च मनोभूमि पर प्रतिष्ठित कर के धर्म, जाति आदि की बनावटी और बेमानी खाइयों को पाटकर मानव मात्र को मानवता के सूत्र में पिरो देना है। यह उद्देश्य महान नहीं तो इससे भी अधिक महान् उद्देश्य और क्या हो सकता है?

(७) **युग जीवन के विविध चित्र**—महाकाव्यों में वर्णनों को विशेष स्थान मिलता है। वर्णनों के अभाव में कोई भी महाकाव्य उच्चता का और महनीयता का अधिकारी नहीं हो सकता है, किन्तु स्मरणीय यह है कि सभी वर्णन रसात्मक, भावात्मक और युग जीवन के व्यंजक होने चाहिएं। पद्मावत एक ऐसा ही महाकाव्य है। इस महाकाव्य में तत्कालीन जनजीवन और तत्कालीन युगसे सम्बन्धित सूत्रों और चित्रों को तो देखा ही जा सकता है साथ ही इस में वस्तु वर्णन को विशेष विस्तार मिला है। यह वस्तु वर्णन भी उच्च कोटि का है। जायसी के पद्मावत में सिंहलद्वीप वर्णन, चित्तोड़गढ़ यात्रा, समुद्र, विवाह, युद्ध, नखशिख और अमराई, सरोवर, कुएं, नगर हाट-बाजार व पनघट आदि तक का विस्तृत वर्णन किया गया है। वस्तु वर्णन की विस्तारणा गढ़ वर्णन और नख-शिख वर्णन में है। दुर्ग यात्रा, मंत्रणा, जलक्रीड़ा, दूत पुत्रोदय, विवाह, संयोग-वियोग आदि के वर्णनों में भी कवि की मनोवृत्ति का पता चलता है। युद्ध वर्णन में कवि ने सैनिकों का परस्पर भिड़ना शस्त्रों की झनकार, हाथी-घोड़ों की चिंघाड़, शस्त्र प्रहार, रुण्ड मुण्डों का कट काटकर गिरना, रक्त बहना आदि प्रसंग विस्तार से वर्णित हुए हैं। वस्तु वर्णन की दृष्टि से पद्मावत का एक वर्णन देखिये—

मैं दनन्द पदमावती बारी। रचि-रचि विधि सब कला संवारी॥
जग बेधा तेहि अंग सुवासा। भंवर आइ लुबुधें चहुं पासा॥

बेना मांग मनैगिरि बैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी॥
भौंह धनुष सार्वे सब फेरैं। नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं॥
नासिक कीर कंवल मुख सोहा। पदमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिय हुलसै कुच कनक गंभीरा॥

डॉ० शंभूनाथसिंह ने लिखा है कि महाकाव्य में जिन परिस्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं और क्रिया प्रतिक्रियाओं का वर्णन होता है उन्हें मुख्यतः इन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. घटना वर्णन।
२ रूप वर्णन।
३. प्रकृति वर्णन।
४. वस्तु वर्णन।
५. ज्ञान और उपदेश की बातों का वर्णन।
६. मनोदशाओं की अभिव्यक्ति का वर्णन।

पद्मावत में इन सभी वर्णनों का समुचित संयोग हुआ है। पिछले पृष्ठों में इनके सम्बन्ध में यत्र-तत्र बताया गया है। अधिक विस्तार से जानकारी प्राप्त करने के लिए डॉक्टर शंभूनाथसिंह कृत 'हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास' पुस्तक के पृष्ठ ४४२ से ४५७ तक का विवेचन पढ़िये। यहां तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "पदमावत के चित्रपट में महाकाव्योचित व्यापकता और उसके चित्रों में पर्याप्त वैविध्य है। यह महाकाव्य रत्नसेन और पदमावती के संपूर्ण जीवन की गाथा है और इसकी कथा का कार्य क्षेत्र दिल्ली से लेकर सिंहल तक फैला हुआ है।.........साथ ही पदमावत युग जीवन का बहुत कुछ यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत करता है। जायसी के समय में नाथ-पंथियों का प्राबल्य था। उस समय तक योगियों और साधुओं की सेना भी संगठित होने लगी थी। इसी तरह चित्तौड़ से उड़ीसा तक की यात्रा और फिर सिंहल की समुद्र यात्रा और वापसी यात्रा में समुद्री तूफान आदि का जायसी ने विशद वर्णन किया है। इससे पता चलता है कि उस समय तक भारत का समुद्री व्यापार भी कम नहीं था और न समुद्र-यात्रा ही पाप मानी जाती थी।" पदमावत में जन्म मृत्यु, विवाह, यात्रा, शकुन, शुभाशुभ फल, नाच-कूद, दान दहेज, तत्कालीन रीति रिवाज, पौरोहित्यकर्म, सती प्रथा और पूजा उपासना आदि का वर्णन और संकेत मिलता है। अतः रामचरितमानस और महाभारत की भांति पदमावत में जीवन चित्र भले ही गंभीरता लिये हुए न हों फिर भी उपेक्षित नहीं है। जीवन व्यापारों का सीमित और सांकेतिक अभिव्यंजन होने पर भी पदमावत जीवन सदर्भों का महाकाव्य ही ठहरता है।

इनके अतिरिक्त पदमावत में कुछ गौण लक्षण भी मिल जाते हैं जो भारतीय दृष्टि से संगत जान पड़ते हैं—

१. पद्मावत सर्गबद्ध महाकाव्य न होकर खण्डबद्ध महाकाव्य है। खण्ड और सर्ग में विशेष भेद भी नहीं है।

२. शृंगार पदमावत का अंगी रस है। नायक उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय है।

३. पदमावत के प्रारंभ में ईश्वर वंदना मिलती है तथा स्तुति खण्ड के अन्त में वस्तु निर्देश भी मिलता है—

सवरों आदि एक करतारू । जेइ जीउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।।
तथा
सिंहलदीप पद्मिनि रानी । रतनसेन चितउर गढ़ आनी ।।
अलाउदी दिल्ली सुल्तानू । राघो चेतन कीन्ह बखानू ।।

४. पद्मावत में तत्कालीन शाहेवक्त की संस्तुति भी मिलती है—

सेरसाहि दिल्ली सुल्तानू । चारिउ खण्ड तपै जस भानू ।।
आही छाज छात ओ पाटू । राजा भुंइ धरहि लिलाटू ।।
....
बरनों सूर पुहुमपति राजा । पुहुमि न भार सहइ जो साजा ।।
हय गज सेव चलइ जग पूरी । पलुट टूटि उड़हि होइ धूरी ।।

५. पद्मावत आद्यंत छन्द-चौपाई में लिखा गया है। इसमें सात चौपाईयो के पश्चात् एक दोहे का क्रम है ।

६. पद्मावत में दिन के विभिन्न प्रहरों, प्रकृति के अनेक दृश्यों और मनुष्य के नाना क्रिया कलापों का वर्णन मिलता है ।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि पदमावत भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से महाकाव्य की अभिधा का अधिकारी है । इसमें कवि ने पूर्वी और पाश्चात्य सभी महाकाव्य विषयक लक्षणों को स्थान दिया है । अतः यही कहना ठीक जान पड़ता है कि पदमावत एक सफल महाकाव्य है । सर्गान्त में छन्द परिवर्तन आदि कुछ तत्वों को छोड़ कर पद्मावत में सभी महाकाव्य सम्बन्धी तत्वों और लक्षणों का विनिवेश है । पात्र, कथानक, शैली और रसात्मकता सभी दृष्टि-बिन्दुओं से पदमावत का महाकाव्यपद अभिनंदनीय है । डा० शंभूनाथ सिंह ने इसे रोमांचक महाकाव्य माना है । कारण इसमें रोमांटिक तत्वों और साहसिक तत्वों का समान समाहार है । पद्मावत का अन्तिम प्रभाव वैराग्य और उदासी से संवलित शान्ति का है । इसकी सांकेतिकता और प्रेम मधुरता किसी भी उदबुद्ध और रसिक पाठक का मन बांध लेने के लिए पर्याप्त है । अंग्रेजी काव्य-वर्गीकरण के अनुसार इसे *Epic of Art* अर्थात् कला प्रधान महाकाव्य माना जा सकता है ।

पद्मावत में प्रबंधत्व और लोक जीवन का संस्पर्श

जायसी के पदमावत महाकाव्य की अभिधा से मंडित किये जाने के पश्चात् हमारा इसकी प्रबन्ध योजना पर विचार करना अप्रासंगिक नहीं है क्योंकि पदमावत को प्रबंध-विधान की दृष्टि से अलग से समझना आवश्यक है । पदमावत के पाठक इसके महत्व को अच्छी तरह समझते हैं । यहां संक्षेप में इसकी प्रबन्ध योजना पर विचार किया जा रहा है ।

समान स्वतत्रता होती है और प्रबन्ध काव्य में माला के समान सुसम्बद्ध संगठन होता है। हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी मुक्तक और प्रबन्ध को स्पष्ट किया है— 'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।'' इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि प्रबन्ध काव्य मे संगठन का तारतम्य और सुसम्बद्ध योजना होती है। डा० द्वारकाप्रसाद सक्सैना ने प्रबन्ध के पांच तत्व बताये हैं।

१. प्रबन्ध काव्य में आदि, मध्य और अवसान सहित प्रकथनपूर्ण सानुबन्ध मुख्य कथा होनी चाहिए।

२. उसमें प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना होती है।

३. प्रबन्ध काव्य में रसात्मक वस्तु वर्णनों का प्राधान्य होना चाहिए।

४. प्रासंगिक कथाओं एवम् वस्तु वर्णनों को मुख्य कथा से पूर्णतः सम्बद्ध रखना चाहिए।

५. कार्य की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त में एकरूपता होनी चाहिए।

इन पांचों विशेषताओं का परीक्षण इस प्रकार किया जा सकता है।

१. **सानुबंध कथा**—प्रबन्ध काव्य की सबसे पहली विशेषता यही है कि उसमें एक सानुबन्ध कथा होनी चाहिए। इस दृष्टि से पदमावत में एक सानुबन्ध कथा प्रतीत होती है। राजा रत्नसेन और पदमावती की सानुबन्ध कथा पदमावत में विद्यमान है। इस कथा में राजा रत्नसेन और पदमावती के विरह मिलन की कथा की भी योजना है। इसमें राजा रत्नसेन के योगी होकर सिंहलद्वीप की यात्रा करने से लेकर पदमिनि के चित्तौड़ आगमन तक की कथा पूर्णतया कल्पित है, किन्तु चित्तौड़ में राजा रत्नसेन द्वारा राघव चेतन के निकाले जाने से लेकर पदमिनी के सती होने तक की कथा ऐतिहासिक आधार पर नियोजित है। इसके साथ ही पदमावती के जन्म से लेकर रत्नसेन द्वारा सिंहलद्वीप के प्रस्थान तक की घटना को मध्य भाग कहा जा सकता है। राघव चेतन के चित्तौड़ से निकाले जाने से लेकर पदमिनि के सती होने तक की कथा को अन्त कह सकते हैं। इससे पूरी तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा में निश्चित आदि, मध्य और अन्त की योजना है। कथा में एक प्रवाह है और कथा प्रकथनपूर्ण है। कथा में कोई भी कहीं भी टूटन नहीं है।

२. **प्रासगिक कथा योजना**—कथा वस्तु दो प्रकार की होती है-आधिकारिक और प्रासगिक। प्रबन्ध में जो मुख्य कथा होती है उसे आधिकारिक कथा कहते हैं तथा मुख्य कथा के साथ-साथ जो अन्य छोटी मोटी कथाएं चलती हैं उन्हें प्रासंगिक कथा कह सकते हैं। पदमावत में अनेक प्रासगिक कथाएं है—हीरामन तोता तथा ब्राह्मण का वृतान्त, महादेव-पार्वती के आगमन का वृतान्त, समुद्र और लक्ष्मी का वृतान्त, राघव चेतन का वृतान्त, अलाउद्दीन चितौड़ आक्रमण का वृतान्त, गोरा बादल की कथा, राजा देवपाल और उसकी दूती की कथा आदि।

प्रासगिक कथाओं की सर्वाधिक विशेषता यह है कि वे पूर्णतः आधिकारिक कथा से सुसम्बद्ध हैं। पदमावत में जो कथा है—मुख्य कथा है, वह सभी प्रासंगिक कथाओं को साथ समेटकर चलती है। यह समेटना जबरदस्ती नहीं है, वरन् स्वाभाविकता और सुसम्बद्धता का द्योतक है। दूसरी बात

यह है कि वे सभी की सभी आधिकारिक कथा को गतिशील बनाती हैं। आचार्य शुक्ल की शब्दावली में पदमावत घटना प्रधान प्रबंध काव्य है। इस काव्य में सम्पूर्ण घटनाएं एक ही मुख्य घटना, राजा रत्नसेन और पदमावती का इहलोक और परलोक में अनन्य मिलन से जुड़ी हुई हैं। इस दृष्टि से पदमावत एक सफल प्रबंध है।

रसात्मक वर्णन :—पदमावत की कथा में वर्णन और घटनाओं की प्रधानता है। कवि को अनेक स्थलों पर अपने ढंग से वर्णन करने का अवसर मिल गया है। उसने वर्णनों के द्वारा केवल वर्णनों को ही स्थान नहीं दिया है वरन् उन वर्णनों में जो रंग भर दिया है उस से वे बड़े मार्मिक बन गये हैं। सिंहलद्वीप वर्णन, पदमावती के रूप–सौन्दर्य का वर्णन, मिलन वर्णन और विरह–वर्णन आदि अनेक स्थलों पर पाठकों का ध्यान रमाते हैं। जलक्रीड़ा–वर्णन और पदमावती रत्नसेन के विवाह का वर्णन भी बड़े रसात्मक स्थल हैं। नागमती का विरह–वर्णन तो हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। रानी नागमती का विरह एक ऐसी नारी का विरह है जो राजमहलों से निकल कर सामान्य भवनों और भवनों से निकल कर वनों में भटकती फिरती है। नागमती पति वियोग में बावली हो वन के सभी पशु पक्षियों और जीव–जंतुओं से अपना विरह–निवेदन करती है। वियोगाग्नि की भीषणता देखिये—

जेहि पंखी के निअर होइ कहै विरह कै बात।
सोई पखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥

पदमावत के रमणीय स्थलों में प्राकृतिक छटा के साथ–साथ मानव की सौन्दर्यानुभूति के भी दर्शन होते हैं। इन स्थलों में पाठक रमते हैं और उनके हृदय में आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है। पदमावती के रूप–सौन्दर्य के वर्णन में कवि उसे अद्भुत और अलौकिक सौन्दर्य से युक्त सिद्ध करने के लिए उसके काले–काले सहज सचिक्कण केशों के बारे में लिखता है कि पदमावती मानो मालती का पुष्प है और उसके केश उस पुष्प पर मंडराने वाले भ्रमर हैं—

भंवर केस वह मालति रानी। विसहर लुरहि लेहिं अरघानी॥
वेनी छोर झार जौ वारा। सरग पतार होइ अंधियारा॥

पदमावती की मांग का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

विनु सेंदुर अस जानहु दिया। उजियर पथ रैनि मंह किया॥
कचन रेख कसौटी कसी। जनु घनमंह दामिनी परगसी॥
सूरज किरनि जस गगन बिसेखी। जमुना मांझ सरसुती देखी॥

पद्मावती के नखशिख वर्णन में रसात्मकता का अंश अधिक है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें रसात्मकता की कोई कमी नहीं है।

सम्बन्ध निर्वाह :—किसी भी प्रबन्ध काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण होता है। पद्मावत इसी का समर्थन करता है। पदमावत में एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की शृंखला भी देखी जाती है। इन प्रसंगों की सुसम्बद्ध योजना के कारण ही इसके कथानक या काव्य के प्रवाह

में गतिशीलता दिखाई देती है। पदमावत में जो प्रासंगिक वृत्त हैं, वे आधिकारिक कथावस्तु का मार्ग निर्धारित करते हैं। इसमें कोई सदेह नहीं कि पदमावत की प्रासंगिक कथाओं और वस्तु वर्णनों का पूरा-पूरा सम्बन्ध आधिकारिक कथा से है। इस प्रकार सम्बन्ध निर्वाह की दृष्टि से पदमावत की प्रबधात्मकता में कहीं भी कोई शैथिल्य नजर नहीं आता है।

कार्य की दृष्टि से :—पदमावत के प्रबंधत्व में कार्य की दृष्टि से कोई भी कमी नहीं है। पदमावत का कार्य अथवा उद्देश्य है–राजा रत्नसेन की मृत्यु के उपरांत पदमावती और नागमती का सती होना प्रदर्शित करने के साथ लौकिक प्रेम को अलौकिक जगत् की वस्तु बना देना, जहां अनंत शांति और चिर मिलन है। जायसी ने अपनी प्रतिभा के बल पर इसी कार्य की सिद्धि के लिए अनेक प्रासंगिक कथाओं और रसात्मक स्थलों की योजना की है। इसमें जायसी सफल भी हुए हैं।

पदमावत सर्गों में विभक्त नहीं किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पदमावत मसनवी शैली पर लिखा गया काव्य है। "इस काव्य की सम्पूर्ण कथाएं और सम्पूर्ण वर्णन एक कार्य की ओर ही संकेत करते हैं तथा कवि ने कथानक के आदि, मध्य, अन्त और अवसान के माध्यम से कार्य संकलन की ओर दृष्टि डाली है। "इस प्रकार स्पष्ट है कि पदमावत में विभिन्न घटनाओं का वर्णन होकर भी सुसम्बद्धता है, रोमांचक और साहसिक कार्यों का उल्लेख है, स्वाभाविकता भी है।"

"अलौकिक और अतिमानवीय तत्वों का समावेश होकर भी जीवन की यथार्थता है, उपदेशात्मकता और सैद्धांतिक विवेचनों की भरमार होकर भी सरसता और मार्मिकता हैं; भौतिकता और अश्लीलता का पुट होकर भी आध्यात्मिकता है और सूफी पद्धति का अनुसरण होकर भी भारतीय प्रेम, वीरता और वैराग्य का सफल सामजस्य है। इसी कारण जायसी की प्रवन्धात्मकता उच्चकोटि की है। अतः जायसी का पद्मावत मानव-जीवन की विविधता के साथ-साथ रसात्मक वर्णनों और आध्यात्मिक संकेतों से परिपूर्ण एक सफल प्रबन्ध काव्य है।"

(डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सैना)

पद्मावत लोकजीवन का आख्यान

जायसी के पद्मावत में लोकपक्ष को पर्याप्त स्थान मिला है। एक ओर उन्होंने इसमें मुहावरे और कहावतों के प्रयोग से लोकभाषा को सवारा है तो दूसरी ओर लोकजीवन की अभिव्यक्ति करके भी लोकजीवन का काव्य कहलाने का अधिकारी बना दिया है। "पद्मावत का शब्द कोष उसमें प्रयुक्त लोकोक्तियां, कहावतें, मुहावरे और सूक्तियां आदि भी सामूहिक रूप से १६वीं शताब्दी में प्रचलित बोलचाल की अवधी-तत्कालीन लोकभाषा का वास्तविक रूप प्रकट करती है।"

जायसी के पदमावत में लोकपक्ष की तस्वीर है। लोकजीवन को विविध रंगों में प्रस्तुत करने वाली यह तस्वीर बड़ी साफ और चमकती हुई है। लोकजीवन की अभिव्यक्ति पदमावत में निम्नलिखित रूपों में देखी जा सकती है—

१. लोक जीवन से सम्बद्ध वर्णन ।
२. विरह वर्णन में लोकचेतना का स्पर्श ।
३. लोकजीवन से गृहीत प्रेमकहानी में लोककथाओं का समावेश ।
४. लोकजीवन के प्रचलित उपमानों का सन्निवेश ।

१. जहां तक लोकजीवन से सम्बन्धित वर्णन का प्रश्न है जायसी ने वस्तु वर्णन के विधान में लोकजीवन की स्पष्ट छवियां अंकित की हैं । पद्मावत में लोकजीवन के पर्व, त्यौहार, पनघट चित्र, विवाह चित्र, सखियों का हास परिहास, बाल क्रीड़ाएं, सरोवर स्नान जीवन के लिए देव की मनौती आदि का समुचित समावेश किया गया है । पनघट का वर्णन बड़ा मधुर है । इस वर्णन के अनुसार पनिहारिनें पदिमनी जाति की होती थीं । वे समूहों में या पंक्तिबद्ध होकर आया करती थीं । जायसी ने लिखा है—

पानिभरइ आवहिं पनिहारी । रूप-सुरूप पदुमिनी नारी ।।
+ + +
आवहिं झुंड-झुंड सो पांती । गवन सोह सो भांतिहि भांती ।।

विवाह प्रसंग में जायसी ने विवाहादि की तैयारी का जो वर्णन किया है, वह भी स्वाभाविक रूप से ग्रामीण जीवन की याद दिलाता है—

साजा राजा बाजन बाजे । मदनसहाय दहूं दिसि गाजे ।।
औ राता रथ सोन के साजा । भए बरात मोहन सब राजा ।।
बाजत गाजत भा असवारू । सबसिंघल नै करै जोहारू ।।
+ + +
धरती सरग चहूं दिसि, पूरि रहे मसियार ।
बाजत आवै राजमदिर कहं होइ मगलचार ।।

इसी प्रकार अनेक त्यौहारों और पर्वों का वर्णन भी पद्मावत में मिलता है ।

२. विरह वर्णन भी लोकजीवन को व्यंजित और स्पष्ट व्यक्त करता है । नागमती का विरह-वर्णन ग्रामीण जीवन की नारी की याद दिलाता है । बारहमासा इसका ज्वलंत उदाहरण है । लोकजीवन की मास से सम्बन्धित अनेक छवियां बारहमासा में सुरक्षित हैं । केवल वर्षा काल के संदर्भ में लिखी गई एक ही पंक्ति पर्याप्त है—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा । हौं बिनु नाह मंदिर को छावा ।।
बरसै मघा झकोरि झकोरी । मारे दुइ नैन चुवहिं जस ओरी ।।
+ + +
सावन बरसि मेह अति पानी । भरनि परी हौं बिरह झुरानी ।।

नागमती के वियोग वर्णन में कवि ने गांव के प्राकृतिक व्यापारों के मध्य ही विरह का चित्रण किया है । घुंघुची, पलाश, परवर और गेहूं आदि का उल्लेख लोकजीवन की ही सूचना देता है । एक पंक्ति और देखिये—

सखि भूमर गावहिं अंग मोरी । हौं झुरांव बिघुरी मोरी जोरी ।।

३. पदमावत की लोकजीवन से ग्रहीत प्रेम कहानी में लोककथाओं का समावेश भी किया गया है। जायसी के पद्मावत का प्रत्येक अंश लोककथाओं के सहारे आगे बढ़ता है । शुक और हीरामन तोते का विनियोग लोकजीवन के संस्पर्श को ही व्यक्त करता है । स्पष्ट ही है कि जायसी का झुकाव लोक जीवन की ओर था ।

४. पदमावत में लोकजीवन की व्यंजना करने के लिए जायसी ने लोक-जीवन के उपमानों को भी ग्रहण किया है। इन लोक-उपमानों और शब्द-संयोगों के कारण पदमावत लोकजीवन का ही काव्य ठहरता है। लोकजीवन से ग्रहीत प्रिय उपमानों में पपीहा, हिंडोला, पीतपत्ता, भरसाय (भाड़) और ओरी प्रसिद्ध हैं। जायसी के पपीहे का उपमान देखिये–

पिउ वियोग सस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोले पिउ पीऊ॥

विरहाकुल व्याकुल हृदय के निमित्त कवि जायसी ने हिंडोले का जो उपमान अपनाया है वह लोकजीवन के प्रति रुचि को ही प्रदर्शित करता है—

हिय हिंडोल अस डोले मोरा। विरह झुलाय देइ झकझोरा॥

पीले पत्ते का उपमान विरह के कारण पीत और कृश हुए शरीर के लिए अपनाया गया है—

तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा॥

इसी संदर्भ में एक और उपमान प्रस्तुत करके इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। हृदय की टीस या पीड़ातिरेक की व्यंजना विभिन्न कवियों ने विभिन्न शैलियों मे की है, किन्तु जायसी ने भाड़ में गर्म बालू में भुनते हुए अन्न का उपमान प्रस्तुत किया है और प्रिय वियोग में नेत्रों से प्रवाहित अश्रु वर्षा ऋतु के ओलों के समान प्रतीत होते हैं। देखिये तो सही कि कवि जायसी क्या कहते हैं—

लागिउ जरै जरै जस भारू। फिरि-फिरि भूंजेसि तजेउं न बारू॥

+ + +

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मम दुइ नैन चुवहिं जस ओरी॥

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी ने लोकजीवन का संस्पर्श और बहुत स्पष्ट संस्पर्श पदमावत में प्रस्तुत किया है। भाषा की लोकोन्मुखता ने लोकजीवन के विविध पक्षों और पर्वों को उद्घाटित किया है और साथ ही स्वयं जायसी ने यथावसर अनेक हिन्दू रीति रिवाजों और ग्रामीण वातावरण तथा तत्सम्बन्धित पर्वों और त्योहारों को इस प्रकार व्यक्त किया है जिससे यदि पदमावत को लोकजीवन का महाकाव्य कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पदमावत के विविध पक्षों में जहां दर्शन, काव्य और अध्यात्म का विशिष्ट गौरव है वैसे ही इसके लोक पक्ष का भी। लोक पक्ष का विस्तृत विवेचन विद्वानों को आमन्त्रित कर रहा है।

स्तुति खण्ड

सुमिरौं आदि एक करतारू । जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू । कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू ॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल खेहा । कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू । कीन्हेसि बरन बरन औतारू ॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती । कीन्हेसि नखत, तराइन पाँती ॥
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाँहा । कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माँहा ॥
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा । कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा ॥
कीन्ह सबै अस जाकर दूसर छाज न काहि ।
पहिलै ताकर नावँ लै कथा करौं औगाहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ:—सुमिरौं—स्मरण करता हूँ, करतारू सृष्टिकर्त्ता, जिउ—जीव, कीन्ह—किया है, बनाया है । पिरीति—प्रीति या इश्क, खेहा—मिट्टी, उरेहा- चित्र रचना, तराइन—तारागण, पांती—पंक्ति, सीउ—शीत, छोहा—छाया, मांहा—मध्य में, अस—इस प्रकार, छाज—शोभा देना, औगाहि—अवगाहन करना, पैठना ।

संदर्भ:—प्रस्तुत पंक्तियों में सूफी कवि जायसी ने आदि पुरुष (ब्रह्म) की प्रार्थना में मन लगाते हुए कहा है । मसनवी पद्धति का अनुसरण करते हुए जायसी कहते हैं—

व्याख्या:—जायसी कहते हैं कि मैं उस आदि पुरुष ईश्वर को पहले स्मरण करता हुआ प्रणाम करता हूँ । यह आदिम पुरुष संसार का नियामक और सचालक है । यह मनुष्य को जीवन प्रदान करता है और संसार का निर्माण करता है । उस ईश्वर ने प्रथम प्रकाश फैलाया है, (प्रकाश से तात्पर्य पैगम्बर मुहम्मद साहब के द्वारा उत्पन्न उनके नूर अथवा जलाल से है) जिसने ज्योति के प्रतिनिधि मुहम्मद साहब के प्रेमवश कैलाश का निर्माण किया । कैलाश से तात्पर्य स्वर्ग है । उसी परम पुरुष ने अग्नि, वायु, जल, मिट्टी तथा आकाश इन पांच तत्वों को बनाया है तथा इसी प्रकार उसने चित्र-विचित्र रंगमय संसार का निर्माण किया है । इसके पश्चात् उसने धरती, आकाश और पाताल का निर्माण किया है और अनेक अवतारों को उत्पन्न किया है । जायसी का कथन है कि मैं उस ईश्वर का स्मरण करता हूँ जिसने सातद्वीप, ब्रह्माण्ड, चौदह खण्ड, तीनों लोक, दिवस, सूर्य, चांद, रजनी,तारावलि नक्षत्र, धूप, शीत, छाया और बादल व बिजली आदि की सृष्टि की है ।

इस प्रकार की सृष्टि का निर्माता ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? कोई दूसरा इस प्रकार की रचना करते हुए सोहता (शोभित) भी नहीं है । अत: जायसी कहते हैं कि मैं पहले उसी का नाम स्मरण करके अपने पद्मावत काव्य की कथा में अवगाहन करता हूँ । तात्पर्य ईश्वर स्मरण के पश्चात् ही मैं आगे की कथा कहूंगा ।

विशेष:—जायसी ने सूफी कवि होने के नाते मसनवी शैली के आधार पर पैगम्बर ईश्वर की आराधना की है । एकेश्वरवादी दृष्टिकोण का यह प्रकाश

भारतीय मंगलाचरण के अनुकूल जान पड़ता है। इसमें ईश्वर की सर्वव्यापकता की सूचना देकर उसे सृष्टि-संचालक और पालक कहा गया है।

कीन्हेसि सात समुंद अपारा। कीन्हेसि मेरु, खिखिंद पहारा॥
कीन्हेसि नदी, नार औ झरना। कीन्हेसि मगर मच्छ बहु बरना॥
कीन्हेसि सीप, मोति जेहि भरे। कीन्हेसि बहुतै नग निरमरे॥
कीन्हेसि बनखँड औ जरि मूरी। कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी॥
कीन्हेसि साउज आरन रहंई। कीन्हेसि पंखि उड़ाहिं जहँ चहंई॥
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा। कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा॥
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू। कीन्हेसि बहु ओषद, बहु रोगू॥
निमिख न लाग करत ओहि, सबै कीन्ह पल एक।
गगन अंतरिख राखा बाज खंभ बिनु टेक॥ २॥

शब्दार्थः—खिखिन्द-किष्किधा पर्वत, नार औ झरना-नाले और झरने, निरमरे-निर्मल, साउज-जन्तु, विशेष रूप से वे जिनका शिकार किया जाता है। आरन-अरण्य, जहँ चहई-जहां चाहें स्वच्छदतापूर्वक, वरन-रंग, सेत-श्वेत, ओषद-ओषधि, निमिख-पलभर, ओहि-उस ईश्वर को, राखा-टिकाये हुए, बाज-बिना, टेक-आधार।

संदर्भः—ईश्वर की लीला विचित्र और अपरम्पार है। यही इन पंक्तियों का विषय है। कवि जायसी कहते हैं कि—

व्याख्याः—ईश्वर ने बड़े-बड़े सात समुद्रों का निर्माण किया है और किष्किधा और सुमेर पर्वत जैसे विशाल पर्वतों की सृष्टि की है। उसी परमात्मा ने नदी, नाले, झरने और उनमें रहने वाले विविध रंगों के मगरमच्छों का निर्माण किया है। मोती युक्त, सागर की अनेक सीपियां बनाई हैं और अनेक निर्मल और कान्तिमान नगों का निर्माण किया है। उसी ईश्वर ने सृष्टि की रचना करते समय बनखण्ड, जड़, मूल, पेड़, ताड़ और खजूर उगाये हैं। अनेक वन के जन्तु बनाये हैं जो जंगलों में निवास करते हैं। ऐसे पक्षी पैदा किये हैं जो स्वच्छंदतापूर्वक जहां चाहें जा सकते हैं—उड़ान भर सकते हैं। सफेद और श्याम वर्णों का भी निर्माण किया है। क्षुधा, नींद, आराम, पान, फूल और संसार के अनेकानेक भोग, अनेक रोगों की दवाएं (निदान) यह सभी कुछ उसी परमात्मा का बनाया हुआ है।

जायसी कहते हैं कि उस परमात्मा को यह सृष्टि रचना करते समय (जिसमें ऊपर की पंक्तियों में बताई गई वस्तुओं का नाम लिया जा सकता है) तनिक भी देर नहीं लगी। उसने यह सृष्टि एक पल भर में ही निर्मित करदी। सबसे बड़ी विचित्रता तो यह की कि बिना खंभों के अंतरिक्ष और आकाश खड़ा कर दिया।

विशेषः—जायसी ने इस पद में उसी परमतत्व की विशिष्टताओं का उल्लेख किया है और प्रतिपादित किया है कि संसार में जो कुछ भी है वह सब उसी सृष्टिकर्त्ता के प्रयत्नों का परिणाम है। इस पद में काव्यानुभूति से प्रेरित कथा-शिल्प और वर्णन शिल्प दोनों ही मिलते है।

कीन्हेसि अगर कसतुरी बेना। कीन्हेसि भीमसेन औ चीना॥
कीन्हेसि नाग, जो मुख विष बसा। कीन्हेसि मंत्र, हरै जेहि डसा॥

कीन्हेसि अमृत, जियै जो पाए । कीन्हेसि बिखख, मीचु जेहि खाए ।।
कीन्हेसि ऊख मीठ-रस-भरी । कीन्हेसि करू-बेल बहु फरी ।।
कीन्हेसि मधु लावै लै माखी । कीन्हेसि भौंर, पंखि औ पाँखी ।।
कीन्हेसि लोवा इंदुर चांटी । कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माटी ।।
कीन्हेसि राकस भूत परेता । कीन्हेसि भोकस देव दएता ।।

कीन्हेसि सहस अठारह बरन बरन उपराजि ।
भुगुति दिहेसि पुनि सबन कहँ सकल साजना साजि ।। ३ ।।

शब्दार्थ—अगर=अगरबत्ती, सुगंधित पदार्थ, भीमसेन औ चैना=कपूर के विविध प्रकार, मुखन्ह=मुख के भीतर, हरइ—दूर करें, बिखख=बिच्छू, मीचु=मृत्यु, जिअन=जीवन, ऊख=ईख, गन्ना, रस-भरी=रस से भरे हुए, करू-बेल=कड़वी बेल, मधुलावें जे मांखी=वे मक्खियां जो मधु अर्थात् शहद लाती हैं । लोवा=लोमड़ी, इंदुर चांटी=चूहा और चींटी । खनि=पृथ्वी या मिट्टी, राकस=राक्षस, परेता=प्रेत, भोकस=दानव, उपराजि=पैदा करना, सकल साजना साजि=चित्र-विचित्र साज सामान ।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि जायसी इन पंक्तियों में उसी परमात्मा के कृतित्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

परमात्मा ने अगर, कस्तूरी, खस, नया कपूर या विविध प्रकार का कपूर आदि सुगंधित पदार्थों का निर्माण किया है । उसी परमात्मा ने ऐसे विषैले और मुख में विष भरकर रहनेवाले सर्पों को बनाया है जो देखने में भयंकर प्रतीत होते है । उसके साथ ही उन मंत्रों को भी बनाया है जो इन विषैले सर्पों के जहर को समाप्त कर सकें । वही परमात्मा जीवनदान देनेवाले अमृत को भी बनाता है और साथ ही उस विष को या बिच्छू को भी बनाता है जो खाने के पश्चात् मृत्यु के मुख में धकेल देता है । परमात्मा ने ही रस से भरी-भरी मीठी वस्तुओं का भी निर्माण किया है, जैसे ईख । उसी परमात्मा ने कड़वी बेलों को भी बनाया है जो खूब फलती फूलती हैं और सभी प्रकार से अपना प्रभाव दिखाती हैं । मधु का पुष्पों से लेकर आने वाली मधुमक्खियों को भी उसी परमतत्व ने बनाया है साथ ही भौंरे आदि अनेक ऐसे उड़ने वाले पक्षियों को भी बनाया है जो सृष्टि के सुन्दरतम रहस्य है । उसी परमात्मा ने लोमड़ी, चूहा और चींटी जैसे जीव-जन्तु बनाये, और भी अनेक ऐसे जन्तु बनाये हैं जो मिट्टी के भीतर रहते है । परमात्मा की सृष्टि में ही राक्षस, भूत, प्रेत और देव व दानवों का भी निर्माण हुआ है । यह सब परमात्मा का वैचित्र्यपूर्ण जगत है ।

जायसी कहते हैं कि उसी परमात्मा ने विविध प्रकार की अठारह हजार योनियां या जीव जन्तु की जातियां बनाई हैं । इस्लाम के आधार पर अठारह हजार जीव-जन्तुओं की जातियां मानी गई हैं जबकि हिन्दू शास्त्रों के आधार पर ८४ लाख योनियों को स्वीकार किया गया है । उस परमात्मा ने सभी को भोगने के निमित्त सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधन प्रदान किये हैं तथा उनके जीवन के संचालन के निमित्त अनेक प्रकार के साज सामान भी जुटाये हैं ।

विशेष—इस पद में अठारह हजार योनियों का उल्लेख इस बात का

प्रतीक है कि जायसी यहां इस्लामी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। 'सकल साजना साजि' में अनुप्रास अलंकार की भव्यता मिलती है।

कीन्हेसि मानुष, दिहेसि बड़ाई। कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहि पाई ।।
कीन्हेसि राजा भूँजहि राजू। कीन्हेसि हस्ति घोर तेहि साजू ।।
कीन्हेसि दरब गरब जेहि होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई ।।
कीन्हेसि जिअन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा ।।
कीन्हेसि सुख औ कोटि अनदू। कीन्हेसि दुख चिता औ धंदू ।।
कीन्हेसि कोइ भिखारी, कोई धनी। कीन्हेसि संपति बिपति पुनि घनी ।।
कीन्हेसि कोई निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरियार।
छारहि तें सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार ।। ४ ।।

शब्दार्थ—मानुष=मनुष्य, दिहिसि=प्रदान किया, भुगुति=खाद्य पदार्थ, भूंजहि=भोगते हैं, दरब-गरब=द्रव्य और घमण्ड, अघाइ=सन्तुष्ट, जिअन=जीवन, न कोइ रहा=मृत्यु से किसी का बचाव नहीं है। अनंदू= आनन्द, धदू=दुख या चिन्ताएं, द्वन्द्व या संघर्ष, सम्पत्ति विपत्ति=समृद्ध और दुखी, निभरोसी=निराश्रय, बरियार=बलवान, हृष्ट-पुष्ट, छारहितें= मिट्टी से ही, सब कीन्हेसि=सब किया या सृष्टि बनाई।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने उसी परमात्मा का गुण-गान किया है जो सृष्टि का निर्माता और संचालक है। कवि ने बताया है कि-

परमात्मा ने मानव को उत्पन्न किया तथा उसे प्रभुता या बड़ाई प्रदान की या गौरव से अभिभूत कर दिया। दूसरों की तुलना में उसे अधिक बुद्धि-मान बनाया। यही कारण है कि वह अन्न को पैदा करता है और खाकर अपना भरण-पोषण करता है। राज्य के भोगने वाले राजाओं का निर्माण किया है। उन्हें (राजाओं को) हाथी, घोड़ा और सभी साज सामान प्रदान किया है। राजा के भोग के ही निमित्त अनेक आमोद-प्रमोद की वस्तुओं का निर्माण किया है। उस परमात्मा ने किसी को राजा बनाया है तो किसी को दास या सेवक। उसी ने धन और ऐश्वर्य का निर्माण किया है जिसे मनुष्य प्राप्त करके गौरवान्वित होता है। उसने लोभ, लालच और माया की भी सृष्टि की है। यह माया ऐसी बनाई है कि जिससे किसी का पेट भी नहीं भरता है और न किसी को संतुष्टि ही मिलती है। जीवन जो सभी को प्रिय होता है उसी का बनाया हुआ है। मृत्यु का निर्माण किया है जिसकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता है। उसने करोड़ों सुख प्रदान करने वाले पदार्थों की सृष्टि की है तो साथ ही दुख, दालिद्रय के साथ-साथ चिन्ता की अनुभूति बनाइ है। किसी को मालामाल कर दिया तो किसी को कंगाल और निधन! इन सबके निर्माता और नियामक ईश्वर ने ही धन-संपदा और कठिनाइयों का निर्माण किया है।

जायसी कहते हैं कि ईश्वर ने किसी को निराश्रय बनाया है तो किसी को बलवान और शक्तिशाली के साथ-साथ स्वच्छन्द घूमने वाला भी बनाया है। उस परमात्मा ने मिट्टी से सृष्टि बनाई और फिर सारी सृष्टि को मिट्टी में परिवर्तित कर दिया। यह उसी परमात्मा का कृतित्व है।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने परमात्मा के कार्य-कलापों का

विवेचन किया है। उसके प्रति दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया है। निर्माण और ध्वस का इतना वेदान्त सम्मत और काव्यात्मक परिचय अन्यत्र कहां मिलेगा ? वस्तुतः निर्माण और ध्वंस सभी कुछ ईश्वराधीन है। आधुनिक युग के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन एक सौ वर्ष विजन वन।
यही तो है असार संसार सृजन सिंचन संहार ।।

धन और तज्जन्य गर्व के सम्बन्ध में जायसी का दृष्टिकोण तुलसीदास के ही निकट है। तुलसी की यह पंक्ति— प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' जायसी की पंक्तियों के मेल में दिखाई देती है।

धनपति उहै जेहिक संसारू । सबै देइ निति, घट न भँडारू ।।
जावत जगत हस्ति औ चाँटा । सब कहँ भुगुति राति दिन बाँटा ।।
ताकर दीठि जो सब उपराहीं । मित्र सत्रु कोइ बिसरै नाहीं ।।
पंखि पतंग न बिसरै कोई । परगट गुपुत जहाँ लगि होई ।।
भोग भुगुति बहु भाँति उपाई । सबै खवाइ, आप नहिं खाई ।।
ताकर उहै जो खाना पियना । सब कहँ देइ भुगुति औ जियना ।।
सबै आस हर ताकर आसा । वह न काहु के आस निरासा ।।
जुग जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ अस कीन्ह ।
और जो दीन्ह जगत् महँ सो सब ताकर दीन्ह ।। ५ ।।

शब्दार्थ—धनपति=धनवान, उहै=वही ईश्वर, जेहिक=जिसका, घट न भंडारु=उसका भंडार समाप्त नहीं होता, जावत=जितने भी, उपराहीं =सर्वोपरि, बिसरै नाहीं=विस्मरण संभव नहीं है, परगट गुपुत=प्रगट और गुप्त, जहां लगि=जहां तक, ताकर= जिसके यहां, अउर=और, मेह=मैं।

ससदर्भ व्याख्या—कवि जायसी कहते है कि धनवान वही है जिसका संसार अपना है। ईश्वर इतना दानी है कि सबको नित्य प्रति दान देता है। इतने पर भी उसका कोष रिक्त नही होता है। सृष्टि के समस्त जीवों के लिए-हाथी से लेकर चींटी तक अर्थात् छोटे से बड़े तक सभी को निशा दिवस भोग्य पदार्थ प्रदान करता है। वह अपनी दया-पूर्ण दृष्टि को सबसे ऊपर रखता है। अपनी दान और धर्मशीलता को मित्र-शत्रु और अपने-पराये की दुभांत न करके समान भाव और व्यवहार से पूर्ण करता है। ऐसा कोई नही है जिसे वह विस्मृत कर दे। पक्षी और पतिंगे प्रकट अथवा अप्रकट सभी जीवधारियों को स्मरण करके अर्थात् उनकी चिन्ता करके खाने-पीने के पदार्थ अथवा भोग्य सामग्री जुटाता है। वह स्वय निर्मित वस्तुओं को भी स्वयं न खाकर अनेक प्रकारों और साधनों से दूसरों को भोगने के लिए प्रोत्साहित करता है। वास्तव में दूसरों का खाना-पीना ही उसका खाना पीना है तथा यही उसका सुख है। सांस-सांस में सभी उसी से आशा रखते है। वह महान सांस वाला है। वह किसी से भी आशा नही रखता है। वह सभी को आशा प्रदान करता है। किसी को निराश करना उसका धर्म नहीं है।

कवि जायसी कहते है कि उस ईश्वर को ससार के निमित्त दान करते-करते युग बीत गये, पर उसका भरा पूरा कोप रिक्त नहीं हुआ। वह दोनों हाथों से दान देता है। ससार मे जो कुछ है वह सभी उसी एक परमात्मा का दिया हुआ है।

विशेष:—इन पंक्तियों में ईश्वर को विश्वदानी और महान बतलाया गया है। कथन पद्धति की नवीनता और प्रतिपादन की शैली आकर्षक और सारयुक्त और प्रभावशाली है।

आदि एक बरनौं सोई राजा। आदि न अंत राज जेहि छाजा॥
सदा सरबदा राज करेई। औ जेहि चहै राज तेहि देई॥
छत्रहिं अछत, निछत्रहि छावा। दूसर नाहिं जो सरवरि पावा॥
परवत ढाह देख सब लोगू। चाँटहि करै हस्ति-सरि-जोगू॥
बज्रहिं तिनकहिं मारि उड़ाई। तिनहि बज्र करि देइ बड़ाई॥
ताकर कीन्ह न जानै कोई। करै सोइ जो चित्त न होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू बहुत भूख दुख मारा॥
सबै नास्ति वह अहथिर, ऐसा साज जेहि केर।
एक साजै औ भाँजै, चहै सँवारै फेर॥ ६॥

शब्दार्थ:— सोइ—उसी ईश्वर, आदि—प्रारम्भ में, जेहि छाजा—जिसका राज्य शोभित है, चहै—चाहता है, अछत—छत्रहीन व कंगाल, निछत्रहि—गरीब अर्थात जो छत्रहीन है, छावा—राजा-पद पर बिठा देता है, सरवरि—समानता, ढाह गिरा देना, हस्तिसरि—हाथी के समान, तिनकहि—तिनके के समान, ताकर—उसके, नास्ति—नहीं रहने वाला, अहथिर—अस्थिर।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में कविवर जायसी का कथन है कि मैं सर्वप्रथम उसी एक महान राजा-ईश्वर का वर्णन करता हूँ जिसका राज्य उसके सुन्दर प्रयत्नों का परिणाम है। उसका राज्य एक ओर से दूसरी ओर तक फैला हुआ है। उसका कार्य बड़ी प्रशंसा के योग्य है। वह शाश्वत राज्य करता है और वह जिसे चाहे राज्य सौंप देता है। शहंशाह को दास बना देना और दास या गुलाम को बादशाहत सौंप देना उसके साधारण से प्रयत्नों का परिणाम है। उसकी महत्ता विशाल है जिसकी कोई तुलना नहीं है। सभी संसारी प्राणियों को इस बात का अनुभव है कि वह पर्वतों को चुटकियों में या पलभर में ढहा कर अर्थात गिराकर खाक में मिला देता है। इतना ही नहीं वह चींटियों जैसे क्षुद्र जन्तुओं को हाथियों के समान ऊंचा बना देता है। वह इतना शक्ति-सम्पन्न है कि तिनके के सहारे ही बज्रवत वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। वज्र को कठोर बना देना उसका नित्य का और साधारण सा कार्य है। ईश्वर के कृतित्व को कोई भी संसारी प्राणी जान नहीं पाता है। उसकी लीला को समझना साधारण काम नहीं है क्योंकि उसकी लीला अपरम्पार है, वैचित्र्यपूर्ण हैं। वह स्वयंभू है। उसकी इच्छा मात्र से ही सभी कुछ चलता है। वह चाहे तो संसार को सम्पूर्ण सुख प्रदान करदे और चाहे तो किसी भी व्यक्ति को मुहताज और भिखमंगा बनादे।

जायसी कहते है कि संसार और संसार का सभी कुछ नाशवान और क्षणिक है। समस्त सृष्टि में वही एक ऐसा है जो चिरतन है, स्थायी है तथा प्रत्येक काल में रहने वाला है। उसका साज ऐसा विचित्र है कि उसकी अभिशंसा किया जाना तथा उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देना कठिन है। उसकी इच्छा मात्र से ही सब कुछ होता है। वह चाहे तो क्षण भर में किसी को भी नष्ट करदे और चाहे तो नवजीवन प्रदान करके बनादे।

विशेषः—इस पद में परमेश्वर की सृष्टि लीला के कार्य-कलापों की ओर सकेत किया गया है। संसार और सृष्टि का प्रत्येक कण इसका प्रमाण है। इसी संदर्भ में जायसी ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर की इच्छा मात्र ही किसी भी जीव या तत्व के विनाश और विकास के लिए पर्याप्त है। दर्शन के इस मूल भाव—"एकोब्रह्म द्वितोयोनास्ति" अथवा "प्रत्यात्मवेद्यो भगवान उपमा वर्जित प्रभुः। सर्वव्यापी च कर्ता हर्ता जगत्पत्तिः" में यही कहा गया है।

'छत्रहि अछत…' जैसी पंक्ति को सूर की इस पंक्ति के साथ पढ़ा जा सकता है जिसमें कहा गया है—बहरा सुने मूक पुनि बोले, रक चले सिर छत्र धराई।

अलख अरूप अवरन सो कर्ता। वह सब सों, सब ओहि सों बर्ता॥
परगट गुपुत सो सरबबिआपी। धरमी चीन्ह, न चीन्है पापी॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोई सग नाता॥
जना न काहु, न कोइ ओहि जामा। जहं लगि सब ताकर सिरजना॥
वै सब कीन्ह जहां लगि कोई। वह नहि कीन्ह काहु कर होई॥
हुत पहिले अरु अब है सोई। पुनि सो रहे रहै नहिं कोई॥
और जो होइ सो बाउर अंधा। दिन दुइ चारि मरै करि धंधा॥

जो चाहा सो किन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह॥ ७॥

शब्दार्थः—अलख—अलक्ष्य, अवरन—वर्णहीन अथवा वह जिसका स्वरूप वर्णनातीत है, अरूप—आकारहीन, करता—रचनाकार, ओहिसों—उससे, सरबबिआपी—सर्वव्यापक, धरमी—धर्मात्मा, ताकर—उसकी, सिरजना—सर्जना, रचना, हुत—था, सोई—वही, अनुर—और, बाउर—पागल, धघा—ससार की हाय-हाय से यहाँ तात्पर्य है। बरजनहार—रोक-टोक करने वाला, जिम्र—प्राण।

ससंदर्भ व्याख्याः—जायसी इन पंक्तियों में ईश्वर के आविर्भाव और तिरोभाव रूप की ओर सकेत करते हुए कहते हैं—

सृष्टि का रचनाकार वह ब्रह्म अलक्ष्य, अरूप और अवर्णनीय है। तात्पर्य है न तो वह दिखाई देता है और न उसका कोई रूप है न रंग। इस प्रकार वह अवर्णनीय भी है। वह सब में और सब उसमें व्याप्त हैं। ईश्वर, निराकार, रूपरहित और वर्णनातीत होकर भी संसार में जो कुछ भी स्पष्ट और गुप्त है, उसी में संलग्न है अर्थात् लीन है। परमात्मा के इस प्रकार सूक्ष्म रूप को भी धर्मात्मा, ज्ञानी और सूक्ष्मदर्शी तो देखता है, पर उसे वह परमात्मा दिखाई नहीं देता है जो पापी है, अधर्मी है तथा कलुषित हृदयवाला है। वह ईश्वर न तो किसीका पुत्र है न उसके माता-पिता हैं। इतना ही नहीं उसके न कोई सगे संबंधी ही हैं। वह किसी भी योनि से पैदा नहीं हुआ है—वह अजन्मा और अनत है। उसका कोई स्थूल रूप भी नहीं है जिससे कोई दूसरा पैदा हो सके। इतने पर भी सृष्टि में जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है, जो भी कुछ दिखाई देता है वह सब उसी परमतत्व की इच्छा का परिणाम है। यह इच्छा और सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया जानी नहीं जा सकती है। वह सदैव से रहा है और

भविष्य में भी रहेगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वर अविनाशी है, सृष्टि के विलयन पर जब कुछ भी शेष नहीं रहता है तब भी वही शेष रह जाता है। जो कोई भी व्यक्ति या जीव इस संसार में उस जैसा बनने की सोचता है, वह मूर्ख है, पागल है। इतना ही नहीं वह परमात्मा की महत्ता को समझ नहीं पाता है। इस प्रकार के अज्ञानी और मूर्ख इस संसार में हाय-हाय करते ही अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं। ये जीव क्षुद्र कहलाते हैं।

जायसी ने कहा है कि अब तक इस संसार में परमेश्वर ने जो कुछ चाहा है, वह किया है या वही घटित भी हुआ है। साथ ही वही घटित भी होता रहेगा जो भी वह चाहेगा या कामना करेगा। उसे रोकने-टोकने वाला इस सृष्टि में कोई भी नहीं है। वह जो जब चाहे तब कर सकता है।

विशेष—इन पंक्तियों में काव्योत्कर्ष तथा रसनीयता नहीं है किन्तु फिर भी कथन-पद्धतिगत चारुता अवश्य है। 'अलख, अरूप, अवरन' में ज्योतित अनुप्रास स्पष्ट है। इसमें जो भाव है वह गीता के इस श्लोक में व्यंजित हुआ है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोः नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कामायनी में भी सृष्टि के मूल में सजग कार्य करने वाला, उसका विधायक और विध्वंसक उसी एक परमात्मा को बताया गया है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने लिखा है—

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
उसी में सब होते अनुरक्त॥

एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महं लिखा बखानू॥
जीउ नाहि, पै जियै गुसाईं। कर नाहीं, पै करै सबाईं॥
जीभ नाहि, पै सब किछु बोला। तन नाहीं, सब ठाहर डोला॥
स्रवन नाहि, पै सब किछु सुना। हिया नाहि, पै सब किछु गुना॥
नयन नाहि, पै सब किछु देखा। कौन भांति अस जाइ बिसेखा॥
है नाहीं कोइ ताकर रूपा। ना ओहि सन कोइ आहि अनूपा॥
ना ओहि ठाउं, न ओहि बिन ठाऊं। रूप रेख बिनु निरमल नाऊं॥

ना वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरिपूरि।
दीठिवंत कहं नीयरे, अंध मूरुखहि दूरि॥ ८॥

शब्दार्थ—एहि विधि—इस प्रकार, चीन्हहु—पहिचानो, गिआनू—ज्ञान, जस—जैसा, मंह—में, गोसांई—ईश्वर, सबाईं—सब कुछ, ठाहर—स्थानों पर, स्रवन—कान, हिय—हृदय, कवन भांति—किस प्रकार, अस—ऐसा, बिसेखा—विशेष भाव रखना, ठाऊं—स्थल या स्थान, नाऊं—नाम, बेहरा—अलग, दिस्टिवंत—ज्ञानी, नीयरे—पास।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी ने इस पद में ईश्वर के अरूप, अलख व

निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह सृष्टि का निर्माता है, नियंता है। वह कहते हैं—

जायसी का कथन है कि उस सर्वव्यापी, नियंता और सृष्टि के उत्पादक ईश्वर को पहचान लो। उसके स्वरूप का वर्णन पुराने धार्मिक ग्रन्थों में किया गया है। उस परमात्मा के जीव नहीं है, फिर भी वह महान् जीव की भांति जीवन बिताता है। उसके हाथ भी नहीं हैं, किन्तु फिर भी वह (करहीन होकर भी) सभी कुछ और उन सभी कार्यों को करता है जो हाथवाले किया करते हैं। उसके जिह्वा भी नहीं है फिर भी वाचलता पर्याप्त मात्रा में है। शरीरहीन है फिर भी यथेच्छ जिसे भी चाहता है, उसे ही चलाता है, बनाता है बिगाड़ता भी है। तात्पर्य यह है कि वह मिट्टी के शरीर में प्राण फूंक देता है। कान नहीं है फिर भी वह सभी कुछ सुन लेता है। संसार में यदि कोई अभिमान करता है तो उसके अभिमान को. तथा दया और करुणापूर्ण व्यवहार करता है तो उसके उस सद्व्यवहार को भी सुनता है, समझता है। वह हृदयहीन है, किन्तु सभी हृदयों में प्रवाहित धड़कनों के रहस्य को पहचान लेता है या जान लेता है। उस परमेश्वर के स्थूल नेत्र नहीं हैं, किन्तु वह संसार का चित्र और समस्त व्यापार देख लेता है। जायसी का कथन है कि इन सभी प्रकार की विशेषताओं का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उसके स्वरूप जैसा कोई भी नहीं है। उसकी विलक्षणता और 'अनुपमता' की किसी से तुलना नहीं की जा सकती है। उस परमात्मा के बिना कोई स्थान नहीं है, तात्पर्य ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां वह परमात्मा न हो। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह रूपरेखा से अलग या पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। वह ईश्वर निर्विकार और निराकार है।

जायसी कहते हैं कि परमात्मा न तो लिप्त है और न किसी से पृथक ही है—सर्वत्र होकर भी कहीं भी विद्यमान नहीं है। इस दृष्टि से वह मुक्त और स्वच्छन्द पुरुष है। वह इतने पर भी पूर्ण है। ज्ञानी लोग तो इस बात को समझते है और परमात्मा का अनुभव निकटता से करते हैं। इसके विपरीत जो अन्धे हैं वे अज्ञानतावश परमात्मा से दूरी का अनुभव करते हैं।

विशेष—इस पद में ईश्वर के निराकार निर्विकार, किन्तु शक्तिशाली रूप की विवेचना की गई है। ईश्वर के बिना पग, कान और जिह्वा व हाथ के ही सभी कुछ करना इसी बात का प्रमाण है। इसी प्रकार का वर्णन तुलसी के काव्य मे भी मिलता है—

बिनु पग चलै सुने बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।।

और जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानै भोला।।
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहंसै जोगू।।
दीन्हेसि जग देखन कहं नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहं बैना।।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहां। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहां।।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं।।
जोवन मरम जान पै बूढ़ा। मिला न तरुनापा जग ढूंढ़ा।।
दुख कर मरम न जानै राजा। दुखी जान जा पर दुख बाजा।।
काया मरम जान पै रोगी, भोगी रहै निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं (जान) जो घट घट रहै नित।। ६ ।।

शब्दार्थ—दीन्हेसि-दिये हैं, ग्रमोला-ग्रनमोल, मरम-भेद या रहस्य, भोला-नादान, रसना-जिह्वा, रसभोगू-रसमय पदार्थ, दसन-दांत, बिहंसै-हसता है, जोगू-योग्य, कह-के लिए, स्रवन-कान, माहां-मध्य में, कर-पल्लौ-कर पल्लव, बरबांहा-सुन्दर बांहें, तरुनापा तारुण्य या यौवन, बाजा-ग्राता है या बजता है, कया शरीर, निचिन्त-निश्चिन्त, नित-नित्य, घट-घट-हृदय में।

ससंदर्भ व्याख्या—कवीश्वर जायसी ने इन पंक्तियों में बताया है कि परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ गुण ग्रौर ऐश्वर्य प्रदान किये हैं, पर खेद है कि वह दूसरे जीवधारियों से इतना श्रेष्ठ होकर भी परमपिता की महत्ता ग्रौर ग्रपने गुणों का महत्व ग्रौर मूल्यांकन नहीं कर पाता है।

कवि ने बताया है कि ईश्वर ने जो ग्रनमोल रत्न मानव को प्रदान किये हैं, मनुष्य ग्रपने ग्रज्ञान के कारण उस ईश्वर के मर्म को नहीं समझ पाता है। परमपिता ईश्वर की महत्ता को न समझने वाला मानव नादानीवश किसी को भी नहीं जान पाता है, यह दुख का विषय है ईश्वर ने मनुष्य को जीभ प्रदान की है ग्रौर उसके भोग के लिए ग्रनेक रसपूर्ण पदार्थों का निर्माण किया है। उसी ईश्वर ने मानव को दन्तावली प्रदान की है जिसके सहारे मानव हसता है ग्रौर ग्रपनी सुखानुभूति ग्रौर भावनाग्रों को ग्रभिव्यक्ति दे सके। जो बात ईश्वर द्वारा निर्मित इस मनुष्य में भर दी है वह ग्रन्य जावधारियो में नहीं मिलती है। ईश्वर ने मनुष्य को संसार की चित्र-विचित्र रचना को देखने का सुख प्रदान करने के लिए नेत्र प्रदान किये हैं। वह दूसरों से बात कर सके ग्रौर दूसरों की सुन सके ग्रत: ईश्वर ने जीव को कान प्रदान किये हैं। बोलने के लिए कण्ठ प्रदान किया है। मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक यत्र-तत्र विचरण कर सकता है, इसीलिए उसे चरण प्राप्त हैं या ईश्वर प्रदत्त हैं। इन चरणों के मूल्य को पंगु व्यक्ति ही जान सकता है। इसके कई कारण हैं। यह ठीक इसी प्रकार है जैसे जवानी के मूल्यांकन को बुढ़ापा ही जान सकता है। बुढ़ापे में जवानी की मस्ती ग्रौर प्रभुता का ग्रनुमान वह बुढ़ापा ही लगा सकता है जो इस स्थिति से गुजर चुका है। कवि का कथन है कि उस परमपिता परमात्मा ने मनुष्य को ग्रनेक ऐसे तत्व प्रदान किये हैं जो दूसरे जीवधारियों को प्राप्त नहीं हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य के पास जो ग्रनुभव करने की शक्ति है वह किसी दूसरे के पास नहीं है। सुखानुभूति को मनुष्य ही ग्रनुभव कर सकता है, कोई दूसरा नहीं कर सकता है। सुख का मूल्य वही समझ सकता है जो विपत्ति में होकर गुजरता है।

जायसी कहते हैं कि नीरोग शरीर का रहस्य या सुख कैसा होता है, इसे रोगी का मन ही ग्रनुभव कर सकता है। इसके विपरीत स्वस्थ ग्रौर ताकतवर ग्रौषधि का ग्रौर रोग का मूल्य कैसे जान सकता है? भोगों में प्रवृत्त रहने वाला व्यक्ति स्वस्थता ग्रौर ग्रस्वस्थता में ग्रन्तर नहीं कर पाता है। इतने पर भी यह सच है कि सभी प्रकार के ग्रनुभवों—सुखात्मक ग्रथवा दुखात्मक—दोनों को ईश्वर ही भली भांति जानता है। ईश्वर के इस प्रकार के रहस्य को जानने का कारण उसका ग्रन्तर्यामी व्यक्तित्व है। घट-घट वासी ईश्वर इन सभी को जानता है।

विशेष :—जायसी ने इन पंक्तियों में मानव जीवन की महत्ता प्रतिपादित की है तथा बतलाया है कि मानव के रहस्यों को जानने वाला व्यक्ति किसी प्रकार भी दुखानुभव नहीं कर सकता है। ईश्वर सर्व व्यापी है और उसकी सर्व व्यापकता को ही जायसी ने इस पद में अभिव्यक्ति दी है। अभिव्यक्ति सरल और निश्छल है। प्रकृति और मानव जीवन की विपरीतता को व्यक्त करने वाले जायसी की पक्तियों के साथ वर्ड्सवर्थ की इन पक्तियों को पढ़ा जा सकता है—

"To her fair works did nature link
The human soul that brought me ren.
And much it grieved my heart to think
What man has made of man."

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पावै बरना ॥
सात सरग जौं कागद करई। धरती समुद दुहूँ मसि भरई ॥
जावत जग साखा बनढाखा। जावत केस रोंव पखि-पाखा ॥
जावत खेह रेह दुनियाई। मेघबूँद औ गगन तराई ॥
सब लिखनी कै लिखु संसारा। लिखि न जाइ गति-समुद अपारा ॥
ऐस कीन्ह सब गुन परगटा। अबहुँ समुद महँ बूँद न घटा ॥
ऐस जानि मन गरब न होई। गरब करै मन बाउर सोई ॥
बड़ गुनवंत गोसाईं, चहै संवारै बेग।
और अस गुनी सवारै, जो गुन करै अनेग ॥ १० ॥

शब्दार्थ :—करना-रचना, बरना-वर्णन करना, कागद-कागज, मसि-स्याही, जावत-जितने भी, बनढाखा-वनढाक या पलाश वृक्ष, रोंव-रोंगटे, पंखि-पांखा—पक्षियों के पंख, रेह-राख, खेह—धूल, ताई—तक, तराई-तारिकाएं, बाउर पागल, चहै-चाहता है, बेगि—शीघ्र ही, अनेग-अनेक, बड़-बहुत, संवारइ-संवारना या आदर देना।

ससंदर्भ व्याख्या :—इस पद में जायसी ईश्वर की अपरम्पार महत्ता और अवर्णनीय गुणों और शक्ति का प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं—

ईश्वर की रचना अपरम्पार है; वह महान सृजेता है। कोई भी कवि उसकी महत्ता का वर्णन प्रयत्न करने पर भी नहीं कर सकता है। जायसी कहते हैं कि यदि सातों आकाश का कागज बनाये और सातों समुद्र की स्याही, धरती रूपी दवात में भरें यदि सारे ससार रूपी वनों के पलाश आदि पेड़ों की शाखाएं, सारे पक्षियों के रोम, पंख, धूल, राख तथा बादल, बूंद और आकाश के तारों की लेखनी बनाकर सारे संसार के लोग प्रभु की गुण कथा का वर्णन करने बैठें तो भी समुद्र के समान अपरम्पार और सर्व व्यापी, सर्व गुणसम्पन्न ईश्वर के गुणों का कथन किया जाना सम्भव नहीं है।

जायसी का कथन है कि उसके (ईश्वर के) सभी गुण प्रकट हैं किन्तु फिर भी उसका कुछ भी घटता नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे समुद्र में से कितना भी जल निकाल लेने पर उसका कुछ भी नहीं घटता है वैसे ही अनेक प्रकार से वर्णन करने पर भी ईश्वर की महत्ता का सही रूप नहीं आंका जा सकता है। इस प्रकार कवि की मान्यता है कि ईश्वर की महिमा से परिचित

हो जाने के कारण किसी भी व्यक्ति को अभिमान नहीं करना चाहिए। इतने पर भी यदि कोई ऐसा करता है तो उसका मन पागलों के समान है।

जायसी कहते हैं कि वह परमात्मा बड़ा गुणवान है—वह क्षणभर में ही सभी कुछ संवार और बिगाड़ सकता है। उसकी शक्ति अनन्त है। वह उन गुणवानों को आदर प्रदान करता है जो अनेक प्रकार के गुणों से युक्त हैं और उनका प्रदर्शन करते है।

विशेष—ईश्वर के गुण अनंत हैं, उनका बखान संभव नहीं है। जायसी का वह भाव जिसमें ईश्वर के गुणबखान के लिए स्याही, दवात, कलम और कागज का उल्लेख किया गया है, अतिशयोक्ति अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत है। इसी से मिलता जुलता वर्णन कबीर ने भी किया है:—

सात समुद्र की मसि करौं, लेखन कौं बनराइ।
धरती सब कागद करौं तउ हरिगुन लिखा न जाइ।।

अनुप्रास अलंकार की दिव्य छटा देखते ही बनती है।

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मुहम्मद पूनौ-करा।।
प्रथम जोति बिधि ताकर साजी। औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी।।
दीपक लेसि जगत कहं दीन्हा। भा निरमल जग, मारग चीन्हा।।
जौ न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पंथ अंधियारा।।
दुसरे ठांव दैव वं लिखे। भए धरमी जे पाढ़त सिखे।।
जेहि नहिं लीन्ह जनम भरि नाऊं। ता कहं कीन्ह नरक महं ठाऊं।।
जगत बसीठ दई ओहि कीन्हा। दुइ जग तरा नावं जेहि लीन्हा।।

गुन अवगुन बिधि पूछब, होइहि लेख औ जोख।
सब बिनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख।। ११।।

शब्दार्थ:—निरमरा–निर्मल, पूनिउकरा–पूनम की कला, धवल या स्वच्छ, विधि–विधाता, तेहि कै साजी–उसके निमित्त बनाई है, सिस्टि–सृष्टि, उपराजी–पैदा की, लेसि–प्रकाशित किया, भा–हुआ, अस–ऐसा, पुरुष उजारा–उज्जवल पुरुष, सूझि न परत–दिखाई नहीं देता है, ठांव–स्थान, दैव–देवता, पाढ़त–पढ़ना (कलमा पढ़ना), बसीठ–संदेशा, दोउ जग–दोनों लोक, दोनों संसार (इहिलोक और परलोक), जरम–जनम, विधि–ढंग, होइहि होगा, लेख अउ जोख–हिसाब–किताब, ओन्ह–वे, विनउब–विनय करना, मोख–मोक्ष।

ससन्दर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में कविवर जायसी ने मसनवी पद्धति पर पैगम्बर मुहम्मद साहब की महत्ता का गुणानुवाद किया है और लिखा है कि—ईश्वर ने सर्वप्रथम एक निर्मल पुरुष का निर्माण किया, जिसका नाम मुहम्मद था और वह चन्द्रमा की कला के समान उज्जवल था। तात्पर्य यह है कि वे बहुत अधिक पावन थे। विधाता ने अपनी ज्योति का सर्वोत्तमांश उन्हीं में प्रदिष्ट कर दिया और उनके प्रेम से इस सृष्टि की रचना की। मुहम्मद साहब रूपी दीपक जलाकर परमेश्वर ने उसे संसार में भेजा। परिणामत: संसार प्रकाशित होकर सत् मार्ग की ओर अग्रसर हो सका। (तात्पर्य यह है कि वह ईश्वर की इबादत और अपने मोक्ष के मार्ग को पहचान सका।) यदि मुहम्मद जैसे पुरुष का प्रकाश न होता तो संसार के अज्ञान का अंधकारमय पथ दिखलाई न पड़ता। ईश्वर ने दूसरे स्थान पर मुहम्मद साहब का नामांकन

किया। परिणामस्वरूप जो भी उनके बताये, पढ़ाये और सिखाये मार्ग पर चले वे जीवन–समुद्र से पार होगये। ईश्वर के नाम को जिस किसी भी व्यक्ति न नहीं लिया वह पापी रहा और उसे नरक में स्थान मिला। ईश्वर का संदेश देने वाला प्रतिनिधि या शुभ संदेशवाहक, मुहम्मद साहब ही ठहराया गया। जिस किसी भी व्यक्ति ने उनका नाम ले लिया वह इस लोक और परलोक दोनों से पार होगया अर्थात् उसका उद्धार होगया। जो व्यक्ति उसका नाम नहीं लेते हैं वे नरक भोगते हैं।

जायसी कहते हैं कि जब कयामत के दिन परमात्मा अपने बन्दे से पाप-पुण्यों का लेखा-जोखा या कर्मों का हिसाब-किताब मांगता है तब असली परीक्षा का समय आता है। जीव की इसी परीक्षा के दिन मुहम्मद जैसा पैगम्बर या प्रतिनिधि ही आगे आकर विनयपूर्वक मनुष्यों की मुक्ति के निमित्त याचना करता है।

विशेष:—जायसी इस्लाम धर्म के सच्चे प्रतीक थे। वे विद्वान और धर्मात्मा पुरुष थे। इस पद में कुछ भारतीय प्रतीकों के माध्यम से मुहम्मद साहब की महत्ता और प्रभुता का इस्लामी आधार पर वर्णन किया है। अनुमान किया गया है कि सूर तुलसी में आगे चलकर भारतीय संस्कृति के अनुकूल राम, कृष्ण प्रेम आदर्श विषयक भावना को विकसित और प्रचारित किया है। जायसी बताना चाहते हैं—

१. परमेश्वर एक है और मुहम्मद उसका रसूल है।
२. कुरान के एकेश्वरवादी और रसूलवादी सिद्धान्त का प्रचार जायसी ने भारतीय चौखटे में तस्वीर की भाँति जड़ दिया है।
३. परमतत्व और ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है।
४. अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य और कथन भंगिमाओं का सहारा पाकर जायसी की ये पंक्तियां निखर उठी हैं।

चारि मीत जो मुहमद ठाऊं। जिन्हहि दीन्ह जग निरमल नाऊं॥
अबाबकर सिद्दीक सयाने। पहिले सिदिक दीन वइ आने॥
पुनि सो उमर खिताव सुहाए। भा जग अदल दीन जो आए॥
पुनि उसमान पंडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी॥
चौथे अली सिंह बरियारू। सौंह न कोऊ रहा जुझारू॥
चारिउ एक मतं, एक बाना। एक पंथ औ एक सधाना॥
वचन एक जो सुना वइ सांचा। भा परवान दुहूं जग बांचा॥

जो पुरान विधि पठवा सोई पढ़त गरंथ।
और जो भूले आवत सो सुनि लागे पंथ॥ १२॥

शब्दार्थ:—चारि मीत–चार मित्र, चहुंक–चारों ओर या चारों का, अबावकर–प्रथम पैगम्बर का नाम, सिद्दीक–सच्चा, सयाने–चतुर, दीन–इस्लाम धर्म, ओहूं–वे, बाना–रीति, ढंग। सधान–खोज, उमर खिताव–दूसरे पैगम्बर का नाम, अदल–न्याय की ओर उन्मुख, उसमान–तीसरे पैगम्बर, गुणी–गुणागार, पुरान–कुरान के अर्थ में आया है। आयत–कुरान के श्लोकों को कहते हैं, बरियारु–बहादुर, सौंह–समक्ष, जुझारू–जूझने वाला, परवान–प्रमाण, दुहूं जग–दोनों संसार; गरथ–ग्रंथ, और जो भूले आवत–वे जो आते जाते, भूल भटके

या आते समय भटक गये, तेहि पंथ-उस रास्ते पर अर्थात् इस्लाम के मार्ग पर।

ससंदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी मुहम्मद साहब के अन्य दोस्तों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

मुहम्मद साहब के चार मित्रों के पास ही उनका स्थान सुरक्षित था। तात्पर्य यह है कि चारों मित्र मुहम्मद साहब के समान थे। इन चारों का दोनों लोकों में उज्ज्वल नाम और काम था। अबाबकर नामक पैगम्बर बड़े चतुर थे। प्रथम तो उन्होंने ही इस्लाम धर्म का सच्चा प्रचार किया। इसके पश्चात् श्रेष्ठ प्रवर उमरखिताब नाम के व्यक्ति थे। इनकी बुद्धि धार्मिक थी; अतः इनके धम प्रचार का अनुगमन करके वे न्यायोन्मुख थे। इन दोनों के पश्चात् तीसरे पैगम्बर उसमान नाम से विख्यात थे जिनकी विद्वता और गुणवत्ता प्रसिद्ध है। इन्होंने कुरान को जो कि इस्लाम धर्म का प्राचीनतम ग्रंथ है, मुहम्मद साहब की आयतें सुनकर लिखा। चौथे व्यक्ति अली नाम के थे जो शक्ति और बल में शेर के समान बलवान थे। इनकी वीरता के समक्ष कोई ठहर नहीं सकता था। ये चारों ही महान पैगम्बर थे। एक ही मत और एक ही धर्म के स्थापक और प्रवर्तक थे। इन सबकी विचारधारा एक समान थी तथा सभी कार्यों में एक सी दृष्टि रखते थे। इनके सभी वचन, जो भी इन्होंने कहे, सत्य और एक समान माने गये। इनके कथन सभी के लिए प्रमाण बने और दोनों संसारों में प्रमाणस्वरूप स्वीकार किये गये। तात्पर्य यह है कि दोनों ही लोकों ने उसे सादर पढ़ा और स्वीकार किया।

जायसी कहते हैं कि जिस धर्म-ग्रंथ पुराण को ईश्वर ने भेजा, उसी ग्रंथ को ये पढ़ते हैं, और धर्मच्युत लोग जब इसे पढ़ते हैं तो उसमें प्रतिपादित और प्रतिष्ठापित मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं। तात्पर्य है कि इस्लाम धर्म को स्वीकार करने लगते हैं।

विशेष—काव्यात्मक सौंदर्य के अभाव में भी यह पद सुन्दर और मूल्यवान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें इस्लाम मत के प्रचार और प्रसार तथा प्रभाव और गुणों की सटीक व्यंजना की गई है।

सेरसाहि देहली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू ॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजै भुइं धरा लिलाटा ॥
जाति सूर औ खाड़े सूरा। और बुधिवंत सबै गुन पूरा ॥
सूर नवाए नवखंड वई। सातउ दीप दुनी सब नई ॥
तहं लगि राज खड़ग करि लीन्हा। इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा ॥
हाथ सुलेमां केरि अंगूठी। जग कहं दान दीन्ह भरि मूठी ॥
औ अति गरू भूमिपति भारी। टेकि भूमि सब सिहिटि संभारी ॥

दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादसाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—चारिउ-चारों, ओहि-उसे, भानू-सूर्य, छाज-शोभित होता है, छात औ पाटा-राज-पाट, भुंई-पृथ्वी या भूमि, लिलाटा-माथा, खांडइ-खांडा, तलवार विशेष सूरा-शूरवीर, बुधिवंत-बुद्धिमान, गुन पूरा-गुणों से युक्त, नवाइ-झुका कर, नवउ खंड-सारा संसार, जुलकरन-"सिकन्दर की

एक अरबी उपाधि जिसका अर्थ लोग भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। कोई दो सींग वाला अर्थ करते हैं और कहते हैं कि सिकंदर यूनानी प्रथा के अनुसार दो सींग वाली टोपी पहनता था, कोई पूर्व और पश्चिम दोनों कोनों को जीतने वाला, कोई बीस वर्ष राज्य करने वाला और कोई दो उच्च ग्रहों से युक्त अर्थात् भाग्यवान के रूप में अर्थ करते हैं।" (रामचन्द्र शुक्ल की जायसी ग्रंथावली के आधार पर यह परिचय दिया गया है।) सुलेमा-यहूदी सम्राट सुलेमान, केरि–की गरु–बोझ वाली। पुहुमिपति–पृथ्वी का स्वामी, सिहिट–सृष्टि, संभारी–संभाली, जुगहि जुग–युग युगान्तर तक।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पद्यावतरण में जायसी ईश्वर और पैगम्बरों की स्तुति के पश्चात् अपने शाहेवक्त का वर्णन करते हैं। इस वर्णन में शेरशाह की पूरी प्रशस्ति है और यह मसनवी शैली के आधार पर उपयुक्त है। वे कहते हैं कि—

दिल्ली के अधिपति शेरशाह सूरी का प्रताप सब प्रकार दीप्त है। वह ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो चारों भूखण्ड सूर्य से प्रकाशित हैं। उसे राज-छत्र और सिंहासन शोभायमान प्रतीत होते हैं। वास्तव में वही शहंशाह होने के अनुकूल है। उसकी वीरता जगत प्रसिद्ध है और उसके समक्ष राजा लोग अपना माथा पृथ्वी पर टेक देते हैं। वे उसकी आधीनता स्वीकार कर लेते हैं। शेरशाह शूर जाति का है तथा तलवार चलाने में बड़ा निपुण है। उसकी बुद्धिमत्ता और शूरवीरता जगत प्रसिद्ध है। वस्तुतः वह शूरवीर और निपुण है। उस शेरशाह ने समस्त राजाओं को परास्त कर दिया है तथा सभी राजा उसके सामने सिर झुकाते हैं। उसके सामने सातों दीपों के लोग झुकते हैं। उसने अपनी तलवार के बल से वहां तक शासन को फैला रखा है जहां तक पृथ्वी पर महान् सिकन्दर ने विजय की थी। उस राजा शेरशाह की अंगुली मे यहूदी सम्राट सुलेमान की अंगूठी है। उसने संसार के लोगों को मुट्ठी भर-भर कर दान दिये है। वह पृथ्वीपति है; उसने पृथ्वी को सहारा देकर समस्त दुनियां का आधार बना रखा है।

जायसी कहते हैं कि उसे मुहम्मद साहब ने वरदान और आशीर्वाद दे रखा है कि तुम युग युग तक शासन करो। उन्होंने बताया है कि तुम संसार के शाहंशाह हो और सम्पूर्ण संसार तुम्हारे अधिकार में है—शासनाधीन है या मुहताज है या मुखापेक्षी है।

विशेष—इस पद का सौन्दर्य सहज कथन और मित कथन पर आधारित है। शाहेवक्त का इतना सहज और व्यावहारिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

बरनौं सूर भूमिपति राजा। भूमि न भार सहै जेहि साजा॥
हय गय सेन चलै जग पूरी। परबत टूटि उड़हिं होई धूरी॥
रेनु रैनि होइ रविहिं गरासा। मानुख प ख लेहिं फिरि बासा॥
भुइं उड़ि अंतरिक्ख मृतमंडा। खंड खंड धरती बरम्हंडा॥
डोलै गगन, इंद्र डरि कांपा। बासुकि जाइ पतारहि चांपा॥
मेरु धसमसै, समुद सुखाई। बन खंड टूटि खेह मिलि जाई॥
अगिलहि कहं पानी लेइ बांटा। पछिलहि कहं नहिं कांदो आटा॥
जो गढ़ नएउ न काहुहि चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति सेर साहि जग सूर॥ १४॥

शब्दार्थ—बरनौं वर्णन करता हूं । प्रकृति-पृथ्वी, हयगम—हाथी-घोड़ा, पूरी-यह शब्द सम्पूर्ण सेना का बोधक है । 'पूरी' अर्थात सम्पूर्ण । रइन-रात्रि, गरासा-ग्रस लेना, वासा-विश्राम, महि-पृथ्वी, वासुकि-शेषनाग, चांपा-छिपना, वनखण्ड-जंगल, खेहि-धूल, अगलहि-आगे की सेना, पिछलेहि-पीछे की सेना, कांदहु आंटा-कीचड़ भी पूरी नहीं पड़ती । जगसूर-जगत का शूरवीर अर्थात शेरशाह ।

ससंदर्भ व्याख्या—इस पद में कवि जायसी ने शेरशाह का वर्णन किया है । वह कहता है कि मैं अब भूमिपति शेरशाह का वर्णन करता हूं । वह ऐसा शूरवीर है कि पृथ्वी उसका भार सहन नहीं कर सकती है। जब उसकी सेना तथा उसमें रहने वाले हाथी घोड़े सज सजाकर पृथ्वी पर चलते हैं तो वह उन बहुसंख्यक सिपाहियों और हाथी-घोड़ों का भार नहीं सहन कर पाती है । बात यहां तक पहुंच जाती है कि पर्वत और विशाल भूधर चूर-चूर होकर रेत के रूप में उड़ने लगते हैं । इतनी धूल उड़ती है कि रात्रि का सा अंधकार छा जाता है और सूर्य अंधकार और धून से ग्रसित हो उठता है । भ्रम हो जाने से मनुष्य और पक्षी दोनों ही विश्राम करने को उद्यत हो जाते हैं । पृथ्वी धूल धूसरित हो जाती है । धमाकों से छः खण्डों में धरती और अष्ट खण्डों में ब्रह्माण्ड के टूटने का आभास होने लगता है । भय से आकाश कांपने लगता है हिलने लगता है, इन्द्र कंपित हो उठता है । शेषनाग भय से कांपता हुआ पाताल में छिपने चला जाता है । सुमेरू पर्वत नीचे पृथ्वी में धसकने लगता है. समुद्र सूख जाते हैं । जगल के वृक्ष टूट-टूटकर धूल में मिल जाते हैं । सेना इतनी विशाल है कि यदि कभी पानी वितरित किया जाता है तो केवल आगे के सैनिकों को ही वह मिल पाता है और पीछे के सैनिकों को मिले उससे पूर्व ही कुंए और तालाबों का जल सूख जाता है । परिणामतः पीछे के भाग में नियुक्त सैनिक प्यासे के प्यासे रह जाते हैं । उन्हें कीचड़ से भी पूरा नहीं पड़ता है ।

जायसी कहते हैं कि शेरशाह का पर्याप्त आतंक है । वह ऐसा है कि जो किले अविजित रहे हैं, जगत विजेता पृथ्वीपति शेरशाह की चढ़ाई से टूट-फूटकर चूर्ण बन जाते हैं ।

विशेष—इस पद में दो प्रमुख अलंकारों का प्रयोग किया गया है—अतिशयोक्ति और भ्रान्तिमान । शेरशाह की सेना का वर्णन भूषण द्वारा किये गये शिवाजी की सेना के वर्णन से मेल खाता है—

"साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं ।
'भूषण' भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गैंवरन के रलत हैं ॥
सेल-फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पैल, सैल उलसत हैं ।
तारा सो तरन धूरि धारा में लगत जिमि,
धारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥"

अदल कहौं पुहुमी जस होई । चांटा चलत न दुखवै कोई ॥
नौसेरवां जो आदिल कहा । साहि अदल-सरि सोउ न अहा ॥
अदल जो कीन्ह उमर कै नाईं । भई अहा सगरी दुनियाईं ॥
परी नाथ कोइ छुवै न पारा । मारग मानुष सोन उछारा ॥
गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा । दूनौ पानि पियहि एक घाटा ॥
नीर खीर छानै दरबारा । दूध पानि सब करै निनारा ॥
धरम नियाव चलै; सत भाखा । दूबर बली एक सम राखा ॥
सब पृथवी सीसहि नई जोरि जोरि कै हाथ ।
गंग-जमुन जो लगि जल तौ लगि अम्मर नाथ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—अदल–न्याय, पुहुमी–पृथ्वी, चांटा–चींटी दुखवै–दुख देता है, नौसेरवां–एक प्रसिद्ध न्यायप्रिय शासक का नाम, आदिल–न्याय करने वाला, सरि–समान, उमर–एक पैगम्बर का नाम, नांई–भांति, तरह, सगरी–सम्पूर्ण, परीनाथ–स्त्री की नाक में पड़ी नथ, सोन उछारन–सोना उछालते चलते हैं, रेंगहि–चलते है, बाटा–रास्ता, नीर खीर–नीर क्षीर विवेचक राजा, निनारा–पृथक या अलग–अलग, सत भाखा–सत्यभाषण, दूबर–दुर्बल, बली–बलवान।

ससदर्भ व्याख्या—इस पद्य में जायसी ने शेरशाह के शासन की न्यायप्रियता का सविस्तार वर्णन किया है। कवि कहता है कि शेरशाह का न्याय बड़ा स्थिर और दृढ़ है ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी अटल है। उसके न्याय के कारण ही पृथ्वी पर रेंगती चींटी को भी कोई दुख नहीं देता है। राजा नौशेरवां जो बड़ा न्यायप्रिय शासक कहा जाता है, सो वह भी शाहसूरी के समान न्यायप्रिय नहीं था। तात्पर्य है कि नौशेरवां से भी अधिक न्यायप्रिय राजा शेरशाह था। शेरशाह ने उमर की भांति न्याय किया है। अतः सम्पूर्ण संसार में उसकी प्रशस्ति सुनी जाती है। उसकी न्यायप्रियता इतनी अधिक शक्ति सम्पन्न और अचल है कि किसी स्त्री की नाक में पड़ी नथ को भी कोई व्यक्ति चोरी की दृष्टि से नहीं देखता है। शेरशाह के शासन में चोर और लुटेरों का तनिक भी भय नहीं है, तभी तो मनुष्य निर्भीक भाव से रास्ते में चलते-चलते सोना उछालते हैं। गाय और शेर भी अपना स्वाभाविक और जन्मजात वैरभाव भूल कर एक ही घाट पर अथवा स्थान पर पानी पीते हैं। दोनों में कोई भी शत्रुता नहीं दिखाई देती है। शेरशाह अपने दरबार में नीर–क्षीर का विवेचक है, वह कभी अन्याय का पक्ष नहीं लेता है। वह दूध का दूध और पानी का पानी करके न्याय करता है। उसी शेरशाह के राज्य में धर्म और न्याय सत्य भाषण पर आधारित हैं। इतना ही क्यों, दुर्बल और सबल सभी एक समान रहते हैं। दोनों में कोई विभेदक रेखा नहीं खींची गई है।

जायसी कहते हैं कि शेरशाह की न्यायप्रियता के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी करबद्ध होकर आशीर्वाद देती है कि जब तक इस पृथ्वी पर गंगा-जमुना का जल प्रवाहित है तब तक शहंशाह तेरा मस्तक गर्व से, ऐश्वर्य से और शान से ऊंचा रहे, तात्पर्य है कि शेरशाह चिरकाल तक शासक बना रहे।

विशेष—इस पद में प्रचलित भाषा में लोकजीवन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। अभिव्यक्ति के निमित्त प्रयुक्त लोकोक्तियां और मुहावरे अपना

सानी नहीं रखते हैं। नीर-क्षीर विवेचन, दूध-पानी को अलग-अलग करना आदि प्रयोग इसके सबल प्रमाण हैं।

जायसी ने शेरशाह की न्यायप्रियता का वर्णन करके तथा उसकी वीरता का वर्णन करके तत्कालीन जीवन और वातावरण का चित्र भी प्रस्तुत कर दिया है। 'स्वभावोक्ति' अलंकार की योजना मधुर बन पड़ी है।

पुनि रुपवंत बखानौं काहा। जावत जगत सबै मुख चाहा ॥
ससि चौदसि जो दई संवारा। ताहू चाहि रूप उंजियारा ॥
पाप जाइ जो दरसन दीसा। जग जुहार कै देत असीसा ॥
जैस भानु जग ऊपर तपा। सबै रूप ओहि आगे छपा ॥
अस भा सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दस आगर करा ॥
सौंह दीठि कै हेरि न जाई। जेहि देखा सो रहा सिर नाई ॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। विधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा ॥

रूपवंत मनि माथे, चंद्र घाटि वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लोभानि असतुति बिनवै ठाढ़ि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—रूपवंत-रूपवान, बखानो काहा-क्या वर्णन करूं, चाहा-निहारता या देखता है। ससि चौदसि-चौदहवीं का चन्द्रमा, चाहि-इच्छुक या अभिलाषी है, दरसन दीसा-दर्शन करने पर, जुहार कै-प्रणाम करके, दस आगर करा-दस से अधिक कलाएं, सौंह-सामने, दीठि-दृष्टि, हेरि-देखी, सिरनाई-सिर झुका कर, सवाई-सवा गुना, चन्द्रघाट-चांद का सौन्दर्य घट-कर है। वह बाढ़ि-वह बढ़कर है, मेदिनि-पृथ्वी, लोभानि-लालायित हुई, असतुति-स्तुति या अभिशंसा करती है।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि जायसी कहते हैं कि शेरशाह बड़ा रूपवान था। उसके रूप की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। कवि ने लिखा है कि—शेरशाह के रूप का मैं कैसे वर्णन करूं ? सम्पूर्ण संसार ही उसके सुन्दर मुख की ओर देखता रहता है। उसका मुख क्या है चौदहवीं का चांद है--वह भी साधारण नहीं अच्छी तरह सवारा हुआ चांद। अभिप्राय यह है कि चौदहवीं के चांद को जो सौन्दर्य प्राप्त है वह भी शेरशाह के मुख की तुलना मे कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि चौदहवीं का चांद भी उस शेरशाह के मुख को पाने का इच्छुक है। उस शेरशाह के मुख दर्शन मात्र से ही पापों का शमन हो जाता है और संसार के सभी व्यक्ति उसे दिग्भ्रान्त मे चाहते है; अत. दोनों हाथों से प्रणाम करते हुए उसे आशीर्वाद देते हैं। आकाश में जिस प्रकार सूर्य तपता है वैसे ही शेरशाह शासनाध्यक्ष के रूप में विराजमान है। सूर्य के प्रकाश के कारण जिस प्रकार हल्के फुल्के सभी प्रकाश या अंधकार छिप जाते हैं वैसे ही शेरशाह के समक्ष सभी कालिमा छिप जाती है। जायसी कहते हैं कि शेरशाह ने एक निर्मल पुरुष के रूप में पृथ्वी पर अवतरण किया है; वह सूर्य की कलाओं से भी आगे दीप्तमान है। तात्पर्य यह है कि उसकी शूरवीरता बड़ी उज्ज्वल है और उसकी कलायें सूर्य से भी दस गुनी अधिक प्रकाशित हैं।

शेरशाह के तेज के समक्ष उसकी ओर दृष्टि विनिमय करना बड़ा दुष्कर कार्य है। उसे जो भी कोई देखता है, सिर झुकाकर रह जाता है—

प्रणाम करता है। उसके स्वरूप और सौन्दर्य में नित्य प्रति सवा गुनी वृद्धि होती है। उसका रूप-सौन्दर्य विधाता ने सबसे ऊपर रखा है। वह दिव्य पुरुष है।

जायसी कहते हैं कि उस राजा शेरशाह के मस्तिष्क पर रूपवान मणि लगी हुई है। चन्द्रमा की कान्ति भी उसके समक्ष फीकी पड़ जाती है तथा उसका सौन्दर्य उससे आगे है। सम्पूर्ण पृथ्वी उस शेरशाह शूरवीर राजा के दर्शनों के लिए लालायित रहती है। इतना ही नहीं उसकी वंदना में सभी पुरुष हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

विशेष—इस पद में शेरशाह की विनयशीलता, उसका रूप-सौन्दर्य तथा उदार व्यक्तित्व प्रकट किया गया है। कवि जायसी ने बड़े सरल ढंग से अपनी बात कह दी है। कहीं कोई बनावट और दिखावटीपन नहीं है। सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है क्योंकि शेरशाह का चांद और सूर्य की कलाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी उसके सौन्दर्य को बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। यहां अत्युक्ति अलंकार भी माना जा सकता है। कारण–शेरशाह में रूप सौन्दर्य था, किन्तु जितना कहा गया है उतना नहीं। हमारी समझ में इसमें अतिशयोक्ति अलंकार ही मानना ठीक रहेगा।

पुनि दातार दई जग कीन्हा। अस जग दान न काहू दीन्हा॥
बलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करन तियागी अहे॥
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुद सुमेर भंडारी दोऊ॥
दान डांक बाजे दरबारा। कीरति गई समुंदर पारा॥
कंचन परसि सूर जग भएऊ। दारिद भागि दिसंतर गयऊ॥
जो कोइ जाइ एक बेर मांगा। जनम न भा पुनि भूखा नागा॥
दस असमेध जगत जेइ कीन्हा। दान-पुन्य-सरि सौंह न दीन्हा॥

ऐस दानि जग उपजा सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयउ न होइहि, ना कोइ देइ अस दान॥ १७॥

शब्दार्थ—दातार=दान देने वाला, अहे=थे। करन=दानी कर्ण, सरि=समान, पूज=सम्पूर्ण, डांक=डंका, नगाड़ा, कंचन=सोना, दारिद =दारिद्र्य दिसांतर=देश-देशांतर, बेर—बारा, दस असमेध=दशाश्वमेध यज्ञ, अइस=ऐसा, उपन=पैदा हुआ।

सप्रसंग व्याख्या—जायसी ने कहा है कि शेरशाह की दानवीरता को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। कवि कहता है कि—शेरशाह को ईश्वर ने दानवीर बनाया है। इस तरह संसार में किसी ने दान नहीं दिया जैसा कि शेरशाह ने दिया है। राजा विक्रमादित्य और बलि बड़े दानी थे। हातिम और कर्ण भी बड़े दानवीर थे, किन्तु ये सबके सब शेरशाह के बराबर नहीं थे। शेरशाह की दानवीरता और त्यागमय प्रवृत्ति के समक्ष इनका व्यक्तित्व बड़ा था, महत्वपूर्ण था। शेरशाह की दानवीरता से सागर और सुमेरु पर्वत का भंडार भी कम पड़ता है। उसके दरबार के दरवाजे पर दान का नगाड़ा बजता रहता है। समुद्र के आर-पार देश-विदेशों में उसका यश फैल चुका है। वह बड़ा पुण्यात्मा राजा है; अतः इसी पुण्यधर्मा राजा के राज्य में स्वर्ण बरसता है। कंगाल अर्थात् गरीब उसके राज्य से भाग कर अन्य देशों में चले

गये हैं। उसके राज्य में आजीवन कोई भूखा नंगा नहीं रहता है। जो कोई भी उनसे एकबार मांगने आ जाता है तब वह निराश नहीं लौटता है तथा जीवनपर्यन्त भूखा नहीं रह सकता है। तात्पर्य यह है कि उसके दान की मात्रा अधिक होती है। परिणामतः उसके दयालु और दानो होने के कारण कोई भूखा नंगा नहीं रह पाता है। जिसने दस बार भी अश्वमेध यज्ञ किया है वह शेरशाह की दानशीलता और पुण्यशीलता में बराबरी नहीं कर सकता है।

जायसी कहते हैं कि शेरशाह संसार में ऐसा दानी हुआ है कि कोई भी उसके समान नहीं हुआ। इतना हो नहीं कवि की मान्यता तो इस प्रकार है कि इस प्रकार दानवीर और दूसरा कोई भी नहीं होगा और न हुआ ही है।

विशेष—शेरशाह की दानवीरता का वर्णन बहुत अस्वाभाविक है। अतिशयोक्ति में उपहासास्पद स्थल आ गये हैं। कर्ण व हातिमताई आदि से शेरशाह की तुलना संगत नहीं कही गई है।

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोंहि पंथ दीन्ह उंजियारा॥
लेसा हियें प्रेम कर दीया। उठी जोति भा निरमल हीया॥
मारग हुत अंधियार जो सूझा। भा अंजोर, सब जाना बूझा॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित धरम लीन्ह कै चेला॥
उन्ह मोर कर बूड़त कै गहा। पायों तीर घाट जो अहा॥
जाकहँ ऐस होइ कंधारा। तुरत बेगि सो पावै पारा॥
दस्तगरी गाढ़े कै साथी। वह अवगाह, दीन्ह तेहि हाथी॥
जहांगीर वै चिस्ती निहकलंक जस चांद।
वै मखदूम जगत के, हौं ओहि घर कै बांद॥ १८॥

शब्दार्थ—पीर=गुरु या साधु, मोंहि=मुझको, उजियारा=उज्ज्वल, लेसा=जलाया, हिये=हृदय में, हीया=हृदय। मारग=पथ, असूझा=दिखाई न पड़ने वाला, अंजोर=उजाला, जानाबूझा=सोचा-समझा, मोर मेला=मेरा या मुझे मिलाया, बोहित=नाव, घटा=घाट, कंधारा=अवलंबन देने वाला कर्णधार, दस्तगीर=हाथ पकड़ने वाला, गाढ़े का साथी=कठिनाई का मित्र, अवगाहा=गहरा, हाथी=हाथ, निहकलंक=निष्कलक, जस=जैसा, मखदूम=स्वामी बांद=दास।

ससंदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी मसनवी ढंग के अनुसार अपने पीर गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

मेरा गुरु (पीर) सैय्यद अशरफ मेरा प्रिय और आदरणीय पात्र है। उसी गुरु ने मेरा मार्ग निर्देशन किया है और मुझे उज्ज्वल ज्ञान का मार्ग बताया है। उसी गुरु की कृपा से मेरे हृदय में प्रेम-दीप उज्ज्वलित हुआ है। उसके ज्ञान-दीपक की ज्योतित शिखा के आधार पर ही तो मेरा हृदय पवित्र हुआ और प्रकाशित हुआ है। इस गुरु के जीवन में आने से पूर्व मेरे जीवन का मार्ग अज्ञान से आवृत और अन्धकारमय था। गुरु की कृपा के परिणामस्वरूप ही मेरा मार्ग प्रकाशित हुआ; मैं ज्ञान मार्ग का अर्थ समझ सका। गुरु ने अपनी कृपा ऐसे की कि सम्पूर्ण पाप समुद्र के खारी जल में धो देते हैं। तात्पर्य यह है कि मुझे संसार से वैराग्य हो गया और धर्म की नौका पर बैठा चढ़ा कर

अपना शिष्य बना लिया है। धर्म रूपी नाव ठीक है, मेरे हृदय में कसावट आई क्योंकि मुझे किनारे के साथ वाला घाट पा सकता है। तात्पर्य यह है कि गुरु ने ही मुझे संसार के पार जो परम परमेश्वर का लक्ष्य है, घाट है, उस पर पहुँचाने का काम किया था।

जायसी कहते हैं कि वाकई सैय्यद अशरफ जैसे जिसके तारने वाले हैं, वह शीघ्र ही उद्धार को प्राप्त करेगा। मेरे गुरु मेरा साथ पूरी तरह निभाते हैं। कठिनाइयों और संघर्षों मे आगे बढ़ने वालों के गुरु सभी एक से नहीं हैं। जहां अथाह है वहां हाथ का पूरा-पूरा सहारा लेकर उसे आगे बढ़ाया जाना भी चित्रित किया गया है।

जायसी कहते हैं कि सैय्यद अशरफ जहांगीर चिश्ती थे—कलंकहीन चांद की तरह समुज्वल। वे संसार को अपना अनुयायी कहते थे।

विशेष—गुरु की महत्ता कबीर जायसी सभी ने बड़े सुन्दर और व्यावहारिक ढग से व्यक्त की है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

'बलिहारी वा गुरु की गोविन्द दियो मिलाय'॥

(कबीर)

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते॥

(तुलसी, बालकांड)

ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सबै गुन भरा॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पथ देइ कहँ दैव संवारे॥
सेख मुहम्मद पून्यो करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुओ अचल ध्रुव डोलहि नाहीं। मेरु खिखिंद तिन्हहुं उपराहीं॥
दीन्ह रूप औ जोति गोसाईं। कीन्ह खंभ दुइ जग के ताईं॥
दुहुं खंभ टेके सब मही। दुहुँ के भार सिहिटि थिर रही॥
जेहि दरसे औ परसे पाया। पाप हरा, निरमल भइ काया॥
मुहम्मद तेइ निचिंत पथ जेहि सँग मुरसिद पीर।
जेहिके नाव औ खेवक बेगि लागि सो तीर॥ १६॥

शब्दार्थः—ओहि-उसके, तेहि घर-उसके घर, देइकहँ देने के लिए, पून्यो करा-पूर्णिमा की कला, ध्रुव-ध्रुव, खिखिंद-किष्किधा काण्ड, उपराहीं-ऊपर, दुहुँ-दोनों, टेके-आधृत, सिहिटि-सृष्टि, थिर रही-स्थिर रहती है। दरसे औ परसे-दर्शन और स्पर्श, पाप हरा-पाप शान्त होगये। निचिन्त-निश्चिन्त, मुरसिद पीर-गुरु अर्थ का द्योतक है। खेवक-खेने वाला मांझी, बेगि लागि सो तीर-तीव्रता से किनारे पर पहुँच जाता है।

सप्रसंग व्याख्याः—कविवर जायसी प्रस्तुत पंक्तियों में सैयद अशरफ जहांगीर के वंश का परिचय देते हुए कहते हैं—

सैयद अशरफ के घर में एक निर्मल रत्न के रूप में हाजी शेख का जन्म हुआ जो सम्पूर्ण गुणों से युक्त थे। उनके घर में (शेख हाजी के घर में) दो दीप प्रज्ज्वलित हुए जिन्हें विधाता ने रास्ता दिखाने के लिए संवारा। उनमें से एक का नाम शेख मुबारक था जो पूर्णचन्द्र की कलाओं से शोभायमान थे और दूसरे शेख कमाल थे जिनके स्पर्श से संसार निर्मल हुआ। तात्पर्य यह है कि

इन दोनों व्यक्तियों द्वारा संसार कृतकृत्य हुआ। वे दोनों ही स्थिर ध्रुव के समान चरित्रवान थे। व्यक्तित्व सुमेरु और किष्किधा के समान ऊंचा और गौरवशाली था। ईश्वर ने इन्हें रूप-सौन्दर्य की दिव्यता प्रदान की। इन दोनों को ईश्वर ने स्तंभ स्वरूप बनाया था। इन दोनों स्तंभ रूपी महापुरुषों ने पृथ्वी को आधार दिया और इन दोनों के बल के कारण ही सृष्टि स्थिर बनी रही है। जायसी का कथन है कि जिन्होंने इनके दर्शन किये उनके पाप-ताप सभी शान्त होगये या दूर होगये।

जायसी कहते हैं कि वही निश्चिन्त पथ है जिसके साथ मुरसिद पीर अर्थात् गुरु रहता है। वास्तव में मनुष्य की जीवन-नौका का खेनेवाला वह परमात्मा स्वरूप मार्गदर्शक हो तो उसकी नाव शीघ्र ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होती रहती है। इस प्रकार के व्यक्ति का माग निश्चिन्त और निष्कंटक होता है।

विशेषः—१. इन पक्तियों में रूपक का प्रयोग सुन्दर है। अभिव्यक्ति में सरलता और सहजता का पुट है।

२. गुरु की महत्ता व्यजित है, साथ ही बताया गया है कि गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता है और न लक्ष्य की ओर ही मानव बढ़ पाता है।

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा ॥
अगुवा भयउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू ॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोसन सुरखुरू ॥
सैयद मुहमद कै वै चेला। सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला ॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए ॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिये मेरइ जहँ सैयद राजे ॥
ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनि ॥
वै सुगुरू, हौं चेला, नित बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पायउँ, दरस गोसाईं केर ॥ २० ॥

शब्दार्थ:—मोहदी जायसी के गुरु का नाम, उताइल—शीघ्रता से, उतावलेपन से, खेवा—खेने से, अगुआ—अग्रणी, सुरखरू—दीप्त, तेजस्वी, सिद्ध पुरुष संगम—ब्रह्म के साथ संगम, लखाए—दिखाए, परसन-प्रसन्न, लइ मेरइ—मिलाये सेवत—सेवा करते करते, करनी—संस्कार, उघरी मुखरित हुई या खुली। चेर—दास या चेला, उन्हहुत—उनके सहारे या माध्यम से, केर—का, गुसाईं—ईश्वर।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में जायसी कहते हैं कि गुरु मुईउद्दीन मेरे नाविक हैं और इस प्रकार मैं उनका शिष्य हूँ। गुरु जैसे खेवनहारे के सहारे ही मेरी जीवन-नौका चलती है। आशय है कि उनकी दीक्षा शीघ्र ही उद्धार कर देती है। उनके अग्रणी शेख बुरहान थे जिनकी कृपा से वे मार्ग पर आये तथा ज्ञान प्राप्ति के अधिकारी हुए। उनके गुरु भी अलहदाद नाम के थे। उन्होंने दुनियां को प्रकाश प्रदान किया अथवा उसे ज्ञान देकर दीप्त किया। ये अलहदाद सैय्यद मुहमद के चेले थे जिनके लिए ईश्वर से संगम होना खेल मात्र था। तात्पर्य यह है कि वे इतने बडे सिद्ध पुरुष थे कि ईश्वर से सहज ही मिलान हो जाता था। गुरु दानियाल ने मुहम्मद साहब को ज्ञान का मार्ग सुझाया था।

उन्होंने हजरत ख्वाजा खिजिर को गुरु रूप में प्राप्त किया और हजरत ख्वाजा ने उनसे खुश होकर उन्हें, जहां सैय्यद राजे थे, उनसे भेंट करवाई। जायसी कहते हैं कि इस वंश परम्परा से जब मैंने अच्छे और सात्विक संस्कार पाये हैं तभी तो मेरी वाणी मुखरित हुई है—प्रेम जैसे तत्व का वर्णन किया है या इस प्रेम काव्य की सर्जना की है।

जायसी कहते हैं कि वे ही मेरे गुरु हैं और मैं उनका शिष्य हूँ अतः नत्यप्रति उनकी विनती करता रहता हूँ। वास्तव में मैं (जायसी) गुरु की कृपा से या उन्हीं के माध्यम से प्रभु के दर्शन करना चाहता हूँ।

विशेष:—इस अंश में गुरु की महत्ता प्रतिपादित की गई है तथा बताया गया है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता है।

एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥
चांद जैस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकै नयनाहां। उआ सूक जस नखतन्ह माहां॥
जो लहि अंबहि डाभ न होई। तो लहि सुगंध बसाइ न सोई॥
कीन्ह समुद्र पानि जो खारा। तो अति भयउ असूझ अपारा॥
जो सुमेरु तिरसूल विनासा। भा कंचन गिरि, लाग अकासा॥
जो लहि घरी कलंक न परा। कांच होइ नहिं कंचन करा॥
एक नयन जस दरपन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रुपवंतइ पाउ गहि मुख जोहहिं कै चाउ॥ २१॥

शब्दार्थ:—गुनी—गुणवान, विमोहा—मोहित किया, जइस—जैसा, औतारा—अवतरित हुआ दीन्ह कलंक—कलंक दिया। जग सूझा—संसार दिखाई देने लगा, एकै नैनाहां—एक ही नेत्र से। उआ—उदित हुआ, सूक—शुक्र तारा, शुक्राचार्य का अर्थ भी लिया जा सकता है। नखतन्ह—नक्षत्रों में, जोलहि—जब तक. अंबहि—आम के, डाभ—आम के ऊपर की काली घुण्डी जिसका चेप खाने से पूर्व कसैला होने के कारण निकाल दिया जाता है। इसे 'चोपी' भी कहा जाता है। तोलहि—तब तक, सुगंध—आम के पकने के पश्चात् आने वाली सुगंधि से तात्पर्य है। असूझ अपारा—अदृश्य और अपार, विनासा—विनष्ट होगया, भा कंचनगिरि—सोने का पहाड़ होगया। लाग अकासा—आकाश का स्पर्श करने लगा। घरी—सुनार के सोने को तपाने वाला बर्तन घरिया। भाउ—भाव; पांव गहि—पांव छूना। मुख जोहहिं—मुख ताकते या देखते हैं।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में कवि जायसी अपना परिचय दे रहे हैं। यह परिचय उनके जीवन के अनेक अंशों और क्षणों को व्यक्त कर सकता है। वे कहते हैं कि—

एक आंख वाला मुहम्मद नाम का काना, किन्तु गुणवान कवि है। जो भी उसकी कविता को सुनता है विमोहित हो जाता है। ब्रह्मा ने उसे चन्द्रमा के अवतार के रूप में अवतरित किया है। चांद निष्कलंक नहीं होता है वैसे ही जायसी भी निष्कलंक नहीं है। चांद कलंकित होकर भी शीतल प्रकाश प्रदान करता है तो जायसी एक नेत्र वाला होकर भी (तथा इस प्रकार कलंकित होकर) ज्ञान का शीतल प्रकाश सर्वत्र फैलाता है। उसे अपनी एक ही आंख से समस्त

सचराचर विश्व दिखाई देता है। एक आंख वाला होकर भी वह समदर्शी है। अनगिनती तारों के मध्य जैसे शुक्रतारा चमकता है उसी प्रकार काने शुक्र की भांति संसार के लोगों के बीच में कविवर जायसी चमकते हैं।

जायसी कहते हैं कि जब तक आम के ऊपरी भाग पर खट्टेपन का चिन्ह अर्थात् 'कनैटा का चिन्ह (चोपी, डाभ) नहीं होगा तब तक उसमें मिठास की सुगंध कहां से प्राप्त हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती है। (इस प्रकार मुहम्मद जायसी का एकाक्षी होना आवश्यक था।) ईश्वर ने जब समुद्र के जल को खारा बना दिया तभी तो वह असूझ और अपार बना। जब शंकर ने त्रिशूल से सुमेरु पर्वत नष्ट किया तभी तो वह स्वर्णमय होकर इतना गौरवान्वित हुआ कि गगनस्पर्शी बन गया। आशय यह है कि ठेस लगने पर और कुरूप होने पर ही जायसी के अन्तर में काव्य धारा का जन्म हुआ। ठीक भी है जब तक घरिया में (सुनार की सोना तपाने वाली कटोरी) सोना डालकर नहीं तपाया जायगा तब तक वह अशुद्ध है, पर घरिया में तपाये जाने से वह खरा सोना अर्थात् विशुद्ध स्वर्ण बन जाता है।

कविवर जायसी का एक नेत्र दर्पणवत है। तात्पर्य दर्पण जैसा उज्ज्वल और निर्मल है। स्वभाव भी निर्मलता से ओत-प्रोत है। जितने भी संसार में स्वरूपवान या सौन्दर्यशाली हैं, सबके सब उनके पांव पर लोटते हैं तथा साश्चर्य मुंह देखते हैं।

विशेष—ऊपर से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि जायसी ने अपने आप अपनी प्रशंसा की है और कानी आंख के सम्बन्ध में गर्वोक्ति की है। किन्तु (इससे यह समझना ठीक रहेगा कि) जायसी का अभिप्रेत अर्थ यह है कि वे बताना चाहते है कि कुरूप और अंग-भंग होने से ही किसी की प्रतिभा विनष्ट नहीं हो जाती है। बहुत संभव है कि कुरूप व्यक्ति के हृदय में निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित हो।

अलंकार सौन्दर्य यहां बहुत उच्च कोटि का नहीं बन पाया है।

चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुंचाए॥
यूसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहिलै भेद बात वै जानी॥
पुनि सलार कादिम मतिमाहां। खांड़े-दान उभै निति बाहीं॥
मियां सलोने सिंघ बरियारू। बीर खेतरन खड़ग जुझारू॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेस सिद्ध बड़ माना।
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ संजोग गोसाईं गढ़े॥
बिरिछ होइ जौं चंदन पासा। चंदन होइ बेधि तेहि बासा॥

मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकै चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त॥ २२॥

शब्दार्थ—मीत–मित्र। मिताई–मित्रता। मति–मतवान। मति माहां–बुद्धिमान या मतिमान। उभै–उठती है, दोनों के अर्थ में भी लिया जा सकता है। आदेस–आज्ञा, शिक्षा। जुझार–लड़ाका, या बांका लड़ने वाला। चतुरदसा गुन–चौदह विद्याएं। बिरिछ–वृक्ष। अहहिं–होते हैं। निबहा–साथ निभाये रहना। कित्त–कैसे। ओहि जग–उस संसार में अर्थात् परलोक में बिछुड़ना कैसा।

नग–रत्न । तारा–ताला । कूंजी–ताली । सुग्म प्रेम मधु–प्रेम का मधु सुरस है । ग्रमोला–मूल्यवान । घाया–घाव करने वाले । तेहि–उसको । फेरे भेष–वेश बदलते हुए । तपा–तपस्वी । छपा–छिपा हुआ ।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि जायसी ने इन पंक्तियों में बड़ी उदारता और विनम्रता के साथ अपने निवास स्थान आदि का परिचय दिया है । कवि कहता है—मेरा जायस नगर धर्म स्थान है । इस कवि ने अर्थात् (मैंने) जायसी ने इसी स्थल पर अपने काव्य को रचा है । इसी स्थल पर पंडितों से प्रार्थना की है कि उसके काव्यान्तर्गत होने वाली त्रुटियों को सुधार लें । साथ ही उन त्रुटियों के लिए सजा खोज निकालें । जायसी कहते हैं कि मैं सभी विद्वान पंडितों का पिछलग्गू हूं । उन्हीं पंडितों की कृपा से मैंने काव्य की रचना की है—यह बात मैं डंके की चोट कहता हूं या स्वीकार करता हूं (यहां कवि की विनयशीलता और स्वभावगत निश्छलता स्पष्ट ही प्रशंसनीय है) । मेरे हृदय रूपी कोष में जो परमेश्वर की रत्न रूपी काव्य की पूंजी है उसको मेरी वाणी द्वारा इस प्रकार खोल दिया है कि जैसे ताली से ताले को खोला जाता है । इस प्रकार हृदय–कोष के खुल जाने पर रत्नवत् मेरी वाणी से काव्यमय बोल फूट पड़े हैं । इनमें प्रेमरस का माधुर्य भरा हुआ है जो अनमोल है, अतुलनीय है ।

कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम तत्व की महानता यह है कि जिसके कंठ और हृदयस्थल में विरह धंस जाता है उसके हृदय में घाव कर देता है । उसे न तो भूख ही लगती है और न प्यास ही । वह तो प्रेम में दिवाना बना फिरता है । वह वेश बदल कर तपस्वी की भांति प्रेम तत्व की प्राप्ति के लिए तपस्या करता है । विरह की ज्वाला में जलने लगता है । वह धूल में ढका माणिक सा बना रहता है ।

कविश्वर जायसी का कथन है कि जो प्रेम करता है, प्रेमी है—उसके शरीर में न तो मांस रहता है और न रक्त ही । उसके मुख की ओर जो देखता है, वही हंस पड़ता है क्योंकि प्रेम पाश में बंध जाने पर उसकी स्थिति पागलों की सी हो जाती है । इतना ही क्यों जो भी उसकी विरह कथा सुनता है वही आंखों में आंसू भर लाता है, उसे दुखानुभव होता है ।

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि जायसी ने प्रेम की महत्ता, प्रेमी की प्रेमपाश में बिंध जाने के अनन्तर की स्थिति का सही और स्वाभाविक शब्दांकन किया है । पद्मावत काव्य में आगे चलकर जो भाव प्रतिध्वनित हुआ वही 'मुहम्मद कवि जो प्रेम का, ना तन रकत न मांसु' पक्ति में कह दिया गया है।

२. अंग्रेजी के एक कवि ने भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति की है—पागल, प्रेमी और कवि की स्थिति एक समान होती है ।

३. जायसी की विनयशीलता इस पद में अभिव्यक्त हुई है । उसमें निश्छलता और निर्मलता का भाव है । इसी से मिलती जुलती पंक्तियां तुलसी भी कही हैं—

कवित्त विवेक एक नहिं मोरे । सत्य कहूं लिखि कागद कोरे ।।

४. जायसी ने अपने काव्य पद्मावत में व्याप्त प्रेम दर्शन की सूचना

जायसी ने इसी बात को दूसरे ढंग से भी कहा है। वे कहते हैं कि भौंरा कमल रस की गंध से प्रसन्न मन वाला होकर जंगल से अर्थात् दूर से ही खिंचा चला आता है, किन्तु मेंढ़क जो सदा-सर्वदा कमल के समीप ही रहता है, वह कभी उसकी रस-गंध को न तो समझ ही पाता है और न प्राप्त ही कर पाता है। तात्पर्य यह है कि पात्रानुकूल वस्तु का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। पद्मावत काव्य भी इसी स्थिति से गुजरता है।

विशेष—१. इस पद में गंभीर दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। कवि ने प्रतिपादित किया है कि हम सभी अपने गुणों के अनुसार गुणों को ग्रहण करते है।

२. इसमें कई सुन्दर अलंकारों का सटीक प्रयोग मिलता है। उदाहरण, रूपक, अर्थान्तरन्यास और अतिशयोक्ति की छटा देखते ही बनती है।

३. "नियरे दूर, फूल जस कांटा।
दूरि जो नियरे जस गुड़ चांटा॥"

इस पंक्ति का सौन्दर्य अर्थान्तरन्यास और उपमालंकार पर आधृत है। साथ ही इसमें बड़ा महान संदेश छिपा हुआ है। इसी प्रकार दोहे में जो संदेश प्रतिध्वनित है, वह भी देखने योग्य है। कवि ने पात्रानुकूल वस्तु के मूल्यांकन की बात कितनी सरल पद्धति से कह डाली है—

"भंवर आइ वनखंड सन् लेइ कवल के बास।
दादुर बास न पावई भलहि जो आछे पास॥"

सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड

सिंघलद्वीप कथा अब गावौं। औ सो पदमिनि वरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भांति विसेखा। जो जेहि रूप सो तैसइ देखा॥
धनि सो दीप जहं दीपक वारी। औ पदमिनि जो दई संवारी॥
सात दीप वरनै सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू॥
दियादीप नहिं तस उंजियारा। सरनदीप सर होइ न पारा॥
जंबूदीप कहौं तस नाहीं। लंकदीप सरि पूज न छाहीं॥
दीप गभस्थल आरन परा। दीप महुस्थल मानुस-हरा॥
सब संसार परथमै आए सातौं दीप।
एक दीप नहिं उत्तिम सिंघलदीप समीप॥ १॥

शब्दार्थ—गावौं—गाता हूँ, औ सो—और उस, वरनि—वर्णन, विसेखा—विशेष, जेहि—उस, तैसई—वैसा ही, धनि—धन्य है, सो—वह, ओहिसरि—उसकी तुलना में, जोगू—योग्य, वारी—वाला, स्त्री सरनदीप—लंका, अरबियन्स लंका को सरनदीप या स्वर्णदीप कहा करते थे। शुक्लजी की टिप्पणी है कि कवि ने भूगोल का ठीक ज्ञान न होने के कारण स्वर्णदीप और सिंहलदीप को भिन्न-भिन्न माना हैं। आरन—अरण्य या जंगल, मानुस-हरा—मनुष्यों से शून्य अर्थात् निर्जन, परथमैं—प्रथमतः, पहले ही, उत्तिम—उत्तम या श्रेष्ठ।

ससंदर्भ व्याख्या—इस पद में जायसी ने सिंहलदीप का वर्णन करने के पश्चात, पद्मिनी स्त्री के रूप-सौन्दर्य को सातों दीपों की सुन्दरी स्त्रियों

से बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया है। सातों दीपों के नाम सम्भवतः जायसी की कल्पना से निसृत हैं। नाम इस प्रकार है—दियादीप, सरनदीप, जम्बूदीप, लकादीप, कुसस्थल दीप, महुस्थल दीप तथा पद्मिनी से सम्बन्धित सिंघलदीप।

कवि जायसी कहते है कि मैं अब सिंहलदीप का वर्णन करता हूँ। इसके साथ ही पद्मिनी नारी का वर्णन भी करूँगा जिसका रूप दर्पण के समान निर्मल और स्वच्छ है। भावानुकूल व्यक्ति उसके रूप को देखता है। तात्पर्य यह है कि दर्पण में जैसी छवि होती है, वैसी ही दिखाई देती है, इसी प्रकार पद्मिनी नारी का सौन्दर्य भी व्यक्ति को अपनी भावनाओं के अनुरूप ही दिखाई देता है। जायसी का कथन है कि वह द्वीप धन्य है, सौभाग्यशाली है जहां पद्मिनी जैसी सुन्दर और स्वच्छ शरीर वाली नारियां रहती हैं। वे दीपक के समान उज्ज्वल हैं। उनमें भी पद्मिनी तो अवतार—स्वरूपा दिव्य नारी है। ससार में व्यक्तियों ने सात द्वीपों का वर्णन किया है, किन्तु कोई भी इनमें से सिंहलदीप के समान नहीं प्रतीत होता हैं। तात्पर्य यह है कि उसके समान सुन्दर और धन्य द्वीप दूसरा पृथ्वी पर नहीं है। तथाकथित दियादीप उस जैसा प्रकाशवान नहीं है और न सरनद्वीप ही ऐसा है। जम्बूद्वीप भी उस सिंहलदीप की बराबरी नहीं कर सकता है। लकाद्वीप भी किसी प्रकार उसकी तुलना में नहीं टिक सकता है। कुसस्थल द्वीप तो अरण्यवत् है, अतः उसस समानता या तुलना का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है? रहा महुस्थल द्वीप, वह भी निर्जन है, जनहीन है, अतः तुलना की कसौटी पर वह भी खरा नहीं उतरता है।

कविश्वर जायसी का कथन है कि सबसे पहिले संसार में ये ही सातों द्वीप निर्मित हुए, किन्तु इनमें से एक भी द्वीप सिंघलदीप की समता पर नहीं टिक सका। कारण स्पष्ट है, सिंहलदीप इन सबकी अपेक्षा सुन्दर, स्वस्थ और नये ढग से निर्मित है जबकि दूसरे द्वीप ऐसे नहीं है। साथ ही सिंहलदीप में पद्मावती नारियाँ रहती हैं जबकि अन्य द्वीपों में से कोई निर्जन है तो कोई जंगल या मनुष्यहीन है।

विशेष—इन पंक्तियों में पद्मिनी स्त्री के दिव्य रूप—सौन्दर्य का गुणानुवाद किया गया है। वर्णन—पद्धति स्वाभाविक और सरस है। हो भी क्यों नहीं? इसमें रहनेवाली नारिया पद्मिनी हैं जिनके लिए कहा जाता है—'पद्मिनी पद्मगध"। असम अलंकार के साथ अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग सराहनीय है।

गध्रवसेन सुगध नरेसू। सो राजा वह ताकर देसू॥
लका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥
छप्पन कोटि कटक दल साजा। सबै छत्रपति औ गढ़ राजा॥
सोरह सहस घोड़ घोड़सारा। स्यामकरन अरु बांक तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंघली। जनु कविलास एरावत बली॥
अस्वपतिक सिरमौर कहावै। गजपतीक आंकुस गज नावै॥
नरपतीक कहं और नरिंदू? भूपतीक जग दूसर इंदू॥
ऐस चक्कवै राजा चहूं खंड भय होइ।
सबै आइ सिर नावहिं सरवरि करै न कोइ॥ २॥

शब्दार्थ—गंध्रवसेन—गधर्वसेन, सुंगध—प्रतापी नरेश, ताकर—उसका, तेहु चाहि—उससे भी बढ़कर, ताकर साजू—उसका साज सामान, कटक दल—सैन्यदल, सोरह सहस—सोलह सहस्र, घोड़सारा—घुड़सवार, स्यामकरन--श्याम-वर्णवाले, बांक तुखारा—बांके तुखार अर्थात् तुखार देश के घोड़े, हस्तीसिंघली—सिंघल देशीय हाथी, कविलास—स्वर्ग, अस्वपतिक—अश्वपति, सिरमौर—सिर-ताज, आंकुसगज—अंकुश, नरिन्दू—नरेन्द्र, भूपतीक—भूपति अर्थात् पृथ्वी-पति, इंदू—चन्द्रमा, चक्कवै—चक्रवर्ती, चहूँ—चारों, नावहिं—नवाते हैं, सरवरि—समानता।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि जायसी इस पद में कहते हैं कि गन्धर्वसेन नाम का प्रतापी राजा था। वह इस द्वीप—सिंहलद्वीप का नरेश था और यह उसका देश था। लंका के राजा रावण का राज्यगौरव सुना जाता है, किन्तु इस गधर्वसेन राजा का राज्य रावण से अधिक विस्तृत तथा व्यापक है। इसके लश्कर में सैन्य-दल में छप्पन करोड़ बहादुर वीरों की सेना सज्जित है। इस प्रकार वह सभी राजाओं में छत्रपति राजा है और सबसे ऊपर है। उसकी सेना में सोलह सहस्र घुड़सवार हैं। वे सभी श्यामवर्ण के हैं तथा तुषार देश से सम्बन्धित होने के कारण बड़े तेजस्वी और प्रतापी हैं। सिंघल-द्वीप के सात हजार हाथी भी उस राजा की सेना में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह सात हजार हाथियों का दल स्वर्गोपम इन्द्र वाले ऐरावत हाथी जैसे बहादुर हैं। वह अश्वपति नरेशों का सिरताज है—सर्वोपरि है। वह अनेक गजपतियों को अपने अंकुश से झुकाये रहता है। तात्पर्य यह है कि उसकी वीरता, उसके शासन का अंकुश बड़े--बड़े हाथियों पर चढ़ने वाले राजाओं को विनत किये रहता है। वह नरपतियों का सम्राट होने के कारण नरेन्द्र कहलाता है। वह वस्तुतः अन्य राजाओं के निमित्त साक्षात् इन्द्रस्वरूप प्रतीत होता है।

जायसी कहते हैं कि गधर्वसेन ऐसा चक्रवर्ती राजा है। चारों खण्डों के शासक उसके समक्ष सिर झुकाते हैं। कोई भी उसके आगे आकर कुछ बोलता नहीं है।

विशेष—१. तीसरी पंक्ति में अतिशयोक्ति, पांचवीं पक्ति में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग मिलता है।

२. वर्णन पद्धति वीर गाथाओं के समान है। चारणों की पद्धति से बिल्कुल मेल खाती शैली इन पक्तियों में मिलती है।

जबहि दीप नियरावा जाई। जनु कविलास नियर भा आई॥
घन अमराउ लाग चहुं पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छांह रैनि होइ आई॥
मलय समीर सोहावन छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥
ओही छांह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू॥
जेइ वह पाई छाहँ अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥
अस अमराउ सघन घन, बरनि न पारौं अंत।
फूलै फरै छवो ऋतु, जानहु सदा बसंत॥ ३॥

शब्दार्थ—नियराया—निकट। जनु—मानो। घन अमराउ—घनी अमराइयां। लाग चहुं पासा—चारों ओर लगी हुई हैं। हुति—से। तरिवर—वृक्ष। मलयगिरि—मलयाचल। जग छांह—संसार में छाया। सोहावन-सुहावनी या शोभायमान। लागै—लगता है। तेहि मांहां—उसके मध्य में। हरिअर—हरा भरा। सहि कै—सहन करके। घामू—घाम या धूप। बिसरै विस्मृत हो जाता है। जेइ—जो। अनूपा—दिव्य, अनुपम। पारौं अन्त—पारावार नहीं। फूलै फरै-फूलता फलता है।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी ने सिंहल बसंत द्वीप की महत्ता का वर्णन रहस्यवादी और उत्कृष्ट, किन्तु काव्यात्मक ढंग से किया है। कवि का कथन है कि—

जब इस द्वीप के निकट पहुंचते हैं तो प्रतीत होता है मानो स्वर्ग समीप आ गया है अथवा हम स्वर्ग के निकट पहुंच गये हैं।

सिंहलदीप के चारों ओर घनी अमराइयां लगी हुई हैं। पेड़ पृथ्वी से आकाश का स्पर्श करते हैं। कारण स्पष्ट है—वे बड़े-बड़े हैं। जितने भी वृक्ष यहां पर हैं वे सबके सब मलयाचल पर्वत से लाकर लगाये गये हैं। उनकी छाया बहुत घनी है—इतनी घनी कि उनसे दिन में ही रात हो जाती है। मलय पवन शीतलता लेकर चलता है या बहता है तो शीतलता चारों ओर छा जाती है। जेठ मास में भी उन घनी अमराइयों के नीचे शीतल पवन के स्पर्श होते ही शीत से कंपन होने लगता है। उस छाया में रात्रि का आभास होने लगता है। समस्त आकाश हरा-भरा और आकर्षक प्रतीत होता है। कोई राहगीर यदि धूप को सहन करता हुआ वहां पहुंच जाता है तो उसको शीतलता मिलती है; दुख विस्मृत हो जाता है; सुख प्राप्त होता है और वह विश्रामदायिनी अमराइयों में सुखानुभव करता है। जिस किसी भी व्यक्ति को वह रहस्यमयी और अपूर्व छाया प्राप्त हो जाती है वह फिर दुबारा इस संसार में कठोर अनुभव प्राप्त करने के लिए नहीं आता है।

जायसी कहते हैं कि यहां ऐसा सघन आम्रवन है कि कवि (जायसी) उसकी महत्ता का वर्णन करने में असमर्थ हैं। यह आम्रवन छहों ऋतुओं में फलता और फूलता रहता है। इस दृश्य को देखकर अनुमान किया जाता है कि यहां सर्वदा बसन्त ऋतु रहती है।

विशेष—१. घनी अमराइयों का वर्णन सरस और आकर्षक है। प्रकृति का सुन्दर वर्णन करने की काव्यात्मक वर्णन पद्धति यहां मिलती है।

२. उत्प्रेक्षा और समासोक्ति अलंकार का प्रयोग बड़ा सार्थक है।

३. 'पथिक जो……से लेकर यह धूपा' तक में रहस्यवादी व्यंजना है।

कवि का अभिप्रेत इस प्रकार है—संसार में होने वाले कष्ट धूप हैं जिन्हें सहन करने के पश्चात् व्यक्ति शीतलता का अनुभव करता है। सिंहलद्वीप स्वर्ग है, ईश्वर का वास स्थान है और एक शब्द में 'कविलास' है। इस आधार पर यह कहना ठीक ही है कि जो कोई व्यक्ति सांसारिक बाधाओं को सहता हुआ सिंहलद्वीप कैलाश में पहुंच जाता है वह सांसारिक यातनाओं से मुक्ति पा लेता है।

फरे आंब अति सघन सोहाए । औ जस फरे अधिक सिर नाए ॥
कटहर डार पींड सन पाके । बड़हर, सो अनूप अति ताके ॥
खिरनी पाकि खांड़ अस मीठी । जामुन पाकि भंवर अति डीठी ॥
नरियर फरे, फरी फरहरी । फुरै जानु इंद्रासन पुरी ॥
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू । मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू ॥
और खजहजा अनवन नाऊं । देखा सब राउन-अमराऊं ॥
लाग सबै जस अमृत साखा । रहै लोभाइ सोइ जो चाखा ॥

लवंग सुपारी जायफल सब फर फरे अपूर ।
आसपास घन इमिली औ घन तार खजूर ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—फरे=फले हुए । आंब=आम । सघन=घने । सुहाये=शोभायमान । नाए=झुकाये । पींड=जड़ । फुरै=फलती फूलती है । इन्द्रासनपुरी=इन्द्र का आसन और पुरी । जस मीठा=जैसा मीठा । जस बासू=जैसी सुगन्ध । खजहजा=खाने-पीने वाले मेवे । अनवन=भिन्न भिन्न । अमराऊं=बगीचा । अपूर=पूर्णतः ।

सन्दर्भ व्याख्या—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में प्रकृति की शोभा का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

सिंहलद्वीप के उद्यानों में बहुत बड़ी संख्या में आम फले हुए हैं जो बहुत सुन्दर लगते हैं । ये खूब फूलने के साथ साथ सिर भी झुकाये हुए हैं । (कवि जायसी ने यहां यह भी ध्वनित किया है कि अधिक वैभव सम्पन्न होने पर विनयशीलता को अपनाना चाहिए । यह ध्वनि अन्योक्ति से सिद्ध होती है।) कटहल और डाल पके हुए हैं । बाग के बड़हर भी अद्वितीय शोभा के आगार बन गये हैं । खिरनी पकी हुई खांड या शक्कर जैसी मीठी हो गई है । पकी जामुनें भौरों के समान श्याम और आकर्षक प्रतीत होती हैं । नारियल और फरहरी पूरी तरह फली हुई है । इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच यह इन्द्र की नगरस्थली हो । मधुक भी टपकता है जो अधिक मिठास से पूर्ण है । इन सभी में शहद की सी मीठी-मीठी गंध आ रही है । इनके अतिरिक्त जो दूसरे खाने वाले फल मेवों के नामों तक को मैं नहीं जानता हूँ । फिर उनका नामकरण के साथ वर्णन करना बड़ा कठिन है । ये सभी तो रावण की बगिया में भी देखने को मिल जाते हैं । सभी पेड़ों की शाखाएं अमृतोपम लग रही हैं । जो कोई भी इनका स्वाद चख लेता है वह इन पर मुग्ध हो जाता है और इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अधिक आकर्षण उसकी दृष्टि में रह ही नहीं जाता है ।

जायसी कहते हैं कि लौंग, सुपारी और जायफल सभी पूर्णतः फूले हुए हैं । इतस्ततः घने इमली, ताड़ और खजूर के वृक्ष भी शोभायमान हैं ।

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाखा । करहिं हुलास देखि कै साखा ॥
भोर होत बोलहिं चुहचूही । बोलहिं पांडुक 'एकै तूही' ॥
सारों सुआ जो रहचह करहीं । कुरहिं परेवा औ करबरहीं ॥
"पीव पीव" कर लाग पपीहा । "तुही तुही" कर गडुरी जीहा ॥
'कुहू कुहू' करि कोइल राखा । औ भिंगराज बोल बहु भाखा ॥
'दही दही' करि महरि पुकारा । हारिल बिनवै आपन हारा ॥
कुहुकहिं मोर सोहावन लागा । होइ कुराहर बोलहिं कागा ॥

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउं ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाउं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पंखि=पक्षी । बहुभाखा=बहुत सी भाषा । हुलास=आनन्दमयी क्रीड़ा । रहचह=रहस्यात्मक क्रीड़ा । जीहा=जीवित रहती है । महरि=ग्वालिन मादा नामक पक्षी । हारिल=एक पक्षी विशेष जो एक चोंच में लकड़ी दबाये रहता है और पृथ्वी पर पांव नहीं रखता है । हारा=स्थिति का परिचय देने वाला व कैफियत बताने वाला । कुहकुहि=बोलते हैं । कुराहर=कोलाहल । जावत पंखी=जितने भी पक्षी हैं । दई कर नांव=उसी दाता का अथवा परमेश्वर का नाम लेते हैं ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने सिंहलदीप के बागों में विभिन्न प्रकार की बोलियां बोलने वाले पक्षियों का परिचय प्रस्तुत किया है । वे कहते हैं—

सिंहल के बागों में अनेक प्रकार के पक्षी निवास करते हैं जो बहुत सी अथवा अपनी-अपनी भाषा बोलते हैं । वे पक्षी हरी-भरी शाखाओं को देखकर आनन्द विभोर हो उठते हैं और बड़ी महत्वपूर्ण क्रीड़ा करते हैं । तात्पर्य स्पष्ट है । पक्षीगण तो हरियाली के भूखे होते हैं । वे इन सबको देखकर अपनी अपनी मस्ती का अनुभव करते हैं । प्रातःकाल होते ही चुहचुही बोलने लगती है और पंडुक पक्षी भी 'हे ईश्वर एक तू ही है' बोलता दिखाई देता है । जायसी कहते हैं कि सारिका और सुआ सभी रहस्यात्मक क्रीड़ा करते दिखाई देते हैं । कबूतर उड़-उड़कर गिरते हैं और इधर-उधर गुटरगूं करते-फिरते हैं । पपीहा पीउ पीउ की रट लगाता रहता है और 'गडुरी' तुही-तुही कर जीवित रहती है । कोयल एक ही साथ मधुर स्वर में कुहू-कुहू कर बोलती है । भौंरे गुनगुन की बोली में, अस्पष्ट भाषा में गुंजार करने लगते हैं । ग्वालियन मादा पक्षी दही-दही' का स्वर पुकारने लगती है । हारिल पक्षी अपनी स्थिति का स्वर बोलता है । कुहकते हुए मोर भले प्रतीत होते हैं । कौवा जैसे ही बोलता है तभी कांव-कांव की ध्वनि होती है ।

जायसी कहते हैं कि जितने भी पक्षी होते हैं वे सभी एक ईश्वर का नाम अपनी-अपनी भाषा में बोलते हैं । वास्तव में घनी अमराइयों में बैठकर अपनी-अपनी भाषा बोलते पक्षी बड़े भले प्रतीत होते हैं ।

पैग पैग पर कुवां बावरी । साजी बैठक और पांवरी ॥
और कुंड बहु ठावहिं ठाऊं । औ सब तीरथ तिन्ह के नाऊं ॥
मठ मंडप चहुं पास संवारे । तपा जपा सब आसन मारे ॥
कोइ सु ऋषीसुर, कोई सन्यासी । कोई रामजती बिसवासी ॥
कोई ब्रह्मचार पथ लागे । कोई सो दिगबर बिचरहिं नांगे ॥
कोई सु महेसुर जंगम जती । कोई एक परखै देवी सती ॥
कोई सुरसती कोई जोगी । कोई निरास पथ बैठ बियोगी ।

सेवरा, खेवरा, बानपर, सिध, साधक, अवधूत ।
आसन मारे बैठ सब, जारि आतमा भूत ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—पैग पैग—कदम-कदम पर । बैठक—बुर्ज या चौकी । बहु—बहुत । तिन्ह—उनके । चहुंपास—चारों ओर । तपा जपा—तपस्वी और

जपस्वी, जप करने वाले । रिखेश्वर—ऋषीश्वर । रामजन—राम के भक्त । मसवासी—मरघट में तपस्या करने वाले । आछहिं—हैं । नांगे—नग्न । सरसुती—दसनामी साधू । महेसूर—शैव साधु । बानपर—वानप्रस्थ आश्रम । अवधूत—सिद्धयोगी । जारि आतमा—आतमा और प्राणों को जलाकर ।

ससंदर्भ व्याख्या:—कवि जायसी इन पंक्तियों में सिंहलद्वीप की नगर व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सिंहलद्वीप में पद-पद पर कुंआ और बावरी-बावड़ी बनी हुई हैं । इनमें स्थान स्थान पर बैठने की जगह बनी हुई है । सीढ़ियां और चौकियां बनी हुई हैं । जगह-जगह पर कुंड बने है । ये सभी तीर्थ हैं और जिनके नाम सभी तीर्थों के हैं । चारों ओर मढ़ी और मडप बने हुए हैं जहां पर जप-तप करने वाले लोग आसन मार कर बैठे हुए हैं । इनमें से कोई ऋषीश्वर है तो कोई ब्रह्मचारी है तो कोई दिगम्बर मतावलम्बी है जिससे उसे नगा रहना पड़ता है । कोई सरस्वती, कोई सिद्ध, कोई योगी है तथा कोई वियोगी बनकर सभी इच्छाओं को त्याग कर उदासीन बने हुए हैं । कोई शंकर भक्त है तो कोई जंगम या यति है । कोई-कोई देवीपूजक भी है । सेवरा, सेवरा, वानप्रस्थसिद्ध, साधक और अवधूत आदि भिन्न-भिन्न पथ के साधु हैं । ये सभी वहां पर आसन मारे बैठे हुए हैं । इन्होंने मन और इन्द्रियों को वश में कर रखा है ।

मानसरोदक बरनौं काहा । भरा समुद अस अति अवगाहा ।।
पानि मोति अस निरमल तासू । अमृत आनि कपूर सुबासू ।।
लंकदीप कै सिला अनाई । बांधा सरवर घाट बनाई ।।
खंड खंड सीढ़ी भई गरेरी । उतरहिं चढ़हिं लोग चहुं फिरी ।।
फूला कंवल रहा होइ राता । सहस सहस पखुरिन कर छाता ।।
उलथहिं सीप, मोति उतराहीं । चुगहिं हंस औ केलि कराहीं ।।
खनि पतार पानी तहं काढ़ा । छीरसमुद निकसा हुत बाढ़ा ।।

ऊपर पाल चहूं दिसि अमृत फल सब रूख ।
देखि रूप सरवर कै गै पियास औ भूख ।। ७ ।।

शब्दार्थ:—मानसरोदक—मानसरोवर या तालाब । अवगाहा—गहरा । पानि—जल । निरमल—स्वच्छ । तासू—उसका । अंब्रित—अमृत । सुबासू—सुगन्ध । अनाई—मगाई या मगवाकर । गरेरी—चक्करदार । राता—रक्तवर्ण । सहस सहस—सहस्र-सहस्र । पखुरिन—पखड़ियां । उलथहिं—उलटना । लोने—लावण्य, सुन्दर । केलि कराहीं—क्रीड़ा करते हैं । खनि पतार—पाताल खोदकर । गै—चली जाती है ।

ससदर्भ व्याख्या:—कवि जायसी इन पंक्तियों में मानसरोवर की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

कवि का कथन है कि मानसरोवर की शोभा का क्या वर्णन करूं या क्या वर्णन किया जाय ? वह तो वर्णन से परे है । तात्पर्य यह है कि इतना सुन्दर है कि उसका वर्णन करना संभव नहीं है । वह समुद्र की भांति गहरा है और उसका समुद्र का सा विस्तार है । वह समुद्रवत् भरा हुआ भी है । जायसी कहते हैं कि उस मानसरोवर का जल मोती सा निर्मल है । इतना ही नहीं वह कपूर की गंध से युक्त है तथा अमृतोपम है या अमृत के समान

मीठा है। लकाद्वीप से अनोखे पत्थरों को मंगवाकर उस सरोवर का घाट निर्मित किया गया है। मानसरोवर के खण्ड-खण्ड पर घुमावदार या चक्करदार सीढ़ियां बनी हुई हैं। इन सीढ़ियो पर लोग चढ़ते उतरते हैं। मानसरोवर में लाल कमल खिलता रहता है। इस पर सहस्रों पखुड़ियों का छाता बना हुआ है। तालाब मे सीपें उलट पड़ती हैं जिनमे से मोती निकलकर उतरा करते है। हस इन मोतियों को चुगते है और खेल करते हैं। वे सुनहले पखों से तालाब मे तैरते हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। इनको देखकर यह प्रतीत होता है कि ये मानों सोने से मढ़कर या संवारकर बनाये गये चित्र हैं। शुक्ल जी ने इस चौपाई को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

खनि पतार पानी तह काढ़ा। छीरसमुद निकसा हुत बाढ़ा॥

इसको प्रामाणिक मानना ठीक है। अतः इसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—मानसरोवर में पाताल खोदकर पानी निकाला गया है जो ऐसा प्रतीत होता है माना साक्षात् क्षीर सागर ही बढ़कर आगे आ गया हो। यह कल्पना बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है। इससे काव्योत्कर्ष बढ़ जाता है तथा कल्पना विश्वसनीय और जायसी के वर्णन के अनुकूल जान पड़ती है।

जायसी कहते हैं कि तालाब के चारों ओर ऊंचा बांध है जिस पर अमृतफल वाले समस्त वृक्ष उगे हुए हैं। इस सरोवर के सौन्दर्य को देखकर जायसी कवि कहते है कि सारी भूख प्यास चली जाती है।

विशेष—यह वर्णन बड़ा स्वाभाविक और रसनीय है। इस प्रकार का वर्णन सस्कृत के कवियों ने भी किया है। सस्कृत कवियों ने भी प्रकृति का आलम्बन रूप-चित्रण खूब किया है। रघुवश का एक चित्र देखिये जो जायसी के इस वर्णन से साम्य रखता है—

एते वयं सैकत भिन्न शुक्ति—
पर्यस्त मुक्ता पटल पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमान वेगात्
कूल फला वर्जित पूगमालाम्॥

अर्थात् हम विमान के वेग से थोड़ी ही देर में रेत में फटी पड़ी सीपियों से बिखरे मोतियो वाले, फलों से झुके हुए सुपारियों के पेड़ो की माला वाले समुद्र के किनारे आ पहुंचे हैं।

जायसी के इस पद में उपमा और उत्प्रेक्षा अलकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

पानि भरै आवहि पनिहारी। रूप सुरूप पदमिनी नारी॥
पदुमगध तिन्ह अंग बसाहीं। भवर लागि तिन्ह सग फिराहीं॥
लक-सिंघिनी, सारगनैनी। हसगामिनी कोकिलबैनी॥
आवहि झुंड सो पांतिहि पांती। गवन सोहाइ सु भांतिहि भांती॥
कनक कलस मुखचद दिपाहीं। रहस केलि सन आवहि जाहीं॥
जा सहुं वै हेरैं चख नारी। बांक नैन जनु हनहिं कटारी॥
केस मेघावर सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु कै नाईं॥
माथे कनक गागरी आवहिं रूप अनूपा।
जेहि के असि पनहारी सो रानी केहि रूप? ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:—पदुमगंध—पद्मगंध अर्थात् कमलगंध । बसाहीं—बसती है । भवर लागि—भौंरे साथ लगे रहते हैं । फिराहीं—फिरते हैं । लंक सिंघिनी—कमर सिंहिनी के समान । सारग नैनी—मृगनयनी । हंसगामिनी—हंस की सी गति से चलने वाली । कोकिलबैनी—कोयलसी मधुर वाणी । पांतहि पांती—पंक्तिबद्ध होकर । गवन सोहाइ—उनका गवन सुहाता है । कनक—स्वर्ण । मुखचंद—मुखरूपी चन्द्र । दिपाहीं—दीप्त होता है । रहस केलि—रहस्यपूर्ण क्रीड़ा या आनन्दमयी मनोहर क्रीड़ा । जाकहुं—जिसकी ओर । चख—नेत्रों से । बांक नैन—वंकिम नेत्र । जनुहनहिं कटारी—मानों कटारी मारते हैं । मेघावर—मेघावलि । कनक गागरी—सोने की गगरी ।

ससदर्भ व्याख्या:—जायसी इन पंक्तियों में सिंहलद्वीप की उन नारियों का वर्णन कर रहे हैं जो पानी भरने आती हैं । वे बड़ी रूपवती हैं—

मानसरोवर से पानी भरने के लिए पनिहारियां आती हैं और पानी भरकर ले जाती हैं । वे सभी रूप-लावण्य में अनुपम हैं और अद्वितीय हैं । इन सभी पनिहारिनों के शरीर से कमल की सी गंध आती है । इसी कमलगंध के कारण भौंरे उनके शरीर के चारों ओर घूमते फिरते हैं । ये सभी स्त्रियां लंकसिंघिनी हैं, तात्पर्य यह है कि सिंहिनी सी पतली कमर वाली हैं । इससे यह भी ध्वनित होता है कि वे छरहरी हैं । उनमें बड़ी स्फूर्ति है । उनकी गति हंसिनी के समान मंद और मस्त है । जब कोई भी स्त्री कोई वचन बोलती है तो उसके स्वर कोयल से निकलते हैं । वे पानी भरने के लिए पंक्तिबद्ध होकर आती है । झुंड की झुंड स्त्रियां पानी भरने आती हैं उनका गवन भांति भांति से सुहाता है या शोभित होता है । उन स्त्रियों का मुखचंद्र कनक के समान दीप्त होता है । इसका कारण यह है कि वे बड़ी क्रीडा और चहल-पहल के साथ आती जाती हैं । ये पद्मिनी नारियां जिस किसी भी व्यक्ति की ओर देख लेती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने कटीले नेत्रों से मानों दर्शक की ओर कटारी मारती हैं । तात्पर्य यह है कि उनका देखना कटाक्षपूर्ण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है । इन सुन्दरी और पद्मिनी स्त्रियों की केश राशि मेघों की सी घटा जान पड़ती है । वस्तुतः उनके घने बाल बादलों की घटा जैसी छटा विकीर्ण करते रहते हैं । उनके उज्ज्वल दांत हंसते हुए ऐसे चमकते हैं जैसे बादलों के बीच बिजली चमक उठती हो ।

जायसी कहते हैं कि वे नारियां जब पानी भरने आती हैं तो उनके मस्तक पर या सिर पर कलश या सोने की गगरियां रखी रहती हैं और इसी वेश में वे पानी भरने आती हैं । यह बड़ा अद्वितीय प्रतीत होता है । जायसी वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस रानी की ऐसी सुन्दर पनिहारियां हों वह रानी स्वतः ही कितनी सुन्दर होगी ? इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है ।

विशेष:—(१) 'माथे कनक गागरी आवहि रूप अनूप' पंक्ति शुक्लजी द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली में मिलती है जिसका ऊपर अर्थ किया गया है । इसका पाठान्तर भी मिलता है और वह इस प्रकार है—

'मानहुँ मैन मूरति सब अछरी बरन अनूप' ।

इसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—रूप-वर्ण में वे पनिहारी नारियां अनुपम, अद्वितीय और अप्सरायें हैं । वे साक्षात् कामदेव की मूर्तियां प्रतीत होती हैं । (इनमें उत्प्रेक्षा की ध्वनि है ।)

(२) इस पद में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और भ्रांतिमान अलंकार का प्रयोग किया गया है। कमल गंध का भ्रम करके भौंरे उनके चारों ओर घूमते फिरते हैं।

(३) पद्मिनी स्त्रियों के शरीर में कमल गंध बसती है, इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है।

(४) सामान्य नारी जीवन की गतिविधियों और उनके सौन्दर्य का वर्णन इस पद में जायसी ने बड़े मनोहर ढंग से किया है। कहा जाता है और अध्ययन से प्रमाणित है कि अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि कीट्स ने भी इस प्रकार का वर्णन किया है। इन पंक्तियों मे नारी का प्रसाधन या शृंगार किया रूप वर्णन का अधिकारी नही बन सका है, अपितु सौन्दर्य का नैसर्गिक और स्वाभाविक वर्णन ही जायसी का अभीष्ट रहा है। यही कारण है कि उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलकारो में स्वाभाविक स्वस्थता और मनोहर, किन्तु सहज सौन्दर्य प्रतिभासित होता है।

ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहु उए गगन महं तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु के बानी॥
पौरहिं पंख सुसंगहिं संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
चकई चकवा केलि कराही। निसि के बिछोह दिनहिं मिलि जाहीं॥
कुररहिं सारस करहिं हुलासा। जीवन मरन सो एकहिं पासा॥
बोलहिं सोन ढेक बगलेदी। रही अबोल मीन जल भेदी॥

नग अमोल तेहि तालहिं दिनहिं बरहिं जस दीप।
जो मरजिया होइ तहं सो पावै वह सीप॥ ९॥

शब्दार्थ—वार पार—आर पार, ओर छोर। सूझै—दिखाई देता है। किछु नांही—कुछ भी नहीं। उए—उदित हुए हैं। महं—मध्य में। मच्छ—मछली। बीजु—विद्युत। बानी—वर्ण रंग। सो संगहि—साथ। सेत पीत राते—श्वेत, पीले और लाल वर्ण। कुररहि—बोलते हैं या झंकारमयी ध्वनि बोलते हैं। हुलासा—आनन्दमयी क्रीड़ा। जीवन मरन सो एकहिं पासा—जीवन मरण साथ २ होता है। केवा, सोन, ढेंक बग लेदी—तालाब की चिड़िया विशेष के नाम। जल-भेदी—जल में भेदन करने वाली। मरजिया—जान जोखिम में डालकर विकट स्थानों से व्यापार की वस्तुएं लाने वाले जीवकिया या गोताखोर।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी ने सिंहलदीप के मानसरोवर ताल की प्राकृतिक छटा का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

सिंहल के ताल तलैयों का अर्थात् छोटे बड़े सभी तालाबों का वर्णन किया जाना सभव नहीं है। उनका अथवा उनकी रूप कांति का कोई वार पार नहीं है अर्थात् ओर-छोर नहीं है। इन तालाबों में श्वेत कमल विकसित हो रहे हैं। इन्हें देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश में उज्ज्वल तारे उदित होकर चमकने लगे हों। आकाश मे बादल तालाबों में उतर कर आते हैं और पानी लेकर वापस चले जाते हैं। सरोवरों में मछलियां बिजली के वर्णों में चमकती और फुदकती जान पड़ती है। तालाब में सफेद, पीले और लाल रंगों

के विविध वर्णों पक्षी साथ-साथ तैरते जान पड़ते हैं। चकवी और चकवा क्रीड़ा करते हैं। रात्रि वेला में अलग हो जाते हैं और दिन में मिल जाते हैं। (विधि की कैसी विडम्बना है कि संयोग काल रात्रि में ये दोनों साथ रहने की अपेक्षा बिछुड़ जाते हैं।) सारस भी इन जलाशयों में झंकार करते हुए देखे जाते हैं तथा आनन्दमयी क्रीड़ा भी करते जाते हैं। इन सारसों का जीवन और मरण साथ-साथ या पास-पास ही होता है। (इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक की मृत्यु पर दूसरा जीवित रहना पसंद नहीं करता है और अपने प्राणों का बलिदान कर देता है। जायसी ने एक दूसरे स्थल पर स्पष्टतः इसका प्रयोग भी किया है। वे कहते हैं-"एक मुअँ संग मरै सु दूजी"।)

जायसी कहते है कि तालाबों में कौंवा, मीन, बल और लेदा आदि चिड़िया तथा जल भेदन करने वाली मछलियां भरी पड़ी हैं या क्रीड़ा करती रहती हैं। वस्तुतः इन तालाबों में अनेक अमूल्य मोती चमकते हैं। इन मूल्यवान रत्नों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो दिन में ही दीपक जल रहे हों। इस सरोवर में विकीर्ण मोतियों को वही प्राप्त कर सकता है जो जान पर खेल कर अनेक कष्टों को सहता हुआ गोता लगा लेता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में उपमा, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'दिनहि जरैं जनु दीप' में उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखा जा सकता है। समासोक्ति अन्तिम पंक्ति में देखी जा सकती है। व्यंजना से जायसी अलौकिक प्रणय की ओर संकेत करते हैं। उनकी व्यंजना है कि जो प्रेम की पीर सहने वाला, प्रेम पर प्राणों की बाजी लगाने वाला हो वही परमेश्वर जैसे बहुमूल्य रत्न को पा सकता है। यह रहस्यवादी व्यंजना है। वास्तव में ठीक भी है-साधक साध्य के साधना सागर में डूब कर ही प्रभुरूपी दुर्लभ रत्न को या मोती को हस्तगत कर सकता है।

२. "जीवन मरन सो एकहि पासा" पंक्ति का पाठान्तर भी इस प्रकार मिलता है— जिअन हमारा मुअहि एक पासा' किन्तु अर्थ वैभिन्य की अपेक्षा इस पाठान्तर में अर्थ साम्य ही दृष्टिगत होता है।

पास-पास बहु अमृत बारी। फरीं अपूर, होइ रखवारी॥
नारंग नीबू सुरंग जंभीरा। औ बदाम बहु भेद अंजीरा॥
गलगल तुरंज सदा फर फरे। नारंग अति राते रस भरे॥
किसमिस सेव फरे नौ पाता। दारिउं दाख देखि मन राता॥
लागि सुहाई हरफारयोरी। उनै रही केरा कै घौरी॥
फरे तूत कमरख औ न्योजी। रायकरौंदा बेर चिरौंजी॥
संगतरा व छुहारा दीठे। और खजहजा खाटे मीठे॥
पानि देहिं खड़बानी कुवहिं खांड़ बहु मेलि।
लागी घरी रहट के सींचहिं अमृतवेलि॥ १०॥

शब्दार्थ—बहु अमृत बारी=बहुत सी अमृतोपम जल की वाटिकाएँ हैं। अपूर=भरपूर। गलगल=गागल या बड़ा नीबू। नौ पाता=नव पल्लवों। मन राता=मन प्रसन्न हो जाता है। हरफारयोरी=लवली पुष्प या कमरख की एक विशेष जाति। उनै=झुकी हुई। घौरी=घउरी, धैर। तूत=शहतूत। न्योजी=लीची। रायकरौंदा=राजकरौंदा। चिरौंजी=एक नाम विशेष जिसे सभी जानते है। संगतरा=सन्तरा। खंड़बानी=खांड का रस।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी इन पंक्तियों में आसपास की बहुत सी वाटिकाओं का वर्णन कर रहे हैं। ये सभी वाटिकाएँ बड़ी सुन्दर और आकर्षक है। वे कहते है—सिंहलद्वीप के आस-पास बहुत सी अमृत के जल वाली बावड़िया हैं तथा वाटिकाएं हैं। वे फलफूलों से पूर्णतः आपूरित हैं तथा रक्षक उनकी रखवारी करते हैं। उन वाटिकाओं में नारंगी, नीबू और सुन्दर रंगों वाली जामुन दिखाई देती हैं। साथ ही उनमें विविध प्रकार के बादाम और अंजीर सुशोभित होते हैं। गलगल अर्थात् बड़े नीबू, तुरंज और शरीफा चारों ओर फलते फूलते है। लाल नारंगियां रस से भरी हुई हैं। नयी पत्तियों के साथ किशमिश और सेव फूले हुए हैं। अनार और दाख देख देख कर मन प्रसन्न हो उठता है। लवली सुन्दर लग रही हैं। केलों के गुच्छे लदकर झुके हुए हैं। शहतूत, कमरख, लीचो, रामकरौंदा, बेर और चिरौंजी फले हैं। अमलबेंत, छोहारे तथा अन्य खट्टे और मीठे फल दिखाई पड़ रहे हैं। कुओं में शक्कर मिला-मिला कर शक्कर के रस युक्त पानी इन बागों में दिया जाता है। रहट की घरियां लगी हुई हैं जो यहां की अमृतमयी बेलों को सींचती हैं।

विशेष—१. जायसी के सभी वर्णन अधिक से अधिक वस्तुओं की नामावली मात्र प्रस्तुत करते हैं। जायसी के पद्मावत में अधिक से अधिक वर्णनात्मक स्थल हैं और इन वर्णनों में कवि का मन पर्याप्त रमा हुआ है। वे रसात्मकता से अधिक वर्णनात्मकता की ओर झुके हुए हैं।

२. इन पंक्तियों में विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। प्रकृति का यह वर्णन आलम्बन प्रधान है।

पुनि फुलवारि लागि चहुं पासा। बिरिछ बेधि चंदन भइ बासा ॥
बहुत फूल फूलीं घनबेली। केवड़ा चंपा कुंद चमेली ॥
सुरंग गुलाल कदम औ कूजा। सुगंध बकौरी गंध्रब पूजा ॥
जाही जूही बगुचन लावा। पुहुप सुदरसन लाग सुहावा ॥
नागेसर सदबरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी ॥
सोनजरद फूलीं सेवती। रूपमंजरी और मालती ॥
मौलसिरी बेइलि औ करना। सबै फूल फूले बहुबरना ॥
तेहि सिर फूल चढ़हिं वै जेहि माथे मनि भाग।
आछहिं सदा सुगंध बहु जनु बसंत औ फाग ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—लागि चहुं पासा=चारों ओर लगी हुई हैं। बिरिछ=वृक्ष। बेधि=बेधकर। बासा=सुगंधि। घनबेली=बेला की एक जाति विशेष। नागेसर=नाग केसर। बकौरी=बकावली। बगुचा=गट्ठा या ढेर। गंध्रबपूजा=गंधर्वों की पूजा। सदबरग=गेंदा या हजारा। मौलसिरी=बकुलश्री या मौलश्री। बेइलि=बेल।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी पूर्व पंक्तियों की भांति ही सिंहलद्वीप की प्राकृतिक शोभा या छटा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं। वे कहते हैं—

सिंहलद्वीप में चारों ओर फुलवारी लगी हुई हैं। वृक्षों को बेधकर चन्दन की सुगंध उनमें बस गई है। घनबेलि पर बहुत से फूल फूले दिखाई दे रहे हैं। वह फूलों से लद रही है। केवड़ा, चम्पा, कुन्द, चमेली, जंगली गुलाब

प्रकाश डालते हुए कवि कहता है कि वे सभी सुखी हैं। चाहे कोई गरीब हो या अमीर, सभी अपने-अपने घरों में सुख और सन्तोष का अनुभव करते हैं। जिस किसी भी व्यक्ति पर दृष्टि डाले वही हसमुख दिखाई देता है। इस नगर के चबूतरे रचि-पचि कर चन्दन से बनाये गये हैं। (या रचि-पचिकर बनाये गये चबूतरे चंदन से लिपे पुते हैं।) पहला वाला अर्थ अधिक संगत है क्योंकि कवि चौपाई की अर्धाली में कहता है—ये चदन के बनाये हुए चबूतरे अगर, मेंद और केवड़ा से पोते गए हैं।

जायसी कहते हैं कि सभी की चौपालों पर चदन के खंभे दिखाई देते हैं; इनसे ही पीठ लगाकर सभापति या बड़े-बड़े ओहदेदार लोग बैठते हैं। जब कभी भी राजा अपने सभासदों के साथ राज्य-सभा का आयोजन करता है तो उसे देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो देवताओं की सभा जुड़ रही हो या इन्द्र की सभा या इन्द्रासन हो। तात्पर्य है राज्य-सभा बड़ी सुन्दर दिखाई देती है तथा उसके सभासद देवोपम प्रतीत होते हैं। (इस कथन से तत्कालीन समाज की समृद्धि का पता चल जाता है और नागरिकों की संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है।) जायसी ने कहा है कि सभी गुणवान और ज्ञाता हैं। इतना ही नहीं सभी संस्कृत भाषा बोलते हैं।

जायसी कहते हैं कि यहां सभी के मकान इसी प्रकार सजे हुए हैं। इस सजावट को देखकर कहा जा सकता है कि यह अनुपम शिवलोक है। (इस नगरी में रहने वाले लोग अपने जीवन को प्रशस्त और समृद्ध करते हैं) घर-घर में रहने वाली नारियां पद्मिनी नारियों के समान सुन्दर हैं। उनका रूप-दर्शन इतना लुभावना है कि सभी उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। तात्पर्य है कि नारी और पुरुष में परस्पर सहज अनुराग है।

विशेष—१. सिंहलदीप का वर्णन बड़ा प्रभावकारी ढंग से किया गया है। इसमें कवि ने बड़ी मनोहर शैली के सहारे अपने अभीष्ट को पाठकों तक सम्प्रेषित किया है।

२. जायसी पर सिद्धों का पर्याप्त प्रभाव था। इसका कारण है सूफी-मत की साधना योगमार्ग के सदृश ही उन्हें प्रतीत होती है। ये शिव औघड़पंथी शिव के पुजारी थे। इसी कारण जायसी ने जानकारी या केवल सुन-सुनाये ज्ञान के आधार पर सिंहलदीप को शिवपुरी के सदृश बताया है। जायसी जिसे 'कैलाश' मानते हैं वह पूर्णतया काल्पनिक कैलाश है। वह कल्पना का कैलाश इन्द्रपुरी के समान प्रस्तुत किया गया है।

३. इन पंक्तियों में उपेक्षा व उपमा अलंकारों की योजना की गई है।

पुनि देखी सिंघल कै हाटा। नवो निद्धि लछिमी सब बाटा ॥
कनक हाट सब कुहकुहं लीपी। बैठ महाजन सिंघलदीपी ॥
रचहिं हथौड़ा रूपन ढारी। चित्र कटाव अनेक संवारी ॥
सोन रूप भल भयउ पसारा। धवल सिरी पोतहिं घर बारा ॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हीरा लाल सो अनवन जोती ॥
औ कपूर बेना कस्तूरी। चंदन अगर रहा भरपूरी ॥
जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा। ता कहं आन हाट कित लाहा ? ॥
कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गंवाइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—हाटा=बाजार। बाटा=मार्ग। कुंहकुंह लीपी=कुंकुम से अवलिप्त हैं। रूपे ढारी=चांदी। महाजन=सेठ साहूकार। हथौड़ा=हाथ का कड़ा। रतन=रत्न। सिरी=श्री। भनतन=भिन्न-भिन्न। बेसाः=सन। बेसाहा=खरीद करना या क्रय करना। ता के=उसके लिए। आनहाटा=दूसरे बाजारों में। लाहा=लाभ। बेसाहनी=खरीदारी। ताम-सन=तामसहित। मूर गंवाइ=मूलधन को भी खोकर।

सन्दर्भ सहित व्याख्या—कवि जायसी ने इस पद में सिंहलद्वीप के सुन्दर बाजार का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

सहस्र (निश्चय संख्या न समझकर) सिंहल के बाजार तो देखो। सभी दुकानदारों ने मार्गों पर सजावटों की सजावट या रत्नों को सजा रखा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दुकानदार सम्पन्न और समृद्ध प्रतीत होता है। इन मार्गों के बाजार को सौभाग्य ने केसर व कुंकुम से प्रलिप्त कर रखा है अर्थात् लीप रखा है। इस प्रकार के बाजार में महाजन और साहूकार बड़े गौरव के साथ बैठे दिखाई देते हैं। इन व्यापारियों ने चांदी को ढाल कर हाथ के कड़े बना रखे हैं तथा अनेक कलापूर्ण शिल्प से इन्हें सजाया हुआ है। रत्न पदार्थ, माणिक्य, मोती, हीरा, पन्ना आदि तो भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। इस नगर में स्वर्ग के समान का सर्वत्र प्रसार दिखाई देता है। घर-घर सम्पत्ति और धन से पूर्ण हुए हैं। कपूर, मृग, कस्तूरी, चन्दन और अगर की सुगन्ध से ये बाजार भरे हुए हैं। जायसी कहते हैं कि इस महान और सुन्दर बाजार से जो कोई कुछ नहीं खरीदता है वह अभागा यदि (किसी भी बाजार से कुछ भी खरीदे) कुछ भी खरीदे तो उसे कोई लाभ नहीं हो सकता है।

जायसी कहते हैं कि इस बाजार में कोई कुछ क्रय करता है और कोई दूसरा कुछ विक्रय करता है। किसी को क्रय-विक्रय में लाभ होता है तो किसी को हानि का सामना करना पड़ता है। खरीददार को कई बार गांठ की पूंजी भी छोड़ देनी पड़ती है और निराश होकर घर लौटना पड़ता है।

विशेष—जायसी सदैव लौकिक में अलौकिक की ओर संकेत करते चलते हैं—विशेषकर जब उन्हें अवसर मिल जाता है। इसी कारण पद्मावत समासोक्ति है। इस समासोक्ति के आधार पर इन पंक्ति का अर्थ होगा—संसार एक बाजार के समान है जिसमें धन, माया आदि की पर्याप्त चकाचौंध है। इस चकाचौंध और माया से भरे संसार को समझकर आगे बढ़ना और ईश्वर प्राप्ति की ओर अग्रसर होना कठिन है। इसके लिए सतर्कता की आवश्यकता है। ईश्वर प्राप्ति सरल भी है यदि प्राप्तिकर्त्ता का मन निर्मल और चैतन्य हो। जायसी का संकेत है कि इस संसार में बहुत से ऐसे भी हैं जो कि अपने अस्तित्व को ही भूल बैठते हैं। वे कुछ आगे बढ़कर कार्य करें और दूसरों को मार्ग दर्शन करावें—यह तो दूर स्वयं ही माया मोहादि के बन्धनों और आकर्षणों में अपने को भुलाकर असली तत्त्व को विस्मृत कर देते हैं। समझदार व्यक्ति इस संसार में अपनी साधना करते हैं—ईश्वर प्राप्ति के साधनों को ढूंढते हैं, किन्तु मूर्ख और अभागी प्राप्त करना तो दूर, स्वयं की पूंजी को भी लुटा देते हैं। यही अन्तिम पंक्तियों में संकेत किया गया है।

पुनि सिंगारहाट भल देसा । किए सिंगार बैठीं तहं बेसा ॥
मुख तमोल, तन चीर कुसुंभी । कानन कनक जड़ाऊ खुंभी ॥
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं । नर मोहहिं सुनि, पैंग न जाहीं ॥
भौंह धनुष तिन्ह नैन अहेरी । मारहिं बान सान सौं फेरी ॥
अलक कपोल डोल, हंसि देहीं । लाइ कटाछ मारि जिउ लेहीं ॥
कुच कंचुक जानौ जुग सारी । अंचल देहिं सुभावहिं ढारी ॥
केत खिलार हारि तेहि पासा । हाथ झारि उठि चलहिं निरासा ॥

चेटक लाइ हरहिं मन जब लहि होइ गथ फेंट ।
सांठ नाठि उठि भए बटाऊ, ना पहिचान न भेंट ॥ १४ ॥

शब्दार्थ--सिंगारहाट-शृंगारहाट, भल-भला, देसा-दिखाई देता है, तहं बेसा—वहां वेश्याएं, तमोल—ताम्बूल या पान, तन चीर कुसुंभी-शरीर पर कुसुंभी रंग की साड़ी, हरसिंगार के से रंग वाली अर्थात् पीली साड़ी। कानन-कानों में, खुंभी-कर्णाभरण, बीन—वीणा भुलाहीं—भूल जाते हैं या मस्ती में आ जाते हैं, पैंग न जाहीं-एक पद भी नहीं जा पाते हैं, वे उनकी स्वर लहरी पर झूमते हुए वहीं भ्रमाते रहते हैं। नैन अहेरी-शिकारी नेत्र या कटाक्ष करने वाले नुकीले नैन, सान सों फेरी-शान चढाकर और फिराकर. अधिक घाव करने के लिए वे नेत्रों पर शान चढ़ाकर उन्हें पुरुषों पर चलाती हैं। अलक-बाल या केशों की लट, जिउ लेहीं--प्राणों को हर लेती हैं, अंचल--आंचल को, सुभावहिं ढारी--स्वाभाविक रूप से आंचल को वक्ष से खिसका देती हैं, केत--कितने ही, खिलार---खिलाड़ी, हारि तेहि पासा---अपने पासे डालने में हार गये हैं, हाथ झारि- सब कुछ गंवाकर या साफ करके, चेटक--जादू, गथफेंट-कमर में या गांठ में पूंजी होती है, सांठि नांठि--पूंजी नष्ट हो जाती है, बटाऊ--राहगीर, भेंट- मुलाकात या परिचय ।

सप्रसंग व्याख्या—कविवर जायसी इस अंश में सिंहलदीप के वेश्या बाजार का चित्र प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं—

आगे चलकर सिंहल का वेश्या बाजार दिखाई देता है। यह सराहना के योग्य है। वहां शृंगार किये हुए, भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित वेश्याएं बैठी रहती हैं। उन सभी वेश्याओं के मुख में पान का बीड़ा, उसकी लाली तथा शरीर पर केसरी या हरसिंगार के रंग की सुहावनी या मनमोहिनी साड़ी रहती है। कानों में वे सोने से जुड़ी हुई सुन्दर झुमकियां, बालियां और इयरिंग पहने रहती हैं। ये वेश्याएं अपने हाथों में वंशी या वीणा धारण करती हैं जिसकी सुरीली आवाज पर मस्त और मोहित मृग भी अपना मार्ग भूलकर खड़े हो जाते हैं। (व्यंजना यह भी है कि मृग रूपी पुरुष उनकी सुरीली आवाज सुनकर मस्त होकर वहीं उन्हें देखने के लिए रुक जाते हैं।) आगे जायसी ने इसी बात को स्पष्ट भी किया है कि पुरुष सभी मोहित होकर वहीं रुक जाते हैं और मस्ती में इतने भूल जाते हैं कि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकते हैं।

जायसी कहते हैं कि इन वेश्याओं की भौंहें धनुष के समान तनी रहती हैं तथा नेत्र शिकारी की भांति कटीले बाण छोड़ते रहते हैं। ये वेश्याएं शान पर चढ़ाकर नेत्रों के बाण मारती हैं। जब वे मुस्कराती हैं तो उनके बालों

की एक लट कानों पर आकर डोलने लगती है। वे कटाक्ष मारकर पुरुषों के प्राण हर लेती हैं। चोली के भीतर उठे हुए उनके दोनों स्तन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों पासे की दो गोटें हों जिन्हें आंचल स्वभावत: दाव पर फेंकता है। (ध्वनि यह है कि आंचल में छिपे हुए स्तन उभर-उभर कर सामने दिखाई देते हैं मानों निमन्त्रण देते हों। स्वाभाविक रूप से उनका आंचल वक्षस्थल से खिसक जाता है और वे पुरुषों को उभरे हुए स्तनों से निमन्त्रण देती जान पड़ती हैं।) कितने ही चतुर खिलाड़ी इन दो स्तनों के पांसों से सभी कुछ गंवाकर निराश पथिक के समान लौट जाते हैं। (इस पंक्ति में संभोग के अनन्तर हुई जुगुप्सा की ओर भी संकेत किया गया प्रतीत होता है।)

जायसी कहते हैं कि ये वेश्याएं अपने रूप का जादू तब तक लोगों पर चलाती रहती है जब तक कि उनकी गांठ में पूंजी रहती है। जैसे ही उनकी गांठ की पूंजी समाप्त हो जाती है, ये वेश्याएं इन रसिकों की दृष्टि में उपेक्षणीय बन जाती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे इनसे इन वेश्याओं का कभी कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा हो।

विशेष—१. जायसी ने वेश्याओं का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है। यह नितान्त स्वाभाविक और व्यावहारिक है। इसके माध्यम से संसार के माया मोह की ओर भी संकेत किया गया है। जायसी का कथन है कि मानव सांसारिक बन्धनों, माया मोहादि में स्वयं लिप्त होजाता है। वह इसमें पड़कर अपना ज्ञान, विवेक और भक्तिभाव आदि सभी कुछ खो बैठता है। इसके साथ वह तब तक इनमें फंसा रहता है जब तक उसकी सम्पूर्ण पूंजी नष्ट नहीं हो जाती है।

२. इन पंक्तियों की सबसे बड़ी महत्ता वेश्याओं के मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। कवि ने वेश्याओं की मनोवृत्तियों और उनकी चाल-ढाल व चेष्टा व्यापारों आदि सभी का स्वाभाविक विश्लेषण किया है।

३. अलंकारों का प्रयोग भी सराहनीय है। उत्प्रेक्षा, रूपक और समासोक्ति की सुन्दर योजना दृष्टव्य है। चौथी और पांचवी पंक्ति में क्रमशः रूपक और उत्प्रेक्षा की संगत योजना व निम्नलिखित चौपाई में समासोक्ति का सफल प्रयोग हुआ है—

पैंत खिलार हारि तेहि पासा। हाथ झारि उठि चलहिं निरासा॥

लेइ के फूल बैठि फुलहारी। पान अपूरब धरे संवारी॥
सोंधा सबै बैठ लै गांधी। फूल कपूर खिरौरी बांधी॥
कतहूं पंडित पढ़हिं पुरानू। धरमपंथ कर करहिं बखानू॥
कतहूं कथा कहै किछु कोई। कतहूं नाच-कूद भल होई॥
कतहूं चिरहंटा पंखी लावा। कतहूं पखंडी काठ नचावा॥
कतहूं नाद सबद होइ भला। कतहूं नाटक चेटक कला॥
कतहूं काहु ठगविद्या लाई। कतहूं लेहिं मानुष बौराई॥
चरपट चोर गंठिछोरा मिले रहहिं ओहि नाच।
जो ओहि हाट सजग भा गथ ताकर पै बांच॥ १५॥

शब्दार्थ—फुलहारी=फूल बेचने वाली मालिन, अपूरब=अपूर्व, अद्वितीय और सुन्दर। सोंधा=सुगन्धित द्रव्य, गांधी=गंधी, खिरौरी=केवड़ा

देकर बांधी हुई कत्ये की टिकिया. संस्कृत में इसे खदिरवटिका कहते हैं। चिरहंटा=बहेलिया, पखंडी=पाखडी, काठ=कठपुतली आदि खेल करता है, चेटक कला=जादू की कला. ठगविद्या=ठगने की कला, बौराई=पागल कर लेना या बना देना, चरपट=चालाक व चोर उचक्का, गंठिछोरा=गांठ छुड़ाने वाले, गथ=पूंजी।

ससदर्भ व्याख्या:—कवीश्वर जायसी इस अंश में सिंहलदीप के सुशोभित बाजार का वर्णन कर रहे हैं। इस वर्णन में समासोक्ति का सहारा लिया गया है। कवि का अभिप्रेत है संसार के मंच का मिथ्या नाटक और उस नाटक में जीव का मिथ्या अभिनय। वे कहते हैं—

सिंहल के बाजार में मालिनें मनोहारी पुष्पों को लेकर बेचने के लिए आती हैं। पानवाले सुन्दर पान सँभाले बैठे रहते हैं। गंधी सभी प्रकार के सुगंधित इत्र आदि लिये बैठे रहते हैं। ये अद्वितीय ढग से सजे-धजे रहते हैं। वे कपूरी तथा केवडा से सुगधित किये कत्थे की टिकिया लिये रहते हैं। सिंहलगढ़ के बाजार में कहीं पंडित लोग पुराण आदि का पाठ करते हैं और कहीं धर्म ग्रंथों की अथवा धार्मिक प्रचार के सहायक ग्रंथों मे सुन्दर-सुन्दर कथाओं का वर्णन करते हैं। कुछ लोग कहीं कथा कहते हैं तो दूसरे कुछ स्थानों पर नृत्य आदि रास रंग करते और कराते रहते हैं।

जायसी बताते हैं कि कहीं 'चिरहटा' अर्थात् बहेलिया पक्षियों को अपने जाल में फसा--फंसाकर बाजार में लाता है तो कहीं पाखडी या ढोंग के सहारे अपनी जीविका चलाने वाले कठपुतली का नृत्य दिखाते रहते हैं। बाजार में यत्र-तत्र सुन्दर शब्द होता रहता है तो कहीं रास लीला नृत्यकला और जादू की कलाबाजी होती रहती है। इन्हीं जादूगरों के बीच यत्र-तत्र ठग अपनी ठगियाई से लोगों को भरमाते या पागल बनाते फिरते हैं। वे ठगाई में आकर पागल होजाते हैं।

जायसी कहते हैं कि इन नाच-रंगों में चतुर, चोर और गठकटे रिले-मिले अर्थात् घुले--मिले रहते है। इस प्रकार जायसी कहते हैं कि यहां पर इस बाजार में जो भी चतुराई से काम लेते हैं वे अपनी निधि को अथवा सम्पति को सुरक्षित बचाकर ले आते हैं। (जायसी ने समासोक्ति का सहारा लिया है। उन्होंने व्यंजित किया है कि दुनिया धंधे का मेला है। जो कोई इसमें से चतुराई से निकल जाता है वह बच जाता है, अन्यथा दूसरे तो ठगाई में आकर ज्ञान और विवेकजन्य चैतन्य को भुला देते हैं।)

विशेष:—१. इस छन्द में जायसी ने समासोक्ति का प्रयोग किया है और जीवन मे सतक रहने का सदेश दिया है।

२. मनुष्य को इहिलोक के साथ ही पारलौकिक जगत् की भी चिन्ता करके जीवन व्यतीत करना चाहिए।

पुनि आए सिंघल गढ़ पासा। का बरनौं जनु लाग अकासा ॥
तरहिं करिन्ह बासुकि कै पीठी। ऊपर इंद्रलोक पर दीठी ॥
पार खोह चहुँ दिसि अस बांका। कांपं जांघ, जाइ नहिं झांका ॥
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सपत-पतार ह जाई ॥
नव पौरी बांकी, नवखंडा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा ॥

कंचन कोट जरे नग सीसा । नखतन्हि भरी बीजु जनु दीसा ।।
लंका चाहि ऊंच गढ़ ताका । निरखि न जाइ, दीठि तन थाका ।।

हिय न समाइ दीठि नहि. जानहु ठाढ़ सुमेर ।
कहं लगि कहौं ऊंचाई, कह लगि बरनौं फेर ।। १६ ।।

शब्दार्थ—का बरनौं=क्या वर्णन करूं । जनु=मानों । लाग अकासा—आकाश से लगा हुआ है । तरहि=तल या पीठ । बासुकि=शेषनाग । दीठी=दिखाई देती है । फरा=चारों ओर । अस बांका=ऐसी बांकी है । अगम=अगम्य । असूझ=जहां दृष्टि न जा सके । सात पतारहि=सात पातालों में । नव पंवरी=नौ पौरियां । यहां नव इन्द्रियों से तात्पर्य है । चाहि=अपेक्षा । दीठि=दृष्टि । तनथाका=शरीर थक जाता है । फेर=चक्करों का ।

ससदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में सिंहलगढ़ का वर्णन किया गया है । इस पद में जायसी ने बड़ी अतिशयोक्ति से काम लिया है । इसमें हठयोगियों का दृष्टिकोण दिखाई देता है । रूपक के सहारे नव इन्द्रियों को हठयोग के द्वारा साधने और वश में करने का संकेत और संदेश दिया गया है । ऐसा करने पर ही ब्रह्माण्ड तक की पहुंच में सफलता मिल सकती है । जायसी पहले तो सीधे-साधे ढंग से किले का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अब सिंहलगढ़ के पास आ जाइये । जायसी कहते हैं कि इस किले का क्या वर्णन किया जा सकता है । इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह आकाश से लगा हुआ है । तात्पर्य यह है कि बहुत ऊंचा है । किले की नींव इतनी गहरी है कि वह कच्छप भगवान और शेषनाग की पीठ का स्पर्श करती है । साथ ही यह किला इतना ऊंचा है कि ऊंचाई में इन्द्रपुरी पर दिखाई देता है । आगे की पंक्तियों में जायसी किले के चारों ओर स्थित खाई का वर्णन करते हैं । वे कहते हैं कि सिंहलद्वीप के चारों ओर एक खाई है जो बड़ी भयंकर है । उसको देखते समय जांघें कांपने लगती हैं और वह खाई इतनी भयंकर है कि उसका देखना संभव नहीं है । उसे देखते ही भय लगता है । जो इसमें गिर जाता है वह सात पातालों को चला जाता है । उस गढ़ के नौ खण्डों में बड़ी विषम पौरियां हैं । जो कोई व्यक्ति उन नौ खण्डों को प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्माण्ड को प्राप्त कर लेता है । उस सिंहलदीप के गढ़ का परकोटा कंचन का है । कंचन से जड़ा हुआ होने के कारण वह नक्षत्रों से युक्त विद्युत के समान दिखाई पड़ता है । वह गढ़ लंकागढ़ से भी ऊंचा दिखाई पड़ता है । इसलिए वह देखा जा सकता है, इसकी ओर देखते हुए दृष्टि तथा तन थक जाते हैं । वह इतना विशाल है कि हृदय में नहीं समा सकता है । उसकी ऊंचाई इतनी अधिक है कि उस तक दृष्टि पहुँचना संभव नहीं है । वह साक्षात् सुमेरु पर्वत सा दिखाई पड़ता है । वास्तव में उसकी ऊंचाई का वर्णन संभव नहीं है, वह तो अवर्णनीय है ।

विशेष—१. जायसी ने इस छन्द में सिंहलदीप को शरीरगढ़ के रूप में भी प्रस्तुत किया है । सिंहलगढ़ शरीर रूपी गढ़ भी है । अलौकिक व्यंजना से यह सिद्ध हो जाता है । वास्तव में सिंहलदीप से तात्पर्य हठयोगियों के सिद्ध पीठ से है । अतः गढ़ से इनका तात्पर्य मनुष्य के शरीर से है । शरीर को साधकर ही हठयोगी सिद्धि प्राप्त करता है या कर सकता है ।

२. जायसी के इस छन्द की पंक्ति में रूपक भी है पर प्रत्येक पंक्ति रूपक से मंडित नहीं है।

नव पोरी बांकी नवखण्डा। नवौ जु चढइ जाइ बरम्हंडा॥

यह पंक्ति रूप के सौन्दर्य से मंडित है। नव पौरी नव इन्द्रियां हैं। (आंख, कान, नाक, मुख, लिंग और गुदा आदि) इनको साधने के पश्चात् ही साधक को या योगी को तपस्या में सफलता मिलती है। वह ब्रह्मरंध्र में पहुंच जाता है। ब्रह्माण्ड या ब्रह्मरंध्र का विस्तृत और स्पष्ट वर्णन आगे के पद में जायसी ने किया है।

३. जायसी ने इसमें उत्प्रेक्षा और सम्बन्धातिशयोक्ति का प्रयोग भी किया है। "का बरनौं जनु लाग अकासा" में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है, साथ ही सम्बन्धातिशयोक्ति भी स्पष्ट है।

"तरहिं कुरुम वासुकि के पीठी। ऊपर पर इन्द्रलोक पर दीठी॥"

इसके साथ ही रूपकातिशयोक्ति और समासोक्ति भी स्पष्ट है—

नव पंवरी बांकी नव खण्डा। नवौ जु चढ़ै जाइ बरम्हण्डा॥

रूपकातिशयोक्ति और समासोक्ति दोनों अलंकार हैं। इस प्रकार स्पष्ट है क इस छन्द में अनेक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इन सभी अलंकारों के साथ-साथ उपमा अलकार भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। उपमा का सौन्दर्य देखना हो तो ये पंक्तियां पढ़िये। न तो कहीं कृत्रिमता है और न अलंकार प्रयोग के लिए बलात् आकर्षण और जिद ही है। देखिये तो सही—

कचन कोट जरे नग सीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा॥

४. समग्र पद वर्णन शैली और व्यंजना की दृष्टि से अप्रतिम है।

निति गढ़ बांचि चलै ससि सूरू। नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू॥
पौरी नवौ बज्र कै साजी। सहस सहस तह बैठे पाजी॥
फिरहिं पांच कोतवार सुभौंरी। कांपै पावें चपत वह पौरी॥
पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देखि तह ठाढ़े॥
बहु विधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं, चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूंछ पसारहि जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं॥
नवौ खड नव पौरी. औ तहं बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥ १७॥

शब्दार्थ—निति=नित्य। बांचि=बचाकर। साजी=सजी हुई। पाजी=पैदल सिपाही। सुभौरी=चक्करदार। चपत=पड़ते ही। बहु विधान =विविध प्रकार। गाजहि=गरजते हैं। टारहि=हिलाते हैं। पसारहि= फैलाते हैं। गुंजरिलीहा=गरज कर लेना। कनकसिला=सोने की सीढ़ियां। ताईं=तक। बसेरे=पड़ाव। सतसौं=सत्यसहित।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि सिंहल-द्वीप का गढ़ बहुत ऊंचा है। उसकी ऊंचाई का प्रमाण यह है कि नित्य प्रति सूर्य और चन्द्रमा का रथ उससे बच कर चलता है—यदि ऐसा न हो तो गढ़ से भिड़ जाने पर उनके चूर चूर हो जाने की आशंका है। सिंहलगढ़ के चढ़ाव पर नो पौरियां पड़ती हैं जो वज्र के समान कठिन और कठोर है। प्रत्येक पौरी

पर (ड्योढ़ी) सहस्र पैदल सिपाही हो अथवा पहरेदार बैठे रहते हैं
पर पांच कोतवाल चक्कर लगाते रहते हैं । वे ड्योढ़ियां बहुत डरावनी हैं
इन पर पैर रखते ही पैरों में कम्पन होने लगता है । प्रत्येक पौरी पर
चित्र बनाये गये हैं और वे ऐसे भयावने हैं कि सभी लोग उन्हें देखते ही
कांपने लगते हैं । ये सिंह बहुत सी विधियों से गढ़कर बनाये गये हैं ।
देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये ऐसे सजीव हैं मानो गरज रहे हैं
उछल कर सिर पर चढ़ना चाहते हों । ये सिंह अपनी पूंछ हिलाते रहते
जिह्वा भी फैलाते रहते हैं । इनके इस रूप से व्यक्ति ही नहीं, हाथी भी
हैं कि कहीं यह हमें मार न डालें । सिंहलगढ़ में सोने की शिला गढ़ कर
बनाई गई है जिन पर चढ़ कर ऊपर की मंजिल में पहुंचा जा सकत
इन्हीं सीढ़ियों के ऊपर सिंहलगढ़ जगमगाता हुआ प्रतीत होता है ।

जायसी कहते हैं कि इस गढ़ में नौ खण्ड, नौ पौरी हैं; इन
वज्र का दरवाजा है । जायसी कहते हैं कि जो व्यक्ति चार आश्रमों
मार्ग ऊपर चढ़ता है वह सिंहलगढ़ पर पहुंच सकता है और जो सात
पर विश्राम करता हुआ लौटता है वही व्यक्ति सफल हो सकता है । (
ने इन पंक्तियों में समासोक्ति का सहारा लिया है और उसके आधार
चार मार्ग को भी स्पष्ट है । चारि बसेरे सूफी साधना की अवस्था
के रूप में ली जा सकती हैं—शरीअत, हकीकत, तरीकत और मारफत ।
इनके चार' पंक्ति में सत्य के भवन को महत्ता प्रदान की गई है ।)

विशेष—जायसी ने इन पंक्तियों को हठयोगी सिद्धान्त के आध
प्रस्तुत किया है । नौ पौरियों को नवइन्द्रियां, हजार २ सैनिकों को
किया है, पांच कोतवालों को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह व सिंह को
भांति की सीढ़ी को सुषुम्ना नाड़ी, उसकी चमक को नाड़ी के भीतर से
जाती कुण्डलिनी शक्ति एवम् चारि बसेरों को सूफी सिद्धान्त के अनुसार
किया है ।

इन पंक्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सिंहलगढ़ का
करने में कवि अलौकिक व्यंजना में सफल हो गया है । वास्तव में जा
कथा प्रस्तुत करना था उद्देश्य तो प्रमुख था ही, साथ ही आध्य
सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी था । यह बात अलग है कि कुछ स्थ
जायसी अलौकिक व्यंजना के प्रसंगों में भटक गये हैं ।

अलंकार की दृष्टि से इनमें समासोक्ति अलंकार प्रमुख है ।
यहां अन्योक्ति अलंकार भी माना जा सकता है किन्तु इस प्रकार की
आरम्भ है । कारण स्पष्ट है कि जायसी का लक्ष्य पहले कथा कहन
'उछरहि चाहहि सिर चढ़ें' पंक्ति में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य देखते ही बन

नव पौरी पर दसवं दुआरा । तेहि पर बाज राज-घरियार
घरी सो बैठि गनै घरियारी । पहर पहर सो आपनि बा
जबहीं घरी पूजि तेइ मारा । घरी घरी घरियार पुकार
परा जो डांड़ जगत सब डांड़ा । का निचिंत माटी कर भांड़ा
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हो कांचे । आएहु रहै न थिर होइ बं
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ । का निचित होइ सोउ बटाऊ

पहरहिं पहर गजर निति होई। हिया बजर मन जाग न सोई॥
मुहमद जीवन जल भरन, रहँट-घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति॥ १८॥

शब्दार्थ—घरि आरु=घड़ियाल। घरी=घड़ी (क्षण)। आपनि बारी=अपनी अपनी बारी से। पूजि=समाप्त होना। तेइ=तब ही। डांड=डण्डा या चोट। निचिन्त=निश्चिन्त। मांटी कर मांडा=मिट्टीके पात्र। न थिर हुइ बांचे=स्थिर होकर बच नहीं सकना। आऊ=आयु (उम्र)। हिया बजर=वज्र का हृदय।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कविवर जायसी ने नव-पौरियों के ऊपर स्थित दसवें दरवाजे का वर्णन किया है जिसका सम्बन्ध ब्रह्मरंध्र से बैठता है। जायसी ने बड़े कौशल से जीवन की क्षणिकता और काल की क्रूरता से मानव जाति को सतर्क रहने की शिक्षा दी है। उन्होंने भारतीय वेदान्तवाद का सहारा लेते हुए कहा है—

जायसी कहते हैं कि सिंहलगढ़ में नौ पौरियों के ऊपर दसवां दरवाजा है अर्थात् ब्रह्मरंध्र है। उस दरवाजे पर राज दरबार का अथवा काल का घंटा बजता रहता है। घड़ी को गिनने वाले पल पल पर गिनते रहते हैं। वे सभी अपनी अपनी बारी पर घण्टा बजाते हैं (कहा जाता है कि प्राचीनकाल में समय ज्ञात करने के लिए जल से एक बहुत बड़े बर्तन में एक छेददार वस्तु डाली जाती थी जिसका नाम घड़ी था। घड़ी भर में उसके छेद से इतना पानी भर जाता था कि वह पानी में डूब जाती थी। एक आदमी इसे देखने के लिए बैठा रहता था। जैसे ही वह डूबती थी ड्यूटी वाला व्यक्ति उसे खाली करके फिर से डाल देता था। उसके एक बार भरने का अर्थ होता था कि एक घड़ी बीत गई है। घड़ी बीतते ही वह घण्टा बजा देता था। घंटा बजाने के लिए रात दिन आदमियों की ड्यूटी परिवर्तित होती रहती थी। जायसी की 'पहरि पहर सों आपनि बारी' पंक्ति पर यही उपर्युक्त प्रभाव देखा जा सकता है।)

जायसी कहते हैं कि जैसे ही घड़ी पूरी हो जाती है तभी ड्यूटी वाला आदमी घड़ियाल पर मुगरी मारता है। इस प्रकार प्रत्येक पल पर वह राज-घराने का घड़ियाल पुकारता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह घड़ियाल सारे जगत को दण्डित करता (सचेत करता) हुआ सूचना देता है कि ओ मिट्टी से बने लोगों! तुम इतने निश्चिन्त और बेफिक्र होकर क्यों आलस में पड़े हुए हो। तुम्हारा निर्माण जिस चाक पर चढ़ने के पश्चात हुआ है वह और उसमें लगने वाली मिट्टी दोनों ही कच्चे हैं। मनुष्यों, तुम्हारी आयु अस्थिर है अतः स्थिर या अमर होकर तुम्हारे लिए बचा रहना मुश्किल है। तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी पर जीव का आवागमन सदा बना रहता है। आश्चर्य तो यह है कि कट्टर मुसलमानों के अनुसार कयामत तक आत्माएं संसार में नहीं आ सकती पर यहां जायसी पर भारतीय दर्शन का प्रभाव प्रतीत होता है। इसके प्रमाण अनेक स्थानों पर मिलते भी हैं।

जायसी कहते है कि ज्यों ज्यों घड़ी पूरी हो रही है या होती है त्यों-त्यों मनुष्य की आयु घटती जाती है। इससे 'हे जन्म मरण के पथिक मनुष्य तू'

निश्चिन्त निश्चिन्त होकर सो रहा है। जायसी का सन्देश है कि व्यक्ति समय का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक पल सोता ही रहता है जबकि उसे पल पल पर सचेत रहना चाहिए। जायसी ने आगे कहा है कि मनुष्य का हृदय बड़ा चिन्ता रहित है तभी तो वह प्रत्येक पहर पर बजने वाले घण्टे की चिन्ता न करता हुआ आराम करता रहता है।

जायसी कहते है कि जीवन की स्थिति रहट की घरिया (बाल्टी) की सी होती है जो कुएं मे अन्दर आकर घड़ी भर में जल भर लाती है और ऊपर आकर पल भर में खाली कर देती है। इसी क्रम में रहट की घड़िया का जीवन व्यतीत होता रहता है। यही स्थिति मानव जीवन की है।

विशेष—जायसी का यह छन्द बड़ा हृदय स्पर्शी, मार्मिक, और सन्देश-जनक है। उन्होंने जीवन की क्षण भंगुरता काल की कठोरता और मनुष्य की निश्चिन्तता का बड़ा स्वाभाविक और यथा तथ्य वर्णन किया है। जीवन की क्षण भंगुरता को प्रदर्शित करने के लिए जायसी ने जहां रहट की घरिया का उल्लेख किया है वहां प्रसाद ने उसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है। देखिये तो यही प्रसाद क्या कहते है—

जलता है यह जीवन पतंग,
जीवन कितना रे अति लघु क्षण।
ये अनन्त पुंज से कण कण॥

दसवां द्वार ब्रह्मरन्ध्र है जिसका उल्लेख पिछले पद में भी हुआ है। भारत के मध्यकालीन साहित्य में दसवां द्वार इसी अर्थ का द्योतक बन कर अनेक स्थलों पर पाया है। यह वह द्वार है जिससे अमृत झरता है। इसी द्वार से कुण्डली ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है।

अलंकारों की दृष्टि से भी ये पंक्तियां समृद्ध हैं। समासोक्ति अलंकार प्रयुक्त है क्योंकि प्रस्तुत के सहारे अप्रस्तुत की व्यंजना की गई है। जीवन की स्थिति को रहट की घरिया के रूपक से प्रस्तुत किया गया है जो बड़ा ही प्रशंसनीय है। रूपक को प्रस्तुत करने वाला दोहा इस प्रकार है—

मुहमद जीवन-जल भरन, रहट-घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति॥

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी॥
और कुंड एक मोतीचूरू। पानी अमृत कीच कपूरू॥
ओहि क पानि राजा पै पीया। बिरिध होइ नहिं जो लहि जीया॥
कंचन-बिरिछ एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र-कबिलासा॥
मूल पतार, सरग ओहि साखा। अमरबेलि को पाव, जो चाखा?॥
चांद पात औ फूल तराईं। होइ उजियार नगर जहं ताईं॥
वह फल पावै तप करि कोई। बिरिध खाइ तो जोबन होई॥
राजा भए भिखारी सुनि वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा, ना किछु व्याधि न रोग॥ १६॥

शब्दार्थ—नीर खीर = जल और दूध (इसका तात्पर्य इड़ा और पिंगला से भी है। कबीरदास ने भी इड़ा और पिंगला को यमुना और गंगा के नाम से पुकारा है। कहा जाता है कि हठयोग के आधार पर इड़ा और पिंगला क्रमशः

और अमृत की नाड़ियां हैं तथा इनके रंग भी क्रमशः श्याम और श्वेत हैं। सम्भवतः जायसी ने इन्हीं रंगों को दृष्टि पथ मे रख कर नीर खीर की नदी लिखा है)। दुरुपदी = द्रौपदी (द्रौपदी का अर्थ यहां पांच इन्द्रियों से लिया जा सकता है क्योंकि द्रौपदी के पांच पति थे। पांच की संख्या से सम्बन्धित होने के कारण ही इन्द्रियों को द्रौपदी कहा गया है)। कुण्ड=प्रेम कुण्ड। पानी= प्रेम। कीच=कीचड़ (विरह)। कचन बिरिछ=कंचन का वृक्ष (यहां सुष्मुना नारी से तात्पर्य है)।

ससदर्भ व्याख्या—जायसी पूर्वपद के अनुसार ही इन पक्तियों मे भी समासोक्ति के सहारे हठयोग के सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर रहे है। वे कहते हैं कि—

सिंहल गढ़ पर दूध और पानी की दो नदियां है अर्थात इड़ा और पिंगला नाड़ियां है। द्रौपदी जैसी सुन्दर स्त्रियां यहां पर जल भरने को आती है। यहां एक मोती के चूरण जैसा स्वच्छ और निर्मल जल कुण्ड है। इस कुण्ड का पानी अमृत है और कीचड़ कपूर है। इस पानी को कोई राजा ही पी सकता है। जो कोई भी इसके पानी को पी लेता है वह आजीवन वृद्ध नहीं होता (जायसी की कथनगत ध्वनि यह है कि जो योगी यम नियम का पालन करता हुआ इस हृदय कुण्ड का प्रेम जल पीता है वह अनन्त काल तक जीवन धारण करता है अर्थात चिर युवा और अमर हो जाता है)। इसके निकट ही एक सोने का पेड़ है जो इन्द्र के स्वर्ग का कल्प वृक्ष की समता करता है। उस वृक्ष की जड़ें पाताल में और शाखाएं स्वर्ग में हैं (सुष्मुना नाड़ी की ओर संकेत किया गया है)। इस वृक्ष पर अमर बेल फलती है किन्तु उसे कौन प्राप्त कर सकता है अर्थात बड़ी साधना के पश्चात प्राप्त होती है। इस पर लगने वाले पत्ते चांद और फूल तारागण हैं। जहां तक नगर है, इसके प्रकाश से उजाला छाया रहता है। इस प्रकार के वृक्ष को और फल को प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है।

जायसी कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति तपस्या करके ही उसे प्राप्त कर सकता है। यदि वृद्ध व्यक्ति खाले तो नवयुवक बन जाता है। उस अमृत भोग को सुनकर बहुत से राजा तो उसे प्राप्त करने के लालच में भिखारी बन गये। निःसन्देह जो भी उसे प्राप्त कर लेता है उसे अमरता का जीवन दान प्राप्त होता है।

विशेष—इन पक्तियों में जायसी ने हठयोग और सूफी सिद्धान्तों का सुन्दर ढग से सम्मिलित चित्रण किया है। हठयोग के अनुसार मानव शरीर मे तीन नाड़ियां होती हैं—इडा, पिंगला और सुष्मुना। इड़ा विष की काली नाड़ी है और पिंगला अमृत की श्वेत नाड़ी है।

सुष्मुना बीच की नाड़ी है। इसके ही मूल में कुण्डलिनी होती है तथा इसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति है और इसके ऊपर सहस्त्र दल कमल है। साधना करने वाला साधक यम नियम, आदि का पालन करने के बाद इन्द्रियों का दमन कर लेता है और तदनन्तर इस नियमित साधना के अनन्तर कुण्डलिनी सुष्मुना के मार्ग पर ऊपर चढ़ती है। कुण्डलिनी के चढ़ने से ज्ञान ज्योति उत्पन्न होती है। वह अद्वैतावस्था को प्राप्त कर लेता है। सूफी होने के कारण

श्रोर अमृत की नाड़ियां हैं तथा इनके रंग भी क्रमशः श्याम श्रोर श्वेत हैं। सम्भवतः जायसी ने इन्ही रगों को दृष्टि पथ मे रख कर नीर खीर की नदी लिखा है) । दुरुपदी = द्रौपदी (द्रौपदी का अर्थ यहां पांच इन्द्रियों से लिया जा सकता है क्योंकि द्रौपदी के पांच पति थे। पांच की संख्या से सम्बन्धित होने के कारण ही इन्द्रियों को द्रौपदी कहा गया है)। कुण्ड=प्रेम कुण्ड । पानी= प्रेम । कीच=कीचड़ (विरह) । कचन विरिछ=कंचन का वृक्ष (यहां सुष्मुना नारी से तात्पर्य है)।

सन्दर्भ व्याख्या—जायसी पूर्वपद के अनुसार ही इन पक्तियों मे भी समासोक्ति के सहारे हठयोग के सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर रहे है। वे कहते हैं कि—

सिहल गढ़ पर दूध श्रोर पानी की दो नदियां हैं अर्थात इड़ा श्रोर पिंगला नाड़ियां है। द्रौपदी जैसी सुन्दर स्त्रियां यहां पर जल भरने को आती है। यहां एक मोती के चूर्ण जैसा स्वच्छ श्रोर निर्मल जल कुण्ड है। इस कुण्ड का पानी अमृत है श्रोर कीचड़ कपूर है। इस पानी को कोई राजा ही पी सकता है। जो कोई भी इसके पानी को पी लेता है वह आजीवन वृद्ध नहीं होता (जायसी की कथनगत ध्वनि यह है कि जो योगी यम नियम का पालन करता हुआ इस हृदय कुण्ड का प्रेम जल पीता है वह अनन्त काल तक जीवन धारण करता है अर्थात चिर युवा श्रोर अमर हो जाता है)। इसके निकट ही एक सोने का पेड़ है जो इन्द्र के स्वर्ग का कल्प वृक्ष की समता करता है। उस वृक्ष की जड़ें पाताल में श्रोर शाखाएं स्वर्ग में हैं (सुष्मुना नाड़ी की श्रोर संकेत किया गया है)। इस वृक्ष पर अमर बेल फलती है किन्तु उसे कौन प्राप्त कर सकता है अर्थात बड़ी साधना के पश्चात प्राप्त होती है। इस पर लगने वाले पत्ते चांद श्रोर फूल तारागण हैं। जहां तक नगर है, इसके प्रकाश से उजाला छाया रहता है। इस प्रकार के वृक्ष को श्रोर फल को प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है।

जायसी कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति तपस्या करके ही उसे प्राप्त कर सकता है। यदि वृद्ध व्यक्ति खाले तो नवयुवक बन जाता है। उस अमृत भोग को सुनकर बहुत से राजा तो उसे प्राप्त करने के लालच में भिखारी बन गये। निःसन्देह जो भी उसे प्राप्त कर लेता है उसे अमरता का जीवन दान प्राप्त होता है।

पुनि चलि देखा राज-दुआरा । मानुष फिरहिं पाइ नहिं बारा ॥
हस्ति सिंघली बांधे बारा । जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा ॥
कौनो सेत, पीत, रतनारे । कौनो हरे, धूम औ कारे ॥
बरनहि बरन गगन जस मेघा । औ तिन्ह गगन पीठि जनु ठेघा ॥
सिंघल के बरनौं सिंघली । एक एक चाहि एक एक बली ॥
गिरि पहार वै पैगहि पेलहिं । बिरिछ उचारि डारि मुख मेलहिं ॥
माते तेइ सब गरजहि बांधे । निसि-दिन रहहिं महाउत कांधे ॥

धरती भार न अंगवै, पावं धरत उठ हालि ॥
कुरुम टुटै, भुइं फाटै तिन्ह हस्तिन्ह के चालि ॥२१॥

शब्दार्थः—बारा=दरवाजे पर। कौनो=कोई तो। सेत, पीत रतनारे—श्वेत, पीले और रक्तिम वर्ण वाले। ठेघा=टिका। चाहि=अपेक्षाकृत। पैगहि पेलहिं=पैर से ढकेलते हैं। उचारि=उत्पाटन करके अर्थात् उखाड़ कर। मुख मेलहिं=मुख में डालते हैं। माते=मस्त। महाउत=महावत के अंकुश से बंधे रहते हैं। भार न अंगवै=पृथ्वी बोझ को सहन नहीं कर पाती है। हालि=हिलना। कुरुम=कच्छव भगवान्। टूटै=टूटते हैं—भार के कारण ऐसा होता है। भुंइ फाटै=पृथ्वी फटने लगती है। तिन्ह हस्तिन के चालि=उन हाथियों की चाल से।

ससंदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में जायसी सिंहल नगर के स्थानीय वातावरण का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

तदनतर सिंहल के राजद्वार को देखा जा सकता है। इस राजद्वार का विस्तार बहुत अधिक है; अतः इस पर मनुष्य घूमते तो रहते हैं, किन्तु उसका ओर छोर नहीं पा सकते हैं। "मानुष फिरहिं पाइ नहि बारा" पंक्ति का पाठान्तर भी मिलता है। यह पाठान्तर इस प्रकार है—"महिं छूंविम्र (पूविम्र) पाइहि नहि बारू"। इसका अर्थ होगा—सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमने के अनंतर भी इस प्रकार का दरवाजा नहीं मिलता है। इसके द्वार पर सिंहली हाथी बंधे हुए हैं। इनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् ज पहाड़ खड़े हुए हों। इनमें से कुछ तो श्वेत रंग के हैं और कुछ पीले रक्तिम या ललौंह हैं। कोई हरे हैं तो कोई धूमैले और स्याह हैं। ज कहते हैं कि जिस प्रकार मेघ विविध रंगों के होते हैं वैसे ही ये घो; बहुविधि रंगों से सजाये हुए बड़े, भव्य और मनभावन प्रतीत होते हैं घोड़ों की ऊंचाई इतनी अधिक है कि देखकर प्रतीत होता है मानो ः अपनी पीठ आकाश से लगा रखी है।

ये सिंहल के हाथी हैं। अतः एक से एक शक्तिशाली और बल र हैं। इनकी शक्ति का अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि ये अपने पैरों से ही पहाड़ों को ढकेल देते हैं और उखाड़ कर फेंक देते हैं। ये इच्छानुसार अनेक वृक्षों को उखाड़कर मुख में डाल लेते हैं। ये सभी मस्त हाथी बंधे-बंधे चिंघाड़ते रहते हैं। रात दिन उनके बलवान स्कंधों पर महावत आरूढ़ रहते हैं। तात्पर्य यह है कि अधिक मस्ती से बचाने के लिए महावत का अंकुश अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। महावत प्रत्येक क्षण उनसे सतर्क रहता है।

जायसी कहते हैं कि हाथी इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि पृथ्वी उनके भार

को नहीं संभाल पाती है। उनके पृथ्वी पर पद-प्रक्षेपण या रोपण के समय पृथ्वी हिलने लगती है या कांपने लगती है। भार से ही कच्छप की पीठ टूटने लग जाती है, शेषनाग का फन फटने लग जाता है। यह स्थिति उस समय पैदा हो जाती है जब कि वे हाथी चलने लग जाते हैं। तात्पर्य यही है कि उन हाथियों की चाल बड़ी भयंकर है।

विशेष—(१) इसमें अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(२) वर्णन पद्धति विशिष्टता और आकर्षण से युक्त है।

पुनि बांधे रजवार तुरगा। का बरनौं जस उन्हकै रंगा॥
लील, समंद चाल जग जाने। हांसुल, भौंर, गियाह बखाने॥
हरे, कुरंग, महुअ बहु भांती। गरर कोकाह, बुलाह सु पांती॥
तीख तुखार चांड़ औ बांके। संचरहिं पौरि ताज बिनु हांके॥
मन तें अगमन डोलहिं बागा। लेत उसांस गगन सिर लागा॥
पौन समान समुद पर धावहिं। बूड़ न पांव, पार होइ आवहिं॥
थिर न रहहिं, रिस लोह चबाहीं। भांजहिं पूंछ, सीस उपराहीं॥
अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाह।
नैन हलक पहुंचावहिं जहं पहुंचा कोइ चाह॥२२॥

शब्दार्थ—रजवार=राजद्वार। तुरंगा=घोड़े। बरनौं=वर्णन करूं। समंद=बादामी रंग के अश्व। हांसुल=घोड़े की एक जाति विशेष जिसका शरीर मेंहदी के रंग का और पैर काले होते हैं। भौंर=मुश्की। कियाह या गियाह=ताड़ के पके फल के रंग का। कुरंग=लाख के रंग का या नीला। महुअ=महुए का रंग। गरर=लाल और सफेद मिले रोएं का गर्रा। कोकाह—सफेद रंग का। बुलाह=बोल्लाह, गर्दन और पूंछ के बाल पीत वर्ण के हैं। ताज=ताजियाना या चाबुक। अगमन=आगे या तीव्र गति वाले। तुखार=तुषार देश के घोड़े। पौन समान=पवन के समान। बूड न पांव=डूबना। रिस लोह चबाहीं=क्रोध से लगाम को चबाते रहते हैं। रथवाह=रथवान। नैन-पलक पहुंचावहिं=नेत्रों के पलक मारते ही यथास्थान पहुंचा देते हैं।

ससदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी इस अंश में सिंहल के राजद्वार के विचित्र घोड़ों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करते हैं। कवि कहता है—

फिर राजद्वार पर बंधे हुए घोड़े दिखाई देते हैं। जायसी कहते हैं कि मैं उन रंगों का क्या वर्णन कर सकता हूं। नीले और बादामी रंग के ये घोड़े संसार में प्रसिद्ध हैं। कुछ घोड़ों के शरीर तो मेंहदी के रंग के हैं किन्तु पैर काले रंग के हैं। कुछ घोड़े ऐसे हैं जिनका रंग मुश्की और कुछ का ताड़ के पके फल के समान है। हरे रंग और महुए रंग के भी कुछ घोड़े हैं। ये तुरकी घोड़े बड़ी तीव्रता और चतुरता से युक्त तथा फुर्तीले हैं। ये बिना हांके ही आगे बढ़ते जाते हैं। तात्पर्य है, बिना प्रयत्न के ही ये घोड़े चलते रहते हैं। ये मन की गति से भी आगे चलते हैं। इनकी चाल इतनी तीव्र है कि ये बाग या लगाम के बिना ही उससे आगे चलते जाते हैं। जब वे घोड़े सांस लेते हैं तो आकाश में सिर लगाने लगते हैं और वे जब दौड़ते हैं तो पवन के समान समुद्र पर दौड़ते जाते हैं।

जायसी कहते हैं कि समुद्र में चलते समय इनके पैर डूबते नहीं हैं अपितु वे बड़ी तीव्रता से समुद्र सन्तरण करने लग जाते हैं। इनमें स्थैर्य नहीं रहता है। ये इतने तीव्र और वेगवान होते हैं कि क्रोध में लोहे की लगाम को चबाते रहते हैं। जब दौड़ते हैं तो पूंछ को उठाकर वे बड़ी द्रुतगति से दौड़ते हैं। वास्तव में यहां पर ऐसे विचित्र घोड़े हैं कि देखते ही लगता है मानो ये मन के रथ के वाहक हैं—या मन-रथ को चलाने वाले हैं। कोई व्यक्ति जब भी और जिस समय अभीष्ट स्थल पर पहुँचना चाहता है तो ये उसे उसी क्षण उस स्थल पर पलक मारते ही पहुँचा देते हैं।

विशेष—इसमें अतिशयोक्ति अलंकार की योजना है। घोड़ों का इस प्रकार का विशद वर्णन शायद ही कहीं मिले।

राजसभा पुनि देख वईठी। इंद्रसभा जनु परि गै डीठी ।।
धनि राजा असि सभा संवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी ।।
मुकुट बांधि सब बैठे राजा। दर निसान नित जिन्हके बाजा ।।
रूपवंत, मनि दिपै लिलाटा। माथे छात, बैठ सब पाटा ।।
मानहुं कंवल सरोवर फूले। सभा क रूप देखि मन भूले ।।
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगंध बास भरि रही अपूरी ।।
मांझ ऊंच इंद्रासन साजा। गन्ध्रबसेन बैठ तहं राजा ।।
छत्र गगन लगि ताकर, सूर तवै जस आप।
सभा कंवल अस बिगसै, माथे बड़ परताप ।।२३।।

शब्दार्थ—वईठी=बैठी हुई है। परि गै दीठी=दृष्टि पड़ गई। धनि=धन्य है। असि=ऐसी। जानहुफूलि=मानो फूल रही हो। दरनिसान=दरवाजे पर निसान या नौबत बजती रहती है। दिपै=दीप्त होता है। माथे छात=माथे पर छत्र। अपूरी=आपूर्ण। मांझ=मध्य में। ताकर=उसका। तवै=तपता है, अस=ऐसा विकसित। माथे बड़ परताप=मस्तक पर बड़ा प्रताप विराजमान है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी राजसभा के गौरव व महत्व को सुन्दर ढंग से व्यंजित करते हैं। वे कहते हैं—

फिर राजसभा बैठी दिखाई देती है। उसे देखकर कवि कल्पना करता है, मानो साक्षात् इन्द्रसभा बैठी हुई हो। वास्तव में वह राजा धन्य है जिसकी ऐसी राजसभा है। वह इस प्रकार विकसित है मानो फुलवारी फूल रही हो। तात्पर्य है, राजसभा के व्यक्ति पुष्पवत् प्रफुल्ल और प्रसन्न वदन दिखाई देते हैं। इस सभा के सभी राजा मुकुट बांधे बैठे हुए हैं। नित्य-प्रति दरवाजों पर नगाड़े बजते रहते हैं। उनकी सुन्दरता अपार है तथा मणिमय माथा दमदमाता रहता है। सिर के ऊपर छत्र है और वे सभी राजा छत्र धारण करते हुये सिंहासनासीन हैं। उनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सरोवर में कमल विकसित हो रहे हों। इस प्रकार की सुन्दर और आकर्षक राजसभा को देखकर मन भूला-भूला रहता है। इन सभी राजाओं के मुख में पान, कपूर तथा सुगंधि वाली जलमेद की सुपारियां भरी रहती हैं। इन सभी क्षत्रियों के मध्य राजा गन्धर्वसेन इन्द्रासन के आसन पर सुसज्जित बैठे हुए शोभायमान होते हैं।

जायसी कहते हैं कि गंधर्वसेन के छत्र आकाश पर छाये हुए हैं। वह सूर्य के समान तेजस्वी हैं तथा सभा कमल के समान विकसित है। इस राजा के ललाट पर प्रताप प्रकट होता है।

विशेष—इन पक्तियों में उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और उपमा अलंकारों का प्रयोग किया गया है। वर्णनगत सौष्ठव मन पर प्रभाव डालता है। कवि की भाषा शैली मनोरम और प्रवाहमयी है।

साजा राजमंदिर कैलासू। सोने कर सब धरति अकासू॥
सात खंड धौराहर साजा। उहै सवारि सकै अस राजा॥
हीरा ईंट, कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा॥
जावत सबै उरेह उरेहे। भांति भांति नग लाग उवेहे॥
भा कटाव सब अनवत भांती। चित्र कोरि कै पांतिहि पांती॥
लाग खंभ-मनि-मानिक जरे। निसि दिन रहहिं दीप जनु बरे॥
देखि धौरहर कर उंजियारा। छपि गए चांद सुरुज औ तारा॥

सुना सात बैकुंठ जस तस साजे खंड सात।
बेहर बेहर भाव तस खंड खंड उपरात॥२४॥

शब्दार्थ—कविलासू=कैलाश। (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि महल के ऊपर के खण्ड में जहां राजा रानी रहते और सोते थे, कैलाश कहा जाता था। गुप्तकालीन स्थापत्य में तीन-खण्डे महल को कैलाश कहते थे। आगे चलकर तो सात खण्डों के बने भवन को भी कैलाश नाम मिल गया। इसकी छत, फर्श और दीवारों पर सोने का काम होता था। इस प्रकार वासुदेवशरण अग्रवाल के आधार पर यह स्वीकृत किया जा सकता है कि कैलाश या कविलासू शब्द का प्रयोग ऊपर की मंजिल पर स्थित राजा-रानी के निवास के लिए ही हुआ है।) पुहुमि=पृथ्वी। धौराहर=धवल गृह या मीनार। (खम्भे की भांति ऊंची वह दीवार या इमारत जिस पर चढ़ने के लिए अन्दर से सीढ़ियां बनी होती हैं जैसे काशी का माधवराज का धरहरा। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि राजमहल के भीतर राजा का रनिवास धवलगृह कहलाता था। उसे अन्तःपुर भी कहते थे।) गिलावा=गारा। नग=हीरे आदि नग जो गहनों में जड़े होते हैं। जावत=जितने। उवहे या उरेहे=उद्वेध या पच्चीकारी से तैयार किये गये या जुड़े हुए। कटाव=काट छांट की कारीगरी। अनवत=अनेक रंगों के तथा अन्य वर्णों के। बेहर-बेहर भाव=अलग-अलग भाव।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी इन पंक्तियों में सिंहलगढ़ के विशिष्ट राजप्रासाद का वर्णन करते हुए कहते हैं। उनका कथन है—

राजा ने राजप्रासाद को स्वर्गवत सजा-संवार रखा है। उसके धरती और आकाश अर्थात् छत और धरातल स्वर्ण से सज्जित हैं। प्रासाद की मीनारें सात खण्डों में सुशोभित हैं। इस प्रकार की साज सजावट करने वाला कोई अनोखा राजा ही हो सकता है या कोई अप्रमेय राजा ही इस प्रकार की सजावट कर सकता है। इस प्रासाद में हीरे की ईंटें और कपूर का गारा लगा हुआ है। उसमें नग जड़े हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो स्वर्ग से लाकर लगाये गये हैं। जितने प्रकार के भी चित्र हैं वे सभी वहां महल में

दिखाई देते हैं। प्रासाद की सजावट बड़ी भव्य है। चुन-चुनकर भांति-भांति के नग वहां लगाये हुए हैं। पच्चीकारी भी विविध प्रकार की है। पंक्ति पंक्ति पर चित्र बनाये गये हैं। मणिमाणिक्य से जड़े हुए खंभे लगे हुए हैं। उन्हें देखकर ऐसी चमक आती है, लगता है मानो दिन में दीपक जले हुए हों। धवलगृह की उज्ज्वलता को देखकर चांद, सूर्य और तारे छिप जाते हैं। तात्पर्य है कि चांद, सूर्य की आभा फीकी पड़ जाती है।

जायसी कहते हैं कि राजा ने प्रासाद के सातों खण्डों को वैसे ही सजाया है जैसे सात स्वर्ग सजाये हैं। जैसे-जैसे खण्ड ऊपर को होते जाते हैं वैसे-वैसे इन सात खण्डों के सौन्दर्य का मूल्य बढ़ता जाता है। तात्पर्य यह भी है कि प्रत्येक खण्ड का अलग-अलग भाव और मूल्य है। किसी का भी मूल्य किसी से घटकर नहीं है।

विशेष—इसमें उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। प्रथम पंक्ति में उपमा सौन्दर्य देखने को मिलता है। उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली यह पंक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है—

लागखम-मनि-मानिक जरे। निस दिन रहइ दीप जनु बरे॥

अतिशयोक्ति तो सम्पूर्ण पद या छन्द में व्याप्त है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में बड़ी स्वाभाविक बन पड़ी है। अतिशयोक्ति होकर भी हास्यास्पद नहीं बन पाई। देखिये कवि की पंक्ति इस प्रकार है—

देखि धौरहर करि उजियारा। छपि गै चांद, सुरुज औ तारा॥

बरनौं राजमंदिर रनिवासू। जनु अछरीन्ह भरा कविलासू॥
सोरह सरस पदिमनी रानी। एक एक तें रूप बखानी॥
अति सुरूप औ अति सुकुवांरी। पान फूल के रहहिं अधारी॥
तिन्ह ऊपर चंपावति रानी। महा सुरूप पाट-परधानी॥
पाट बैठि रह किए सिंगारू। सब रानी ओहि करहिं जोहारू॥
निति नौरंग सुरंगम सोई। प्रथम बैस नहिं सरवरि कोई॥
सकल दीप महं जेती रानी। तिन्ह महं दीपक बारह बानी॥

कुंवरि बतीसो लच्छनी अस सब मांह अनूप।
जावत सिंघलदीप के सबै बखानै रूप॥२५॥

शब्दार्थ—रनिवासू=रंगमहल या रनिवास। रानियों के रहने का अन्तःपुर नामक स्थान। अछरीन्ह=अप्सराओं से युक्त। एक एक तें रूप बखानी=रूप-सौन्दर्य में एक-एक से बढ़कर हैं। अधारी=भरे पेट। पाट-परधानी=रानियों में पटरानी। जो प्रधान वस्त्र पहिनकर महारानी के रूप में रहती है, वह पाट-परधानी अर्थात् पटरानी कहलाती है। जोहारू=प्रणाम। नौरंग=नवीन रंगत। प्रथम बैस=प्राथमिक या प्रारम्भिक उम्र या जवानी। सरिवरि=समानता। जेती=जितनी। बारहबानी=द्वादशवर्णी सूर्य की तरह चमकने वाली। लच्छनी=लक्षणों से युक्त। अस सब मांह अनूप=इस प्रकार वह सभी रानियों में अनुपम और अप्रतिम है। जावत=जितने। सबै बखानै रूप=सभी उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कविवर जायसी सिंहलद्वीप के सभी खण्डों—बाजार, नगर, राजभवन और राजप्रासाद आदि का वर्णन करने के

पश्चात् रंगमहल का वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन अन्तःपुर का होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। जायसी ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

अब मैं राजमहल के रनिवास या रंगमहल का वर्णन करता हूँ। रंगमहल ऐसा है जैसे अप्सराओं से भरा स्वर्ग हो। राजा की सोलह हजार पद्मिनी रानियां हैं। वे एक से एक रूपवती हैं तथा अति रूपवती और कोमलांगी हैं। उनके जीवन का आधार मामूली या साधारण आहार है। वे पान-फूल रखकर रहती हैं। उन सभी रूपवती रानियों के ऊपर चम्पावती नाम की पटरानी है। वह महारूपवती और सदैव सुन्दर वस्त्रों से सज्जित तथा सिंहासनारूढ़ रहती है। शेष सभी नारियां जो स्वयं भी बड़ी रूपवती हैं, इस चम्पावती नामक रानी को नित्यप्रति जुहार अथवा प्रणाम करती हैं। वह चम्पावती रानी नित्य नये वस्त्र धारण करती है तथा नयी उम्रवाली है। उसकी तुलना में कोई दूसरी नारी टिक नहीं सकती है। सभी द्वीपों से चुन-चुन कर अर्थात छांट-छांट कर वे रानियां लायी गई है। चम्पावती रानी का सौन्दर्य तो इतना चमकता है मानो द्वादशवर्णी अर्थात् बारहबानी शुद्ध स्वर्ण की कांति हो। यह रानी बत्तीसों लक्षणों से युक्त है। सभी रानियों में अनुपम है। सिंहलदीप के सभी लोग उसके रूप का वर्णन करते हैं।

विशेष—इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। जनु अछरीन्ह भरा कविलासू' में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य देखते ही बनता है। 'पान फूल के रह अधारी' पंक्ति में अतिशयोक्ति का सौन्दर्य देखने को मिलता है।

जन्म खण्ड

चंपावति जो रूप सवारी । पदमावति चाहै औतारी ॥
भै चाहै असि कथा सलोनी । मेटि न जाइ लिखी जस होनी ॥
सिंघलदीप भए तब नाऊं । जो अस दिया बरा तेहि ठाऊं ॥
प्रथम सो जोति गगन निरमई । पुनि सो पिता माथे मनि भई ॥
पुनि वह जोति मातु घट आई । तेहि ओदर आदर बहु पाई ॥
जस अवधान पूर होइ मासू । दिन दिन हिये होइ परगासू ॥
जस अंचल महं छिपै न दीया । तस उंजियार दिखावै हीया ॥
सोने मंदिर सवांरहि औ चंदन सब लीप ।
दिया जो मनि सिवलोक महं उपना सिंघलदीप ॥ १ ॥

शब्दार्थ—औतारी=अवतारी अथवा अवतरित। भै=होने या बनने वाली। असि=ऐसी। सलोनी=सुन्दर या लावण्यमयी। मेटि=मिटाई है। जस होनी=जो होनी होती है। मातुघट=मातृघट अर्थात माता के गर्भ में। ओदर=उदर या पेट। अवधान=अवधि या समय। हिये होइ परगासू=हृदय में प्रकाश होना था। सिवलोक=शिवलोक। उपना=अवतरित हुआ या उत्पन्न हुआ।

सप्रसंग व्याख्या—ये पंक्तियां जन्मखण्ड से अवतरित हैं। इन पंक्तियों में चम्पावती नामक महारानी के गर्भ से पद्मावती के जन्म होने में उत्पन्न चिन्हों का स्वाभाविक और काव्यात्मक वर्णन किया गया है। जायसी ने

बताया है कि दिव्य अवतारों के प्रगट होते समय शुभ लक्षण पहले से ही घटित होने लगते हैं। जायसी ने 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' उक्ति की सार्थकता बताते हुए लिखा है—

राजा गंधर्वसेन की पत्नी चम्पावती का रूप उत्तम है। उसका स्वरूप पूरी तरह सवारा हुआ है। वह पृथ्वी पर अवतरित हुई है। चम्पावती के गर्भ में महाज्योति रूपी पद्मावती स्वर्ण का आगमन देखकर जायसी कहते हैं कि अब स्वर्ण की सलोनी प्रक्रिया होने वाली है। तात्पर्य यह है कि पद्मावती महाज्योति का मातृ-कुक्षि में आना सलोनी क्रिया है। जायसी कहना चाहते हैं कि पद्मावती के जन्म के कारण एक ऐसी घटना घटित होने वाली है जिसे मिटाया नहीं जा सकता है। सिंहलदीप का नाम तभी प्रकाशित हुआ जबकि भगवत् कृपा से पद्मावती के गर्भ से दीपक की ज्योति बन कर झिलमिला उठी है। सर्वप्रथम वह ज्योति आकाश में बनी और तदनतर गंधर्वसेन के मस्तिष्क में मणि रूप में आई। इसके अनन्तर वह ज्योति चम्पावती के गर्भ से उतरी और गर्भ में आकर उसे महती प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

जायसी कहते हैं कि जैसे जैसे चम्पावती के गर्भ की अवधि बढ़ी त्यों-त्यों चूंकि पद्मावती का अवतरण होना था, अतः उसका हृदय मातृत्व के प्रकाश से प्रकाशित होने लगा। जिस प्रकार झीने या बारीक अंचल में दीपक झिलमिलाता दिखाई देता है वैसे ही चम्पावती के हृदय से उस ज्योतिरूपिणी पद्मावती का प्रकाश झिलमिलाने लगा।

जन्मोत्सव के निमित्त, सोने के महलों का सजाना-सवारना प्रारम्भ हुआ और चन्दन से उन्हें लीपा पोता गया। कारण यह है कि जो दीप ज्योति शिवलोक की है वही सिंहलदीप में प्रकट होना चाहती है।

विशेष--कवि जायसी ने सुन्दर और मनोहारी उपमाओं का प्रयोग किया है। जायसी ने चम्पावती के गर्भ या उदर में प्रकाशित जिस ज्योति का उल्लेख किया है वह ईसा मसीह और मुहम्मद साहब की उत्पत्ति के समय माताओं में ज्योतित बताई जाती है। वैसे इस प्रकार की कल्पना सटीक और सार्थक भी है क्योंकि ईश्वर परम ज्योति है और वह मनुष्य के घट-घट में निवास करता है। साथ ही शुद्ध निरंजन ज्योति का दर्शन मातृ कुक्षि में ही संभव जान पड़ता है। "स्थूल के सम्पर्क में आकर सूक्ष्म ज्योति मलिन हो जाती है। मातृ-कुक्षि में आ जाने से मलिन हो जाने के कारण उसकी शुद्धता के लिए सलोनी क्रिया भी आवश्यक है। अरूप ज्योति को भौतिक रूप प्राप्त करने के लिए माता के गर्भ में आना पड़ता है यही अरूप ज्योति की सलोनी (लावण्यमयी) कहानी है।"

भए दस मास पूरि भइ घरी। पदमावति कन्या औतरी ॥
जानौ सूर किरिन हुति काढ़ी। सूरुज-कला घाटि वह बाढ़ी ॥
भा निसि महं दिन कर परकासू। सब उजियार भएउ कबिलासू ॥
इते रूप मूरति परगटी। पूनौं ससी छीन होइ घटी ॥
घटतहिं घटत अमावस भई। दिन दुइ लाज गाड़ि भइ गई ॥
पुनि जो उठी दुइज होइ नई। निहकलंक ससि बिधि निरमई ॥
पदुमगंध बेधा जग बासा। भौर पतंग भए चहुं पासा ॥

इते रूप भै कन्या जेहि सरि पूज न कोइ ।
धनि सो देस रुपवंता जहाँ जन्म अस होइ ।। २ ।।

शब्दार्थ—पूरि भई घरी = घड़ी या अवधि पूरी हुई । औतरी=अवतरित हुई । किरिन हुत=किरण थी । घाटि=घटकर । परकासू=प्रकाश । उजियार=प्रकाश या उज्ज्वलता । इते रूप=इस प्रकार का रूप । पूनो ससी=पूर्णिमा का चन्द्रमा । छीन=क्षीण । भुंई गई=लाज से छिप गई । निहकलक=निष्कलंक । बेधा=विद्ध कर डाला । चहुं पासा=पास में चारों ओर । दूज न कोई=अतुलनीय ।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के जन्म और उसके अनुपम रूप का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है । वे कहते है—

दस महिने बीत जाने पर गर्भ की अवधि पूर्ण हुई और चम्पावती के गर्भ से पद्मावती कन्या का जन्म हुआ । पद्मावती नामक कन्या अपूर्व सुन्दरी थी और पूर्णतः स्वच्छ और निर्मल थी । वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो वह सूर्य की रश्मियों से निकाली गई थी । सूरज की किरणें उस पद्मावती से घटकर थी और वह उनसे बढ़कर थी । वह कन्या रात में पैदा हुई थी, किंतु उसके जन्मते ही रात्रि में भी दिन का सा प्रकाश होने लगा । सम्पूर्ण कविलास या कैलाश या राजमहल उससे दीप्त हो उठा । वह इतनी रूपवती उत्पन्न हुई कि पूनम का चन्द्रमा भी उसके कारण घटने लगा-अपनी कलाएं क्षीण और आभाहीन करने लगा जायसी कहते हैं कि इस प्रकार एक दिन चन्द्रमा के घटते-घटते अमावस्या आ गई । दो दिवस अमावस्या और प्रतिपदा को तो चन्द्रमा लाज से पृथ्वी में ही गड़ गया । यदि उदित भी हुआ तो द्वितीया का छोटा सा चांद बनकर ।

जायसी का कथन है कि ब्रह्मा ने उसे नवीन रूप प्रदान किया । भाव यह है कि पद्मावती के कारण चांद को निष्कलंक, द्वितीया का नया निष्कलंक रूप धारण करना पड़ा । पद्मावती के शरीर से कमल गंध उठी जो समस्त संसार में व्याप्त हो गई । उस सुगंधि से भंवरे और भुनगे एकत्र होकर उड़ने लगे । वास्तव मे पद्मावती कन्या इतनी रूपवान और लावण्यमयी उत्पन्न हुई कि उसकी समानता पर कोई दूसरा टिक नहीं सकता । जायसी कहते हैं कि वह देश धन्य है, सौभाग्यपूर्ण है, जहां इस प्रकार का जन्म होता हो ।

विशेष—इसमें उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक और उपमा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है । दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य और उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति बड़ी हृदयद्रावक बन पड़ी है । व्यतिरेक का सौन्दर्य भी देखते ही बनता है ।

भै छठि राति छठीं सुख मानी । रहस कूद सौं रैनि बिहानी ।।
भा बिहान पंडित सब आए । काढ़ि पुरान जनम अरथाए ।।
उत्तिम घरी जनम भा तासू । चांद उआ भुइं, दिपा अकासू ।।
कन्यारासि उदय जग कीया । पदमावती नाम अस दीया ।।
सूर प्रससे भएउ फिरीरा । किरिन जामि, उपमा नग हीरा ।।
तेहि तें अधिक पदारथ करा । रतन जोग उपना निरमरा ।।

सिंहलदीप भए औतारू । जंबूदीप जाइ जमबारू ॥ ६

राम अजुध्या ऊपने लछन बतीसी संग ।
रावन रूप सौं भूलिहि दीपक जैस पतंग ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भै छठि रात्रि=छह रात्रियों के बीत जाने पर। रहस= आनन्द और सुख। रैनि बिहानी=रात बीत गई। बिहान=सवेरा। जनम अरथाए=जन्म की घड़ियों की व्याख्या की। उत्तिम घरी=श्रेष्ट घड़ी। दीया=आकाश का दीपक। अस=ऐसा। फिरीरा=फिरेरे के समान चक्कर लगाता हुआ। उपना=उदय होना। जमबारू=यम का द्वार। राइ= राजा।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के जन्म लग्न का वर्णन करते हुए कह रहे हैं--

छह रात्रियां बीत गईं। छठी का सुख भोग भी किया गया। भरपूर आनन्द और रास रंग आदि में समय व्यतीत हुआ। प्रातः बेला में अनेक पंडित लोग आये और उन्होंने अपने-अपने पुराण और पत्रा आदि खोल-खोल कर देखे तथा पद्मावती के जन्म लग्न के अर्थों का विश्लेषण किया। पंडितों ने कहा कि हे नृप श्रेष्ठ! पद्मावती का जन्म उत्तम क्षणों अर्थात् उत्तम लग्नों में हुआ है। यह साक्षात् चांद के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुई है। इसके उदय होने से पृथ्वी के साथ ही आकाश भी दीप्त हो उठा है। पंडितों ने पद्मावती का नाम कन्या राशि से प्रदत्त किया। तात्पर्य यह है कि जैसी शुभ कन्या राशि में वह पैदा हुई वैसा ही उसे नाम भी दिया गया। सूर्य के स्पर्श से किरणें उत्पन्न हुईं और किरणों से नग और हीरे पैदा होते हैं। कवि का कथन है कि इन सबसे भी अधिक उज्ज्वल वस्तु राजा रत्नसेन के लिए पद्मा-वती उत्पन्न हुई। कवि ने यह भी बता दिया है कि उस कन्या पद्मावती का जन्म तो सिंहलद्वीप में हुआ, किन्तु उसकी मृत्यु जम्बू दीप में हुई।

जायसी कहते हैं कि सीता अयोध्या में आई थी तो बत्तीसों लक्षणों से संयुक्त थी अर्थात् बत्तीसों लक्षणों से सयुक्त होकर पद्मावती सीता की भांति सिंहलद्वीप में उत्पन्न हुई। रावण की भांति राजा रत्नसेन उसके रूप-सौन्दर्य पर ऐसे लुब्ध और भ्रमित हुए जैसे दीपक पर पतंग आकर जल मर या जल मिट जाते है।

विशेष—इस पद का वर्णन बड़ा स्वाभाविक है। राम, सीता से पद्मावती की उपमा संगत हो सकती थी किन्तु रावण के उल्लेख से पाठक की मनःस्थिति दूसरे ही ढंग की हो जाती है। यह संदर्भ ही भ्रामक और मिथ्या कल्पना पर आधारित है।

कहेन्हि जनमपत्री जो लिखी । देइ असीस बहुरे जोतिषी ॥
पांच बरस महं भय सो बारी । दीन्ह पुर
भै पदमावत पंडित गुनी । चहूं खंड
सिंघलदीप राजघर बारी । महा सुरू
एक पदमिनी औ पंडित पढ़ी । दहुं केहि
जा कहं लिखी लच्छि घर होनी । सो असि
सात दीप के बर जो ओनाहीं । उत्तर पावहि

राजा कहै गरब कै अहौं इन्द्र सिवलोक।
सो सरवरि है मोरे, कासौं करौं बरोक ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बहुरे=वापस चले गये। बारी=बालिका। बैसारी=बैठाया गया। दई=दैव योग से। दहुँ=पता नहीं किस के लिए। पढ़ी औ लोनी=पढ़ी हुई और लावण्यमयी। ओनाही=झुकते हैं अर्थात् विनम्र भाव से आते हैं। बरोक=वर+रोक=वररक्षा या सगाई या सम्बन्ध।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी इन पंक्तियों में पद्मावती के रूप-सौन्दर्य, उसके विकसित यौवन और विवाह आदि के सम्बन्ध में चिन्तना प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं। वे कहते हैं--

पद्मावती की जन्मपत्री को अनेक पंडितों ने आशीर्वादों से संवार कर या युक्त करके लिखा। तात्पर्य यह है कि जन्मपत्री को बड़ी कुशलता से ज्योतिषियों ने तैयार किया। वे इसे तैयार करके वापस अपने-अपने घरों को चले गये। पांच वर्ष के भीतर ही भीतर पद्मावती बालिका के रूप में विकास कर के सामने आई। उसके बालिका बनते ही उसे वेद, पुरान आदि ग्रंथ पढ़ने के लिए शिक्षालय में बैठाया गया। समय बीतते–बीतते वह पंडित और गुणवान हो गई। उसकी इस गुणवत्ता को चारों देशों के और देश-खण्डों के राजाओं ने सुना—सिंहलदीप के राजा के यहां एक रूपवती बालिका है जिसका रूप-सौन्दर्य अप्रतिम है तथा यह विधि का अवतार प्रतीत होती है। लोग कहने लगे कि एक तो पद्मिनी नारी है और उस पर भी वेदपाठी है या वेदों का अध्ययन किये हुए हैं। आहें भरकर कहने लगे कि पता नहीं विधाता ने यह संयोग किसके साथ बिठाने का निश्चय किया है।

जायसी कहते हैं कि जिस किसी के साथ भी इस लक्ष्मी पद्मावती का संयोग होना लिखा है वह बड़ा भाग्यशाली होगा क्योंकि ऐसी पढ़ी लिखी और लावण्यमयी नारी को प्राप्त करेगा। पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा और प्रशंसात्मक चर्चा सुन–सुन कर लोग राज दरबार में आने लगे। सातों द्वीपों के नरेश और श्रेष्ठ वर विनम्रतापूर्वक आने लगे, किन्तु सभी संतोषजनक उत्तर न पा सकने के अभाव में लौट-लौट कर जाने लगे।

जायसी कहते हैं कि सिंहलगढ़ का राजा बड़े गर्व से कहता है कि मैं शिवलोक (सिंहल) का इन्द्र हूँ। अतः मेरी समता में खड़ा होने वाला कोई भी नहीं है। परिणामतः मैं किसके साथ अपनी कन्या का वरण करके सुखानुभव करूं? तात्पर्य यह है कि किसी के साथ भी यह संभव नहीं जान पड़ रहा है।

विशेष— स्त्रियों की चार जातियों—पद्मिनी, शंखिणी, हस्तिनी, चित्रिणी में पद्मिनी सर्वोत्तम और श्रेष्ठतम कहलाती है। उसका शरीर कमल गंध से सुवासित होता है। इतना ही क्यों उसका वर्ण भी कमलवत कोमल और मृदुल होना है। जायसी ने पद्मावती की शिक्षा का उल्लेख करके स्त्री शिक्षा में अपनी रुचि प्रदर्शित की है। तभी तो वे 'पढ़ी लिखी पद्मिनी' की चर्चा करते हैं। इन पंक्तियों में रूपक और उपमा अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

बारह बरस मंह भै रानी । राजै सुना संजोग सयानी ॥
सात खंड धौराहर तासू । सो पदमिनि कहं दीन्ह निवासू ॥
औ दीन्ही संग सखी सहेली । जो संग करैं रहसि रस-केली ॥
सबै नवल पिउ संग न सोईं । कंवल पास जनु बिगसी कोईं ॥
सुआ एक पदमावति ठाऊं । महा पंडित हीरामन नाऊं ॥
दई दीन्ह पंखिहि अस जोती । नैन रतन, मुख मानिक मोती ॥
कंचन-बरन सुआ अति लोना । मानहुं मिला सोहागहिं सोना ॥
रहंहि एक संग दोउ, पढ़हिं सासतर वेद ।
बरम्हा सीस डोलावहीं, सुनत लाग तस भेद ॥ ५ ॥

शब्दार्थ:—मांह=में । भई रानी=जवान होगई । संजोग=विवाह योग्य । धौराहर=धवलगृह । तासू=उसके । रहसि रस-केली=आनंदमयी क्रीड़ा करती थी । सबै नवल=सभी नयी कुमारियां थीं । कोईं=कुमुदिनी । असजोती=ऐसी ज्योति या प्रकाश किरण अथवा विवेक किरण । अतिलोना=अत्यन्त लावण्यमय । सोहागहिं सोना=सोने में सुहागा । सासतरवेद=शास्त्र और वेद । सीस डोलावहीं=सिर हिलाते है । सुनत लाग तस भेद=उसके शास्त्रों के ग्रंथ, विश्लेषण और व्याख्याएं सुन-सुनकर लोग सिर हिलाते थे तात्पर्य झूम झूम जाते थे ।

ससंदर्भ व्याख्या: – प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि रानी युवती होगई और उसके रहने के लिए अलग व्यवस्था की गई । हीरामन तोता और पद्मावती की नवल सखियों की भी सूचना कवि ने इसी छंद में दे दी है। जायसी कहते हैं—

पद्मावती बारह वर्ष व्यतीत जाने पर युवती होगई । पांच वर्ष की आयु में पढ़ने बिठा दी गई थी और अब तक वह बारह और पांच अर्थात् सत्रह वर्ष की युवती होगई थी । राजा को जैसे ही उसके यौवन का पता चला तो उसे संयोग अथवा वर की चिन्ता हुई । राजा ने विवाह योग्य समझकर पद्मावती के सातमंजिल वाले धवल प्रासाद पर रहने की व्यवस्था की । साथ ही उसके सहेलियां भी रखी गईं । ये सहेलियां पद्मावती के साथ निशा-दिवस रहती थीं और रहस्यानंदमयी क्रीड़ाएं करती थी । जायसी ने इन सखियों की सबसे बड़ी विशेषता बतलाई है कि ये नवीन या नयी उम्र की थीं तथा प्रियतम के संपर्क में कभी नहीं रही थीं । तात्पर्य वे प्रियतम-संयोग के रस से अनभिज्ञ थीं क्योंकि इन्हें प्रिय के साथ 'एकमेकह्वै सेज पर सोने का रस" नहीं मिला था । ये सखियां पद्मावती के साथ इस प्रकार खिली रहती थीं जैसे कमल के पास कुमुदिनी खिली रहती है ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के पास एक हीरामन नाम का तोता था । वह बड़ा ज्ञानी और पंडित था । ईश्वर ने उस पक्षी को भी इसी तरह की ज्ञान की दिव्य ज्योति दी थी । उसके नेत्रों में रत्न भरे थे और मुख में मणि-माणिक्य मोती भरे थे । वह तोता सुनहरे रंग का बड़ा सुन्दर था । उसे देखकर ऐसा आभास होता था कि सोने में सुहागा आकर मिल गया हो ।

रानी पद्मावती और हीरामन तोता उस महल में साथ-साथ रहते थे तथा साथ ही साथ वेद और शास्त्रों का अध्ययन और पारायण करते थे । इन दोनों

की तत्व चर्चा को सुनकर ब्रह्मा तक आत्म विभोर और आनंद विभोर होकर सिर हिलाने लगता था।

विशेषः—१. इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और सम्बंधातिशयोक्ति अलंकार हैं।

२. सोने में सुहागा अवधी मुहावरा है। सुहाग सौभाग्य है, सुहागा है जिसे सुनार सोने को जोड़ता है। इस मुहावरे से अभीप्टार्थ-संप्रेषण होगया है। सोने में सुहागा की व्यंजना दो ऐसी मूल्यवान वस्तुओं के समिलन से है जो एक दूसरे के गुण की पूरक हों।

३. प्रायः यह प्रथा रही है और कुछ स्थलों पर तो आज भी है कि लड़कियों के विवाह योग्य हो जाने पर उन्हे पर्दे में रख दिया जाता है—रहने के निमित्त ऐसा स्थान दिया जाता है जहां कोई पर-पुरुष और अनैतिक चर्चा न पहुंच सके। इसी भाव की सांकेतिक और स्पष्ट व्यंजना इस छन्द में की गई है।

भैं उनत पदमावति बारी। रचि रचि विधि सब कला संवारी॥
जग बेधा तेहि अंग-सुबासा। भंवर आइ लुबुधे चहुं पासा॥
बेनी नाग मलयगिरि पैंठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी॥
भौंह धनुक साधे सर फेरैं। नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं॥
नासिक कीर, कवल मुख सोहा। पदमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर, दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक गभीरा॥
केहरि लंक गवन गज हारे। सुरनर देखि माथ भुइं धारे॥
जग कोइ दीठि न आवै आछहिं नैन अकास।
जोगि जती संन्यासी तप साधहिं तेहि आस॥ ६॥

शब्दार्थ:—भैं उनंत=भार से झुक गई तात्पर्य यौवन के भार से झुकती गई। कला सवारी—उसकी सभी कलाएं संवारी गईं। बेधा—विद्ध होगया। अंग सुवासा=शरीरांगों की गन्ध से। लुबुधे=लुब्ध होगये। बेनी=वेणी या केश-राशि। दूइज=द्वितीया। धनुक—धनुष। साधे सर=वाण सधान करके। कुरंग=हिरन। हेरे=देखते ही। कीर=तोता। कंवल मुख सोहा=कमलवत् मुख शोभायमान है। जग मोहा—संसार मोहित होगया। अधर=ओठ। हिय हुलसे हृदय उल्लसित करके। कुच-स्तन। कनक—सोना। केहरि-शेरनी। लंक=कमर। गज हारे=हाथी हार गये। माथ भुंइ धारे—ललाट पृथ्वी पर टेक देते थे। दीठि न आवै—दृष्टि नहीं आता है। आछहि—हैं। तेहि आस—पद्मावती को प्राप्त करने की आशा।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में कविवर जायसी पद्मावती को प्रेयसी, आशिक, माशूक व ईश्वर रूप में चित्रित कर रहे हैं। वे कहते हैं—

यौवन की दहरी पर कदम रखते ही वह बाला पद्मावती यौवन के भार से झुकी जा रही है। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित होने से पूरी तरह संवर गये हैं। (वाटिका के अर्थ में सभी कलियां विकसित होकर मधु गंध और सुवासित पराग से सज-धज गई हैं।) पद्मावती के सम्पूर्ण शरीर में उसके अंगों की सुगंधि पूरी तरह भर गई है। सुगंधि के कारण भ्रमर (बाल) चारों ओर मुग्ध हो भूल रहे हैं। उसकी पीठ पर वेणी (चोटी) ऐसी भली

प्रतीत होती है मानो मलयगिरि पर सर्प सुशोभित हों। मस्तक पर खिला-चन्द्रमा द्वितीया के रूप में सजा-धजा बड़ा आकर्षक और मोहक प्रतीत होता है। भौंह रूपी धनुषों पर दृष्टि के बाणों को साधकर पद्मावती निशाना मारती है। आँखें भूली हुई हिरनी सी स्थान खोजती जान पड़ती हैं। तात्पर्य यह है कि 'पद्मा' की आंखों में हिरनी की आंखों सा भोलापन है।

जायसी कहते है कि पद्मा की नासिका तोते के सदृश और मुख कमलवत् शोभित और आकर्षक लगता है। 'पद्मा' इतनी सुन्दरी है कि उसके रूप को देखकर समग्र संसार विमोहित हो जाता है। उसके ओष्ठ माणिक्य के समान लाल और दांत हीरे के समान श्वेत वर्ण के हैं। पद्मावती के वक्षस्थल पर स्तन सोने के नीबू की तरह सुशोभित हैं। उसकी सुन्दरता को देखकर देवता और मनुष्य पृथ्वी पर सिर टेक देते हैं। संसार में कोई भी तो ऐसा नहीं जिसे इसके समान सुन्दर ठहराया जा सके। अतः लोग उसे देखकर आंखें आकाश पर बिछाते हैं। योगी, यती, तपस्वी और सन्यासी सभी उस पद्मावती को प्राप्त करने की आशा करते हैं।

विशेष—'बारी,' शब्द श्लेष की सहायता से द्वयर्थक है। जायसी ने इसे वाटिका और कुमारी दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया है। नखशिख वर्णन इसमें जायसी का अभीष्ट रहा है। यह नखशिख वर्णन भारतीय पद्धति के अनुसार न होकर फारसी पद्धति के अनुसार किया गया है। इस पद के सम्बन्ध में श्री जीवनप्रकाश जोशी का यह कथन भी विचारणीय है—"इसमें एहिक जगत के सौन्दर्य-बोध में अपार्थिव रूप की परिकल्पना बड़ी संश्लिष्ट और चित्रात्मक बन गई है। नारी सौन्दर्य का शरीरज मोहक चित्र उपर्युक्त पंक्तियों में प्रदर्शित होता है, किन्तु रति शृंगार की सम्पूर्ण धड़कनों को जगाता तथा दिव्यता का आभास कराता हुआ सा; जड़ नहीं। काव्यात्मक दृष्टि से जायसी के इस प्रकार नख-शिख और मिलन-विरह सम्बन्धी अंश बेजोड़ हैं जिनमें काया, माया और दिव्यता का अपूर्व समन्वय आभासित होता है।"

एक दिवस पदमावति रानी। हीरामन तइँ कहा सयानी॥
सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहिं माता॥
देस देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥
जोबन मोर भएहु जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥
हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहिं जाई॥
अज्ञा देउ देखौ फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै नरेसा॥
जौ लगि मैं फिर आवौं मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहि कहा विचारि॥ ७॥

शब्दार्थ—बुझाई=समझाकर। मदन सतावै=कामदेव सताता है। चालैबाता=बात नहीं चलाता है। त्रासहि=भय से। आंख लगावहिं=कोई ध्यान नहीं देते हैं। मोर=मेरा। जस गंगा=गंगा के समान यौवन उमड़ने लगा है। अनंगा=कामदेव। विधि=ब्रह्मा। फिरि देसा=घूमकर देश देख दूं। तोहि=तुझे। मनचित धरहु निवारी=मन और चित्त को संतुलन में रखना। दुरजन=दुर्जन या दुष्ट।

दुखी । चहै–चाहता है । उवारा–उद्धार या रक्षा । काल मजारी–काल की मार्जारी अर्थात् मृत्यु । लेखा–हिसाब । इंछा या पाठान्तर इच्छा–कामना या अभिलाषा । निसंगा–शोक रहित, निश्चिन्त या वेफिक्र । केलि–क्रीड़ा । वैरि–वेरी या वेर ।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में हीरामन तोते का वह भयभीत कथन वर्णित है जो राजा की मारने की आज्ञा से उत्पन्न हुआ है । वह अपनी बुद्धि का सहारा लेता हुआ पद्मावती से कहता है कि—

जायसी कहते हैं मारने वाले व्यक्ति तो रानी का विनयपूर्वक उत्तर सुनकर वापस चले गये, किन्तु विनयशील और भय से कांपता हुआ तोता रानी से कहने लगा—'हे रानी तुम युग-युगांतर तक सुखपूर्वक जीवन धारण करो । मैंने बहुत सुख पाया है । अब मुझे बनवास जाने की सहर्ष अनुमति दीजिए या मैं स्वय ही जाना चाहता हूँ । कारण यह है कि मेरा अब यहां रहना ठीक नहीं है । कारण यदि मोती की चमक मलिन हो जाती है तो फिर उसमें पहली सी वह चमक और आभा नहीं रह पाती है । तात्पर्य यह है कि एक बार इज्जत पर हाथ पड़ जाने से फिर वह लौट कर नहीं मिलती । स्वामी के साथ या सामने सेवक की भला क्या विसात है । (इन पंक्तियों मे स्वामी और सेवक के परस्पर भाव की तुलना की गई है ।) सुआ ने कहा कि हे रानी जिस घर में काल रूपी मार्जारी या विल्ली नाच रही हो उसमें किसी पक्षी का निर्वाह सभव नहीं है । हे रानी मैंने तुम्हारे राज में बड़ा सुख पाया है । यदि कहने लगूं कि उसका हिसाब तक नहीं दिया जा सकता है तो उचित ही है । मैंने जो चाहा वहा खाया पीया है । दुख तो इसी बात का है कि चलते-चलते तुम्हारी कुछ भी सेवा मैं न कर सका ।

जायसी कहते हैं कि तोते ने कहा कि राजा मुझे मार डालेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है और मुझे इस बात का तनिक भी क्लेश नहीं है । मैं अपने अपराध से भयभीत नहीं हूँ । तात्पर्य यह है कि हे रानी यदि मैंने तुम्हारे दुख में सान्त्वना के दो बोल. बोल दिये तो इससे ही मैं जो अपराधी ठहराया गया हूँ और दण्ड का भागीदार बताया गया हूँ तो मुझे इसका तनिक भी प्रायश्चित या पश्चाताप नहीं है । कारण यह कोई पाप नहीं है । जो भी मैंने किया है वह उचित और उपयुक्त है । इतने पर भी समस्या यह है कि यदि केला अपने शत्रु वेर के समीप रहेगा तो केला अपनी क्रीड़ा किस प्रकार कर सकता है, कैसे झूम सकता है । तात्पर्य यह है कि यदि अब राजा के पास रहा भी तो उनकी दृष्टि में सुखी नहीं रह सकूंगा ।

विशेष—इन पंक्तियों में रूपक और दृष्टान्त अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है ।

रानी उतर दीन्ह कै माया । जो जिउ जाइ रहै किमि काया ? ।।
हीरामन ! तू प्रान परेवा । धोख न लाग करत तोहि सेवा ।।
तोहि सेवा बिछुरन नहिं आखौं । पींजर हिये घालि कै राखौं ।।
हौं मानुस, तू पंखि पियारा । धरम क प्रीति तहाँ केइ मारा ? ।।
का सो प्रीति तन माहँ बिलाई ? । सोइ प्रीति जिउ साथ जो जाई ।।
प्रीति मार लै हियें न सोचू । ओहि पंथ भल होइ कि पोचू ।।

प्रीति पहार-भार जो कांधा । सो कस छूटै, लाइ जिउ बांधा ॥
सुग्रटा रहै सुरुक जिउ, अबहि काल सो ग्राव ।
सत्रु ग्रहै जो करिया कबहुँ सो बोरै नाव ॥ १० ॥

शब्दार्थ—मया=कृपा करके या दया करके, किमि=कैसे, कया=शरीर, परेवा=पक्षी, बोल=बोला, ग्रांवों=कहूँ, घालि=डालकर, सखौं=रखूंगा, पंखि पियारा=प्रिय पक्षी, जिउ साथ=जीवन के साथ, ग्रोहि पंथ=उस मार्ग पर, पोचु=कमजोर प्रीतिपहार=प्रेम का पहाड़, कांधा=कंधा, ग्रावों=ग्राकांक्षा, करिया=कर्णधार, बोरै नाव=नाव को डुबोदे ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में हीरामन तोते के लिए दिया गया रानी पद्मावती का उत्तर समाहित है । वह कहती है—

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने तोते को बड़े प्रेम से कहा कि हे प्रिय तोते ! मला प्राणों को हर लिये जाने पर यह शरीर कैसे रह सकता है । तात्पर्य यह है कि तोते के चले जाने पर मैं कैसे रह सकूंगी । हे हीरामन तू मेरा प्राण-प्यारा पंछी है । तुझ से मेरी सेवा करते समय कोई भी चूक या भूल नहीं हुई है । मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ । ग्रतः तेरा बिछोह मुझे प्रिय नहीं है । तात्पर्य यह है कि मैं तुमसे बिछुड़ना पसन्द नहीं करती हूँ या बिछुड़ने की आकांक्षिणी भी नहीं हूं । इसी कारण मैं तुझे प्राणों के पिंजड़े में छिपाकर रखूंगी । मैं जानती हूं कि तू मेरा प्रिय पक्षी है । धर्म से जुड़ी प्रीति को कौन समाप्त या विनष्ट कर सकता है अर्थात् कोई नहीं कर सकता है । रानी ने कहा कि वह प्रेम ही क्या जो शरीर से विदा पा ले । प्यार तो ग्रात्मा के समान अमर है । प्रीति या प्रणय तो वही सार्थक होता है जो ग्रात्मा के साथ चलता है और समाप्त भी ग्रात्मा के साथ होता है । परलोक में भी जो प्रीति बनी रहे, वही सच्ची प्रीति है । प्रणय का बोझ लेकर हृदय कुछ सोचना विचारना नहीं है—तात्पर्य उचित अनुचित का ध्यान ही हवा हो जाता है (यह स्वाभाविक है क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध हृदय से होता है, वह हृदय की तरंग है और उचित अनुचित की निर्णायिका बुद्धि होती है जो प्रेम और हृदयपक्ष की बात न सुनती है और न सुनने देती है) । प्रेम का मार्ग कैसा भी हो—अच्छा या बुरा । कहा भी तो जाता है—"*Love is blind.*"

जायसी कहते हैं कि प्रीति के भार को सहने के लिए जो व्यक्ति स्नेह के कंधे लगा देता है उसका हृदय कैसे विलग हो सकता है ? इतने पर भी हीरामन तोता वहां रहने का अभिलाषी नहीं था क्योंकि उसके हृदय में खटका था कि पता नहीं कब प्राण समाप्त हो जायें । तात्पर्य, कभी भी मृत्यु घटित हो सकती है । विशेषकर उन परिस्थितियों में जबकि संचालक ही (नाव का चलाने वाला संचालक) शत्रु बन गया हो । शत्रु बन जाने पर क्या पता वह किस क्षण जीवन नैया को डुबोदे ।

विशेष—इन पंक्तियों में रानी पद्मावती का हीरामन तोते के प्रति सहज किन्तु प्रगाढ़ अनुराग व्यक्त हुआ है । हीरामन तोते की बुद्धिपूर्ण नीति तथा विलक्षण चातुरी भी इन पंक्तियों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है । इस प्रसंग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जायसी ने अवसर मिलते

पर प्रेम मार्ग की व्याख्या भी कर डाली है। पद्मावत की यह सहज किन्तु विशिष्ट उपलब्धि है कि उसमें यथावसर जायसी अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने या प्रतिपादित करने में सफल हो गये हैं। अलंकारों की दृष्टि से इसमें रूपक, समासोक्ति और दृष्टान्त अलंकारों की सुन्दर योजना हुई है। 'दृष्टान्त' का सौन्दर्य इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

सुअटा रहै सुरुक जिउ, अबहिं काल सो आव।
सत्रु अहै जो करिया कबहुँ सा बोरै नाव॥

मानसरोदक-खण्ड

एक दिवस पून्यो तिथि आई। मानसरोदक चली नहाई॥
पदमावति सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई॥
कोइ चंपा कोइ कुंद सहेली। कोइ सु केत, करना रस बेली॥
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ सो बकावरि-बकुचन भाँती॥
कोइ सो मौलसिरि, पुहपावती। कोइ जाही जूहीं सेवती॥
कोइ सोनजरद, कोइ केसर। कोइ सिंगार-हार नागेसर॥
कोइ कूजा सदवर्ग चमेली। कोई कदम सुरस रस-बेली॥
चलीं सबै मालति संग फूलीं कवंल कुमोद।
वेधि रहे गन गंधरब बास-परमदामोद॥ १॥

शब्दार्थ—पून्यो—पूर्णिमा। नहाई—स्नान करने। केत—केतकी का फूल। करना—वसन्त में खिलने वाला श्वेत रंग का फूल। राती—लाल। बकौरी—गुलबकावली। बकुचन—गुच्छा। बोलसिरी—मौलश्री। जाही—चमेली की जाति का फूल। सेवती—श्वेत गुलाब। कूजा—सफेद जगली गुलाब। परमदामोद—परम आमोद प्रदान करने वाली।

ससदर्भ व्याख्या-इन पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के रूप सौन्दर्य तथा उसकी सहेलियों के सम्बन्ध में सरस ढंग से चित्रण कर रहे हैं। वे कहते हैं—

एक दिन पूर्णिमा की शुभ तिथि आई और शुभावसर के आने पर पद्मावती मानसरोवर में स्नान करने के लिए चली। पद्मा ने सब सहेलियों को बुलाया और उसके बुलाने पर सभी सखियां फुलवारी के समान विकसित यौवना सी चली आईं। इन सखियों में कोई चम्पा, कोई कुंद, कोई केतकी, कोई करना, कोई रसबेली की भांति थी। कुछ गुलाब, लालसुदर्शन, बकावली तथा बकुच के पुष्पों की भांति सुन्दर और प्रसन्न हैं। कोई मौलश्री की भांति फूलों से लदी थी। कोई जाही, जूही सेवती, सोनजरद, हरसिंगार, सफेद जंगली गुलाब, सदबरग, चमेली, कदम्ब और रसबेली की भांति हैं।

जायसी कहते हैं कि इस प्रकार पद्मिनी के साथ बहुत सी नव-यौवनाएं स्नान करने के लिए चलीं। ये मालती, कमल और कुमुदिनि के समान थीं। इनकी सुगंधि और सुन्दरता अपार थी जिससे सारा वातावरण आनन्दमय हो गया।

है। उन्होंने प्रत्येक का श्लिष्ट अर्थ भी दिया है। इस प्रकार इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार बताए गये हैं—

१. चम्पा—शरीर चांपने (दबाने) वाली।
२. कुन्द—वस्त्रों की कुन्दी करने वाली।
३. सुकेत—सु+केत(घर)—राजभवन।
४. करना—रसबेली—इस वाक्य को फारसी में 'करनारि सबीले' भी पढ़ा जाता है। 'सबील' पानी के स्थान या प्याऊ को कहते हैं। इस प्रकार अर्थ हुआ पानी का प्रबन्ध करने वाली नारी।
५. बकौरी—वाक्यावली।
६. बकुचन—चुनकर वाक्य बोलने वाली नारी।
७. सुबोलसरि—सुन्दर बोल बोलने वाली नारी।
८. पुहपावती—फूल बरसाने वाली।
९. जाही जूही—स्थान-स्थान की देखभाल करने वाली।
१०. सोनजरद—पीले चावल का पुलाव।
११. जँऊ—जीमना, खाना।
१२. केसरि—केसर।
१३. सिंगारहार—हार या आभूषण।
१४. नागकेसरि—फारसी लिपि में नागी सरि=नागमती के समान।
१५. कूजा—कूजना, हर्षित होना।
१६. सदबरग—सत्य के बल पर चलने वाली।
१७. मालती—सुन्दर स्त्री।
१८. गन-गंध्रप—गन्धर्वों के समूह जो कामुक होते हैं तथा सुन्दरी कन्याओं पर आ जाते हैं।

इन अर्थों के पश्चात इस पद का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

"पद्मावती की सखियों में कोई शरीर दबाने वाली, कोई वस्त्रों की कुंदी करने वाली थी। कोई राजभवन में पानी का प्रबन्ध करने वाली, कोई शरीर में गुलाल मलने वाली और कोई उसके दर्शनों की अनुरक्त थी। कोई वाक्यों को चुन-चुन कर बोलती थी और विहंसती थी। कोई सुन्दर बोल कहती हुई मुंह से फूल झाड़ती थी। कोई उसके स्थान की देखभाल करने वाली और कोई सेवा करने वाली थी। कोई केसरिया पीले चावल के पुलाव का भोग लगाती थी, कोई हार का शृंगार करने में नागमती के समान थी। कोई हर्षित होकर बोलती थी, कोई सत्य के बल पर चलने वाली (सदबरग) थी। कोई चमेली का तेल लगाती थी, कोई उसके चरणों के रस में पगी थी।

वे सब सुन्दरियां (मालती) संग में प्रसन्न होकर चलीं। पद्मावती के मन में प्रसन्नता का अनुभव हुआ। उन पद्मिनियों के शरीर के सुवास से गंधर्वों के समूह मोहित होकर स्तंभित होकर रह गये।"

यह अर्थ क्लिष्ट कल्पना का परिचायक है।

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पाल पर ठाढ़ी भईं॥
देखि सरोवर हंसै कुलेली। पदमावति सौं कहहिं सहेली॥
ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥

जौ लगि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गवनव काली । कित हम, कित यह सरवर-पाली ॥
कित आवन पुनि अपने हाथा । कित मिलि कै खेलब एक साथा ॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारुन ससुर न निसरै देहीं ॥
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुं काह ।
दहुं सुख राखै की दुख, दहुं कस जनम निबाह ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पाल—किनारे पर । कुलेली—किलोल करना या क्रीड़ा करना । एहि नैहर—इस नौहर में यानी 'पीहर' में । जौ लगि—जब तक । अहै—है । गवनव काली—गमन का समय । कित हम—हम कहां । कित यह सरवर पाली—कहां यह सरोवर का किनारा । आवन—आना । अपने हाथा—अपने अधिकार में । जिउ लेंही—प्राण लेती हैं । दारुन—दुष्ट । निसरै—निकलना । सिर ऊपर—सिर के ऊपर, तात्पर्य सर्वोपरि । दहुं—देवे ।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने सखियों का वर्णन किया है उनकी चर्चा को चित्रित किया है । वे सभी सरोवर के किनारे खड़ी होकर विचार-विमर्श करती हैं कि इस पीहर में हमें अल्पकाल तक ही रहना है, अत खूब जी भर कर आनंद लेना चाहिए । इसी कथन में लौकिक से अलौकिक व्यंजना भी मुखर हो उठी है । जायसी ने ऐहिक जगत और पारलौकिक जगत की रहस्यवादी भावना को व्यक्त किया है । वे कहते हैं—

सभी राजकुमारियां मानसरोवर पहुंची । वे सरोवर के किनारे पर जाकर खड़ी हो गईं । वे सभी सरोवर को देखकर हंसती हुई क्रीड़ा और किलोल करने लगीं । किलोल के दौरान वे पद्मावती से कहती हैं कि हे रानी, अपने मन में विचार कर देखलो, तुम्हें अब इस पीहर में (अलौकिक व्यंजना से इस संसार में) कुछ ही दिन रहना है । पिता का राज्य भी थोड़े ही दिन का है (अर्थात संसार परिवर्तनशील है और क्षणिक है । परिणामतः न मालूम कब कौन सा परिवर्तन घटित हो जाये) । इस दृष्टि से जो भी खेलना हो वह खेल लो । फिर यह दिन नहीं आने वाला है । आगे तो हमें सभी को ससुराल (परलोक) जाना है । वहां जाने के पश्चात क्या होगा ? कहा नहीं जा सकता है । कारण वहां पिता का राज्य नहीं होगा केवल दूसरों के आधीन रहना पड़ेगा । फिर हम कहां होंगे और कहां यह सरोवर का किनारा होगा । ससुराल पहुंचने पर आना-जाना भी अपने वश में नहीं होगा । (परलोक या ईश्वर के यहां पहुंचने पर आना-जाना अपने अधिकार में नहीं रहता है, जायसी का प्रतिपाद्य यही है) जब आवागमन अपने हाथ में नहीं होगा तो साथ-साथ मिलकर खेलना तो संभव ही नहीं है । ससुराल में सासु, ननद कटु वचन बोलेंगी । तात्पर्य कड़ा नियंत्रण रख कर कठोर व्यवहार करेंगी । वही दुष्ट और यातना देने वाला श्वसुर भी हमें कहीं भी आने जाने नहीं देगा ।

जायसी कहते हैं कि प्रियतम का प्यार तो सबसे ऊपर होगा, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । क्या पता कि वह भी किस प्रकार व्यवहार करेगा ? क्या पता कि वह हमें सुख से रखेगा या दुख से रखेगा ? इस प्रकार यह भी पता नहीं है कि जीवन-यापन किस प्रकार होगा ?

विशेष—१. रहस्यवादी दृष्टि से यह पद बड़ा काव्यात्मक है। "रहस्यवाद आत्मा-परमात्मा के चिर दाम्पत्य प्रेम का भाव विशेष होता है। आत्माएं इस संसार रूपी सरोवर पर भटकती हुई विरहिणियां हैं। इस संसार में जीव कर्म करने में स्वतंत्र होता है, किन्तु आत्मा रूपी वधू के लिए ससुराल में पति परमेश्वर के प्यार के सौ-सौ बंधन होते हैं, सौ-सौ साधनाएं होती हैं; फिर इस नैहर रूपी सरोवर में स्वच्छंदता से विहार करने का अवसर नहीं मिलता।' यहां पर रहस्यवादी प्रतीक-आत्मा, परमात्मा, संसार व परलोक आदि भारतीय भाव के अनुकूल हैं, पर प्रेम की पीर सूफीयाना ही है।" (जीवनप्रकाश जोशी)।

२. वस्तुतः इस छन्द में जायसी आध्यात्मिक व्यंजना करने में सफल हो गये हैं। ससार—नैहर, चार दिन—थोड़े दिन प्रियतम—परमेश्वर, सास-ननद के वचन—कर्मों के आधार पर फल मिलना अर्थ रखते हैं।

३. अलकार समासोक्ति ही प्रमुख है।

मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेहिं सुख बारी भोरी॥
झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहि झूलन देइहि साईं॥
पुनि सासुर लेइ राखिहि तहां। नैहर चाह न पाउब जहां॥
कित यह धूप, कहां यह छाहां। रहब सखी बिनु मदिर माहां॥
गुन पूछिहि औ लाइहि दोखू। कौन उतर पाउब तहं मोखू॥
सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब संकोचि दुवौ कर जोरे॥
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अंत जनम दुख भरना॥
कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल।
आपु आपु कहं होइहि परब पंखि जस डेल॥ ३॥

शब्दार्थ रहसि—प्रसन्नता के साथ। हिंडोरी—झूला। बारी—बालाएं। ताईं—तक। साईं—पति। पाउब—पायेंगी। रहब—रहेंगी। मोखू—मोक्ष या छुटकारा। संकोचि—डर कर। दुवौ—दोनों। अन्तजनम—शेष जीवन। परव—पड़ेगी। डेल—डलिया। पंखि—पक्षी। दोखू—दोष।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी, पद्मावती और उसकी सखियों का सरोवर के निकट झूला झूलने और आमोद प्रमोद लूटने के भाव को व्यंजित कर रहे हैं। वे कहते हैं कि—

आनंदपूर्वक सभी सखियां झूला झूलती हैं। वे सभी कुमारियां और कुछ नादान बालिकाएं झूले का आनंद लाभ करती हैं। वे परस्पर वार्ता करती हुई कहती हैं कि जब तक पीहर में हैं तब तक अच्छी तरह से झूलने और अन्य आमोद प्रमोदों को भोगलें। जब इस पीहर या इहलोक से गमन हो जायगा तो स्वामी (परमात्मा) झूलने और आनद मनाने की भी छूट नहीं देगा। सास-ससुर जैसे चाहेंगे वैसा रहना पड़ेगा। पीहर की सी छूट वहां नहीं मिलेगी। जब वहां यहां की सी मुक्त जीवन-पद्धति न होगी तो यह धूप, यह छाया, यह आनंद कहां मिलेंगे। हे सखी वहां तो घर में रहना पड़ेगा। यदि हम गुण कथन करेंगी या अच्छा कार्य करेंगी तो भी दोष की भागिनी होंगी। इस प्रकार इस स्थिति में हमारे लिए मोक्ष कहां? छुटकारा कहां? हम क्या उत्तर देकर अपने आपको मुक्त रख सकेंगी। सास, ननद बात कहते और सुनते

मौंह सिकोड़ेंगी और कुटिल व्यवहार करेंगी। इन परिस्थितियों में हमें विनय-पूर्वक दोनों हाथ जोड़ कर जीवन बिताना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि सभी कुछ सहना पड़ेगा। कहां तो यह राम रंग होगा और कहां ससुराल का दुख-मय जीवन। दोनों में कोई समानता ही नहीं है। कवि जायसी कहते हैं कि इस प्रकार का जीवन दुबारा नहीं मिलेगा। हम सब को अपनी-अपनी ससुराल में पिंजड़ों में बंद पक्षी सी रह कर जीवन बिताना पड़ेगा।

विशेष—यह छन्द शुक्ल जी द्वारा सपादित जायसी ग्रंथावली में ही मिलता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि प्रामा-णिक हस्तलिखित प्रतियों में यह पद प्राप्त नहीं होता है। वस्तुतः प्रसंगौचित्य की दृष्टि से यह पद आवश्यक और अपेक्षित जान पड़ता है। स्नान से पूर्व तालाब के बांध पर झूला झूलने की परिकल्पना युक्तिसगत जान पड़ती है। यह पद भी रहस्यवादी व्यंजना को प्रस्तुत करता है। लोक जीवन का आभास देने वाला यह छन्द बड़ा मनोरम बन पड़ा है।

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झांपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाहां। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चांद परगसा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघघटा महं चंद देखावा॥
दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौंहैं धनुख गगन लेइ राखी॥
नैन—खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच—नारंग मधुकर रस लेहीं॥

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पाव छुऐ मकु पावों एहि मिस लहरहिं देइ॥ ४॥

शब्दार्थ—सरवर—सरोवर। खोंपा—जूड़ा। मुकलाई—मुक्त करना या विकीर्ण करना। मलयगिरि—मलयगिरि पर्वत। नागिन—सर्पिणी। झांपि—ढक लेना। ओनई—छा जाना या आच्छादन। परी जग छांहा—सारे संसार में छाया हो गई। ससि कै सरन—चन्द्रमा की शरण (रूपकातिशयोक्ति से पद्मावती का मुख चन्द्र)। छपि गै—छिप गया। भानु कै दसा—सूर्य की किरणें या दीप्ति। दीठि—दृष्टि। दामिनी—बिजली या विद्युत। भाखी—बोलना। केलि करेंही—क्रीड़ा करता है। कुच-नारंग—नारंगी से स्तन। मधुकर—भौंरे। विमोहा—मोहित हो जाना। हिये हिलोरहिं—हृदय हिलोर। मकु पावों—शायद पदस्पर्श हो जाय। एहि मिसि—इस व्याज से या बहाने से। लहरहिं देइ—लहर पर लहर देता है या लहरें प्रस्तुत करता है।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के सरोवर में स्नान करते समय उसके अनावृत शरीर की आलंकारिक पद्धति से व्यंजना प्रस्तुत की है। कवि कहता है—

सरोवर के किनारे पर पद्मावती आई। आते ही उसने केशराशि जो जूड़े के रूप में आबद्ध थी, उसे मुकलित या विकीर्ण कर दिया। पद्मावती का मुखचन्द्र और अंग मलयगिरि के समान था। तात्पर्य है सुवासित और पूरी

तरह अलकृत था। उसके विकिरित केश ऐसे प्रतीत होते थे मानों नागों ने उसके अर्व शरीर को ढ़क लिया है। (उत्प्रेक्षा सुन्दर बन पड़ी है।)

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के घने केश इस प्रकार प्रतीत होते थे मानो वादल घिर आये हों और उनके घिरने से संसार में छाया हो गई हो। मुख के चतुर्दिक बिखरे केश ऐसे लग रहे थे मानो राहु ने चन्द्रमा की शरण ले ली हो। पद्मावती के मुख की चमक देख कर दिन में ही सूर्य लज्जावश छिप गया तथा पद्मावती रूपी चन्द्र सखियों रूपी तारागणों को लेकर रात्रि में प्रकट हुआ। चकोर पक्षी भूल कर पद्मा के मुख को ही चन्द्रमा समझने लगा। इतना ही नहीं उसने अपनी दृष्टि इसके मुख की ओर लगाली। काले बालों के भीतर उसका मुख ऐसा लगा जैसे बादलों की घटा के मध्य चन्द्रमा उदित हो गया हो। उसके दांत विद्युत और बोल कोकिल के समान हैं। उसकी भौंहे ऐसी हैं मानो आकाश में इन्द्रधनुष उदित हो गया हो। दो नैन रूपी पक्षी ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे परस्पर क्रीड़ा और आमोद कर रहे हों। तात्पर्य यह है कि पद्मावती के नेत्र चंचल हैं जिससे वे क्रीड़ा करते रहते हैं। उस पद्मा के स्तन नारंगी के समान हैं, जिन पर बिखरे केश अथवा स्तनों की काली घुंडी ऐसी प्रतीत होती है मानों मधुकर इसका पान कर रहे हों।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के इस अप्रतिम सौन्दर्य को देख कर उस पर मोहित और आकर्षित होकर सरोवर उछल रहा है या लहरें ले रहा है। वह शायद उसके सुन्दर पांवों का ही स्पर्श पा जाय, अतः इसी उत्साह से वह क्रीड़ात्मक लहरें ले रहा है। सरोवर स्वतः ही लहर लेता है, किन्तु कवि ने हेतु की कल्पना की है शायद वह इसीलिए लहरें ले रहा हो कि उसे पद्मावती के कदमों का स्पर्श करना है।

विशेष—इस छन्द में अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसमें प्रयुक्त अलंकारों को देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि जायसी ने यहां स्वाभाविक अलकारों को ही प्रश्रय दिया है। अलकार भाव-सौन्दर्य को अलकृत कर रहे हैं—बलात् प्रयोग प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। प्रयुक्त अलंकारों में रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, उपमा और दृष्टान्त आदि प्रमुख हैं।

धरी तीर सब कंचुकि सारी। सरवर महं पैठी सब बारी॥
पाइ नीर जानौं सब बेली। हुलसहिं करहिं काम कै केली॥
करिल केस बिसहर बिस भरे। लहरैं लेहिं कवंल मुख धरे॥
नवल बसंत सवारी करी। होइ प्रगट जानहु रस-भरी॥
उठी कोंप जस दारिवं दाखा। भई उनंत पेम के साखा॥
सरिवर नहिं समाइ ससारा। चांद नहाइ पैठ लेइ तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई ऊई। अब कित दीठ कमल औ कूई॥

चकई बिछुरि पुकारै, कहां मिलौं, हो नाहं॥
एक चांद निसि सरग महं, दिन दूसर जल माहं॥ ५॥

शब्दार्थ—धरी तीर=किनारे पर रखीं। कचुकि सारी=चोली और साड़ी। मंह पैठी=प्रवेश किया। बारी=बालिकाएं। बेली=लताएं। हुलसहि=हुलसतीं हैं या आनन्दित होती हैं। काम कै केली=काम-क्रीड़ा। करिल=काले। बिसहर=विषैले। करी=कली। कोंप=कोंपल। दारिव=

दाड़िम । उनंत=झुकती हुई । पेम कै साखा=प्रेम की शाखाएं या लताएं । समाइ=सिमटता । तारा=तारागण (सखियां) । ससि तरई उ ई=शशि और तारागण उदित हुए है । नाहं=पति या स्वामी । निसि सरग=रात्रि को स्वर्ग या आकाश में । दूसर जल मांह=दूसरा चन्द्रमा जल मध्य विकसित होता है ।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी पूर्व प्रसंगानुसार ही अनावृता पद्मिनी और उसकी सखियों के स्नान का वर्णन करते हुए कह रहे है—

कवि कहते हैं कि सभी सखियों ने अपनी चोली और साड़ी को उतार दिया तथा किनारे पर रख दिया । (कुछ प्रतियों में 'छीपक सारी' पाठ मिलता है । इसे सही मानने पर अर्थ होगा छपी हुई साड़ियां) वस्त्रों को उतार कर सभी सखियों ने जल भरे सरोवर में प्रवेश किया । जल को प्राप्त कर सभी ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो बसन्त (यौवन) उन नवल कलियों को यौवन की गुदगुदा गुदगुदा रहा हो । इसी से वे सभी सखियां काम क्रीडाएं कर रही है या करने लगीं । उनके काले केश पानी में इस प्रकार तिरने लग रहे थे मानो विष भरे नाग लहर ले रहे हों और लहराते हुए कमलों का मुख चुम्बन करने के आकांक्षी हो रहे हों । (व्यंजना यह है कि केश तो नागिन हैं और उनसे घिरा मुख जो कमलवत् है ऐसा प्रतीत होता है जैसे नागों ने मुख में कमल धारण कर लिया हो ।) वे सभी सखियां प्रेम–यौवन से इस प्रकार झुक-झुक कर उमड़ रही है कि वर्णन नहीं किया जा सकता है । वे नवल बालाएं बासन्ती यौवन से सवारी कलियों के समान खिल रही हैं और प्रगट में साक्षात् रस भरी प्रतीत हो रही हैं । यौवन के भार से झुकी-झुकी वे सखियां दाड़िम और द्राक्षा के समान खिली जान पड़ती हैं । उनकी यौवन लता या शाखा पर यौवन के अनार और अंगूर फल खिल रहे हैं । वे सभी सखियां सरोवर मे इस प्रकार प्रतीत हो रही हैं मानो रूप-सौन्दर्य का ससार तालाब में समा नहीं पायेगा । (यहां रूपातिशय की सुन्दर और स्वाभाविक व्यंजना की गई है ।) तारागण के सदृश सखियों के साथ चन्द्रमा सरोवर आकाश में स्नान कर रहा है ।

कवि जायसी कहते हैं कि उस तालाब का जल धन्य है जहां चन्द्रमा और तारिकाएं साथ-साथ उदित होती हैं । इसके साथ ही अब इस दृश्य के सामने कमल और कुमोदिनी की ओर दृष्टि कैसे जा सकती है ? सरोवर में दिवस मे ही चांद और तारों की आभा दिखाई दे रही है जिससे चकई वियोग का अनुभव कर रही है तथा अपने चकवे (प्रिय को पुकारती है कि हे प्रिय, अब कैसे मिलन होगा ? एक चांद तो रात आकाश पर निकलता है और दूसरा दिन में जल के ऊपर उदय होने लगा है ।

विशेष—अलंकारों की दृष्टि से यह छन्द भी पूर्व की भांति ही मनोहर है । इसमें शब्दार्थ प्रयोग तथा भाव और अलंकारों का समुचित संगम हुआ है कान्यसौन्दर्य की दृष्टि से यह छन्द प्रभावकारी बन गया है । उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा और भ्रांतिमान अलंकारों का सुन्दर और पुष्ट प्रयोग सरसता लिए हुए प्रस्तुत है ।

लागीं केलि करैं मझ नीरा । हंस लजाइ बैठ ओहि तीरा ।।
पदमावति कौतुक कहं राखी । तुम ससि होहु तराइन्ह साखी ।।
बाद मेलि कै खेल पसारा । हार देइ जो खेलत हारा ।।
संवरिहि सांवरि, गोरिहि गोरी । आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी ।।
बूझि खेल खेलहु एक साथा । हार न होइ पराए हाथा ।।
आजुहि खेल, बहुरि कित होई । खेल गए कित खेलै कोई ? ।।
धनि सो खेल सह पेमा । रउताई औ कूसल खेमा ? ।।

मुहमद बाजी पेम कै ज्यों भावै त्यों खेल ।
तिल फूलहि के संग ज्यों होइ फुलायल तेल ।। ६ ।।

शब्दार्थ—लागी केलि करैं—क्रीड़ा करने लगीं । मझ नीरा—पानी के भीतर । ओहि—उसके । तीरा—किनारे । कौतुक—क्रीड़ामयी उत्सुकता । बाद मेलि—शर्त के साथ । खेल पसारा—क्रीड़ा-प्रसरण । संवरिहि—सांवली । बूझ—समझकर । पराये हाथा—दूसरे के हाथों में । बहुरि—फिर । कित—कैसे और कहां । धनि सो—वह धन्य है । साइ पेमा—साथ में प्रेम या प्रेम सहित । रउताई—रावत या स्वामी होने का भाव या ठकुराई । कूसल खेमा—कुशल क्षेम या राजी खुशी । ज्यों भावै त्यों खेल—जैसे भावे वैसे खेलो या यथेच्छ । तिल फूलहि के संग ज्यों—फूल के साथ तिल भी ।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती की सखियों की जल विहार या क्रीड़ा की आनन्दमयी स्थिति का वर्णन किया है । इसे जायसी ने ईश्वरीय प्रेम की क्रीड़ा का अर्थ भी दिया है । वे कहते हैं—सभी सखियां पानी में केलि क्रीड़ा करने लगीं । उनकी मनभावनी क्रीड़ा को लक्ष्य करके पानी में तैरते हंस लज्जित होकर किनारे पर आकर बैठ गये । पद्मावती को कौतूहल हुआ । सखियों ने कहा—'हे पद्मा, तुम हम सबके मध्य में चन्द्रमा के सदृश हो । तात्पर्य सुन्दर हो और बड़ी हो । हम तारिकाएं हैं—छोटी हैं और चांद की अपेक्षाकृत कम सुन्द । इस कारण तुम हमारे खेल की साक्षी बनो तथा बताओ कि कौन अधिक खिलाड़ी है ।' इस प्रकार खेल प्रारंभ हुआ । परस्पर शर्त लगाकर खेल प्रारम्भ हुआ । शर्त यह थी कि जो भी हार जायेगी वही अपना हार दे देगी ।

जायसी कहते हैं कि सांवली सांवली से और गोरी गोरी से मिलकर; अपने जोड़ के अनुकूल जुटकर खेलने लगीं । कवि ने चेतावनी दी कि समझ-बूझकर खेल खेलना चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि गले का हार किसी दूसरे के पास चला जावे । यह खेल आज के लिए ही है; कल इसका मूल्य भी न होगा और न खेलने का अवसर ही प्राप्त होगा । व्यंजना यह है कि संसार में जीवन क्षणिक है, समय जो एक बार हाथ में आ जाता है लौटकर दुबारा नहीं आता है । अतः भले ही समय का भोग कर लो, किन्तु अपने लक्ष्य (ईश्वर-दर्शन या प्राप्ति) को मत भूलना । वस्तुतः वह धन्य है जो सतर्क होकर इस रस से भरे खेल को खेलता है । यह खेल खेलने को प्राप्त हो और फिर सदा खेलता रहे—यह सुन्दर संयोग कम ही मिलता है । तात्पर्य है कि प्रेम की क्रीड़ा दुर्लभ होती है—सुलभ नहीं । जायसी कहते हैं कि प्रेम की वाटिका में जिसे खेलना अच्छा लगे खेल ले । प्रेम वाटिका में तथा विकसित फुलवारी में

खेलना लाभदायक है। फूलों के साथ रहने से तिलों में भी सुगंध हो जाती है वैसे ही प्रेम क्रीड़ा को प्राप्त करने से मानव जीवन भगवत प्रेम से युक्त हो जाता है। इतना ही क्यों ईश्वरीय प्रेम का आधार पाकर मानव जीवन धन्य हो जाता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में रूपक और समासोक्ति अलंकार की मधुर और आकर्षक योजना हुई है। छठी पंक्ति की समासोक्ति बड़ी आकर्षक और स्वाभाविक बन पड़ी है।

२. ईश्वरीय प्रेम की ओर संकेत बहुत स्पष्ट है। सूफी दर्शन में 'मारिफत' की भावावेशमय स्थिति को ही प्रेम नाम प्राप्त है। 'इश्क' में ही वज्द या उन्माद, और वस्ल या ईश्वर-मिलन का समावेश होता है। प्रेम तत्व की सार्थक व्यंजना जायसी के पद्मावत की उपलब्धि विशेष है। अवसरानुकूल जायसी इसकी व्यंजना देने से कहीं भी चूके नहीं हैं।

सखी एक तेइ खेल न जाना। भै अचेत मनि-हार गवाँना॥
कवँल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा॥
कित खेलै आइउँ एहि साथा। हरि गँवाइ चलिउँ लेइ हाथा॥
घर पैठत पूँछब यह हारु। कौन उतर पाउब पैसारु॥
नैन सीप आँसू तस भरे। जानो मोति गिरहिं सब ढरे॥
सखिन कहा बौरी कोकिला। कौन पानि जेहि पौन न मिला?॥
हार गँवाइ सो ऐसै रोवा। हेरि हेराइ लेइ जौं खोवा॥
लागीं सब मिलि हेरैं बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोइ उठी मोती लेइ, काहू घोंघा हाथ॥ ७॥

शब्दार्थ—तेइँ—वह। गहि—पकड़कर। बेकरारा—घबराई हुई। पैसारु—प्रवेश पाते ही। पैठत—घुसते ही। पूँछब—पूछेंगे। ढरे—ढलके। हेरि—खोजना। हेराई—खोज करना या कराना। पानि—पानी, वर्षा। पौनु—पवन।

ससदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी इस पद में एक सखी का वर्णन कर रहे हैं। यह सखी खेलना नहीं जानती थी। जल-क्रीड़ा उसके लिए नितांत नई थी। परिणामतः अपना बेशकीमती हार सरोवर के जल में गंवा देती है। इसकी दूसरी व्यंजना भी है। मूल्यवान जीवन की क्रीड़ा तब तक व्यर्थ है जब तक प्रेम और ज्ञान की जानकारी साधक को न हो। कवि का संदेश है क इतने पर भी उसे पाया जा सकता है—यदि उसमें डुबकी लगाई जाये—कर्म किया जाय। यह बात दूसरी है कि डुबकी लगाने के पश्चात् मोती प्राप्त हों या घोंघा। जायसी की व्यंजना यह है कि प्रेम की साधना अगाध है, उसमें ईश्वरीय प्रेमानन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कठिन कर्म और साधना हो। वे इसी सदर्भ में कहते हैं—

एक सखी जल क्रीड़ा के उस खेल को खेलना नहीं जानती थी। वह अचेत हो गई और उसने अपना बहुमूल्य हार खो दिया। वह कमल-नाल को पकड़ कर चिन्तालीन हो गई। रोने लगी कि किससे मैं अपने हार की खोज के लिए कहूँ। वह सोचते सोचते कहने लगी कि हम यहां कहां एक साथ खेलने के लिए आ गईं। यहां खेल-खेल में ही हार गंवा दिया और खाली हाथ लौटने

लगी। अब जैसे ही घर में प्रवेश होगा वैसे ही हार के सम्बन्ध में प्रश्न किये जायेंगे तो उन्हें (घर वालों को) क्या उत्तर देकर शान्त करूंगी। यह कहते-कहते उसकी नैन सीपियों में भरे जो आंसू ढलक रहे थे वे ऐसे प्रतीत होते थे जैसे मोती ढुलक रहे हों। सखियों ने उसे समझाया तथा कहा-अरी कोकिला! तू तो निरी भोलीभाली और सीधी है जो वर्षा को बसंन्त समझ कर कूकने लगती है। भावार्थ यह है कि वर्षा में भी हरियाली छा जाती है और कभी-कभी कोयल कूक उठती है, किन्तु फिर मौन हो जाती है। वह वसन्त प्रिय को पाने में असमर्थ रहती है। सखी कहती है—ऐसा कौन सा बादल या पानी है जिसके पीछे आंधी न हो। भाव यह है कि खेल में खोकर रोना ही हो । सुख के बाद दुख का आना स्वाभाविक है। अरे तू तो हार के लिए व्यर्थ ही रो रही है जो खो गया है उसे पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

जायसी कहते हैं कि उस हार को खोजने के लिए सभी सखियां जल में डुबकियां लगाने लगीं। उस में किसी ने कोई मोती प्राप्त किया तो किसी ने घोंघा तात्पर्य यह है कि प्रेम में साधना की गहरी डुबकी लगाने पर ही ईश्वर रूपी मोती मिलता है, अन्यथा तो ऊपरी डुबकी लगाने पर तो व्यर्थ ही निराश होना पड़ता है या मिलते भी हैं तो घोंघे।

विशेष:—मानसरोवर से मानस की ओर भी संकेत है। मानस के लिए की जाने वाली यौगिक साधना कठिन है। साधना पद्धति से अपरिचित होने के कारण ही व्यक्ति को पछताना पड़ता है। कवि बताना चाहता है कि ईश्वरीय प्रेम के लिए की जाने वाल साधना साधारण खेल न होकर कठिनाइयों से भरी चीज है।। कर्मों के अनुसार मनुष्य को सफलता मिलती है। ईश्वर-मोती की दुर्बोधता और कठिनता स्वयं सिद्ध है। सूफी इमाम गजाली ने इस सम्बंध में लिखा है—'अल्लाह सत्तर हजार पर्दों के भीतर है जिन में से कुछ प्रकाशमय और कुछ अन्धकारमय हैं। यदि इन आवरणों को हटा लिया जावे तो जिस किसी की दृष्टि उस पर पड़ेगी वह उसके प्रकाश से दग्ध हो जायगा।" हाल, आनद, उन्माद और क्रीड़ा उसके स्वरूप के दर्शन पाने की एक दिशा हैं। अलंकारों के सुन्दर समावेश ने प्रेषणीयता में कोई बाधा नहीं आने दी है।

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायंन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय-समीर वास तन आई। भा सीतल, गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्य-दसा भै पाप गवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहंसाना॥
बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा। भै तहं ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥

नयन जो देखा कवंल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥ ८॥

शब्दार्थ:—मानसर—मानसरोवर। चाह—इच्छा करना। पारसरूप—पारस मणि के रूप में। इहां लगि आई—यहां आगया। भा—हुआ। तिन्ह पायन परसे—उसके पैरों का स्पर्श पाकर। गै तपनि बुझाई—तपन या जलन

शांत होगई। न जनौं—न जाने। कौन पौन—कौनसा पुण्य। लेइ आवा—ले आया है। ततखन—तत्क्षण या तुरन्त 'इमीडिएट'। बेगि उतिराना-शीघ्र ही तैरने लगा। बिगसा—विकसित हुआ। ओप—शोभा या कान्ति। दसन जोति—दांतों की ज्योति। नग हीर—नग या रत्न और हीरे।

ससंदर्भ व्याख्या:—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती रूपी दिव्यता के चरण स्पर्श को प्राप्त करने के लिए हार छिपाये सरोवर की मनःस्थिति का बड़ा सहज स्वाभाविक किन्तु नाटकीय सौन्दर्य समन्वित वर्णन किया है। कृष्ण जब शिशु थे तब भी जमुना उनके चरणों का स्पर्श करने के लिए उमड़ी थी वैसी ही स्थिति का वर्णन करते हुए कवि जायसी कहते हैं—

सरोवर के किनारे पर बैठी क्रीड़ा को निहारने वाली पद्मावती स्वयं ने भी हार खोजने के लिए सरोवर में प्रवेश किया। मानसरोवर तो मानो पहले से यही चाहता था। इसलिए वह मन ही मन प्रसन्न हुआ। उसने स्वयं ही अपने मन से कहा—'मेरा चौर कर्म सफल होगया। पारस पत्थर के समान पवित्र और रूपवती पद्मावती मेरे निकट तक आरही है। उसके चरणों का स्पर्श पाकर मैं निर्मल और धन्य हो जाऊंगा कृतकृत्य हो जाऊंगा'। वह आगे कहता है कि उसके चरणों के स्पर्श मात्र से शरीर निर्मल होगया। हृदय की तपन शांत होगई। भावार्थ यह है कि मानसरोवर रूपी हृदय में जब परमेश्वर के दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति होने लगती है तो आत्मा को वज्द (उन्माद) और वस्ल (महामिलन) का सुख प्राप्त होता है। खुसरो ने कहा है—

खुसरू रैन सुहाग की, जागी पीके संग।
तन मेरो मन पीउ का, दोउ भये एक रंग॥

जायसी कहते हैं कि मानसरोवर ने आगे कहा कि न जाने कौनसी वायु यहां तक ले आई है या कौनसा पुण्य मुझे यहां तक ले आया है? मेरी पुण्यदशा आज उदित होगई है और पाप शान्त होगये हैं। यह सोचते ही या इसी क्षण हार पानी के ऊपर तैरने लगा। सखियों ने उसे प्राप्त करके हर्षानुभव किया। स्वयं पद्मावती मुस्करा उठी। उसकी मुस्कान को देखकर तालाब में कुमुद खिल उठे। मुस्कान चन्द्रकिरणवत् थी, तभी तो कुमुदिनी खिल उठी। सारा तालाब कुमुदिनियों से भर गया। जहां कहीं भी उसने दृष्टि डाली वहीं उसी के स्वरूप रूप- बन गया। जिसने जो रुप चाहा वह प्राप्त किया। (भाव है-- परमेश्वर के अनेक रुप हैं। उसे जो जिस रूप में देखना चाहता है देख लेता है। तुलसी की सुप्रसिद्ध पंक्ति भी तो है—"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"। पद्मावती के मुख के लिए सभी सरोवर दर्पण बन गया। तात्पर्य जहां जैसा देखती, वहां वैसी सृष्टि हो जाती।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की रूप दृष्टि से ही सर्वत्र सौन्दर्य के उपकरण विकसित हो गये। जहां कहीं भी उसके नेत्र पड़े वहां कमलों की सृष्टि होगई। सरोवर का सम्पूर्ण जल उसकी सुषमा से निर्मलतम होगया। उसने जहां कहीं भी हंसकर निहारा तो राजहंसों की पंक्ति खड़ी होगई और जहां कहीं भी दन्त पंक्ति की प्रतिच्छवि पड़ी वहीं हीरे और नग झिलमिला उठे अर्थात् नग हीरे दिखाई देने लगे।

विशेष:—मानस यहां हृदय का प्रतीक है और हृदय में जब ईश्वर की

प्रेम ज्योति का आभास होने लगता है तो परिवर्तन हो जाता है—शरीर और मन निर्मल होकर आकर्षक बन जाते हैं। शरीरांग शीतल, शान्त और आनंद की सरिता में उमगने लगते हैं। पद्मावती के प्रभाववश ही सरोवर में यह परिवर्तन होने लगता है। कहने का भाव यही है कि संसार में जो भी लावण्य-मयी और आकर्षक है वह उसी परम ज्योति का प्रसाद है, आमोद है। इस छन्द में प्रतिबिम्बवाद-विशेषकर दोहे में देखने को मिलता है। काव्योत्कर्ष और दार्शनिक व्यंजना दोनों ही दृष्टियों से यह छन्द महत्व का अधिकारी है।

सुआ—खण्ड

पदमावति तहं खेल दुलारी । सुआ मंदिर महं देखि मजारी ॥
कहेसि चलौं जो लहि तन पांखा । जिउ लै उड़ा ताकि बन-ढांखा ॥
जाइ परा बनखड जिउ लीन्हें । मिले पखि, बहु आदर कीन्हें ॥
आनि धरेन्हि आगे फरि साखा । भुगुति भेंट जौ लहि बिधि राखा ॥
पाइ भुगुति सुख तेहि मन भएऊ । दुख जो अहा बिसरि सब गएऊ ॥
ए गुसाइं तूं ऐस विधाता । जावत जीव सबन्ह भुकदाता ॥
पाहन मह नहिं पतंग बिसारा । जहं तोहि सुमिर दीन्ह तुइं चारा ॥
तौ लहि सोग बिछोह कर भोजन परा न पेट ।
पुनि बिसरन भा सुमिरना जब संपति भै भेंट ॥ १ ॥

शब्दार्थः—दुलारी=दुलारपूर्ण क्रीड़ा। (पाठान्तर इसका 'धमारी' मिलता है जिसका अर्थ भी क्रीड़ा में संलग्न होता है।) मदिर=महल में। माजारी=मार्जारी। जौलौं=जब तक। तन पांखा-तन पर पंख हैं। ढांखा-वृक्ष। वन खण्ड—जंगल। पंखि—पक्षी। बहु आदर कीन्हें—बहुत आदर किया। आनि धरेन्हि—लाकर प्रस्तुत की। साखा—पेड़ों की शाखायें या हरियाली। भुगुति-भुक्ति या भोजन। जौलहिं—जब तक। जावत जीव-जितने जीव हैं। सबन भुकदाता—सबको भोजन प्रदान करता है। पाहन—पत्थर। बिसारा—भुलाता। चारा—भोजन। जब संपति भै भेंट-जब सम्पत्ति भेंट हो गई या सम्पत्ति प्राप्त होगई। सुमिरना—स्मरण करना।

ससदर्भ व्याख्याः—जायसी कृत पद्मावत की इन पंक्तियों में बताया गया है कि हीरामन तोता राज्य से निकलकर जंगल में आया और वहां आकर वह बहुत से पक्षियों में मिल गया। इस कथन के बहाने कवि ने परमात्मा के विश्व सचालक और विश्व-पालक रूप को व्यंजित करते हुए लिखा है—

पद्मावती तो मानसरोवर के किनारे क्रीड़ा और दुलार प्यार में व्यस्त थी और इधर प्रासाद में सुग्गे को भय लगा और उसने मनमें एक मार्जारी के दर्शन किये। तोते ने मन में विचारा कि जब तक शरीर में पंख हैं तब तक जीने का मोह छोडा नहीं जा सकता है। यह सोचकर उसने जंगल की ओर उड़ान भरी। दौड़ते-दौड़ते एक वन में जाकर सांस ली। वहां जंगल में उस हीरामन तोते को बहुत से पक्षी मिले जिन्होंने उसका बड़ा आदर किया। आदर सत्कार के लिए उन्होंने हीरामन तोते के समक्ष हरी डालियां रखदीं। परि-णामतः बड़े प्रसन्न भाव से उसने फल इत्यादि खाये। तोते ने सोचा कि जब तक प्राण हैं तब तक खाने-पीने के बिना जीवन नहीं चल सकता है। (जीवन

खाने–पीने से ही चलता है।) जायसी कहते हैं कि तोते ने अपना भोजन पाया, खाया और सुखानुभव किया। उसके मन में अब तक जो दुख था, राजमहल में मारे जाने का भय था व राजा के राज्य में दुखपूर्ण जीवन बिताने का जो दुख था वह आदर सत्कार, खान–पान और नये वातावरण से विस्मृत सा होगया।

जायसी कहते हैं कि हे प्रभु ! तुम इतने दयालु हो कि संसार में जितने भी जीव हैं, सभी को खाने को अन्न प्रदान करते हो। पत्थर के कीट को भी तू भोजन प्रदान करना नहीं भूलता है। वास्तव में जो कोई भी तुझे याद करता है उसे तू भोजन अवश्य देता है। इतने पर भी स्मरणीय यह है कि संसार बड़ा विचित्र है कृतघ्न है। जब तक मनुष्य को भूख प्यास की चिन्ता रहती है, तब वह विरहानुभूति से मिला देती है। सुख में ईश्वर का नाम शायद ही याद करते हों। सुख में मनुष्य ईश्वर के सामने नहीं जाता है। यदि वह ऐसा करने को तैयार हो जाय तो स्पष्ट है। उसे दुख ही न हो। कबीर ने भी यही कहा है।

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे को होय।

विशेष—पद्मावत का उद्देश्य कथा के पीछे छिपी सूफी यानी प्रेम पद्धति का चित्रण था। इस उद्देश्य की उन्होंने पूरी-पूरी रक्षा की है। बड़ी सतर्कता के साथ जायसी ने लौकिक संकेतों से अलौकिक व्यंजनाएं की हैं। वे सदैव सतर्क रहे है कि आध्यात्मिक निरूपण और प्रस्थापन से कहीं कथा भारी-भरकम होकर अस्वाभाविक और बोझिल न हो जाये। इसी विचार-बिन्दु से जायसी ने प्रमुखता तो कथा या कहानी को ही दी है, किन्तु प्रतिभा-सम्पन्न कवि स्थूल कथा से सूक्ष्म संकेत भी व्यंजित करते चलते हैं। यह छन्द भी इसका अपवाद नहीं है।

पदमावति पहं आइ भंडारी। कहेसि मंदिर महं परी मजारी ॥
सुआ जो उतर देत रह पूछा। उड़िगा, पिंजर न बोलै छूछा ॥
रानी सुना सबहि सुख गएऊ। जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ ॥
गहने गही चांद कै करा। आंसु गगन जस नखतन्ह भरा ॥
टूट पाल सरवर बहि लागे। कवंल बूड़, मधुकर उड़ि भागे ॥
एहि विधि आंसु नखत होइ चूए। गगन छांड़ि सरवर महं ऊए ॥
चिहुर चुई मोतिन कै माला। अब सकेत बांधा चहुँ पाला ॥

उड़ि यह सुअटा कहं बसा खोजु सखी सो बासु।
दहुं है धरती की सरग, पौन न पावै तासु ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पहं–पास। भंडारी–भंडारी। मंदिर–महल। उड़िगा–उड़ गया। पिंजर बोलि न छूंछा–खाली पिंजड़ा क्या उत्तर दे। निसिपरी–रात घिर आई। गहने गही–ग्रहण से ग्रसित। करा–किरणें। नखतन्ह–नक्षत्रों से। पाल–किनारा। बहिलागे–बहने लगे। बूड़ि–डूबना। एहिविधि–इस प्रकार। गगन छांडि–आकाश को छोड़कर। सरवर–सरोवर में। चिहुर–केश। चुवहिं–चूते हुए या टपकते हुए। सकेत–संकरा या तंग। दहुं–पता नहीं। धरती की सरग–धरती में या स्वर्ग में।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी हीरामन तोते के पद्मावती की अनुपस्थिति में उड़ जाने तथा पद्मावती की वियोगवस्था का चित्रण करते हुए कहते हैं—

पद्मावती के पास भंडारी आया और कहने लगा कि महल में मार्जारी ने प्रवेश पा लिया है। उसने कहा कि जो तोता प्रश्न पूछने पर उत्तर देता है वह उड़ गया है। परिणामतः पिंजड़े में वह नहीं है और पिंजड़ा मौन है। कुछ भी बोलता नहीं है। तोते की उड़ने की खबर सुनकर रानी पद्मावती के होश फाख्ता हो गये। उसके सम्पूर्ण सुख समाप्त हो गये। वह इतनी अधिक दुखी हुई कि उसे अनुभव हुआ कि दिन में रात्रि हो गई हो। अंधेरी रात्रि ने जीवन में प्रवेश पा लिया हो किंवा चांद की कला को ग्रहण ने खा लिया हो। भरे आकाश के तारे मानो उसकी आंखों के अश्रु कण हों। आंसुओं की धारा प्रवाहित होने लगी। वे इतने बहे कि तालाब का बांध टूट गया। पानी सीमा तोड़कर बहने लगा। सारे कमल डूब गये तथा उन पर मंडराने वाले भौंरे अदृश्य हो गये।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के नेत्रों से आंसू इस प्रकार बहे कि मानो तारों ने अम्बर छोड़ दिया हो और तालाब में पूर्णतः उदित हो गये हों। पद्मावती के बाल जो तेल के कारण खुलकर गर्दन और वक्षस्थल पर बिखर रहे थे, उनमें से आंसू चूने लगे मानो मोतियों की माला के मनके एक-एक करके गिर रहे हों तथा कह रहे हैं कि अब हमें फिर वह बाला बांधना चाहती है। पद्मावती ने अपनी सखी से कहा कि तोता उड़कर के कहां जा बसा है, उस स्थान का पता लगाओ। न मालूम वह स्वर्ग चला गया है या पृथ्वी पर है। कहीं भी उसका कोई पता नहीं चलता है। वहां पर तो शायद वायु भी नहीं पहुंच पा रहा है।

चहूं पास समुझावहिं सखी। कहां सो अब पाउब, गा पंखी।।
जौ लहि पींजर अहा परेवा। रहा बंदि महं कीन्हेसि सेवा।।
तेहि बंदि हुति छुटै जो पावा। पुनि फिरि बंदि होइ कित आवा?।।
वै उड़ान-फर तहियै खाए। जब भा पंखि पांखि तन आए।।
पींजर जेहिक सौंपि तेहि गएउ। जो जाकर सो ताकर भएउ।।
दस दुवार जेहि पींजर मांहा। कैसे बांच मंजारी पाहां?।।
यह धरती अस केतन लीला। पेट गाढ़ अस, बहुरि न ढीला× ।।
जहां न राति न दिवस है, जहां न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चलि बसा कौन मिलावै आनि?।। ३ ।।

शब्दार्थ—चहूं पास–चारों ओर। पाउब–पाऊंगा। जौलहि–जब तक। पंखा–पक्षी। बंदि–बंधन। छुटै जो पावा–छूट जावे। हुति–से। कित–क्यों। तहियै–तभी। जब भा पंखि–जब वह पक्षी हुआ। पंखि तन आए–शरीर पर पंख लगे। पींजर–पिंजड़ा। कैसे बांच–कैसे बचेगा। केतन–कितने। गाढ़–गहरा। बहुरि–फिर। ढीले–खाली या शिथिल। पौन–वायु। घानि–घानी, कोल्हू तात्पर्य काल चक्र से है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने तोते के वियोग में तड़फती

पद्मावती को सखियों द्वारा समझाये जाने का वर्णन किया है। जायसी स्वभाव के अनुकूल स्थूल से सूक्ष्म वर्णन की ओर अग्रसर होते हुए कहते

पद्मावती को चारों ओर से घेरकर सखियां समझा रही कहती हैं कि जो पक्षी पिंजरे से उड़ गया है वह अब वापस लौटकर सकेगा। (व्यंजना है कि जीव भी देह रूपी पिंजडे से निकल जाने उसी पिंजड़े में नहीं आ पाता है।) वे कहती हैं कि जब तक पिंजड़े बंद रहा, बंदी की तरह उसने तुम्हारी नित्य प्रति सेवा की। (उसने कोई चूक नहीं की।) जैसे ही उसे पिंजड़े से मुक्ति मिली वह बंधन से और लौटकर फिर वह बंदी बनने नहीं आया। उस पक्षी ने उड़ने का तो उसी दिवस पा लिया था जिस दिन वह पक्षी बना और पं किये।

जायसी कहते हैं कि हीरामन तोता तो पिंजड़े को उसके सही को सौंप कर चला गया तथा इस प्रकार जो जिसका था वह उसका (व्यंजना है कि पंचतत्व का शरीर मिट्टी से निर्मित होता है और अन्त मिट्टी में ही मिल जाता है।) जायसी कहते है कि जिस पिंजड़े दरवाजे खुले हो उसमें कोई भी पक्षी कैसे रह सकता है। यदि रह बिल्ली से कैसे बच सकता है। (समासोक्ति से अर्थ ध्वनित यह होत इस शरीर रूपी पिंजड़े में इन्द्रियों के दस दरवाजे हैं। काल रूपी कोई भी प्राणी या पक्षी कैसे बच सकता है ?) जायसी कहते हैं कि इस पर इस कालबिलैया ने बहुतों को हजम कर डाला है। इतने पर भी पेट ही नहीं भरता है। (व्यंजना है कि काल के लिए यह सब साधारण है।) जो भी इसके पेट में चला जाता है, वहां से लौटकर नहीं आता है समाप्त हो जाता है। अब तो वह हीरामन तोता किसी अपरिचित और लोक में जा बसा है जहां न तो रात होती है न दिवस, जहां न पवन कालचक्र। अब तो तोता ऐसे वन में जा बसा है कि उससे मिलन संभव दीखता है। इस प्रकार अब उससे कौन मिलन करायेगा।

विशेष—तोता जीव का प्रतीक है तथा शरीर पिंजड़ा है और इन्द्रि के दस दरवाजे इसमें हैं जो मानव को या जीव को भटकाते हैं। मार्जारी का है जिससे कोई भी बच नहीं पाता है। जीव के निकल जाने पर पंच तत्वों क्षिति जल, पावक, गगन और समीर में शरीर मिल जाता है। सामान्यतः तोता गु का प्रतीक है जो साधक का मार्ग दर्शन करता है, किन्तु यहां प्रसगवश उ जीव का प्रतीकत्व प्रदान कर दिया गया है। 'कौन मिलावे आनि' विरह का मार्मिक अभिव्यंजन है।

सुऐ तहां दिन दस कल काटी। आप बियाध ढुका लेइ टाटी।
पैग पैग भुइं चापत आवा। पंखिन्ह देखि हिए डर खावा।
देखिय किछु अचरज अनभला। तरिवर एक आवत है चला।
एहि बन रहत गई हम्ह आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ।
आज तो तरिवर चल, भल नाहीं। आवहु यह बन छांड़ि पराहीं।
वै तो उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका।
साखा देखि राज जनु पावा। बैठ निचित चला वह आवा।

पांच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाच ।
पांख भरे तन अरुझा कित मारे बिनु वांच ।। ४ ।।

शब्दार्थ—कलकाटी—आराम से समय काटा या व्यतीत किया। ढुका—छिपा। लेइ टाटी—टटिया लेकर। पैग-पैग—पद-पद पर। चापत आवा—दवे पांव आया। अनभला—अनहोना। तरिवर—पेड़। एहि वन-इस वन में। देखा काऊ—किसी ने देखा। भल नाहीं—अच्छा नहीं है। पराहीं—भाग जायें। भूलि मन थका—भूल कर, भ्रम में पड़कर मन थक गया या किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। जनु पावा—मानो पा लिया हो। निचित—निश्चिन्त। खांचा—चिड़िया फंसाने का बांस। बान—तीर। लासा—लिवलिवा पख लिपटाने वाला गूलर के पेड़ का दूध। तनु—शरीर। अरुझा—उलभा गया। कत—कैसे। बांच—बचेगा।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पक्तियों में जायसी ने बताया है कि कुछ दिन तो आसानी से कट गये, किन्तु एक दिन व्याध आ गया और परिणामतः उसके चक्कर में हीरामन तोता भी आ गया। इसी का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं—

जंगल में तोते ने आराम के साथ दस दिन गुजारे। तभी बहेलिया जाल लेकर वहां चुपचाप आ बैठा। वह धीरे-धीरे पृथ्वी पर दबे पांव आया। जैसे ही उसे पक्षियों ने आते देखा वैसे ही पक्षियों के हृदय में डर हुआ। वे कुछ अपरिचित भय से और अनहोने संकट से घबरा गये। उन्होंने देखा कि एक वृक्ष चला आ रहा है। उन्होंने सोचा इस वन में रहते रहते हमारी आयु बीत गई, किन्तु पेड़ को चलते हुए कभी नहीं देखा है; आज जो यह वृक्ष चल रहा है यह भला लक्षण नही है। निश्चय ही यह तो अमंगल का सूचक है। सभी ने उसी क्षण सोचा कि चलो सभी मिलकर किसी अन्य जगल में भाग चलें। सभी पक्षी अमगल की कल्पना करते हुए और डरते हुए सोच विचार कर भाग गये, किन्तु हीरामन तोता वहीं बैठा रह गया। भोला हीरामन तोता उस हरे भरे पेड़ के लोभ में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उसे देखने लगा। शाखों की ओर उसने हसरत भरी दृष्टि डाली तो उसने सोचा कि वह राज्य पा गया। इस प्रकार वह सन्तोष और निश्चिन्तता से बैठा रहा उधर बहेलिया आगे बढ़ता आया। जायसी कहते हैं कि व्याध ने लग्गी पर शिकार फसाने वाला पंच बांस और उसमें पंखों को चिपटा लेने वाला पदार्थ लासा भर रखा था। इसमें ही हीरामन तोते के पंख लिपट गये; वह विवश हो गया। उसका शरीर भी चिड़िया फंसाने वाले खोंचा बांस में उलझकर रह गया। इस प्रकार उसकी मरण तुल्य स्थिति हो गयी। उसके बचने के कोई आसार नही रहे।

विशेष—ससार में लोभ या प्रलोभनजन्य माया का भी यही रूप है। माया जीवों का शिकार करती है। कबीरदास ने भी कहा है—

माया महाठगिन हम जानी।
तिरगुन फांस लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी ।।

अंतिम पंक्तियों में जायसी ने पुनः संसार की ओर सकेत किया है—'पांच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पांच' कह कर पचेन्द्रिय और उनके आकर्षक गुण-शब्द,

स्पर्श, रूप, रस, गंध की ओर संकेत करते हैं। विशेष इच्छा या अतिरिक्त कामना मनुष्य को या जीव को भ्रम की ओर ले जाती है। भ्रम में पड़ने के पश्चात उसका जीना समव नहीं है।

बंधिगा सुआ करत सुख केली । चूरि पांख मेलेसि धरि डेली ॥
तहवां बहुत पंखि खरभरहीं । आपु आपु महं रोदन करहीं ॥
बिखदाना कित होत अंगूरा । जेहि भा मरन डहन धरि चूरा ॥
जों न होत चारा कै आसा । कित चिरिहार ढुकत लेइ लासा ? ॥
यह विष चारै सब बुधि ठगी । औ भा काल हाथ लेइ लगी ॥
एहि झूठी माया मन भूला । ज्यों पंखी तैसे तन फूला ॥
यह मन कठिन मरै नहिं मारा । काल न देख, देख पै चारा ॥
हम तो बुद्धि गंवावा विष-चारा अस खाइ ।
तैं सुअटा पंडित होइ कैसे बाझा आइ ? ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बधिगा—बंध गया। सुखकेली—सुख क्रीड़ा। चूरि—चूर-चूरकर मरोरकर। पांख—पख। मेलेसि—डालकर। धरि डेली—डेली या डलिया (झांपा) में धर लिया। तहवां—वहां। बहुत पंखि—बहुत से पक्षी। खरभरहीं—फड़फड़ा रहे थे। रोदन करहीं—रो रहे थे। बिखदाना—विष का दाना। कित होत अंगूरा—विपदाना कहां अंगूर हो सकता है। डहन—डैना। चारा कै आसा—भोजन की आशा। चिरिहार—चिड़िया को मारने वाला बहेलिया। ढुकत लेइ लासा—लासा लिए छिपना। बुधिठगी—बुद्धि ठगी गई। मन भूला—मन भ्रमित होना। मरै नहिं मारा—मारने पर भी नहीं मरता है। काल—मृत्यु। बाझा आइ—कैसे आकर इस चक्र में फस गया। फूला—हर्ष और गर्व से इनराया।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी बहेलिये द्वारा तोते के फंसकर बन्दी बन जाने का चित्रण बड़ी सुन्दर शैली में कर रहे हैं। इसके साथ ही मन की चचलता का चित्रण भी किया गया है। कहा गया है कि मन की चचलता के कारण ही जीव संसार में छला जाता है। जायसी कहते हैं—

सुखपूवक क्रीड़ा करने वाला हीरामन तोता बंधन में बंध गया। बहेलिए ने उसके पंखों को मरोरकर अपने झांवे मे रख लिया। उस झांवे में और भी अनेक पक्षी फड़फड़ा रहे थे। वे सभी अपनी-अपनी दयनीय अवस्था पर रुदन कर रहे थे। वे सोचने लगे कि ईश्वर ने यह विपदाना क्यों पैदा किया ? इस मधुर से लगने वाले दाने के लोभ में आकर हम सभी इस बंधन में फंस गये हैं। इतना ही नहीं हम सबके पंख मरोड़कर रख दिये गये हैं। वे आपस में विचार विमर्श करते हुए कहते हैं कि यदि हमें चारे या भोजन की आशा न होती तो यह चिड़ीमार या बहेलिया हमें किस प्रकार अपने बंधन में बांध लेता। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी परेशानी और बंधन का कारण हमारा ही लालच और प्रलोभन है। इस विष भरे चारे या भोजन ने हमारी बुद्धि को ठग लिया है। बहेलिया हाथ में बांस लेकर कालरूप बन कर हमारे सामने आया है। (माया से लिप्त मन अपने अच्छे या बुरे का निश्चय न कर सका। तात्पर्य है कि भौतिक सुख भोग की आकांक्षा ही प्राणी के दयनीय अन्त का कारण है।) वस्तुतः यह मन बड़ा कठिन है, चंचल है। प्रायः यह

प्रलोभनों में फंसकर घायल हो जाता है। यह मृत्यु को नहीं देखता है, भोजन को देखता है। तात्पर्य, उसके परिणाम के लिए चिन्तित नहीं होता है, अपितु उसे तो अपना भोग दिखाई देता है।

जायसी कहते हैं कि अन्य बन्धन में पड़े कैदियों ने हीरामन तोते से कहा कि हे माई, हमने तो ऐसे विष चारे को खाकर अपनी बुद्धि भ्रष्ट की, किन्तु तू तो ज्ञानी तोता था--बुद्धिमान था किन्तु इस जाल में कैसे फंस गया।

विशेष—इन पक्तियों में मन को जीतने की बात कही गई है। मन को जीते बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता है। जायसी का संदेश बहुत कुछ गीता के इस श्लोक से मिलता है—

प्रजहति यदा कामान्सर्वा न्याय मनोगतम्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

तात्पर्य है कि मन की सारी विषयवासनाओं को छोड़ देने पर ही व्यक्ति सन्तुष्ट होता है। इस प्रकार का व्यक्ति ह स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कहा जाता है।

सुऐ कहा हमहूं अस भूले । टूट हिंडोल-गरब जेहि झूले ॥
केरा के वन लीन्ह बसेरा । परा साथ तह बैरी केरा ॥
सुख कुरवारि फरहरी खाना । ओहु विष भा जब व्याध तुलाना ॥
काहेक भोग बिरिछ अस फरा । आड़ लाइ पंखिन्ह कहं धरा ? ॥
सुखी निचित जोरि धन करना । यह न चित आगे है मरना ॥
भूले हमहुँ गरव तेहि माहां । सो बिसरा पावा जेहि पाहां ॥
होइ निचित बैठे तेहि आड़ा । तब जाना खोंचा हिए गाड़ा ॥

चरत न खुरुक कीन्ह जिउ, तब रे चरा सुख सोइ।
अब जो फांद परा गिउ, तब रोए का होइ ? ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—हिंडोर—झूला। गरव—गर्व। केरा—केला। केरा—बेर। कुरवारि—खोद-खोदकर, चोंच मार-मारकर। फरहरी—फलाहार। ओहु विष—वह भी विष हो गया। तुलाना—आ पहुँचा। काहेक—क्योंकर। बिरिछ—वृक्ष। असफरा—इस प्रकार फला। आड़ा—जाल या अड्डा। खोंचा—बहेलिए का बांस। गाड़ा—गढ़ गया। चरत—खाते समय। खुरुक—चिन्ता। फांद—फंदा। गिय—गरदन में।

ससंदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में जायसी हीरामन तोते के मुख से उसके बधन में बंध जाने का कारण बताते हैं। सुख के पीछे चुपचाप दुख किस प्रकार चला आता है, उसका आगमन कितना अनायास होता है, इसी बात को स्पष्ट करते हुए जायसी कहते हैं—

पक्षियों को उत्तर देते हुए तोते ने कहा-हम भी जाल में वैसे ही फंस गए जैसे कि आप सभी फंस गए। इस समय तक गर्व विखंडित हो गया है और घमण्ड झूलना भी खण्ड-खण्ड हो गया है। हमने केले के वन में विश्राम किया था। तात्पर्य सुखानुभव करने की दृष्टि से ही वन में आकर शरण ली किन्तु यहां अचानक ही शत्रु बेर पीछे पड़ गया। तात्पर्य यह है कि हमने तो इसे सुख समझा था, किन्तु इसमें भी चुपके से दुख आ मिला। जैसे केले के झूमने पर

निकटवर्ती बेर का वृक्ष उसे खण्डित और चीर देता है वैसे ही हमारे सुख रूपी केले के तने के विश्राम को दुख रूपी बेर ने हमेशा के लिए फाड़ डाला है।

जायसी कहते है कि हीरामन ने कहाकि हमें कलरेव के साथ फलों को खाना बड़ा अच्छा लगता है किन्तु व्याध के सहसा आगमन पर उन्हीं फलों का स्वाद विष के स्वाद में परिवर्तित हो गया है वह भोग वृक्ष इस प्रकार फला ही क्यों जिस पर व्याध ने आकर अपना जाल बिछाया और पक्षियों को अपने बन्धन में बांध लिया। हम तो उस अड्डे पर भी निश्चिंत ही बैठे थे पर उसे तभी समझ सके जबकि व्याध का बांस आकर हमारी छाती में गड़ गया। जीव की प्रकृति यह है कि वह सुख की अवस्था में धन के जोड़ने में ही चिंतित रहता है। वह कभी भी इस बात की चिन्ता नहीं करता है कि उसे मरना भी है। तोते ने कहाकि हम भी उस सुखावसर पर धन जो ने में ही गाफिल थे। परिणामतः दाता को भूल गए और वह भी उस दाता को जिसने हमें जीवन का सर्वस्व प्रदान किया। खाने के सुख में तो किसी बात की चिन्ता नहीं की और अब एक अपनी ही भूल से या मद बुद्धि के कारण गले में फन्दा डलवा लिया। इस समय जब चारों ओर से बन्ध गए हैं तो रोने से क्या लाभ है ? तात्पर्य यह है कि इस समय रोने-पीटने और पछताने से कुछ भी काम नहीं बनेगा। अब तो कोई युक्ति सोचकर अपनी मुक्ति का उपाय करना ही चाहिए।

विशेषः—इस छन्द में जायसी ने दुख-सुख की स्थिति का परिचय दिया है। बताया है कि जीवन में सुख के साथ ही दुख का समावेश हो जाता है। ये दोनों ही जीवन स्थितियां इसकी पूरक हैं। प्रसाद की ये पंक्तियां पढ़िये—

दुख की पिछली रजनी बीच,
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है यह सुन्दर गात ।।

इसके साथ ही आधुनिक युग के प्रसिद्ध गीतकार बच्चन की ये पंक्तियां भी पढ़िये जिनमें सुख के साथ ही जीवन में आकस्मिक रूप से आने वाले दुख की चर्चा की गयी है—

मानव के सुख में दुख ऐसे
चुपचाप उतर कर आ जाता।
है ओस बिखर जाती जैसे
मकरंदमयी पंखुरियों पर
है क्रूर समय जिससे सपना,
सच होता, सच सपना होता ।।

रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग इस छन्द की विशेषता है।

सुनि कै उतर आंसु पुनि पोंछे। कौन पंखि बांधा बुधि ओछे ।।
पंखिन्ह जौ बुधि होइ उजारी। पढ़ा सुआ कित धरै मजारी ? ।।
कित तीतिर बन जीभ उघेला। सो कित हंकरि फांद गिउ मेला ।।
तादिन व्याध भए जिउलेवा। उठे पांख, भा नावं परेवा ।।

भै बियाधि तिसना सग खाधू । सूझै भुगुति, न सूझ बियाधू ।।
हमहि लोभवै मेला चारा । हमहि गर्बवै चाहै मारा ।।
हम निचित वह ग्राव छिपाना । कौन बियाधहि दोष ग्रपाना ॥

सो ग्रोगुन कित कीजिए जिउ दीजै जेहि काज ।
ग्रब कहना है किछु नहीं, मस्ट भली, पंखिराज ।। ७ ।।

शब्दार्थ:—उतर—उत्तर । ग्रांसु पुनि पोंछे—फिर ग्रांसुग्रों को पोंछा । बुधि—बुद्धिमान । उजारी—उज्जवल । कित—कैसे । मंजारी—बिल्ली । उछेला—फाड़ता । सकत—शक्ति । हुँकार—पुकार । फांदि—फंदा । गियं—गरदन । मेला—डालता । लेवा—लेने वाला । जिउ—प्राण । नाउं—नाम । तिस्ना—तृष्णा । खाधू—भोजन या खाद्य । सूझ—दीखना । भुगुति—भोजन। बियाधू—व्याध । लोभवै—लोभ से । गर्बवै—गर्व से । ग्रपाना—ग्रपना । जेहि काज—जिसके निमित्त । मस्ट—मौन या चुप्पी । पखिराज—पक्षियों में राजा या श्रेष्ठ ।

ससदर्भ व्याख्या:- इन पंक्तियों में जायसी ने विवश ग्रौर ग्रसहाय पक्षियों की निरीह स्थिति का बड़ा कारुणिक ग्रौर काव्यात्मक वर्णन किया है। वे कहते हैं–

हीरामन तोते की कारुणिक वार्ता सुनकर सारे पक्षियों ने ग्रपने उमड़े ग्रांसुग्रों को पोंछा ग्रौर कहा– पक्षियों को जिसने पख दिए हैं उसने बुद्धि ग्रोछी दी है । तात्पर्य यह है कि उड़ने के लिए पख तो दे दिये हैं, किन्तु सोचने समझने के लिए बुद्धि नहीं दी है । यदि पक्षियों के पास बुद्धि रही होती तो वह कोई न कोई निकलने की युक्ति सोच ही लेता । पक्षियों में यदि उज्ज्वल बुद्धि होती तो पढ़ा लिखा सुग्रा कोई न कोई युक्ति निकाल लेता ग्रौर बिल्ली भी उसे पकड़ने में ग्रसमर्थ होती । तीतर पक्षी में भी बुद्धि नहीं होती है, नहीं तो भला वह क्यों ग्रपनी जीभ खोलकर शक्ति को बुलाता ग्रौर ग्रपनी गर्दन फंदे मे डालता (तात्पर्य यह है कि तीतर यदि बोले नहीं तो चिड़ीमार उसे कैसे फसा सकता है ।) ग्रतः हमें तो व्याध्र ने उसी दिन जान लिया जिस दिन हमें पख मिले ग्रौर नाम प्राप्त हुग्रा । व्यंजना यह है कि पक्षी तो चिड़ीमार के लिए ही पैदा किए गए हैं । हमारे भोजन के साथ ही तृष्णा रूपी व्याधि साथ हो गई थी । हमें चारा ही दीखता है । तात्पर्य यह है कि यदि हम पक्षियों को भोजन के साथ ही चिड़ीमार भी दीखे तो हमारे लिए कुशलता की बात है । वस्तुतः हमारे चारे या भोजन में लोभ का ग्रंश मिल गया है । साथ ही हमारे गर्व ने ही हमें व्याध का रूप लेकर मार डाला है । यही कारण है कि हम तो ग्रपने गर्व में निश्चित फूले रहे, किन्तु व्याध चुपके से ग्रा मिला । इसके लिए व्याध का क्या कसूर है ? यह तो हमारा ही दोष है कि हम फंस गए ।

जायसी कहते हैं कि– ऐसा ग्रवगुण हम क्यों करें जिसके लिए हम ग्रपने प्राण दे देते है । (यह तो पागलपन है कि हम ग्रपने ग्राप ही दोष पर दोष किए जाते हैं ।) हमें तो ग्रब पक्षिराज मौन धारण करना ही श्रेयस्कर लगता है । तात्पर्य है कि मौन धारण करने से ही कल्याण हो सकता है ग्रौर कोई युक्ति है नहीं जिसके सहारे हम ग्रपने सम्बन्ध में निश्चिन्तता पूर्वक कुछ भी सोच सकें ।

रत्नसेन—जन्म खण्ड

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा । कै गढ़ कोट चित्र सम साजा ।।
तेहि कुल रतनसेन उजियारा । धनि जननी जनमा अस बारा ।।
पंडित गुनि सामुद्रिक देखा । देखि रूप औ लखन बिसेखा ।।
रतनसेन यह कुल-निरमरा । रतन जोति मन माथे परा ।।
पदुम पदारथ लिखी सो जोरी । चांद सुरुज जस होइ अंजोरी ।।
जस मालति कहं भौंर बियोगी । तस ओहि लागि होइ यह जोगी ।।
सिहलदीप जाइ यह पावै । सिद्ध होइ चितउर लेइ आवै ।।
भोग भोज जस माना, विक्रम साका कीन्ह ।
परखि सो रतन पारखी सबै लखन लिखि दीन्ह ।। १ ।।

शब्दार्थ—चितउर-चित्तौड़ । कोट-किले की दीवार या परकोटा । चित्र-चित्रित किया । अस-ऐसा । बारा-बालक । सामुद्रिक-सामुद्रिक शास्त्र के आधार पर । लखन विशेषा-विशिष्ट लक्षण । कुल-निरमरा-निर्मल कुल का । रतन जोति-रत्नज्योति । माथे-मस्तक । पदुमपदारथ-पद्म पदार्थ । (पद्मावती की ओर भी लक्ष्य है या संकेत है ।) सो जोरी-वह जोड़ी । अंजोरी-उजेला । विक्रम-विक्रमादित्य । साका-प्रताप । (पराक्रम, यश, शक विजय के पश्चात् सवत्सर की स्थापना) । लखन लिखि दीन्ह-सभी लक्षण लिख दिये हैं ।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के होने वाले पति रत्नसेन राजा के जन्म का परिचय दिया है तथा साथ ही पद्मावती के साथ उसके विवाह (परिणय) की भी भूमिका को संकेतित कर दिया है ।

चित्तौड़गढ़ का राजा चित्रसेन था । उसने किला बनाकर उसे कगूरे, बुर्ज आदि बनवाकर सुसज्जित किया । उसी के वंश में रत्नसेन जैसा उज्ज्वल रत्न प्रकट हुआ । वह जननी धन्य है जिसके गर्भ से ऐसा बालक जन्मा । पण्डित और सामुद्रिक उसके लक्षण थे । सभी पण्डितों ने सोच समझकर उसके भविष्य का परिचय दिया । विचार करने के पश्चात् उन्होंने कहा—इस कुल में रत्नसेन ने अवतार लिया है, जिसके माथे पर रत्नज्योति और मणि चमकती है । पद्मावती जो पद्मवत् है, इसकी जीवन संगिनी बनेगी । यह इसकी जोड़ी रत्न पदार्थ की सी रहेगी । इसका वैवाहिक सम्बन्ध चन्द्रमा और सूर्य के संयोग की भांति रहेगा । (तात्पर्य यह है कि रत्नसेन को माणिक सी पद्मावती इसके रूप गुण के समान ही प्राप्त होगी ।) जिस प्रकार मालती को प्राप्त करने के लिए भ्रमर वियोगी होकर तड़फता है उसी प्रकार पद्मावती को जो वय.सधि ओह कमलागवा होगी, प्राप्त करने के लिए यह राजा रत्नसेन वियोगी होकर चल पड़ेगा ।

जायसी कहते हैं कि रानी पद्मावती को पाने के लिए यह योगी होकर सिंहलद्वीप जायेगा और फिर उसे ब्याहकर चित्तौड़गढ़ ले आयेगा । राजा भोज की भांति यह भोग करेगा और राजा विक्रमादित्य की भांति इसका यश फैलेगा । पारखी और विद्वान पंडितों ने इस रत्न को परखकर सभी लक्षणों से युक्त करके लिख दिया है । तात्पर्य यह है कि योग्य ज्योतिषियों ने इस

रत्न को परख कर उसके लक्षण लिख दिये हैं—भविष्य निर्धारित कर दिया है।

विशेष—इसमें मुद्रा अलंकार का प्रयोग किया गया है। उपमा अलंकार का सौन्दर्य इस पंक्ति में देखा जा सकता है—

जस मालति कहं भौर वियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी॥

यहाँ रत्नसेन का जन्म पद्मावती के बाद दिखाया गया है जो भारतीय दृष्टि से कुछ विचित्र सा लगता है। इन पंक्तियों में रत्नसेन के जन्म की सूचना बड़े काव्यात्मक ढंग से दी गई है।

बनिजारा-खण्ड

चितउर कर एक बनिजारा। सिंघलदीप चला बैपारा॥
बाम्हन हुत एक निपट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी॥
ऋन काहू सन लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहं गए होइ किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भएऊ। नाघि समुद्र दीप ओहि गएऊ॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत, किछु दीख न थोरा॥
पै सुठि ऊंच बनिज तहं केरा। धनी पाव, निधनी, मुख हेरा॥
लाख करोरिन्ह बस्तु बिकाई। सहसन केरि न कोउ ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर।
बाम्हन तहवां लेइ का? गांठि सांठि सुठि थोर॥ १॥

शब्दार्थ—चितउर—चित्तौड़। बनिजारा—वाणिज्य करने वाला या वणिक-बनिया। बैपारा—व्यापार। निपट भिखारी—पूर्णतः भिक्षुक या निर्धन। ऋन—कर्ज। काहूसन—किसी से। लीन्हेसि काढ़ी—लिया हुआ। मकु—शायद। तहं गए—वहां गये। होइ किछु बाढ़ी—शायद कुछ वृद्धि हो जाय। नाघि—उल्लघन करके या पार करके। दीप ओहि गएऊ—उस द्वीप मे गया। द्वीप से तात्पर्य सिंहलद्वीप से है। हाट—बाजार। किछु सूझ न ओरा—बाजार को देखकर उसे कुछ भी नहीं सूझा तात्पर्य है नजर में कुछ भी नही चढ़ा। सबै बहुत—सभी कुछ। किछु दीख न थोरा—थोड़ा कुछ भी दिखाई नहीं दिया या देता था। सुठि—सुन्दर। बनिज—वाणिज्य। तहं केरा—वहां किया। निधनी—निर्धन। मुखहेरा—मुंह तकना या निराशा से मुंह की ओर देखना, यह मुहावरा है। करोरन्हि—करोड़ों की। सहसन—सहस्रों। ओनाई-कम या थोड़ा। बेसाहना-खरीदना या क्रय करना। बहोर-लौटना। तहवा लेइ का-वहां क्या ले। सांठि सुठि थोर-पूंजी। सांठि-संस्था, सुन्दर। थोर-थोड़ी।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी हीरामन तोते के बहेलिए द्वारा बेचे जाने और ब्राह्मण द्वारा क्रय किये जाने की घटना का वर्णन कर रहे है। वे कहते हैं कि—

चित्तौड़गढ का एक बनजारा था वह व्यापार के हेतु सिंहलद्वीप की ओर चला। इसके साथ ही एक गरीब और सीधा ब्राह्मण भी था। वह भी बनजारे को जाता देखकर स्वयं भी व्यापार के लिए चल पड़ा। उस ब्राह्मण

ने किसी से कर्ज लिया और व्यापार के लिए प्रस्थान कर दिया। कर्ज इस आशा से लिया कि शायद व्यापार में कुछ वृद्धि हो जायगी। जायसी कहते हैं कि मार्ग मे उसे बहुत कष्ट और तकलीफें हुई। इतने पर भी वह समुद्र का उल्लंघन करके उस द्वीप में जा पहुंचा। उस ब्राह्मण ने बाजार मे पर्याप्त देखा, किन्तु कुछ भी ऐसा न निकला जिसे वह खरीद सके। बाजार मे सभी कुछ बहुत था, किन्तु पैसे भी उसके अधिक थे, कम न थे।

जायसी कहते है कि यहां उस सिंहल के बाजार में सभी कुछ ऊंचे दामो का था। अतः वहां धनी ऊंचे व्यापारी तो अपनी अभिलाषित वस्तु क्रय करने मे सफल हो जाते थे किन्तु निर्धन व्यक्ति निराश होकर मुंह ही देखते रहते थे। वह बाजार बड़े धनिको का था। परिणामतः उसमे लाखों और करोड़ों की वस्तुएं बिकती थी। हजारों की वस्तु को खरीदने की ओर तो किसी का ध्यान भी नहीं जाता था। तात्पर्य, व्यापारी और खरीददार सभी बड़े थे, छोटी वस्तुएं या छोटे या कम दामो की वस्तुएं न तो बिकती थीं और न कोई बेचता ही था।

इस बाजार से व्यापारियों ने अपनी-अपनी वस्तुएं खरीदलीं और घर को लौट चले। अकेला गरीब ब्राह्मण वहां क्या खरीदता? अर्थात् वह कुछ भी न खरीद सका। कारण उसके पास इतनी पूंजी न थी कि बड़ी-बड़ी वस्तुएं खरीद सकता। अपनी गाठ की थोड़ी पूंजी के कारण वह कुछ भी न खरीद सका।

विशेष-- जायसी ने बाजार का बड़ा सुन्दर और चमत्कारिक वर्णन किया है। वर्णन पद्धति प्रभावशाली है। साथ ही इसमें काव्यात्मक सौन्दर्य की गरिमा देखते ही बनती है। ससार एक बाजार है। इसमें मायावी, स्वार्थी संसार के बाजार के कर्मों के क्रय विक्रय करने का अर्थ ध्वनित होता है। जायसी बताना चाहते हैं कि सच्चा व्यापारी तो वह है जो अच्छे कर्मों का धनी होता है। गांठि-सांठि मे अनुप्रास की सुन्दर योजना है। इस वर्णन की निम्नलिखित पंक्तियां बड़ी प्रभावकारी हैं—

देखिहाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत किछु दीख न थोरा॥
पै सुठि ऊंच बनिज तह केरा। धनी पाव, निधनी, मुख हेरा॥

झूरै ठाढ़ हौं, काहे क आवा? । बनिज न मिला, रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएऊ एहि हाटा । मूर गवाइ चलेउं तेहि बाटा॥
का मैं मरन-सिखावन सीखी । आएउं मरै, मीचु हति लीखी॥
अपने चलत सो कीन्ह कुबानी । लाभ न देख, मूर भै हानी॥
का मैं बोआ जनम ओहि भूजी? । खोइ चलेउं घरहू कै पूंजी॥
जेहि ब्योहरिया कर ब्योहारू । का लेइ देव जो छेंकिहि बारू॥
घर कैसे पैठब मैं छूछे । कौन उतर देबौं तेहि पूछे॥

साथि चले, संग बीछुरा, भए बिच समुद पहार।
आस-निरासा हौं फिरौं, तू बिधि देहि अधार॥ २॥

शब्दार्थ— झूरै=निष्फल व्यर्थ। काहे क आवा=क्यों और किस लिए मैं आया। बनिज=व्यापार। एहि हाटा=इस बाजार में। मूर गंवाइ=तात्पर्य मूल धन को भी खोकर। तेहि बाटा=उस मार्ग पर। मरन सिखावन=

मृत्यु की सी सीख। मोतु=मौत। हति लीखी=लिखी थी। कुबानी=कुवाणिज्य या बुरा व्यापार। मूर मैं=मूल में भी। भोंहि भूंजी=उस को भोगता हूँ। का मैं बोग्रा=मैंने क्या पाप-बीज बोया था? घर हू कैं=घर की भी। व्यौहरिया=व्यापार करने वाली। छेकहि=आघमकना घेरना। पैठव=प्रवेश करना। छूंछे=खाली हाथ। बीछुरा=बिछुड़ा। बिच समुद्र पहार=बीच में समुद्र और पहाड़। विधी=विधाता। अधार=आधार।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी निराश और व्यापार करने में असफल या असमर्थ ब्राह्मण के मन और हृदय की पश्चातापमयी स्थिति का सुन्दर ढंग से वर्णन कर रहे हैं।

ब्राह्मण सिंहल के बाजार में कोई भी लाभप्रद सौदा न कर सका। जायसी कहना यह चाहते हैं कि संसार रूपी इस हाट में मानव जीवन के कर्मों से दूर भागने वाला व्यक्ति किस प्रकार दया का पात्र हो जाता है। ईश्वर एक महाजन है जिसने जीवन को ऋण रूप में मानव को प्रदान किया है। उसकी कामना यह रहती है कि मानव सुन्दर कर्मों के साथ जीवन को लौटादे। यह इसलिए चाहता है कि सत्कर्मों से ही मानव का उद्धार सभव है। जायसी कहते हैं—

ब्राह्मण खड़ा-खड़ा सोचने और पश्चाताप करने लगा कि मैं इस बाजार में व्यर्थ ही आया। मुझे कोई भी व्यापार नहीं मिला। मैं इस बाजार में लाभार्थ आया था या इस दृष्टि से आया था कि कुछ लाभ हो जायगा, किन्तु यह सब कुछ भी न हो सका। मैं तो लाभ की आशा में मूल धन भी गवा कर चल दिया। वास्तव में मैं तो अनिष्ट के मार्ग पर ही चला हूँ। क्या मैं मौत की शिक्षा या सीख पाकर ही यहां मरने के लिए आया था? क्या मेरे भाग्य में यही और इसी स्थिति में मरना लिखा था। जायसी कहते हैं कि ब्राह्मण ने कहा कि अपनी जानकारी में मैंने जीवन में कोई बुराई या कुवाणिज्य नहीं किया। भावार्थ है कि कोई पाप नहीं किया फिर भी मुझे लाभ क्यों प्राप्त नहीं हो सका है। मैं देखता हूँ कि मुझे लाभ के स्थान पर हानि ही प्राप्त हुई है। तभी तो मैं धन कमाने की अपेक्षा मूल धन को भी नष्ट करके यहां से जा रहा हूँ। उसके पश्चाताप की सीमा यहां तक है कि मैंने अपने पूर्व जन्म में ऐसा कौनसा पाप का बीज बोया था जिसके परिणामस्वरूप लाभ होना तो दूर रहा; उल्टे घर की धनराशि को भी गवां कर चल दिया। (तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने सुन्दर जीवन और जन्म को पहले तो लोभ या प्रलोभन में फस कर हल्के दामो में बेच देता है, फिर पश्चाताप करता है—बार बार परेशान होकर घबराता है कि जीवन को व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर दिया?)

जायसी कहते हैं कि ब्राह्मण सोचने लगा कि जिस व्यापारी या साहूकार से मैंने रुपया लिया था, वह जब तकादा करने के लिए घर पर बार-बार चक्कर लगायेगा और कहेगा कि 'रुपया दो तो मैं किस मुंह से उसे उत्तर दूंगा। घर में खाली हाथ कैसे प्रवेश करूंगा। घरवाली जब पूछेगी कि क्या लाये और खाली हाथ क्यों आये तो फिर उसे कौन सा उत्तर देकर सन्तुष्ट करूंगा—कुछ भी तो समझ में नहीं आता है। अन्त में वणिक-वर्ग

चला गया। ब्राह्मण अकेला रह गया। मार्ग में अनेक समुद्र पहाड़ पड़े। आशा से दूर घोर हताश होकर ब्राह्मण चीख पड़ा—मैं निराश घर लौट रहा हूँ। हे ब्रह्मा (परमात्मा) मुझ अधीर को आधार प्रदान कर कृतार्थ करो।

विशेष—वर्णन स्वाभाविक है। संसार को हाट बताया गया है जिसमें सुकर्मों का व्यापार होता है। सुकर्म करने वाले संसार के बाजार में सफल होकर लाभ उठाते है। अन्तत: स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। जो ऐसा नहीं करते हैं वे नरक को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार का भाव महाकवि मिल्टन ने तथा बाइबिल में भी भाव व्यक्त किया है—

"To serve therewith my maker, and present
My true account, lest he returning chide."
"Doth God exact day labour, light denied?
I fondly ask............"

कहा गया है कि जो ईश्वर की दी हुई वस्तु से अधिक लौटा देता है वह ईश्वर को प्रसन्न कर लेता है।

तवहीं व्याध सुआ लेइ आवा। कंचन-बरन अनूप सुहावा॥
बेंचै लाग हाट लै ओही। मोल रतन मानिक जहं होहीं॥
सुअहि को पूछ? पतंग-मंड़ारे। चल न, दीख आछै मन मारे॥
बाम्हन आइ सुआ सौं पूछा। दहुं, गुनवत, कि निरगुन छूछा?॥
कहु परवत्ते! गुन तोहि पाहां। गुन न छपाइय हिरदय माहां॥
हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। जातिहि जाति पूछ सब कोऊ॥
पंडित हौ तौ सुनावहु वेदू। बिनु पूछे पाइय नहिं भेदू॥
हौं बाम्हन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ॥ ३॥

शब्दार्थ—तवहि-तभी। बिआध-व्याध् या शिकारी। कंचन-बरन-स्वर्ण रंग। अनूप-अद्भुत। ओही-उसका। मोल-मूल्य। निरगुन-गुणहीन छूछा-कोरा। परवत्ते-तोता। पाहां-पास। छपाइय-छिपाना। हिरदय मांहा-हृदय में। दून लाभ तेहि होइ-उसे दुगुना लाभ होता है।

ससंदर्भ व्याख्या-ब्राह्मण पश्चाताप कर ही रहा था कि व्याध एक तोते को लेकर आ पहुंचा। ब्राह्मण ने तोते की परीक्षा किस प्रकार की और उससे किस प्रकार बातचीत की, यही संकेत कवि जायसी इन पंक्तियों में दे रहे हैं। वे कहते हैं—

ब्राह्मण सोच-विचार कर ही रहा था कि बहेलिया तोता लेकर आ पहुंचा। तोता बहुत ही सुन्दर रंग का था। उसका रंग स्वर्णिम रंग का था तथा छवि अनुपम शोभाशाली थी। वह बहुत सुन्दर लग रहा था। व्यापारी के रूप में व्याध तोते को ले आया तथा उसके लाने का कारण उसका विक्रय था। वह इस तोते को उस बाजार में ले आया जिसमें मानिक, मोती और रत्नों का व्यापार होता था; उस बाजार में हीरामन तोते को बेचने वह बहेलिया लाया। ऐसे स्थल पर जहां बड़े-बड़े व्यापार हो रहे हों, वहां इस तुच्छ वस्तु को कौन पूछता? बहुत से लोग बिना मोल-भाव पूछे और बात बिना किये ही वहां से आगे बढ़ जाते थे। उसी समय एक ब्राह्मण ने उस तोते

से आकर पूछा—तोते गुणवान भी हो या निरे वृद्ध हो। ब्राह्मण ने कहा कि हे पारावत्त यदि तुम्हारे पास कोई ज्ञान है, कोई गुण है तो उसे स्पष्ट करो। जो भी गुण हो उसे छिपाते नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि गुण को हृदय में छिपाने से कोई लाभ नहीं होता है। हम दोनों एक ही जाति के हैं। सभी लोग अपनी जाति वालों से ही पूछते हैं। यदि तुम पण्डित हो तो बताओ—वेद सुनाओ। जब तक तुम कुछ कहोगे नहीं तब तक तुम्हारा भेद नहीं जाना जा सकता है।

जायसी कहते हैं कि ब्राह्मणने कहा-मैं ब्राह्मण हूँ फिर ब्राह्मण के साथ विद्वान भी हूँ। इसीलिए हे तोते, अपने गुणों को प्रकट करो। यदि विद्वान के आगे विद्वान विद्वता की बात करता है तो उसे दुगुना लाभ होता है। व्यंजना की है कि विद्वान विद्वान को ज्ञान देता भी है और लेता भी है। इसी कारण दुगुने लाभ की बात कही गई है।

तब गुन मोहि अहा, हो देवा। । जब पिंजर हुत छूट परेवा ।।
अब गुन कौन जो बद, जजमाना । घालि मंजूसा बेचै आना ।।
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा । चहौं बिकाय, भूलि गा पढ़ा ।।
दुइ मारग देखौं एहि हाटा । दई चलावै दहुँ केहि बाटा ।।
रोवत रकत भएउ मुख राता । तन भा पियर कहौं का बाता ? ।।
राते स्याम कठ दुइ गीवां । तेहि दुइ फंद डरौं सुठि जीवा ।।
अब हौं कंठ फंद दुइ चीन्हा । दहुं ए फद चाह का कीन्हा ? ।।

पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं, है आगे डर सोइ।
धुंध जगत सब जानि कै, भूलि रहा बुधि खोइ ।। ४ ।।

शब्दार्थ—अहा-था। हुंत-से। परेवा-पक्षी। बदि-कैदी। घालि-डाल कर। मंजूसा-डिब्बे में, झावे में। आना-आकर। दैय-ईश्वर। दहुँ-पता नहीं। रकत-खून। एहि हाटा-इस बाजार में। मुखराता-लालमुख। तन भा पियर-शरीर पीला हो गया। गीवां-ग्रीवा। सुठि जीवा-सुन्दर धारियां। फांद-फंदे। पढ़ि गुनि-पढ़कर और गुनकर। धुंध जगत सब-सम्पूर्ण जगत को धुमैला जानकर। भूलि रहा-भूल रहा है, अपने आप को भ्रम में डाल रहा है। बुद्धि खोइ बुद्धि को खाकर के।

ससंदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी इन पंक्तियों में ब्राह्मण द्वारा कहे गये वचनों के उत्तर में तोते के कथन को प्रस्तुत कर रहे हैं। वे कहते हैं—

तोते ने कहा—हे देव, जब मैं पिंजड़े से स्वतन्त्र था और कोई भी बन्धन नहीं था, तब तक मेरे पास गुण था; विवेक था, ज्ञान था। हे यजमान! अब तो मुझ में कोई भी गुण नहीं रहा गया है क्योंकि अब मैं इस झावे में पड़ा कैदी हूं तथा बिकने आया हूं। (तात्पर्य यह है कि जो कैदी है, उसके क्या गुण हो सकते हैं या यदि है भी तो उन्हें पूछने से क्या लाभ है क्योंकि कैदी के सारे गुणों पर तो पर्दा पड़ जाता है।) यदि मैं पंडित [illegible] इस बाजार में बिकने नहीं आता, अब तो मैं बिकना चाहता हूं [illegible] हो गया हूं। इस बाजार में अब दो ही मार्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं [illegible] और किस मार्ग पर चलना होगा। (दो मार्गों से तात्पर्य है—[illegible] का मार्ग और दुष्टता का मार्ग)। ईश्वर ही

इस प्रकार मनुष्य मांस का भक्षण न करते तो व्याध किस निमित्त इन पक्षियों को मारता या मारने का उपक्रम करता। जो पक्षी नित्य बहेलिये द्वारा फसाये जाते हैं वह उन्हें नित्य प्रति ही वेच देता है और इस प्रकार उस व्याध के मन में पक्षियों के प्रति कोई ममत्व नहीं होता है।

जायसी कहते है कि तोते को, बुद्धि-कौशल और वेद-ग्रन्थों आदि की बातें सुनकर ब्राह्मण ने खरीद लिया, फिर अपने साथियों के साथ मिल गया और एक साथ ही चित्तौड़ के मार्ग पर आ मिला या उनके साथ चल पड़ा।

विशेष:—जायसी ने बहेलिये के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किये हैं। मांस-भक्षण को वे अच्छा नहीं समझते थे। यह बात इन पंक्तियों में देखी जा सकती है।

तब लगि चित्रसेन सर साजा। रतनसेन चितउर भा राजा।।
आइ बात तेहि आगे चली। राजा बनिज आए सिंघली।।
हैं गजमोति भरी सब सीपी। और वस्तु बहु सिंघलदीपी।।
बाम्हन एक सुआ लेइ आवा। कंचन-बरन अनूप सोहावा।।
राते स्याम कंठ दुइ कांठा। राते डहन लिखा सब पाठा।।
औ दुइ नयन सुहावन राता। राते ठोर अमी-रस बाता।।
मस्तक टीका, कांध जनेऊ। कवि वियास, पंडित सहदेऊ।।
बोल अरथ सौं बोलै, सुनत सीस सब डोल।
राज-मंदिर मह चाहिय अस वह सुआ अमोल।। ६।।

शब्दार्थ:—तवलगि-तब तक। सर साजा-चिता पर चढ़ गया या स्वर्गवासी होगया। आइ बात तेहि आगे चली-राजा के आगे चर्चा हुई। गजमोति-गजमुक्ता। रातेस्याम-लाल और श्याम वर्ण। बनिज-व्यापारी। कंचन बरन-स्वर्ण वर्ण। कांठा-लकीरें। दुइ-दो। कंठ-गले। डहन-डैने। सुहावन-शोभित होते हैं। राते ठोर-चोंच का रंग लाल। अमिय-अमृत या पाठान्तर अमी रस। विआस-व्यास। सहदेऊ सहदेव। अरथसौं-अर्थ गर्भित वचन। सीस सब डोल-सभी उसके वचनों को सुनकर सिर झुलाने लगते हैं। महँ चाहिय-में चाहिए। अमोल-मूल्यवान व बहुमूल्य।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु और रत्नसेन के राजसिंहासन पर बैठने की सूचना देता हुआ कवि कहता है—

तब तक राजा चित्रसेन स्वर्गवासी होगये और चित्तौड़ के अधिपति राजा रत्नसेन होगये थे। राजा के समक्ष इस प्रकार की बात चली कि हे राजा सिंहलद्वीप से व्यापार का सामान आया है जिसमें गजमुक्ताओं से भरपूर सीपियां है तथा और भी बहुत सी सिंहलद्वीपी वस्तुएं हैं। एक ब्राह्मण एक तोता ले आया है। वह तोता सुनहरे रंग का है तथा अनुपम रूप से शोभायमान है। उसके कंठ में काली और लाल दो कंठियां हैं। उसके पंख लाल रंग के हैं। उन पंखों पर चितकबरापन ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ग्रन्थों के पाठ लिखे हुए हों। उसके दो नेत्र सुहावने लगते हैं। लालरंग की चोंच है जिसमें से रस पूरित बातें निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि तोता अमृतोपम मीठे वचन बोलता है। उस तोते के मस्तक पर टीका लगा हुआ है जो उसके शुभ लक्षणों का द्योतक है, कंधे पर जनेऊ पड़ा दीखता है। वह बहुत गुणी है और ऐसा लगता है कि कवि व्यास और पंडित सहदेवजी हों।

जायसी कहते हैं कि वह तोता जब बोलता है तो अर्थपूर्ण या विभिन्न अर्थों का द्योतन कराने वाले वचन बोलता है। उसके इस प्रकार के वचनों को सुनकर सभी सिर हिलाने या झुलाने लगते हैं। वास्तव में हे राजा इस प्रकार का तोता तो राजमहल में होना चाहिए था। उससे राजप्रासाद की शोभा बढ़ती।

भै रजाइ जन दस दौराए। बाम्हन सुआ बेगि लेइ आए॥
बिप्र असीसि बिनति औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पै यह पेट महा बिसवासी। जेइ सब नाव तपा सन्यासी॥
डासन सेज जहाँ किछु नाहीं। भुइं परि रहै लाइ गिउ बाहीं॥
आंधर रहै, जो देख न नैना। गूंग रहै, मुख आव न बैना॥
बहिर रहै, जो स्रवन न सुना। पै यह पेट न रह निरगुना॥
कै कै फेरा निति यह दोखी। बारहिं बार फिरै, न सतोखी॥
सो मोहि लेइ मगावै लावै भूख पियास।
जौ न होत अस बैरी केहु न कहु कै आस॥ ७॥

शब्दार्थ—भैरजाइ—आज्ञा हुई। जन दस दौराए—दस व्यक्ति तुरन्त दौड़ाये गये। बेगि—शीघ्र ही। बिप्र—ब्राह्मण ने। औधारा—किया। निनारा—पृथक। जीउ—जीवन है, प्राणाधार है। बिसवासी-विश्वासघाती। नाव—नवाता है, नम्र या विनयशील बनाता है। डासन—बिस्तर। गिउ बाही-गले के नीचे बांह। आंधर—अंधा। कै-कै—करके। फेर—चक्कर। बारहिबार—द्वार से द्वार तक। सतोखी-संतोष लाभ नहीं करता है। मगावे—मगवाता है।

ससदर्भ व्याख्या:—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी ने तोता खरीदकर लाने वाले ब्राह्मण के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि पेट संसार में महत्वपूर्ण है। यदि यह न होता तो मनुष्य इतने सभी प्रकार के व्यापारों में न पड़ता। वे आगे कहते हैं—

राजा रत्नसेन की आज्ञा हुई कि तोते को ले आओ। इस आज्ञा के साथ ही प्यादे दौड़ाये गये। वे लोग आज्ञा के साथ ही ब्राह्मण और तोते दोनों को ले आये। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद देकर प्रार्थना की कि तोता मेरे प्राणों का आधार है। मैं इसे अपने जीवन से तथा प्राणों से अलग नहीं करना चाहता। इतने पर भी यह पेट बड़ा विश्वासघाती है। इसी ने तपस्वियों और मुनीश्वरों तक को झुका दिया है। तात्पर्य यह है कि भूखे पेट कोई व्यक्ति नहीं रह सकता है। कहा भी है—'भूखे भजन न होइ गुपाला। धरलो अपनी कंठी माला'। जिस व्यक्ति के पास सेज और बिस्तर नहीं है वह पृथ्वी पर सिरहाने हाथ रखकर ही सो जाता है। अंधा आंखों के अभाव में भी देख लेता है यानी जीवन-यापन कर लेता है या कर सकता है। गूंगा व्यक्ति बिना बोले भी काम चला सकता है। बहरा बिना सुने भी काम की बातें समझ लेता है, पर यह पेट बड़ा ही निष्ठुर है। यह भूख के गुण और उसके प्रभाव से मानव को क्षमा नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि पेट अपने स्वाभाविक गुणों को कभी नहीं छोड़ता है। पेट की क्रिया सभी को चलानी ही पड़ती है। जायसी कहते हैं कि अनेक चक्कर करके भी या बार-बार गुनाह करके भी मनुष्य इस पेट के लिए शांत नहीं है।

ब्राह्मण कहता है कि ऐसा ये पेट ही मुझे यहां बुलवाता है। भूख और प्यास को लाता है। यदि यह वैरी पेट न होता तो क्यों कोई किसी की आशा करता। तात्पर्य यह है कि पेट की ही खातिर मनुष्य संसार में मुंह ताकता रहता है। दूसरों के आश्रित रहता है।

विशेषः—इन पंक्तियों में बताया गया है कि संसार में पेट ही है जो मनुष्य से सब कुछ करा लेता है। यदि पेट न हो तो मनुष्य के सामने आने वाले बहुत से संकट यों ही—स्वतः ही टल जायेंगे। पेट को भरना आवश्यक है। इसके भरे बिना जिया नहीं जा सकता है—तात्पर्य भूख में किवाड़ पापड़ होजाते हैं। सूफी लोग इच्छाहीन होते हैं। वे सांसारिकता की ओर अपनी दृष्टि नहीं रखते हैं। इतने पर भी संसार को छोड़ना उनके लिए आवश्यक नहीं होता है। इसका कारण दूसरे मत को मानने वाले कुछ भी समझें और मानें, किन्तु सूफी मतावलम्बी बुभुक्षा को ही मानते हैं।

सुवा असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू॥
भागवंत बिधि बड़ औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा॥
कोइ केहु पास आस कै गोना। जो निरास डिढ़ आसन मोना॥
कोइ बिनु पूछे बोल जो बोला। होइ बोल माटी के मोला॥
पढ़ि गुनि जानि वेद-मति भेऊ। पूछे बात कहैं सहदेऊ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जो बिकाइ, गुन कहा सो चाहा॥
जौ लगि गुन परगट नहिं होई। तौ लहि मरम न जानै कोई॥

चतुरवेद हौं पंडित, हीरामन मोहिं नावँ।
पदमावति सौं मेरवौं, सेव करौं तेहि ठावँ॥ ८॥

शब्दार्थ—बड़साजू-बड़ा साज, बड़ा ऐश्वर्य। अखंडित राजू-अखण्ड राज्य। औतारा-अवतरित हुआ। डिढ़-अटल। मोना-खामोश। भेउ-भेद। सराहा-प्रशंसा। मेरवौं-मिलाउंगा। सेव-सेवा। तेहि-उस। ठाऊं-जगह।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी हीरामन तोते का परिचय देते हुए कहते है—

तोते ने राजा को आशीर्वाद दिया कि तेरा ऐश्वर्य महान हो, यश बड़ा हो और साम्राज्य अखण्ड हो। हे राजा तू बड़ा भाग्यवान है तथा ईश्वर का भेजा हुआ अवतार स्वरूप है। तू अपने भाग्य के साथ भाग्यवान और रूपवान दोनों है। कारण जहां भाग्य होता है वहां रूप स्वयं प्रणाम करता है। जब कोई किसी के पास जाता है तो किसी आशा से ही जाता है। जो कोई आशा नहीं रखता है वह अपने आसन पर स्थिर और मौन धारण किये रहता है। जायसी कहते हैं कि यदि कोई अकारण ही बिना कुछ पूछे बोलता है तो उसका बोलना मिट्टी के डले के समान मूल्यहीन होता है। सहदेव जी बड़े ज्ञानी थे इसलिए वे पूछने पर ही उत्तर देते थे। जो गुणवान होते हैं वे अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं किया करते, किन्तु जो बिका हुआ है, वह तो अपनी बात कहना ही चाहेगा। इसका कारण है कि जब तक वह बोलेगा नहीं तब तक उसके रहस्य या गुण का पता नहीं चल सकेगा। तात्पर्य यह है कि मैं (हीरामन तोता) वहीं हूँ। अतः मुझे अपना परिचय देना ही पड़ेगा यदि नहीं दूंगा तो मेरे रहस्य का पता न चल सकेगा।

जायसी कहते हैं कि मैं (तोता) वेद को जानने वाला पंडित हूँ, मेरा नाम हीरामन तोता है। मैं आपको पद्मावती से मिलाऊँगा तथा उसी स्थान पर रहकर आपकी सेवा करूंगा।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी का लोक व्यवहार स्पष्ट है। योग्य व्यक्ति के दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने से उसके गुण दयनीय हो जाते हैं। जायसी ने बड़े काव्यात्मक ढंग से इस तथ्य को प्रकाशित किया है।

रतनसेन हीरामन चीन्हा। एक लाख बाम्हन कहं दीन्हा॥
विप्र असीसि जो कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमंदिर महं आना॥
बरनौं काह सुआ कै भाखा। धनि सो नाव हीरामन राखा॥
जो बोलै राजा मुख जोवा। जानौ मोतिन हार परेवा॥
जो बोलै तौ मानिक मूंगा। नाहिं त मौन बाँधि रह गूंगा॥
मनहुं मारि मुख अमृत मेला। गुरु होइ आप, कीन्ह जग चेला॥
सुरज चांद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥

जो जो सुनै धुनै सिर, राजहिं प्रीति अगाहु।
अस गुनवंता नाहि भल, बाउर करिहै काहु॥ ६॥

शब्दार्थ—एक लाख बामन्ह कहं दीन्हा—एक लाख ब्राह्मण को प्रदान किया विप्र असीसा—ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया। कियापयाना—प्रस्थान किया। सुआ कै भाखा—सुआ के भाषण या वचन। धनि—धन्य है। मुखजोवा—मुख देखता है। पिरोवा—गूथना। मारि—बहुत। गहन—ग्रहण। धुनैसिर—सिर धुनता है। अगाहु—अथाह। बाउर—बावला या पागल।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी कहते हैं कि हीरामन तोता के ज्ञान से रत्नसेन बहुत आकर्षित हुआ। इस पद में उसी आकर्षण भाव को व्यक्त किया गया है। तोता प्रेम-पथ के गुरू के रूप में प्रस्तुत है। सूफी मार्ग की यह एक दिशा मात्र है। जायसी उसी दिशा का संकेत दे रहे हैं। रत्नसेन साधक है। तोता उसको प्रेम मार्ग पर ले चलने वाला गुरु है। रत्नसेन तोते की बातों पर मस्ती से झूम हुआ है। वह कहता है—

राजा रत्नसेन ने हीरामन तोते को पहचान लिया तथा निश्चय कर लिया कि यह निश्चित रूप से गुणी है। उसने इसी पहचान के कारण ब्राह्मण को एक लाख मुद्रायें दे दी। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया और प्रस्थान किया। वह तोता राजमहल में लाया गया। जायसी कहते हैं कि मैं उस विचित्र तोते का क्या वर्णन करूं? जिसने उसको हीरामन नाम दिया है वह धन्य है। जब वह बोलता है तो प्रेम के माणिक मूंगे के समान वचन बोलता है, अन्यथा वह मौन रहता है। जब जब वह बोलता है तब तब राजा मुंह की ओर देखता है। उसके वचनों को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह मोतियों का हार पिरो रहा हो। उसकी मीठी वाणी से लगता है मानो अमृत घुले वचनों का भंडार उसके पास है। तात्पर्य है कि उसकी वाणी में पर्याप्त मृदुता है। वह गुरु है और रत्नसेन उसका शिष्य है। उसने सूरज और चन्द्रमा की कथाएं राजा से कही हैं। उन्हें सुनकर राजा प्रेम को ग्रहण करके चित्त लगाकर सुनता रहा। (प्रकारान्तर से सूर्य चन्द्र से जायसी का संकेत रत्नसेन और पद्मावती से भी है। उसने सांकेतिक ढंग से राजा से पद्मावती

के प्रेम की भी चर्चा की है जिससे रत्नसेन के मानस में प्रेम उत्पन्न हो गया है।)

जायसी कहते हैं कि जो कोई भी उसकी कथाएं सुनता है सिर धुनने लगता है तथा प्रेम की गहनता बढ़ती जाती है। यह तोता जो कि बहुत गुणवान है किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है क्योंकि यह किसी को पागल बनाये बिना नहीं छोड़ेगा।

विशेष—इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य देखा जा सकता है। जायसी की इस पंक्ति को पढ़िये—

जौ बोलै तौ मानिक मूंगा। नाहिं त मौन बांधि रह गूंगा॥

नागमती-सुआ-संवाद-खण्ड

दिन दस पाँच तहाँ जो भए। राजा कतहुँ अहेरै गए॥
नागमती रुपवंती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा॥
बोलहु सुआ पियारे नाहाँ। मोरे रूप कोइ जग माहाँ?॥
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी॥
सुआ बानि कसि कहु कस सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना?॥
कौन रूप तोरी रुपमनी। दहुँ हौं लोनि, कि वै पदमिनी?॥
जो न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महँ मोरे रूप समान॥ १॥

शब्दार्थ—कतहुँ—कहीं पर। अहेरै—शिकार के लिए गये। रूपवंती—रूपवान या लावण्यमयी। पाट परधानी—पटरानी या महारानी। ओपनिवारी—चमकाने वाली। बानि—वर्ण। कसि—कसौटी पर कसकर। कस-लोना—कैसी लावण्यमयी। दहुँ हौं-लोनि—मैं लावण्यमयी हूँ या वे पद्मिनी स्त्रियाँ। सत—सत्य। सुअटा—तोता। तोहि राजा कै आन—तुझे राजा की शपथ है। एहि जगत—इस जगत में। मोरे रूप समान—मेरे रूप के समान।

सन्दर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने हीरामन तोता और रानी नागमती के बीच हुए वार्तालाप को यथावत् चित्रित किया है, कवि कहता है—

दस पांच दिन व्यतीत हुए होंगे कि राजा एक दिन किसी जगह शिकार खेलने के लिए गये। राजा रत्नसेन की रानी नागमती बड़ी रूपवती थी। वह रनिवास में रहने वाली स्त्रियों में सुशोभित और पटरानी थी। उसने शृंगार किया और उस शृंगार को देखने के लिए दर्पण हाथ में लिया। अपने रूप सौन्दर्य को देखकर उसने गर्व किया कि उससे अधिक रूप सौन्दर्य वाली नारी कोई भी संसार में नहीं है। इसी विचार के साथ उसने अपने प्रियतम रत्नसेन के प्रिय तोते से कहा कि बतलाओ तो सही मेरे रूप के समान इस संसार में और भी कोई नारी है? इस प्रश्न को सुनकर हीरामन तोता हंसने लगा। इस प्रश्न के साथ वह रूपवंती नागमती हीरामन तोते के पास आई। उसने तोते को चमकने वाली कसौटी दी और कहा कि हे तोते! सोने की कसौटी पर कसकर बतलाओ कि इसका रंग कैसा है? वह अपनी या

जायसी कहते हैं कि मैं (तोता) वेद को जानने वाला पंडित हूं, मेरा नाम हीरामन तोता है। मैं आपको पद्मावती से मिलाउंगा तथा उसी स्थान पर रहकर आपकी सेवा करूंगा।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी का लोक व्यवहार स्पष्ट है। योग्य व्यक्ति के दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने से उसके गुण दयनीय हो जाते हैं। जायसी ने बड़े काव्यात्मक ढग से इस तथ्य को प्रकाशित किया है।

रतनसेन हीरामन चीन्हा। एक लाख बाम्हन कहं दीन्हा॥
विप्र असीसि जो कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमंदिर मह आना॥
बरनौं काह सुआ कै भाखा। धनि सो नाव हीरामन राखा॥
जो बोलै राजा मुख जोवा। जानौ मोतिन हार परेवा॥
जो बोलै तौ मानिक मूंगा। नाहिं त मौन बांधि रह गूंगा॥
मनहुं मारि मुख अमृत मेला। गुरु होइ आप, कीन्ह जग चेला॥
सुरुज चांद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥

जो जो सुनै धुनै सिर, राजहि प्रीति अगाहु।
अस गुनवता नाहि भल, बाउर करिहै काहु॥ ६॥

शब्दार्थ—एक लाख बामन्ह कहं दीन्हा-एक लाख ब्राह्मण को प्रदान किया विप्र असीसा—ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया। कियापयाना—प्रस्थान किया। सुआ के भाखा—सुआ के भाषण या वचन। धनि—धन्य है। मुखजोवा—मुख देखता है। पिरोवा-गूथना। मारि—बहुत। गहन-ग्रहण। धुनैसिर-सिर धुनता है। अगाहु—अथाह। बाउर—बावला या पागल।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी कहते हैं कि हीरामन तोता के ज्ञान से रत्नसेन बहुत आकर्षित हुआ। इस पद में उसी आकर्षण भाव को व्यक्त किया गया है। तोता प्रेम-पथ के गुरू के रूप में प्रस्तुत है। सूफी मार्ग की यह एक दिशा मात्र है। जायसी उसी दिशा का संकेत दे रहे हैं। रत्नसेन साधक है। तोता उसको प्रेम मार्ग पर ले चलने वाला गुरु है। रत्नसेन तोते की बातों पर मस्ती से झुका हुआ है। वह कहता है—

राजा रत्नसेन ने हीरामन तोते को पहचान लिया तथा निश्चय कर लिया कि यह निश्चित रूप से गुणी है। उसने इसी पहचान के कारण ब्राह्मण को एक लाख मुद्रायें दे दी। ब्राह्मण ने राजा को आर्शीवाद दिया और प्रस्थान किया। वह तोता राजमहल में लाया गया। जायसी कहते हैं कि मैं उस विचित्र तोते का क्या वर्णन करूं? जिसने उसको हीरामन नाम दिया है वह धन्य है। जब वह बोलता है तो प्रेम के माणिक मूंगे के समान वचन बोलता है, अन्यथा वह मौन रहता है। जब जब वह बोलता है तब-तब राजा मुंह की ओर देखता है। उसके वचनों को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह मोतियों का हार पिरो रहा हो। उसकी मीठी वाणी से लगता है मानो अमृत घुले वचनों का भंडार उसके पास है। तात्पर्य है कि उसकी वाणी में पर्याप्त मृदुता है। वह गुरु है और रत्नसेन उसका शिष्य है। उसने सूरज और चन्द्रमा की कथाएं राजा से कही हैं। उन्हें सुनकर राजा प्रेम को ग्रहण करके चित्त लगाकर सुनता रहा। (प्रकारान्तर से सूर्य चन्द्र से जायसी का संकेत रत्नसेन और पद्मावती से भी है। उसने सांकेतिक ढंग से राजा से पद्मावती

के प्रेम की भी चर्चा की है जिससे रत्नसेन के मानस में प्रेम उत्पन्न हो गया है।)

जायसी कहते हैं कि जो कोई भी उसकी कथाएं सुनता है सिर धुनने लगता है तथा प्रेम की गहनता बढ़ती जाती है। यह तोता जो कि बहुत गुणवान है किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है क्योंकि यह किसी को पागल बनाये बिना नहीं छोड़ेगा।

विशेष—इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य देखा जा सकता है। जायसी की इस पक्ति को पढ़िये—

जो बोले तो मानिक मूंगा। नाहिं त मौन बांधि रह गूंगा॥

नागमती-सुआ-संवाद-खण्ड

दिन दस पांच तहां जो भए। राजा कतहुं अहेरै गए॥
नागमती रूपवंती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा॥
बोलहु सुआ पियारे नाहां। मोरे रूप कोइ जग माहां?॥
हंसत सुआ पहं आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी॥
सुवा बानि कसि कहु कस सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना?॥
कौन रूप तोरी रुपमनी। वहुं हौं लोनि, कि वै पदमिनी?॥
जो न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महं मोरे रूप समान॥ १॥

शब्दार्थ—कतहु—कहीं पर। अहेरै गए—शिकार के लिए गये। रूपवंती—रूपमान या लावण्यमयी। पाट परधानी—पटरानी या महारानी। ओपनिवारी—चमकाने वाली। बानि-वर्ण। कसि—कसौटी पर कसकर। कस-लोना—कैसी लावण्यमयी। वहुं हौं—शायद मैं लावण्यमयी हूं या वे पद्मिनी स्त्रियां। सत—सत्य। सुअटा—तोता। तोहि राजा कै आन—तुझे राजा की शपथ है। एहि जगत—इस जगत मे। मोरे रूप समान—मेरे रूप के समान।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पक्तियो में जायसी ने हीरामन तोता और रानी नागमती के बीच हुए वार्तालाप को यथावत् चित्रित किया है, कवि कहता है—

दस पांच दिन व्यतीत हुए ही थे कि राजा एक दिन किसी जगह शिकार खेलने के लिए गये। राजा रत्नसेन की पत्नी नागमती बड़ी रूपमती थी। वह रनिवास में सबसे अधिक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और पटरानी थी। उसने शृंगार किया और उस शृंगार को देखने के लिए दर्पण हाथ में लिया। अपने रूप सौन्दर्य को देखकर उसने गर्व किया कि उससे अधिक रूप सौन्दर्य वाली नारी कोई भी संसार में नहीं है। इसी विचार के साथ उसने अपने प्रियतम रत्नसेन के प्रिय तोते से कहा कि बताओ तो सही मेरे रूप के समान इस संसार में और भी कोई रानी है? इस प्रश्न को सुनकर हीरामन तोता हंसने लगा। इस प्रश्न के साथ वह प्रसन्नवंदना नागमती हीरामन तोते के पास आई। उसने तोते को चमकने वाली कसौटी दी और कहा कि हे तोते! सोने की कसौटी पर कसकर बताओ कि इसका रंग कैसा है? यह असली या

वास्तविक है या नहीं ? तेरा सिंहलदीप कितना सुन्दर है। तू जिस रूप-सौन्दर्यमयी प्रतिमा की बात कहता है वह कैसी है ? उसका कुछ विशद वर्णन करके बताओ। उसकी मुखाकृति कैसी है ? सच-सच बताओ कि वह सुन्दर है या मैं।

जायसी कहते हैं कि रानी नागमती ने कहा कि सच बताओ क्या स्थिति है ? तोते, तू सच-सच बतादे तुझे राजा की शपथ है। प्रश्न यह है कि मेरे समान इस संसार मे कोई दूसरी नारी भी है या नहीं।

विशेष—इन पंक्तियों में नागमती का रूपाभिमान मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। प्रश्न शैली का उपयोग इस वर्णन को मनोहरता प्रदान कर रहा है।

सुमिरि रूप पदमावति केरा। हंसा सुआ, रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महं हंस न आवा। बगुला तेहि सर हंस कहावा॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चांद घटा औ लागेउ राहू॥
लोनि विलोनि तहां को कहै। लोनी सोई कंत जेहि चहै॥
का पूछहु सिंघल कै नारी। दिनहिं न पूजैनिसि अंधियारी॥
पुहुप सुवास सो तिन्ह कै काया। जहां माथ का बरनौं पाया ?॥
गढ़ी सो सोने सोंधे भरी सो रूपं भाग।
सुनत रूखि भइ रानी, हिये लोन अस लाग॥ २॥

शब्दार्थ—केरा—का। मुख हेरा—मुख देखकर। जेहि सरवर—जिस सरोवर में। तेहिसर—उस तालाब में। दई—देव। अस जग—इस जगत। आगरि-रूपा—आगे रूपवती। गरब न छाजा—गर्व सुशोभित नहीं हुआ। औ लागेउ राहू—राहू लग गया। लोनि—लावण्यमयी या सुन्दरी। कंत जिहि चहै—स्वामी जिसे चाहता है। पूजै—समता नहीं कर सकती है। पुहुपसुवास-पुष्पों की सुगन्ध। रूखि भई—रुष्ट हो गई। हिये लोन अस लाग—उनके हृदय में नमक लग गया।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने तोते के मुख से नागमती के रूप की उपेक्षा करवाई है। वे कहते हैं—

पद्मावती के सजे-धजे और अलंकृत रूप का स्मरण करके तोता रानी नागमती के गर्व को लक्ष्य करके व्यंग्यपूर्ण मुद्रा से हंसने लगा। उसने कहा कि रानी, जिस सरोवर पर हंस का आगमन नहीं होता वहां बगुली ही हंस कहलाती है। (इन पक्तियों में जायसी ने बड़ी मार्मिक व्यंजना की है)। तोते ने आगे कहा कि इस संसार में इतना अनुपम सौन्दर्य है कि उसका सही वर्णन नही किया जा सकता है। अतः किसी का भी मन में घमण्ड करना अच्छा नहीं है। चांद को ही देखो कितना अच्छा व सुन्दर लगता है, किन्तु उसे राहू ग्रस लेता है। तात्पय यह है कि घमंडी व्यक्ति का सिर शीघ्र ही नीचा हो जाता है। इस संसार में किसी को भी सुन्दर या असुन्दर नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में सुन्दरी तो वही है जिसे उसका पति या प्रियतम अच्छा स्वीकार करे। रहा सिंहलदीप की रानी का सौन्दर्य वर्णन उसके सम्बन्ध में तो यही कहना ठीक है कि कहीं दिन की समता अंधेरी रात कर सकती है। वह ऐसी

सुन्दरी है कि शरीर से फूलों की सुगन्ध आती है। भला सिर की समता में मैं पैरों का क्या वर्णन करूं। (उस सुन्दरी के शरीर से पुष्पों की सुगन्ध जो आती है।) कहने का तात्पर्य यह है कि तोता पद्मावती के सौन्दर्य के आगे नागमती के सौन्दर्य को तुच्छ बताता है तथा उपेक्षित दृष्टि से देखता है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती तो निर्मल स्वर्ग से शोधकर बनाई गई है। उसके पास रूप और सौभाग्य किसी की भी कमी नहीं है। तोते की इस बात को सुनकर रानी रुष्ट हो गई। उसे इतना क्रोध हुआ कि जैसे मानो हृदय में नमक सा लग गया हो। भावार्थ यह है कि हृदय को बड़ी खीझ और झुंझलाहट हुई।

विशेष—जायसी का सौन्दर्य बोध इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। वे उसी को सुन्दर समझते हैं जो मनभावन के मन को भा जाये। वस्तुतः यह स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय जिस को चाहे वही सर्व-सुन्दरी है। संस्कृत की निम्नलिखित उक्ति को इस भाव के समानांतर रखा जा सकता है—

"यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्प धीर ऽपि निरस्तपादपे देशे एरण्डो ऽपि द्रुमायते।"

वर्णन में स्वाभाविक अलंकृति के दर्शन होते हैं।

जो यह सुआ मंदिर महं अहई। कबहुं बात राजा सौं कहई॥
सुनि राजा पुनि होइ बियोगी। छांड़ राज चलै होइ जोगी॥
बिख राखिय नहिं, होइ अंकूरू। सबद न देइ भोर तमचूरू॥
धाय दामिनी बेगि हकारी। ओहि सौंपा हीये रिस भारी॥
देखु, सुआ यह है मंदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला॥
मुख कह आन, पेट बस आना। तेहि औगुन-दस हाट बिकाना॥
पंखि न राखिय होइ कुभाखी। लेइ तहं मारु जहां नहिं साखी॥
जेहि दिन कहं मैं डरति हौं, रैनि छपावौं सूर।
लै चह दीन्ह कवंल कहं, मोकहं होइ मयूर॥ ३॥

शब्दार्थ—मंदिर—महल, अहई—रहेगा कबहुं बात—किसी भी क्षण वह अपनी बात, छांड़ै राज—राज्य को छोड़ देगा, बिख राखिय नहिं—विष को रखना नहीं चाहिए, होइ अंकूरू—अंकुर नहीं बढ़े, तमचूरू—मुर्गा, धाय—दासी, दामिनी—बिजली, हकारी—भेजो ओहि सौंपा—उसे सौंप दिया, मंदचाला—मंद चाल वाला अथवा बुरी आदतों वाला, ताकर पाला—जिसने पाला है, मुख कहं आन—मुख में कुछ और है, पेट बस आना—मन में कुछ और है, तेहिऔगुन—उसी अवगुण से, हाट बिकाना—बाजार में बिका, कुभाखी—कुभक्षी या बुरे वचन बोलने वाला मारु—मार डालो, जहं नहिं साखी—जहां पर कोई साक्षी न हो, लै चह दीन्ह—लेकर देना चाहता है।

सन्दर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने नागमती का नारी सुलभ ईर्ष्या के जागृत होने के कारण उत्पन्न भावना का बड़ा व्यावहारिक किन्तु काव्यात्मक वर्णन किया है। रानी नागमती सोचती है कि—

यदि यह तोता इस राजप्रासाद में रहेगा तो पद्मावती के रूप सौन्दर्य की बात कभी न कभी राजा रत्नसेन से अवश्य स्पष्ट कर देगा? राजा, जैसा

कि उसका स्वभाव है, पद्मावती के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर अवश्य वियोगी हो जायेगा। वह सब कुछ छोड़कर योगी होकर चल देगा और इस प्रकार पद्मावती का ध्यान धरकर वह घर से निकल पड़ेगा। जायसी कहते हैं कि नागमती ने विचार किया कि विष के पौधे को अपने घर में नहीं रखना चाहिए। उसके रखने से विष का अंकुर उगता है। यदि यह तोता रहा तो विष का अंकुर फलवती होगा तथा एक न एक दिन यह मुर्गा बांग देकर राजा के हृदय में विरह भाव जागृत कर देगा। यह सोचकर उसने दामिनी नाम की दासी को या विद्युत के समान तीव्र गति से दौड़ने वाली दासी को बुला भेजा। क्रोध को वश में न कर पाने के कारण, उसने तोते को दासी को यह कहकर सौंप दिया कि वह तोता बड़ा मंदचाल या बुरी आदत का है। यह ऐसा दुष्ट है कि जिसने इसे पाला है, उसी का नहीं हो सका है तो फिर किसी दूसरे का क्या होगा। इसके मुख में कुछ और है तथा मन में कुछ और है। तात्पर्य यह है कि यह तोता मन का काला है। इसके मन में मैल है, देखने में भला प्रतीत होकर भी यह तोता स्पृहणीय नहीं बन सकता है। अपने इसी अवगुन के कारण यह बाजार में बिकने आया था। अन्यथा इसके बिकने का कोई कारण नहीं था। तात्पर्य यह है कि यह तोता पूर्णतः अविश्वसनीय है। 'मुंह में राम बगल में ईंट' के सिद्धान्त को प्रमाणित और चरितार्थ करने वाला यह तोता इधर-उधर बिकता और घूमता फिरता है। यह बुरा बोलने वाला है, अतः इसे नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार हे बांदी इस तोते को तू उस स्थान पर जाकर समाप्त कर दे जहां पर कोई भी इसकी मृत्यु का साक्षी न हो।

जायसी कहते हैं कि नागमती दुखी स्वर में कहती है कि मैं जिस दिन के लिए डरती थी, वही आ पहुंचा। मैं रात्रि बनकर सूरज को अब तक छिपाये रखती थी, यह तोता अब प्रियतम रूपी सूरज को पद्मावती रूपी कमल से मिलाने को आतुर है। नागमती कहती है कि यह तोता तो मुझे नाग अर्थात् सपमती या नागमती के लिए मयूर की भांति शत्रु बन गया है। तात्पर्य यह है कि नागमती ने अपने को नाग और तोते को अपना शत्रु मोर कहा है।

विशेष—इन पंक्तियों में नागमती की हृदयगत भावनाओं को रूपाकार प्रदान किया गया है। वर्णन मे नारी जनोच्यित प्रवृत्तियों को प्राथमिकता प्राप्त हुई है। अलंकारों की दृष्टि से इसमें श्लेष और रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग हुआ है।

धाय सुआ लेइ मारै गई। समुझि गियान हिये मति भई ॥
सुआ सो राजा कर बिसरामी। मारि न जाइ चहै जेहि स्वामी ॥
यह पंडित खंडित बैरागू। दोष ताहि जेहि सूझ न आगू ॥
जो तिरिया के काज न जाना। परै धोख, पाछे पछिताना ॥
नागमती नागिनि-बुधि ताऊ। सुआ मयूर होइ नहिं काऊ ॥
जो न कंत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि कै वाही ? ॥
मकु यह खोज होइ निसि आए। तुरय-रोग हरि-माथे जाए ॥

दुइ सो छपाए ना छपै एक हत्या, एक पाप।
अंतहि करहिं बिनास लेइ, सेइ साखी देइं आप ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—धाय-दासी, सुआनै मारै गई-सुआ या तोते को लेकर मारने गई, गियान-ज्ञान, हिये मनि भई-हृदय में बुद्धि पैदा हो गई, बिसरामी-सुखकारी, चहै जिहि स्वामी-जिसे स्वामी चाहता है, खंडित-जिसकी साधना खण्डित हो जाय सूझ न आगू-भविष्य की या भावी जीवन की बात जिसे सूझे नहीं, तिरिया-स्त्री, मकु-शायद परै धोख-धोखे में पड़ जाता है, नागिन बुद्धि-सर्पिणी के समान विषैली बुद्धि कंत-पति, तुरय रोग-घोड़े का रोग, हरि माथे बन्दर के माथे, मेड़—वे हो।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी धाय द्वारा तोते के मारे जाने वाले प्रसंग को काव्यात्मक ढंग से व्यक्त कर रहे है। वे कहते हैं—

धाय तोते को मारने के निमित्त ले गई या ले जाने के लिए तैयार हुई। इसी क्षण उसके मन में बुद्धि उत्पन्न हुई। उसने सोचा कि यह राजा के लिए बड़ा हितकारी है। जो स्वामी को प्रिय है, उसे मारना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्वामी के प्रिय पक्षी को मारकर कोई भली भांति जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है। यह तोता तो पंडित प्रतीत होता है, प्रतीत ऐसा होता है कि इसके वैराग्य के खंडित हो जाने के कारण ही इसे तोते की योनि में आना पड़ा है। तात्पर्य तोता, तोता रूप में साक्षात् पंडित है। यह तो किसी पूर्वजन्म का कर्म है, जिसके परिणामस्वरूप इसे यह जीवन प्राप्त हुआ है। जायसी कहते है कि वस्तुतः दोषी तो वही होता है जो भविष्य के सम्बन्ध में अज्ञानी बना रहता है या जो भविष्य से बेखबर रहता है जायसी की व्यंजना है कि नागमती ने तो तोते को मारने के लिए कह दिया है, किन्तु राजा जो इसे बहुत चाहता है; इसके मरण को सहन नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में यदि मैं (धाय) मार देती हूँ तो वह राजा मुझ से नाराज होगा तथा मेरा भविष्य विघटित हो जायगा।

जायसी कहते है कि जो नारी के षडयंत्रों और चारित्रिक गुणों को नहीं जानता है वह सदैव धोखा खाता है। इतना ही नहीं बाद में पश्चात्ताप भी नहीं कर सकता है। रानी नागमती की बुद्धि नागिणी के समान विषैली है। भला तोता किसी के लिए शत्रु कैसे बन सकता है। जायसी कहते हैं कि जो स्त्री अपने पति की आज्ञा मे नहीं है, वह पति के द्वारा कैसे विश्वासपात्री बन सकती है। धाय ने सोचा कि शायद रात्रि बीत जाने पर सुबह इसकी खोज हो, और फिर मुझ निर्दोष का जीवन संकट में पड़ जाय। घोड़ा का रोग बंदर के माथे पर कलंक लेकर आवे। तात्पर्य यह है कि रानी का दोष मेरी जीविका पर प्रहार करे और मैं हमेशा-हमेशा के लिए पस्त बनूं। सच ही कहा जाता है कि हत्या और पाप छिपाये नहीं छिपते है तथा अन्त में ये दोनों विनाश करा देते है तथा स्वयं पाप की साक्षी बन जाते हैं।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने लोक व्यवहार को व्यक्त किया है। साथ ही साथ स्त्री चरित्र की चंचलता और अविश्वसनीयता पर भरपूर प्रहार किया है। इसमें चौथी, छठी पंक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। दोहा तो विशिष्ट तथ्य से परिपूर्ण है।

राखा सुआ, धाइ मति साजा । भएउ ओट निति आउ न राजा ।।
रानी उतर मान सौं दीन्हा । पंडित सुआ मजारी लीन्हा ।।

जायसी कहते हैं कि नागमती तुम यह मत सोचो कि अवगुण करके या तोते को मार कर राजमहल में सुख से रह सकोगी। ऐसी कौनसी नारी है जिसका अनिष्ट पति की आज्ञा का उल्लंघन करने से नहीं हुआ है ?

विशेष—जायसी ने इन पक्तियों में पंडित की महिमा का गुणगान किया है। जायसी भारतीय मान्यताओं के विश्वासी और पोषक थे; इस प्रकार के प्रसंग इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

चांद जैस धनि उजियारि अही। भा पिउ-रोस, गहन अस गही।।
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवा जब हारी।।
एतनिक दोस विरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो भूठा।।
ऐसे गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पियारी सोई।।
रानी आइ धाय के पासा। सुआ मुआ सेवर कै आसा।।
परा प्रीति-कचन महं सीसा। बिहरि न मिलै, स्याम पै सीसा।।
कहां सोनार पास जेहि जाऊं। देइ सोहाग करै एक ठाऊं।।

मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिउ मांह।
तेहि रिस हौं परहेली, रूसेउ नागर नाह।। ७ ।।

शब्दार्थ—जैस—जैसी। धनि—स्त्री। उजियरि—उज्ज्वल। अही—थी। पिउ रोस—प्रियतम का क्रोध। गहन अस गही—ग्रहण से ग्रसित सी हो गई। परम सोहाग—परमसौभाग्य। पारी—सकी। दोहाग—दुर्भाग्य। विरचि—करके। भुआ—सेमर का फल जिसमे रुई होती है। परा—पड़ा। कचन—सोना। सीसा—एक काले रग की धातु। रूसेउ—रूठ गये।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों मे जायसी ने बड़े काव्यात्मक ढग से भारतीय परम्परानुमोदित पत्नीत्व भाव की व्याख्या प्रस्तुत की है। नारी का जीवन पुरुष के अभाव में अधूरा है—अपूर्ण है। नागमती का पश्चाताप भी व्यंजित हुआ है। कवि कहता है—

नागमती चांद के समान उज्ज्वल वर्ण थी, किन्तु प्रियतम रत्नसेन के क्रोध करने पर मानो ग्रहण से ग्रसित हो गई। उसका चेहरा उदास हो गया। वह क्षुद्र नारी अपने परम सौभाग्य और सुहाग का महत्व स्थिर न कर सकी। तात्पर्य उसका निर्वाह न कर सकी। रानी नागमती के जीवन में तभी दुर्भाग्य आ गया जब कि वह प्रियसेवा से विमुख हो गई। उसने मन में विचार किया कि इतने छोटे से दोष पर प्रिय रूठ गये। यदि वे वास्तव में हमारे होते तो इस तुच्छ दोष को क्षमा कर सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि जो नारी प्रिय को अपना समर्पण करके भी अपना कहे वह भूल में रहती है या यों कहें कि उसका विश्वास या अधिकार झूठा है। इस प्रकार के गर्व में किसी को भूलना नहीं चाहिए। कवि का कथन है कि नागमती जैसे झूठे अभिमान पर किसी भी नारी को गरमाना नहीं चाहिए। जिस नारी को पति

राजै सुनि वियोग तस माना । जैसे हिय विक्रम पछिताना ।।
वह हीरामन पंडित सूआ । जो बोलै मुख अमृत चूआ ।।
पंडित तुम्ह खंडित निरदोखा । पंडित हुतें परै नहिं धोखा ।।
पंडित केरि जीभ मुख सूधी । पंडित बात न कहै बिरुधी ।।
पंडित सुमति देइ पथ लावा । जो कुपथि तेहि पंडित न भावा ।।
पंडित राता बदन सरेखा जो हत्यार रुहिर सो देखा ।।
को परान घट आनहु मती । की चलि होहु सुआ संग सती ।।
जिनि जानहु कै औगुन मंदिर सोइ सुखराज ।
आयसु मेटें कंत कर काकर भा न अकाज ? ।। ६ ।।

शब्दार्थ—हिय - हृदय । विक्रम पछिताना—राजा विक्रमादित्य पछताया था। (कहानी है कि राजा विक्रम के यहां भी एक हीरामन तोता था। उसने एक दिन राजा को एक फल यह कहकर दिया कि जो इसे खायेगा वह कभी बूढ़ा न होगा। राजा ने वह फल बगीचे में बोने को दिया। जब फल लगा तो माली ने राजा को लाकर दिया। राजा ने रानी को दिया। रानी ने परीक्षा के ए कुत्ते को दे दिया। कुत्ता मर गया। बात यह थी कि बगीचे के उस फल मे सर्प ने विष डाल दिया था। राजा ने क्रोधित होकर तोते को मरवा डाला। कुछ दिन पीछे फिर उसी वृक्ष पर एक फल और लगा जिसे मालिन ने इसलिए खाया कि वह रुठी हुई थी; किन्तु वह मरी नहीं और खाने के पश्चात् जवान हो गई। राजा को पता लगा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ।) अमृत चूआ अमृत टपकता। निरदोखा—निर्दोष। हुतें—से। बिरुधी—बुद्धिहीन। सुमति—सुन्दर मति या बुद्धि। सरेखा—चतुर। मती—नागमती। काकर भा न अकाज—किसका अकाज या अकल्याण नहीं हुआ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने राजा रत्नसेन को तोते के वियोग से दुखी और व्यथित बताया है। उसको राजा विक्रमादित्य के पश्चाताप के समान बताया गया है। कवि कहता है—

राजा तोते का समाचार सुनकर बड़ा व्यथित हुआ। उसको वैसा ही पश्चाताप हुआ जैसा कि राजा विक्रमादित्य को हुआ था। उसने कहा-वह हीरामन (पंडित) तोता जब बोलता था तो उसके मुख से अमृत टपकता था। वह तोता देवता के समान था और पंडित होने के कारण दुख को दूर करने वाला था। इस प्रकार के तोते से कोई धोखा संभव नहीं है। पंडित के मुख में जिह्वा सीधी होती है। अतः वह सत्य का व्याख्यान देती है—झूठ और कुटिल वार्ता वह कभी नहीं करती है। पंडित तो व्यक्ति को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। बुरे मार्ग पर चलने वाले, पंडित को अच्छे नहीं लगते हैं। उस पंडित के मुख पर योग्यता की चमक होती है। तोता पंडित है, इसीलिए इसके मुख पर लाल चोंच है जो योग्यता और विद्वता की प्रतीक है। इसके विपरीत जो हिंसक होते हैं, उनके मुख पर खून का लाल धब्बा दीखता है। रत्नसेन कहता है कि हे नागमती मेरे प्राणों की रक्षा के लिये तुम तोते को लाओ अन्यथा तुम भी तोते के साथ ही अपने प्राणों का विसर्जन कर दो—सती हो जाओ। व्यंजना से राजा कहता है कि मैं और तोता एक मन दो शरीर हैं अतः उसका मरण मेरा मरण है। परिणामतः तुम्हारा सती होना निश्चय है।

जायसी कहते हैं कि नागमती तुम यह मत सोचो कि अवगुण करके या तोते को मार कर राजमहल में सुख से रह सकोगी। ऐसी कौनसी नारी है जिसका अनिष्ट पति की आज्ञा का उल्लंघन करने से नहीं हुआ है ?

विशेष—जायसी ने इन पंक्तियों में पंडित की महिमा का गुणगान किया है। जायसी भारतीय मान्यताओं के विश्वासी और पोषक थे; इस प्रकार के प्रसंग इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

चांद जैस धनि उजियारि अही। भा पिउ-रोस, गहन अस गही।।
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवा जब हारी।।
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा।।
ऐसे गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पियारी सोई।।
रानी आइ धाय के पासा। सुआ मुआ सेवर कै आसा।।
परा प्रीति-कंचन महं सीसा। बिहरि न मिलै, स्याम पै दीसा।।
कहां सोनार पास जेहि जाऊं। देइ सोहाग करै एक ठाऊं।।
मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिउ मांह।
तेहि रिस हौं परहेली, रूसेउ नागर नाह।। ७ ।।

शब्दार्थ—जैस—जैसा। धनि—स्त्री। उजियरि—उज्ज्वल। अही—थी। पिउ रोस—प्रियतम का क्रोध। गहन अस गही—ग्रहण से ग्रसित सी हो गई। परम सोहाग—परमसौभाग्य। पारी—सकी। दोहाग—दुर्भाग्य। विरचि—करके। मुआ—सेमर का फल जिसमे रुई होती है। परा—पड़ा। कचन—सोना। सीसा—एक काले रग की धातु। रूसेउ—रूठ गये।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों मे जायसी ने बड़े काव्यात्मक ढग से भारतीय परम्परानुमोदित पत्नीत्व भाव की व्याख्या प्रस्तुत की है। नारी का जीवन पुरुष के अभाव में अधूरा है—अपूर्ण है। नागमती का पश्चाताप भी व्यंजित हुआ है। कवि कहता है—

नागमती चांद के समान उज्ज्वल वर्णा थी, किन्तु प्रियतम रत्नसेन के क्रोध करने पर मानो ग्रहण से ग्रसित हो गई। उसका चेहरा उदास हो गया। वह क्षुद्र नारी अपने परम सौभाग्य और सुहाग का महत्व स्थिर न कर सकी। तात्पर्य उसका निर्वाह न कर सकी। रानी नागमती के जीवन में जभी दुर्भाग्य आ गया जब कि वह प्रियसेवा से विमुख हो गई। उसने मन में विचार किया कि इतने छोटे से दोष पर प्रिय रूठ गये। यदि वे वास्तव में हमारे होते तो इस तुच्छ दोष को क्षमा कर सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि जो नारी प्रिय को अपना समर्पण करके भी अपना कहे वह भूल में रहती है या यों कहें कि उसका विश्वास या अधिकार झूठा है। इस प्रकार के गर्व में किसी को भूलना नहीं चाहिए। कवि का कथन है कि नागमती जैसे झूठे अभिमान पर किसी भी नारी को नरमाना नहीं चाहिए। जिस नारी को पति का भय रहता है, वास्तव में वही अपने पति की प्यारी होती है या विश्वास पात्री होती है।

जायसी कहते हैं कि नागमती दौड़ी दौड़ी उस धाय के पास आई ठीक वैसे ही जैसे तोता सेमर के भुआ रर फल की आशा से आता है। उसके प्रेम स्वर्ण में सीसा पड़ गया जिससे वह चमकता नहीं है और इसके विपरीत काला



तात्पर्य यह है कि नागमती का प्रेम बड़ा शक्तिशाली और …ा, किन्तु, अपने ही कृत्य से कलंकित हो गया। परिणामतः वह… गई। वह सोचती है कि ऐसा कौन सा स्वर्णकार है जो मेरे …ृंगार प्रियतम को वापस करदे—मेरा विश्वास और प्रेम लौटा दे। आगे की पंक्तियों में सोचती है कि मैंने अपने पति के प्रेम के भरोसे …था, उसी के क्रोध के परिणामस्वरूप मेरी यह उपेक्षा है कि पति …तथा मुझसे मिलना नहीं चाहते हैं।

विशेष—इन पक्तियों में जायसी बताना चाहते हैं कि नारी का उद्धार पति-प्रेम से ही संभव है। उसके अभाव में व्यावहारिक जगत में कोई भी नारी अपना जीवन नहीं चला सकती है। भारतीय पत्नीत्व का यह रूप बड़ा गौरवशाली है। अलंकारों में उपमा, श्लेष और रूपक के प्रयोग दर्शनीय हैं—

उपमा— चाँद जैसे धनि उजियारि अहीं।
मा पिउ रोस, गहन अस गहीं॥

श्लेष— 'सोनार' और 'सोहाग' में श्लेष है।

रूपक— परा प्रीति………………एक ठाऊँ।

उतर धाय तब दीन्ह रिसाई। रिस आपुहि, बुधि औरहि खाई॥
मैं जो कहा रिस जिनि करु बाला। को न गएउ एहि रिस कर घाला?॥
तू रिसभरी न देखेसि आगू। रिस महँ काकर भएउ सोहागू?॥
जेहि रिस तेहि रस जोगै न जाई। बिनु रस हरदि होइ पियराई॥
बिरसि बिरोध रिसहि पै होई। रिस मारै, तेहि मार न कोई॥
जेहि रिस कै मरिए, रस जीजै। सो रस तजि रिस कबहुं न कीजै॥
कंत-सोहाग कि पाइय साधा। पावै सोइ जो ओहि चित बांधा॥
रहै जो पिय के आयसु औ बरतै होइ हीन।
सोइ चांद अस निरमल, जनम न होइ मलीन॥ ८॥

शब्दार्थ—उतर–उत्तर। दीन्ह रिसाई–क्रोध से दिया। रिसआपुहि–क्रोध अपने को, बुधि औरहि–बुद्धि दूसरे को खाती है। रिस जिनिकरु बाला–क्रोध करना ठीक नहीं है। एहि रिस कर घाला– इस रिस में या क्रोध में कौन नष्ट नहीं हुआ। रिसभरी–क्रोध से भरी। देखिसि आगू–आगे नही देखा। काकर–किसके या किसका। पियराई–पीतवर्ण या पीलापन। बिरस–अनबन। रिस मारै–क्रोध को शान्त करने वाला या करना। रस जीजै–प्रेम जीता है। ओहि चित बांधा–उससे चित्त बंधा हुआ है। पिय के आयसु–प्रिय की आज्ञा।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में धाय के कथन को जायसी ने बड़े बुद्धिकौशल के साथ वर्णित किया है। वे कहते हैं कि धाय ने रानी को समझाया और वास्तविकता से परिचित कराया।

जब नागमती धाय के पास पहुँची तब धाय ने क्रोधित होकर उत्तर दिया–हे रानी क्रोध अपने को और बुद्धि दूसरे को खाती है। मैंने तो पहले ही कहा था कि हे बाला, क्रोध न करो–शान्ति से काम लो। इस क्रोध से कोई भी अपना जीवन सुरक्षित नहीं कर सका है। तात्पर्य, क्रोध से सबका विनाश होता है। धाय कहती है कि तुम क्रोध में भरी आगा पीछा बिना सोचे ही आज्ञा दे बैठी, आगे की कोई भी स्थिति तुम्हारे सामने नहीं रही। तुम्हीं

बताओ क्रोध में किस नारी का सौभाग्य सुरक्षित रह सका है। क्रोध में मन-मुटाव और विरोध बढ़ना ही है, कम नहीं होता है। जायसी कहते हैं कि यदि किसी ने क्रोध का शमन कर लिया तो अजेयता प्राप्त हो जाती है तथा उसे कोई भी नहीं परास्त कर सकता है—मार सकता है। भला; जिसके क्रोध से मरते हैं और प्रेम से जीवित रहते हैं, उस प्रेमी के रस को छोड़ कर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। जिसके हृदय में क्रोध है उससे प्रेम की रक्षा का भार संभालना बड़ा कठिन है।

जायसी कहते हैं कि प्रेम के अभाव में चेहरे पर पीलापन आ जाता है। पीलापन आते ही तेज समाप्त हो जाता है। पति प्रेम और सुहाग केवल इच्छा मात्र से नहीं साधा या निबाहा जा सकता है; उसके लिए प्रेम सूत्र का बंधन आवश्यक होता है। जो स्त्री पति की आज्ञाकारिणी होती है, नम्र होती है वही जीवन भर चन्द्रमा जैसी निर्मल और निष्कलंक बनी रहती है—तात्पर्य, वह कभी भी पति के क्रोध का सामना नहीं करती है। इस प्रकार की आज्ञाकारिणी आजीवन पति की सेवा में तन-मन न्योछावर कर देती है, अपना सुख न देख कर पतिसुख ही सदैव चाहती रहती है।

विशेष—जायसी ने इन पंक्तियों में पतिपरायणा नारी की संस्तुति की है तथा बताया है कि नारी का जीवन पति के अभाव में अधूरा रहता है। उसे पूर्ण बनाने के लिए पति सेवा तथा पति-चरणों में प्रीतिभरा समर्पण आवश्यक होता है।

उपमा अलकार का प्रयोग सुन्दर हुआ है—

सोई चांद जस निरमल, जनम न होइ मलीन।

जुआ-हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहं आनी।।
मानु पीय! हौं गरब न कीन्हा। कंत तुम्हार मरम मैं लीन्हा।।
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा।।
जौ तुम्ह देइ नाइ कै गीवा। छांड़हु नहिं बिनु मारे जीवा।।
मिलतहु महं जनु अहौ निनारे। तुम्ह सौं अहै अदेस पियारे!।।
मैं जानेउं तुम्ह मोही माहां। देखौं ताकि तौ हौ सब पाहां।।
का रानी, का चेरी कोई। जा कहं मया करहु भल सोई।।

तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै करै तुम्हार सो खोज।। ६।।

शब्दार्थ—जुआहारि=बाजी हारना। मन रानी=मन में रानी ने समझ लिया। कहं आनी=लाकर दिया। मानु पीय=हे पति मानो। हौं=मैंने। गरब न कीना=गर्व नहीं किया। मरम मैं लीन्हा=मर्म को पहचानने की कोशिश की। बरहौ मासा=बारह महिने। एतनिक औगुन=इतने से अवगुन पर। करहु बिनासा=विनष्ट करना। नाइ कै गीवा=नवाकर गर्दन। निनारे=पृथक्। मया करहु=दया करो। भल सोई=वही अच्छी अर्थात् गुणवती है। आपु जु खोवै=अपने को जो खो देता है या समर्पित कर देता है। सो खोज=वह तुम्हारी खोज करता है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी नागमती की माया तथा

रत्नसेन को जीव के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि नागमती परास्त हो गई, वह कहने लगी—

रानी ने मन में समझ लिया कि मैं प्रेम की खिलाड़िन बाजी हार गई हूँ। तात्पर्य है रानी ने जो छल-कपट करने का प्रयत्न किया था, वह हार गई या विफल बन गया। परिणामतः दासी ने तोते को लाकर दे दिया। रानी ने यह भी बताया कि वह अपने प्रेमाधिक्य के कारण ही यह भूल कर बैठी। उस चतुर नारी ने तुरन्त ही कहा कि मैंने तो तुम्हारे हृदय का मर्म जानने के लिए ही यह सब किया, अन्यथा मुझे क्या आवश्यकता थी। मैं जानना चाहती थी कि तुम्हें मुझसे कितना प्रेम है। जो व्यक्ति तुम्हारी बारहों-महीने सेवा करता रहता है वह भी जरा से अपराध पर दण्डित या समाप्त किया जा सकता है। जो कोई भी तुम्हें अपनी गर्दन झुका देता है, वह भी तुम्हारे यहां बिना मारे या समाप्त हुए बच नहीं पाता है। तुम इस प्रकार मिलकर भी बिछुड़े हुए हो।

जायसी कहते हैं कि रानी ने कहा कि हे देवता तुम्हें मेरा प्रणाम है। मैंने तो तुम्हें अपने ही अन्दर देखा था, किन्तु पता चला कि तुम तो मिलकर भी हम से अलग हो—पृथक् हो। तात्पर्य मेरे ही नहीं मुझ जैसे औरों के भी हो। समासोक्ति के सहारे भावार्थ यह निकलता है कि रत्नसेन आध्यात्मिक बनकर जीव रूप में सभी में व्याप्त है तथा ब्रह्मांश ही है, किन्तु माया मिथ्या है और नागमती उसी का रूप है। नागमती ने कहा कि यहां कौन रानी और कौन दासी है। सच बात तो यह है कि जिस पर प्रिय की कृपा हो जाय वही सुहागिन और प्रिय रानी हैं। प्रिय प्रेम ही अच्छाई-बुराई का मापदण्ड है। कहा भी है—"प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता" हे प्रिय तुम से कोई नहीं जीता है, वररुचि और भोज भी तुम से हार गये। सीधा सिद्धांत है जो पहले अपने को खो दे वही तुम्हें पा सकता है। (अपने को खो देना ही तुम्हें पाना है।)

विशेष—इस छन्द का आध्यात्मिक दृष्टि से भी बड़ा मूल्य है। ईश्वर अलिप्त है, स्वच्छ है—निर्मल है। वह सब में व्याप्त और सब के साथ सम-दृष्टि रखने वाला है। साधक-परमेश्वर के प्रेम पर एकाधिपत्य नहीं पा सकता—यह तो सामान्य प्रेमियों की बात है। वस्तुतः व्यक्ति परमात्मा की कृपा का अधिकारी या आकांक्षी ही हो सकता है। उसका रहस्य अज्ञात है। परमेश्वर की प्राप्ति प्रेम, त्याग और उत्सर्ग से ही सम्भव है। कबीर ने लिखा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइं धरै, तब आवै घर मांहि॥

इसी आधार पर रत्नसेन ब्रह्म है जिस पर नागमती ही क्यों और भी अधिकार रख सकते हैं। उससे एकाधिकार और एकवशता की आकांक्षा व्यर्थ है। इन पंक्तियों में त्रिया चरित्र भी मिलता है। तोते को मिलते ही जिस प्रत्युत्पन्नमति से नागमती ने उत्तर दिया है वह मनोवैज्ञानिक है। नारी मनोविज्ञान का भी यह उदाहरण है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कहा भी है—' स्त्रियां: प्रत्युत्पन्नमतिः"। समासोक्ति की योजना श्लाघनीय है।

राजा-सुआ-संवाद खण्ड

राजैं कहा सत्य कहु सूआ । बिनु सत जस सेंवर कर भूआ ।।
होइ मुख रात सत्य के बाता । जहाँ सत्य तहं धरम संघाता ।।
बांधी सिहिटि अहै सत केरी । लछिमी अहै सत्य कै चेरी ।।
सत्य जहाँ साहस सिधि पावा । औ सतवादी पुरुष कहावा ।।
सत कहं सती संवारै सरा । आगि लाइ चहुं दिसि सत जरा ।।
दुइ जग तरा सत्य जेइ राखा । और पियार दइहि सत भाखा ।।
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनासा । भा मतिहीन धरम करि नासा ।।

तुम्ह सयान औ पंडित, असत न भाखहु काउ ।
सत्य कहहु तुम मोसौं, बहुं काकर अनियाउ ।। १ ।।

शब्दार्थ—बिनुसत–बिना सत्य के । सेंवरकर भुआ–सेंवर का भुआ या फफस रूई । रात–लालवर्ण । धरमसघाता–धर्म का सघात हो जाता है । सिहिटि–सृष्टि । सतकेरी–सत्य के कारण ही या सत्य से ही । लछिमी अहै–लक्ष्मी है । सत्य के चेरी—सत्य की दासी । औ सतवादी—वह सत्यवादी । जेइ राखा—जिसने रक्षा की । सतभाखा—सत्य भाषण । धरम बिनासा—धर्म का विनाश । मतिहीन—बुद्धिहीन । असत न भाखउ काहु—असत्य न कहो या बोलो । काकर—किसका । अनियाउ—अन्याय । जगतरा—संसार से तर गया या उद्धार हो गया ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पक्तियों में कवीश्वर जायसी रत्नसेन की सत्य-प्रियता प्रगट करते हुए तोते से सत्य घटना के प्रकाशनार्थ राजा के मुख से ही कहला रहे हैं । राजा कह रहा है–

हे तोते सत्य कहना कि क्या बात है ? क्योंकि बिना सत्य के मनुष्य का मूल्य सेमल के भुआ के समान व्यर्थ और दिखावटी रह जाता है । सेमल का फूल देखने मे भले ही कितना ही आकर्षक लगता हो, किन्तु उसका सभी कुछ बनावटी और कृत्रिम लगता है । राजा ने कहा कि तोते, सत्य भाषण से ही मुख पर दीप्ति आती है । सत्य के साथ सदैव धर्म साथ देता है । तात्पर्य यह है कि सत्य के सहयोग से ही धर्म का विकास होता है । सम्पूर्ण सृष्टि सत्य है तो उसका आधार भी सत्य है और लक्ष्मी भी इसकी ही सेविका है तात्पर्य सत्य से आबद्ध है ।

जायसी कहते हैं कि जहां सत्य है, वहीं साहस है, धैर्य है और वहीं सिद्धियां निवास करती हैं । सत्यवक्ता ही सत्यवादी महापुरुष कहलाता है । सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही साध्वीनारी चिता प्रज्वलित करती है तथा सत्य के निमित्त ही वह अपने प्राणों का विसर्जन कर देती है, चारों ओर से आग जला कर प्राणों की बलि कर देती है । जो व्यक्ति सत्य का अवलम्ब लेता है उसके दोनों संसार इहलोक और परलोक संवर जाते हैं सिद्ध हो जाते हैं । सत्यवादी मनुष्य देव या परमात्मा का भी प्रिय होता है । जो व्यक्ति सत्य को छोड़ देता है वही धर्म को विनष्ट कर लेता है । धर्म के विनाश से ही वह मतिभ्रष्ट हो जाता है । हे तोते तुम तो चतुर और पंडित हो । किसी से भी असत्य बोलना तुम्हें न तो शोभा ही देता है और न तुम बोलोगे ही । तुम मुझसे सत्य सत्य कहदो कि आखिरकार किसका कसूर है–अपराध है ।

विशेष—इन पंक्तियों में सत्य की प्रतिष्ठा की गई है तथा बताया गया है कि सत्य ही जीवन का आधार है और वही सृष्टि का एकमात्र अवलम्ब है जो इससे विमुख हो जाता है, वह अधार्मिक और मतिभ्रष्ट मानव का जीवन यापन करता है। गीता में भी एक श्लोक है जो इसी से मिलता जुलता है किन्तु, उसमें कई वार्तों का कथन किया गया है। फलतः विशिष्ट है। श्लोक है—

क्रोधात भवतसंमोहः संमोहातस्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रुशांदवुद्धि नाशो; वुद्धिनाशाद प्रणश्यति ॥

सत्य कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ॥
हौं सत लेइ निसरेउं एहि बूते। सिंघलदीप राजघर हूंते॥
पदमावति राजा कै बारी। पदुम-गंध ससि विधि औतारी॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी॥
अहैं जो पदमिनि सिंघल माहां। सुगंध रूप सब तिन्हकै छाहां॥
हीरामन हौं तेहिक परेवा। कंठ फूट करत तेहि सेवा॥
औ पाएउं मानुप कै भाषा। नाहिं त पंखि मूठि भर पांखा॥
जौ लहि जिऔं रात दिन सवंरौं ओहि कर नावं।
मुख राता, तत हरियर दुहूं जगत लेइ जावं॥ २॥

शब्दार्थ—जिउ जाऊ-प्राण जाते हैं। तात्पर्य सत्य कहना होता है। पै मुख असतन भाखौं-पर असत्य कथन इस मुख से नहीं करूंगा। हौं सत-मैं सत्य का अवलम्बन लेकर। निसरेउ एहि बूते-इसी बूते पर निकला हूं। कै बारी-बालिका है; पदुम गंध-पदमगंधा-कमल की सुगन्धि से भरी हुई। औतारी-अवतरित हुई है। व्यंजना है वह साधारण नहीं है। मलयगिरि रानी-उसके अंग-प्रत्यंग चन्दन से सुवासित हैं। दुआदसबानी-बारहबानी सोना या अच्छा स्वर्ण जो द्वादश आदित्य के समान हो। कंठा फूट-गले में कंठी की लकीर प्रगट हुई तात्पर्य सयानपना आया। मानुप के भाषा-मनुष्य की भाषा। मूठि भर पांखा-मुट्ठी भर पख। सवरौं-स्मरण करता हूं।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में बताया गया है कि तोता अपने सत्य का निर्वाह करता हुआ कहता है कि—हे राजा! सत्य कथन से प्राण चले जाने का डर रहता है, किन्तु फिर भी मैं सत्य बात ही कहूँगा—चाहे भले ही प्राणों की बलि देनी पड़े। अतः असत्य नहीं कहूँगा। मैं सत्यावलम्बन लेकर ही तो सिंहलद्वीप से निकला हूँ और इस मार्ग पर आ गया हूँ। सिंहल के राजा की बालिका पद्मावती नाम की है जिसके शरीर से कमल गंध नित्य प्रति आती रहती है। उसे देख कर लगता है मानो ब्रह्मा ने उसके रूप में चन्द्रमा का अवतार ही पृथ्वी पर अवतरित किया है। उसका मुख चांद के समान और शरीरांगों की छवि-गंध मलय पर्वत के चन्दन के समान है। उसका शरीर सुवासित द्वादशावर्णी स्वर्ण के सदृश रूपवान है। सिंहलद्वीप में जो दूसरी पद्मिनी नारियां हैं वे सभी उसकी रूप छवि गंध की छायावत् हैं। मैं हीरामन नामक तोता (पक्षी) उसी रानी का पक्षी हूँ। उसकी सेवा में ही मेरा कंठ फूटा है तात्पर्य है कि बचपन से ही मैंने उसकी सेवा की है, उसकी सेवा में ही मुझे चातुर्य प्राप्त हुआ है। मैं मनुष्य की भाषा बोलता हूँ। यह सब उसी रानी

पद्मावती के गुण धर्मों का परिणाम है कि मैं हीरामन इतना गुणशाली और चतुर तोता बना हूँ। यदि मुझे उस पद्मा का संपर्क न मिलता तो अन्य पक्षियों की भांति एक मुट्ठी भर पंखों का ही ढ़ेर होता। तात्पर्य मेरा महत्व उसके अभाव में नहीं के बराबर है या नहीं ही है।

जायसी कहते हैं कि तोते ने बताया कि जब तक जीवन है तब तक निशा दिवस उसी पद्मावती का नाम लेता रहूँगा तथा मरणोपरांत भी उसी पद्मावती का नाम लेता रहूँगा। अपने मुख को लाल और शरीर हरा करके मैं परलोक गमन के समय भी यही करूंगा।

विशेष—इन पंक्तियों में पद्मा के रूप-सौन्दर्य व गुणों की सांकेतिक व्यंजना की गई है। तोते की रानी पद्मावती के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का ही परिणाम है कि तोता परलोक और इस लोक में भी उसी रानी के साथ काल-यापन करने का अभिलाषी है।

इस छन्द में उपमा व रूपक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। शरीर पर लगे दो मुट्ठी भर पखों की बात एक उर्दू के शायर ने भी कही है। जायसी के भाव से ही मिलता-जुलता भाव निम्नलिखित शेर में देखिये—

"मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत।
एक मुश्त उस्तवां हैं, दो पर लगे हुए हैं॥"

अर्थात् ओ बुलबुल! तुझे मैं जानता हूँ कि तेरी असलियत क्या है? एक मुट्ठी पंख हैं और दो पर लगे हुए हैं।

हीरामन जो कवंल बखाना। सुनि राजा होइ भंवर भुलाना॥
आगे आव, पंखि उजियारा। कहं सो दीप पतंग कै मारा॥
अहा जो कनक सुवासित ठाऊं। कस न होइ हीरामन नाऊं॥
को राजा, कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि समुद्र भा चख किलकिला। कवंलहि चहौं भंवर होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कस निरमली। भा अलि-संग, कि अवहीं कली?॥
औ कहु तहं जहं पदमिनि लोनी। घर घर सब के होइ जो होनी॥
सबै बखान तहां कर कहत सो मोसौं आव।
चहौं दीप वह देखा, सुनत उठा अस चाव॥ ३॥

शब्दार्थ—बखाना=वर्णन किया। भंवर भुलाना=भ्रमर की भांति भूल गया। दीप=दीपक या द्वीप। पतंग=पतंगा, शलभ। पतंग कै मारा=जिसने पतंग बनाकर मारा। कनक सुवासित=सुगंधित सोना (पद्मावती)। उतंगू=उत्तुंग या ऊंचा। समुद्र=पद्मावती के लिए। किलकिला=क्षुब्ध समुद्र का एक रूप विशेष। चख=चक्षु या नेत्र। अलिसंग=भ्रमर का साथ। अवही केली=अभी कलिका है-कुंआरी है। लोनी=लावण्यमयी। अस चाव ऐसी उमग।

सप्रसंग व्याख्या-इन पंक्तियों में जायसी ने राजा रत्नसेन की पद्मावती से मिलने की उत्कंठा व्यक्त की है। उसके मन की भावनाएं किस प्रकार स्फुरित हो उठी हैं, यह इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। कवि कहता है—

हीरामन तोते ने ज्योंही पद्मावती कमल का वर्णन किया त्योंही राजा रत्नसेन उस पर मोहित होकर भ्रमर या पागल के समान आचरण करने लगे। तात्पर्य है कि भौंरा जैसे पुष्प की गंध से उसकी ओर आकर्षित हो जाता है वैसे ही रत्नसेन पद्मावती की पद्म गंध शरीरयष्टि की ओर लालायित होकर प्राप्त करने का अभिलाषी बन गया। राजा ने कहा कि हे उज्ज्वल पंख वाले पक्षी! मेरे सामने आओ! तुम उस द्वीप रूपी दीपक का वर्णन करते हो जिसके निमित्त मेरा हृदय शलभ के समान व्यथित हो गया है, तथा उसके ऊपर जलने-मरने को भी तत्पर हो गया है। हे हीरामन तोते तू उस स्वर्ण-सुगंधमय स्थान पर रहा है फिर कोई कारण नहीं कि तेरा यह नाम (हीरा-मन तोता) न हो। कृपा करके तू बता कि वहां का राजा कौन है। वहां का द्वीप कितना ऊंचा है जिसके श्रवण मात्र से मेरा मन पतंगे की भांति वहां पर मंडराने के लिए लालायित हो रहा है।

जायसी कहते हैं कि सौन्दर्य की आगार पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की संक्षिप्त चर्चा सुन कर ही राजा रत्नसेन के नेत्र किलकिला पक्षी बन गये या उसके नेत्र क्षुब्ध होकर बेचैन हो गये हैं। वह चाहता है कि भ्रमर बन कर उस कमल गंधा पद्मावती के ऊपर मंडराता रहे। तात्पर्य उसके संसर्ग में रहूँ। हीरामन तोते बतला तो सही कि वह सुगंधि से ओत-प्रोत नारी पद्मावती कितनी निर्मल है और कहां है? वह किसी भ्रमर-प्रेमी से अभी तक मिली है या नहीं। तात्पर्य वह कुंआरी है य अविकसित कलिका है। इतना ही नहीं सिंहलद्वीप की ओर भी पद्मिनी नारियों का वर्णन कर। बता शीघ्रता से कि उनके घर-घर में कैसा रहन-सहन है। तात्पर्य अन्य नारियां कितनी सुन्दर हैं और वे अपने अपने घरों में कैसे रहती हैं।

जायसी कहते हैं कि रत्नसेन, तोते के मुख से थोड़ा सा संकेत पाकर ही बहुत विचलित से हो गये और हीरामन तोते से कहने लगे कि हे तोते! बताओ वह कैसा स्थान है? तथा वहां की सभी नारियां और अन्य स्थल कैसे हैं। मैं उस द्वीप को देखने का अभिलाषी हूँ। तेरे थोड़े से वर्णन से मेरी विशेष इच्छा हो रही है।

विशेष—पंक्तियों में रत्नसेन का जो व्यक्तित्व उभरता है वह रूप-लोभी और नारी सौन्दर्य के भोक्ता को स्पष्ट करने वाला व्यक्तित्व है। रत्न-सेन पद्मावत का एक ऐसा पात्र है जो रूप-लोभी तन लोभी और सामान्य भोगी का रूप लेकर आता है। आध्यात्मिक पक्ष में इसको अर्थ करें तो स्पष्ट होगा कि रहस्यवाद की पहली सीढ़ी 'जिज्ञासा' इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है। अलंकार रूपक है।

का राजा हौं बरनौं तासू। सिंघलदीप आहि कैलासू॥
जो गा तहाँ भुलाना सोई। गा जुग बीति न बहुरा कोई॥
घर घर पदमिनि छतिसौ जाती। सदा बसंत दिवस औ राती॥
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी॥
गंध्रबसेन तहाँ बड़ राजा। अछरिन्ह महँ इंद्रासन साजा॥
सो पदमावति तेहि कर बारी। जो सब दीप माँह उजियारी॥
चहूं खंड के बर जो ओनाहीं। गरबहि राजा बोलै नाहीं॥

उग्रत सूर जस देखिय चांद छपै तेहि धूप ।
ऐसे सबै जाहि छपि पद्मावति के रूप ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—आहि है । जो गा=जो भी गया । भुलाना सोई=वहां की छटा देखकर सब कुछ भूल गया । बहुरा=लौटा। छतिसौ-जाती=छत्तीस जातियां । बड़ राजा=सौभाग्यशाली राजा । ओनाहीं=झुकते हैं । उग्रत= उगता है । सूर=सूर्य । मांह उजियारा=द्वीप में प्रकाश रहता है ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पक्तियों में कविवर जायसी सिंहलद्वीप और पद्मावती के दिव्य रूप का वर्णन तोते के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं। कवि कहता है—

तोते ने कहा कि हे राजा ! मैं वहां का (सिंहलद्वीप) वर्णन किस प्रकार करूं । सिंहलद्वीप स्वर्गोपम है । उसकी सुन्दरता अद्वितीय है । जो कोई व्यक्ति वहां जाता है यहां की सुधि-बुधि भूल जाता है । व्यंजना यह है कि सिंहलद्वीप में या परलोक में पद्मिनी रूपी ईश्वर रहता है । जो कोई भी वहां जाता है वह इस ससार को भूल जाता है । कवि का कथन है कि जो भी वहां गया है वह युगों के अनन्तर भी अभी तक नहीं लौटा है । उस स्थान पर छत्तीसो जातियां या सभी जातियां रहती हैं । इन सभी जातियों की स्त्रियां पद्मिनी हैं—तात्पर्य सर्वांगसुन्दरी हैं । वहां निशा-दिवस बसन्त की शोभा (छाया) रहती है । तात्पर्य वहां की युवतियां बसन्त का आनन्द लेकर जीवित रहती हैं । पुष्प वाटिका में जितने प्रकार के फूल संभव हो सकते हैं, सभी वर्ण-रूप-गंध के साथ वहां विद्यमान रहते हैं । साथ ही उतने ही वर्ण की वहां पद्मिनी नारियां हैं । सिंहलद्वीप का महान महीप गंधर्वसेन है । उसका राज-स्वरूप ब्रह्मा निर्मित अप्सराओं के बीच में इन्द्र के समान है । सुन्दरी पद्मा-वती उसी राजा की कन्या है । सम्पूर्ण सिंहलद्वीप की प्रकाश स्वरूपा वह पद्मावती वहीं रहती है और सभी आस-पास के वातावरण को प्रभावित और प्रकाशित करती रहती है ।

जायसी कहते हैं कि तोते ने राजा रत्नसेन को बताया कि उस प्रकाश-किरण पद्मावती के निमित्त चारों स्थानों के राजा लोग आ-आकर विनती करते हैं, किन्तु उसका पिता अभिमान और गर्व पूर्वक किसी से बात तक नहीं करता है । कवि कहता है कि सब देशों के राजकुमार पद्मावती के रूप आलोक के सामने इस प्रकार प्रभाहीन हो जाते हैं जैसे सूर्योदय को देखते ही उसकी धूप के कारण चांद की प्रभा क्षीण पड़ जाती हैं; अथवा कान्तिहीन हो जाती है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पद्मावती का रूप-सौन्दर्य, उदित होते सूर्य के प्रकाश की भांति महत्तम है और सभी परियां पद्मावती के सौंदर्य के समक्ष तुच्छ हैं ।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का दिव्य और अनुपम वर्णन प्रस्तुत किया है । वर्णन पद्धति विशिष्ट और अद्वि-तीय है । सिंहलद्वीप और पद्मावती के इस वर्णन से अलौकिक व्यंजना करने का अवसर भी जायसी को मिल गया है ।

सुनि रवि-नावं रतन भा राता । पंडित फेरि उहै कहु बाता ॥
तैं सुरंग मूरति वह कही । चित महं लागि चित्र होइ रही ॥

जनु होइ सुरुज आइ मन बसी । सब घट पूरि हिये परगसी ।।
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया । जल बिनु मीन, रकत बिनु काया ।।
किरिन करा भा प्रेम-अंकूरू । जौं ससि सरग मिलौं होइ सुरू ।।
सहसौ करा रूप मन भूला । जहं जहं दीठ कवल जनु फूला ।।
तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि ।
पेम छाँड़ि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि ।। ५ ।।

शब्दार्थ—रवि=सूर्य । रतन=रत्नसेन । भा राता=लाल वर्ण का हो गया । फेरि=दुबारा । उहै कहु बाता=उसी बात को कहो । सुरंग=सुन्दर रंगों वाली । महं लागि=लग कर । चित्र होइ रही=चित्र लिखी सी हो गई । आइ मन बसी=मन में आकर बस गई है । सब घट पूरि=सम्पूर्ण हृदय को पूर कर । हिये परगसी=हृदय को प्रकाशित कर लिया है । किरनि-करा=किरण और कलायें । प्रेम अकुंर=प्रेम का अंकुर । सहसौं=सहस्त्रों किरणों । जहं-जहं दीठ=जहां तक दृष्टि जाती है । पेम छांडि = प्रेम को छोड़कर । नहि लोन किछु=कुछ भी लावण्यमय नहीं है ।

ससंदर्भ व्याख्या– इन पंक्तियों में कवि जायसी रत्नसेन के मानस प्रेम की व्यापकता का चित्रण कर रहे हैं । सूर्य और चन्द्रमा के प्रतीकों के माध्यम से यह प्रेम भावना व्यक्त की गई है । उन्होंने कहा है—

सूर्य के समान पद्मावती का नाम सुनकर रत्नसेन प्रसन्न हो गया । उसने तोते से उसी प्रफुल्ल मुद्रा में कहा—हे तोते ! तुम फिर से पद्मावती के रूप सौन्दर्य की चर्चा करो । तुम ने जिस परम सुन्दरी का वर्णन किया है, वह चित्र बन कर मेरे हृदय में समा गई है । उसकी मूर्ति हृदय में प्रविष्ट हो गई है । वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर हृदय को प्रकाशित कर रही है । इस प्रकार मेरा और उसका हृदय सम्बन्ध हो गया है—या गूढ़ सम्बन्ध हो गया है । मैं सूर्य हूंगा और वह मेरी छाया चांद । क्या जल के बिना मछली अथवा रक्त के बिना शरीर जीवित रह सकता है ?

जायसी कहते हैं कि वह शशि जिसकी कला की किरणें मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर प्रकट कर चुकी हैं, यदि आकाश में है तो मैं सूर्य बन कर उससे मिलूंगा । उसके रूप की शत-शत कलाओं पर मेरा मन भूल गया है । मैं अब जहां-जहां देखता हूँ वही कमल के रूप में विकसित दीख पड़ती है । वह कमल की गंध वाली पद्मावती जहां पर है, वहीं मेरा प्राण रूपी भ्रमर है । चन्द्रमा अब राहु के ऋण में बंध-गया है । मैं तीन लोक और १४ भुवन अर्थात् सारी सृष्टि को देख रहा हूँ परन्तु जब विचारपूर्वक देखता हूँ तो प्रेम के अतिरिक्त और कोई सलोनी या सुन्दर वस्तु प्रतीत नहीं होती है ।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने चांद और सूर्य के रूप में प्रेम सम्बन्ध जोड़ा है । वे यह बताना चाहते हैं कि प्रेम एक प्रकार का ऋण है जो देने पर ही मिलता है । हिन्दी के अमर कवि 'प्रसाद' ने भी यही बात कही है—

"पागल वह मिलता है कब,
उसको तो देते ही हैं सब,
फिर क्यों तू उठता है पुकार,
मुझको न मिला रे कभी प्यार ।"

इस पद में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया

पेम सुनत मन भूल न राजा । कठिन पेम, सिर देइ तौ छाजा ।।
पेम-फांद जो परा न छूटा । जीउ दीन्ह पै फांद न टूटा ।।
गिरगिट छंद धरै दुख तेता । खन खन पीत, रात, खन सेता ।।
जान॰ पुछार जो भा बनवासी । रोंव रोंव परे फंद नगवासी ।।
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फांदू । उड़ि न सकै, अरुझा भा बांदू ।।
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई । ओही रोस नागन्ह धै खाई ।।
पडुक, सुआ, कक वह चीन्हा । जेहिं गिउ परा चाहि जिउ दीन्हा ।।
तीतिर-गिउ जो फांद है, निति पुकारै दोख ।
सो कित हंकारि फांद गिउ (मेलै) कित मारे होइ मोख ।।६।।

शब्दार्थ—पेम—प्रेम । मन भूलु न राजा—मन को भरमाओ मत । सिर देइ तौ छाजा—सिर देकर ही प्राप्त हो सकता है या शोभा पा सकता है । फांद—फंदा । जीउ दीन्ह—जीवन दे दिया । फांद न टूटा—बंधन न छूटा । छंद—रूप । तेता—जितने । खिन-खिन—क्षण-क्षण पर । सेता—श्वेत । पुछारी—मयूर । नागवासी—नाग के फंदे (संस्कृत शब्द नागपाशिक ।) । पांखन्ह—पखों से । मुयो-मुयों—मरा-मरा, मोर की बोली । अहिनिसि—दिन रात । ओहि—उसी । रोस—क्रोध । पांडुक—पण्डुक पक्षी । चोन्हा—चिन्ह, निशान । गिय—ग्रीवा या गर्दन । सकति—शक्ति । हंकारि—ललकार करके । कित—क्यों । मारै—मारने पर । मोख—मुक्ति ।

ससंदर्भ व्याख्या—कविवर जायसी इन पंक्तियों में हीरामन तोते के मुख से प्रेम की चरम स्थिति का चित्रण करा रहे हैं । प्रेम का यह वर्णन वीभत्स रंग और रस में भरा हुआ है जिसे भारतीय प्रेम के अनुकूल नहीं कहा जा सकता है । जायसी कहते हैं—

तोते ने कहा कि हे राजा, प्रेम का नाम सुनते ही भूल मत जाओ या भरमाओ मत । प्रेम का मार्ग बड़ा कठिन है । जो सिर देता है उसी को यह शोभा देता है । तात्पर्य यह है कि प्रेम का व्यापार बड़ा महगा पड़ता है । जो कठिन साधना करने के लिए लालायित रहता है वही प्रेम के मार्ग में सफलता दिला सकता है । प्रेम के फंदे में फंसने के उपरान्त कोई भी उससे मुक्त नहीं हो सकता है । जीवन देकर भी यह प्रेम का फंदा टूट नहीं पाता है । इस बात की पुष्टि के निमित्त जायसी अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं । गिरगिट प्रेम के रूप भी रीझा होगा तभी तो वह उसका दुख लिए हुए पल पल में लाल, पीला और श्वेत रंग बदलता है । प्रेम के कारण ही मयूर वन-वासी हो गया है तथा उसके शरीर की लकीरें, प्रेम के नागपाश के फंदे हैं—वह प्रेम की चोट को प्रकट करते हैं । विवश होकर मोर अधिक उड़ नहीं सकता है । वह पंखों से लौट-लौटकर फन्दे में ही रह जाता है, उड़ना उसके लिए बन्धन हो जाता है वह उलझ उलझकर वहीं रह जाता है । वह 'मुयो-मुयो, की बोली बोलता है मानो दर्द से रातदिन चिल्लाता है कि अब मरा अब मरा । वह उसके दर्द में ऐसा पागल हो जाता है कि सांप को पकड़ कर खाने लगता है । पंडुक और तोते के गले में भी उसी प्रेम के फंदे का ही निशान

है जिसके गले में यह प्रेम का फंदा पड़ा वही जान देना चाहता है। तीतर की ग्रीवा में भी वही फंदा पड़ा हुआ है, इसी दोष से उचक-उचक करके वह नित्य पुकारता रहता है। (व्यंजना है—तीतर की बोली में हिचकी सी आती है-मानो उसी दर्द से कराहकर वह ऐसे बोलता हो)।

हीरामन तोता राजासे कहता हैकि हे राजा! क्या तुझ में इतनी शक्ति है कि तू प्रेम के फंदे को अपनी गरदन में डाल ले तथा उस फदे का दुख सहन कर ले। तात्पर्य यह है कि प्रेम का बन्धन इतना जटिल होता है कि उसके कष्ट को सहन करके प्रेम भाव को सुरक्षित बनाये रखना कठिन कार्य है।

विशेष—प्रेम मार्ग की कठिन साधना की व्यंजना इन पंक्तियों में की गई है। इसका कारण है कि सूफी मार्ग में प्रेम को कठिन बताया है। इसी आधार पर हीरामन तोते के माध्यम से जायसी ने प्रेम-पंथ की करालता का वर्णन किया है। अलकारों की दृष्टि से हेतूत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग इन पक्तियों में हुआ है।

राजै लीन्ह ऊवि कै सांसा। ऐस बोल जिनि बोलु निरासा॥
भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग जरा पेम जेइ खेला॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा। जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥
जो नहिं सीस पेम-पय लावा। सो प्रिथिमी महं काहे क आवा?॥
अब मैं पंथ पेम सिर मेला। पांव न ठेलु, राखु कै चेला॥
पेम-वार सो कहै जो देखा। जो न देख का जान विसेखा?॥
तौ लगि दुख पीतम नहिं भेंटा। मिलै, तौ जाइ जनम-दुख मेटा॥
जस अनूप, तू वरनेसि, नखसिख वरनु सिंगार।
है मोहि आस मिलै कै, जौं मेरवै करतार॥ ७॥

शब्दार्थ—ऊवि—ऊंची कै सासा—करके सांस, ऐस बोल—इस प्रकार के वचन, जिनि बोलु निरासा—निराशापूर्ण वचन मत बोलो, भलेहि—भले ही, दुहेला—कठिन खेल, दुइ जग तरा—दोनों संसारों से तर जाता है-इहिलोक और परलोक। पेम मधु राखा—प्रेम के मधु की रक्षा, प्रियमी—पृथ्वी, कोहक आवा—क्यों कर आता है, मेला—लगाया, पांव न ठेलु—पांव को मत डिगाओ, चेला—शिष्य, वार—द्वार, विसेखा—महत्व, तौ लगि दुख—जब तक दुख रहता है, पीतम नहि भेंटा—प्रियतम से भेंट नहीं होती है, मिलै तो—मिलने पर, जनम—दुख मेटा—जन्म भर अथवा जीवन भर का दुख मिट जाता है, जस-अनूप—जैसा अनुपम, वरनेसि—वर्णन करता है, वरनु सिंगार—शृंगार का वर्णन कर, है मोहि आस—मुझे आशा है, मिलै कै-मिल सकती है, जौं मेरवै=जो मिलायेगा, करतार=सृष्टिकर्ता या ईश्वर। यहां हीरामन तोता 'करतार' का रूप लेकर आया है।

सप्रसंग व्याख्या—कवि जायसी इन पंक्तियों में रत्नसेन के मुख से प्रेम की महत्ता व्यजित कर रहे हैं। जायसी कहते हैं कि—

राजा ने लम्बी सांस लेकर कहा कि हे तोते! इस प्रकार के निराशा-जनक बोल न बोलो। प्रेम भले ही एक कठिन क्रीड़ा है, किन्तु प्रेम करने वाला प्रेमी इस लोक और दूसरे लोक परलोक से भी तर जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम कठिन-साधना है, किन्तु जो कोई भी इस कठिन साधना को

पार कर लेता है, वह दोनों संसारों से पार उतर जाता है। दुख के भीतर जो प्रेममधु सुरक्षित है उसे वही चख सकता है जो कष्ट और मृत्यु दोनों की पीड़ा सहन कर लेता है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति मृत्यु का भय नहीं करता है वही प्रेम के अमृत को चख पाता है। जायसी ने कहा कि जो कोई व्यक्ति प्रेम मार्ग में अपना सिर नहीं दे सकता है तथा कठिन साधना नहीं कर सकता वह पृथ्वी पर क्योंकर आता है। व्यंजना यह है कि कठिन व्रत करने वाले को ही पृथ्वी पर आना चाहिए। प्रेम का मार्ग सरल न होकर कठिन है। राजा कहता है कि मैंने प्रेम–मार्ग में अपना सिर लगा दिया है अतः तुम अब मुझे विचलित मत करो। तुम तो मुझे अपना शिष्य बनालो। प्रेम का द्वार या दरवाजा वही बता सकता है जो स्वयं उसे जानता है, या देख चुका होता है। जो आदमी उसे जानता नहीं वह प्रेम की विशेषता क्या बता सकता है ? तात्पर्य यह है कि बिना प्रेम का मर्म जाने सफलता प्राप्त करना कठिन काम है। जायसी कहते हैं कि दुख तभी तक रहता है जब तक प्रियतम से भेंट नहीं हो जाती है। जब मिलन हो जाता है तब जिन्दगी भर का दुख मिट जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रिय मिलन के पश्चात् जीवन का सारा दुख मिट जाता है।

हे तोते ! तू ने जिस अद्वितीय सुन्दरी पद्मावती को देखा है, उसके नख-शिख और शृंगार का वर्णन कर। मैं उससे मिलने का उत्कट अभिलाषी हू, किन्तु इस कार्य में मैं ईश्वर का कृपाकांक्षी हूँ।

विशेष—इन पंक्तियों में प्रेम मार्ग की कठिनता बतलाई गई है। प्रेम साधनात्मक है। साधना करने के पश्चात् ही प्रेम मार्ग में सफलता मिलती है। तुलसी की यह पंक्ति "जाकर जाको सत्य सनेहू। ते ताहि मिलै न कछु सन्देहू" तथा कबीर की यह साखी देखिए जो प्रेम मार्ग की कठिनता और हृदय का पावनता का परिचय देती है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस उतारें भुइं धरे तब पैठे घर मांहि॥

नख शिख–खण्ड

का सिंगार ओहि वरनौं, राजा। ओहिक सिंगार ओही पै छाजा॥
प्रथम सीस कस्तूरी केसा। बलि बासुकि, का और नरेसा॥
भौंर केस, वह मालति रानी। बिसहर लुरे लेहिं अरघानी॥
बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
कोंवर कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअंग बैसारे॥
बेधे जनौं मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा॥
घुंघुरवार अलकैं विषभरी। सकरें पेम चहैं गिउ परी॥
अस फदवार केस वै परा सीस गिउ फांद।
अस्टौ कुरी नाग सब अरुझ केस के बांद॥ १॥

शब्दार्थ—का सिगार=क्या शृंगार। ओहि=उसका। वरनौं राजा=राजा मैं वर्णन करूं। छाजा=शोभायमान। बलि=बलिदान या निछावर। वासुकि=शेषनाग। लुरहिं=लहर रहे हैं। अरघानी=आघ्राण, सुगंध।

लेंहि=लेते है। वेनी छोरि=वेणी को छोड़कर। झार जौं बारा=वालों या केशों को झारती है। सरग-पतार=स्वर्ग और पाताल। कोंवल=कोमल। कुटिल=टेढ़े। नग कारे=काले नाग के समान। भुअंग बिसारे=भुजंग के समान विषैले। वेधे=आविद्ध। घुंघुरवारि=घूंघर वाले। बिखभरीं=विष से भरी हुई हैं। सिंकरी=शृंखलाएं। पेम=प्रेम। चहहिं गियँ परी=ग्रीवा में पड़ी रहना चाहती हैं। अस फंदवारे=ऐसे फंदे वाले। अष्टकुरी=आठकुल वाले नाग (वासुकि, तसक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म. शंख—चूड़ व धनजय।) ओरगाने=प्रधान या प्रमुख। बांद=बन्दी।

सप्रसंग व्याख्या:—नख शिख-खण्ड की इन पंक्तियों में कवि जायसी रानी पद्मावती के केश-सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। तोता कहता है—

हे राजा! मैं पद्मावती के शृंगार का क्या वर्णन करूं। उसका शृंगार उसी को शोभित होता है। तात्पय यह है कि उसके केशों का उपमान वे स्वयं है। इतने पर भी जायसी कहते हैं कि पहले उसके शीश पर उसके केश कस्तूरी सदृश काले और सुगंधित हैं, उन पर तो शेषनाग ही न्यौछावर हैं। जब शेषनाग ही उन पर न्यौछावर हैं तो कौन राजा बराबरी करके उसकी कामना कर सकता है। जायसी कहते हैं कि पद्मावती मानो मालती का फूल है और उस पर मंडराने वाले केश भ्रमर हैं। ये केश सर्पो की तरह लहराकर सुगंध ले रहे हैं। पद्मावती जब अपने जूड़े को खोलकर बालों को झारने लगती है तो उनकी श्यामता के कारण स्वर्ग और पाताल में सवत्र अंधकार छाया रहता है। उसके कोमल, टेढ़े, काले लहरीले बाल इस प्रकार लहराते हैं, जैसे विष वाले सर्प हों। उस पद्मावती के शीश पर चढ़े हुए चारों ओर के बाल इस प्रकार लगते हैं मानो मलयगिरि पर वास के लिए सर्प लिपटे हों। उस पद्मावती की घुंघराली अलकावलि मानो प्रेम की शृंखलाएं हैं जो किसी के गले से लिपट कर जकड़ जाना चाहती हैं।

जायसी कहते हैं कि हे राजा! पद्मावती के वे केश ऐसा फन्दा डाल देने वाले हैं, कि दूर होने पर भी राजा रत्नसेन के सिर और गर्दन में उन केशों का फन्दा पड़ा हुआ है। आठों कुलों के सर्पराज या सर्पाधिपति आकर उनके बंधन में बंध गये हैं। तात्पर्य यह है कि पद्मावती के उन केशों में मूर्च्छित करने वाली विषभरी शक्ति अष्टकुल के महानागों से भी अधिक है।

विशेष:—जायसी ने इन पंक्तियों में अनेक अलंकारों के योग से केशों का वर्णन किया है। यह वर्णन बड़ा मार्मिक है। नख-शिख की रूढ़-परम्परा को छोड़कर इस काव्य में शिख-नख वर्णन की फारसी कवियों की सी पद्धति अपनाई गई है। यह सामान्यतः जायसी की मौलिकता ही कही जा सकती है।

वरनौं मांग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि महं कीआ।
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महं दामिनि परगसी॥
सुरुज-किरिन जनु गगन बिसेखी। जमुना मांह सुरसती देखी॥
खांड़ै धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ वेनी पर धरा॥
करवत तपा लेंहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू॥
कनक दुवादस बानि होइ चह सोहाग वह मांग।
सेवा करहिं नखत सब उवै गगन जस गांग॥ २॥

शब्दार्थः—उपराहीं=ऊपर। सेंदर=सिंदूर। चढ़ा तेहि नाहीं=उस मांग पर अभी सिंदूर नहीं चढ़ा है, तात्पर्य है वह अभी अविवाहित है। अस=ऐसी। जा नहु दिया=दीपक के समान। कंचन रेख=स्वर्ण रेखा के समान। जनु=मानो। दामिनी परगसी=विद्युत प्रकट होगई हो। गगन बिसेखी=आकाश में विशिष्ट किरण। सरसुती=सरस्वती। मांझ=मध्य में। रुहिर=रुधिर। करवत=त्रिवेणी संगम और काशी में लोग अपने को आरे से कटवाते थे, इसी को काशी करवट या करवत कहते हैं। बेनी=वेणी या त्रिवेणी। तेहि पर पूरि धरै जौं मोती=उस पर ऊपर से मोतियों की लड़ी विद्यमान है। गांग कै सोती=गंगा की धारा। तपा=तपस्वी। चूरू=चूर्ण या धारा। मकु=शायद या संभवतः। चह सोहाग=सौभाग्यकांक्षिणी। तरईं=तारागण। उअ=उदित होता। गगन निमि गांग=आकाश गंगा के नक्षत्र।

ससदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में जायसी तोते के माध्यम से पद्मावती की मांग का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते है —

तोता कह रहा है कि हे राजा! अब मैं पद्मावती के सिर के ऊपर की सुन्दर मांग का वर्णन कर रहा हूँ जिस मांग के ऊपर अभी सिंदूर नहीं चढ़ा है। तात्पर्य यह है कि पद्मावती अभी कुंआरी है, इस कारण उसकी मांग अभी सूनी है, सिन्दूर से हीन है। बिना सिन्दूर के वह ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे दीपक की ज्योति हो अथवा रात्रि के घने अंधकार में सफेद पगडंडी। या ऐसा प्रतीत होता है कि कसौटी पर कसी हुई सोने की रेखा हो अथवा बादलों के मध्य दीप्त विद्युत रेखा हो या नील गगन में सूर्य की कोई विशिष्ट या असामान्य किरण चमक रही हो या श्यामवर्ण की यमुना की धारा के मध्य श्वेत सरस्वती की पतली फूटती धारा हो। (तात्पर्य है कि उसका सौन्दर्य अप्रतिम है।) इसके लिए जायसी का यह उपमान बड़ा वीभत्स है। मांग ऐसी प्रतीत होती है मानो तलवार की धार पर रक्त की धारा हो या त्रिवेणी सगम पर जैसे आरा रखा गया हो। जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने अपनी मांग पर मोतियों की लड़ी पूर रखी है। वह पूरी हुई मोतियों की लड़ी ऐसी प्रतीत होती है मानो यमुना में गंगा की धारा निकलती है।

कवि का कथन है कि तपी इसलिए आरे से अपने को चिरवाते हैं कि शायद वे अपने रक्त से उस दिव्य या पवित्र मांग में सिंदूर लगा सकें। तात्पर्य यह है कि पद्मावती के सिंदूर भरने के लिए बलिदान की एवं तप की आवश्यकता है। हे राजा! पद्मावती की स्वर्णमयी और दीप्तमान मांग सौभाग्य की आकांक्षा करती हैं। तात्पर्य, वह मांग अब प्रियतम की आकांक्षिणी है। वह मांग इतनी महान है कि आकाश में नक्षत्र और तारागण सभी उसकी सेवा करने में लगे रहते है।

विशेषः—१. इन पंक्तियों में कवि ने मांग का आलंकारिक वर्णन किया है। मांग के सौन्दर्य-वर्णन में कवि ने अनेक अप्रस्तुतों की योजना की है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा का सुन्दर सम्मिलन दीख पड़ता है। इन अप्रस्तुतों की योजना में संदेह अलंकार का विनियोजन भी सहज ही होगया है।

२. कवि जायसी ने 'सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं" तथा 'बिनु सेंदुर अस जानहु दिया' पंक्तियों में जो व्यंजना की गई है, वह मार्मिक है तथा इस कथन से राजा के मन की उत्सुकता को और भी बढ़ावा दिया गया है।

कहौं लिलार दुइज कै जोती । दुइजहि जोति कहां जग ओती ।।
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई । देखि लिलार सोउ छपि जाई ।।
का सरिवरि तेहि देउं मयंकू । चांद कलंकी, वह निकलंकू ।।
औ चांदहि पुनि राहु गरासा । वह बिनु राहु सदा परगासा ।।
तेहि लिलार पर तिलक बईठा । दुइज-पाट जानहु घुव दीठा ।।
कनक-पाट जनु बैठा राजा । सबौ सिंगार अत्र लेइ साजा ।।
ओहि आगे थिर रहा न कोऊ । दहुँ का कहं अस जुरै संजोगू ।।

खरग, धनुक, चक बान दुइ, जग-मारन तिन्ह नावं ।
सुनि कै परा मरुछि कै (राजा) मोकह हए कुठावं ।। ३ ।।

शब्दार्थ—लिलार—ललाट । दुइज कै जोती—द्वितीया की ज्योति । कहां जग ओती—संसार में उतनी ज्योति कहां है । सहस किरिन—सहस्त्रों किरणें । दिपाई—दीप्त होता है । छपि जाई—छिप जाता है । सखरि—समानता । चांद कलंकी—चन्द्रमा तो कलंकपूर्ण है । निकलंकू—निष्कलंक । राहु गरासा—राहु से ग्रसित । परगासा—प्रकाशित । तिलक बईठा—तिलक बैठा हुआ है । दुइजपाट—द्वितीया के पाट पर । धुव दीठा-ध्रुव दिखाई देना है । अत्र लेइ साजा-यहां पर सज्जित है । ओहि-उसके । थिर रहा न कोऊ-स्थिर नहीं रहता है । दहुं का कह अस—न मालूम किसके निमित्त । खरग—खड्ग । मोकह हए कुठाव—मेरे लिए तो वे सभी एक स्थान पर एकत्र होगये हैं ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में पद्मावती के ललाट का वर्णन है । कवि जायसी तोते के मुख से उसका वर्णन कराते हुए कह रहे हैं—

तोता कहता है कि हे राजा !अब मैं उस पद्मावती के ललाट का वर्णन कर रहा हूँ ! उसका ललाट द्वितीया के समान सुन्दर है । जायसी कहते है कि वास्तविकता यह है कि दोज के चांद में भी उतनी कान्ति नहीं है, उतनी चमक नहीं है. जितनी कि पद्मावती के ललाट में । वास्तव में चांद तो कलंक से युक्त है और वह ललाट निष्कलक है । इतना ही नहीं चांद से उपमा तो वैसे भी नहीं दी जा सकती है क्योंकि वह तो राहू से ग्रसित होता रहता है । यह ललाट राहु से सर्वथा दूर रहकर दीप्त होता रहता है और सदैव प्रकाशित होता रहता है । उस पद्मावती के ललाट पर तिलक लगा हुआ है या बिन्दी लगी हुई है, मानो द्वितीया के चांद रूपी आसन पर ध्रुवतारा विराजमान हो ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के ललाट पर स्थित तिलक ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई राजा सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो । वह बैठा ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो उसने अपने सिंहासन और राज पाट के अनुकूल सभी सामान सजा रखे हैं । कवि का कथन है कि पद्मावती के मस्तक पर लगे तिलक के सौन्दर्य के समक्ष कौन ठहर सकता है । तात्पर्य है कोई नहीं ठहर सकता है । तोता आगे की पंक्तियों में लम्बी सांस लेता हुआ कह रहा है कि न जाने इसका किसके साथ संयोग होगा ।

कवि के शब्दों में तोते ने कहा कि हे राजा ! खड्ग, धनुष और चक्रबाण देकर उसका नाम संसार को मारने वाला दिया गया हैं । तात्पर्य है कि पद्मावती की नासिका, भौंह पुतली आदि की शोभा अत्यन्त घातक है । इसी संदर्भ में यह कहता हुआ राजा मूर्छित हो गया कि मेरे निमित्त तो सभी

स्थान अब एक जैसे हो गये हैं । व्यंजना यह है कि पद्मावती का रूप सौन्दर्य इतना व्यापक है कि उसका नाम संसार को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है । कवि का अभिप्रेत है कि पद्मावती का सौन्दर्य सभी प्रकार से अप्रतिम है । इसी अद्वितीय रूप के कारण राजा रत्नसेन अपने आपको भूल सा गया है ।

विशेष—(१) व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है । तीसरी पंक्ति में व्यतिरेक, दोहे में रूपकातिशयोक्ति और पांचवी पंक्ति में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य द्रष्टव्य है ।

(२) प्रेम की स्थिति में 'हाल' की दशा हो जाना स्वाभाविक है । सूफी धर्म और सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर के प्रेम में प्रेमी आत्मविस्मृत हो जाता है । दोहे की दूसरी पंक्ति में कही गई यह पंक्ति 'सुनि कै परा मुरुछि कै राजा' इसी भाव को द्योतित कर रही है ।

भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना । जा सहुं हेर मार विष-बाना ॥
हनै धुनै उन्ह भौंहनि चढ़े । केइ हतियार काल अस गढ़े ? ॥
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा । उहै धनुष राघौ कर गहा ॥
ओहि धनुक रावन संघारा । ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥
ओहि धनुक बेधा हुत राहू । मारा ओहि सहस्राबाहू ॥
उहै धनुक मैं तापहं चीन्हा । धानुक आप बेझ जग कीन्हा ॥
उन्ह भौंहनि सरि केउ न जीता । अछरी छपीं, छपीं गोपीता ॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दूसर सरि न कराइ ।
गगन धनुक जो ऊगै लाजहि सो छपि जाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—धनुक—धनुष । सहुँ—सामने । हेर—देखना । मारविष बाना—विष बुझे बाण छोड़ती है । हनै—मारना । धुनै—धुनना । हतियार—हत्यारा । काल अस—ऐसा काल । गढ़े—बनाया है । उहै धनुक—वही धनुप । किरसुन—कृष्ण । पहं आना—पास था । राघौ—राघव । करगहा—हाथ में ग्रहण किया । सघारा—संहार करना या मारना । कंसासुर—कंस जैसा असुर । । सहस्राबाहू—सहस्राबाहू को परशुराम ने फरसे से मारा था, किन्तु जायसी ने अपनी सिद्धि के लिए तथा प्रसंग को बल प्रदान करने के लिए धनुप का संदर्भ कल्पित कर लिया है, जो ठीक नहीं । तापहं—उसके पास । धानुक—धनुप चलाने वाला । बेझजग—संसार को वेध डाला है । केउन जीता—उनसे कोई भी जीत नहीं सका है । अछरी—अप्सरायें । छपीं—छिप गई । छपी गोपीता—गोपियां भी छिप गईं ।

सप्रसग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी पद्मावती की भौंहोंका वर्णन तोते के मुख से करवा रहे हैं । वे कहते हैं कि—

हे राजा ! उसकी श्याम वर्ण की भौंहें तने हुए धनुप के समान हैं मानो उन पर तीर चढ़ा हुआ हो। वे भौंहें जिस किसी को भी देख लेती हैं, उसी की ओर विष-बुझे बाण मारती हैं । पद्मावती की भौंहों पर मारने वाला या चोट करने वाला धनुप चढ़ा हुआ है, न मालूम किस हत्यारे ने काल के समान भयंकर और गहरी चोट करने वाली इन भौंहों का निर्माण किया है । जायसी इन भौंहों को धनुपवत् बताते हैं तथा आगे की पंक्तियों में कहते हैं कि यही

भौंह का धनुष कृष्ण और राम के पास था। इसी धनुष से रावण और कंसासुर मारे गये। इसी धनुष से अर्जुन ने द्रौपदी स्वयंवर मत्स्य-वेध किया था तथा इसी धनुष से परशुराम ने सहस्रबाहु को मारा था। इसी धनुष को मैंने (तोते ने) उस पद्मावती पर देखा है तथा पहिचान लिया है। वह धनुष को धारण करने वाली बनी हुई है। सम्पूर्ण संसार को उस पद्मावती ने अपने धनुष से विद्ध कर रखा है। तात्पर्य अपने भौंहों के धनुष से उस पद्मावती ने सम्पूर्ण संसार को घायल कर रखा है। जायसी कहते हैं कि उन भौंहों की तुलना में कोई भी नहीं जीत सकता है। उसकी धनुषवत् भौंहों को देखकर अप्सरायें छिप जाती हैं और गोपियां भी छिप गई हैं। तात्पर्य यह है कि उसकी धनुष-भौंहों की तुलना में गोपियों की भौंहें कुछ भी नहीं हैं। भौंहों के धनुष को चलाने वाली वह धनुषधारिणी है तथा कोई दूसरा उसकी तुलना में ठहर नहीं सकता है। जायसी कहते हैं कि आकाश में जो धनुष तात्पर्य इन्द्र-धनुष उगता है वह भी उसकी धनुषवत् भौंहें की समता कुछ भी नहीं है। इसीलिए वह लज्जा से छिप जाता है।

विशेष—भौंहों की तुलना धनुष से करके कवि ने अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। वर्णन में स्वाभाविकता और रसात्मकता है।

नैन बांक, सरि पूज न कोऊ। मानसरोदक उलथहिं दोऊ ॥
राते कंवल करहिं अलि भवां। घूमहिं माति चहहिं अपसवां ॥
उठहिं तुरग लेहिं नहिं बागा। चाहहिं उलथि गगन कहं लागा ॥
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा। सरग लाइ भुइ लाल बहोरा ॥
जग डोलै डोलत नैनाहां। उलटि अड़ार जाहिं पल माहां ॥
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भौंर चक्र के जोरा ॥
समुद हिलोर फिरहिं जनु भूले। खंजन लरहिं, मिरिग जनु भूले ॥

सुभर सरोवर नयन वै, मानिक भरे तरंग।
आवत तीर फिरावहीं काल भौंर तेहि संग ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—नैन बांक—बंकिम नेत्र, पूज न कोई—बराबरी न करवाना, उलथहिं—उछलता है, राते कंवल—लाल कमल, अलिभवां—भौंरे जैसी मंडरा रही हैं, माति—मस्ती से, अपसवां—उड़कर भागना चाहते हैं, संस्कृत में अपसावण, तुरंग—घोड़े, लेहिं नहि बागा—बागडोर नहीं ले पाते हैं, चाहहिं उलथि—उछलना चाहते हैं, गगन कइं लागा—आकाश तक लग जाते हैं देइ हिलोरा—हिलोरे देते हैं, जग डोलै—संसार डोलता है, नैनाहां—नैत्रों के घूमते ही, उलटि अड़ार जाहिं पल मोह—बड़े-बड़े अड़ने वाले या स्थिर रहने वाले पल भर में उलट जाते हैं। लुरहिं—टूटते हैं, फिरावहीं—चक्कर देते हैं।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने तोते के मुख से पद्मावती के नेत्रों का आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत किया है—

तोते ने कहा—हे राजा! उसके नेत्रों के कटाक्षयुक्त बांकेपन की कोई भी समता नहीं कर सकता है। उस रानी पद्मावती की आंखों में भरा उन्माद का नशा ऐसा प्रतीत होता है मानो सागर उछलता हो। उसके नेत्र लाल कमल के समान हैं। इन नेत्रों पर पुतली भौंरे जैसी मंडरा रही हैं। वे चंचलता से मंडराते हैं उनके इस कार्य को अर्थात् मंडराने को देखकर ऐसा

ताजानेउ=लज्जित हो गया सूक—शुक्र तारा, बेसरि—नाक क
उग्रा—उदित हो गया, पिग्रर—पीला, और भाव—ग्रन्य भाव
लुहारों का एक ग्रोजार जिससे लोहे में छेद करते हैं, एहिग्रासा-
से, मकु—शायद, हिरकाइ लेइ—पास सटा ले या ग्रालिंग
दारिउ—दाड़िम या ग्रनार, बिम्ब—बिम्बाफल, केलिकराहीं—ग्रं
दहु—कौन जाने, को—कोई, पौन बास—सुगंधित वायु, तीर-

सप्रसंग व्याख्या—कवि जायसी इन पंक्तियों में पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। वे तोते की जबान में कहते हैं-

तोते ने राजा से कहा कि पद्मावती की नासिका खड्ग नहीं, क्योंकि खड्ग तो क्षीण धार वाली होती है और उस का मेल उसके भरे पूरे मुख से है। इस प्रकार खड्ग उसकी के समक्ष तुच्छ और क्षीण है। जायसी कहते हैं कि उस को देखकर तोता भी लज्जित हो जाता है। इतना ही न भी बेसरि का मोती बनकर उसकी नाक में उदित होगया यह है कि नाक का ग्राभूषण तथा उसमें सज्जित नग श समान समुज्जवल हैं। मैं हीरामन तोता भी स्वयं उसके की लज्जा से ही तो पीत वर्ण हो रहा हूँ। हे राजा, मैं उसका श क्या वर्णन करूं? तोते की चोंच तो लुहार की पांवरी के स होती है, इसलिए पद्मावती की तिल के फूल सरीखी सुन्दर नासिका के समान कैसे हो सकती है।

जायसी कहते है कि समस्त फूल इस ग्राशा से झूमते हैं फूल सी सुकुमारी पद्मावती हमें ग्रपनी नासिका से लगाकर सुग पद्मावती के ग्रधरों और दांतों के ऊपर नासिका इस प्रकार सुशोि ग्रनार को देखकर तोते का मन भी लुभा गया हो तथा वहां बैठा पद्मावती की दोनों ग्रांखें खजन पक्षी के सदृश हैं जो क्रीड़ा कर उसकी नासिका के दोनों ग्रोर खंजनपक्षी सदृश दो चचल ग्र करती हैं। कौन जाने, कोई पद्मावती के रूपरस का पान क या नहीं।

सप्रसग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। तोता पद्मावती की वरुनियों का वर्णन करते हुए कहता है—

तोता कहता है कि हे राजा ! उसकी बरौनियों का क्या वर्णन करूं ? तात्पर्य यह है कि उसकी बरौनियां इतनी सुन्दर हैं कि उनका यथावत् वर्णन नहीं किया जा सकता है। उसकी बरौनियां ऐसी प्रतीत होती हैं मानो तीर का निशाना बांधे दो सेनाओं का आमना-सामना हो गया हो। उसकी आंखें ऐसी हैं मानो समुद्र के बीच में, राम और रावण की सेनाएं जुड़ी खड़ी हों। वार पार बाणों की कतारें चल रही हैं। उसके नेत्र बाण बड़े तीखे हैं और वे बड़ी गहरी चोट करने वाले हैं। वह जिस किसी की ओर भी दृष्टि डालती है उसी को विष-बुझे बाणों से बेध डालती है। तात्पर्य यह है कि पद्मावती की बरौनियां इतनी तीखी और नुकीली हैं कि उनके प्रहारों से सभी विचलित हो जाते हैं।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के वरुनी रूपी बाणों से ऐसा कौन है जो विद्ध न हुआ हो अर्थात् सभी उससे विद्ध हैं। उसके बाणों के प्रभाववश सारा संसार विद्ध हो गया है। जायसी कहते हैं कि आकाश में जितने भी नक्षत्र दिखाई देते हैं सभी के सब अगणित हैं, गिने नहीं जा सकते है। वे सभी नक्षत्र रूपी बाण पद्मावती के द्वारा ही हने गये हैं। पृथ्वी सारी की सारी उन्हीं बाणों से विद्ध है। इसकी साक्षी सम्पूर्ण खड़े वृक्ष दे रहे हैं। मनुष्य के शरीर में असंख्य रोम खड़े हैं, इनकी जड़ों में उसी के बाण लगे हुए हैं। उसके पास बरौनियों के बाण हैं जिनके माध्यम से उसने वन में सभी खण्डों को बेध डाला है, जानवरों के शरीर में जितने भी पंख हैं, वे सभी उसी के कारण हैं।

विशेष—इन पक्तियों में आध्यात्मिक रहस्यवाद की झलक देखी जा सकती है। पद्मावती ईश्वर की प्रतीक है, उसी के विरह बाणों से सम्पूर्ण संसार बिधा पड़ा है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु, पक्षी, वृक्ष, सभी में उसी का अनुराग बसा हुआ है, सभी उसके रग में रंगे हैं तथा समस्त सृष्टि की हलचल की पृष्ठभूमि में उसी परम ज्योति का प्रेम और विरह विद्यमान है। इसमें समासोक्ति अलंकार की योजना है।

नासिक खरग देउं कह जोगू। खरग खीन, वह बदन-संजोगू ॥
नासिक देखि लजानेउ सूआ। सुक आइ बेसरि होइ ऊआ ॥
सुआ जो पिअर हिरामन लाजा। और भाव का बरनौं राजा ॥
सुआ, सो नाक कठोर पंवारी। वह कोंवर तिल-पुहुप संवारी ॥
पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा ॥
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिउं बिंब देखि सुक लोभा ॥
खंजन दुहुं दिसि केलि कराहीं। दहुं वह रस कोउ पाव कि नाहीं ॥
देखि अमिय-रस अधरन्ह भएउ नासिका कीर।
पौन बास पहुंचावै अस रम छांड़ न तीर ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नासिक—नासिका, खरग—खड्ग, देहुं कह जोगू—उसे किसकी तुलना में रखूं, खीन—क्षीण, बदन संजोगू—मुख के योग्य,

ताजानेउ=लज्जित हो गया सूक—शुक्र तारा, वेसरि—नाक का आभूषण, उग्रा—उदित हो गया, पिग्रर—पीला, ग्रौर भाव—अन्य भाव, पंवारी—लुहारों का एक औजार जिससे लोहे में छेद करते हैं, एहिग्रासा—इस आशा से, मकु—शायद, हिरकाइ लेइ—पास सटा ले या आलिंगनबद्ध करले, दारिउ—दाड़िम या अनार, बिम्ब—बिम्बाफल, केलिकराहीं—क्रीड़ा करते हैं, दहुं—कौन जाने, को—कोई, पौन बास—सुगंधित वायु, तीर—निकट।

सप्रसंग व्याख्या—कवि जायसी इन पंक्तियों में पद्मावती की नासिका के सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। वे तोते की जबान में कहते हैं—

तोते ने राजा से कहा कि पद्मावती की नासिका खड्ग के समान है नहीं, क्योंकि खड्ग तो क्षीण धार वाली होती है और उसकी नासिका का मेल उसके भरे पूरे मुख से है। इस प्रकार खड्ग उसकी इस शोभा के समक्ष तुच्छ और क्षीण है। जायसी कहते हैं कि उसकी नासिका को देखकर तोता भी लज्जित हो जाता है। इतना ही नहीं शुक्रतारा भी वेसरि का मोती बनकर उसकी नाक में उदित होगया है। तात्पर्य यह है कि नाक का आभूषण तथा उसमें सज्जित नग शुक्र तारे के समान समुज्जवल हैं। मैं हीरामन तोता भी स्वयं उसके रूप सौन्दर्य की लज्जा से ही तो पीत वर्ण हो रहा हूँ। हे राजा, मैं उसका और अधिक क्या वर्णन करूं? तोते की चोंच तो लुहार की पांवरी के समान कठोर होती है, इसलिए पद्मावती की तिल के फूल सरीखी सुन्दर और कोमल नासिका के समान कैसे हो सकती है।

जायसी कहते हैं कि समस्त फूल इस आशा से झूमते हैं कि शायद फूल सी सुकुमारी पद्मावती हमें अपनी नासिका से लगाकर सुगन्धि ले ले। पद्मावती के अधरों और दांतों के ऊपर नासिका इस प्रकार सुशोभित है मानो अनार को देखकर तोते का मन भी लुभा गया हो तथा वहां बैठा हो। उस पद्मावती की दोनों आंखें खजन पक्षी के सदृश हैं जो क्रीड़ा कर रही हैं। उसकी नासिका के दोनों ओर खंजनपक्षी सदृश दो चचल आंखें क्रीड़ा करती हैं। कौन जाने, कोई पद्मावती के रूपरस का पान कर पायगा या नहीं।

जायसी कहते हैं कि उस पद्मावती के अधरों का अमृत रस देखकर ही नासिका तोते की चोंच बन गई है। तात्पर्य यह है कि वह झुकी हुई सी पद्मावती के अधरों के अमृत का पान करने की अभिलाषिणी है। सांसों क सुगन्धित वायु, तोते की चोंच के समान उसकी नासिका तक पहुंचती है, अतः वह उसके समीप विराजमान है। व्यंजना यह है कि पद्मावती की सांसें सुरभित हैं, अधर मधुर हैं और नाक अपने स्थल पर सुशोभित और लावण्यमयी प्रतीत होती है।

विशेष—इसमें व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का समुचित प्रयोग हुआ है। दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक, छठी पंक्ति में उत्प्रेक्षा और सातवीं पंक्ति में रूपक का प्रयोग बड़ा आकर्षक बन पड़ा है।

अधर सुरंग अमी-रस-भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे॥
१ फूल दुपहरी जानौं राता। फूल झर्राह ज्यों ज्यों कह बाता॥

हीरा लेइ सो विद्रुम-धारा । विहंसत जगत होइ उजियारा ।।
भए मंजीठ पानन्ह रंग लागे । कुसुम-रंग थिर रहै न आगे ।।
अस कै अधर अभी भरि राखे । अबहिं अछूत, न काहू चाखे ।।
मुख तंबोल-रंग-धारहिं रसा । केहि मुख जोग जो अमृत बसा ?
राता जगत देखि रगराती । रुहिर भरे आछहिं बिहंसाती ।।

अमी अधर अस राजा सब जग आस करेइ ।
केहि कहं कवल बिगासा, को मधुकर रस लेइ ? ।। ८ ।।

शब्दार्थ—सुरंग—सुन्दर रंग, अमी रस भरे—अमृत रस से सिंचित, विम्ब सुरंग—बिम्बाफल, लाजिबन फरे—लजाकर बन में फलने लगा है, जानौं—मानों, राता—लाल, फूलझरहिं—फूल झड़ते हैं, 'हीरा लेइ सो विद्रुम धारा । विहसत जगत होइ उजियारा ।।' दांतों की श्वेत और अधरों की अरुण ज्योति के प्रसार से जगत में उजाला होना कहकर कवि ने उषा या अरुणोदय का बड़ा सुन्दर गूढ़ संकेत रखा है, मंजीठ—मजिष्ठा या बहुत गहरे मजीठ के रंग का लाल, कुसुमरंग—पुष्प का रंग, अमिअ भरि राखे—अमृत से भरे हुए हैं, अछूत न काहू चाखे—अछूते हैं या अचुम्बित हैं जिन्हें किसी ने भी नहीं चाखा है, तबोल रंग—पान या ताम्बूल का रंग, धारहिं—धारण करती है, रसा—जिह्वा, केहि मुख जोग—किसके उपयुक्त है या योग्य है ।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के अधरों का आलंकारिक वर्णन किया है । तोता यह वर्णन करता हुआ कहता है—

पद्मावती के सुन्दर रंगीन होठ अमृत रस से भरे-पूरे हैं । वे रक्तवर्ण के हैं । उनकी उपमा बिम्बा फल से कैसे दी जा सकती है ? वह लाल अवश्य हैं, किन्तु पद्मावती के अधरों की तुलना में कम लाल हैं, तभी तो लज्जित होकर बन में जाकर फलने लगा है । उसके अधर दुपहरिया के लाल फूलों के समान हैं । वह जब कभी भी बात करती है तो उसके अधरों से फूल झरते हैं । जब वह हंसती है तो लाल मसूड़ों के बीच दांतों की पंक्ति ऐसी लगती है जैसे मूंगों में हीरे जड़े हुए हों । उसकी मुस्कान बड़ी अच्छी तरह प्रकाशित है तभी तो उससे सारा संसार प्रकाशित होता है । (व्यंजना यह है कि लाल ओठों के बीच में मुस्कान ललायी में उजली उषा का भी रौनक दे रही है) उस पद्मावती के अधरों का रंग इतना लाल है कि उसके समक्ष कुसुम की लालिमा भी स्थिर नहीं रह सकी है । तात्पर्य, कुसुम की तुलना में पद्मावती के अधर अधिक सुरंग और लाल हैं । वास्तव में पद्मावती ने अपने अधरों में अमृत भर रखा है । तात्पर्य वे अमृतोपम है, अचुम्बित है तथा किसी ने भी नहीं चाखे हैं । (पद्मावती के कौमार्य और अनाघ्रात व अचुम्बित यौवन की व्यंजना जायसी ने कितने सरल और आकर्षक ढंग से की है।)

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की जिह्वा पान के रंग के समान लाल है । देखें कौन सौभाग्यशाली उसके अमृत-मुख का सुयोग पाता है-अर्थात् उसका मुख अमृत कौन पान करता है । उसके लाल रंग को देख कर संसार रक्तिम वर्ण का हो गया है । तात्पर्य उसकी लालिमा से संसार अनुरागमय हो गया है । कबीर ने भी कहा है—

"लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।"

तोता कहता है कि उसके रक्तिम अधर हंसते हुए प्रतीत होते हैं। तोता ने कहा कि हे राजा ! पद्मावती के ओठों का मधु ऐसा है कि उसका पान करने के निमित्त सम्पूर्ण संसार आशा लगाये बैठा है। जायसी कहते हैं कि न मालूम यह कमल किसके निमित्त विकसित हुआ है। ऐसा कौन भाग्यशाली होगा जो इस कमल को प्राप्त करेगा और आनंद लाभ करेगा। कोई भ्रमर जो भी इसे प्राप्त करके पान करेगा, बड़ा सौभाग्यशाली होगा।

विशेष—इसमें उत्प्रेक्षा अलकार का प्रयोग किया गया है। इसमें दो प्रमुख बातों की प्रमुखता है—

१. वर्णन के माध्यम से श्रोता या राजा की पद्मावती की ओर आसक्ति बढ़ाने का सफल प्रयास परिलक्षित होता है। पथ-प्रदर्शक तोता रत्नसेन की आसक्ति को तीव्र से तीव्र करता जाता है। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर राजा को आसक्त करते जाने का प्रयत्न बड़ा स्वाभाविक और सहज है। इस कार्य के लिए कवि ने तोते के माध्यम से पद्मावती के अंग-प्रत्यंगों का विशद और आकर्षक वर्णन कराया है।

२. आध्यात्मिक संकेत भी जायसी ने अवसर पाकर कर दिया है। वे कहते हैं—

विहंसा जगत होइ उजियारा।
राता जगत देख रंग राता।।
अमिय अधर अस राजा सब जग आस करेइ।

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रंग स्याम गंभीरा।।
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी। चमकि उठै तस बनी बतीसी।।
वह सुजोति हीरा उपराहीं। हीरा-जाति सो तेहि परछाहीं।।
जेहि दिन दसनजोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई।।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहं जहं बिहंसि सुभावहि हंसी। तहं तहं छिटकि जोति परगसी।।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि ओहि जोति और को दूजी?।।
हंसत दसन अस चमके पाहन उठे झरक्कि।
दारिउ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि।। ६।।

शब्दार्थ—दसन-दांत, चौक-आगे के चार दांत, बिच-बिच-बीच-बीच में, दीसी-दिखाई दी, बतीसी-बत्तीसों दांत, सुजोति-सुन्दर ज्योति, उपराहीं-ऊपर, तेहि परछाई—उसकी प्रतिच्छाया मात्र, दसन ज्योति-दांतो की ज्योति, निरमई-निर्मल, बहुतन्ह-बहुतों को, ज्योति परगसी-ज्योति प्रकाशित हो गई, पाहन-पत्थर, झरक्कि-झलक, दरक्कि-दरक कर।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी तोते के द्वारा पद्मावती के दांतों के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। समासोक्ति के सहारे यह वर्णन अध्यात्म की कोटि में पहुंच कर और भी अधिक चमक उठा है—

तोता कहता है कि हे राजा ! पद्मावती के आगे के चार दांत ऐसे उज्ज्वल हैं मानो हीरे जड़े हुए हैं। उनके मध्य में मिस्सी का गहरा काला रंग दिखलाई देता है। उस श्यामलता के मध्य में सफेद दांत ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे

भादों की रात में बिजली दिखाई पड़ती है। पद्मावती के दांतों की ज्योति हीरे की ज्योति से भी ऊपर है। हीरे में जो चमक है वह तो उसकी ही श्वेतिमा और दीप्ति है या उसकी श्वेतिमा या दीप्ति की प्रतिच्छाया मात्र है। कवि का कथन है कि जिस दिन उसके दांतों की हसी उत्पन्न हुई, उसी दिन बहुत सी ज्योतियां प्रकट हो गई।

जायसी कहते है कि पद्मावती की दन्तावली इतनी शुभ, ज्योतिमान और दीप्तिमान है कि ससार की अनेक ज्योतियां उसी का परिणाम हैं। रवि, चन्द्रमा और नक्षत्र सभी में जो ज्योति है वह पद्मावती के दांतों की ही ज्योति है। तात्पर्य चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र सभी पद्मावती के दांतों की क्रान्ति से ही प्रकाशित है। माणिक, मोती और अन्य रत्न पदार्थ उसी की ज्योति से ज्योतित हैं। पद्मावती जहां-जहां अपनी स्वाभाविक मुस्कान से मुस्कराती है, वहां-वहां उसका दत ज्योति छिटक कर प्रकाशित होती दिखाई दे रही है। उस पदमावती के दांतों की आभा इतनी तीव्र और सुन्दर है कि विद्युत छटा भी उसकी तुलना या बराबरी कैसे कर सकती है ?

जायसी कहते हैं कि पदमावती के हसने पर दांत ऐसे चमकते हैं जिससे पत्थर भी झिलमिलाने लगते हैं। वे झिलमिल करते उज्ज्वल रत्न बन गये हैं। तात्पर्य यह है कि हीरे आदि रत्न उसकी दत आभा से ही चमकते हैं। अनार उसकी कान्ति और छटा को सहन नहीं कर सकी, तभी तो उसका हृदय विदीर्ण हो गया है।

विशेष—१. पद्मावती के दांतो का इतना व्यापक और भाव प्रेरित वर्णन जायसी ही कर सकते थे जिनके पास वर्णन शैली और भावात्मक प्रतिभा थी। इस पद में रहस्यवादी व्यजना है। संसार की सभी वस्तुएं, जो भी प्रकाशित हैं, वे सब उसी परमात्मा की कान्ति की प्रतिच्छाया मात्र हैं। पद्मावती ब्रह्म है, सूर्य, चन्द्र उसी ब्रह्म की कांति को प्रतिच्छाया मर हैं।

२. इन पक्तियों में आलकारिक सौन्दर्य, भाव गांभीर्य और भाव प्रेरित वचन वक्रता बड़े वैभव के साथ दिखाई देती है।

रसना कहौं जो कह रस बाता। अमृत बैन सुनत मन राता॥
हरै सो सुर चातक कोकिला। बिनु बसंत यह बैन न मिला॥
चातक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुहि वह बैन लाज छपि जाहीं॥
भरे प्रेम-रस बोलै बोला। सुनै सो माति घूमि कै डोला॥
चतुरवेद-मत सब ओहि पाहां। रिग, जजु, साम अथरबन माहां॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भागवत, पिंगल गीता। अरथ बूझि पंडित नहिं जीता॥
भासवती औ व्याकरन, पिंगल पढ़ै पुरान।
बेद भेद सौं बात कह, सुजनन्ह लागै बान॥ १०॥

शब्दार्थ—रसना=जिह्वा। रस बाता=रसभरी बातें। अमृत बैन=अमृतोपम वाणी। मनराता=मन की प्रसन्नता। हरै=चुराते हैं। सुर=स्वर। चात्रिक=चातक। सुहिवह=वह तो। माति=मस्तक। घूमि कै डोला=घूम कर डोलता है। ओहि पाहां=उसके पास। भासवती=भास्वती नामक शतानद विरचित ज्योतिष का ग्रंथ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी तोते के मुख से पद्मावती की मृदुभाषिता और विद्वता का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते है—

हे राजा ! अब मैं उसकी जिह्वा का वर्णन करता हूँ। उसकी जिह्वा बड़े-बड़े मीठे बोल बोलती है। जायसी कहते हैं कि उस पद्मावती के अमृत तुल्य वचन सुन कर सभी का मन मोहित हो जाता है। उसकी वाणी इतनी मधुर है कि चातक और कोकिल ने हरण करली है। तात्पर्य यह है कि उसकी मीठी बोली के सामने चातक और कोयल भी लज्जित हो जाती है। और तो और पद्मावती का सा मीठा बोल तो वंशी और वीणा को भी प्राप्त नहीं होता है या नहीं हुआ है। प्रत्येक मौसम में चातक और कोकिल जो नहीं रहते है, उसका कारण यही है कि वे लज्जावश पद्मावती के सामने नहीं आते हैं।

जायसी कहते हैं कि वह प्रेम के मधु से मिश्रित वाणी बोलती है। जो कोई भी उसकी बोली को सुन लेता है, वह पागल सा घूम कर चक्कर काटने लगता है। वह इतनी ज्ञानवती है कि चारों वेद-यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और ऋग्वेद का ज्ञान उसके मस्तिष्क में संचित है। वह जो भी कुछ बोलती है, उसके चार-चार अर्थ होते हैं, इन्द्र इसी कारण तो उस पर मोहित हैं। वेदों का रचने वाला ब्रह्मा उसकी विद्वता पर सिर धुनता है। अमरकोष, महाभारत, पिंगल शास्त्र और गीता के अर्थों के करने में पंडित-विद्वान भी उससे जीत नहीं सकते हैं। जायसी कहते हैं कि भास्वती, ज्योतिष, संस्कृत व्याकरण, पिंगल, पुराण के पाठ में वह साक्षात् सरस्वती प्रतीत होती है। वेद के रहस्यो को वह इस प्रकार उद्घाटित करती चलती है कि उसे सुनकर लोग या श्रोता दंग रह जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उसकी विद्वता का प्रभाव बुद्धि हृदय पर तीर के समान तीखा और सीधा पड़ता है।

विशेष—इन पंक्तियों में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। देखिये तो सही कवि ने क्या लिखा है—

चातक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाज छपि जाहीं ।।

जायसी की आदत है कि वे कुछ सुने-सुनाये नामों को मिला कर अपनी बात को वजनी बनाना चाहते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया में उनका कार्य और तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है। इसमें भी कवि ने इसी आधार पर कुछ नाम गिनाये हैं जो विशेष प्रभाव नहीं डालते हैं।

पुनि बरनौं का सुरंग कपोला । एक नारंग दुइ किए अमोला ।।
पुहुप-पंक रस अमृत सांधे । केइ यह सुरंग खरौरा बांधे ? ।।
तेहि कपोल बाएं तिल परा । जेइ तिल देख सो तिलतिल जरा ।।
जनु घुंघची ओहि तिल करमुहीं । बिरह-बान साधे सामुहीं ।।
अगिनि-बान जानौं तिल सूझा । एक कटाछ लाख दस जूझा ।।
सो तिल गाल मेटि नहिं गएऊ । अब वह गाल काल जग भयऊ ।।
देखत नैन परी परछाहीं । तेहि तें रात साम उपराहीं ।।
सो तिल देखि कपोल पर गगन रहा धुव गाड़ि ।
खिनहिं उठै, खिन बूड़ै, डोलै नहि तिल छांड़ि ।।११।।

शब्दार्थ—पुनि=फिर। बरनौं=वर्णन करता हूँ। सुरंग कपोला=सुन्दर कपोल। नारंग=नारंगी या संतरा। दुइ किए अमोला=दो भाग कर

दिये हैं। पुहुप-पंक=पुष्प-पंक या फूल का पराग। सांधे=साने या गूंदे। खरौरा=खांड के लड्डू या खंडोरा। तिल-तिल जरा=मुहावरा है, छुट-छुट कर जलना। घुंघुंची=गूंजा। करमुंही=काले मुख वाला। सामुही=समक्ष या सामने। रात=लाल। साम=श्याम। मेंटि=मिटाया। घुव=ध्रुवतारा गाड़ि=अचल। खिनहि उठै=पल-पल में उठता है। बूडै—अस्त होना।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के सुन्दर कपोलों और उस पर स्थित तिल के सौन्दर्य का वर्णन किया है। वे कहते हैं-

हे राजा! मैं उस पद्मावती के कपोलों का क्या वर्णन करूं? वे तो एक नारंगी के दो बराबर के अनमोल भाग हैं। वे कपोल इतने रसपूर्ण हैं कि लगता है मानो पुष्प के पराग में अमृत गूथा गया हो और उससे सुन्दर कत्थे की टिकियां बांधी गई हों। तात्पर्य यह है कि कपोलों के मध्य वृत्ताकार लालिमा ऐसी प्रतीत होती है मानो फूल के पराग में सान कर कत्थे की रंगीन टिकियां बांधी गई हों। उसके बायें कपोल पर तिल का निशान है। वह तिल बड़ा सुन्दर है। जो कोई भी उन्हें देखता है वह तिल-तिल कर जलता रहता है। तात्पर्य है गोरे कपोलों पर काला तिल बड़ा सुखद और आकर्षक लगता है। जायसी कहते हैं कि घुंघुची भी उसको देख कर ही काली हो गई है। घुंघुची स्वभावतः काली होती है, किन्तु जायसी ने यह कल्पना की है कि घुंघुची इसीलिए काली हो गई है कि पद्मावती के कपोल पर स्थित तिल ने उसे प्रभावित किया है।

जायसी कहते हैं कि काला तिल इसलिए और भी तीखा और चुटीला है कि उसे देखकर यह प्रतीत होता है मानो सामने विरह का बाण तना हुआ है या ऐसा प्रतीत होता है मानो अग्निबाण हो। यह तिल अग्निबाण का है जो ऐसा है कि एक निक्षेप मात्र से दो लाख रसिक-योद्धा परास्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तिल की चोट अच्छे-अच्छे रसिकों का मन कचोट कर रह जाती है। उस तिल को काल भी नहीं मिटा सकता है। वह तिल संसार का काल बना हुआ है। नेत्रों की काली पुतली की जो प्रतिच्छाया गाल पर पड़ रही है वही लाल गालों पर काला तिल होगया है।

जायसी कहते हैं कि कपोल के उस अद्भुत तिल को देखकर आकाश का ध्रुवतारा अचल होगया है। वह पल-पल उदय-अस्त होता है, पर अपना स्थान न छोड़कर अचल है। तात्पर्य यह है कि कपोल के तिल सौन्दर्य को सदा देखते रहने के निमित्त ध्रुवतारा उज्ज्वल होकर भी अटल और अचल है।

विशेषः—१. अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। पहली पंक्ति में उपमा का सौन्दर्य देखते ही बनता है। निम्नलिखित पंक्तियों में हेतूत्प्रेक्षा का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। कवि ने कहा है—'जन घुंघुची वह तिल करमुहां'।

२. तिल के सौन्दर्य चित्रण में जायसी की कल्पनाएं बड़ी मधुर और स्पष्ट बन पड़ी हैं। इसमें अतिशयोक्ति का सौन्दर्य भी देखते ही बनता है।

स्रवन सीप दुइ दीप सवारे। कुंडल कनक रचे उजियारे ॥
मनि-कुंडल झलकैं अति लोने। जनू कौंधा लौकहि दुइ कोने ॥
दुहुँ दिसि चांद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहि जाहीं ॥
तेहि पर खूंट दीप दुइ बारे। दुई धुव दुऔ खूंट बैसारे ॥

पहिरे खुंभी सिंघलदीपी । जनौं भरी कचपचिश्रा सीपी ।।
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहै । कांपति बीजु दुश्रो दिसि रहै ।।
डरपहिं देवलोक सिंघला । परै न बीजु टूटि एक कला ।।
करहिं नखत सब सेवा स्रवन दीन्ह अस दोउ ।
चांद सुरुज अस गोहने श्रौर जगत का कोउ ? ।। १२ ।।

शब्दार्थ:—स्त्रवन—कान । कनक—सोना । रचे उजियारे—उज्जवल व सौन्दर्य पूर्ण रचना । मनि कुंडल—मणि जटित । कौंघा—कौंधते हैं। लौकहिं—चमकती है या दिखाई पड़ती है । दुहुं—दोनों । खूंट—कर्णाभरण या कान का श्राभूषण । खुंभी—कान का श्राभूषण । कचपचिया—कृति का नक्षत्र जिसमें बहुत से तारागण एक साथ गुच्छे या गुंथे दिखाई पड़ते हैं । गोहने—साथ में ।

सप्रसंग व्याख्या:—इन पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के कानों की शोभा का वर्णन कर रहे हैं । वे कहते हैं—

हे राजा ! पद्मावती के कान दो सीपियां हैं श्रौर उनमें दो दीपक जगमगा रहे हैं । ये द्वीप श्रौर कुछ नहीं है—केवल स्वर्ण के बने कुंडल हैं जो कि शोभित हो रहे हैं । श्रागे की पंक्तियों में कवि जायसी मणि जटित कुंडल विद्युत की छटा की तरह चमकते हैं । इनको कानों में देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे कुण्डल (दोनों कानों में) दो दिशाश्रों में रत्न जटित सूर्य श्रौर चन्द्रमा हों जो चमक रहे हों, जिन्हें चमक की अतिशयता के कारण देखा भी नहीं जा सकता है । कानों में ही खूंट श्राभूषण रूपी दो दीपक श्रौर जल रहे हैं मानो दोनों किनारों पर दो ध्रुवतारे विठाये गये हों । उसने सिंहलद्वीप की बनी हुई खुंभियां पहन रखी हैं । वे खुंभियां ऐसी प्रतीत होती हैं मानो सीपी में कचपचिश्रा हो ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती क्षण-क्षण में जब श्रपने सिर पर वस्त्र को धारण करती है तो उसी क्षण कुण्डलों के हिलने से दोनों दिशाश्रों में बिजली कांपने लगती है । उस दृश्य को देखकर देवलोक भी सिंहल से भयभीत होने लगता है क्योंकि उसे शंका श्रौर भय रहता है कि कहीं उसकी द्युति से ऐरन टूटकर गिर न पड़े । पद्मावती के कान श्राभूषणों से इस प्रकार दीप्त होरहे हैं कि सूर्य श्रौर चन्द्र तथा श्रन्य श्राभूषण उसकी सेवा में संलग्न रहते हैं । तात्पर्य है कि उसके कर्णाभरणों के समक्ष सभी कुछ तुच्छ है । वस्तुतः चांद श्रौर सूरज तो उसके दो गहने हैं फिर किसी श्रन्य श्राभूषण की चर्चा की तो बात ही क्या है । तात्पर्य यह है कि श्रप्रतिम सुन्दरी श्रौर साक्षात् परमतत्व की प्रतिकृति पद्मावती के सौन्दर्य से श्रालोकित यह संसार श्रौर उसके सभी पदार्थ बड़े लावण्यमय हैं, किन्तु वे सभी हैं तो पद्मावती के ही सौन्दर्य के दास या श्रनुकरण पर बने पदार्थ ।

विशेष:—इन पंक्तियों में कवि ने बड़ी मार्मिक श्रौर रहस्यवादी व्यंजना की है । श्रन्तिम पंक्तियों में ईश्वर की ज्योति का मधुर श्रौर सरस वर्णन है । संसार में जो भी दिखाई देता है वह सब उसी परमतत्व का प्रकाश है या प्रतिबिम्ब मात्र है । कामायनीकार प्रसाद ने भी इसी प्रकार का वर्णन करके यह प्रकट किया है कि सभी सृष्टि के पदार्थ उसी की परछांई मात्र हैं:—

महानील उस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
गृह, नक्षत्र और विद्युतकरण किसका करते हैं संधान॥
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए।
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए॥

इस पद में जायसी ने उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया है।

बरनौं गीउ कंबु कै रीसी। कंचन-तार-लागि जनु सीसी॥
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी। हरी पुछार ठगी जनु ठाढ़ी॥
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा। तेहि तैं अधिक भाव गिउ बाढ़ा॥
चाक चढ़ाइ सांच जनु कीन्हा। बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा॥
गए मयूर तमचूर जो हारे। उहै पुकारहि सांझ सकारे॥
पुनि तेहि ठांव परा तिनि रेखा। घूंट जो पीक लीक सब देखा॥
धनि ओहि गीउ दीन्ह विधि भाऊ। दहुं कासौं लेइ करै मेराऊ॥
कंठसिरि मुकुतावली सोहै अभरन गीउ।
लागै कठहार होइ को तप साधा जीउ? ॥ १३॥

शब्दार्थः—गीउ=ग्रीव। कंबु=शंख। कै रीसी=ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली। कंचन—तार, स्वर्ण का तार। कुंदै फेरि=खराद पर चढ़ाकर। पुछार=मोर। मंजूर=मोर। तमचूर=मुर्गा। तेहि ठांव=उस स्थान पर। घूंट जो पीक=पीक के समी घूंट। धनि ओहि गीउ=वह गर्दन धन्य है। विधि=विधाता। दहुँ कासौं=न जाने किसको। करै मेराऊ=किससे मिलन करायेगी। कंठसिरि=कंठश्री। मुकतावली=मुक्तावली। सौहै=शोभित होता है। अभरन=आभूषण। कंठहार=गले का हार। तपसाधा=तपस्या करना।

सप्रसंग व्याख्याः—इन पंक्तियों में जायसी तोते के मुख से पद्मावती की सुन्दर गर्दन का वर्णन कराते हुए कह रहे हैं:—

तोता कहता है कि अब मैं पद्मावती की गर्दन का वर्णन करता हूँ जो क्रौंच पक्षी को भी ईर्ष्या प्रदान करती है। कारण यह है कि पद्मावती की ग्रीवा क्रौंच पक्षी से भी अधिक सुन्दर है। पद्मावती की गर्दन ऐसी प्रतीत होती है मानो शीशे में कमल नाल रखी हुई द्युति बिखेर रही हो या ऐसा लगता है मानो उसकी गर्दन खराद पर चढ़ाकर निकाली गई हो। किंवा मयूरिनी या मोरनी से वह गर्दन हरली गई हो जिससे कि उस सुन्दर और चमकती हुई ग्रीवा को देखकर मोरनी ठगी सी, किंकर्त्तव्य विमूढ़ या चित्रलिखी सी रह गई हो, व्यंजना यह है कि पद्मावती की गर्दन मोरनी की गर्दन से भी अधिक सुन्दर है। उसकी ग्रीवा इतनी सुन्दर है कि कबूतर भी देखकर आश्चर्य चकित रह जाता है। वह अपना हृदय निकालकर खड़ा हो जाता है। वह कबूतर पद्मावती की सुन्दर ग्रीवा को लक्ष्यकर इसलिए आकर्षण अनुभव करता है कि वह अधिक सुन्दर है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की ग्रीवा इतनी सुन्दर ढली हुई है कि देखते ही बनता है। लगता है मानो चाक पर चढ़ाकर उसकी गोलाई सच्ची की गई है अथवा जैसे बागडोर लेने पर घोड़े की गर्दन सीधी होती है वैसी ही पद्मावती की गर्दन भी सुन्दर प्रतीत होती है। गर्दन की शोभा वस्तुतः विशाल और

आकर्षक है। इसी आकर्षण के कारण तो मोर और मुर्गा भी पराजय भाव स्वीकार करते हैं। पराजय के परिणामस्वरूप ही वे सुबह सुबह और कभी-कभी संध्या समय चिल्लाते हैं। इतना ही नहीं उस पद्मावती की ग्रीवा में तीन रेखाएं पड़ी हुई हैं। जब कभी भी वह पान की पीप को निगलती है तो उसके निशान स्पष्ट दिखाई देते हैं। वास्तव में वह गर्दन धन्य है जिसे ब्रह्मा ने या विधाता ने इतना सौन्दर्य प्रदान किया है। न मालूम किसके साथ यह गर्दन जीवन यापन करेगी।

हे राजा ! उसकी (पद्मावती) गर्दन में कंठश्री और मोतियों की माल, ये आभरण सदैव शोभायमान रहते हैं। न मालूम ऐसा कौन सौभाग्यशाली होगा जो गले का हार बनकर पद्मावती का आलिंगन करने में समर्थ होगा। वास्तव में पद्मावती को जिसकी ग्रीवा इतनी सुन्दर है वही पा सकेगा जिसने कठिन तपस्या की होगी।

विशेष—१. इसमें उपमा व उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग है।

२. अन्तिम पंक्ति में कवि ने यह भी बता दिया है कि पद्मावती को प्राप्त करने वाला व्यक्ति वही हो सकता है जो कठोर साधना में निरत रहेगा। हीरामन तोता मानो यह बताना चाहता है कि राजा तुम्हें पद्मा जैसी नारी को पाने के लिए काफी श्रम और साधना करनी पड़ेगी।

कनक दंड दुइ भुजा कलाई। जानौं फेरि कुंदेरैं भाई ॥
कदलि-गाभ कै जानौ जोरी। औ रानी ओहि कंवल-हथोरी ॥
जानौ रकत हथोरी बूड़ी। रवि-परभात तात, वै जूड़ी ॥
दिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अंगुरी तेहि साथा ॥
औ पहिरे नग जरी अंगूठी। जग बिनु जीउ, जीउ ओहि मूठी ॥
बाहूं कंगन, टाड़ सलोनी। डोलत बांह भाव गति लोनी ॥
जानौ गति बेड़िन देखराई। बांह डोलाइ जीउ लेइ जाई ॥
भुज उपमा पौंनार नहिं. खीन भएउ तेहि चित।
ठांवहि ठांव बेध भा. ऊबि सांस लेइ नित ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—कनक दण्ड=स्वर्ण दण्ड, कुंदेरै=खरीदी हुई, कदलि-गाभ=केले का नरम कल्ला, जानौ जोरी=मानो युगल या जोरी हो, हथोरी=हथेली, तात=गरम, जूड़ी=ठंडी रुहिर भरी=रक्त से भरी हुई, नग-जरी=नग से जड़ी हुई. बाहू=भुजबंद कंगन-टाड=गहने, कंगन कलाई में पहिना जाता है और टाड़ बांह में, सलोनी=सुन्दर, बेढ़िनी=नाचने गाने वाली, बांह डोलाइ=बांहों को घुमाकर, जीउ लेइ जाई=प्राणों को हर ले जाती हैं, पौनार=पद्मनाल, खीन=क्षीण, चिन्त=चिन्ता, ठांवहि ठांव=ठौर ठौर, ऊबि सांस लेइ नित=ऊंची-ऊंची सांसे लेती हैं।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियां जायसी के पद्मावत के नख-शिख खण्ड से ली गई हैं। इनमें तोते के मुख से पद्मावती की कोमल कलाइयों, भुजाओं और हथेलियों के शृंगार और सौन्दर्य का वर्णन कराते हुए जायसी कहते हैं—

तोते ने कहा कि हे राजा ! पद्मावती की भुजाएं और कलाइयां सोने के डण्डे के समान सुन्दर हैं। वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वे खराद पर

खरादी हुई हों। उसकी भुजाएं केले के नवीन कल्लों की दो जोड़ियों के समान हैं। उनकी कलाइयां लाल कमलवत् हैं। हथेलियां इतनी लाल हैं मानो रक्त में डुबी हुई हों। प्रातःकालीन सूर्य की लाली भी उसके सामने नहीं क्योंकि वह तो गर्म होती है पर ये ठंडी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसकी हथेलियां क्या हैं, हृदय निकालकर बाहर रख लिया गया हो। अतः उसके करतल के साथ उसकी रक्त से भरी लाल अंगुलियां हैं। उन अंगुलियों में वह हीर जटित अंगुठिया पहने हुए हैं। जायसी कहते हैं कि ससार बिना प्राण के है क्योंकि जग के प्राण-रूपी नग तो उसकी मुट्ठी में है। भुजबंद, कंगन और टाड़ सुन्दर हैं। इन भुजबदों और कंगनों से युक्त पद्मावती की भुजाएं जब चारों ओर घूमती हैं तो ऐसी प्रतीत होती हैं मानो नर्तकी की अनेक चालें दिखा रही हो। इस प्रकार अपनी भुजाओं को घुमा-घुमाकर वह सभी का हृदय ले लेती है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की भुजाओं की उपमा पद्मनाल पर पूरी-पूरी नहीं उतरती है। इसी कारण पद्मावती की भुजाओं की क्षीणता और सुन्दरता को देखकर पद्मनाल पतली होती जा रही है। इतनी ही नहीं इसी सोच और चिन्ता के कारण पद्मनाल के हृदय में स्थान-स्थान पर छिद्र हो गये है तथा वह ऊंची-ऊंची सांसे लेती हुई नित्य दुख को व्यजित करती है।

विशेष — इन पंक्तियों में पद्मावती की भुजाओं का वर्णन बड़ी भाव-पूर्ण शैली में किया गया है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा और हेतुत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग हुआ है। रक्त आदि की उपमाओं से वर्णन में फारसी रगत दिखाई देती है।

हिया थार, कुच कंचन लारू। कनक कचोर उठे जनु चारू ॥
कुंदन वेल साजि जनु कूंदे। अमृत रतन मोन दुइ मूंदे ॥
वेधे भौंर कंट केतकी। चाहहिं वेध कीन्ह कंचुकी ॥
जोवन बान लेहिं नहिं बागा। चाहहिं हुलसि हिये हठ लागा ॥
अगिनि-बान दुइ जानौं साधे। जग बेधहिं जौं होहिं न बांधे ॥
उतंग जभीर होइ रखवारी। छुइ को सकै राजा कै बारी ॥
वारिउं दाख फरे अनचाखे। अस नारंग वहुं का कहं राखे ॥
राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुइं माथ।
काहू छुवैं न पाए, गए मरोरत हाथ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—हिया = हृदय। थार = थाल या थाली। कुच = स्तन। कंचन लाडू = सोने के भरे हुए लड्डू। कचारे = कटोरे। चारू = सुन्दर। कुंदन = सोना। कूंदे = खरीदे हुए। मोन = मौना, पिटारा या डिब्बा। दुइ मूंदे = दोनों मुंदे हुये हैं। लेहिं नहिं बागा = लगाम नहीं लेते हैं। चाहहिं हुलसि = आनन्दित होकर। हिये हठ लागा = हठपूर्वक हृदय से लगना चाहते हैं। उतग = उभरे हुए। जंमीर = नीबू। वारी = बालिका। फरे = फलते हैं। अनचखे = बिना चखे हुए या रस लिए हुए। अस नारग = ऐसी नारंगी। मुए = मर गये। लाइ-लाइ भुंइ माथ = पृथ्वी पर मस्तक टेकते हुए। मरोरत हाथ — हाथ मीड़ते हुए या पछताते हुए, यह मुहावरा है।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में तोता पद्मावती के स्तनों के मांसल सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कह रहा है ।

हे राजा ! पद्मावती के हृदय या वक्षस्थल रूपी थाल में दो स्तन रूपी स्वर्ण के लड्डू रखे हुए शोभित होते रहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि सोने के दो सुन्दर कटोरे उलटे करके रख दिये गये हों । वह भी साधारणतया नहीं अच्छी तरह बांध कर रखे हुए हैं । ये दोनों कटोरे चाटुकार से प्रतीत होते हैं जो उभरे हुए हृदय की गरिमा का गुणगान करने के निमित्त हों । (स्वर्णमयी चोली की शोभा से भी अर्थ व्यंजित हो सकता है क्योंकि स्तन उससे बंधे हुए होने के कारण उभरे हुए प्रतीत होते हैं) या वे स्तन ऐसे लगते हैं मानो सुन्दर सुवर्ण के बेल लगाकर मानो खराद पर चढ़ाये गये हों या अमृत से भरपूर दो रत्न हों जो रत्न भर कर बांध दिये गये हैं ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के स्तनों पर जो काली घुंडी दिखाई देती है वह ऐसी प्रतीत होती है मानो केतकी फूल के कांटों में भंवरा उलझ गया हो तथा अब वह निकलने के निमित्त चोली को चीर देना चाहता हो । व्यंजना है कि स्तनों के अग्रभाग का पैनापन चोली को फाड़ डाल रहा है । यह स्तनों का उभार है जो कि उभरा पड़ता है या वस्त्रों से भी बाहर झांकता हुआ मानव हृदयों को चुटीला बना रहा है । पद्मावती के वे स्तन रूपी यौवन के तीर अब भरपूर तेज हो गये हों और और अब उनका रुक पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो रहा है । ये स्तन मस्ती से चलकर या उभरकर रसिक हृदय को जबरदस्ती से बांध लेना चाहते हैं । वस्तुतः प्रतीत तो ऐसा होता है कि वे स्तन दो सधे हुए बान हैं, वे भी साधारण बाण नहीं है, अपितु अग्निबाण हैं । कवि का कथन है कि यदि वे स्तन बंधे न होते तो सारे संसार को घायल कर देते । वे नीबू के समान हैं । उन नीबू के समान पके स्तनों की रखवारी होती रहती है । किसमें साहस है कि उनको यानी नीबू के समान स्तनों को छू सके । (यहां 'बारी' शब्द में श्लिष्टार्थ है । वाटिका और बालिका दोनों अर्थों का व्यंजक और द्योतक यह शब्द बड़ा सुन्दर अर्थ देने में सिद्ध हुआ है ।) कवि का कथन है कि इस पद्मावती की यौवन-वाटिका में ये दाडिम या द्राक्षा के समान स्तन अचुम्बित और अस्पर्शित है । अभी किसी ने भी इनका रस नहीं लिया है । न मालूम कौन ऐसा भाग्यशाली है जो इनका आनन्द लेगा । विधाता ही जानता है कि इन को किसके निमित्त सुरक्षित रखा गया है ।

अन्त में जायसी का हीरामन तोता कहता है कि हे राजा उन स्तनों को पाने के लिए बहुत से राजा और प्रतापी वीर आ-आकर पृथ्वी पर मस्तक रगड़ चुके है, किन्तु कोई भी उनको छू नहीं सका है । इस प्रकार वे सभी के सब निराश और हाथ मीड़ते वापस चले गये हैं ।

विशेष—१. अलकृति की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा मार्मिक बन गया है । यद्यपि यह ठीक है कि कवि ने हेतूत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का पर्याप्त सहारा लिया है किन्तु फिर भी वर्णन रसप्रद और विश्वसनीय प्रतीत होता है ।

१. हिया थार कुच कंचन लाडू—रूपक ।

२. कुदन वेल साजि जनु कूंदे—उत्प्रेक्षा ।
३. वेधे भंवर कंट केतुकी—रूपकातिशयोक्ति ।
४. उतंग जमीर.........राखे—मुद्रा अलकार ।

२. वर्णन में नग्नता और मांसलता है । यह वर्णन राजा रत्नसेन की हृदयगत भावनाओं को और भी अधिक तीव्रता प्रदान कराने में समर्थ सिद्ध होता है ।

पेट परत जनु चंदन लावा । कुहंकुह-केसर-बरन सुहावा ।।
खीर अहार न कर सुकुवांरा । पान फूल के रहै अधारा ।।
साम भुअंगिनि रोमावली । नामी निकसि कंवल कहं चली ।।
आइ दुओ नारंग बिच भई । देखि मयूर ठमकि रहि गई ।।
मनहुं चढ़ी भौंरन्ह कं पांती । चंदन-खांभ बास कं माती ।।
की कालिंदी विरह-सताई । चलि पयाग अरइल बिच आई ।।
नाभि-कुंड बिच वारानसी । सौंह को होइ, मीचु तहं बसी ।।

सिर करवत तन करसी बहुत सीझ तेहि आस ।
बहुत धूम घुटि घुटि मुए, उतर न देइ निरास ।। १६ ।।

शब्दार्थ—लावा—लगाया गया, कुंहकुंह—कुंकुम, सुहावा—शोभित होता है, अहार—भोजन, सुकुंवारा—सुकुमारी पद्मावती, अधारा—आधार से या थोड़े से आधार पर, साम—श्याम, भुअंगिनी—भुजगिनी, रोमावली—रोमावली, निकसि—निकलकर, दुओ—दोनों, मनहुं—मानो भौंरन्ह—भौंरा, चदन खांम—चन्दन के स्तम्भ, पयाग—प्रयाग, अरइल—प्रयाग में वह स्थान जहां जमुना गगा से आकर मिलती है, नाभिकुंद—नाभि के कुंड, मीचु—मौत, करवत—आरा, करसी—करीब या उपले या कडे की आग जिसमें शरीर सिझाना बड़ा तप समझा जाता था ।

सप्रसग व्याख्या—इन पंक्तियों में हीरामन तोता पद्मावती के पेट के सौन्दर्य को बता रहा है । वह कहता है—

हे राजा ! उसका पेट ऐसा है मानो चन्दन का पत्र हो । वह कुंकुम और केसर के रंग के समान शोभायमान है । वह ऐसा सुकुमार है कि दूध का हलका भोजन भी नही पचा सकता है । वह पान-फूल या बहुत हल्के कुछ सुगंधित द्रव्यों पर ही जीवन चला रहा है । उस पदमावती की नाभि से रामावली की पंक्ति ऊपर को जाती है जैसे काली नागिन निकलकर कमल मुख की ओर जा रही है । वह दोनों नारगियों के बीच खड़ी हुई, पर मोर गर्दन को देखकर रुक गई है । लगता है कि भौंरों की टोली ऊपर को चढ़ा जा रही है तथा चंदन के खभे की सुगंध पर मतवाली हो गई है या विरह से संत्रस्त यमुना स्वय चलकर गगा के पास या अरैल और प्रयाग के पास आ गई है । उस पद्मावती की नाभि काशी करवट के कुण्ड या कुंए जैसी है, जहां मौत का वास स्थान है ।

जायसी कहते हैं कि अनेक राजाओं ने पद्मावती की प्राप्ति की आशा लेकर काशी करवट ली, सिर कटवाया, उपले जला-जलाकर तप के धुए में घुट मरे, किन्तु देखा जाता है कि उस प्रेयसी ने उसके प्यार-प्रदर्शन का कोई एवज नहीं दिया-वह ममत्वहीन रही । आशय यह है कि पद्मावती को प्राप्त

कर लेना कठिन व्रत या साधना ही है। बिना कठिन साधना के पद्मावती की प्राप्ति असभव और कठिन है। सामान्यतया प्रेम का मार्ग भी सूफी सिद्धान्तो के आधार पर कोई लड्डू नहीं जिसे चाहे जो खाले।

विशेष—स्त्रियों की रोमावली का वर्णन केवल 'कवि रूढ़ि' के रूप में किया गया है। विद्यापति की उपमा भी (हृदय की रोमावली के लिए दी गई) जायसी से मिलती जुलती है। वे कहते हैं—

नाभि विवर सय लोम लतावलि,
भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम भय,
कुच गिरी सधि निवासा॥

बैरिनि पीठि लीन्हि वह पाछे। जनु फिरि चली अपछरा काछे॥
मलयागिरि कै पीठि संवारी। बेनी नागिनि चढ़ी जो कारी॥
लहरैं देति पाठि जनु चढ़ी। चीर-ओहार केंचुली मढ़ी॥
दहु का कहं अस बेनी कीन्हीं। चंदन बास भुअगै लीन्हीं॥
किरसुन करा चढ़ा ओहि माथे। तब तो छूट, अब छुटै न नाथे॥
कारे कवंल गहे मुख देखा। ससि पाछे जनु राहु बिसेखा॥
को देखै पावै वह नागू। सो देखे जेहि के सिर भागू॥

पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहां बईठ।
छत्र, सिंघासन, राज, धन ताकह होइ जो डीठ॥१७॥

शब्दार्थ—बैरिन=दुश्मन, पीठि=पीठ, ओइ पाछे=उसे पीछे की ओर, अपछरा=अप्सरा, चीर=वस्त्र, ओहार=ओढ़ा कर, केंचुली=केंचली, बेनी कीन्ही=वेणी बनाई है, भुअंगै=भुजंग, करा=कला से,अपनी कान्ति से या तेज से, ससि पाछे=चन्द्रमा के पीछे, राहु बिसेखा=राहु विशेष हो. नागू=नागिन, माथे मनि भागू=मस्तक में या सिर में बड़ा भाग है, पन्नग= सर्प, बईठ=बैठा हो।

सप्रसग व्याख्या—इन पंक्तियों में तोता पद्मावती की पीठ और उस पर झूलती वेणी की प्रशस्ति करता हुआ कहता है—

हे राजा! बैरिन पीठ ने उस पद्मावती की सुन्दर चोटी या वेणी को पीछे की ओर लटका रखा है। पीठ पर लहराती वह वेणी ऐसी प्रतीत होती है जैसे कोई सजी-धजी अप्सरा जा रही हो। उसकी पीठ की शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि उसकी पीठ मलय गिरि पर्वत सी सुन्दर लगती है। वह भी ऐसा मलयगिरि पर्वत जिस पर नागिन लहरें ले रही हो। उस पद्मावती की पीठ पर लहराती चोटी ऐसी प्रतीत होती है मानो लहरिल गति से दौड़ता-घूमता कोई सांप उसकी पीठ पर हो तथा श्वेत चुनरिया ओढ़े हुए हो। पद्मावती के वेणी पीठ पर लहराती है, उसके ऊपर वह कपड़ा-ऐसा कपड़ा धारण करती है जो पारदर्शी हो। वेणी के ऊपर का हलका श्वेत वस्त्र ऐसा प्रतीत होता है मानो नागिन के शरीर पर केंचुल मढ़ी हुई हो। कौन कह सकता है कि इस वेणी का उपभोक्ता कौन है? पद्मावती के शरीर की चदन जैसी सुगन्ध को वेणी रूपी सर्पिणी ने प्राप्त किया है।

जायसी कहते हैं कि कृष्ण अपनी कला के बल पर शेषनाग के माथे पर चढ़ गये थे, किन्तु वह फिर छूट गया। अब पद्मावती का चोटी रूपी नाग चुटीले से बचा है, छूट भी नहीं सकता है। कारण वह बाँध दिया गया है। मुख के पीछे काली सर्पिणी सदृश चोटी लहराती है तो लगता है मानों कालिय-नाग के कमल को मुख में पकड़ लिया गया है, या ऐसा प्रतीत होता है कि चांद के पीछे राहू विशेष रूप से घिरा हुआ है। कहा नहीं जा सकता है कि उस नाग वेणी को कौन प्राप्त करेगा। वास्तव में वही उसे देख सकता है जिसके पास सौभाग्य की मणि है। तात्पर्य सौभाग्यशाली ही उसे पा सकेगा।

कवि कहता है कि सर्परूपा वेणी कमल रूपी मुख को पकड़े है और उसके ऊपर खंजन रूपी नेत्र बैठे हैं। जो कोई भी पद्मावती के इस सुन्दर स्वरूप को देखकर कृतार्थ हो जायेगा तभी उसे छत्र, सिंहासन, राज्य और धनादि सभी कुछ प्राप्त हो सकेगा।

विशेष—इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा, संदेह और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

लंक पुहुमि अस आहि न काहू। केहरि कहौं न ओहि सरि ताहू ।।
बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह खीनी ॥
परिहंस पियर भए तेहि बसा। लिए डंक लोगन्ह कहं डसा ।।
मानहुं नाल खंड दुइ भए। दुहुं बिच लंक-तार रहि गए ।।
हिय के मुरे चलै वह तागा। पैग देत कित सहि सक लागा ? ।।
छुद्रघंटिका मोहहि राजा। इंद्र-अखाड़ आइ जनु बाजा ।।
मानहुं बीन गहे कामिनी। गावहिं सबै राग रागिनी ।।

सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु।
तेहि रिस मानुस-रकत पिय, खाइ मारि कै मांसु ।।१८।।

शब्दार्थ – लंक=कमर, पुहुमि=पृथ्वी, अस आहि न कहूं=ऐसी कमर किसी की भी नहीं है, केहरि=शेर, ओहि=उसकी, सरिताहू=उसकी समानता, बसा=बर्र, भिड़ जगझीनी=संसार में पतली, बरनै=वर्णित की जाती है, परिहंस=ईर्ष्या या डाह पियर=पीले, डंक=चोट, लोगन्ह कहं डसा=लोगों को डसने के लिए, नाल खण्ड दुइ भए=नाल खण्ड दो हो गये, लंक-तार=केले को तोड़ने से दोनों हिस्सों के बीच पतला सा पदार्थ या रस, पैज=मचक आदि, छुद्रघटिका=छुद्रघटिकाया घुंघरूदार करधनी, बीनगहे=वीणा को ग्रहण कराती, कामिनी=स्त्रियां, सबै=सभी, हारिलीन्ह=हारकर, मानुष रक्त पिय=मनुष्य का रक्त पीते हैं।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में पद्मावती की कटि का वर्णन है। कवि जायसी कहते हैं—

पद्मावती की सी कटि या कमर पृथ्वी पर किसी की भी नहीं है। यदि केहरी या सिंह से उसकी तुलना करूं तो भी वह उसकी समानता नहीं कर सकता है। संसार में बर्र या भिड़ की कमर पतली कही जाती है किन्तु पद्मावती की कमर तो उससे भी क्षीण है। जायसी कहते हैं कि बर्र पीले रंग का इसलिए हो गया है कि उसे इस बात की चिन्ता है कि पद्मावती की कटि

इतनी पतली क्यों है। तात्पर्य यह है कि भिड़ या बर्र की कमर ईर्ष्यावश पतली हो गई है तथा उसी क्रोध में डंक लेकर लोगों को मारती फिरती है। जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार कमल दण्ड को तोड़ देने पर उसका पतला रेशा दोनों खण्डों के बीच रह जाता है उसी प्रकार पद्मावती की कमर कमलिनी के पतले तारों के समान नीचे और ऊपर के खण्डों या भागों को जोड़े हुए है। तार सी या तार के समान कमर (पद्मावती की) इतनी पतली है कि वह प्रत्येक हृदय के भाव परिवर्तन के साथ मुड़ती रहती है। वह इतनी नाजुक और कोमल है कि वह कदमों का भार भी बड़ी मुश्किल से सहन कर पाती है। तात्पर्य यह है कि पद्मावती की कटि कमल के रेशे के समान पतली है, अतः पद-प्रक्षालन के समान यह भय बना रहता है कि कहीं वह टूट न जाये। कमर में जो घूघरदार कधनी बधी है, उसे देखकर राजा लोग मोहित हो जाते हैं। किंकिणी को मधुर झंकार सुनकर ऐसा प्रतीत होता है मानो इन्द्र का अखाड़ा सजा हुआ है। घुघरूओं की ध्वनि ऐसी लगती है मानो उसने वीणा ले रखी है और उस पर सभी राग रागनियां बज रही हैं।

कवि जायसी कहते हैं कि पद्मावती की तुलना में कोई भी विजयी न हो सका है। सिंह की कमर प्रसिद्ध है, क्षीण बताई जाती है, वह भी पद्मावती की तुलना में व्यर्थ है, अतः इसी कारण वह वन में रहने लगा है। वन मे रहते रहते ही वह क्रोधाभिभूत होकर मनुष्यों को मार-मार कर खा रहा है तथा उनका रक्त पीता और मांस भक्षण करता है।

विशेष—इस पद में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार की योजना विशिष्टता लिए हुए है। कल्पना और सुकुमार भावनाओं का वर्णन करने में जायसी को कमाल हासिल है। यह छन्द भी इसका अपवाद नहीं हैं।

नाभिकुंड सो मलय समीरू। समुद-भवर जस भवै गंभीरू॥
बहुतै भवर बवंडर भए। पहुचि न सके, सरग कहं गए॥
चंदन मांझ कुरंगिनि खोजू। दहु को पाउ, को राजा भोजू॥
को ओहि लागि हिवचल सीझा। का कहं लिखी, ऐस को रीझा?॥
तीवइ कवल सुगध सरीरू। समुद-लहरि सोहे तन चीरू॥
भूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मैन अस का पर कोपा?॥
अबहिं सो अहैं कंवल कै करी। न जनौ कौन भौंर कहं धरी॥
बेधि रहा जग बासना परिमल मेद सुगध।
तेहि अरघानि भौंर सब लुबुधे तजहिं न बंध॥ १९॥

शब्दार्थ—नाभी कुंड=गुह्य स्थान, अश्लीलत्व से बचने के लिए जायसी ने सभवतः इस शब्द का प्रयोग किया है, भंवै=घूमता है, भंवर=चक्कर, ववंडर=तूफान या चक्र, कुरंगिनि=हिरणी, खोजू=खोज का चिह्न या खुर का पड़ा हुआ निशान, (स्त्री के गुह्य स्थान के निमित्त हिरणी के पद चिह्न का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है—

अन्यत्र भीष्माद् गांगेयादन्यत्र च हनूमतः।
हरिणी खुरमात्रेण मोहितं सकलं जगत्॥)

हिवंचल=हिमाचल, सीझा=तपा, तीवइ=स्त्री, सरीरू=शरीर, समुद लहर=समुद्र की लहरों के समान वस्त्र, सोंह तन चीरू=शरीर पर शोभित होता है,

झोंपा=गुच्छा, साजि मैन=मदन कोस जाकर, कापर=किस पर, कोपा=क्रोध, अहै=है, करी=कला, कहं घरी=किसके निमित्त है, वासना=सुगंधि, परिमल=सुगध, अरवानि=आघ्राण या महक।

सप्रसग व्याख्या—प्रस्तुत छन्द में कवि जायसी तोते के माध्यम से पद्मावती की नाभि का स्पष्टतः वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—

हे राजा उस पद्मावती के नाभि-कुण्ड से मलयानिल जैसी सुबास या सुगंध आती रहती है। वह समुद्र के भंवर के समान घुमावदार और गहरी है। बहुत से रसिक उस भवर के ववंडरों में पास हैं, पर उसके पार नहीं पहुँच सके हैं। इतना ही नहीं वे पद्मावती का आनंद न लूट सके हैं और मिट गये हैं। नाभिकुंड कह कर कवि ने ग्रह्य स्थल योनि का वर्णन किया है। वह स्थान ऐसा है मानो चन्दन वन में हिरनी के खुर का निशान हो। व्यजना यह है कि उसका आकार छोटा और सुन्दर है। कौन जाने, कौन राजा भोज सा प्रेमी-पराक्रमी उस सुन्दरी स्त्री को व्याह कर लायगा।

जायसी कहते हैं कि कौन ऐसा तपस्वी है कि जिसने उसके लिए हिमालय पर जाकर तपस्या की है? कौन ऐसा है जो पद्मावती पर रीझेगा। वस्तुतः उस स्त्री के शरीर से कमल की सुगव निकलती है, उसके शरीर पर समुद्र लहर नामक वस्त्र शोभित होते रहते हैं या वह तन पर जो वस्त्र पहनती है, वह समुद्र-लहर के समान लहरदार और प्रिय है। उस पद्मावती के रत्न जटित रेशमी झालर लटकते हुए मनहरण प्रतीत होते हैं या उसके शरीर पर रत्नों और रेशम के झुग्गे झूलते रहते हैं। उसके रूप-सौन्दर्य को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो सज-धजकर कामदेव ने किसी को परास्त करने के निमित्त क्रोध किया है। अभी तो पद्मावती कमल-कली के समान नव विकसित कलिका है। तात्पर्य यह है कि हे राजा, अभी तो पद्मावती का रूप-यौवन विकसित हुआ ही है; वह कुमारी है, किसी की दृष्टि तक उसकी ओर नहीं लगी है। कहा नही जा सकता है कि यह कलिका जो सौन्दर्य की प्रतिमा है किसके निमित्त बनाई गई है। तात्पर्य यह है कि यह कहा नही जा सकता कि इस पद्मावती का रूप यौवन किस का हनन करेगा या किस के साथ व्याह करेगा।

जायसी कहते हैं कि उस पद्मावती के रूप रस की सुगंध से संसार आविद्ध है। उसकी तन सुगध काम भाव को उत्तेजित करने वाली है तथा परिमल की भांति है। उसकी वासना की गध से लुब्ध होकर समस्त भ्रमर और रसिक जन उसकी नीवी को नहीं छोड़ते हैं। व्यंजना यह है कि सभी भ्रमर-से प्रेमी उसको पाने के निमित्त लालायित रहते हैं, किन्तु किसी को भी वह प्राप्त नहीं हो सकती है।

विशेष—इस वर्णन में अश्लीलता आ गई है, किन्तु यह अश्लीलता तो कई अन्य कवियों में भी मिलती है। सूर भी इससे बचे नहीं हैं।

बरनौं नितंब लंक कै सोभा। औ गज-गवन देखि मन लोभा॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए। केरा-खंभ फेरि जनु लाए॥
कवंल चरन अति रात बिसेखी। रहैं पाट पर, पुहुमि न देखी॥
देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। जहं पगु धरै सीस तहं देहीं॥

है। तात्पर्य यह है कि प्रेम के पाश में पड़ कर प्रेमी बेहोश होकर भांवरे भरने लगता है या चक्कर में पड़ कर सभी कुछ भूल जाता है। परिणामतः रत्नसेन की अवस्था भी ऐसी ही हो गई है। पल-पल उसके प्राण हिचकोले ले रहे हैं; उसकी श्वास तीव्रता से चल रही है। क्षण-क्षण में वह रत्नसेन राजा श्वासहीन हो जाता है। एक क्षण में सांस चली जाती है तो दूसरे ही क्षण वह जीवित होकर श्वांस लेने लगता है। क्षण में अचेत हो जाता है तो क्षणान्तर में ही सांस लेता हुआ चैतन्य होकर पागलों की भांति बौराया सा या पगलाया सा रहता है। कभी विरहातिरेक से उसका मुख पीला पड़ जाता है तो कभी श्वेत हो जाता है। क्षण में ही चैतन्य और क्षण में ही अचेत हो जाता है।

जायसी कहते हैं कि प्रेम की अवस्था बड़ी कठिन है; सच तो यह है कि वह मरण से भी कठोर है। इस अवस्था में आकर न तो जीव को जीवन प्राप्त होता है और न मृत्यु ही प्राप्त होती है। इस स्थिति में तो यह प्रतीत होता है कि प्राण लेने वाला प्राणों का हरण कर लेता है या करता जान पड़ता है। प्रतीत तो ऐसा भी होता है कि वह धीरे-धीरे छुरा चला रहा है और बेचारा प्रेमी कुछ भी नहीं बोल पाता है; केवल त्राहि-त्राहि करता है।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने प्रेम की गहराई तथा विरह की गंभीर पीड़ा या कसक का बड़ा तथ्यात्मक वर्णन किया है। जायसी जैसा प्रेम और विरह का कवि शायद ही कोई हुआ हो। सच तो यह है कि सूफी धर्म के आधार पर जायसी ने इसमें गंभीरता और अनुभूति की सत्यता का भाव भर दिया है।

जायसी का यह कथन जिसमें कहा गया है कि प्रेम मार्ग कठिन है और इसकी वेदना को वही जानता है जो इसको अनुभव करता है या प्रेम की गंभीर चोट सहता हुआ विरहानुभूति के मार्ग से गुजरता है, सूर की इन पंक्तियों से मिलता जुलता है—

जिहि कैं लगे सोइ पै जाने प्रेम-बान अनियारो।

मीरा ने भी इसी प्रकार का भाव द्योतित किया है। वह स्थिति जिसमें न तो प्राणों की सुरक्षा संभव है और न मरण ही बड़ी महत्त्वपूर्ण अनुभूति है। जायसी की निम्नलिखित पंक्ति से नीरज की पंक्तियों को मिलाकर पढ़िये—

कठिन मरन तें पेम-व्येवस्था। ना जिउ जिवन त दसवं अवस्था॥

नीरज ने भी लिखा है कि प्रेम में ऐसी स्थिति भी आ जाती है जबकि प्रेमी न तो जीवित रह पाता है और न मर ही पाता है। इस संकटपूर्ण स्थिति की योजना देखिए—

तुम्हारे बिना आरती का यह दिया।
न जल पा रहा है न बुझ पा रहा है।

इन पंक्तियों में जायसी का वर्णन-कौशल और वर्णन वैशिष्ट्य देखते ही बनता है।

जहं लगि कुटुंब लोग औ नेगी । राजा राय आए सब बेगी ।।
जावत गुनी गारुड़ी आए । ओझा, बैद, सयान बोलाए ।।
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी । नियर नाहिं ओषद तहँ बारी ।।
राजहि आहि लखन कै करा । सकति-कान मोहा है परा ।।
नहिं सो राम, हनिवंत बड़ी दूरी । को लेई आव सजीवन मूरी ? ।।
विनय करहिं जे जे गढ़पती । का जीउ कीन्ह, कौन मति मती ? ।।
कहहु सो पीर काह पुनि खांगा ? । समुद सुमेरु आव तुम्ह मांगा ।।

धावन तहां पठावहु देहि लाख दस रोक ।
होइ सो बेलि जेहि बारी, आनहिं सबै बरोक ।। २ ।।

शब्दार्थ—नेगी—इनाम इकराम पाने वाले नौकर-चाकर, बेगी—शीघ्रता से, जावत—जितने, गारुणी—सर्प का विष उतारने वाले या तांत्रिक, दूसरे शब्दों में विष-वैद्य, ओझा—भूत प्रेतों के पूजक, सयान—ये भी इसी प्रकार के होते हैं, चरचहिं—चर्चा करना या वर्णन करना चेष्टा—हालत, परिखहिं—परखते हैं, नियर—निकट, ओषद—औषधि, तहं—वहां, बारी—वाटिका, यहां श्लेष पद्मावती के लिए भी अर्थ दे रहा है, सजीवन मूरी—सजीवनी मूर या सजीवनी की बूटी, मती—मतिमान या बुद्धिमान, पीर—वेदना, पुनिखांगा—खग, धावन—दौड़ने, पठावहु—भेजो या भेजना, आनहिं—लाना, बरोक—वर को दी जाने वाली दक्षिणा।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व पंक्तियों के संदर्भ में ही जायसी कहते हैं कि राजा की अचेतावस्था को जानकर सभी नौकर-चाकर दौड़े आये। जो भी वैद्य और गुणी थे वे सभी आ गये। उन सभी बातों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

जायसी कहते है कि जितने भी परिवार के लोग थे, वे सभी तथा नेगी और वैद्य आदि आ गये। तात्पर्य यह है कि राजा की अवस्था को देखकर सभी आ गये हैं। राजा की विरहावस्था लक्ष्मण की मूर्छा के समान है। वह प्रेम अथवा मोह के शक्तिबाण से घायल हो गया है। यहां लक्ष्मण की भांति इसके रोग का उपचार करने के लिए राम नहीं, हनुमान भी दूर है फिर इस राजा के जीवन के लिए संजीवनी बूटी कौन लेकर आयगा। तात्पर्य राजा मूर्छित है, उसे इस प्रेम-मूर्च्छा से जगाने के निमित्त पद्मावती की आवश्यकता है। जितने भी गढ़पति थे सब प्रार्थना करने लगे। उन्होंने मिलकर कहा कि हे राजा, कहां किस वस्तु की चाह है ? मन में क्या चिन्ता है ? तुम्हें किस वस्तु का अभाव खल रहा है ? ऐसी कौनसी वस्तु है जो तुम्हें खल रही है। ऐसी कौनसी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है। यदि तुम मांगो तो समुद्र और सुमेरु भी तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए लाये जा सकते हैं।

जायसी कहते हैं कि उस स्थान पर दूत भेजो जहां उपचार की औषधि है और जो भी जायेगा तथा सफलता प्राप्त करेगा उसे दस लाख की रोकड़ भी दी जायगी। जिस किसी भी वाटिका में वह औषधि बेल हो, उसे ले आओ। उसके मिल जाने पर सभी को दक्षिणा दी जायगी।

विशेष—राजा रत्नसेन का प्रेम रोग भयंकर है। वह तभी दूर हो सकता है जबकि पद्मावती का संयोग प्राप्त हो। उसके रोग की दवा मात्र

के रोग की औषधि से मिलती जुलती है—

मीरा की प्रभु पीर मिटेगी।
जब वैद संवरिया होय ।।

जब भा चेत उठा बैरागा । बाउर जनौं सोइ उठि जागा ।।
आवत जग बालक जस रोआ । उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ । इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ? ।।
केइ उपकार मरन कर कीन्हा । सकति हँकारि जीउ हर लीन्हा ।।
सोवत रहा जहाँ सुख-साखा । कस न तहाँ सोवत विधि राखा ? ।।
अब जिउ उहाँ, तहाँ तन सूना । कब लगि रहै परान-बिहूना ।।
जौ जिउ घटहि काल के हाथा । घट न नीक पै जीउ-निसाथा ।।

अहुठ हाथ तन-सरवर, हिया कवँल तेहि माँह ।
नैनहि जानहु नीयरे, कर पहुँचय-औगाह ।। ३ ।।

शब्दार्थ—भा=हुआ, चेत=चेतना, बैरागा=वैराग्य, बाउर-बावला, जस रोआ=जिस प्रकार रोता है, खोआ=खाना, अमरपुर=इन्द्रपुरी, मरनपुर=संसार, परान विहूना=प्राणों से रहित, अहुठ=साढ़े तीन, नीयरै=निकट, औगाह=अवगाह या थाह लेना ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने राजा रत्नसेन के चैतन्य स्वरूप का वर्णन किया है । वस्तुतः प्रेम की अनुभूति मधुरिम और स्वपनिल होती है । कवि जायसी ने इसी अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है ।

जैसे ही राजा को होश हुआ वैसे ही उसके मन में वैराग्य जाग उठा । उसकी यह अवस्था ऐसी प्रतीत होती थी मानो रत्नसेन कोई विक्षिप्त है जो सोकर उठा है । प्रेम में राजा रत्नसेन की अवस्था पागलों की जैसी हो गई है । कवि कहता है कि जाग्रत होते ही वह इस प्रकार रोने लगा जैसे संसार में जन्मते ही बच्चा रोने लगता है । रत्नसेन रोते हुये कहने लगा कि मैंने जो मधुर स्वप्न देखा था वह ज्ञान कहां चला गया । तात्पर्य यह है कि राजा अचेतावस्था में जिस आनन्दमयी अनुभूति को भोग रहा था वह समाप्त हो गई है । इसी संदर्भ में वह कहता है कि मैं तो अमरपुर में था, वहां रहकर मैं प्रेम का अनुभव कर रहा था । अब इस मृत्युलोक में आकर मैं परेशान हो गया हूं । मैं यहां मृत्युलोक में कहां और कैसे आ गया हूं ? किसने मेरे साथ यह भृत्यपूर्ण उपकार किया है ? मेरी सोई शक्ति को जगाकर किसने यह जान

स्थल आंखों से तो निकट और सहज प्रतीत होता है, किन्तु हाथ से ग्रहण करने में यह तभी प्राप्त होगा जबकि गहरे जल में अवगाहन किया जाय । व्यंजना यह है कि प्रेम स्थूल नहीं सूक्ष्म है। जो सूक्ष्म है उसके लिये कठिन साधना और लगन की आवश्यकता होती है।

सवन्ह कहा मन समुझहु राजा । काल सेंति कै जूझ न छाजा ।।
तासौं जूझ जात जो जीता । जानत कृष्ण तजा गोपीता ।।
औ न नेह काहू सौं कीजै । नांव मिटै काहे जिउ दीजै ।।
पहिले सुख नेहहि जब जोरा । पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा ।।
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू । पहुंचि न जाइ परा तस फेरू ।।
ज्ञान-दिष्टि सौं जाइ पहूंचा । पेम अदिष्ट गगन तें ऊंचा ।।
धुव तें ऊंच पेम-धुव ऊआ । सिर देइ पांव देइ सो छूआ ।।

तुम राजा औ सुखिया, करहु राज सुख भोग ।
एहि रे पंथ सो पहुंचै सहै जो दुःख बियोग ।। ४ ।।

विशेष–इन पंक्तियों में प्रेम को सूक्ष्म और सत्य स्वप्न के रूप में चित्रित किया गया है। एक अंग्रेजी कवि ने भी तो कहा है–"Love is but an ever lesting dream". दोहे में रूपक का अच्छा निर्वाह हुआ है।

शब्दार्थ–सवन्ह–सभी ने। मन समझउ–मन में चैन लाओ या मन को संभालो। काल सेंति–काल से। छाजा–शोभायमान। तासौं–उससे। काहूसों–किसी से। नेहहे–स्नेह। निबाहत–निर्वाह करते समय। ज्ञानदिष्टि–ज्ञान की दृष्टि से अथवा विवेक की आंखों से। पेम अदिष्ट–प्रेम अदृश्य है। जगत तें ऊंचा–आकाश के समान ऊंचा है तथा स्वर्ग के समान सुन्दर और अमृतोपय है। धुवतें–ध्रुव तारे से। ऊआ–उदित हुआ। सिर देइ–सिर को त्याग कर। पांवदेइ–कदमों से प्रवेश करके। सुखिया–सुखी और समृद्ध। ऐहिट पन्थ सो पहुंचै–इस मार्ग पर वही पहुँचता है।

सप्रसंग व्याख्या–इन पंक्तियों में कवि जायसी दिव्य-प्रेम की पावनता और सत्यता का परिचय दे रहे हैं। वे कहते हैं—

कवि कहता है कि सभी ने कहा कि हे राजा! मन को समझाओ! प्रेम के निमित्त मनुष्य को मृत्यु से भी संघर्ष करना पड़ता है किन्तु आपके लिए यह शोभनीय नहीं विदित होता है। यह बुद्धिमत्ता नहीं कि प्रेम के लिए तुम इतने व्यथित होकर संघर्ष करो! इसका कारण यह है कि युद्ध उससे किया जाता है जिससे जीतने की आशंका हो। जहां सफलता की आशा न हो वहां किसी प्रकार के संघर्ष के लिए तैयारी होने की व्यर्थता स्वतः ही प्रमाणित है। यदि उससे लड़ करके जीता जा सकता तो कृष्ण क्या गोपियों को छोड़कर चले जाते। जायसी कहते हैं कि किसी से प्रेम नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रेम का नाम तो मधुर है किन्तु उसका स्वाद जीवन ले लेता है। सबसे पहले जब प्रेम सम्बंध स्थापित होता है तो सुखानुभव होता है, किन्तु जब उसके निर्वाह करने का प्रश्न उठता है तो मुश्किल का सामना करना पड़ता है। व्यंजना यह है कि प्रेम जोड़ना सरल है, किन्तु उसका निर्वाह कठिन है। अतः हे राजा! आपको प्रेम सम्बंध करना नहीं चाहिए क्योंकि फिर इसका निर्वाह कठिन हो जायगा।

जायसी कहते हैं कि यह शरीर साढ़े तीन हाथ का है, जो घुमावदार सुमेर पर्वत के समान है। इस मार्ग में फेर या चक्कर इतने हैं कि इसमें उलझ जाने से निकलना कठिन है। तात्पर्य यह है कि ऐहिक जीवन का चक्र पार नहीं किया जा सकता है। इसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रेम-पथ तथा उसका निर्वाह सरल कार्य नहीं है। प्रेम दृष्टि रखकर आकाश से ऊंचे सुमेर पर चढ़ा जा सकता है, किन्तु स्वयं प्रेम अदृश्य है, आकाश सा अनन्त है। आकाश के ध्रुव तारे से भी प्रेम का ध्रुव तारा ऊंचा उगता है। जायसी कहते हैं जो पहले सिर दे सकता है वही प्रेम मार्ग में प्रेम के ध्रुव को छू सकता है। तुम तो राजा हो और सब प्रकार से सुखी हो, आराम से राज और सुखानुभव करो। इस मार्ग में वही सफलता पा सकता है जो विरह का दुख सहन कर सकता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया गया है। प्रेम मार्ग की व्यंजना और अच्छाइयां तथा बुराईयां दोनों ही इस छन्द में चित्रित की गई हैं। प्रेम को ध्रुव तारे से भी ऊंचा बताने की बात शेक्सपीयर ने भी कहा है। उसने प्रेम को ध्रुव तारे से भी ऊंचा बताया गया है। शेक्सपीयर ने भी लिखा है:—

"O, No ! It is an ever fixed mark.
That looks on tempests and is never shaken.
It is the star to every wandering bark,
Whose worth's unknown, although his light be taken."

२. प्रेम मार्ग की सफलता सिर देकर ही होती है। जो व्यक्ति सिर देकर अपने प्राणों को गंवा सकता है वही सफलता के कदम चूम सकता है। कबीर की ये पंक्तियां भी इसी संदर्भ में द्रष्टव्य हैं:—

यह तो है घर प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुइं धरै, तब आवे घर मांहि॥

दिनकर ने भी कहा है:—

सिर देकर सौदा करते हैं जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा।
फीका रंग रहा तो तब फिर क्या गैरिक परिधान करे॥

सुए कहा मन बूझहु राजा। करब पिरीत कठिन है काजा॥
तुम राजा जेईं घर पोई। कवंल न भेंटेउ, भेंटेउ कोई॥
जानहिं भौंर जौ तेहि पथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिएहु न छूटे॥
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइय नाहिं जूझ कर साजू॥
ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा, सन्यासी॥
भोग किए जौं पावत भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥
तुम राजा चाहहु सुख पावा। भोगहि जोग करत नहिं भावा॥
साधन्ह सिद्धि न पाइय जौ लगि सधै न तप्प।
सो पै जानै बापुरा करै जो सीस कलप्प॥ ५॥

शब्दार्थ-मन बूझउ राजा—मन में समझो राजा !, करब पिरीत—प्रीति करना, जेंईं—खाई है, घर पोई—घर की बनी हुई, कोंई—कुमुदिनी, जूझकर—युद्ध करके, जतो—यती, भोग—आनंद या विलास, चाहहु—चाहते हो,

भोगहि जोग—भोग को योग की बात नहीं सुहाती है, तप—तपस्या साधन्ह—साध या इच्छा मात्र से, बापुरा—बेचारा, कलप्प—काट डाले।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी तोते के मुख से प्रेम करने की कठिनाई को ही व्यंजित किया है। यह पद भी पूर्व पद के प्रसंग या संदर्भ के साथ ही पढ़ा जाना चाहिए। वे कहते हैं:—

तोते ने कहा कि हे राजा! मन में पूरी तरह सोच समझ लो; प्रेम करना कोई साधारण काम नहीं है-वह तो कठिन कार्य है या साधना है। सच तो यह है कि तुमने अभी तक घर की पकी-पकाई रोटियां ही खाई हैं। तात्पर्य यह है कि आराम से ही जीवन बिताया है; जो जब चाहा है तब पा लिया है :कोई भी कठिनाई सामने नहीं आई है। परिणामतः पद्मावती को पाने के लिए जो साधना करनी पड़ेगी; वह तुम कर पाओगे भी या नहीं, कहा नहीं जा सकता है। वह तोता इसी संदर्भ में एवं दृष्टान्त देता हुआ कहता है कि कमल पर बैठने का कष्टप्रद आनद तो भ्रमर ही अनुभव करता है। वह भी इसलिए कि वह प्रेम में लूटने के साथ लुटना भी जानता है। तुम जिसे कभी कष्ट का अहसास तक नहीं हुआ, वह इस कठिन प्रेम साधना को कैसे पा सकोगे? जीवन को देकर भी भ्रमर बंधन से नहीं हट पाता है। सिंहल का राज्य अर्थात् पदिमनी का प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। पहले तो दूरी और कठोर साधना तथा मार्ग की कठिनाइयां आदि सभी तुम्हें भुगतनी पड़ेगी; तब कहीं तुम उसे पाने की बात सोच सकते हो। वास्तविकता यह है कि राजा तुम अपना राजपाट देकर भी उस पद्मावती को पा नहीं सकते हो। प्रेम-मार्ग की सफलता की कामना तो वही कर सकता है जो योगी, यती, सन्यासी, उदासी आदि का वेश धारण कर सकता है।

जायसी कहते हैं कि यदि कोई भी व्यक्ति अपने सुखों का संग्रह मात्र करके या विलास करता हुआ पद्मावती को पा लेता तो उसकी प्राप्ति के लिए सभी सुख साधनों की क्या आवश्यकता पड़ती। यही बात तुलसीदास ने अपने मानस में इन शब्दों में व्यक्त की है—

जन्म-जन्म मुनि यतन कराहीं। अन्तराम कहि आवत नाहीं॥

तोता कहता है कि हे राजा। तुम सुख को सुख से पाना चाहते हो, किन्तु यह तुम्हारा भ्रम मात्र है। योग और भोग का क्या मेल संभव है? तात्पर्य यह है कि योगी को भोगादि विलासों को छोड़ना ही पड़ता है। जो भोगों को छोड़े बिना सुखाकांक्षी बनना चाहता है वह कभी भी सफल नहीं हो पाता है। कारण ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः सच तो यह है कि कामनाओं और आकांक्षाओं को अपनाकर कभी भी सिद्धि का द्वार नहीं दिखाई पड़ता है। यह सभी कुछ तभी संभव है जबकि कामना के अनुकूल साधना या श्रम अवश्य किया जावे। इस साधना या महत्ता का मूल्य वे ही जान सकते हैं जो कि सिर अर्पण करके मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रयास करते हैं।

विशेष—जायसी का प्रेम साधारण नहीं है। उसमें त्याग, कष्ट और बलिदान का तत्व प्रमुख है। जो कोई इसे कर गुजरता है वही सफलता के सोपान तक पहुँच पाता है। सूफी साधना में प्रेम को इसी प्रकार के अन्तर्गत रखा गया है। प्रेम में सिर देकर सौदा करने की बात प्रमुख है।

का भा जोग-कथनि के कथे । निकसै घिउ न बिना दधि मथे ॥
जौ लहि आप हेराइ न कोई । तौ लहि हेरत पाव न सोई ॥
पेम-पहार कठिन बिधि गढ़ा । सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा ॥
पंथ सूरि कै उठा अंकूरू । चोर चढ़ै, की चढ़ मंसूरू ॥
तू राजा का पहिरसि कंथा । तोरे घरहि माँझ दस पंथा ॥
काम, क्रोध, तिस्ना मद माया । पाँचौ चोर न छाँड़हि काया ॥
नवौ सेंध तिन्ह कै दिठियारा । घर मूसहिं निसि, की उजियारा ॥

अबहू जागु अजाना, होत आव निसि भोर ।
तब किछु हाथ न लागिहि मूसि जाहि जब चोर ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—का भा=क्या हुआ । जोग-कथनि के कथै=योग का कथन करने से क्या लाभ । निकलै=निकलता है । घिउ=घृत । दधि मथे=दधि के मथन करने से । जौ लहि = जब तक । आप हेराइन कोई=जब तक व्यक्ति स्वयं अपने को खो नहीं देता है । तौ लहि=तब तक । हेरत=खोजना । सिर सौं चढ़ा=सिर देकर चढ़ना या बलिदान करके कदम बढ़ाना । सूरि=शूर-वीर । अंकूरु=धार । पहिरसि कंथा=मोटे वस्त्र या गूदड़ी क्या पहनोगे । तोरे घरहिं=तेरे शरीर घर में । दस पंथा=दस मार्ग हैं, तात्पर्य इन्द्रियों के दस दरवाजे हैं । दिठियारा=देखा हुआ । मूसहिं=चुराना । अजाना=अज्ञानी । किछु हाथ न लागिहि=कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । मूसि जांहि सब चोर=सभी कुछ चोर चुरा ले जावेंगे ।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व पद के संदर्भ में ही कवि जायसी तोते के मुख से गुरुवत् प्रेम मार्ग की कठिन व्यवस्था और तदनुकूल साधना के मूल्य पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं कि योग की रट मात्र लगाने से कोई काम नहीं बन सकेगा; जब तक कि कोई ठोस कदम नहीं उठाया जायगा । वे कहते हैं—

हे राजा ! योग की कहानी पढ़ने-पढ़ाने या कहने-कहलवाने से कोई कार्य नहीं बनेगा; क्योंकि केवल कथन मात्र किसी भी कार्य के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं । बिना दही को बिलोये घी नहीं निकल सकता है । ठीक इसी आधार पर प्रेम मार्ग में कोई मधुर नवनीत जब तक प्राप्त नहीं हो सकता है तब तक कि साधना की कठिनता से प्रेम मधु को बिलोया न जावे । जायसी कहते हैं कि जब तक व्यक्ति अपने को स्वयं ही नहीं खो देता है तब तक सफलता नहीं है । दूसरे शब्दों में अपने आपको मिटा देने पर ही इष्ट को पाया जा सकता है अन्यथा नहीं । हे राजा ! ब्रह्मा ने प्रेम के पर्वत को बड़ी कठिनता से गढ़ा है । इस पर चढ़ने वाले वे ही होते हैं जो सिर देकर कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट होते है । प्रेम के पर्वत पर चढ़ने वाले मार्ग पर शूलियों की तीखी धारें हैं । उस पर या तो दण्डनीय चोर या फिर सूफी धर्मावलम्बी साधक मसूर ही चढ़ सकता है । तुम तो राजा हो; अतः गूदड़ी या मोटी फतूही धारण करना तुम्हारे लिए कठिन है । तुम्हारे हृदय में दस दरवाजों के रूप में दस इन्द्रियाँ हैं । तात्पर्य यह है कि राजा तुम इद्रियों के दास हो; फिर प्रेमामृत जो कि अमर आनन्द का प्रदाता है; कैसे उपलब्ध कर सकोगे ? इन्द्रियों का मार्ग अपनाने वाला व्यक्ति नाशवान होता है । काम, क्रोध, तृष्णा, मद, मोह और माया ये पांचों चोर तुम्हारे शरीर से लिपटे हुए हैं—इतने पर मुक्ति का कोई

मार्ग नहीं दिखाई देता है। इस प्रकार प्रेम का परम धन प्राप्त होना कठिन है। इस शरीर रूपी घर में नव सेंधे लगी हुई हैं। चोर रात दिन लूट रहे हैं। इसी कारण हे अज्ञानी, अब तो जागो, रात्रि का सवेरा होने वाला है, अगर देर हो गई और रात्रि निकल गई तो सवेरे कुछ भी हाथ नहीं लगेगा—केवल हाथ मलना ही शेष रह जायगा।

विशेष—इन पक्तियों में हीरामन तोते ने राजा को जो सान्त्वना प्रदान की है तथा जो उपदेश देकर कठोर-तपस्वी के जीवन की ओर अग्रसर किया है, वह उसके गुरुत्व के निकट है। नख-शिख में कवि व्यजना से काम ले रहा था तथा वह पद्मावती रूपी अध्यात्म ज्ञान की ओर इच्छा जगा रहा था, अब वह स्पष्ट शब्दावली का सहारा लेकर अपनी लक्ष्योन्मुखता का परिचय दे रहा है। दार्शनिक शैली में इन पंक्तियों के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम की सांकेतिक व्यजना जायसी ने बड़े स्वाभाविक ढंग से की है।

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा ॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूंगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूंगा ॥
हिय कै जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अंधियारा बूझा ॥
उलटि दीठि माया सों रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी ॥
जौ पै नाहीं अहथिर दसा। जग उजार का कीजिय बसा ॥
गुरु बिरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥
अब करि फनिग भृंग कै करा। भौंर होहुं जेहि कारन जरा ॥

फूल फूल फिरि पूछौं जौ पहुँचौं ओहि केत।
तन नेवछावरि कै मिलौं ज्यों मधुकर जिउ देत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—राजा मन जागा—राजा का मन जाग्रत हो गया। पलक न मार—निर्निमेष। पेमचित लागा—प्रेम-चित्त में प्रविष्ट हुआ। नैनहिं ढरहिं—नेत्रों से आंसू ढलते हैं। हिय के जोति—हृदय की ज्योति। अंधियारा बूझा—अंधकारमय प्रतीत होता है। उलटि दीठि—ज्ञान-दृष्टि उलट गई। अहथिर—स्थिर। बसा—बसे हुए। चिनगी जो मेला—चिनगारी डालना। सुलगाइ लेइ—प्रज्ज्वलित करना। फनिग—पतिंगा। भृंग—एक कीड़ा विशेष जो पतिंगे के चारों ओर गा-गा कर उसे इतना मोहित कर देता है कि पतिंगा भी भृंगी बन जाती है। (इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती भी है—"मादा भृंगी पतिंगे को मारकर उसी के शरीर पर अण्डे दे देती है। कुछ समय बाद अण्डों में से बच्चे निकलते हैं और मरे हुए पतिंगे को खाकर पलते रहते हैं। अन्त में वे पतिंगे की मृत ठठरी को छोड़कर उड़ जाते हैं। लोक धारणा के आधार पर जब कोई किसी के ध्यान में तन्मय हो जाता है और अपने को उसी में सर्वथा मिला देता है तो उसकी उपमा भृंगी कीट से दी जाती है। इसके प्रमाणस्वरूप-'राधा माधव भेंट भई' पंक्ति या सूरसागर की ये पंक्तियां—

राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जुगई।")

करा—कला। केत—केतकी। तम नेवछावरि—शरीर का न्योछावर करना या समर्पण करना। मधुकर जिउ देत—भौंरा जिस प्रकार अपने प्राणों का समर्पण कर देता है।

जोगी–खण्ड

तजा राज, राजा भा जोगी । औ किंगरी कर गहेउ बियोगी ॥
तन बिसंभर मन बाउर लटा । अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥
चंद्र बदन औ चंदन-देहा । भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
मेखल, सिंघी, चक्र धंधारी । जोगबाट, रुदराछ, अधारी ॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा । सिद्ध होइ कहं गोरख कहा ॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला । कर उपवान, कांध बघ छाला ॥
पांवरि पांव दीन्ह सिर छाता । खप्पर लीन्ह भेस करि राता ॥

चला भुगुति मांगै कहं, सधि कया तप जोग ।
सिद्ध होइ पद्मावति, जेहि कर हियै बियोग ॥ १ ॥

बंधु मीत बहुतै समुझावा । मान न राजा कोउ भुलावा ।।
उपजी पेम-पोर जेहि आई । परबोधत होइ अधिक सो आई ।।
अमृत बात कहत विष जाना । पेम क बचन मीठ कै माना ।।
जो ओहि विषै मारि कै खाई । पूछहु तेहि सन पेम मिठाई ।।
पूंछहु बात भरथरिहि जाई । अमृत राज तजा विष खाई ।।
औ महेस बड़ सिद्ध कहावा । उनहू विषै कंठ पै लावा ।।
होत आव रवि-किरिन बिकासा । हनुवंत होइ को देइ सुआसा ।।

तुम सब सिद्धि मनावहु होइ गनेस सिधि लेव ।
चेला को न चलावै तुलै गुरू जेहि भेव ? ।। ८ ।।

शब्दार्थ—मीत=मित्र, बहुतै समझावा=बहुत समझाया-बुझाया, मान न राजा कोउ भुलावा=राजा माना नहीं, उपजी=उदित हुई, परबोधत=प्रबोधन या समझाना, अमृत बात=अमृत के समान मीठी और हितकारी वार्ता, प्रेम-मिठाई=प्रेम की मधुरता, तजा=त्याग दिया, बड़ सिद्ध कहावा=शिवजी बड़े सिद्ध-पुरुष कहे जाते है, विषै=विष को, सुआसा=श्रेष्ठ या सफल आशा, सिधि लेव=सिद्धि प्राप्त करो, तुले गुरु जेहि भेव=जिस भेद तक गुरु पहुँचता है, जिस तत्व का साक्षात्कार गुरु कर लेता है ।

(नोट—यह पद प्रक्षिप्त बताया जाता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त स्वीकार किया है । अर्थ की दृष्टि से भी यह पद अनुपयुक्त है । इस पद में राजा के भाई, बंधु और मित्र राजा को समझाते हैं और राजा अपने निश्चय को बताता है । पहले भी राजा के सगे सम्बन्धी उसे समझा-बुझा चुके हैं । अतः दुबारा आकर उनका समझाना भी अनुचित प्रतीत होता है । शुक्ल जी द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली में यह पद इस प्रकार दिया गया है-

बंधु मीत बहुतै समझावा । मान न राजा कोउ भुलावा ।।
उपजी पेम-पीर जेहि आई । परबोधत होइ अधिक सो आई ।।
अमृत बात कहत विष जाना । पेम के बचन मीठ कर माना ।।
जो ओहि विषै मारि कै खाई । पूछहु तेहि सन पेम मिठाई ।।
पूंछहु बात भरथरिहि जाई । अमृत-राज तजा विष खाई ।।
औ महेस बड़ सिद्ध कहावा । उनहूँ विषै कंठ पै लावा ।।
होत आव रवि-किरिन बिकासा । हनुवंत होइ को देइ सुआसा ।।
तुम सब सिद्धि मनावहु होइ गनेस सिधि लेव ।
चेला को न चलावै तुले गुरु जेहि भेव ।।)

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी बता रहे हैं कि राजा रत्नसेन जो कि प्रेम में बुरी तरह डूब गया था, किसी प्रकार भी मार्ग से हटने को तत्पर न हुआ तो बंधु-बांधवों ने भी उसे बहुत समझाया-बुझाया किन्तु राजा किसी भी प्रकार उनकी बात मानने को तत्पर नहीं हुआ । वस्तुतः जिसके हृदय में प्रेम की पीड़ा का निवास होता है वह सिवाय प्रेम के अन्य किसी प्रकार से प्रबोधन स्वीकार नहीं कर पाता है । उसे प्रेम के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता है ।

जायसी कहते हैं कि ऐसे प्रेम-पाश में आबद्ध व्यक्ति से कोई भी यदि अमृतोपम बात कहता है तो भी उसे वह वार्ता विषवत् प्रतीत होती है । ऐसा

प्रेमी तो प्रेम की बात को ही मीठी मानता है। प्रेम के मिठास को वही जानता है जो विष को मार कर खा जाता है। राजा भर्तृहरि ही इस प्रेम की मिठास का अर्थ जानते हैं। वे इसको भोग चुके हैं। महेश या शंकर भी बड़े सिद्ध कहे जाते हैं। उन्होंने भी विष को कंठ में धारण किया है। अतः वे इसका आनंद समझते-बूझते हैं। अब तो प्रातःकाल होने वाला है। कौन है ऐसा जो हनुमान बनकर प्राण प्रदान करे। व्यंजना है कि लक्ष्मण के शक्ति लगने पर जब यह कहा गया था कि सूर्य निकलने के पूर्व यदि संजोवनी बूटी आ जायेगी तो वे बच जायेंगे, तब राम को हनुमान जी ने आशा बधाई थी और संजीवनी लाकर लक्ष्मण के प्राण बचाये थे। यहां पर अभिप्रेत अर्थ है कि रत्नसेन के प्राण निकल रहे हैं। यदि उसके लिए पद्मावती की प्रेम-सजीवनी नहीं मिली तो सुबह होते न होते तात्पर्य बहुत शीघ्र ही रत्नसेन के प्राणों का हरण हो जावेगा।

राजा रत्नसेन कहने लगे कि तुम सभी मिल कर सिद्धि मनाओ, शिष्य को और कोई दूसरा नहीं चला सकता है। वह तो गुरु के संकेत पर ही चल सकेगा। व्यंजना यह है कि रत्नसेन अब किसी की भी बात नहीं मानने वाला है, वह तो अब गुरु हीरामन तोता के बताये मार्ग का अनुसरण करेगा।

विशेष—पूर्व सदर्भानुसार इन पंक्तियों में भी वर्णन सूफियाना और कठोर तपस्या या कष्टों की बात दुहरा रहा है।

जोगी-खण्ड

तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥
तन बिसंभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा॥
चंद्र-बदन औ चंदन-देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा॥
मेखल, सिंघी, चक्र धंधारी। जोगबाट, रुदराछ, अधारी॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहं गोरख कहा॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला। कर उपदान, काँध बघ छाला॥
पाँवरि पाँव दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस करि राता॥
चला भुगुति माँगै कहं, सधि कया तप जोग।
सिद्ध होइ पद्मावति, जेहि कर हिये बियोग॥ १॥

शब्दार्थ—तजा राज = राज्य को छोड़ दिया, किंगरी=छोटी सारंगी या चिकारा जिसे बजाकर योगी भिक्षा माँगते हैं। बिसंभर=बेसुध या बेसंभाल, बाउर=पागल, अरुझा=उलझ गया, भसम चढाइ—राख पोतकर, तन खेह=शरीर पर धूल या भस्म का मर्दन कर लिया, मेखल=कर्धनी, सिंगी=सींग का बाजा जो फूंकने से बजता है, धंधारी=गोरख धंधा, एक में गुंथी हुई लोहे की पतली कड़ियां जिनमें उलझे हुए डोरे या कौड़ी को गोरखपंथी साधु अद्भुत रीति से निकाला करते हैं। रुदराछ=रुद्राक्ष। अधारी=झोला जो दोहरा होता है। कथा=मोटे वस्त्र, मुद्रा=स्फटिक का कुंडल जिसे गोरखपंथी कान में बहुत बड़ा छेद करते पहनते हैं, उपदान=कमंडल, बघ छाला=व्याघ्र छाल, पांवरि=खड़ाऊं, साधिक या तप जोग=शरीर की इच्छाओं को तपस्या के योग से पूरी करने के निमित्त।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने राजा रत्नसेन के योगी स्वरूप का वर्णन किया है। कवि कहता है—

राजा रत्नसेन राज्य त्याग कर योगी बन गया। इतना ही नहीं उसने हाथ में छोटी सारंगी ले ली और वियोगी का रूप धारण कर सबके सामने आ गया। वह वैरागी होकर शरीर की सुध-बुध ही भूल गया तथा पागल सा पद्मावती का नाम रटने लगा। वह वस्तुतः पद्मावती के प्रेम में उलझ गया, उसके सिर पर जटा हो गई। राजा रत्नसेन ने अपने चन्द्रमुख और चन्दन लगने वाले शरीर पर भस्म पोत ली और शरीर को यह समझ कर मिट्टी से भर दिया कि यह मिट्टी का ही तो है।

जायसी कहते हैं कि राजा ने योगियों की मेखला, सींग का बाजा, चक्र, धघारी जोग बाट और रुद्राक्ष की माला और अधारी ले ली। गुदड़ी पहन कर हाथ में डंडा ले लिया और सिद्ध बनने के निमित्त जयश्री गोरखनाथ का उच्चारण किया। कान को छेदकर स्फटिक की मुद्रा कान में डाल ली, कंठ में जपने वाली माला धारण करली। हाथ में कमण्डल और कंधे पर व्याघ्र-म्बर धारण कर लिया। राजा ने पैर में खड़ाऊ और सिर पर छाता धारण किया तथा साथ ही गैरिक वस्त्रों में सुसज्जित हो खप्पर भी धारण कर लिया।

जायसी कह रहे हैं कि इस प्रकार तपोयोग का राजा रत्नसेन भेष बनाकर भिक्षा मांगने चल पड़ा। इसके साथ ही मन में संकल्प किया कि मैं तभी सिद्ध और पूर्ण सिद्ध बनूंगा जब अपने इष्ट (पद्मावती) को प्राप्त कर लूंगा; क्योंकि मेरे गरीब हृदय में विरह वेदना व्याप्त है।

विशेष—इन पंक्तियों में गोरखपंथियों का प्रभाव स्पष्ट है। वर्णन शैली में चित्रात्मक और कलात्मक सौष्ठव विद्यमान है।

गनक कहहिं गनि गौन न आजू। दिन लेइ चलहु, होइ सिध काजू॥
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत, नैन नहिं आँसू॥
पंडित भूल न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूछ न कालू॥
सती कि बौरी पूछहि पाँडे। औ घर पैठि कि सैंते भाँडे॥
मरै जो चलै गंग-गति लेई। तेहि दिन कहाँ घरी को देई?॥
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घरी के आपन, अंत परावा॥
हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु॥ २॥

शब्दार्थ—गनक—गणना करनेवाले ज्योतिषी गण, गनि—गिनकर, गौन—गमन, आजू—आज, होइ सिध काजू—कार्य सिद्ध हो जायगा, पेम-पंथ—प्रेम का मार्ग, घरी न देखा—घड़ी मुहूर्त कुछ भी नहीं देखते हैं, सरेखा—बुद्धिमान, बौरी—बावली, भाँडे—बरतन, गंग गति—मृत्यु निकट जानकर व्यक्ति को गंगा तट पर ले जाते हैं, परावा—पराया।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व पद के सदर्भानुसार ज्योंही राजा रत्नसेन योगी का भेष बनाकर पद्मावती के लिए चल पड़ा त्यों ही उसे ज्योतिषियों ने चैतन्य किया। कवि कहता है कि ज्योतिषियों ने बताया—

हे राजा ! आज मत जाओ, अच्छा दिन नहीं है, शुभ दिन देखकर अच्छे मुहूर्त में यहां से प्रस्थान करो। यदि शुभ मुहूर्त मे चलोगे तो कार्य में सफलता प्राप्त होगी। इसके उत्तर में राजा ने कहा—प्रेम का मार्ग दिन और घड़ी मुहूर्त आदि को नहीं देखता है, उसे इन सबकी चिन्ता नहीं होती है। घड़ी मुहूर्त तो आदमी तब देखता है जबकि उसे होश रहता है या उसे चेतना रहती है। प्रेम में मदोन्मत्त व्यक्ति या प्रेमी के घड़ी मुहूर्त तो उसकी इच्छाएं ही होती हैं। प्रेमी की दशा बड़ी विचित्र होती है; जिसके शरीर में प्रेम होता है उसके शरीर में न तो मांस होता है और न रक्त। उसकी आंखों में आंसू तक नहीं होते हैं। पंडित लोग तो भ्रम में होते हैं वे काल को समझने में असमर्थ होते हैं। भला जब काल मनुष्य के प्राण हरण कर लेता है, तब भी क्या वह घड़ी इत्यादि देखना दिखाता है। सती जब पति के साथ जलने को जाया करती है तो क्या पंडित से मुहूर्त पूछती है ? मान लो मुहूर्त न हो तो क्या पति मरण के पश्चात् सती नारी बर्तनों को समेट कर उन्हें धोने बैठती है।

जायसी कहते हैं कि जो व्यक्ति गंगा–गति या मरण प्राप्त करने चलता है वह दिन और घड़ी कहां देखता है या मानता है, अर्थात् नहीं। इसी प्रकार राजा कहता है कि मैं घड़ी मुहूर्त क्यों देखूं ? मुझे जो घर–द्वार मिला है, वह मेरा कहां है ? घर और शरीर अन्त में दूसरे को ही तो प्राप्त होंगे। तात्पर्य अपने नहीं है। वह कहता है कि अब तो मैं उसी वन का पक्षी हूं जहां पर मेरा निर्वाह होगा। मैं अब उसी से लगन लगा कर उसी वन या स्थल की खोज में जा रहा हूँ जहां मेरा लक्ष्य है। हे पंडितो ! तुम सभी अपने अपने घर को प्रस्थान करो।

विशेष—१. इसमें ज्योतिष का खंडन किया गया है। बताया गया है कि यदि हृदय में सत्य हो तथा मन में लक्ष्य की ओर दृढ़ता हो तो मनुष्य कभी भी असफल नहीं होता है और न उसे शुभ–अशुभ दिन विचारने की आवश्यकता पड़ती है।

२. शरीर वस्तुतः दूसरे की अमानत है। क़बीर ने भी कहा है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया
बूंद पड़े गल जाना है।

चहुं दिसि आन सांटिया फेरी। भै कटकाई राजा केरी।।
जावत अहहिं सकल अरकाना। सांभर लेहु दूरि है जाना।।
सिंघलदीप जाइ अब चाहा। मोल न पाउब जहां बेसाहा।।
सब निबहै तह आपनि सांठी। सांठि बिना सो रह मुख मांटी।।
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलहु सब लोगू।।
गरब जो चढ़े तुरय कै पीठी। अब भुइं चलहु सरग कै डीठी।।
मतर लेहु होहु संग-लागू। गुदर जाइ सब होइहि आगू।।
का निचिंत रे मानुस, आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन, मन पछिताव न पाछु।। ३ ।।

शब्दार्थ=आन—आज्ञा या घोषणा, सांटिया—डौंड़ी वाला, कटकई—

दलबल के साथ चलने की तैयारी, अरकाना—अरकान, दौलत या सरदार, सांभर—संबल या कलेवा, बेसाहा—क्रय करना, निबहै—निर्भर रहना, आपनि सांठी—अपनी पूंजी, मुखमाटी—मुख में मिट्टी या धूल रहेगी, तुरय—तुरग या घोड़ा, सरग—स्वर्ग, गुदरि—सेना के समक्ष होना, आपनि चीतै—अपनी चिन्ता करो, आगमन—पहले से-आगे से, मन पछताव न पाछू—पीछे से मन में मत पछताना।

सप्रसग व्याख्या—जायसी की इन पंक्तियों में बताया गया है कि रत्नसेन योगी बनकर प्रस्थान के निमित्त तत्पर हो गया। उसने अपने दल-बल को साथ ले लिया और मनुष्यवर्ग को चैतन्य किया कि प्रभु के मार्ग पर आगे बढ़े। कवि जायसी इसी संदर्भ में कह रहे हैं—

सभी स्थानों पर डौंडी पीटने वाले ने ऐलान कर दिया कि राजा के कटक-दल का प्रस्थान होने वाला है। सभी बड़े सामन्त आदि यात्रा की भोजन सामग्री अपने अपने साथ ले लें। यात्रा लम्बी है। लक्ष्य या गन्तव्य पर्याप्त दूर है। सभी सिंहलद्वीप जाना चाहते हैं जहां पर मूल्य देकर भी कोई वस्तु नहीं मिल सकती है। वहां सबको अपनी-अपनी गांठ की पूंजी से ही निर्वाह करना पड़ेगा। यदि गांठ में पूंजी न होगी तो मुख को धूल ही फांकनी पड़ेगी। राजा योग के निमित्त चल रहा है। शीघ्रता से सभी तैयार होकर चल पड़ो।

जायसी कहते हैं कि घोषणा में यह भी कहा गया कि जो अब तक अभिमान के अश्व पर चढ़े हुए हैं, वे अब उसका परित्याग करदें और आकाश की ऊंची और लम्बी यात्रा की ओर दृष्टि लगावें। मन्त्रों के साथ योग-पथ की ओर अग्रसर हों। गुदारे में सभी सम्मिलित हों तथा आगे चलना आरम्भ करदें। अरे मनुष्यों! निश्चिन्तता मे क्यों बैठे हो? मानस की चिन्ता का त्याग करके स्फूर्ति के साथ राजा के साथ चल पड़ो या राजा के मार्ग का अनुगमन करो। यदि चूक गये तो पछताना पड़ेगा! अतः ऐसा कार्य करो जिससे पीछे पश्चाताप न करना पड़े।

बिनवै रतनसेन कै माया। माथे छात, पाट निति पाया॥
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छांड़ि जिनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देख भरत अब खेहा॥
सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू?॥
कैसे धूप सहब बिनु छाहीं। कैसे नींद परिहि भुइं माहीं?॥
कैसे ओढ़ब काथरि कथा। कैसे पांव चलब तुम पंथा?॥
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे खाब कुरकुटा रूखा?॥
राजपाट, दर, परिगह तुम्ह ही सौं उजियार।
बैठि भोग रस मानहु, कै न चलहु अंधियार॥ ४॥

शब्दार्थ—बिनवै—विनती करना। माया—माता। माथे छात—मस्तक पर छत्र। पाट—राजसिंहासन। बिलसहु—विलास करो। लच्छि पियारी—लक्ष्मीवत् प्रियाओं। जिनि होहु—मत होओ। जेहि देहा—जिस शरीर में। भुइं मांहा—पृथ्वी पर। ओढ़व—धारण करना। काथरिकथा—कथरी कथूना

या मोटे वस्त्र। कुरकुटा रूखा—रूखा सूखा व मोटा भात इत्यादि। दर—दल। परिगह—परिग्रह या राजा का ठाठ-बाट।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने मोह वात्सल्य का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। रत्नसेन की माता उसे सम्बोधित करती हुई कह रही है—

माता विनती करती हुई कहती है कि हे बेटा! तुम्हारे सिर पर नित्य प्रति राजसी ठाट-बाट शोभित रहते हैं। तुम छत्रपति हो और सिंहासनारूढ़ होकर रोज राज्य काज संभालते हो, फिर तुम्हें सब छोड़-छाड़कर वैरागी और भिखारी बनने की क्या आवश्यकता है। माता बेटे से कह रही है कि हे बेटा तुम नवलक्ष लक्ष्मीवत् नारियों के साथ विलास करो, तुम्हें किस बात की चिन्ता है। ऐसी स्थिति में तुम राज-काज को छोड़कर क्यों भिखारीपन स्वीकार करते हो। तुम्हें यह सब शोभा नहीं देता है।

तुम्हारे शरीर पर नित्य प्रति चन्दन लगता है तथा अनेक सुगंधित पदार्थ लगते हैं फिर क्यों इस सुवासित शरीर पर राख मलकर जीवन बिताना चाहते हो। अब तक तो सभी दिनों तुम सुख भोगों में लगे रहे हो, किन्तु अब यकायक क्या हो गया है जिससे तुम तप-साधना के निमित्त अपने कदम बढ़ाते हो। माता ने कहा कि अब तक तुम ने शीतल छायाओं में विश्राम-पूर्वक निवास किया है। अब तुम किस प्रकार धूप को सहन कर सकोगे; बिना छाया के कैसे जीवन बिता सकोगे। पृथ्वी के जिसने दर्शन तक नहीं किये वह अब कैसे पृथ्वी पर सोयेगा। तात्पर्य पृथ्वी पर सोना पड़ेगा तथा पृथ्वी पर तुम्हें किस प्रकार नींद आयेगी। तुम वैराग्य साधना में मोटे वस्त्रों को कैसे धारण करोगे। इतना ही नहीं तुम कैसे पांव-पांव चलकर यात्रा को पूरी करोगे। क्षण-क्षण उठने वाली या लगने वाली भूख को तुम कैसे सहन करोगे? भूख को शान्त करने के लिए तुम किस प्रकार मोटा अन्न या भात जो रूखा-सूखा ही होगा, कैसे खाओगे? तात्पर्य यह है कि जिस राजा ने सदैव व्यंजनों का स्वाद लिया और अमृतोपम व्यंजन किये, वह अब वैराग्य के दौरान किस प्रकार रूखा-सूखा भोजन पा सकेगा।

जायसी कहते हैं कि माता ने रत्नसेन से कहा कि हे बेटा! यहां का राजपाट, सिंहासन सभी कुछ तो तुम्हारे प्रताप से और सैनिक शक्ति से खुशी-खुशी प्रकाशित रहता है। अतः तुम मेरी सीख मानो और राजसिंहासन पर बैठकर रसों का भोग करो और आनन्द लूटो! साथ ही इस प्रकाशित पंथ को छोड़कर अन्धकार के मार्ग पर मत चलो।

मोहिं यह लोभ सुनाव न माया। काकर सुख, काकर यह काया॥
जो निआन तन होइहि छारा। माटिहिं पोखि मरै को भारा?॥
का भूलौं एहि चंदन चोवा। बैरी जहां अंग कर रोवां॥
हाथ, पाव सरवन औ आंखी। ए सब उहां भरहिं मिलि साखी॥
सूत सूत तन बोलहिं दोखू। कहु कैसे होइहि गति मोखू॥
जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद नहिं साधत जोगू॥
उन्ह हिय-दीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-वन सेवा॥

देखि अंत अस होइहि गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघलदीप जाब हम, माता! देहु अदेस ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मोहि—मुझको। काकर सुख—किसका सुख। निआन—निदान या अन्तत:। होइरि धारा—धूल में मिलेगा ही। पोखि—पोषण करके। का भूलों—भुलावे में मत आओ। चन्दन-चोवा—सुगंधित और सुवासित वेश कीमती वस्त्रों में। सरवन औ आंखी—श्रवण या कान और आंख। मिलि साखी—साक्षी बनकर। सूत-सूत—रग-रग से। गति मोखू—मोक्ष की गति। हिय-दीठि—हृदय की दृष्टि। परेवा—पक्षी। कजरी—वन, सिद्धों का निवास स्थान। अदेस—प्रणाम।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी रत्नसेन के मुख से माता के स्नेहमयी प्रश्नों का उत्तर दिलवाते हुए कह रहे हैं—

रत्नसेन कहते हैं कि हे माता! तुम मुझे यह लोभ की बात मत कहो, किसका सुख और किसका यह शरीर! यदि अन्त में शरीर को एक मुट्ठी भर धूल ही होना है तो फिर उसके पोषण का भार लेकर कौन मरे। तात्पर्य यह है कि जब मिट्टी का यह शरीर अन्ततोगत्वा मिट्टी में मिलेगा ही तो फिर किसी कार्य की सिद्धि के लिए क्यों न इसे पहले ही मिट्टी में लपेट लिया जाय। कवि कहता है कि रेशमी और चन्दन से सुवासित वस्त्रों से सजाकर इस शरीर को कब तक भरमाया जा सकता है। वास्तव में इस शरीर का रोम-रोम शत्रु है। हाथ-पाव, नाक, आंख आदि शरीर के अंग ही ईश्वर के यहां मेरे विरोध मे प्रमाण प्रस्तुत करेंगे। शरीर की रग-रग शरीरगत दोषों को उद्घाटन कर देगी। इस प्रकार की स्थिति में मुक्ति मिलना संभव नहीं है। यदि राज्य और सुख साधन जो मानव को विलासिता में भरमाते रहते हैं, अच्छे होते तो भला राजा गोपीचन्द क्यों योग को साधता? वस्तुतः राजा गोपीचन्द ने इस संसार और यहां के भोगादिकों को बड़ी सरसरी दृष्टि से देखा है तभी तो वह इस सृष्टि को अज्ञानता से भरी तथा मिथ्या समझकर योग या व्रत के निमित्त चले गये। वे इस मिथ्या ससार से दूर होकर कजरी वन में चले गये तथा वहां उन्होंने तपस्या आरम्भ की। राजा ने माता को कहा कि योग के अभाव में अन्त में भी इसी प्रकार की कठोर यातनाएं सहनी पड़ेंगी कि मनुष्य पछतावा करेगा, यह बात मुझे मेरे गुरु हीरामन तोते ने बताई है। हे माता! आप कृपा करके मुझे आज्ञा प्रदान करें जिससे मैं सकुशल सिंहलद्वीप चला जाऊं। इसी प्रार्थना के साथ मैं आप से प्रणाम करता हूं।

रोवहि नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कंत दीन्ह बनवासू? ॥
अब कों हमहि करिहि भोगिनी। हमहूं साथ होव जोगिनी ॥
की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा ॥
तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता। जहवां राम तहां सग सीता ॥
जौ लहि जिउ सग छाड़ न काया। करिहौं सेव, पखरिहौं पाया ॥
भलेहि पदमिनी रूप अनूपा। हमतें कोइ न आगरि रूपा ॥
भवै भलेहि पुरुखन कै दीठी। जिनहि जान तिन्ह दीन्ही पीठी ॥
देहि असीस सबै मिलि, तुम्ह माथे निति छात।
राज करहु चितउरगढ़, राखहु पिय! अहिवात ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रनिवासू—रंगमहल में। कन्त—स्वामी। बनवासू—वनवास दिया। करहि भोगिनी—हमारा भोग कौन करेगा। होब जोगिनी—जोगिन हो जायेंगी। मारि चलहु एहि हाथा—इन हाथों से मार डालो। पिरीता—प्रीति। पखरिहौं पाया—पांवों का प्रक्षालन करूंगी। आगरि रूपा—अधिक रूपवन्ती। पुरुखन की दीठी—पुरुषों की दृष्टि। माथे निति छात—मस्तक पर राजमुकुट धारण करो। अहिवात—सुहाग या सौभाग्य की रक्षा करो।

ससदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में कवि जायसी नागमती के हृदय की भावनाओं का प्रकाशन कर रहे हैं। रानी नागमती राजा रत्नसेन को जोगी होता देखकर कह रही है कि हे राजा तुम कहीं मत जाओ और हमारी हृदयगत भावनाओं का आदर करो। कवि कहता है—

रानी नागमती रनिवासों में रुदन कर रही है। रुदन करती हुई वह कह रही है कि हे स्वामी! ऐसा कौन है जो कि तुम्हें बनवास के लिए प्रेरित करता है। यदि राजा तुम बनवास को योगी होकर चले गये तो हम नारियों को, जो तुम्हारे साथ जीवन को बिताने का दृढ़ संकल्प कर चुकी हैं, कौन भोगेगा। इसीलिए नागमती कहती है कि राजा तुम्हारे अभाव में हमारा जीवन अनिश्चित है अतः हम भी सभी नारियां तुम्हारे साथ जोगिन बनकर चलेंगी। राजा हमारी दो शर्तें हैं—या तो हमें भी अपने साथ लेते चलो या हमें यहां से जाने से पूर्व समाप्त कर दो। तुम जैसे प्रियतम से बिछुड़कर हम जीवित नहीं रह सकती हैं। वास्तव ये जहां राम है वहीं सीता है। जब तक शरीर में प्राण तत्व रहेगा तब तक मैं आपकी सेवा करूंगी। आपके कदमों में जीवन बिताऊंगी। इतना ही नहीं तुम्हारे चरणों को धोकर चरणामृत ले लूंगी या लेती रहूंगी। तात्पर्य यह है कि नागमती सती पद्धति को आधार मानती है। परिणामतः वह यही कहती है कि जब तक मेरे शरीर में जीवन है, प्राण हैं तब तक तुमसे अलग नहीं हूंगी। ठीक भी है क्योंकि शरीर से आत्मा या जीव पृथक् भी कैसे रह सकता है।

जायसी कहते हैं कि नागमती ने बताया कि भले ही हमसे अधिक सुन्दरी नारियां सिंहलद्वीप में रहती हों, किन्तु वे सभी हमसे अधिक सुन्दरी नहीं हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मैं (नागमती) उससे अधिक सुन्दरी हूँ। नागमती कहती है कि भले ही पुरुषों की दृष्टि चंचल होती हो, किन्तु फिर भी कर्तव्य की आवाज सभी को पुकारती है कि जिससे एक बार परिचय हो जाता है, उससे जीवन भर निभाना चाहिए। इस प्रकार उनकी ओर से मुख मोड़ना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। अन्त में नागमती ने कहा कि हे राजा तुम यहां सब को छोड़कर कहीं दूसरी जगह मत जाओ। हम सभी प्रियाएं तुम्हें मंगलमय आशीर्वाद देती है कि तुम सदा अनंतकाल तक छत्रधारी बने रहो, चित्तौडगढ़ में राज्य करो और हमारे सौभाग्य की रक्षा करो।

विशेष—१. नागमती का पति प्रेम बड़े ऊंचे आदर्श के साथ व्यंजित किया गया है। इसमें उसके भारतीय आदर्श को भी स्थान प्राप्त है। जायसी ने स्वकीया नारी के प्रति पुरुष के कर्तव्य को दुहराया है।

२. पुरुष चंचल वृत्ति वाले होते हैं, वे कामुक दृष्टि और प्रवृत्ति के

कारण नित नयी रमणियों के साथ विहार करते हैं। जायसी ने निम्नलिखित पंक्ति में इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है:—

मवैं मर्नेहि पुरुषन्ह कै दीठी। जिन्ह जाना तिन्ह दीनि न पीठी॥

तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घर नारी॥
राघव जो सीता संग लाई। रावन हरी, कौन सिधि पाई?॥
यह संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानों नहिं देखा॥
राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। जेहि के घर सोरह सै रानी॥
कुच लीन्हें तरवा सहराई। भा जोगी, कोउ सग न लाई॥
जोगिहि काह भोग सौं काजू। चहै न धन घरनी औ राजू॥
जूड़ कुरकुटा भीखहि चाहा। जोगी तात भात कर काहा?॥
कहा न मानै राजा, तजी सवाई भीर।
चला छांड़ि कै रोवत, फिरि कै देइ न धीर॥ ७॥

शब्दार्थ—तिरिया=स्त्री, मतिहीन=बुद्धिहीन या ओछी बुद्धि, सो जु मतै घर नारी=वह मूर्ख है जो घर मे स्त्री की बात सुने, सिधि पाई=सिद्धि प्राप्त की, सपन कर लेखा=स्वप्न का लेखा है, कुच=स्तन, तरवा सहराई= तलवों को सहलाती थीं, काह भोग सौं काजू=भोग से क्या तात्पर्य या काम है घरनी औ राजू=गृहिणी और राज्य, जूड़=सूखा, कुरकुटा=मोटा अन्न या कदन्न, सवाई=सभी या सम्पूर्ण, फिरि कै देइ न धीर=लौटकर राजा रत्नसेन ने धीरज तक उन प्रियाओं को नहीं बधाया।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में भी पूर्व पद के प्रसंग में राजा रत्न-सेन नागमती को सम्बोधित करता हुआ कह रहा है—

हे रानी! नागमती तुम स्त्री हो और इसी कारण तुम्हारी बुद्धि ओछी है या तुच्छ है। वह व्यक्ति मूर्ख कहलाता है जो स्त्री की बात को बुद्धि में लाता है। इस बात को पुष्ट करने के लिए राजा नागमती से कहता है कि देखो रानी! स्त्री सीता की बात मानकर राम ने उसे वन में साथ रखा। परिणामतः रावण के द्वारा वह हरी गई और राम को पश्चाताप करना पड़ा। इस अल्प बुद्धिमत्ता का ही परिणाम था कि राम व्यर्थ दुखी होते फिरे। वास्तव में यह ससार स्वप्न का संसार है। यहां जो भी मिलता है वह स्वप्न के समान क्षणिक और अस्थिरता से ही मिलता है। बिछुड जाने पर तो कोई भी मिलन को नहीं देखता है। सभी परस्पर अपरिचय भाव ही व्यक्त करते हैं। भोली नागमती सुनो तो सही वह भर्तृहरि राजा जिसके सोलह सौ रानियां थी और जो अपने स्तनों से उसके तलवों को सहलाती रहती थीं वह भी योगी बन गया। योगी बनने के साथ उसने किसी को अपने साथ नहीं लिया। कारण जानती हो क्या था? यह स्पष्ट था कि योगी भोग-विलास से कोई प्रयोजन नहीं रखते हैं। इस प्रकार योगियों के निमित्त राज्य और स्त्री का कोई प्रयोजन ही नहीं होता है। वह योगी जो लक्ष्योन्मुख हो अपने गन्तव्य पर दृष्टि रखता है, उसे तो सूखा भात और मोटा कपड़ा ही अच्छा लगता है, गरम भात और षट्रस व्यजनों की उसे क्या आवश्यकता है।

जायसी कहते हैं कि यह कहते हुए राजा रत्नसेन ने किसी की भी बात नहीं सुनी और वह एक झटके के साथ ही भीड़ को छोड़कर चल पड़ा और

फिर हृदय में तनिक भी लौटकर धैर्य नहीं बंधाया ! वह ममत्व और प्रेम सभी को तिलाजलि देकर अपने लक्ष्य की ओर मुड़ गया ।

विशेषः—इन पंक्तियों में राजा का लक्ष्योन्मुख होना व्यंजित है तथा बताया गया है कि राजा रत्नसेन पक्का व्रती था कि योगी की अवस्था में उसमें कोई भ लोभ और प्रसाधन स्वीकार नहीं किया।

रोवत माय, न बहुरत बारा । रतन चला, घर भा अंधियारा ॥
बार मोर जो राजहि रता । सो लै चला, सुआ परबता ॥
रोवहिं रानी, तजहिं पराना । नोचहि बार, करहि खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ अभरन उर हारा । अब कापर हम करब सिंगारा ? ॥
जा कहं कहहिं रहसि कै पीऊ । सोइ चला, काकर यह जीऊ ॥
मरै चहहिं पै मरै न पावहिं । उठै आगि, सब लोग बुझावहिं ॥
घरी एक सुठि भएउ अंदोरा । पुनि पाछे बीता होइ रोरा ॥

टूटे मन नौ मोती, फूटे मन दस कांच ।
लीन्ह समेटि सब अभरन, होइगा दुख कर नाच ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:—मता—माना । बहुरत—लौटता है । भा अंधियारा=अंधकार होगया । बार—दरवाजे पर । सुआपरबता—जंगली तोता राजा को ले चला । तजहि पराना—प्राणों को छोड़ती थीं । नोंचहि बार—बालों का तोड़ना । करहि खरिहाना—ढेर लगाती जाती हैं । चूरहिं—चूर-चूर होते हैं । गिउ-अभरन-ग्रीवा के आभूषण । कापर—किस पर । रहसि—आनंदपूर्वक । सुठि—अच्छा । अंदोरा—हलचल या कोलाहल । बीता होइ रोरा—पीछे रुदन बीत गया ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के चले जाने पर माता का करुण-क्रन्दन तथा नारियों का प्रिय विरह चित्रित किया गया है। कवि कहता है—

माता रोने लगी कि हाय मेरा बेटा चला गया और अब वापस नहीं आया है । वह कहने लगी कि रत्नसेन क्या चला गया मेरे सुख के संसार में अंधेरा होगया । तात्पर्य जीवन अंधकारमय होगया । मेरा बेटा तो राज-पाट और सुखपूर्वक जीवन विताने में व्यस्त था । उस ऐसे राजा बेटा को जंगली तोता बहकाकर ले चला । यह तो थी मां की दशा तथा रानियों की दशा भी देखिये—

रानियां रो-रोकर प्राण देने लगीं, हाथों की चूडियां तोड़-तोड़कर ढेर करने लगी । तात्पर्य राजा के वियोग में उन्होंने वैधव्य जीवन स्वीकार कर लिया । ग्रीवा के आभूषण और हाथों तथा गले के मोतियों के हार चूर-चूर कर नष्ट होने लगे । वे रोती कलपती कहने लगी—अब हम किसके निमित्त शृंगार और प्रसाधन करें ? हमारे सौभाग्य का शृंगार ही जब नहीं रहा तो फिर इन कृत्रिम आभूषणों को धारण करने से क्या होगा । हमारा प्रिय जब चला गया तो अब यह जीवन और शृंगार सभी व्यर्थ है । कवि कहता है कि रत्नसेन के वियोग मे रानियां मरनोसन्न भी हुईं, किन्तु मर नहीं सकी । जब उनमें आग भड़कती थी तो लोग शीघ्रता से दौड़कर उसे शान्त कर देते थे अतः वे यों ही रोती कलपती रह जाती थीं । व्यंजना यह कि रानियों को लोग

पर्याप्त समझा-बुझा रहे थे, पर वे समझने की स्थिति में ही नहीं थी, प्रिय विरह में मृणमयी जो होरही थीं । घड़ी भर तक बड़ा रुदन चलता रहा फिर कालान्तर में वह विलाप मंद पड़ गया वा बीत गया । दुख की चरम व्यंजना कराते हुए कवि ने लिखा है कि "रत्नसेन के वियोग में नवरस की कल्पनाओं के नौ मन मोतियों का चूर्ण होगया । दसो इन्द्रियों का सुख सुहाग उन भोली-भाली नारियों के लिए दस मन चूड़ियों की भांति नष्ट होगया । फिर भी राजा पर कोई असर नहीं हुआ ।" वह टूटा हुआ आभूषण का ढ़ेर 'समेट-समाट' करके कोठरियों में बंद कर दिया गया और इस प्रकार दुख के तांडव नृत्य का एक अध्याय समाप्त होगया ।

विशेष—१. दोहे में बड़े मर्मान्तिक वाक्य कहे गये हैं । जीवन के उस क्षण को रूपायित किया गया है जब मनुष्य के जीवन में दुख भी साथ नहीं देता है । रानियों के दुख ने भी उसका साथ नहीं दिया; वे मर नहीं सकी । बच्चन की ये पंक्तियां भी देखिये—

साथी-साथ न देगा दुख भी ।
काल छीनने दुख आता है । (निशा-निमंत्रण से)

२. वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, किन्तु हास्यास्पद नहीं । उसमें एक गांभीर्य बना हुआ है । वह मजाक सा नहीं लगता है ।

निकसा राजा सिंगी पूरी । छांड़ा नगर मेलि कै धूरी ।।
राय रान सब भए वियोगी । सोरह सहस कुंवर भए जोगी ।।
माया मोह हरा सेइ हाथा । देखेन्हि बूझि निआन न साथा ।।
छांड़ेन्हि लोग कुटुम्ब सब कोऊ । भए निनार सुख दुख तजि दोऊ ।।
सवरै राजा सोइ अकेला । जेहि कै पंथ चले होइ चेला ।।
नगर नगर औ गांवहि गांवां । छांड़ि चले सब ठांवहि ठावां ।।
काकर मढ़, काकर घर माया । ताकर सब, जाकर जिउ काया ।।
चला कटक जोगिन्ह कर कै गेरुआ सब भेसु ।
कोस बीच चारिहु दिसि जानौं फूला टेसु ।। ६ ।।

शब्दार्थ—निकसा=निकला या प्रस्थान किया । पूरी=बजाकर । मेलि कै=लगाकर । निआन=अन्ततः निनार=पृथक ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी रत्नसेन के योगी वेश में किये गये प्रस्थान का वर्णन कर रहे हैं । वे कहते हैं—

सिंगी बाजा बजाते हुए राजा ने चलने की तैयारी की और अपने नगर की आकर्षक चहल पहल को छोड़ कर वह दूर हो गया । राजा के साथ ही और भी अनेक राजा और रायगण वियोगी होकर चल पड़े । कहा जाता है कि सोलह हजार कुंवर राजा के साथ जोगी के वेश में चल पड़े । मिथ्या-माया मोह का बंधन टूट गया या हाथ से जाता रहा और उन्होंने विचार किया कि अन्ततोगत्वा कोई किसी का साथ नहीं देता है । सभी अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं । परिणामतः वे सभी चल पड़े । इसी भाव से मिलती जुलती पंक्तियों का उल्लेख जीवनप्रकाश जोशी ने किया है । उनके पद्मावत भाष्य में उद्धृत ये पंक्तियां बड़ी मनहरण और तात्विक प्रतीत होती हैं—

किसको इतना वक्त यहां जो,
गये हुए की ओर निहारे,
और किसी का उजड़ा उपवन;
निज आंसू से सींच संवारे,
और चिता के ऊपर किसने,
अब तक अपने को सौंपा है,
तुमने भी देखा होगा जिस मरघट ने उसको लूटा है।
तुमने भी देखा होगा जो अभी अभी तारा टूटा है।

रत्नसेन के साथ ही लोगों ने अपने कुटुम्ब और परिवार को छोड़ दिया। सुख दुख से अलग ये सबसे अलग या न्यारे हो गये। राजा रत्नसेन भी अपने पारिवारिक जनों और सगे सम्बन्धियों को भूल गया और उसे केवल पद्मावती का स्मरण मात्र रह गया। वह अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ा, उस गुरु के साथ जो कि राजा को शिष्य के रूप में स्वीकार करने लगा। राजा रत्नसेन योगी होकर चलता चला गया और मार्ग में नगर-नगर और गांव-गांव को छोड़ता चला गया। इस प्रकार वह सभी स्थलों को छोड़ता हुआ आगे चलता गया। उसने मार्ग में चलते-चलते यह विचार किया कि किस का घर और किसका ऐश्वर्य आदि—यह सभी तो उसी ईश्वर द्वारा प्रदत्त है जिसका संसार है। हम सभी को आखिरकार उसके ही पास पहुँचना है फिर बीच के जीवन में अपनापा दिखाना, घमंड करना तथा ऐश्वर्य पर फूले रहना व स्वार्थों के निमित्त दूसरों को हानि पहुँचाते रहना व्यर्थ है।

जायसी कहते हैं कि इस प्रकार योगियों का समूह पीले या भगवे वस्त्र धारण करके प्रेम के मार्ग पर चल पड़ा। उस समूह या राजा के कण्ठ को चलते देख कर ऐसा प्रतीत हुआ मानो बीस कोस तक चारों दिशाओं में टेसू वन फूल उठा हो।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने जीवन की क्षणभंगुरता को भी व्यक्त किया है। बताया गया है कि जीवन क्षणिक है तथा शीघ्र ही समाप्त होने वाला है; फिर सभी से हिलमिलकर सद्‌गति प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्न करना चाहिए।

आगे सगुन सगुनियै ताका। दहिने माछ रूप के टांका ॥
भरे कलस तरुनी जल आई। 'दहिउ लेहु' ग्वालिनि गोहराई ॥
मालिनि आव मौर लिए गांथे। खजन बैठ नाग के माथे ॥
दहिने मिरिग आइ बन धाए। प्रतीहार बोला खर बाएं ॥
बिरिख संवरिया दहिने बोला। बाएं दिसा चापु चरि डोला ॥
बाएं अकासी धौरी आई। लोवा दरस आई दिखराई ॥
बाएं कुररी, दहिने कूचा। पहुंचै भुगुति जैस मन रूचा ॥
जा कहं सगुन होंहि अस औ गवनै जेहि आस।
अस्ट महासिधि तेहि कहं, जस कवि कहा बियास ॥१०॥

शब्दार्थ—सगुनिया—शकुन देखने और बताने वाला। माछ—मछली। टांका—पानी रखने की टंकी। ताका—देखा। तरुनी—तरुणियां। दहिउ—दही। गोहराई—पुकारा या बुलाया। गांथे—संग्रथित करना, गूंथना। मौर

—विवाह के फूलों वाला मुकुट। प्रतीहार—प्रतिहारी या तीतर। खर—गधा। बिरखि—वृक्ष, बैल। संवरिया—सांवला या काला। चाषु—चाप या नीलकंठ। प्रकासी धौरी—क्षेमकारी चील जिसका सिर सफेद और सब अंग लाल या खैरा होता है। लोवा—लोमड़ी। कुररी—टिटिहरी। कूचा—कौंच, करावुल या कूंज पक्षी। जैस मन रूचा—जैसा मन को भाया। अस—ऐसे। ओ गवनै जेहि आस—वह जिस आशा से गमन करता है। अस्ट महासिधि—आठों महासिद्धियां। तेहि कहं—उसके पास होती हैं या प्राप्त होती हैं।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वपद के संदर्भानुसार जब राजा ने अपने लक्ष्य की ओर प्रस्थान किया तो सगुन देखने वालों ने विचार किया और कहा कि हे राजा चांदी के बर्तनों में या कडालों में सगुन के रूप में दही और मछली रखी दिखाई देती है। घड़ा भरे आती हुई अनेक जवान स्त्रियां मिली हैं, ग्वालिन 'दही लो, दही लो' की गुहार लगा रही है। मालिन मौर या गुंथा हुआ गजरा लेकर आ पहुंची है। खंजन पक्षी नाग के सिर पर बैठा हुआ दिखाई पड़ा। दाहिनी ओर दौड़कर हिरन आ गया है। बाईं ओर तीतर और गधा भी दिखाई पड़ रहा है। दाहिनी ओर काला या श्याम रंग का बैल भी बोलने लगा है तथा बाईं ओर नीलकंठ बैठा दिखाई दे रहा है उड़ता नहीं है। बाईं ओर टिटहरी और दाहिनी ओर क्रौंच पक्षी दिखाई देने लगे। साथ ही आकाशी धोवन या चितकबरी चील आ गई और बाईं ओर ही लोमड़ी ने आकर दर्शन दिया।

जायसी कहते हैं कि इस प्रकार शुभ शकुनों के दर्शन से यह मालूम पड़ता है कि राजा जिस अभीष्ट भोग की रुचि रखता है वह उसका आस्वादन करेगा या प्राप्त करेगा। वे कहते हैं कि जिसके प्रस्थान करते समय ऐसे शुभ सगुन हों तो वह जिस अभिलाषा से प्रस्थान करता है वह क्यों न पूरी होगी? उसे तो आठो महासिद्धियां मिलेंगी—व्यास का ऐसा कथन है।

विशेष—जायसी के पद्मावत में वस्तु परिगणनात्मक शैली का चमत्कार कई स्थलों पर देखा जा सकता है। इस छन्द में इसी शैली के दर्शन होते है। इस प्रकार के स्थलों से स्पष्ट होता है कि जायसी हिन्दू रीति-रिवाज, दर्शन, व्यवहार, धर्म-कर्म आदि की मान्यताओं से अच्छी तरह परिचित ही नहीं बल्कि आकर्षित भी थे।

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंगि-नाद जोगिन कर बाजा॥
कहेन्हि आजु किछु थोर पयाना। काल्हि पयान दूरि है जाना॥
ओहि मिलान जो पहुंचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परवत कै बाटा। बिषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठावहिं ठांव बैठ बटपारा॥
हनुवंत केर सुनब पुनि हांका। दहुं को पार होइ को थाका॥
अस मन जानि सभारहु आगू। अगुआ केर होहु पछलागू॥
करहिं पयान भोर उठि, पंथ कोस दस जाहिं।
पंथी पंथा जे चलहिं, ते का रहहिं ओठाहिं॥ ११॥

शब्दार्थ—पयान—प्रस्थान। सिंगि-नाद—सिंगी बाजे की आवाज। किछु थोर—कुछथोड़े। काल्हि—कल। मिलान—मिलने के लिए। परवत-

पर्वत या पहाड़। बाटा—मार्ग। विषम पहार—कठिन पर्वत। अगम—जहां गमन न हो सके। सुठि घाटा—सुन्दर घाट या घाटियां। खोह औ नारा—नाले और खोह आदि। बटपारा—चोर, उचक्के या बटमार। हनुवंत—हनुमान। दहुं को पार—पता नहीं कौन। संभारहु—संभालना। अगुआ—अग्रमि। पछलागू—पिछलग्गा। पंथी पंथा—राहगीर। ओठांहि—उस स्थान पर। ते का रहहि—वे कब किस स्थान पर।

करहु दीठि थिर होइ बटाऊ। आगे देखि धरहु भुइं पाऊ॥
जो रे उवट होइ परे भुलाने। गए मारि, पथ चलै न जाने॥
पांयन पहिरि लेहु सब पौरी। कांट धसैं, न गड़ै अकरौरी॥
परे आई बन परवत माहां। दंडाकरन बीझ-बन जाहां॥
सघन ढांख-बन चहुंदिसि फूला। बहु दुख पाव उहां कर भूला॥
झांखर जहां सो छांड़हु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कथा॥
दहिने बिदर, चंदेरी बाएं। वहुँ कहं होइ बाट दुइ ठाएं॥

एक बाट गइ सिंघल, दूसरि लंक समीप।
हैं आगे पथ दूओ, वहुं गौनब केहि दीप॥ १२॥

शब्दार्थः—दीठी=दृष्टि, बटाऊ=राहगीर, भुइं पाऊ=भूमि पर पैर, जोरे उवट=ऊबड़-खाबड़ कठिन मार्ग; पौरी=पवरी या खडाऊं, कांट धसै=कांटा न चुभै, न गड़ै अकरौरी=कंकड़ी भी पैरों में न गड़े, दंडकारन=दण्डकारण्य, बीझ-बन=सघन वन, ढांखबन=ढाखों का वन, चहुँदिसि=चारों ओर, झांखर=कटीली झाड़ियां, हिलगि=सटकर या अटककर, बिदर=बीदर, गौनब=गमन।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में पूर्व प्रसंग के साथ ही कवि कह रहा है–

हे राहगीरों अपनी दृष्टि मार्ग पर स्थिर करो। तात्पर्य पूर्णतः मार्ग पर चलने का अनुमान करो, जिस मार्ग पर चलना है उस पर दृढ़ होकर चलो। मार्ग पर आगे देखकर चरण रोपो। यदि ऊबड़-खाबड़ स्थान में हम भूल गये तो मार्ग में ही मारे जायंगे; आगे जाना संभव न हो सकेगा। सभी को पांवों में खडाऊं पहन लेने चाहिए ताकि कांटे और कंकर आदि पैरों में चुभ न सकें।

जायसी कहते हैं कि अब हम वन खण्ड में आ पहुँचे हैं। विन्ध्याचल पर्वत दण्डाकारण्य के समान है। ढाक का घना वन चतुर्दिक फैला हुआ है और फूला हुआ है। जो कोई यहां मार्ग भूल जाता है वह बड़ी कठिनाई से सही मार्ग पर पहुँच पाता है। इस प्रकार उस मार्ग को छोड़ देना चाहिए जहां बड़े कांटें वाले झाड़ झखाड़ खड़े हों। कहीं ऐसा न हो कि मकोय में अटककर अपनी कथरी या गुदड़ी फाड़ लो। देखो दाहिनी ओर बीदर और बाईं ओर चंदेरी है। न मालूम दोनों के बीच मार्ग कहां और कैसे मिले। एक मार्ग तो सिंहल को जाता है और दूसरा लंका की ओर जाता है। दोनों आगे जाकर बट जाते हैं तात्पर्य आगे दुराहा है। देखना या निश्चय यह करना है कि आगे हमें इन दोनों में से किस मार्ग पर चलना पड़ेगा।

ततखन बोला सुआ सरेखा । अगुआ सोइ पंथ जेइ देखा ॥
सो का उड़ै न जेहि तन पांखू । लेइ सो परासहि बूड़त साखू ॥
जस अंधा अंधे कर सगी । पंथ न पाव होइ सहलगी ॥
सुनु मत, काज चहसि जौं साजा । बीजानगर बिजयगिरि राजा ॥
पहुंचो जहां गोंड औ कोला । तजि बाएं अंधियार, खटोला ॥
दक्खिन दहिने रहहि तिलगा । उत्तर बाएं गढ़-काटंगा ॥
मांझ रतनपुर सिंघदुवारा । झारखंड देइ बांव पहारा ॥

आगे पाव उड़ैसा, बाएं दिए सो बाट ।
दहिनावरत देइ कै, उतरु समुद के घाट ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—ततखन—तत्क्षण या उसी क्षण, सरेखा—चतुर, अगुआ—आगे चलने वाला, जेहि तन पांखू—जिसके शरीर पर पंख न हो, लेई सो परासहि बूड़त साखू'=शाखा डूबते समय पत्ते को ही पकड़ती है । परासहि—पलाश, सहलंगी—सगलगा या साथी, बीजानगर—विजयानगरम् गोंड औ कोला—जंगली जातियां विशेष, खटोला—गढ मडला का पश्चिम भाग, गढ़-काटगा—गढ़ कटंग या जबलपुर के आस पास का प्रदेश झारखण्ड—छत्तीस खण्ट और गोंडवाने का उत्तर भाग, दहिनावरत—दक्षिणावर्त, उडैसा—उड़ीसा ।

ससंदर्भ व्याख्या—इस छन्द में कवि जायसी हीरामन गुरु रूप तोते को मार्ग दर्शक के रूप मे प्रस्तुत करते हैं । पूर्व पद में जो माग परिचयगत कठिनाई आई थी, उसी का समाधान करता हुआ हीरामन तोता कह रहा है—

कवि कहता है कि उसी क्षण हीरामन तोते ने, जो बहुत चतुर था, उत्तर दिया । उसने कहा कि अग्रणी या पथ-प्रदर्शक वही होता है जिसने मार्ग देखा है । वह व्यक्ति क्या उड़ेगा जो शरीर से पंखहीन है । वह तो उस जैसा है जो अपने भार से पत्तों सहित शाखा को भी ले डूबता है । अंधे के साथी अंधे के समान वह व्यक्ति होता है । तात्पर्य यह है कि पथ प्रदर्शक वही हो सकता है जो चतुर हो, परिचित हो और आगे-पीछे की सोचने वाला हो । अतः अंधा और मतिहीन व्यक्ति साथी के रूप में क्या साथ दे सकता है, कहावत भी तो है—"गुरु कीजे जान के, पानी पीवै छानके" अतः जो अंधे गुरु के निर्देशन में चलता है वह मार्ग से भटक जाता है । व्यंजना है कि राजा तुम नहीं भटकोगे क्योंकि तुम्हारा पथ प्रदर्शक अंधा नहीं है—विद्वान और चतुर है ।

जायसी कहते हैं कि हे राजा ! यदि तुम अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हो तो मेरी सीख या शिक्षा मानो । विजयनगर, बीजागढ़ और गढ़कुंडा की बात मत पूछो तथा अंधियारे खटोले का बांए की ओर छोड़ चलो । दक्षिण में दाहिने तिलंगाना निकल जायगा । उत्तर के बीच में गढ़ कंटक प्राप्त होगा । इसी मार्ग से गमन करते हुए रतनपुर और उसके समक्ष महानदी की घाटी वाला द्वार होगा । बाईं ओर झारखण्ड के पर्वत रह जायेंगे । तोते ने कहा कि आगे कदम रखते ही उड़ीसा का मार्ग मिलेगा किन्तु उस मार्ग को बायें छोड़कर दाहिने पथ पर मुड़कर समुद्र के घाट चले चलना । यदि इस मार्ग से चलते रहे तो निश्चय ही सिंहलद्वीप के पार पहुँच जाओगे ।

विशेष—इस छन्द को पढ़ते ही जायसी का भौगोलिक ज्ञान सामने आ जाता है। जायसी ने तोते को गुरु पद प्रदान किया है। उन्होंने स्वय कहा है—

गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निर गुन पावा॥

वर्णन करने में जायसी को कमाल हासिल है। नाम गिनायेंगे तो गिनाते चले जायेंगे।

होत पयान जाइ दिन केरा। मिरिगारन महं भएउ बसेरा॥
कुस-सांथरि भइ सौर सुपेती। करवट आइ बनी भुइं सेंती॥
चलि दस कोस ओस तन भीजा। काया मिलि तेहिं भसम मलीजा॥
ठांव ठांव सब सोअहिं चेला। राजा जागै आपु अकेला॥
जेहि के हिये पेम-रंग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा॥
बन अंधियार, रैनि अंधियारी। भादों बिरह भएउ अति भारी॥
किंगरी हाथ गहे बैरागी। पांच तंतु धुन ओही लागी॥
नैन लाग तेहि मारग पदमावति जेहि दीप।
जैस सेवातिहि सेवै बन चातक, जल सीप॥ १४॥

शब्दार्थ—पयान—प्रस्थान। दिन केरा—दिन होने पर। मिरगारन—मृगारण्य। महं—में। कुस सांथरि—कुसस्थली। सौर सुपेती—बिस्तरा। सेंती—से। ओस—शबनम। तन भीजा—शरीर भीग गया। मलीजा—मलना। सोअहिं—सोते थे। पेम-रंग प्रेम का रंग। जामा—उदित हुआ या गहरा हो कर चढ़ गया है। पांच ततु—पचभूत। जेहि—जिस या उस। तेहि दीप—उस दीप। सेवा तेहिं—स्वाति नक्षत्र के जल को।

सप्रसग व्याख्या:—इन पंक्तियों में तोते के बताये हुए मार्ग के अनुसार ही कवि जायसी प्रस्थान का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

प्रस्थान हुआ और चलते-चलते दिन का बसेरा मृगारण्य में हुआ। सभी संगी-साथी कुशस्थली को विस्तरा बनाकर सोये तथा सभी ने धरती से लगकर करवट ली। कवि कहता है कि जिस शरीर पर चंदन का अवलेप होता था उस पर अब भस्म मली हुई थी। नित्य प्रति दस कोस चलने के पश्चात् उसका शरीर पसीने की ओस से भीग जाता था। स्थान-स्थान पर सभी शिष्य विश्राम लेते थे, सोते थे किन्तु अकेला राजा जगता रहता था। कारण उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की साध लगी हुई थी।

जायसी कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम का रंग जम गया है या प्रेम गाढ़ा होकर जम गया है, उसे नींद, भूख और विश्राम कहां? तात्पर्य प्रेमी के मन में न तो नींद होती है और न भूख प्यास, केवल उसे तो अपने प्रिय की प्यास होती है। चारों ओर अंधकार छाया हुआ था और वन का सघन अंधकार सर्वत्र फैला हुआ था। भादों की रात और उस पर भी जंगल का घना अंधकार था। विरहानुभूति के कारण अन्धकार राजा के लिए असह्य हो रहा था। छोटी सारंगी को हाथ मे लिए वह सच्चा वैरागी होगया, उसके पांचो तत्व या तारों से प्रेम-ध्वनि झंकृत होकर उसके तन और मन को रमाने लगी। तात्पर्य यह है कि वह राजा पंचारत के नाद और प्रेयसी पद-

मावती की स्मृति में लीन रहता था। उसे न मार्ग का ध्यान था और न कष्टों का ही, वह तो अपने मार्ग पर चलता था।

जायसी कहते हैं कि जिस ओर पद्मावती का सिंहलद्वीप था, राजा के नेत्र एकटक उसी ओर लगे रहते थे। उसकी साधना पद्मावती की ओर स्थिर होगई थी ठीक वैसे ही जैसे स्वांति-बूंद को पाने के निमित्त वन में चातक और जल में सीप की प्रतीक्षा स्थिर और निश्चित हो जाती है।

राजा-गजपति-संवाद-खण्ड

मासेक लाग चलत तेहि बाटा। उतरे जाइ समुद के घाटा॥
रतनसेन भा जोगी-जती। सुनि भेंट आवा गजपती॥
जोगी आपु, कटक सब चेला। कौन दीप कहं चाहहिं खेला॥
"आए भलेहि, मया अब कीजै। पहुनाई कहं आयसु दीजै"॥
'सुनहु गजपती उतर हमारा। हम्ह तुम्ह एकै, भाव निरारा॥
नेवतहु तेहि जेहि नहिं यह भाऊ। जो निहचै तेहि लाउ नसाऊ॥
इहै बहुत जो बोहित पावौं। तुम्ह तें सिंघलदीप सिधावौं॥
जहां मोंहि निजु जाना कटक होउ लेइ पार।
जौं रे जिऔं तौ बहुरौं, मरौं त ओहि के बार" ॥ १ ॥

शब्दार्थ:—मासेक—एक मास, तेहिबाटा—उस रास्ते पर, समुद के घाटा—समुद्र के घाट पर, रतनसेन भा जोगी जती—रत्नसेन योगी और यती होगया, गजपती—कलिंग नरेश की उपाधि विशेष, चाहहिं खेला—खेलना चाहता है, मया—कृपा, पहुनाई—मेहमानदारी, आयसु—आज्ञा, निरारा—भिन्न, नेवतहि—न्यौता दो, निहचै—निश्चय ही, नसाऊ—बिगाड़, बोहित—जहाज, सिधावौं—चला जाऊं, बहुरौं—लौटूंगा, मरौंत ओहि के बार—मर गया तो भी उसके ही दरवाजे पर मरूंगा।

ससदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में भी जायसी रत्नसेन के प्रस्थान का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि—

उस मार्ग पर चलते हुए रत्नसेन को एक मास के लगभग बीत गया; तब कहीं जाकर वे सब समुद्र के किनारे पर आकर उतर पाये। वहां जैसे ही गजपति ने यह सुना कि रत्नसेन जोगी जती होगया है दौड़ा हुआ आया। वह आकर बोला-तुम योगी बनकर और दल के सारे शिष्यों के साथ किस स्थान पर पहुँचना चाहते हो। तुम पहली बार मेरे राज्य में आये हो, अतः अतिथि सत्कार का अवसर प्रदान करो। तात्पर्य यह है कि मुझे तुम्हारा अतिथि सत्कार करने का अवसर दो। इस पर राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया कि हे राजा गजपति! हमारी बात सुनो—मैं और तुम एक समान राजा हैं केवल भावगत वैभिन्य है। तात्पर्य तुम राजा हो और मैं योगी वैसे समान हैं। अतः आतिथ्य तो उनके निमित्त होना है जो सांसारिक ममत्व की आकांक्षा करते हैं। जिन व्यक्तियों का मन भाव से रहित है उससे आतिथ्य की बात कहकर उसके संकल्प में विघ्न मत डालो। आशय यह है कि मैं सांसारिक बातों से अलग होकर योगी-वैरागी होगया हूँ। अतः मुझे किसी सुखोपलब्धि की कामना तो है नहीं। मेरे निमित्त यदि थोड़े बहुत भी भाव तुम्हारे मन में हों तो कृपा करके

सिंहलद्वीप पहुंचने के लिए कुछ जहाजों की व्यवस्था करवादो। बड़ी कृपा होगी।

राजा ने कहा कि जिस स्थान पर मुझे स्वय ही जाना है वहां अपने दल सहित पार जाऊंगा या पहुंच जाऊंगा। यदि जीवित रहा तो पद्मावती को लेकर लौटूंगा, यदि मर गया तो उसके द्वार पर ही अपने प्राणों का परित्याग कर दूंगा।

गजपति कहा "सीस पर मांगा। बोहित नाव न होइहि खांगा॥
ए सब देउं आनि नव-गढ़े। फूल सोइ जो महेसुर चढ़े॥
पै गोसाइं सन एक बिनाती। मारग कठिन, जाब केहि भांती॥
सात समुद्र असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा॥
उठै लहरि नहिं जाइ सभारी। भागिहि कोइ निबहै बैपारी॥
तुम सुखिया अपने घर राजा। जोखिउं एत सहहु केहि काजा?॥
सिंघलदीप जाइ सो कोई। हाथ लिए आपन जिउ होइ॥
खार, खीर, दधि, जल उदधि, सुर, किलकिला अकूत।
को चढ़ि नांघे समुद ए, है काकर अस बूत?"॥ २॥

शब्दार्थ--सीस पर मांगा=आपकी मांग या कामना सिर माथे है या शिरोधार्य है। खांगा=कमी। नव-गढ़े=नये गढ़े हुए। महेसुर चढ़े=महेश के ऊपर चढ़े। गोसाई सन्=गोस्वामी से। विनाती=विनती। जाव केहि भांति=किस विधि से जाना होगा। असूझ=जहां दृष्टि न पहुंच पाती हो। अपारा=जिसका पारावार न हो। घरियारा=घड़ियाल। सँभारी=सँभालने में। जोखिउँ=जोखिम या कठिनाई या कठिनता। एत=इतने। केहि काजा=किस काम से। किलकिला=एक भयकर समुद्र विशेष। अकूत=अपार। नांघे=लांघना। काकर अस बूत=किसका इतना बूता है या किसकी इतनी शक्ति और सामर्थ्य है।

ससंदर्भ व्याख्याः—पूर्व संदर्भानुसार ही जायसी गजपति के मन के भावों को लिपिबद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैः—

हे राजा! यदि तुम सिर भी मांगते तो भी मैं दे देता। यह तो बहुत छोटी सी बात है जिसे तुमने मांगा है। जहां तक जहाजों का प्रश्न है, वह तो मैं दे ही दूंगा; किन्तु मेरे ऊपर पूर्ण विश्वास करो। मैं तुम्हारे साथ हूं। मेरे पास जितने भी नव निर्मित जहाज है वे सभी मैं लाकर तुम्हें दे दूंगा। गजपति ने कहा कि हे योगी रत्नसेन! पुष्प की सार्थकता ही तब है जबकि वह शिव के मस्तक पर चढ़े। यह तो बड़े सौभाग्य की बात है कि आप अपने पावन काम के निमित्त यह जहाज माग रहे हैं। इतने पर एक विनती है—मार्ग बड़ा कठिन है, जाना किस प्रकार सम्भव हो सकेगा। मार्ग में सात समुद्र पड़ते हैं। वे भी साधारण नहीं हैं—बड़े असूझ और अपार हैं। उन समुद्रों में मगरमच्छ और घड़ियाल रहते हैं जो मनुष्यों को यों ही खा जाते हैं। उन समुद्रों में लहरों पर लहरें उठती है जिनको सह सकना बड़ा कठिन काम है।

जायसी कहते हैं कि सौभाग्यशाली वही है जो वहां पार होकर पहुँच जाता है। हे राजा! तुम तो सदैव महलों में रहे हो, सुखी और समृद्ध जीवन बिताते हो; फिर क्योंकर इस कठिन साधना में पड़ रहे हो? तात्पर्य इस

साधना में कष्ट सहते फिरते हो। सिंहलद्वीप में तो कोई विरला ही पहुँच पाता है। विशेषकर वही वहाँ पहुँच पाता है जो अपने प्राणों को हथेली पर रख कर आगे बढ़ता है। तात्पर्य है कि सिंहल की यात्रा कठिन है और वहाँ पहुँचना कठिन है।

राजा रत्नसेन को गजपति ने कहा कि खारे, क्षीर, दधि, उदधि, मदिरा और फिर जलपूर्ण किलकिला तथा मानसरोदक समुद्रों का विशेष बल है। इन सातों समुद्रों को पार करना सभी का काम नहीं है, सभी की सामर्थ्य में नहीं है। जहाज पर चढ़कर इन्हें बिना सामर्थ्य के पार कर सकना संभव नहीं जान पड़ता है।

"गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ॥
जो पहिले सिर दै पगु धरई। मूए केर मीचु का करई?॥
सुख त्यागा, दुख साँभर लीन्हा। तब पयान सिंघल-मुँह कीन्हा॥
भौंरा जान कवँल कै प्रीती। जेहि पहँ बिथा पेम कै बीती॥
औ जेइ समुद पेम कर देखा। तेइ एहि समुद बूँद करि लेखा॥
सात समुद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती, का गरुअ पहारू?॥
जो पै जीउ बाँध सत बेरा। बरु जिउ जाइ फिरै नहिं फेरा?॥
रतनाथ हौं जा कर, हाथ ओहि के नाथ।
गहे नाथ सो खैंचै, फेरे फिरै न माथ॥ ३॥

शब्दार्थ—सकती—शक्ति। सीऊ—सीमा। जीऊ—जीवन या प्राण। सिर दै पगु धरई—सिर देकर आगे कदम रखता है। मीचु—मौत। का करई—क्या बिगाड़ सकती है? सकलपि—दान करके या छोड़कर। दुख साँभर लीन्हा—दुख को संभालना। पयान—प्रस्थान। सिंघल मुँह—सिंहल की ओर मुख किया है। प्रीती—प्रीति या प्रेम। बिथा—व्यथा या दुख। बूँद करि लेखा—बूँदवत ये समुद्र हैं। सत बेरा—सत्य के बेड़े से। बरु जिउ जाइ—भले ही प्राणोत्सर्ग हो जाय। रतनाथ हौं जा कर—जिसके प्रेम में मैं जोगी हुआ हूँ। ओहिके—उसके। नाथ—नकेल या रस्सी।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व प्रसंगानुसार रत्नसेन गजपति के कथन का उत्तर देता हुआ कह रहा है—

हे गजपति! हमारा मन तो शक्ति की सीमा है किन्तु जिसके हृदय में प्रेम होता है उसके पास जीव कहाँ रहता है। तात्पर्य है कि प्रेमी तो जीवन से अधिक मृत्यु को वरण करता है तथा प्राण ही प्रेम की पराकाष्ठा समझता है। प्रेम के मार्ग में वही जा सकता है जो सिर को दे दे, अर्थात् प्राणों का बलिदान दे दे। प्रेम बलिदान चाहता है। प्रेमी तो इस प्रकार से पहले ही मरा हुआ रहता है, फिर मृत्यु उसका क्या कर सकती है? [illegible] कि राजा मैंने सभी सुखों का त्याग कर दिया है और दुख को संभालकर ले लिया है। तात्पर्य है कि मैंने यह दुख [illegible] समस्त दुखकर सिंहल की ओर मुँह करके प्रस्थान किया है। [illegible] है कि भ्रमर ही कमल की प्रीति को जान सकता है। [illegible] प्रेम और उसकी व्यथा बसी हुई है। [illegible] यह भौरा ही जान सकता है [illegible] सहा है।

जायसी कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने प्रेम का सागर देख लिया है उसे बाहरी सागर या बाहरी विघ्न बाधायें किस प्रकार सता सकती हैं। वह तो उसे बूंद के समान प्रतीत होती हैं। सातों समुद्र तो सत्य पर आधारित हैं। जिस प्रकार धरती के स्वाभिमान की रक्षा पर्वत करते हैं, उसी प्रकार हमारी रक्षा भी करेंगे। जिसने अपने मन का बेड़ा सत्य के सेतु से बांध रखा है; भले ही उसके प्राणों की बलि चढ़ जाये, वह मार्ग से लौटता नहीं है। प्रेम-मार्ग को त्यागकर निराश भाव से पथ से हट नहीं जाता है। रत्नसेन ने कहा कि जिसके प्रेम में मैं रंग गया हूं वही मेरे जीवन की कर्णधात्री है। वही मेरी गति और मति है तथा संचालनकर्त्री है। अतः मैं अब किसी अन्य बाधा या शक्ति के मोड़ने से मार्गच्युत नहीं हो सकता हूं।

विशेष—(१)इसमें आशा निराशा का कारण मनको ही बताया गया है "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।"

(२) रत्नसेन के प्रेमी हृदय की दृढ़ता इस पद में व्यंजित की गई है।

पेम-समुद्र जो अति अवगाहा। जहाँ न वार न पार न थाहा॥
जो एहि खीर-समुद मह परे। जीउ गंवाइ हंस होइ तरे॥
हौं पदमावति कर भिखमगा। दीठि न आव समुद औ गंगा॥
जेहि कारन गिउ काथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जावें तेहि पंथा॥
अब एहि समुद परेउं होइ मरा। मुए केर पानी का करा?॥
मर होइ बहा कतहुँ लेइ जाऊ। ओहि के पंथ कोउ धरि खाऊ॥
अस मैं जानि समुद महं परऊं। जौ कोइ खाइ बेगि निसतरऊं॥

सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम-समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥ ४॥

शब्दार्थ—अस—ऐसा। अवगाहा—अगाध। वार न पार—ओर छोर नहीं। जाउ गवाइ—जीवन को गंव कर। भिखमंगा—भिखारी। दीठि—दृष्टि। काथरि कथा—मोटे कपड़े या कथूले। तेहि पंथा—उसी पंथ पर या मार्ग पर। मुएकेर—मरते हुए को। निसतरउं=निस्तार हो जाय। कौड़िया—कौडिल्ला नाम का पक्षी जो पानी में से मछली पकड़कर फिर ऊपर उड़ने लगता है।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में रत्नसेन गजपति को समझाता हुआ कह रहा है कि—

प्रेम का समुद्र बहुत विशाल और गंभीर होता है। उसकी थाह पाना और गहराई की नाप जोख कर पाना संभव नहीं है। राजा ने कहा कि यदि प्रेम सच्चा हो तो इन कठिन समुद्रों का मूल्य कुछ भी नहीं है। यदि ये अधिक गहरे हुए तो मैं हंस बनकर पार करने में समर्थ हूंगा। वास्तव में मैं तो पद्मावती के दिव्य प्रेम रूप का भिखारी हूं। इस प्रकार मुझे प्रेम अथवा गंगा की महत्ता दृष्टिगत नहीं होती है। (कहा जाता है कि मजनूं लैला की तलाश में विक्षिप्त सा हुआ मस्जिद के सामने से नमाज को दरगुजर करके निकल गया। मुल्ला ने उसे पकड़कर काफिर घोषित किया। सचेत होकर मजनू ने कहा—मौलाना गुनहगार हूं कि अपनी लैला के अतिरिक्त मुझे कुछ

नहीं सूझता। पर मुझे ताज्जुब है कि नमाज पढ़ते हुए मैं तुम्हें नजर आ गया और तुम्हें तुम्हारा खुदा नजर नहीं आया।) राजा ने कहा कि जिस पद्मावती के लिए मैंने अपने गले में मोटे कपड़े और कथूले धारण किये हैं, वे व्यर्थ नहीं होंगे। अतः अब तो मैं उसी स्थान पर जाऊंगा जहां कि मुझे वही स्थान और मार्ग मिल जावे।

जायसी कहते है कि राजा रत्नसेन ने कहा कि अब तो मैं प्रेम समुद्र में तैरता हुआ उसी दिव्यस्वरूपा पद्मावती के पास जाऊंगा, भले ही इस कार्य में मुझे मृत्यु का सामना करना पड़े। प्रेम से खेलना मेरी दृष्टि में जलक्रीड़ा के समान है। तात्पर्य यह है कि यह तो जलक्रीड़ा है। इससे भी कठिन कार्य करने में कोई भी आपत्ति मुझे नहीं होगी। जिस प्रकार मरे हुए व्यक्ति को जल बहा कर ले जाता है और कहीं भी जाकर छोड़ देता है, वैसे ही मैं भी पद्मावती के प्रेम रूपी पथ पर प्रयाण करूंगा, चाहे भले ही इसमें मुझे मृत्यु के सम्मुख जाना पड़े या प्राणों का बलिदान करना पड़े। इस प्रकार की विचारधारा के साथ ही मैं जल में प्रवेश करता हूं। यदि किसी जल के पक्षी ने मुझे खा भी लिया तो मुझे कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि मरणोत्तर मेरी शीघ्र ही मुक्ति हो जायगी।

कवि कहता है कि राजा ने कहा कि प्रेम के कारण मेरा मस्तक स्वर्ग में, धड़ धरती पर और हृदय प्रेम-समुद्र में डूबा हुआ है। मेरे नेत्र जल-पक्षी कौडिन्ने की भांति प्रेम-समुद्र की बूंद-बूंद को पाने के निमित्त लालायित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मेरे नेत्रों में अश्रु-बिन्दु छलक आये हैं।

विशेष—जायसी ने 'दिस्टि न आव समुंद औ गंगा' पंक्ति में भी इसी प्रकार के प्रेम को स्थापित किया है। जायसी सूफी सिद्धान्त के अनुसार बताना चाहते हैं कि हमारे लिए प्रेम ही सर्वस्व है। रत्नसेन इसी 'प्रेम सर्वस्वता' का पुजारी है या प्रतीक है। वर्णन-पद्धति में भावात्मक प्रवाह और स्वाभाविक व्यंजनाएं हैं।

कठिन वियोग जाग दुख-दाहू। जरतहि मरतहि ओर निबाहू॥
डर लज्जा तहं दुवौ गवांनी। देखै किछु न आगि नहिं पानी॥
आगि देखि वह आगे धावा। पानि देखि तेहि सौंह धंसावा॥
अस बाउर न बुझाए बूझा। जेहि पथ जाइ नीक सो सूझा॥
मगर मच्छ डर हिये न लेखा। आपुहि चहै पार भा देखा॥
औ न खाहि ओहि सिंघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया संग न आथी। जेहि जिउ सौंपा सोई साथी॥

जो किछु दरब अहा संग दान दीन्ह संसार।
ना जानौं केहि सत सेंती दैव उतारै पार॥ ५॥

शब्दार्थ—दुख-दाहू—दुख की जलन। जरतहि मरतहि—जलते मरते। निबाहू—निर्वाह। दुवौ—दोनों। गंवानी—खो दी या भुला दीं। देखै किछु न आगि नहिं पानी—आग-पानी को न देखना, तात्पर्य किसी भी संकट को देख कर डर न खाना, यह मुहावरा है। धावा—दौड़ा। तेहि सौंह—उसकी तरफ। धंसावा—प्रवेश कराना या प्रवेश के निमित्त प्रेरित करना। नीक—

अच्छा। सदूरा—शार्दूल या सिंह। भूरा—सूखा या शुष्क। आथी—होता है। दख—द्रव्य।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में प्रेम-विरह भाव की गरिमा और उदात्तता का परिचय दिया गया है। रत्नसेन कह रहा है—

राजा ने गजपति से कहा कि जिस व्यक्ति के हृदय में कठिन विरह की जलन है, उसका सम्पूर्ण जीवन जलते-बलते ही व्यतीत हो जाता है। तात्पर्य है कि प्रेम में तो जलन और दाह से ही जीवन का निर्वाह करना पड़ता है। डर और लज्जा उसकी दृष्टि में अमहत्वपूर्ण हैं। इन दोनों को ही प्रेम-पथिक को छोड़ना पड़ता है। राजा ने बताया कि प्रेम के दीवाने या आशिक को आग और पानी का भय निस्सार प्रतीत होता है। तात्पर्य, कोई भी संकट उसके निमित्त नहीं के बराबर है। वह तो आगे की ओर देखता रहता है, उसकी दृष्टि आग और पानी की ओर रहती है। वह आग जो प्रेम से प्राप्त हुई है, उसे ही देखता रहता है। प्रेम के जल को देख कर वह उसकी ओर दौड़ता है।

जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार पागल को कुछ भी कहा सुना जाय, वह न तो कुछ भी समझता है और न किसी की कोई भी बात या राय मानने को तत्पर ही होता है; ठीक उसी प्रकार प्रेमी का जीवन और रग-ढग होता है। वह अपनी मनोवांछाओं के अनुकूल चलता है। उसे किसी का भय नहीं होता है। मगरमच्छ और अन्य हिंसक जानवरों का भय भी उसे नहीं होता है। उसके हृदय में केवल प्रेम होता है और होती है अपनी कामना की पूर्ति की लालसा। वह तो अपने लक्ष्य के पार जाने का अभिलाषी होता है। उसे (प्रेमी को) न तो कोई सिंह ही खा सकता है और न कोई शार्दूल ही क्योंकि वह काठ से भी अधिक नीरस और शुष्क होता है। जो काठ के समान नीरस है; उससे जूझने और भूरने का भी कोई प्रयोजन नहीं होता है। इस प्रकार के प्रेम-योगी के लिए न तो शरीर का मूल्य होता है और न माया का ही। उसका संगी-साथी तो वही होता है जो उसे चाहता है या वह जिसे हृदय देकर जीवनोन्मुख होता है।

जायसी कहते हैं कि जो कुछ भी सांसारिक द्रव्य उस राजा के पास था, वह सभी उसने संसार को वितरित कर दिया। देव ही जाने किस सत्य के बल से वह पार उतरेगा।

विशेष—इन पंक्तियों में प्रेम और विरह की महत्ता बतलाई गई है। इस छन्द का लक्ष्य है कि प्रेमी का जीवन सदैव प्रिया को ही चाहता है और उसकी इस लक्ष्यप्रियता के निमित्त भले ही उसे कष्टों का सामना करना पड़े।

धनि जीवन औ ताकर हीया। ऊंच जगत महं जाकर दीया॥
दिया सो जप तप सब उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥
एक दिया ते दसगुन लहा। दिया देखि सब जग मुख चहा॥
दिया करै आगैं उजियारा। जहां न दिया तहां अंधियारा॥
दिया मंदिर निसि करै अ जोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥
हातिम करन दिया जो सिखा। दिया रहा धर्मन्ह महं लिखा॥
दिया सो काज दुऔ जग आवा। इहां जो दिया उहां सब पावा॥

निरमल पंथ कीन्ह तेइ जेइ रे दिया किछु हाथ ।
किछु न कोइ लेइ जाइहि दिया जाइ पै साथ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—धनि—धन्य है। ताकर—उसका। जिया—जीवन। ऊंच जगत—संसार में ऊंचा। दिया—दीपक या दिया हुआ दान। उपराही—ऊपर, सर्वोत्तम। किछु नाहीं—कुछ भी नहीं है। दसगुन लहा—दस गुना प्राप्त होता है। उजियारा—उज्ज्वल प्रकाश। अंजोरा—प्रकाश। मूसहिं चोरा—चोर चोरी कर ले जाते हैं।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के माध्यम से कवि दान की महत्ता प्रतिपादित कर रहा है। वह कहता है—

कवि प्रेम को दान समझता है। वह कहता है कि यह महादान है। जिसके पास हृदय का दान है वह संसार में सबसे अधिक महत्तम और धन्य है। प्रेम-दान का संसार भर मे ऊंचा स्थान रहता है। दान जप-तप सभी से सर्वोच्च है। इस दान के बराबर संसार में कुछ भी नहीं है। एक बार दान देने से दसगुना धन प्राप्त होता है। दानी को देखकर सभी उसका मुख जोहते है। सभी उससे आकांक्षा करते हैं। दान से भविष्य का पथ उज्ज्वल हो जाता है। जहां जीवन में दान या प्रेम दान नहीं है वहां सिवाय अंधकार के और कुछ भी नहीं होता है। दान का प्रकाश हृदय मंदिर को सदैव प्रकाशित करता है। जिस घर में दान का दीपक नहीं जलता है उस घर में चोरों का प्रवेश हो जाता है और वे सभी सुरक्षित पूंजी को चुरा ले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि दान न देने वाले प्रेत होते हैं। हातिम और कर्ण ने दान देना सीखा था; अतः उनका नाम धर्म के अवलम्बियों ने सदैव के लिए अमर कर दिया।

जायसी कहते है कि दान दिया हुआ माल दोनों संसारों में काम आता है—इस लौकिक संसार मे और पारलौकिक संसार में भी। इस संसार में जो दान दिया जाता है वह दूसरे अर्थात् परलोक में काम आता है। वे व्यक्ति वस्तुतः अपने जीवन-पथ को निर्मल बनाते हैं जो दान देते हैं। अपने हाथ से दान देने से जीवन निर्मल हो जाता है। संसार से व्यक्ति कुछ भी अपने साथ नहीं ले जाता है। सम्पूर्ण धन दौलत यहीं रखी रह जाती है। यदि कुछ भी साथ जाता है तो वह दिया हुआ दान है। तात्पर्य दान देना महान् कार्य है। इससे इस लोक और परलोक-दोनों में व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

विशेष—१. दान की व्याख्या बड़े मनोहर और अप्रतिम ढंग से की गई है। इस प्रकार का वर्णन करना जायसी की प्रतिभा के ही अनुकूल है।

२. यमक और श्लेष का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। 'दिया' शब्द इसका प्रमाण है।

बोहित खण्ड

सो न डोल देखा गजपती । राजा सत्त दत्त दुहुं सती ॥
अपनेहि कया, आपनेहि कंथा । जीउ दीन्ह अगुमन तेहि पंथा ॥
निहचै चला भरम जिउ खोई । साहस जहां सिद्धि तहं होई ॥
निहचै चला छांड़ि कै राजू । बोहित दीन्ह, दीन्ह सब साजू ॥
चढ़ा बेगि, तब बोहित पेले । धनि सो पुरुष पेम जेइ खेले ॥
पेम-पंथ जौं पहुंचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥

तेइ पावा उत्तिम कैलासू । जहां न मीचु, सदा सुख-बासू ।।
एहि जीवन कै आस का ? जस सपना पल आधु ।
मुहमद जियतहि जे मुए तिन्ह पुरुषन्ह कह साधु ।। १ ।।

शब्दार्थ—सत—सत्य, डोल—चलायमान, दत्तसत्त—दान और सत्य का अभिलाषी, सती—शक्ति, अगुमन—आगे बढ़कर, निहचै—निश्चय ही, भरम जिउ खोई—मन का भ्रम खोकर या भ्रम निवारण करके, बोहित—जहाज, पेले—चलाये या झोंक से चले, बहुरि—फिर दुबारा, एहि छारा—इस मिट्टी में, जस—जैसे, सपना पल आधु—आधे पल का स्वप्न मात्र, जियतहि—जीवित रहकर ही, कह साधु—साधु कहते हैं ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में पूर्व संदर्भ ही है । गजपति को जब पूरा-पूरा विश्वास हो गया तब वह राजा से, जो योगी वेश में सामने खड़ा था, कहने लगा—

गजपति ने सोचा कि राजा रत्नसेन अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है । उससे हटाया जाना साधारण और आसान कार्य नहीं है । इसके पास सत्य और दान की दोनों शक्तियां हैं । इस प्रकार सत्य और दान का प्रतीक यह राजा मार्ग से नहीं हट सकता है । राजा ने अपने शरीर पर जो कथरी पहन रखी है, वह भी किसी दूसरे की है । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि शरीर अपना नहीं होता है, यह तो पुरानी कथली या गुदड़ी के समान है यही समझकर उसने अपने इष्ट प्रेम-मार्ग पर अग्रसर हो गमन किया है ।

गजपति ने कहा कि यह राजा निश्चय ही इस मार्ग पर चलने से पूर्व मन का मिथ्याभिमान और गर्व खो चुका है। इस कारण सफलता निश्चित है । फिर जिसके पास साहस है वहां सफलता असंदिग्ध ही रहती है । इतना ही नहीं यह तो अपने राज्य को भी छोड़ कर चला है । इस प्रकार का विचार-विमर्श करने के अनन्तर गजपति ने योगी रत्नसेन को जहाज और उनका सभी साज सामान दे दिया ।

रत्नसेन जहाजों को पाकर शीघ्र ही चल पड़ा । उनको शीघ्र ही 'पेल' दिया गया । इस प्रकार का पुरुष धन्य है जो प्रेम-पंथ पर प्रेम क्रीड़ा करता है । इसी प्रकार के प्रेम के खिलाड़ी स्वर्ग या उत्तम या महत्तम कैलाश को प्राप्त कर पाते हैं । यह वह कैलाश है जहां न तो संकट होते हैं और न मृत्यु ही । वहां तो सदैव सुख का वास रहता है । जो भी प्रेम के पंथ में पूरा हो जाता है या अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है वह दुबारा आकर इस संसार की मिट्टी में नहीं मिल पाता है ।

जीवन तो कुछ भी नहीं है, केवल एक आधे पल भर का स्वप्न मात्र है । वस्तुतः जीवन कुछ भी नहीं है । इसका अस्तित्व भी कुछ नहीं है । यह तो क्षण मात्र का स्वप्निल मिलन है । अतः जो व्यक्ति प्रेम में जीतेजी मर जाते हैं या प्राणों का बलिदान कर देते हैं वे सच्चे महात्मा कहलाते हैं ।

विशेष—१. गीता में भी कहा गया है—

"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः"

२. उपनिषद् का क्षणिकवाद भी अन्तिम पंक्तियों में व्यंजित हो गया है। विशेषता तो यह है कि दर्शन का यह मधुर आभास काव्य सपृक्त ही है।

३. उपमाओं का सुन्दर प्रयोग इस पद की विशिष्टता है।

जस बन रेंगि चलै गज ठाटी। बोहित चले, समुद गा पाटी॥
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं॥
समुद अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा॥
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा॥
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी॥
राजा सेंती कुँवर सब कहहीं। अस अस मच्छ समुद महँ अहहीं॥
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु संजूत बहुरि नहि अवना॥
गुरु हमार तुम राजा हम चेला तुम नाथ।
जहाँ पांव गुरु राखै, चेला राखै माथ॥ २॥

शब्दार्थ--ठाटी-झुंड, उपराहीं-अधिक वेग से, घाल गनै-समंग बराबर भी नहीं समझता है, तात्पर्य नहीं के बराबर समझता है, चाल्हा-एक मछली विशेष 'चेल्हवा', नाराजी-नाराज हुई, भुइंबाजी-भूमि पर पड़ी, सजूत-सावधान या तैयार, नहि अवना-आना नहीं होना।

ससंदर्भ व्याख्या—संदर्भ पूर्वानुसार। रत्नसेन के प्रस्थान का वर्णन करते हुए कवि जायसी कहते हैं—

जिस प्रकार हाथियों के झुंड धीरे-धीरे रेंगते हुए चलते हैं वैसे ही रत्नसेन के जहाज धीरे-धीरे चलने लगे। जहाजों से समुद्र पट गया। मन की गति से भी तीव्र जहाज दौड़ने लगे। पल भर में हजार कोस की गति से वे जहाज चलने लगे। समुद्र उमड़ता हुआ ऐसा प्रतीत होता था मानो वह आकाश को छूना चाहता था। वैरागी राजा को विचार हुआ कि कहीं आकाश न टूट पड़े। उसी क्षण एक 'चाल्हा' नामक मछली दिखाई दी, जो धवलगिरि पर्वत की भांति दिखाई देती थी। एक हिलोर उठी जो ऐसी प्रतीत हुई मानो वह नाराज हो गई हो। उसे देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो रुष्ट होकर आकाश छूकर पुनः पृथ्वी पर आ गिरी। इस दृश्य को देखकर समस्त राजकुमारों ने राजा से पूछा—क्या समुद्र में ऐसे-ऐसे जीव भी रहते हैं। राजा ने उत्तर दिया कि हमें ऐसे ही मार्ग पर तो जाना है। सभी दृढ़ता से सजग हो जाओ। लौटना है, इस बात की कल्पना तक मत करो।

जायसी कहते हैं कि इस पर सभी राजकुमारों ने कहा—हे राजा! तुम हमारे गुरु हो, हम तुम्हारे शिष्य हैं; जिस स्थान पर गुरु पैर रखता है वहीं चेले का मस्तक झुकना है। हम तुम्हारे इस उपदेश और निर्देश का जीवन भर पालन करेंगे।

केवट हँसे सो सुनत गवेजा। समुद न जानु कुवाँ कर मेजा॥
यह तो चाल्ह न लागै कोहू। का कहिहौ जब देखिहौ रोहू? ॥
सो अबहीं तुम्ह देखा नाहीं। जेहि मुख ऐसे सहस समाहीं॥
राजपंखि तेहि पर मँडराहीं। सहस कोस तिन्ह कै परछाहीं॥
तेइ ओहि मच्छ ठोर भरि लेहीं। सावक-मुख चारा लेइ देहीं॥

गरजै गगन पंखि जब बोला । डोल समुद्र डैन जब डोला ।।
तहां चांह औ सूर असूझा । चढ़ै सोइ जो अगुमन बूझा ।।
दस महं एक जाइ कोइ करम, धरम. तप. नेम ।
बोहित पार होइ जब तबहि कुसल औ खेम ।। ३ ।।

शब्दार्थ—केवट-खेवनहार, गवेजा-बातचीत या वार्तालाप, मेजा-मेंढक, कोहू-किसी को, का कहि हौ-क्या कहोगे, देखिहौ-देखोगे, रोहू-मछली विशेष, सहस समाहीं-सहस्त्रों समा जाते हैं, राजपंखि-गरुण या वैनतेय, ओहि-उस, शावक-बच्चे, कुसल औ खेम-कुशल क्षेम या प्रसन्नता की बात ।

ससदर्भ व्याख्या—सदर्भ पूर्वानुसार । कवि कहते हैं कि इस प्रसंग को सुनकर के वह हंसे । वे कहने लगे कि कुए का मेंढक समुद्र की बात क्या जाने ? उसने बताया कि यह चाल्हा मछली है, जो किसी को कष्ट नहीं देती है अतः भयभीत होना व्यर्थ है । जब रोहू मछली को देखोगे तो क्या कहोगे ? तात्पर्य है कि 'चाल्हा' को अपेक्षा रोहू मछली ज्यादा खतरनाक और भयप्रद होती है । अभी तो तुमने उसे देखा भी नहीं है । उसका मुख इतना चौड़ा होता है कि उसमें तो ऐसे सहस्त्रों समा सकते हैं । गरुड़ या वैनतेय मंडराते रहते हैं जिनकी परछाईं हजारों कोस तक दिखाई देती रहती है । वे पक्षी इन मछलियों को पकड़ लेते हैं तथा अपने बच्चों के मुख में चारे के रूप में डाल देते हैं । जब आकाश में ये पक्षी बोलते हैं तो आकाश गरजने लगता है और जब वे अपने डैने खोलते हैं तो समुद्र डोलने लगता है । न तो समुद्र के उस भाग में चांद है और न सूर्य, बिल्कुल ही असूझ है । इस पर वही चढ़ सकता है जो इसे पहले से जानता है । तात्पर्य यह है कि इस प्रेम-समुद्र को वहीं पा सकता है जो इसके रहस्य को समझता हो तथा निडरता से इसके रहस्य को जानता या समझता हो ।

जायसी कहते हैं कि बहुत कम व्यक्ति उस प्रेम—समुद्र में पहुंच पाते हैं । दस प्रयत्न करें तब कोई एक ऐसा निकलता है जो सत्यकर्म, सत्यधर्म, सत्यनियम के बल पर वहां पहुंचता है । जो व्यक्ति बिना किसी कष्ट के जहाज के पार पहुंच जाये तभी कुशलता समझनी चाहिए । तात्पर्य यह है कि बड़ा तप, बड़ा बल और बड़ा संयम ही व्यक्ति को पार पहुंचा सकता है ।

राजै कहा कीन्ह मैं पेमा । जहां पेम कहं कूसल खेमा ।।
तुम्ह खेवहु जौ खेवै पारहु । जैसे आपु तरहु मोहि तारहु ।।
मोहि कुसल कर सोच न ओता । कुसल होत जो जनम न होता ।।
धरती सरग जांत-पट दोऊ । जो तेहि बिच जिउ राख न कोऊ ।।
हौं अब कुसल एक पै मांगौं । पेम पंथ सत बांधि न खांगौं ।।
जो सत हिय तौ नयनहिं दीया । समुद न डरै पैठि मरजीया ।।
तहं लगि हेरौं समुद ढंढोरी । जहं लगि रतन पदारथ जोरी ।।
सप्त पतार खोजि कै काढ़ौं वेद गरंथ ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदमावति जेहि पंथ ।। ४ ।।

शब्दार्थ—पेमा—प्रेम, पारहु—सको, यदि समर्थ हो तो, ओता—उतना, पट—पल्ला, राख न कोउ—कोई भी बचा नहीं सकता है, खांगौं—

कसर न करूं, पैठि—प्रवेश करके, मरजिया—प्राणों पर खेलकर भयंकर स्थानों से व्यापार की वस्तु यथा मोती, शिलाजीत व कस्तूरी लाने वाला जिवकिया। ढढोरी—छानकर, काढौ—निकालना, गरंथ—ग्रंथ, धावौं—जाऊंगा या दोहूंगा, जेहि पंथ—जिस मार्ग पर है।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भ के साथ हो राजा रत्नसेन ने केवट को उत्तर दिया। उसने कहा :—

जिस व्यक्ति ने प्रेम किया है, उसकी कुशल क्षेम कैसी ? तात्पर्य है कि प्रेमी को मार्ग मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार उस प्रेमी को कुशलता का प्रश्न ही क्या है ? अतः हे केवट ! जिस तरह से पार उतरें, उस तरह जहाज को वस खेवो। ऐसा करने से तुम भी लक्ष्य तक पहुंचोगे और मैं भी पहुच जाऊंगा। मैं अपनी कुशल क्षेम की अधिक चिन्ता नहीं करता हूं क्योंकि मुझे तो कुशल क्षेम की अपेक्षा प्रेम चाहिए, अपना लक्ष्य चाहिए। कुशल क्षेम तो इस ससार में जन्म के साथ ही समाप्त हो गयी। तात्पर्य है कि जोवन ही व्यक्ति को इसलिए मिलता है कि वह अनेक संकटों का सामना करे। (यहां कवि ने आवागमन की दुखमय स्थिति की सूचना दी है।)

जायसी कहने हैं कि पृथ्वी और आकाश चक्की के दो पाट हैं; इन दोनों पाटों के बीच में जो भी पड़ता है, बच नहीं सकता है। तात्पर्य यह है कि ये दोनों ही जीवन के चक्र हैं जिनके बीच मनुष्य है जो मृत्यु लोक का जीव है। अतः मृत्यु लोक के जीव का प्राणान्त अवश्यम्भावी है। हां; एक कुशल भी मांगना चाहता हूँ कि प्रेम मार्ग का सत्य ग्रहण कर लूं; उससे रिक्त न रहूं। यदि हृदय में सत्य प्रेम है तो नेत्रों में मार्गदर्शक दीपक जलता है। उस दीपक के बल पर मनुष्य एक चतुर जीवकिया है जो प्रेम सागर में डुबकियां लगाता है। उसी डुबकिया की भांति मैं (रत्नसेन) भी प्रेम के समद्र मे डुबकियां लगाऊंगा तथा पद्मावती रूपी रत्न को प्राप्त कर लूंगा। इतना ही नहीं जब तक कि मुझे वह रत्न नहीं मिल पायेगा तब तक मैं शान्ति से नहीं रह सकता हूँ।

मत्स्यावतार में विष्णु ने जैसे सात पातालों को खोदकर वेद-ग्रंथो का उदघाटन किया वैसे ही मैं भी सातों आकाशों पर चढूंगा और उस मार्ग का पथिक बनूंगा जिससे कि पद्मावती की प्राप्ति हो सके।

सात-समुद्र-खण्ड

सायर तरै हिये सत पूरा। जो जिउ सत, कायर पुनि सूरा ॥
तेइ सत बोहित कुरी चलाए। तेइ सत पवन पंख जनु लाए ॥
सत सांथी, सत कर संसारू। सत्त खेइ लेइ लावै पारू ॥
सत्त ताक सब आगू पाछू। जहं जहं मगर मच्छ औ काछू ॥
उठैं लहरि जनु ठाढ़ पहारा। चढ़ै सरग औ भरै पतारा ॥
डोलहि बोहित लहरैं खाहीं। खिन तर होहिं, खिनहिं उपराहीं ॥
राजै सो सत हिरदै बांधा। जेहि सत टेकि करै गिरि कांधा ॥
खार समुद सो नांघा, आए समुद जह खीर।
मिले समुद नै सातौ, बेहर बेहर नीर ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सायर—सागर, कुरी—समूह, लावै पारू—पार उतरना, ताक—उसका, टेकि—आधार, कांधा—कंधे, खीर—क्षीर, नांघा—लांघना या उल्लंघन करना, बेहर—बेहर—अलग-अलग ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने सत्य की महत्ता का वर्णन किया है । वे कहते हैं—

जिस व्यक्ति का अन्तःकरण सत्य से परिप्लावित है, वह समुद्र का भी संतरण करके पार जा सकता है । मन का सत्य बड़ा प्रेरक होता है । उसके सहारे व्यक्ति भी वह जो कायर है, बहादुर बन जाता है । इसी सत्य को मन और आत्मा में भरकर राजा रत्नसेन ने जहाजों को चलाया । जिस व्यक्ति के पास सत्य का सम्बल है वही हवा के पंखों पर बैठकर कहीं भी जा सकता है और अपने लक्ष्य को पा सकता है । व्यंजना है कि वह किसी भी कठिनाई को पार करके अपने मनोवांछित लक्ष्य को पा सकता है । सत्य ही जीवन का विशिष्ट सम्बल है और वह आगे-पीछे मानव की सहायता करता है । जो व्यक्ति सत्य का आधार लेकर जीवन के जहाज को खेता है वह पार उतर जाता है और सिद्धि को प्राप्त करता है ।

जायसी कहते हैं कि सत्य और उसकी बड़ी तीखी आंखें मगरमच्छों को देख लेती हैं । जहां-जहां और जिस-जिस स्थान पर वे मगरमच्छ दिखाई देते हैं वहां-वहां सत्य की आंखों से वे बच नहीं पाते हैं । समुद्र में भीषण और असहनीय लहरें उठती हैं, आकाश का स्पर्श करती हैं तथा पाताल में प्रवेश करती हैं । लहरों के थपेड़े खाकर जहाज डगमगाने लगते हैं; क्षण-क्षण पर वे विचलित हो उठते हैं । राजा रत्नसेन ने सत्य को बड़ी दृढ़ता से हृदय में पकड़ रखा है । यह वह सत्य है कि जिसके आधार पर पर्वत के बोझ को भी कंधे पर उठाया जा सकता है ।

जायसी कह रहे हैं कि खारा समुद्र पार कर लिया । सभी क्षीर सागर में आ पहुंचे । वास्तव में ये सातों समुद्र एक हैं, केवल उनके जल में अन्तर है । तात्पर्य यह है कि सभी कुछ सत्याधारित है ।

विशेष—'सत्यमेव जयते' की उक्ति को चरितार्थ करने वाली पंक्तियां इस छन्द में दिखाई देती हैं । दान की भांति सत्य का वर्णन भी बड़ा मार्मिक और विशद बन पड़ा है ।

खीर-समुद का बरनौं नीरू । सेत सरूप, पीयत जस खीरू ।।
उलथहिं मानिक मोती, हीरा । दरब देखि मन होइ न थीरा ।।
मनुआ चाह दरब औ भोगू । पंथ भुलाइ बिनासै जोगू ।।
जोगी होइ मनहिं सो सभारै । दरब हाथ कर समुद पवारै ।।
दरब लेइ सोई जो राजा । जो जोगी तेहिके केहि काजा ? ।।
पंथहि पथ दरब रिपु होई । ठग, बटपार, चोर सग सोई ।।
पथी सो जो दरब सौं रूसे । दरब समेटि बहुत अस मूसे ।।
खीर समुद सो नांघा, आए समुद दधि मांह ।
जो हैं नेह क बाउर तिन्ह कहं धूप न छांह ।। २ ।।

शब्दार्थ—बरनौं नीरू—नीर या जल का क्या वर्णन करूं । सेत सरूप—श्वेत स्वरूप या श्वेत वर्ण । उलथहिं—तैरते हैं । दरब—द्रव्य ।

मनुग्रा—मानव-मन । संभारै—संभालता है । पावरै—फेंकता है । रिपु—शत्रु । वटपार—ठग । रूसै—विरक्त । मूसै—चुराना । नेह क बाउर—प्रेम का पागल ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व सदर्भ के साथ ही जायसी इन पंक्तियों में क्षीर समुद्र का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

क्षीर समुद्र का मैं क्या वर्णन करूं । इसका रंग श्वेत है तथा पीने में दूध जैसा है। इस जल की विशिष्टता यह है कि मोती, मानिक व हीरा इसके ऊपर तैरते हैं। इसकी धन-राशि को देखकर मन ललचा जाता है। वास्तव में मनुष्य का मन द्रव्य और भोग चाहता है। इस भोग और द्रव्य के लालच में ही वह सत्यमार्ग को भूल जाता है तथा योग साधना को नष्ट कर देता है। जो योगी है, वह मन के क्रोध-विकार को जीत लेता है। वह अपने हाथ में आये भूंठे धन और मुक्ताओं को भी सागर में फेंक देता है। इसके विपरीत जो चंचल और लालची राजा होता है वही धन-दौलत को पा लेता है किन्तु जो योगी है; ससार से विरक्त है उसके लिए धन का क्या मूल्य है। तात्पर्य यह है कि योगियों के लिए धन का कोई भी मूल्य नहीं होता है।

जायसी कहते है कि योगी राहगीर होकर जब चलता है तब उसे अनेक दुश्मन मिलते हैं। उसके लिए द्रव्य स्वयं भी शत्रु हो जाता है। इतना ही नहीं द्रव्य होने से ठग, लुटेरे और चोर उस व्यक्ति का जो, जोगी है, पीछा करते हैं। सच्चा पथिक वही कहलाता है जो धन से वैराग्य धारण करके जीवन बिताता है। जो द्रव्य को समेटने का कार्य करते हैं, उनमें से कितने ही ऐसे हैं जो लूट लिये गये हैं।

जायसी कहते हैं कि क्षीर समुद्र को पार कर सारे दधि-समुद्र में आये। ठीक है, जो प्रेम में पागल है उनके लिए न धूप-धूप है और न छांह-छांह।

विशेष-इन पंत्तियों में बताया गया है कि योगी जो साधक होता है वह धन के चक्कर में नहीं पड़ता है। धन के चक्कर में पड़ते ही उसका योग नष्ट हो जाता है तथा वह मार्ग-भ्रष्ट हो जाता है ।

दधि समुद देखत तस दाधा । पेम क लुबुध दगध पै साधा ।।
पेम जो दाधा धनि वह जीऊ । दधि जमाइ मथि काढ़ै घीऊ ।।
दधि एक बूंद जाम सब खीरू । कांजी-बूंद बिनसि होइ नीरू ।।
सांस डाढ़ि, मन मथनी गाढ़ी । हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी ।।
जेहि जिउ पेम चदन तेहि आगी । पेम बिहून फिरै डर भागी ।।
पेम कै आगि जरै जौं कोई । दुख तेहि कर न अंबिरथा होई ।।
जो जानै सत आपुहि जारै । निसत हिये सत करै न पारै ।।
दधि-समुद्र पुनि पार भे, पेमहि कहा सभार ? ।
भावै पानी सिर परै, भावै परै अंगार ।। ३ ।।

शब्दार्थ—दाधा—जला । लुबुध—लुब्ध या योगी । दगध पै साधा—दाह सहने का अभ्यास कर लेता है । पेम जो दाधा—प्रेम में जो जल जाता है । काढ़ि—निकाले । कांजी बूंद—खटाई की एक बूंद । डाढ़ि—मटकी या हांडी या डोरी, साढ़ी । अंबिरथा—निष्फल । बिहून—रहित । निसत—सत्य विहीन । जारै—जलावे । भावै—चाहे ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में दधि समुद्र के रूप का तथा उसकी महत्ता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

दधि समुद्र को देखते ही मन दहक उठा, किन्तु इससे योगी हताश नहीं हुआ। कारण वह प्रेम-योगी था और प्रेम का योगी अपनी साधना की पूर्ति के लिए जलन भी सह लेता है। वास्तव में वह प्राण धन्य है जो प्रेम से जला है। प्रेमी जब जलने लगता है तभी कठिनाइयों को सहकर या दही का मंथन करके उसमें घृत निकाल पाने में समर्थ हो सकता है। दही को मथकर घी लेने या प्राप्त करने का अर्थ है तत्व रूप को प्राप्त करना या अपने अभीष्ट को प्राप्त करना। दही की बड़ी विशेषता होती है। उसकी एक बूंद से ही क्षीर या दूध जम जाता है। इसके विपरीत खटाई की एक बूंद से ही दही या दूध फट जाता है। व्यंजना यह है कि जब दही-रूपी अन्तर मथित होगा तब सार तत्व की उपलब्धि संभव हो सकेगी।

श्वांस रई की डोर है, मन दृढ़ मथानी है और प्राण दधि से भरी मटकी हैं। मनरूपी मथानी से प्राण रूपी मटकी में भरे हुए प्रेम-दधि की मलाई पर जब तक चोट नहीं की जाती वह नहीं फूटती और तब तक स्नेह का घी या तत्व रूप उपलब्ध नहीं होता है। वास्तव में जिसके हृदय में प्रेम है, उसके निमित्त अग्नि का कोई मूल्य नहीं है। तात्पर्य प्रेम-हृदय के समक्ष आग भी चंदनवत् शीतल हो जाती है। जो हृदय प्रेम से रहित है वही अग्नि से या संघर्षों से भयभीत होकर भागते हैं। प्रेमाग्नि में रहने या जलने वालों की व्यर्थ या कष्ट व्यर्थ नहीं जाते हैं। तात्पर्य है कि कष्टों का तुरन्त लाभ-दायक फल भी उसे मिल जाता है। जो सत्य को जानना चाहता है वह अपने को जला देता है। सत्य-विरहित हृदय निर्बल होते हैं, वे सत्य को कभी नहीं जान सकते उस पर नहीं चल सकते हैं। जायसी कहते हैं कि वे सभी दधि-समुद्र से पार हो गये। प्रेम के मार्ग में द्विधा या बाधा को स्थान कौन सच्चा प्रेमी दे सकता है? प्रेम के राहगीर के सिर पर चाहे पानी गिरे चाहे आग बरसे, वह रुकता नहीं है, नित्य प्रति आगे बढ़ता ही जाता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में प्रेम पंथ की साधना का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। जायसी ने बड़े कौशल से यह सिद्ध किया है कि प्रेम जीवन की साधना है, सत्य है। इसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं है।

२ इस पद की निम्नलिखित पंक्ति में रूपक का सौन्दर्य दृष्टव्य है—

सांस डाढ़ि, मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी॥

काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी ये पंक्तियां महत्वपूर्ण हैं।

आए उदधि समुद्र अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा॥
आगि जो उपनी ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
बिरह जो उपना ओहि तें गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत महं बाढ़ा॥
जहां सो बिरह आगि कहं डीठी। सौंह जरै, फिरि देइ न पीठी॥
जग महं कठिन खड़ग कै धारा। तेहि तें अधिक बिरह कै झारा॥
अगम पंथ जो ऐस न होई। साध किए पावै सब कोई॥
तेहि समुद्र महं राजा परा। जरा चहै पै रोवं न जरा॥
तलफै तेल कराह जिमि इमि तलफै सब नीर।
यह जो मलयगिरि प्रेम कर बेधा समुद समीर॥ ४॥

शब्दार्थ—अपारा–अपार। झारा–लपट। उपनी–प्रगट हुई। ओहि–उस। खिन–क्षण। बुझाई–शान्त होना। मंह बाढ़ा–संसार में बढ़ा। आगि कह डांठी–आग को क्या ध्यान में लाता है। सौंह–सामने। देइ न पीठी–पीठ न देना। अगम–कठिन या जहां गमन सम्भव न हो। साव किये–इच्छा करने पर या साधना करने पर। जरा चहै–जलना चाहता है। तर्नकै–तड़फता है। यह जो मलयगिरि–राजा। बेवा समुद समीर–समुद्र का समीर भी बिद्धकर डाला।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन का उसके साथियों के साथ उदधि समुद्र में आने का वर्णन किया गया है। कवि जायसी कहते हैं--

अब वे सभी अपार उदधि-समुद्र में आ गये। उस उदधि समुद्र की लपटों से धरती और आकाश सभी जल रहे थे। उस समुद्र में से जो आग उठी उसकी एक बूंद या चिनगारी से ही सम्पूर्ण लंका जल उठी या उसके जलाने के लिए इस अग्नि की एक बूंद ही पर्याप्त थी। प्रेम के क्षेत्र में जो विरहाग्नि उत्पन्न हुई वह भी इसी आग का परिणाम होने से बड़ी गम्भीर थी—गहरी थी। उसे (विरहाग्नि) बुझाने का प्रयत्न करके भी, इस संसार से, क्षण भर के लिए भी बुझाया नहीं जा सका। परिणामतः सारा संसार जलने लगा। जिसके मन में इस विरह की आग जलती है, उसे वह आग दृष्टिगत नहीं होती है। जो इस ज्वाला में जलता रहता है, वह जलना तो पसन्द कर लेता है, किन्तु इसकी ओर से पीठ नहीं करता है।

जायसी कहते हैं कि इस संसार में तलवार की धार बड़ी कठिन होती है, किन्तु उस धार से भी अधिक कठिन धार प्रेम की होती है। यदि प्रेम का मार्ग इतना कठिन न होता तो सभी उसको केवल कामनामात्र से ही प्राप्त कर लेते। इसी समुद्र में राजा पड़ा हुआ था—उसमें जल जाना चाहता था, पर उसका रोम भी नहीं जल पा रहा था। तात्पर्य है कि जो सच्चे प्रेमी होते हैं उन पर इस प्रकार की जलन आदि का कोई असर नहीं होता है।

जायसी कहते हैं कि उदधि समुद्र का पानी ठीक वैसे ही उबल रहा था जैसे कि कड़ाह में उछलता हुआ तेल कड़–कड़ करता हुआ उबलता रहता है, पर प्रेम के विकट स्वरूप रत्नसेन के लिए तो वह एक तुच्छ बूंद के समान है। तात्पर्य यह है कि राजा को प्रेम के कारण उबलता हुआ समुद्र भी सुखकर प्रतीत होता है। प्रेमियों के मन और तन दोनों ही दृढ़ होते हैं।

विशेष—इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के कठिन व्रत को नियम के साथ बताया गया है कि प्रेम का मार्ग कठिन होता है। उसकी कठिनता का समापन तभी हो सकता है, जबकि साधक कठिन तपस्वी के समान आचरण करने लगता है।

सुरा समुद पुनि राजा आवा। महुआ मद छाता दिखरावा।
जो तेहि पियै सो भांवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥
पेम-सुरा जेहि के हिय माहां। कित बैठे महुआ के छाहां॥
गुरु के पास दाख रस रसा। बैरी बबुर मारि मन कसा॥
विरह के दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह सब काठी॥
नैन-नीर सौं पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया॥

विरह सरागन्हि भूंजै मांसू । गिरि गिरि परै रकत कै भ्रांसू ।।
मुहमद मद जो पेम कर गए दीप तेहि साध ।
सीस न देइ पतंग होइ तौ लगि लहै न खाध ।। ५ ।।

शब्दार्थ—महुआ-मद छाता-महुए का मदोन्मत्त छाता या पुष्पों का गुच्छा जो पानी पर फैला रहता है । भांवरि—चक्कर । सीस फिरै—सिर घूमता है या डोलता है । मन कसा—मन को वश में किया । दाख रस—द्राक्षा या अंगूर का रस । तन माठी-शरीर को भट्टी बना लिया । हाड़—हड्डी । काठी—लकड़ी, ईंधन । पोता किया—लीपना । (मिट्टी के लेप पर गीले कपड़े का पुचारा जो भवके से अर्क उतारने में बरतन के ऊपर दिया जाता है ।) सरागन्हि—शलाका या सलाखों पर, या सींख जिसमें गोदकर मांस भूनते हैं । खाध-खाद्य या भोग । साध—साधना या इच्छा ।

ससंदर्भ व्याख्या-इन पंक्तियों में कवि रत्नसेन से सुरा समुद्र का वर्णन करा रहे हैं। वे कहते हैं—

राजा सुरा समुद्र में आया। यहां जगह-जगह महुए के फूल के छत्ते दिखाई दे रहे थे । जो उस सागर के जल को पीता है, उसे चक्कर आने लगते हैं, सिर घूमने लगता है तथा मार्ग पर उसके पैर नहीं पड़ते हैं । जायसी कहते हैं कि जिस व्यक्ति के मन में प्रेम की शराब बसी है, वह भला महुए के रस को क्योंकर पाना चाहेगा, अर्थात् कभी नहीं । राजा रत्नसेन कोई साधारण योगी नहीं था, उसने तो अपने गुरु के निर्देश से सही और सच्चे रूप में अंगूर का रस पिया था । साथ ही गुरु के पास रहकर बेर बबूल रूपी माया मोहादि को मारकर अपने मन को वश में किया था तथा शरीर को विरहाग्नि में जलाकर कंचनवत् शुद्ध कर लिया था । शरीर को तपने की भट्टी बना लिया था । उस राजा ने तो हड्डियों को इस प्रकार जलाया है कि वे ईंधन के रूप में काम करने लगी हैं । राजा रत्नसेन की आंखों से निकलने वाले आंसू मानो पानी की पोती या पुचारा हो जिसके सहारे प्रेम की शराब बूंद-बूंद टपकती है । यह प्रेम-दीपक की भांति प्रज्ज्वलित होता रहता है । यह रूपक, अर्क बनाने की प्रक्रिया का पूर्ण प्रतीक है – भट्टी जलती है, उसके ऊपर मिट्टी के बर्तन पर लेप किया जाता है, कपड़ा लपेटा जाता है जो गीला होता है । इससे भाप के द्वारा टोंटी से रस बूंद-बूंद कर टपकता है । इसका अभिधेयार्थ भी स्पष्टतः इसी ओर संकेत करता है । राजा विरह की शलाखों पर अपने शरीर का मांस कबाब की भांति भूनता था । उसकी आंखों से रक्त की बूंदें आंसू बनकर टपक रही थी । तात्पर्य यह है कि विरहाग्नि में तपकर ही प्रेम की सुरा तैयार होती है ।

जायसी कहते हैं कि प्रेम का मधु पाना कोई आसान काम नहीं है । उस प्रेम मधु को चखने के लिए अपने प्रेम-दीपक को तब तक जलाना पड़ता है जब तक सम्पूर्ण शरीर जलकर राख नहीं हो जाता है । यह जलना ठीक पतंगे की भी जलन के समान होना है । जब तक शलभ या पतंगा अपना सर्वस्व चिता के ऊपर नहीं होम देगा तब तक वह प्रेम मधु का पान नहीं कर सकता है । व्यंजना है कि प्रेम-मधु की परीक्षा के निमित्त जलना बहुत आवश्यक है ।

विशेष—१. इसमें प्रेम भाव की व्यंजना सूफी इश्क के आधार पर की गई है तभी उसमें "विरह सरागनि भूजै मांसू। गिरि-गिरि परहिं रकत के आंसू" जैसी पंक्ति का उल्लेख किया गया है।

२. प्रेम में जो बलिदान का भाव है उचित है, किन्तु बलिदान के नाम पर वीभत्स वर्णन करना ठीक नहीं है, काव्यानन्द को विनष्ट करना है। यह जायसी की विवशता है कि वे इस प्रकार के वर्णन करते हैं।

३. गांधीजी भी प्रेम में बलिदान की बात करते थे किन्तु इस प्रकार की पद्धति उनकी कभी नहीं रही—

"It is not possible to see God's face unless you cursify the flesh."

४. इस पद की तीसरी चौथी पंक्ति में शंकर के मायावादी दृष्टिकोण को काव्यात्मक अभिव्यक्ति-प्रदान की गई है, "ब्रह्म सत्यं जगन्न मिथ्या"।

५. जायसी के इस पद में वर्णन कौशल और माधुर्य का पूर्ण वैभव देखा जा सकता है। सरसता इसकी उपलब्धि है तो सूत्रात्मक शैली इसका गौरव है।

पुनि किलकिला समुद महं आए। गा धीरज, देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुं ओरा॥
उठै लहरि परवत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद जस होई॥
फिरत समुद जोजन सौ ताका। जैसे भवै कोहांर क चाका॥
भै परलै नियराना जबहीं। मरै जो जब परलै तेहि तबहीं॥
गै औसान सबन्ह कर देखि समुद कै बाढ़ि।
नियर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि॥ ६॥

शब्दार्थः—किलकिला सागर—एक कल्पित और भयंकर समुद्र। किलकिल—भयानक सागर की ध्वनि। गा धीरज—धैर्य जाता रहा। अकास—आकाश। टूटै चहु ओरा—चारों ओर टूटता जान पड़ता है। नाईं—तरह। जोजन—योजन—चार कोस के बराबर माना जाता है। कोहार क चाका—जैसे कुम्हार का चक्र घूमता है। परलै—प्रलय। नियराना—निकट आना। औसान—अवमान तात्पर्य होश हवाश। लीलै—निगल लेगा। नैन अमकाढ़ि-ऐसे नेत्र निकाल रहा है।

ससंदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में जायसी किलकिला समुद्र का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

इसके पश्चात् सभी किलकिला समुद्र में आगये। वह इतना भयंकर था कि उसे देखते ही हृदय का धैर्य जाता रहा और मन में भय गया। उस समुद्र में किलकिल ध्वनि हो रही थी और ऐसी भयंकर हिलोरें उठ रही थीं कि देखते ही भय लगता था। उस भयंकर दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो चारों ओर से आकाश टूट रहा हो। वे लहरें पर्वत की ऊंचाई के समान उठती थीं और शीघ्र ही योजन तक फिरकर या घूमकर लौट आती थीं। धरती से

आकाश तक वे उमड़ती थीं। उन्हें देखकर यों लगता था कि मानो सारा सागर एक बारगी खड़ा होगया हो।

जायसी कहते हैं कि उस समुद्र में पानी का मथन इस प्रकार होता था मानो समुद्र मथन का बड़ा आयोजन हो रहा हो। समुद्र लाख योजन तक फैला हुआ था। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो कुम्हार का चाक घूम रहा हो। इस दृश्य को अभी तक तो दूर से ही देखा था, किन्तु जैसे ही उसे पास से देखा तो मानो प्रलय ही होगई क्योंकि जो जहां मरता है, उसकी वहीं मौत या प्रलय समझो। व्यंजना यह है कि इस सागर में सभी मृत्यु का अनुभव कर रहे थे।

समुद्र का ऐसा भयंकर दृश्य देखकर सभी के हृदय में खलबली मच गई। सभी का साहस जाता रहा। वे अपने होशहवास खो बैठे। ऐसा प्रतीत होता था मानो निकट पहुंचते ही यह समुद्र सभी को निगल जायेगा। उसका गर्जन-तर्जन भी ऐसा था मानो क्रोधाभिभूत हो वह सभी को अपने क्रूर नेत्रों से निगलने को तत्पर होरहा हो।

विशेष:—किलकिला समुद्र के नाम से जायसी ने प्रकृति का बड़ा भयंकर रूप प्रस्तुत किया है। इसमें संश्लिष्टता है तथा साथ ही कवि प्रतिभा का गांभीर्य और वैभव। प्रलय के इस दृश्य का वर्णन कामायनीकार प्रसाद ने भी किया है। उसे देखिये:—

सबल तरंगा घातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

इसमें वर्णन-वैभव और कलात्मक वैभव दोनों का मधुर सम्मिलन है। भाषा भी वर्णन से अनुमोदित है। कवि की प्रतिभा वर्णनों में अधिक रमी है।

हीरामन राजा सौं बोला। एही समुद आए सत डोला॥
सिंघलदीप जो नांहि निबाहू। एही ठांय सांकर सब काहू॥
एहि किलकिला समुद्र गंभीरू। जेहि गुन होइ सो पावै तीरू॥
इहै समुद्र पथ मझधारा। खांड़े कै असि धार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस सांकर चलि सकै न चांटा॥
खांड़ै चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
एही ठाव कहं गुरु संग लीजिय। गुरु संग होइ पार तौ कीजिय॥
मरन जियन एही पथहिं, एही आस निरास।
परा सो गएउ पतारहिं, तरा सो गा कबिलास॥ ७॥

शब्दार्थ—राजा सौं—राजा से। एही समुद—इसी समुद्र। सत डोला—सत्य डोलने लगता है। नांहि निबाहू—निर्वाह नहीं है। सांकर—सकरा या कठिन। पावै तीरू—तीर पर या किनारे पर पार उतर जाता है। धार निनारा—धारा में न्यारा या अलग। विशेष—तीक्ष्ण पाटा—चौड़ाई। चांटा—चींटी। चाहि—अपेक्षा। पैनि—तीक्ष्ण। पैनाई—धार की तीक्ष्णता, पाठान्तर बहुताई। एही पथहि—इसी पथ पर। कबिलास—कैलाश या स्वर्ग। तरा सो—जो तर गया या जिसका संसार से उद्धार होगया।

ससंदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने बताया है कि हीरामन तोता राजा से इस किलकिला समुद्र की भयंकरता और विकरालता का वर्णन कर रहा है। वह राजा से कहता है—

हे राजा ! यही वह समुद्र है जिसमें आकर व्यक्ति का सत्य डोल जाता है या उसका मन सत्य से विचलित हो जाता है। सिंहलद्वीप में निर्वाह जब तक संभव नहीं है तब तक कि इसे साहस के साथ पार न किया जाय। इसका तरना या पार होना तभी समव है जबकि गुरू साथ हो। गुरु ज्ञान के बिना इसका तरण समव नहीं जान पड़ता है। यह स्थान सभी के लिए कठिन और कष्टप्रद सिद्ध होजाता है। यह किलकिला समुद्र बड़ा गभीर है, इसे वही पार-कर सकता है जो गुणवान हो। गुणवान से तात्पर्य ज्ञानी और चैतन्य प्राणी से है। इस समुद्र के बीच में धारा बड़ी तीव्र है। इसकी तीव्रता ऐसी है जैसे तलवार की धार। तीस हजार कोस का इस समुद्र का पाट है, किन्तु इसका मार्ग बड़ा संकीर्ण और कष्टप्रद इतना है कि चींटी का गमन भी संभव नहीं है। इस समुद्र का पैनापन तलवार की अपेक्षा अधिक पैना और पतलापन बाल की अपेक्षा अधिक पतला है।

हीरामन तोता कहता है कि इसी मार्ग के लिए गुरु को साथ लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण गुरु के बिना समव नहीं है। गुरु यदि साथ होता है तो इसको बड़ी आसानी से तैर कर पार किया जा सकता है। हीरामन तोते ने कहा कि यही वह पथ है जहां जीवन और मृत्यु का खेल खेला जाता है। यहीं पर आशा-निराशा का खेल भी चलता रहता है। तात्पर्य है कि इसको पार करना बहुत आवश्यक है। जो व्यक्ति इसे पार नहीं करता है वह पछताता है। जो इसमें पड़ जाता है वह तो पाताल चला जाता है और जो इसे पार कर लेता है वह स्वर्ग पहुंच जाता है।

विशेषः—किलकिला समुद्र साधना-मार्ग की परीक्षा का कठिनतम स्थल है जिसे गुरु तोता ने योगी और साधक रत्नसेन के समक्ष प्रस्तुत किया है।

राजैं दीन्ह कटक कहं बीरा। सुपुरुष होहु, करहु मन धीरा ॥
ठाकुर जेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई ॥
जौं लहि सती न जिउ सत बांधा। तौ लहि देइ कहांर न कांधा ॥
पेम-समुद महं बांधा बेरा। यह सब समुद बूंद जेहि केरा ॥
ना हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू ॥
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि पेम पथ लावा ॥
काठहि काह गाढ़ का ढीला ? । बूड़ न समुद, मगर नहिं लीला ॥

आन समुद ध सि लीन्हेसि, भा पाछे सब कोइ।
कोइ काहू न संभारै, आपनि आपनि होइ ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—बीरा=प्रेरणा, सुपुरुष=सत्पुरुष, मन धीरा=मन में धैर्य, कांधा=कंधा, बेरा=बेड़ा, गाढ़=कठिन, ढीला=सुगम या सरल, आपनि आपनि होइ=सभी अपनी-अपनी चिन्ता में व्यस्त हैं।

ससंदर्भ व्याख्याः—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने राजा रत्नसेन और उनके साथियों का वर्णन किया है। कवि कहता हैः—

राजा ने अपने सैनिकों को बीड़ा दिया और कहा कि वीर बनो तथा मन में धैर्य धारण करो। सत्पुरुष या वीर पुरुष को मन में धीरज रखना चाहिए। अतः साथियो सत्पुरुष की भांति मन में विश्वास और साहस को जन्म दो। जिस सेना का स्वामी ही कोई शूरवीर हो तो वह सेना स्वयं ही शूरवीर हो जाती है। जब तक सती अपने हृदय में चिता पर जलने के लिए सत्य की स्थापना न करे तब तक कहार भी उसकी पालकी में कंधा नहीं लगाते हैं। हमने प्रेम के महासमुद्र में अपना बेड़ा डाल दिया है, यह सम्पूर्ण समुद्र जिसकी एक बूंद के समान है। राजा ने कहा कि साथियो "न तो मैं स्वर्ग चाहता हूँ और न किसी श्रेष्ठ राज्य की कामना करता हूँ मुझे नरक से भी कोई मतलब नहीं है। मेरी कामना तो केवल उसके दर्शन करने की है जिसने मुझे इस प्रेम-पथ का पथिक बनाया है या इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है।" व्यंजना यह है कि मैं तो केवल पद्मावती को पाना चाहता हूँ। काठ के निमित्त क्या कठिन और क्या सरल है। वह न तो समुद्र में डूब सकता है और न उसे मगर ही लील सकता है। राजा ने समुद्र में प्रवेश कर पतवार हाथ में लेली। उसके ही पीछे दूसरे सभी साथी चल दिये। जायसी कहते हैं कि उस किलकिला समुद्र में सभी को अपनी अपनी पड़ी, कोई किसी की चिन्ता नहीं करता था।

विशेष—इस पद में किलकिला समुद्र की भयकरता का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि इस समुद्र में पड़कर सभी अपने-अपने बचाव की चिन्ता में पड़ गए।

२. इस पद को डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने प्रामाणिक नहीं माना है। उनका कथन है कि भाव धारा की दृष्टि से भी यह पद उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

कोइ बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु अस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू। कोई जैस बैल गरियारू॥
कोइ जानहुँ हरुआ रथ हाँका। कोई गरुअ भार बहु थाका॥
कोई रेंगहि जानहुं चांटी। कोई टूटि होहि तर माटी॥
कोई खाहि पौन कर झोला। कोई करहि पात अस डोला॥
कोई परहि भौंर जल माहीं। फिरत रहहि, कोइ देइ न बाहीं॥
राजा कर भा अगमन सेवा। सेवक आगे सुआ परेवा॥
कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछ राति।
जाकर जस जस साजु हुत सो उतरा तेहि भाँति॥ ९॥

शब्दार्थ—बोहित—जहाज, जस पौन उड़ातीं—जैसे पवन उड़ते हैं, अस—ऐसे, तुखारू—घोड़ा, गरिआरू—सुस्त, धीमी गति वाला, गिरी बैल, हरुआ—हल्का, गरुअ—भारी, जानहु चांटी—मानो चींटी, झोला—झोंका या झकोरा, पात—पत्ता, देइ न बांहा—बांह या सहारा नहीं देता है, अगमन—आगे, सेवक—सेवा वाला, परेवा—पक्षी, पछ राति—पिछली रात्रि, जस-जस साजु हुत—जिसका जैसा-जैसा साज-सामान था, तेहि भांति—उसी प्रकार या अपने साज सामान की सुविधा के आधार पर।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी समुद्र-यात्रा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

कोई जहाज तो ऐसी तीव्रगति से चलता है जैसे हवा की गति से जहाज चल रहा हो। कोई बिजली की चमक की भांति चलता था। तात्पर्य, इतनी तीव्र चाल से चल रहा था जिससे कि वह विद्युत की छटा की भांति दिखाई देता था। कुछ तुखारी जाति के घोड़े के समान तीव्रगामी थे। कुछ ऐसे भी थे जो गिर्रा बैल की तरह चलते थे। तात्पर्य यह है कि गिर्रा बैल जैसे धीमे-धीमे चलता है वैसे ही जहाज भी चल रहे थे। जो अकुशल थे वे साथ में तीव्र गति से नहीं चल पा रहे थे। कुछ इतसे मंदगामी थे जैसे कोई हल्का रथ हांका जा रहा हो। कुछ रुकती और ठहरती गति से चल रहे थे। उनकी इस गति को देख कर ऐसा लगता था मानो वे बोझ के मारे थक कर शिथिल हो गये हों और चल रहे हों। कुछ चींटी की गति से रेंग रहे थे। कुछ के मस्तूल टूट जाते थे और समुद्र तल की मिट्टी में गड़ जाते थे। कुछ हवा के झकोरों से हिल-हिल कर झूम जाते थे। कोई पत्ते की भांति हिल रहा था तो कोई जैसे जल-भंवर में पड़ कर घूमता था, कोई भी उसे अवलम्ब नहीं देता था। राजा का जहाज सबसे आगे था और उसका खेवनहार हीरामन तोता उसके भी आगे बैठा था।

जायसी कहते है कि इस समुद्रगत गांभीर्य में पड़ कर कोई किसी की सहायता न कर सका। कोई दिन के सवेरे मिला तो कोई रात के पिछले पहर में। यह मिलना सबके साज-सामान की सुविधा के अनुसार हुआ। तात्पर्य यह है कि सभी सुख सुविधा और जहाजों की गति के आधार पर मिले। व्यंजना यह भी है कि मिल सभी गये, कोई किसी से बिछुड़ा नहीं।

सतए समुद मानसर आए। मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अंधियार, रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रवि फूटी॥
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले। अंध जो अहे नैन विधि खोले॥
कवंल विगस तस बिहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं॥
हँसहि हंस औ करहिं कीरीरा। चुनहिं रतन मुकुताहल हीरा॥
जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस, मान रस भोगू॥
भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कंवलरस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ॥ १०॥

शब्दार्थ—सतए समुद सातवें समुद्र, मानसर—मानसरोवर, सत—सत्य, साहस सिधि पारा—साहस करने वाले ने सिद्धि प्राप्त की, सोहावा—शोभित हुआ, हिय—हृदय, हुलास—आनंदित, पुरइन—पुष्करिणी कमल का पत्ता, छावा—आच्छादित होना, गा अंधियार—अन्धकार विनष्ट हो गया, रैनि-मसि छूटी—रात्रि की श्यामतामय स्याही टूट गई, भिनसार—सवेरे, किरन-रवि—सूर्य की किरण, अस्ति-अस्ति—जिस सिंहलद्वीप के निमित्त इतना तप साधा वह वास्तव में है, अध्यात्म पक्ष में ईश्वर या परलोक है, अहे—था, नैन विधि खोले—विधाता ने नेत्र खोल दिये, विगस—विकसित, विहसी—विहंसित या प्रफुल्लित, करहि किरीरा—क्रीड़ा करते हैं, मुकताहल—मुक्ताफल या मोती और हीरा, अस

आव–इस तरह आता है, पूजै आस–आशा पूर्ण होती है, मनसा–मन में संकल्प किया, हियाव–जीवट या साहस ।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी इन पंक्तियों में सातवें समुद्र का वर्णन कर रहे हैं । वे कहते हैं कि अनेक कष्टों के पश्चात् सभी साथी सिद्धि के द्वार तक आ पहुँचे ।

अन्त में वे सभी साथी सातवें समुद्र मानसरोवर में आ पहुंचे । यहां पर आ पहुंचने का कारण सत्य का आधार था । तात्पर्य यह है कि यहां तक ये लोग इसी कारण आ सके कि इनके पास सत्य का आधार था । मानसर का रमणीय और मनहरण रूप सौन्दर्य देखकर सभी को आनंद की प्राप्ति हुई । उनके हृदय का वही हर्ष मानसर म कमल-पत्र की भांति प्रस्फुटित हो गया । अंधकार मिट गया और हृदय का कालुष्य भी मिट गया । रात्रि बीत गई, उसकी श्यामता भी बीत गई । प्रात.काल हो गया, सूर्य की किरणें बिखर गईं उजाला हो गया ।

जायसी कहते हैं कि प्रकाश के होते ही सभी साथियों का मन आनंद और हर्ष से भर गया । वे कहने लगे–"वह है–वह है–वही है......वही है" । तात्पर्य उन्होंने 'अस्तु-अस्तु' का ध्वनि का उच्चारण किया । वे सभी प्रकाश किरण को पाकर कहने लगे कि विधाता ने हमारे अंधे नेत्रों को खोल दिया है । हमारी आंखों पर से अज्ञान और अंधकार का आवरण हट गया है । अब तो प्रकाश ज्योति प्राप्त हो गई है ।......आशा भी बंध चली है कि अपने गतव्य या लक्ष्य तक शीघ्र ही पहुंच जावेंगे । उस स्थान का विकसित कमल देख कर उनका (सभी साथियों का) मन निर्मल हो गया और प्रसन्नता और पुलक का ठिकाना न रहा । नेत्र भौंरे बन कर हृदय कमल की शोभा का रस लेने लगे । व्यंजना है कि वे सभी प्रसन्नवदन होकर आनद रस का पान करने लगे । सभी इस आनद को पाकर हंसते थे और क्रीड़ा करते थे । हंस रत्न, मुक्ताफल और हीरों का चयन कर रहे थे । जायसी कहते हैं कि जो राजा की भांति जप–तप और कष्टो को सहता हुआ आता है, उसे मानसर का आनंद प्राप्त होता है । इस प्रकार के साधक की सभी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं । परिणामतः वह रसभोग करता हुआ आनद-लाभ करने लग जाता है ।

देखिये तो सही, जिस भौंरे ने मन में मानसर का संकल्प किया था वह अपने सकल्प को पूरा करके कमल रस का पान करने लगा या कमल रस का भोग करने का सौभाग्य पा गया । इसके अतिरिक्त जो घुन अपने हृदय में इस प्रकार का संकल्प न कर सका वह शुष्क और नीरस काठ को खाकर व्यर्थ ही जीवन बिताता है और परेशान होता रहता है ।

विशेष—१. मानसर का वर्णन जायसी की प्रतिभा का परिचायक है । मानसरोवर कैलाश के पास है । कैलाश पर शंकर जी विराजते हैं । जायसी ने कल्पना के आधार पर सिंहल को कैलाश (कविलास) कहा है । इसी कारण उन्होंने उसके समीप मानसर समुद्र की कल्पना भी करली है ।

२. इस पद में रूपक और समासोक्ति के द्वारा कवि ने आध्यात्मिक भाव का परिचय भी दिया है । अध्यात्म पक्ष में मानसर योगाभ्यास (मन की साधना) का अंतिम स्थल है । मानसर से ही योगी परमेश्वर का

ने लगता है तभी तो जोगी इस प्रकार बोलने लगे–'ग्रस्तु-ग्रस्तु'।
है। परमात्मा के साक्षात्कार में उसको ग्रानंद या महानंद प्राप्त
ी ग्रोर हीरा चुनना है। इसी को करहिं किरीरा' ग्रोर 'चुनहिं
कहा गया है।

हां पर योग पंथ का दर्शन तत्व काव्य-रूप में ढल सका है। इस
भव्यक्तियां जायसी में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। इसे देखकर
सकता है कि वे योग सिद्धान्त ग्रोर सूफी सिद्धान्त दोनों को
न करना चाहते थे।

र्णन शैली रसात्मक ग्रोर काव्यात्मक है। यह पद बड़ा महत्व-

सिंहलद्वीप-खण्ड

पूछा राजे कहु गुरू सुग्रा। न जनौं ग्राजु कहां दहुं ऊग्रा ।।
पौन बास सीतल लेइ ग्रावा। कया दहत चंदनु जनु लावा ।।
कबहुं न ऐस जुड़ान सरीरू। परा ग्रगिनि महं मलय-समीरू ।।
निकसत ग्राव किरिन-रविरेखा। तिमिर गए निरमल जग देखा ।।
उठै मेघ ग्रस जानहुं ग्रागै। चमकै बीजु गगन पर लागै ।।
तेहि ऊपर जनु ससि परगासा। ग्रौ सो चंद कचपची गरासा ।।
ग्रौर नखत चहुं दिसि उजियारे। ठांवहिं ठांव दीप ग्रस बारे ।।
ग्रौर दखिन दिसि नीयरे कंचन-मेरू देखाव।
जनु बसंत ऋतु ग्रावै तैसि बास जग ग्राव ।। १ ।।

शब्दार्थ—राजै–राजा ने। न जनौं–न मालूम। ऊग्रा—उदित हुग्रा। पौन-बास—पवन की गंध या सुगंध। कया=शरीर। दहत—जलते ही। जनु चंदन लाग—मानो चंदन का लेप कर दिया गया हो। ऐस—ऐसा। जुड़ान शरीरु—शरीर जोड़िया या नहीं। निकसत—निकलना। किरनिरवि-रेखा—सूर्य रेखा की किरणें। तिमिर—ग्रंधकार। निरमल—स्वच्छ। मेघ—बादल। परगासा—प्रकट हुग्रा। कचपची—कृत्तिका नक्षत्र। गरासा-घेर लिया। ग्रस बारे—इस प्रकार जलते हैं। नीयरे—निकट। कंचन मेरु—स्वर्ण का पहाड़। बास—सौरभ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के प्रश्न को जायसी लिपिबद्ध कर रहे हैं। वह राजा, तोता हीरामन से कहता है—

हे गुरु तोता! ग्राज पता नहीं किस स्थान पर ग्राकर ठहर गये हैं। तात्पर्य यह है कि ग्राज न मालूम कहां ग्रोर किस रूप में दिन उदित हुग्रा है। हम सुखानुभव कर रहे हैं। शीतल, मंद, सुगंध पवन चल रही है। इससे ऐसी ग्रनुभूति हो रही है मानो दाह भरे शरीर पर किसी ने शीतल चंदन का ग्रवलेप कर दिया हो। ग्राज इस स्थान पर ग्राकर जिस प्रकार की शीतलता का ग्रनुभव हो रहा है, वैसा ग्रनुभव किसी भी स्थान पर कभी भी नहीं हुग्रा। तात्पर्य यह है कि यहां पर ग्राज स्वस्थ-शीतलता का ग्रनुभव हो रहा है। ग्राज तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि ज्वाला में सुशीतल मलयानिल स— हो गया है।

जायसी कहते हैं कि आज तो सूर्य-किरण-रेखाएं निकल रही हैं, संसार का अंधेरा दूर हो गया है। संसार निर्मल हो गया है। आगे बादल सा उठता हुआ सुहावना दृश्य प्रतीत हो रहा है। इतना ही नहीं आकाश पर बिजली चमकती प्रतीत हो रही है। उसके भी ऊपर चन्द्रमा का प्रकाश प्रकाशित है और उसके चारों ओर कृत्तिका नक्षत्र ने घेरा डाल रखा है। इतना ही नहीं सभी स्थलों पर झिलमिलाते नक्षत्र ऐसी आभा बिखेर रहे हैं, मानों चारों ओर दीपल प्रज्वलित होकर अपनी छटा बिखेर रहे हों।

दक्षिण दिशा में पास ही सुमेरू पर्वत जो कंचन का प्रतीत होता है, दिखाई दे रहा है। हीरामन! संसार में लगता है वसन्त ऋतु का सौरभ फूट पड़ा है। मुझे बताओ यह क्या रहस्य है, यह कैसा संसार है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि जायसी ने रहस्यवाद की पहली स्थिति का वर्णन किया है। जिज्ञासा और आनंद इन दोनों का सम्मिलन इस पद में पूर्ण भावुकता के साथ हुआ है।

२. योग मार्ग में सिद्धि प्राप्ति के पूर्व आनद का आविर्भाव होता है, अनहदनाद भी सुनाई पड़ने लगता है। इसके साथ ही ज्ञान ज्योति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण वातावरण में उल्लास और अपरिमित आनंद का स्रोत फूटता दिखाई देता है। इस प्रकार की स्थिति का वर्णन कबीर ने भी किया है:—

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर॥

कवयित्री महादेवी वर्मा की कविताओं में भी 'मौन-मधुर' जैसी भावनाओं का प्रकाशन हुआ है। वे कहती हैं:—

पारद सी गल हुई शिलायें दुर्गम नभ चदन-आंगन सा,
अंगराग घनसार बनी रज-आतम सौरभ-आलेपन सा,

तूँ राजा जस बिकरम आदी। तू हरिचंद बैन सतबादी॥
गोपिचंद तुइ जीता जोगू। औ भरथरी न पूज बियोगू॥
गोरख सिद्धि दीन्ह तोहि हाथू। तारी गुरू मछंदरनाथू॥
जीत पेम तुइ भूमि अकासू। दीठि परा सिंघल-कबिलासू॥
वह जो मेघ गढ़ लाग अकासा। बिजुरी कनय-कोट चहुँ पासा॥
तेहि पर ससि जो कचपचि भरा। राजमंदिर सोने नग जरा॥
और जो नखत देख चहु पासा। सब रानिन्ह कै आहिं अवासा॥
गगन सरोवर, ससि-कँवल कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ, भौंर होइ पौन मिला लेइ बास॥ २॥

शब्दार्थ—आदी-आदि, बिल्कुल। बैन सतबादी—वचन सत्यता, गोपीचंद जो राज छोड़कर जोगी हो गये थे। भरथरी—राजा भर्तृहरि जो जोगी हो गये थे। गोरख—गुरू गोरखनाथ। मछिन्दर—मत्स्येन्द्रनाथ, गुरू गोरखनाथ के गुरू थे। कनय—कनक या सोना। रानिन्ह—रानियों के। अवासा—आवास या महल आदि। लेइ बास—सुगंधि लेकर।

ससंदर्भ व्याख्या:—राजा रत्नसेन की मुग्धावस्था को जानकर तोते ने उसका रहस्य प्रकट किया। यह इसी प्रकार की स्थिति है जैसी कामायनी में

है। कामायनी में भी श्रद्धा मनु को इसी प्रकार सत्य के रहस्य का उद्घाटन करती है।

तोता कहता है कि हे राजा तुम सिंहल के इस विलक्षण और अद्वितीय रूप को देखकर विस्मित मत होओ। तुम बिल्कुल राजा विक्रमादित्य के समान हो और वचनों में सत्यवादी हरिश्चन्द्र ही हो। तूने जोग में राजा गोपीचंद को भी विजित कर लिया है। तुम्हारे वियोग के सामने राजा भर्तृहरि भी कुछ नहीं है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारी तुलना तो वे भी नहीं कर सकते हैं। स्वयं गोरखनाथ ने तुम्हारे लिए सिद्धि का विधान किया है। उन्होंने अपने हाथों से ही तुम्हें सिद्धि प्रदान की है। तुम्हारा प्रेम महान है। परिणामतः तुमने प्रेम से पृथ्वी और आकाश को भी जीत लिया है। इसी प्रकार या इसी कारण तुम्हें यह सिंहल रूपी स्वर्ग दर्शनों के निमित्त प्राप्त हो रहा है।

जायसी कहते हैं कि हीरामन तोते ने बताया कि यह जो सामने बादल दिखाई दे रहा है या तुम देख रहे हो, वह बादल नहीं है; अपितु आकाश को स्पर्श करने वाला सिंहलद्वीप है। जिसे तुम बिजली सी देख रहे हो या जो विद्युतवत् दिखाई दे रहा है, वह सिंहलद्वीप का परकोटा है। वह सोने का बना होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। सिंहलद्वीप के ऊपर जो चन्द्रमा दिखाई दे रहा है, वह चन्द्रमा कृत्तिकाओं से घिरा हुआ सिंहलद्वीप का स्वर्ण जटित राजमहल है। इतना ही नहीं जो नक्षत्र से दिखाई दे रहे हैं; वे सब रानियों के प्रासाद हैं; रंग महल हैं।

जायसी कहते हैं कि यहां का मानसरोवर आकाश है। उसका चन्द्रमा कमल है। उसके पास झिलमिलाते हुए जिन्हें राजा तुम सितारे बतलाते हो वे सभी रानियों के रंगमहल है। तू उस स्थान पर सूर्यवत् उदय हुआ है, अतः पवन-भौंरा उस पद्मावती रूपी प्रस्फुटित कमल की सुगंधि लेने तुम्हारे समीप आया है।

विशेष—१. सांगरूपक का अच्छा प्रयोग हुआ है। सिंहल का वर्णन बड़ा रसात्मक और अतिरंजित कल्पना पर आधारित है।

२. लंका का वर्णन करते समय भी मानस में राम और विभीषण के बीच जो वार्तालाप हुआ है, वह भी इसी प्रकार का है। अतिरंजित कल्पना-वैभव की दृष्टि से ये वर्णन साम्य हैं—

देखु विभीषन दच्छिन आसा। घन घमण्ड दामिनी विलासा॥
मधुर-मधुर गरजइ घन घोरा। होइ वृष्टि जनि उपल कठोरा॥
कहत विभीषण सुनहु कृपाला। होइ न तडित न वारिद माला॥
लंका शिखर ऊपर आगारा। तहं दसकधर देख अखारा॥
छत्र मेघ डंवर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥
मन्दोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइरव मधुर सुनहु सुरभूपा॥
(रामचरित मानस से)

सो गढ़ देखु गगन तें ऊंचा। नैनन्ह देखा, कर न पहूंचा॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुं फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी॥

धाइ जो बाजा कै मन साधा । मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥
चांद सुरुज औ नखत तराईं । तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाईं ॥
पौन जाइ तह पहुँचै चहा । मारा तैस लोटि भुइं रहा ॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना । धुआं उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा उठि जाइ न छूआ । बहुरा रोइ, आइ भुइं चूआ ॥
रावन चहा सौंह होइ उतरि गए दस माथ ।
सकर धरा लिलाट भुइं और को जोगीनाथ ? ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—गगन तें ऊंचा—आकाश से भी ऊंचा है । कर न पहूँचा—हाथ नहीं पहुंच सकते हैं । बिजुरी चक्र—विद्युत का चक्र । चहुँ फेरी—चारों ओर । जमकात—एक प्रकार का खांडा (यमकर्त्तरि) । मनसाधा—मन को साधने की क्रिया । दुइ आधा—दो टुकड़े करना । नखतराई—नक्षत्र और तारागण । अन्तरिख—अन्तरिक्ष । सबाईं—सभी । पौन—पवन । पहुंचै चहा—पहुचना चाहता है । तैस—ऐसा । लोटि भुइं रहा—पृथ्वी पर लोट गया । जरिबुझी—जलकर बुझ गया । निआना—निदान । बिलाना—विलीन हो गया । बहुरा—लौटा । सौंह—सामने । भुइं चूआ—पृथ्वी पर आकर चू पड़ा । सौंह होइ—सामने होकर ।

सप्रसंग व्याख्या—इसी प्रसंग में तोता हीरामन कहता है कि हे राजा ! सामने देखो—

वह सामने जो गढ़ आकाश से भी ऊंचा दिखाई देता है, इसे केवल नेत्रों से देखा जा सकता है, हाथ वहां तक पहुंच नहीं सकते हैं । इस सिंहल-द्वीप के चारों ओर विद्युत का चक्र घूमता है तथा यमराज की कटार भी घूमती रहती है । जायसी कहते हैं कि जो व्यक्ति मन को दृढ़ करके वहां दौड़ कर पहुच जाता है, उसके चक्र लगता है तथा वह दो टुकड़ों में हो जाता है । इसी चक्र के भय से चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और तारे सभी आकाश में फिरते रहते हैं ।

जायसी कहते हैं कि उस ऊंचे महल में जाने का प्रयास कई व्यक्तियों ने किया, किन्तु कोई भी सफल नहीं हो सका । पवन उसके समीप पहुंचने का प्रयत्न करता है पर उसमें भी ऐसी मार मारी कि वह टूटकर पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगी । आग वहां तक पहुंचने के निमित्त भड़की, किन्तु अन्ततोगत्वा वह बुझ गई । उसके मध्य में से धुंआ भी उठा, किन्तु वहां तक नहीं पहुच सका और बीच में ही विलीन हो गया । जल बादल के रूप में उमड़ा किन्तु वह भी चक्र का स्पर्श नहीं कर सका तथा रो-रोकर पृथ्वी पर टपकने लगा । व्यंजना यह है कि पानी बादल बनकर उस सत्य सत्ता की ओर पहुचने के लिए उद्यत हुआ, किन्तु अन्ततः उसे बरस कर भूमि पर ही आना पड़ा ।

जायसी कहते हैं कि रावण ने उस किले पर अपनी क्रूर आंख गड़ाई तो अपने बलशाली दसों सिर कटा बैठा । उसकी गरिमा के समक्ष शकर जी ने भी अपने मस्तक को पृथ्वी पर टिका दिया । जब ऐसे-ऐसे लोग उसके समक्ष झुक गये तो सामान्य जोगी-जती की क्या बिसात है ?

विशेष—१. इस छन्द में कवि जायसी ने सिंहलगढ़ की दुर्गमता का

आधार लेकर षट्-चक्र सिद्धि साधना का अनेकानेक प्रतीकों से उल्लेख किया है। इसमें हठयोग की अन्तः साधना का प्रतिपादन किया गया है।

२. जायसी ने इसमें हठयोग के समक्ष भी प्रेम की प्रतिष्ठा की है। 'संकर धरा ललाट भुंइ' पंक्ति इसी व्यंजना को प्रस्तुत करती है।

३. इस पद की वर्णन-पद्धति भी बड़ी सरसता के साथ चित्रित की गई है।

तहां देखु पदमावति रामा। भौंर न जाइ, न पंखी नामा ॥
अब तोहि देउं सिद्धि एक जोगू। पहिले दरस होइ, तब भोगू ॥
कंचन-मेरु देखाव सो जहां। महादेव कर मंडप तहां ॥
ओहि-क खंड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू ॥
माघ मास, पाछिल पछ लागे। सिरी-पचिमी होइहि आगे ॥
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू ॥
पदमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिस दीठि-मेरावा ॥
तुम्ह गौनहु ओहि मंडप, हौं पदमावति पास।
पूजै आइ बसंत जब, तब पूजै मन-आस ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रामा–सुन्दरी। भवर–प्रेमलुब्ध व्यक्ति। पंखी–पक्षी। सिरी पंचमी–वसन्त पंचमी। पाछिल–पखवा। फेरू–घुमाव या चक्करदार। उघरहि–खुलेगा। बारू–दरवाजा। मिस–बहाने। मेरावा–मिलाप। गौनहु–गमन करो। पूजै आई–जब आयेगा। तब पूजै मन-आस–तब तुम्हारे मन की आशा पूर्ण होगी।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार तोता, राजा रत्नसेन से कहता है कि पद्मावती मिलन के निमित्त तुम्हें यह करना चाहिए। वह कहता है–

हे राजा! देख, वहां सुन्दरी पद्मावती रहती है। वहां उस दुर्ग में कोई नहीं जा सकता है। न तो भ्रमर ही, न रसिक ही और न कोई क्रूर पक्षी ही। उस पद्मावती को पाने के निमित्त तुम्हें एक योग की तरकीब बता रहा हूं। इस तरकीब के सहारे ही तुम उसके दर्शन कर सकोगे और उसका भोग करने में समर्थ हो सकोगे। वहां जो सोने का सुमेरू पर्वत देख रहे हो वही पर शंकर जी का निवास स्थान है या मंदिर है। उस मंडप का ऊंचा शिखर सुमेरु पर्वत के समान दिखायी दे रहा है। तोते ने बताया कि माघ मास के शुक्ल पक्ष में कुछ दिनों के पश्चात् जब वसन्त पंचमी आती है उस दिन शंकर जी के मंदिर में दरवाजा खुलेगा और सम्पूर्ण संसार शंकर की आराधना के निमित्त वहां जावेगा। उसी अवसर पर पद्मावती भी पूजन के लिए आयेगी, उसी के बहाने तुम्हें दृष्टि मिलाप मिलेगा अर्थात् तुम्हें परस्पर एक दूसरे के दर्शन संभव हो सकेंगे।

जायसी कहते हैं कि राजा से हीरामन तोते ने कहा कि हे पराक्रमी व योगी राजा तुम उसी मंडप के निमित्त गमन करो। मैं पद्मावती के पास जा रहा हूं। विश्वास करो तथा मन में धीरज धारण करो तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी। चिन्ता करना व्यर्थ है।

विशेष—इस प्रसंग में तोता हीरामन ने राजा को जो सान्त्वना दी है,

उससे सिद्ध है कि वह बड़ा विवेक सम्पन्न तथा ज्ञान सम्पन्न था तथा राजा को धैर्य बंधाने में बड़े संयम से काम लिया।

राजै कहा दरस जौं पावौं। परबत काह, गगन कहँ धावौं॥
जेहि परवत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पांव का कहना॥
मोहूं भावै ऊंचे ठाऊं। ऊंचै लेउं पिरीतम नाऊं॥
पुरुषहि चाहिय ऊंच हियाऊ। दिन दिन ऊंचे राखै पाऊ॥
सदा ऊंच पै सेइय बारा। ऊंचै सौं कीजिय बेवहारा॥
ऊंचे चढ़ै, ऊंच खंड सूझा। ऊंचे पास ऊंच मति बूझा॥
ऊंचे संग संगति निति कीजै। ऊंचे काज जीउ पुनि दीजै॥

दिन दिन ऊंच होइ सो जेहि ऊंचे पर चाउ।
ऊंचे चढ़त जो खसि परै ऊंच न छांड़िय काउ॥ ५॥

शब्दार्थ—दरस जौं पावौं=दर्शन प्राप्त कर सका, काह—क्या, लहना—पाना, पाय—पैर, हियाऊ—हृदय या साहस, बारू—द्वार, बूझा—समझता है, भावै—अच्छा लगना, पिरीतम—प्रीतम या प्रियतम, बेवहारा—व्यवहार, मतिबूझा—बुद्धिकौशल निति=नित्य प्रति, चाउ—शौक या लालसा, खसि परै—गिर पड़ना।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में जायसी राजा के मन का संकल्प तोते को कहलवा रहे हैं। राजा तोते से कहता है—हे तोते! अगर मैं पद्मावती के दर्शन प्राप्त करलूं तो निश्चय ही पर्वत तो क्या आकाश तक को दौड़कर स्पर्श कर सकता हूं। जहां कहीं भी और जिस किसी भी पर्वत पर उसके दर्शन मिल सकें सिर के बल से वहां चढ़कर चला जाऊंगा। पैरों से चलना तो बहुत आसान है। हे तोते! मुझे भी तुम्हारा वह ऊंचा स्थल जहां पर मडप बना हुआ है बहुत ही चित्ताकर्षक लग रहा है और उस स्थान तक पहुंचने के लिये मैं उच्च स्वर में प्रिय का नाम ले रहा हूं।

जायसी कहते हैं कि राजा ने तोते को बताया कि पुरुष सृष्टि का उत्तम प्राणी है। इसलिये उसे अपना हृदय ऊंचा तथा भावनायें ऊंची रखनी चाहिये। इतना ही नहीं व्यक्ति को या साधक को ऊपर ही ऊपर पांव रखने चाहिये। साधक की श्रेष्ठता इसी बात में है कि वह उच्च भावनायें रखे तथा महान् से महान् दरवाजे पर जाकर साधना करे। जो ऊंचा चढ़ता है वही सिद्धि प्राप्त करता है। ऊंचा चढ़ने से ही ऊंचा खण्ड दिखाई देने लगता है तथा उच्च व्यक्ति के पास बैठने से बुद्धि भी महान हो जाती है। अतः मनुष्य को सदैव अपने जीवन में उच्च तथा विशिष्ट व्यक्ति के साथ संगति करनी चाहिये। ऊंचे आदमी का साथ देने से मनुष्य ऊंचा बनता है। इसलिये महान् कार्य करने के लिये प्राणों तक की परवाह नहीं करनी चाहिये।

जायसी कहते हैं कि जो व्यक्ति दिन २ मन वचन और कार्य से महान बनता है वही नित्य प्रति ऊंचाई पर चढ़ता जाता है। ऊंचे व्यक्ति के लिये ऊंचा व्यवहार बहुत अधिक अपेक्षित होता है। ऊंचाई की प्राप्ति में भले ही मनुष्य गिर पड़े उसे लक्ष्य को नहीं छोड़ना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उच्च बनने के प्रयत्न में मनुष्य को किसी भी प्रकार के त्याग का मुकाबला करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने महान् कार्य और महान् लक्ष्य पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि उच्च बनने के लिये ऊंची साधना, उच्च लक्ष्य और उच्च या विशिष्ट व्यक्ति का साथ परमावश्यक है। संस्कृत के एक श्लोक में भी यही भाव व्यंजित किया गया है—

हीयतंहि मतिस्तातः हीनैः सहसमागमात्
समेतिस समतामेति विशिष्टैः च विशिष्टताम्

हीरामनि देइ बचा कहानी। चला जहाँ पदमावति रानी ।।
राजा चला संवरि सो लता। परबत कहं जो चला परबता ।।
का परवत चढ़ि देख राजा। ऊंच मंडप सोने सब साजा ।।
अमृत सदाफर फरे अपूरी। औ तहं लागि सजीवन-मूरी ।।
चौमुख मंडप चहूं केवारा। बैठे देवता चहूं दुवारा ।।
भीतर मंडप चारि खंभ लागे। जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे ।।
संख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु होम जाप तहं होई ।।
महादेव कर मंडप जग मानुस तहं आव।
जस हींछा मन जेहि के सो तैसं फल पाव ।। ६ ।।

शब्दार्थ—बचा=वायदा। संवरि=स्मरण करके। लता=पद्मलता या पद्मावती। पर्वता=तोता (प्यार से सूये को पर्वता कहकर पुकारा जाता है।) का देखे=क्या देखता है। सजीवन मूरी=संजीवनी बटी या शक्ति। चौमुख=चतुर्मुख। घन=कांसे का बाजा। मानुष=मनुष्य। तहं आव=वहां आते हैं। हींछा=इच्छा या कामना। जेहि के सो तैसे=जिसके वह वैसा।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में हीरामन तोते के चले जाने पर राजा रत्नसेन के मन की भावनाओं का सांकेतिक वर्णन किया गया है तथा बताया गया है कि हीरामन तोता तो चला गया और राजा रत्नसेन पद्मावती का स्मरण करता हुआ मण्डप की ओर चला। इसी विचारधारा को इन पंक्तियों में व्यक्त करते हुए कवि कहता है—

इस प्रकार तोता हीरामन, राजा रत्नसेन को आवश्यक निर्देश और उपदेश देकर चला गया। वह पद्मावती के पास गया और राजा को आवश्यक बातों के साथ धैर्य पूर्वक कार्य करने के लिये भी कह गया। तोते के जाते ही स्वंय राजा ही अपनी प्रेयसी पद्मलता पद्मावती का स्मरण करता हुआ उसी पर्वत की ओर गया जहां के लिये तोता कह गया था। पर्वत पर चढ़कर राजा ने देखा कि शिवजी का ऊंचा मण्डप पूर्ण कलाकारी के साथ सोने से सजाया गया है। वहां पर सर्वत्र अमृतोपम फल लगे हुये थे तथा संजीवनी बूटियां भी उदित हो रही थीं। ये फल ऐसे थे जो सदा फलते फूलते थे और सदैव रस से युक्त रहते थे। मण्डप के चारों ओर चारों दरवाजों पर किवाड़ लगे हुये थे और सभी दरवाजों पर देवता गण द्वारपाल के रूप में बैठे हुये थे।

जायसी कहते हैं कि मण्डप का भीतरी भाग चार खम्भों से सजाया गया था। वे खम्भे साधारण नहीं थे, वे असामान्य महत्व के थे। उनके स्पर्श मात्र से स्पर्शकर्ता के सभी पाप धुल जाते थे। मण्डप के भीतर शंख घण्टे

और कांसे के थाल बज रहे थे अथवा शंख और घण्टों की ध्वनि समान गर्जना कर रही थी। वहां पर अनेक प्रकार के होम, जप हो रहे थे। जायसी कहते हैं कि महादेव जी के उस मण्डप में सब सभी मनुष्य अपनी २ कामनायें लेकर जाते थे। जो व्यक्ति सच्चे म था; वह अपनी इच्छा के अनुकूल फल प्राप्त करता था।

विशेष—(१) इस पद में जायसी ने भारतीय हिन्दू धर्म धर्म के सिद्धांतों का सांकेतिक अभिव्यंजन किया है। मण्डप के सूफी सिद्धांत के अनुसार तरकित, हकीकत, शरीयत और मारीफत पार करने के पश्चात् ही साधक 'वस्ल' का सुख प्राप्त कर सकता धम के अनुसार यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से भिन्न नही हैं।

(२) इस पद के दोहे में मनुष्य की भावना के अनुकूल करने वाला भाव तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्ति से मेल खाता है

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

मंडपगमन–खण्ड

राजा बाउर बिरह-बियोगी। चेला सहस तीस संग
पदमावति के दरसन-आसा। दँडवत कीन्ह मँडप चहु
पुरुष बार होइ कै सिर नावा। नावत सीस देव पहँ
नमो नमो नारायन देवा। का मैं जोग, करौं तेरि
तूं दयाल सब के उपराहीं। सेवा केरि आस तोहि
ना मोहि गुन, न जीभ रस-बाता। तूं दयाल, गुन निरगुन
पुरवहु मोरि दरस कै आसा। हौं मारग जोवौं धरि

तेहि बिधि बिनै न जानौं जेहि बिधि अस्तुति तोरि।
करहु सुदिस्टि मोहि पर, हींछा पूजै मोरि॥ १

शब्दार्थ—बाउर—बावला या पागल। दरसन-आसा—द लालसा। उपराहीं—ऊपर। सेवा केरि आस—सेवा की आशा। नि बिना गुण वाला। पुरवहु—पूरी करदो। मोरि=मेरी। जोवौं—दे बिनै—विनयशीलता। सुदिष्ट—शुभ दृष्टि या सुख प्रदान करने वाली

ससंदर्भ व्याख्या—मंडपगमन खण्ड की इन पंक्तियों में जायसी रहे हैं कि राजा पद्मावती के वियोग में बावला हो गया; उसे तनबदन की भी नहीं रही। उसने विरह योग को प्राप्त किया और उसके साथ चेले रूप में तीस हजार योगी और हो लिये। पद्मावती की दर्शनाशा से वह के निकट पहुंच गया तथा उसकी चारों ओर से परिक्रमा की। पूर्व दिशा ओर शिर नमन करता हुआ राजा रत्नसेन देवता के समीप पहुंचा और क लगा कि—"हे नारायण हे देव! आपको बारंबार नमस्कार है, मैं किस यो हूं जो सेवा कर सकूं। हे देवता तू बड़ा उदार है और सर्वोपरि है। सेवा तुझे आशा नहीं है। (तात्पर्य तेरी सेवा-आराधना तो होती ही रहती है साथ ही मेरे अन्दर वे गुण भी नहीं हैं जिनसे मैं सेवा कर सकूं, न जिह्वा और न रसपूर्ण वार्ता करने का साधन ही उपलब्ध है। तुम इतने दयावान कि गुण भी देते हो और निर्गुण भी। तात्पर्य यह है कि मैं तेरे गुणों

व्याख्याता और तेरी सेवा का सही-सही दम नहीं भर सकता हूँ। अतः हे देव ! तुम मेरे दर्शनों की आशा को पूर्ण करो और तदनंतर मैं सही मार्ग का अनुसरण करूंगा। मैं प्रत्येक श्वास के साथ उसी का मार्ग देख रहा हूँ।"

जायसी कहते हैं कि राजा रत्नसेन ने देव को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे देव! मैं उस विधि से परिचित नहीं हूँ जिससे मुझे स्तुति करनी चाहिए। मेरे ऊपर ऐसी सुदृष्टि कीजिए और कृपा कीजिए कि मेरी मनोकामना पूर्ण हो जाय।

विशेष—१. इस पद में राजा रत्नसेन ने अपनी विनयशीलता और शंकर की महानता का वर्णन किया है।

२. पद का यह भाव कि देव : "तुम दीनदयाल हो, विश्ववशिष्ठ हो और तुम्हारी पर्याप्त आराधना होती है; परिणामतः मैं कुछ भी सेवा का दम नहीं भर सकता हूँ" महाकवि मिल्टन की *'On his blindness'* कविता की इन पंक्तियों के साथ मिलाया जा सकता है—

God doth not need either man's work or his own gifts
who best bear his mild yoke they serve him best.

कै अस्तुति जब बहुत मनावा। सबद अकूत मंडप महं आवा॥
मानुष पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह, छार भरि मूठी॥
पेमहि माह बिरह-रस रसा। मैन के घर मधु अमृत बसा॥
निसत धाइ जौं मरै त काहा। सत जौं करै बैठि तेहि लाहा॥
एक बार जौं मन देइ सेवा। सेवहि फल प्रसन्न होइ देवा॥
सुनि कै सबद मंडप झनकारा। बैठा आइ पुरुब के बारा॥
पिंड चढ़ाइ छार जेति आँटी। माटी भएउ अंत जो माटी॥
माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल।
दिस्टि जौं माटी सौं करै, माटी होइ अमोल॥ २॥

शब्दार्थ—अस्तुति—स्तुति। सब्द—शब्द। अकूत—दिव्यशब्द या अखण्ड ध्वनि के मुख से निकला हुआ शब्द खण्डित या परिमित होता है, किन्तु आकाशवाणी अखण्ड होती है। छार भरि मूठी—मुट्ठी भर राख। पेमहि माह—प्रेम के भीतर। मैन—मोम। बसा—बर्र या भिड़। निसत—सत्य हीन। धाइ—दौड़ कर। लाहा—लाभ। बारा—दरवाजे पर। पिंड—शरीर। आंटी—समाई या आ सकी। दिस्टि जो माटी सौ करै—जो मिट्टी से दृष्टि मिलाता है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में बताया गया है कि रत्नसेन ने देव को बहुत मनाया तब कहीं वह प्रसन्न हो सका। कवि कहता है—

जब राजा रत्नसेन ने स्तुति करके बहुत मनाया तब मंडप में से अपने आप दिव्य और अखण्ड शब्द सुनाई दिया। वह शब्द था—"मनुष्य प्रेम के आधार पर जीवन को स्वर्गोपम बना लेता है। अन्यथा इसके बिना उसकी क्या गरिमा है ? क्या विशेषता है ? वह एक एक मुट्ठी भर राख के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। प्रेम के अन्तर्गत ही विरह और रस है, जैसे मोम के छत्ते में मधु, अमृत और बर्र साथ-साथ रहते है। तात्पर्य यह है जीवन में प्रेम के साथ विरह भी आवश्यक है क्योंकि विरहाग्नि में तपे बिना सुख का कथन

शुद्ध रूप में सामने नहीं आ पाता है। मोम के छत्ते में शहद भी रहता है और काटने या डंक मारने वाला बर्र या भिड़ भी, अतः जीवन के साथ विरह और संयोग तथा सुख और दुख तो बने ही रहते हैं। दोनों का साथ है।" कवि जायसी कहते हैं कि बिना सत्य के मनुष्य दौड़ कर मर गया तो क्या हुआ ? किन्तु इतना निश्चित है कि वह यदि सत्य से कार्य करे तो बैठे–बैठे ही उसे लाभ हो सकता है। एक बार यदि मन लगा कर सेवा की जाय तो उस सेवा से देवता प्रसन्न हो जाते हैं।

इस शब्द को सुनकर मन्दिर झंकार से भर गया तथा राजा पूर्व के दरवाजे पर आकर बैठ गया। उसके हाथों में जितनी मिट्टी आई या शरीर पर जितनी मिट्टी आ सकी वह उसने अपने शरीर चढ़ाली। इस मिट्टी के चढ़ावे के साथ ही मन में यह विचार हुआ कि आखिर शरीर भी मिट्टी भर ही तो है; इसके अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं। जायसी कहते हैं कि मिट्टी का मूल्य तो कुछ नहीं होता है पर सभी मूल्यवान वस्तुओं का अस्तित्व और आकार मिट्टी से ही खड़ा होता है। जो व्यक्ति मिट्टी की ओर दृष्टिपात करता है तात्पर्य संसार के सारे माया मोह को मिट्टी में मिलाने के लिए प्रयत्नशील रहता है उसकी यह शरीर मिट्टी अमूल्य बन जाती है।

विशेष—१. 'माटी' शब्द के आते ही जायसी की कल्पना दौड़ने लगती है। वे ऐसे प्रसंगों में विशेष रमे हैं जहां कि कवि की कल्पना को मुक्त विचरण करने का अच्छा अवसर मिल गया है।

२. जीवन निर्मायक तत्वों में मिट्टी के योग का महत्वांकन इस विशदता और व्यापकता के साथ शायद ही कहीं मिले। 'माटी' शब्द यमक अलंकार से सुशोभित है।

बैठ सिंघछाला होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा ॥
दीठि समाधि ओही सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी ॥
किंगरी गहे बजावै झूरै। भोर साँझ सिंगी निति पूरै ॥
कंथा जरै, आगि जनु लाई। विरह-धंधार जरत न बुझाई ॥
नैन रात निसि मारग जागे। चढ़े चकोर जानि ससि लागे ॥
कुंडल गहे सीस भुइँ लावा। पाँवरि होउं जहाँ ओहि पावा ॥
जटा छोरि कै बार बहारौं। जेहि पथ आव सीस तहँ वारौं ॥
चारिहु चक्र फिरौं मैं, डंड न रहौं थिर मार।
होइ कै भसम पौन संग (धावौं) जहाँ परान-अधार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिंघछाला=मृगछाला, तपा=तपस्वी, दीठि=दृष्टि ओही सौं=उसी से, जेहि दरसन=जिसके दर्शन के कारण, किंगरी=सारंगी या चिकारा, झूरै=याद करना, कंथा=कपड़ा या गूदड़, धंधार=लपट, बुझाई=बुझाना, रात=लाल, पांवरि=जूती, पावा=पैर, बहारौं=झाड़ू लगाऊं, थिर मार=स्थिर होकर।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने कवित्व-कौशल के साथ राजा रत्नसेन की महती साधना का वर्णन किया है। वह कहते हैं—

रत्नसेन सिंह के चर्मासन पर प्रतिष्ठित होगया और यहीं जप–तप करने लगा। उसने पद्मावती के नाम का जाप करना प्रारंभ कर दिया।

राजा ने जिस लक्ष्य से वैराग्य लिया था; उसकी ऊर्ध्वगामी दृष्टि उसी ओर केन्द्रित थी। वह हाथ में सिंगी बाजा या चिकारा बजाता था तथा सुबह शाम सिंगी का उद्घोष करता था। विरह के कारण उसकी गूदड़ी दावाग्नि की तरह प्रज्ज्वलित होती थी। जायसी कहते हैं कि विरह की आग बुझाये नहीं बुझती है। रात्रि भर पद्मावती का मार्ग देखते-देखते नेत्र रक्तिमवर्ण के हो गये। ऐसा प्रतीत होता था मानो कौतूहल लीन चकोर चांद की ओर निर्निमेष देख रहा था। उसने हाथों से कुंडलों को पकड़ा तथा भूमि पर सिर लगाया या नवाया। वह इतना व्रती बन गया कि पद्मावती के कदमों या पांवड़ों पर अपना सिर रखने को तत्पर हो गया। रत्नसेन ने विचार किया कि अपनी जटाओं को उन्मुक्त करके या खोलकर इस परमात्मा के द्वार पर बुहारी लगा दूं। जिस मार्ग पर वह हो, मैं अपने सिर का बलिदान करदूं। रत्नसेन का मन इस प्रकार पद्मावती को खोजने के लिए चारों दिशाओं में भटक रहा था और क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं हो पा रहा था। वह सोचता था कि काश मैं धूल होकर वहां उड़ जाऊं जहां पर प्राणप्रिया पद्मावती है।

विशेष—१. विरह-वर्णन में पर्याप्त अतिरंजना है। समर्पण की नयी पद्धति को रूपायित किया गया है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि का नायक अपने व्यक्तित्व के प्रति अधिक भ्रमित सा है।

२. विरह की आग की तीव्रता का कथन गालिब के उस शेर से मिलता है जिसमें प्रेम की आग को 'यह वह आग है जो बुझाये न बुझे' से व्यंजित किया गया है।

३. प्रेम के समर्पण की बात इस शेर में भी कही गयी है—

मिटादे अपनी हस्ती को अगर तू मरतबा चाहे।
कि दाना खाक मे मिलकर गुले गुलजार होता है॥

पद्मावती-वियोग-खण्ड

पदमावति तेहि जोग सजोगा। परी पेम-बस गहे वियोगा॥
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज कँवाच जानु कोइ लावा॥
दहै चंद औ चंदन चीरू। दगध करै तन विरह गंभीरू॥
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी। तिल तिल भर जुग जुग जिमि गाढ़ी॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि-बाहन तहं रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिघ उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥
कहं वह भौंर कंवल रस लेवा। आइ परै होइ घिरिनि परेवा॥
से धनि बिरह पतंग भइ, जरा चहै तेहि दीप।
कंत न आव भिंरिग होइ, का चंदन तन लीप? ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तेहि जोग संजोगा राजा के योग के संयोग से या प्रभाववश, परी पेम-बस—प्रेम के वशीभूत होकर। गहे वियोगा—वियोग को प्राप्त किया। रैनि जौं आवा—रात्रि जैसे-जैसे आती है। कँवाच—कपिकच्छु या कैंचफली जिसके छू जाने से शरीर में खुजली मच जाती है। चीरू—वस्त्र। गाढ़ी—गंभीर या गहरी। मकु—शायद। रैनि बिहाई—रात बीत जावे। ओनाई—

झुके हुए या ठहरे हुए। धनि—धन्या पद्मावती। उरेहै—दीवार पर चित्र बनाना। विथा—व्यथा या दुख। रस-लेवा—रस लेने वाला। घिरिनि परेवा—गिरहबाज कबूतर। कंत—स्वामी। भृंगि—कीड़ा विशेष।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में पद्मावती के हृदय में उठने वाली विचारधारा जो वियोगजन्य है, का वर्णन किया गया है। कवि ने बताया है कि पद्मावती और रत्नसेन दोनों के हृदयों में विरह की आग लगी हुई है। 'है दोनों तरफ आग बराबर लगी हुई' या गुप्तजी के शब्दों में 'दोनों ओर प्रेम पलता है' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए कवि जायसी कहते हैं—

कवि कहता है कि राजा रत्नसेन के योग के प्रभाव से पद्मावती को भी प्रेमाग्नि ने जकड़ या घेर लिया है। तात्पर्य पद्मावती भी प्रेम-विरह के वशीकृत होगई है। उसे वियोग सताने लगा है। रात्रि के आते ही नींद नहीं आती है और न शान्ति ही प्राप्त होती है, अपितु उल्टे वियोगजन्य कष्ट बढ़ता जाता है। शैय्या पर सोती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी ने उसे कैंवाच की फली लगादी है। वियोग के क्षणों में चन्द्रमा और चदंन दोनों ही शरीर को दग्ध करते हैं। साथ ही ये जलाकर तन को गंभीरता से कष्ट देते हैं। चन्द्रमा की शीतलता और चन्दन की सरसता तथा मधुरिमा भी अपने गुणों के उपयुक्त कार्य न करके विपरीत कार्य करती है। रात्रि शीघ्र ही नहीं बीत पाती है। वह कल्प के समान बढ़ती जाती है। वह तिल-तिल कर कटती है और क्षण-क्षण का समय युग युग के समान बड़ी कठिनाई से काटती है।

जायसी कहते हैं कि जब रात नहीं कटती है तो वह अपनी रात्रि को काटने के लिए वीणा हाथ में ले लेती है। इस आशा से वीणा को धारण करती है कि शायद इसके स्वरों में भूलकर वह मन को भुलाकर दूसरी ओर लेजावे। किन्तु परिणाम इसके विपरीत जान पड़ता है। वीणा की ध्वनि सुन-कर चन्द्रमा के वाहन मृग लुब्ध होजाते हैं परिणामतः रात ठहर जाती है और ठहरी हुई रात पद्मावती को कष्ट देती है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा के रुकने से रात कटती या बीतती नहीं है। इस दृश्य को देखकर पद्मावती दीवार पर सिंह का चित्र बनाती है कि इसे देखकर मृग भाग जायेगा और रात कट जायेगी, तभी सुख शान्ति का अनुभव होगा। इसी क्रिया कलाप में वह रात बिता देती है—वह भी जागते-जागते। कभी वह कहती है कि कमल का रस लेने वाले भ्रमर तुम कहां हो। तुम शीघ्र ही आजाओ तथा कलाबाज कबू-तर की भांति आकर टूट पड़ो। तात्पर्य, जिस प्रकार कलाबाज़ कबूतर आकर कबूतरी के ऊपर टूट पड़ता है उसी प्रकार तुम भी अपनी प्रिया के यौवन मधु को चखने के निमित्त शीघ्र ही आजाओ।

जायसी कहते हैं कि वह विरहिणी पद्मावती विरह में परवाने के समान जलती है या जलना चाहती है। वह कहती है कि हे प्रिय! यदि तुम अपने रूप में लीन करने के निमित्त भृंगी बनकर नहीं आओगे तो मेरे जलते हुए शरीर पर चन्दन का लेप करके कौन शांति प्रदान करेगा?

विशेष:—१. इस पद में पद्मावती के विरह का स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण किया गया है। विरह दोनों प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में लगा हुआ है।

२. हेतूत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों का प्रयोग बड़ा सुन्दर और सार्थक बन पड़ा है।

३. 'गहे बीन मकु रैन बिहाई' आदि पंक्ति सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग में भी भली भांति देखी जा सकती है:—

दूर करहु बीना करि धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हांग्यो नाहिन होत चंद को ढरिबो।।

४. इस वर्णन की कवि-कल्पना मानस को कुरेदती है. उसमें बनावट नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रेम भाव की गहनता का भाव दोनों ओर बराबर व्यंजित किया गया है।

परी बिरह बन जानहुं घेरी। अगम असूझ जहां लगि हेरी।।
चतुर दिसा चितवै जनु भूली। सो बन कहं जहं मालति फूली?।।
कंवल भौंर ओही बन पावै। को मिलाइ तन-तपनि बुझावै?।।
अंग अंग अस कंवल सरीरा। हिय भा पियर कहै पर पीरा।।
चहै दरस, रबि कीन्ह बिगासू। भौंर-दीठि मनो लागि अकासू।।
पूंछै धाय, बारि! कहु बाता। तुइं जस कंवल फूल रंग राता।।
केसर बरन हिया भा तोरा। मानहुं मनहिं भएउ किछु भोरा।।

पौन न पावै संचरै, भौंर न तहां बईठ।
मूल कुरंगिनि कस भई, जानु सिघ तुइं डीठ।। २।।

शब्दार्थ:—हेरी=देखते हैं। चतुरदिसा=चारों दिशाओं की ओर देखती है। जनु भूली=भूली सी भरमाई सी। ओही=उसी। तन-तपनि=शरीर की आग। पर-पीरा=दूसरे की पीडा। चहै दरस=दर्शन लाभ चाहती है। बिगासू=विकसित होना। हिय भा पियर=कमल के भीतर का छत्ता पीले रंग का होता है। भौंर दीठि-मनौं लागि अकासू=कमल पर जैसे भौंरे होते हैं वैसे ही कमल सी पद्मावती की काली पुतलियां उस सूर्य का विकास देखने को आकाश की ओर लगी हुई हैं। धाय=दासी। बारि कहु बाता-बाला बताओ तो सही क्या बात है? केसर बरन=केसर जैसे पीले वर्ण का। पौन न पावै संचरै=जहां पर पवन का संचार नहीं होता है। बईठ=बैठा। कुरंगिनि=हरिणी।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में भी पूर्वसंदर्भानुसार कवि कह रहा है कि—

पद्मावती विरह की उस अवस्था में है जबकि वह चारों ओर से घिरी हुई है। विरह बन में घिरी पद्मावती जहां-तक दृष्टि डालती है वहां तक उसे मार्ग अगम्य और असूझ दिखाई देता है। वह भूली सी भ्रमी सी या ठगी सी चारों दिशाओं की ओर देखती है। वह स्वयं ही प्रश्न करती है कि वह वनस्थल कहां है जहां पर मालती फूलती है? यहां तो सभी जगह जलन ही जलन है। कमल अपने भौंरे को उसी उपवन में पायेगा। कौन ऐसा है जो मुझे रत्नसेन से मिलाकर मेरे शरीर की विरहाग्नि को शमन करे। कहां तो यह शारीरिक आग जो विरह से उत्पन्न है और कहां कमल सा सुकोमल यह शरीर। प्रेम की पीड़ा ने उसका हृदय पीला पड़ गया था। व्यंजना यह है कि विरह के कारण शरीर शुष्क और नीरस होगया था। पद्मावती रूपी कमल सूर्यरूपी रत्नसेन के

साथ ही विकसित हो सकता है। कमलरूपा पद्मावती सूर्यरूपी रत्नसेन के दर्शनों की इच्छुक है। इसका कारण अपने यौवन और शरीर का विकास ही है। इसी कारण वह पद्मा अपने नेत्रों को आकाश की ओर लगाये हुए है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की यह दशा देखकर उसकी धाय या दासी ने पूछा कि बाला! बताओ तो सही, आखिर क्या बात है? तुम तो कमल की कलियों के समान रक्तिम वर्ण की थीं, यकायक तुझे क्या होगया है कि तू पीतवर्ण होगई है ठीक केसर के समान। ऐसा विदित होता है कि तेरे मन में कुछ और ही फोड़-फाड़ है या कोई नया तत्व विकसित होरहा है। व्यंजना यह है कि जब तक तुम कलिका थीं, तब तक तुम्हारे मुख और शरीर पर लाल कमल की आभा रहती थी, पर अब वह पीत-वर्ण में बदल गई है। लगता यह है कि कलिका फूट पड़ी है। दासी ने कहा कि हे रानी! बताओ तो सही तुम्हारे इस पीतवर्ण का क्या कारण है। तू उस स्थान पर रहती है जहां न तो पवन का संचार होता है और न भ्रमर ही जा सकता है, फिर तू इस महल में ही भूली हुई या ठगी हुई हरिणी सी कैसे भरमाई सी प्रतीत हो रही है। ऐसा विदित होता है कि तुम्हारी दृष्टि किसी भ्रमर या सिंह को देख चुकी है। व्यंजना यह है कि पद्मावती तुम किसी पर अनुरक्त हो रही हो।

विशेष—१. उत्प्रेक्षा अलंकार और उपमा अलंकार का वैभव यहां देखने को मिलता है। सौन्दर्य प्रधानता इस वर्णन की विशेषता है।

२. वर्णन सरस और मनहरण है। भाव गांभीर्य और भाषा-वैभव भी सर्वथा सराहनीय है।

धाय! सिंघ बरु खातेउ मारी। की तसि रहति अही जसि बारी॥
जोवन सुनेउँ की नवल बसंतू। तेहि बन परेउ हस्ति मैमंतू॥
अब जोवन-बारी को राखा। कुंजर-बिरह बिधंसै साखा॥
मैं जानेउँ जोवन रस भोगू। जोबन कठिन सताप बियोगू॥
जोवन गरुअ अपेल पहारू। सहि न जाइ जोबन कर भारू॥
जोवन अस मैमंत न कोई। नवैं हस्ति जौं आंकुस होई॥
जोबन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा॥
परिउँ अथाह, धाय! हौं जोवन उदधि गभीर।
तेहि चितवौं चारिहु दिसि जो गहि लावै तीर॥ ३॥

शब्दार्थ=धाय—दौड़कर, बरु—अच्छा, अहि—थी, मैमंतू—हाथी या मस्त हाथी जोवन-बारी—यौवन की बगिया को, कुंजर-बिरह—विरह का हाथी, बिधंसै—विध्वंस कर देगा, अपेल—जो टल न सके, मैमत—मस्त, जो आंकुस होई—अंकुश हो जाता है, समाइ न गंगा—अपने शरीर के अंगों से यौवन-गंगा लहरें दे रही है, अथाह—बहुत गहरी, तेहि चित्तवौं—उसे देखो।

ससंदर्भ व्याख्या—संदर्भ पूर्वानुसार है। पद्मावती अपनी विरह की घड़ियों का हवाला धाय के समक्ष प्रस्तुत करती है। वह कहती है—

अरी धाय! चाहे जो कुछ हो, किन्तु तुम इस तरह क्यों दुखी होती हो। भले ही सिंह मार कर खड़ा कर देता, किन्तु मेरा जीवन बड़ा शान्त और स्थिर है। सुना जाता है कि यौवन वसन्त के पास गुलजार होता है, किन्तु मैं

बड़ी हतभागिनी हूँ कि हमारे लिए यह संसार बड़ा कठोर निकला। मेरे यौवन पर कामरूपी मस्त हाथी का हमला हो गया है। ऐसा कौन है जो मेरी तरुणाई की वाटिका को सुरक्षापूर्वक रख सके। इस यौवन रूपी बगिया की हरी भरी शाखों को विरह-कुंजर ने तोड़ डाला है। मैं (पद्मावती) तो समझती थी कि यौवन में रसोपकरण प्राप्त होते हैं। किन्तु कड़वा नाम लेने मात्र से विरह में कष्ट सहना पड़ता है। यौवन स्थिर और अचल रहना चाहिए। वस्तुतः बहुत भारी भार के रूप में यह चलायमान नहीं हुआ।

पद्मावती कहती है कि अब तो इस यौवन का रस संभाला नहीं जाता है। तात्पर्य है कि यौवन के दिनों में प्रिय के बिना जीवन नहीं बिताया जा सकता है। यौवन जैसा मदोन्मत हाथी अब कोई नहीं है। अंकुश से तो हाथी को भी झुकाया जा सकता है किन्तु यौवन को नहीं झुकाया जा सकता है। यौवन मद से इतना भरा हुआ है जैसे भाद्रपदी गंगा। यौवनजनित तरंगों से शरीर का अंग-अंग फूटने लगा है। भाव यह है कि पद्मावती का यौवन संभाले नहीं सभलता।

जायसी कहते हैं कि अरी धाय! मैं यौवन के गंभीर सागर में पड़ी हुई हूँ। चतुर्दिक दृष्टि दौड़ा रही हूँ कि कौन मुझे बांह पकड़कर आसरा या सहारा देगा। तात्पर्य यह है कि यौवन के सागर से किनारे पर लाने वाला कौन है? प्रिय की कामना की ओर संकेत है।

विशेष—इसमें सांगरूपक और 'बारी' का यमक अलंकार द्रष्टव्य है। 'पद्मावती का यौवन उद्दाम गति से लहरें ले रहा है।' यह भाव बड़े चित्रात्मक और ध्वन्यात्मक ढग से अभिव्यक्ति पा सका है।

पदमावति! तुइं समुद सयानी। तोहि सर समुद न पूजै, रानी॥
नदी समाहिं समुद महं आई। समुद डोलि कहु कहां समाई?॥
अबहीं कवंल करी हिय तोरा। आइहि भौंर जो तो कहं जोरा॥
जोबन-तुरी हाथ गहि लीजिय। जहाँ जाइ तहं जाइ न दीजिय॥
जोबन जोर मात गज अहै। गहहु ज्ञान-आंकुस जिमि रहै॥
अबहिं बारि तुइं पेम न खेला। का जानसि कस होइ दुहेला॥
गगन दीठि करु नाइ तराहीं। सुरुज देखु कर आवै नाहीं॥
जब लगि पीउ मिलै नहिं, साधु पेम कै पीर।
जैसे सीप सेवाति कहं तपै समुद मंझ नीर॥ ४॥

शब्दार्थ—समुद समानी—समुद्र सी गंभीर हो, सरि—समान, कंवल करी—कमल कलिका, तुरी—घोड़ी, मात—मदमाता या मतवाला, ज्ञान-आंकुस—ज्ञान का अंकुश, गहहु—ग्रहण करना, बारि—बाला, तुइं—तुमने, पेम न खेला—प्रेम की क्रीड़ा नहीं की है, दुहेला—कठिन खेल, साधु—साधना करो।

ससदर्भ व्याख्या—इस पद में पूर्व संदर्भ से ही धाय पद्मावती से कह रही है—

हे पद्मावती! तू सुबुद्धि और चतुर है। तू समुद्र के समान गंभीर है। हे रानी तेरे समान तो समुद्र भी नहीं हो सकता है। नदियां आती हैं और समुद्र में समा जाती हैं किन्तु यदि समुद्र भी चंचलता को ग्रहण करके

विचलित होने लगे और वह सीमोल्लंघन करे तो क्या हो? कहां स्थान होगा उसके लिए? भाव यह है कि चचलता बहुत हेय है और सहनशीलता वरणीय और स्तुत्य है।

धाय ने कहा कि हे पद्मावती! तेरा हृदय अभी कमल की भांति कोमल और अबोध है। इस बात को गांठ बांध ले कि तेरे योग्य वर-भ्रमर अवश्य ही आकर तुझे वरण करेगा। शिक्षा मानो। यौवन रूपी तुरंग को चचलता से बचाओ और उसकी वल्गा को हाथ से थामे रहो—यदि उसे मुक्त छोड़ दिया तो अनर्थ हो सकता है। कारण कि वह तो मदोन्मत हाथी की भांति है। उसे ज्ञान से, विवेक से इस प्रकार धारण करना चाहिए जैसे अंकुश से हाथी को वशीभूत किया जाता है। अभी तुम बाला हो, तुमने प्रेम का खेल अभी तक नहीं रचाया है। अतः तुम्हें क्या अनुमान हो सकता है कि प्रेम का खेल कितना कठिन होता है। दृष्टि को चाहे जितना आकाश तक पहुंचाओ, पर वह नीचे ही वापस आकर थम जाती है। सूर्य भी कितना ही दृष्टि में लाया जाय, किन्तु वह हाथ नही आता है।

जायसी कहते हैं कि जब तक पद्मावती तुझे अभीप्सित प्रियतम न मिलें तब तक प्रेम की पीड़ा को साधने या सहने की व्यथा को समझने और सहने का कष्ट सहो। यह व्यथा ठीक उसी प्रकार सहन करनी चाहिए जैसे सीप स्वांति नक्षत्र की बूंद पाने के लिए अपार सागर में तपस्या करती रहती है। तात्पर्य यह है कि मनोवांछा पूर्ण करने के निमित्त तपस्या या साधना जरूरी है, आवश्यक है।

विशेष—१. इसमें सूफी सिद्धान्त के आधार पर प्रेम की पीर का वर्णन किया गया है। प्रेमी के प्रेम की प्राप्ति से पूर्व वेदना सहना आवश्यक है। सूफियों के प्रेम मार्ग को ज्ञान मार्ग से एकदम अलग नहीं किया जा सकता है, यह भाव भी इस पद से ही प्रमाणित हो जाता है।

२. 'गगन दिस्टि... ...' पंक्ति में न्यूटन के **Law of Gravitation** के सिद्धान्त का संकेत भी मिलता है जिसका अन्वेषण वैज्ञानिक आज कर सके है।

दहै, धाय! जोवन एहि जीऊ। जानहुं परा अगिनि महं घीऊ॥
करवत सहीं होत बुढ़ आधा। सहि न जाइ जोबन कै दाधा॥
बिरह समुद्र भरा असंभारा। भौंर मेलि जिउ लहरिन्ह मारा॥
बिरह-नाग होइ सिर चढ़ि डसा। होइ अगिनि चंदन महं बसा॥
जोवन पंखी बिरह बियाधू। केहरि भएउ कुरंगिनि-खाधू॥
कनक पानि कित जोवन कीन्हा। औटन कठिन बिरह ओहि दीन्हा॥
जोवन-जलहि बिरह-मसि छूआ। फूलहि भौंर, फरहि भा सूआ॥
जोवन चांद उआ जस, बिरह भएउ संग राहु।
घटतहि घटत छीन भइ, कहै न पारौं काहु॥ ५॥

शब्दार्थ—दहै—जलाता है एहि जीऊ—इस जीव को या प्राण को, दाधा—जलन, असंभारा—बेसंभाल या न संभालने योग्य, भौंर मेलि—भंवर या चक्र लेकर, बिरह नाग—विरह का सर्प, सिर चढ़ि डसा—मुहावरा है अर्थ है सिर पर चढ़कर काटना, होइ अगिनि चंदन महं बसा—वियोगियों को चन्दन से भी

ताप होना प्रसिद्ध है, केहरि भयेउ कुरंगिनि खाघू–जैसे हिरन के निमित्त सिंह, वैसे ही यौवन के लिए विरह, कनक पानि–स्वर्ण जल, औटन–पानी को गर्म करने को, औटाना, विरह-मसि–विरह की स्याही,फूलहि भौंर–भ्रमर फूलते हैं, फरहिं-फलते हैं, 'फूलहि भौंर फरहि जनु सूआ'–जैसे पुष्प को बिगाड़ने वाला भौंरा और फल को बिगाड़ने वाला तोता होता है वैसे यौवन के फल को नष्ट करने वाला विरह होता है, विरह भएउ जस राहु–चन्द्रमा के उदित होने पर जैसे राहु उसके मार्ग की बाधा बनकर आता है वैसे ही यौवन–चन्द्रमा के लिए विरह राहु का काम करता है, छीन भइ-क्षीण हो गया, कहै न पारौं काहु–किसी से कहते नही बनता।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व प्रसंग के साथ ही इन पंक्तियों में धाय को राजकुमारी पद्मावती विरह की असह्य पीड़ा का बोध करा रही है और बता रही है कि प्रेम के साथ विरह अनिवार्यत: रहता है। वह कहती है—

हे धाय! विरह की ज्वाला से यौवन और प्राण जलते हैं। वे इस प्रकार जलते रहते हैं। विरह घी यौवन और प्राण के लिए और अधिक प्रोत्साहन का काम करता है। वह कहती है कि इस वियोग में मैं काशी करवट भी ले सकती हूँ तथा इसमें दो टुकड़े होना अच्छा समझती हूँ किन्तु विरह की तपन सहना मेरे लिए असह्य है। भरे हुए विरह के समुद्र का भार भी वश के बाहर हो रहा है। कारण वह (विरह) अपने को भवर में डालकर लहरों से चपेट देता रहता है। विरह तो नाग के रूप में मेरे सिर पर सवार है तथा डसे जा रहा है। शरीर के चंदन में विरह मानों ज्वाला बन कर समा गया है, यौवन पक्षी है और विरह व्याध या शिकारी है जो इसका शिकार करता रहता है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने कहा कि विरह सिंह के सदृश मुझ हिरनी को खाने वाला है। ईश्वर ने यौवन को स्वर्णिम चमक और स्वस्थ लाली न प्रदान की होती तो शरीर को विरह की यह यातना नहीं सहनी पड़ती। यौवन का जल जैसे ही विरह की काई से आच्छादित हो जाता है वैसे ही उसमें विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे फूल को भ्रमर और फल को तोता कुतर लेता है, खोखला करके छोड़ता है ठीक वैसे ही विरह यौवन को कुतर खाता है।

जायसी कहते हैं कि जैसे ही यौवन का चन्द्रमा उदित होता है वैसे ही उसमें विरह का राहू लग जाता है। इसी प्रकार पद्मावती कहती है कि मेरा यौवन क्षीणतर हो रहा है पर इस रहस्य को किसी के भी समक्ष प्रकट करना उचित नहीं जान पड़ता है।

विशेष—१. इसमें रूपक, अपह्नुति का अच्छा प्रयोग हुआ है। अपह्नुति का प्रयोग बड़ा सुन्दर है—

होइ न विरह अगिनि मह घीऊ।

२. प्रेम जीवन की आवश्यकता है, यौवन की पुकार है किन्तु विरह इस आवश्यकता को प्रमाणित करने वाली कसौटी है। प्रेम और विरह परस्पर मूल्यवान हैं। प्रेम विरह की भट्टी में तप कर ही कंचन के समान निखरता है; यही कारण है कि जायसी ने इस पद में तथा और भी एकाध स्थल पर इस प्रकार का मंतव्य व्यक्त किया है।

नैन ज्यों चक्र फिरै चहुँ ओरा । बरजै धाय, समाहि न कोरा ।।
कहेसि पेम जौं उपना, बारी । बांधु सत्त, मन डोल न भारी ।।
जेहि जिउ महं होइ सत्त-पहारू । परै पहार न बांकै बारू ।।
सती जो जरै पेम सत लागी । जौं सत हिये तौ शीतल आगी ।।
जोबन चांद जो चौदस-करा । बिरह के चिनगी सो पुनि जरा ।।
पौन बांध सो जोगी जती । काम बांध सो कामिनि सती ।।
आव बसंत फूल फुलवारी । देव-बार सब जैहैं बारी ।।

तुम्ह पुनि जाहु बसत लेइ, पूजि मनावहु देव ।
जीउ पाइ जग जनम है, पीउ पाइ कै सेव ।। ६ ।।

शब्दार्थ—बरजै—मना करना या वर्जना करना । कोर—कोना । उपना बारी—बालिका प्रेम जो उत्पन्न हुआ है । बांधु सत्त—सत्य को बांधो या मन को साधो । मन डोल न—मन को चंचल मत बनाओ । सत पहारू—सत्य पहाड़ या रक्षक होता है । बांकै बारू—बाल बांका भी नहीं होता है । पौन-बांध—प्राणों को बांधना या श्वास को वशीभूत करना । काम-बांध—काम को वशीभूत कर लेना । देव बार—शंकर देवता के दरवाजे या द्वार पर । जैहैं बारी—सभी बालिकाएँ जायेंगी ।

ससदर्भ व्याख्या—प्रसंगपूर्वानुसार, जायसी कह रहे हैं—

पद्मावती की आंखें चक्र की भांति चारों ओर फिर रही थी । धाय वर्जित करती थी पर वे अपने कोरों में नहीं समाती थीं । इस पर धाय ने कहा कि हे बालिका ! यदि तुझ मे प्रेम उत्पन्न हुआ है तो सत्य का पालन करो तथा मन को बांधो या वशीभूत करो । यदि मन चचल रहेगा तो संयम टूट जायगा और तेरे प्रेम का प्रचार और प्रसार हो जायेगा जो ठीक नहीं है, कारण; जिस मन मे सत्य का पहरेदार होता है वहां पर पहाड़ टूटने पर या बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी व्यक्ति या साधक का बाल बांका भी नहीं होता है । प्रियतम प्रेम के वशीभूत हो जो स्त्री आग में जलती है तो उसके लिए दाहक अग्नि भी शीतल हो जाती है क्योंकि उसके पास 'सत' या बल होता है ।

जायसी कहते है कि चौदह कलाओं से युक्त जो यौवन रूपी चांद है वह विरह की चिनगारी भर से फिर जलने व घटने लगता है । जो व्यक्ति संयम, यम-नियम से प्राणों को बांध लेता है वह प्राणायाम की क्रिया करता है, संयम को साधता है अतः यती है । काम को वश में करके उस भावना पर नियन्त्रण रखने वाली नारी सती होती है । देख वसन्त आ पहुंचा है ! फुलवारियों के फूलों मे नयी रगत दिखाई देने लगी है—लगता है वे हंस रहे हैं । देवता के मन्दिर में सभी बालायें पूजा और दर्शन के निमित्त जायेंगी ।

धाय ने कहा कि हे पद्मावती ! वसन्त पूजन के लिए तुम भी जाओ और पूजा से अपने देवता को प्रसन्न करो । जीवन तो जन्म लेने मात्र से ही प्राप्त होता है या हो सकता है; किन्तु प्रियतम की प्राप्ति के लिए सेवा और अर्चना आवश्यक है ।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने नारी के भारतीय आदर्श को

प्रस्तुत किया है। 'पत्नी को पति सेवा करनी चाहिए, तभी उसे प्रिय प्राप्ति होती है।' यही भाव इसमें व्यंजित है।

जब लगि अवधि आइ नियराई। दिन जुग जुग बिरहिनि कहं जाई ॥
भूख नींद निसि-दिन गे दोऊ। हियै मारि जस कलपै कोऊ ॥
रोवं रोवं जनु लागहिं चांटे। सूत सूत बेधहिं जनु कांटे ॥
दगधि कराह जरै जस घीऊ। बेगि न आव मलयगिरि पीऊ ॥
कौन देव कह जाइ कै परसौं। जेहि सुमेरु हिय लाइय कर सौं ॥
गुपुति जो फूलि सांस परगटै। अब होइ सुभर दहहि हम्ह घटै ॥
भा संजोग जो रे भा जरना। भोगहि भए भोगि का करना ॥

जोबन चचल ढीठ है, करै निकाजै काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै कै जोबन मन लाज ॥७॥

शब्दार्थ—अहे—दिवस। निसि गे दोऊ—दिन और रात दोनों। हिये मांझ—हृदय में। कलपै—दुख पाती है। रोवहिं रोम—रोम-रोम। जनु लागहिं चांटे—रोम-रोम पर मानों विरह चांटे मारता है। दगधि—दग्ध। परसौं—स्पर्श करूं या पूजन करूं। जेहि सुमेरु हिय लाइय कर सौं—जिससे उस सुमेरु को हाथ से हृदय में लगाऊं। गरासौं—गले में धारण, कारण पाठान्तर कर सौं। गुपुत जो फल—स्तनों के फूल या फल जो यौवन समीर के चलने पर उभर कर सामने आते हैं। होइ सुभर—अधिक भरकर और उभर कर। दूसरे अर्थ में अच्छे भट बनकर जो दूसरों को लड़ने के लिए आमंत्रित करते हैं घटै—हमारे शरीर को। निकाजै—निकम्मे। जोबन—यौवनावस्था।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी पद्मावती के विरह का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

बसंत पंचमी की तिथि जब तक आये तब तक की अवधि पद्मावती के लिए एक युग के समान बन गई। एक एक दिन एक युग बन गया। न तो दिन में भूख सताती थी और न रात्रि को नींद ही। केवल हृदय में प्रेम-जनित विरह की टीस उभरती रहती थी। विरहावस्था में उसके शरीर के रोम रोम को चपत सी लगती थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानों भीतर से कोई उसकी रग-रग को छेदे डालता था। पद्मावती का शरीर विरह के जलते कड़ाह में जल रहा था। वह कह रही थी कि हे प्रियतम ! शीघ्र ही आकर क्यों नहीं प्राणों में समा जाते हो और प्राणों की पीर हर लेते हो ?

पद्मावती कहती है कि हे देव ! मैं किस अन्य देव का स्पर्श करूं जिसके कारण मैं सुमेरु के सदृश प्रियतम को हृदय से लगा सकूं। अरे स्तनफल अब तक गुप्त थे; वे अब श्वासों की वायु और यौवन की चंचल गति के सामने उभरने लगे हैं, वे अब प्रियतम के कर मर्दन और स्पर्श के अभाव में पुनः घटने लगे हैं। (व्यंजना यह है कि प्रिय शीघ्र ही आकर मिलो; स्तनों का मर्दन करो; आलिंगन करो। यह अभिसार का समय है। उपयुक्त समय यही है। यदि अब इनका मर्दन और आलिंगन न हुआ तो इनका बैठ जाना या शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक है। कामशास्त्र में बताया गया है कि पूर्ण यौवन पर उभरते स्तनों को यदि दबाया न जाये तो वे शिथिल हो जाते हैं तथा आनंदहीन हो जाते हैं।) पद्मावती कहती है कि यदि यौवन के ज्वार पर

जवानी में या विवाह योग्य होकर भी तिल-तिल कर जलना और मरना ही भाग्य में लिखा है तो भोगी होकर भोग करने का कोई अर्थ ही नहीं है। जवानी बड़ी चंचल और धृष्ट होती है। यह मनुष्य से निकम्मे कार्य करवाती है। वह नारी धन्य है जो यौवन के ज्वार पर अपने कुल की मर्यादा का पालन करती हुई लज्जा का पालन करती है।

विशेष—१. पद्मावती के कामुक हाव-भावों का सांकेतिक ही नहीं स्पष्ट वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है।

२. अश्लीलता के साथ ही दोहे की दूसरी पंक्ति में आदर्शवाद और लोक-लाज की बात कहकर जायसी ने अपने पूर्ण वर्णन पर आदर्श और मर्यादा का आवरण डालने का प्रयत्न किया है।

पद्मावती सुआ-भेंट-खण्ड

तेहि वियोग हीरामन आवा। पदमावति जानहुँ जिउ पावा ॥
कंठ लाइ सूआ सौं रोई। अधिक मोह जौं मिलै बिछोई ॥
आगि उठै दुख हिये गंभीरू। नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू ॥
रही रोइ जब पदमिनि रानी। हँसि पूछहिं सब सखी सयानी ॥
मिले रहस भा चाहिय दूना। कित रोइय जौं मिलै बिछूना ? ॥
तेहिं क उतर पदमावति कहा। बिछुरन-दुख जो हिये भरि रहा ॥
मिलत हिये आएउ सुख भरा। वह दुख नैन-नीर होइ ढरा ॥
बिछुरता जब भेंटै सो जानै जेहि नेह।
सुक्ख-सुहेला उग्गवै दुःख झरै जिमि मेह ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जिउ पावा—जीवन पाया हो जैसे। हँसुर—स्वर के साथ या जोर से पाठान्तर। सौं रोई—से रोने लगी। मिलै बिछोई—बिछुड़ा हुआ मिल जाये। हिये गभीरू—गंभीर हृदय। रहस—आनंद। बिछूना—बिछुड़ा हुआ। हिए आयेउ सुख भरा—हृदय में सुख उमड पड़ा। बिछुरता—बिछुड़ा हुआ। भेंटै—मिलता है। सुक्ख सुहेला—सुख का अगस्त्य तारा। उग्गवै—उदित होता है। झरै—झरता है। जिमि मेह—जिस प्रकार वर्षा का पानी झरता है।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती वियोग का अनुभव कर रही थी, उसी समय उसका मिलन हीरामन तोते से हुआ। मिलते ही उसे जो आनंद प्राप्त हुआ उसका वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है:—

विरह की गभीर अवस्था में ही उसे हीरामन तोते का संयोगसुख प्राप्त हो गया। तात्पर्य यह है कि विरह सागर में ऊभ-जूभ करती नारी को हीरामन का सहारा प्राप्त हो गया। उसे पाते ही मानो पद्मावती को जीवन प्राप्त हो गया हो। वह उससे गले लगकर मिली और रोने लगी। अधिक मोह तभी उमड़ता है जब बिछुड़ा हुआ मिलता है। हृदय में जो गंभीर दुख था उसकी आग बुझ गई और आँखों से आँसू टपकने लगे। जब पद्मिनी रानी रो रही थी तब सभी चतुर सखियाँ कहने लगीं कि मिलने पर तो दूना आनंद प्राप्त होता है। अतः बिछुड़े हुए के मिलने पर तो रोना नहीं चाहिए; अपितु

सुख मनाना चाहिए। इसके उत्तर में पद्मावती ने कहा कि बिछुड़ने का जो दुख था वह हृदय में जमा हो गया था वह सुख के दुबारा मिलने पर हृदय में न रह सका। परिणामतः वह दुख नेत्रों की राह से ढुलककर पृथ्वी पर आकर झरने लगा। पद्मावती कहती हैं कि जब कोई बिछुड़ा हुआ मिलता है तो उसके आनंद को वही जानता है जिसके हृदय में प्रेम होता है। सुख रूपी अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने पर बादल के समान दुख नष्ट हो जाता है। अगस्त्य तारागण उदित होने के अनंतर वर्षा समाप्त हो जाती है। यही स्थिति पद्मावती की है। हीरामन से मिलने पर पहले तो आंसू झरने लगे फिर वे बंद हो गये।

पुनि रानी हंसि कूसल पूछा। कित गवनेहु पींजर कै छूंछा ॥
रानी ! तुम्ह जुग जुग सुख पाटू। छाज न पंखिहिं पींजर-ठाटू ॥
जब भा पंख कहां थिर रहना। चाहै उड़ा पंखि जौं डहना ॥
पींजर महं जो परेवा घेरा। आइ मजारि कीन्ह तहं फेरा ॥
दिन एक आइ हाथ पै मेला। तेहि डर बनोबास कहं खेला ॥
तहां बियाधं आइ नर साधा। छूटि न पाव मीचु कर बांधा ॥
वै धरि बेचा बाम्हन हाथा। जबूदीप गएउं तेहि साथा ॥
तहां चित्र चितउरगढ़ चित्रसेन कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहं, आपु लीन्ह सर साज ॥ २ ॥

शब्दार्थ—हंसि कूसल पूंछा—हंसकर कुशल पूछा। गवनेउ—गमन किया। पिंजर कै छूंछा—पिंजड़े को खाली करना। सुख पाटू—सुख का राज्य। छाजन पंखिहि—पक्षी को शोभा देता है। डहना—पंख, उड़ने के पख। परेवा—पक्षी। मजारि—मार्जारी। दिवसेक—एक दिवस। नर—नरसल, जिसमें लगाकर बहेलिए चिड़िया फंसाते हैं। मीचु—मृत्यु। चित्र—विचित्र। आपु लीन्ह निवसाज—चिंता पर चढ़ गया या मर गया।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती के हीरामन से कुशल क्षेम पूछने के उत्तर में तोते ने चित्तौड़ के राजा का परिचय दिया। इसी का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है:—

तब रानी पद्मावती ने तोते से उसकी कुशल वार्ता पूछी और कहा कि हे पक्षी! तू हमारे पिंजड़े को रिक्त करके क्यों चला गया था। तोते ने कहा कि हे रानी ! तुम युग युगांतर तक सुखपूर्वक राज-पाट को भोगो। पक्षी का धर्म उड़ना होता है; वह पिंजड़े के ढांचे को पसंद नहीं करता है। ठीक भी है जिसके पख होते हैं वह स्थिर नहीं रह सकता है। जिस पक्षी के डैने हैं वह तो उड़ना ही अपना प्रिय काज समझता है। तुमने मुझ जैसे पक्षी को पिंजड़े में बांधकर रखा था; तभी बिल्ली ने आकर घेरा डाल दिया। मैंने मन में विचार किया कि किसी दिन यह अवश्य ही घेरा डालेगी और अपना हाथ साफ करेगी। इसी भय और आशंका से मैं वन की ओर चला गया। वहां वन में एक व्याध या शिकारी ने नरसल की लग्गी लगाकर मुझे लासे में फांस लिया। मृत्यु के मुख से या बंधन से मेरी मुक्ति असंभव जान पड़ी। उसने मुझे एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण के साथ मैं जम्बूद्वीप गया। वहां एक विचित्र चित्तौडगढ़ है। वहां का राजा चित्रसेन है। उसने अपने पुत्र को राज्य दिया और स्वयं योगी हो गया।

बैठ जो राजा पिता के ठाऊं । राजा रतनसेन ओहि नाऊं ।।
बरनौं काह देस मनियारा । जहं अस नग उपना उजियारा ।।
धनि माता औ पिता बखाना । जेहि के बंस अंस अस आना ।।
लछन बतीसो कुल निरमला । बरनि न जाइ रूप औ कला ।।
वै हौं लीन्ह, अहा अस भागू । चाहे सोने मिला सोहागू ।।
सो नग देखि हींछा भइ मोरी । है यह रतन पदारथ जोरी ।।
है ससि जोग इहै पै भानू । तहां तुम्हार मैं कीन्ह बखानू ।।

कहां रतन रतनागर, कंचन कहां सुमेरु ।
दैव जो जोरी दुहुं लिखी, मिलै सो कौनेहु फेर ।। ३ ।।

शब्दार्थ—मनियारा=सुहावना । उपना = उदित । बंस अंस=जिनके वश में ऐसा अवतार हुआ है । सोने मिला सुहागू=मुहावरा है, तात्पर्य सोने में मुहागा मिल गया हो या स्वर्ण में भाग्यफल और मिला हो । हींछा= इच्छा या कामना । रतन पदारथ जोरी=यह रत्न और पदार्थ की जोड़ी है । रतनागर = समुद्र । मिलै सो कौनेउ फेर=यदि विधाता ने मिलन लिखा होगा तो किसी भी फेर से मिलन हो ही जायेगा । कंचन कहां सुमेरु=सुमेरु पर्वत का सोना ।

सप्रसंग व्याख्या—संदर्भ पूर्वानुसार है । तोता पद्मावती से कह रहा है कि पिता के राज्य-स्थान पर जो गद्दी पर बैठा है, उसका नाम राजा रत्नसेन है । रानी ! मैं उस देश का, जो माणिक मुक्ताओं की भांति सुहावना है, क्या वर्णन करूं ? जिस देश में रत्नसेन जैसा नग उत्पन्न हुआ है उसका वर्णन करना मेरी सामर्थ्य से बाहर है । वे माता-पिता धन्य हैं जिनके वंश में अंश रूप ऐसा पुत्र रत्न पैदा हुआ है । अपने बत्तीसों शुभ लक्षणों से उसने कुल को निर्मल बना दिया है । उसका रूप व उसकी कलाकांति अवर्णनीय है । यह तो मेरा सौभाग्य था कि उस राजा ने मुझे ब्राह्मण से खरीद लिया । यह उचित है कि सोने से सुहागे का मिलन हो । (पद्मावती और रत्नसेन का परस्पर मिलन हो ।) उस रत्नसेन को देखकर मन में इच्छा हुई कि यह रत्न तो पद्मावती हीरे के योग्य है । यही सूर्य रूप रत्नसेन उस चन्द्रमा रूप पद्मावती के सर्वथा योग्य है । तात्पर्य यह है कि हे रानी ! मैंने वहीं मन ही मन यह निश्चय किया कि यह तो दोनों पद्मावती और रत्नसेन की जोड़ी ठीक ही रहेगी । परिणामतः रत्नसेन, पद्मावती के सर्वथा उपयुक्त वर है । यह मन में धारणा करके मैंने पद्मा, तुम्हारे रूप-गुणों की चर्चा उस राजा से की ।

तोते ने कहा कि संयोग की बात है कि कहां तो समुद्र का रत्न और कहां सुमेरु पर्वत का स्वर्ण ? किन्तु जब इन दोनों की जोड़ी विधाता ने मिलने के लिए ही बनाई है तो कुछ भी हो, अवश्य ही इनका मिलन होगा, चाहे वह किसी भी तरकीब से हो । कहना यह है कि विधि का लिखा अवश्य घटित होगा, भले ही मार्ग में कुछ कठिनाइयां आवें ।

सुनत बिरह-चिनगी ओहि परी । रतन पाव जौं कंचन-करी ।।
कठिन पेम बिरहा दुख भारी । राज छांड़ि भा जोगि भिखारी ।।
मालति लागि भौंर जस होई । होइ बाउर निसरा बुधि खोई ।।

खिनहिं सरग, खिन जाइ पतारा । थिर न रहै एहि आगि अपारा ।।
धनि सो जीउ दगध इमि सहै । अकसर जरै, न दूसर कहै ।।
सुलगि सुलगि भीतर होइ सावां । परगट होइ न कहै दुख नावां ।।
काह कहौं हौं ओोहि सौं जेइ दुख कीन्ह निमेट ।
तेहि दिन आगि करै वह(बाहर)जेहि दिन होइ सो भेंट ।। ६ ।।

शब्दार्थ—कंचन करा=कंचन की कली । निरमरा=निर्मल । बजागि=वज्राग्नि । जाइ जरि सोई=वही जल जाता है । खिनहिं=क्षणभर में । पतार=पाताल में । एहि आगि अपारा=यह आग अपार है । दगध इमि सहै=इस प्रकार की जलन को सहता है । अकसर=अकेला । सावां=श्याम । 'काह कहौं हौं ओंहि सौं जेइ दुख दीन्ह निमेट'=सूआ रानी से पूछता है कि मैं राजा के पास जाकर क्या संदेशा कहूँ जिसने इतना दुखभार वहन किया है । जेही दिन भेंट=जिस दिन उससे साक्षात् भेंट होगी ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भ के संमर्ग से तोता पद्मावती से कह रहा है–हे रानी ! तू निर्मल चन्द्रमा की कला है और रत्नसेन निर्मल सूर्य है और तू स्वर्णकली है तो वह उसमें जड़ा जाने वाला रत्न है । विरह की वज्राग्नि के मध्य कौन आया है ? जो भी कोई इस अग्नि को छू सकेगा; वही जल जायेगा । जल को निकालने और चारों ओर छिड़कने से और प्रकार की साधारण आग तो बुझ जाती है, किन्तु विरह की आग का बुझ पाना संभव नहीं है । तात्पर्य, विरह की अग्नि बढ़ती ही जाती है । अनेक प्रयत्न करने पर भी वह शमन की दशा में नहीं आ पाती है ।

जायसी कहते हैं कि विरहाग्नि के समक्ष सूर्य भी स्थिर नहीं रह सका है । रात-दिन वह जलता रहता है और प्राण धधकते रहते है । परिणामतः वह आकाश में चढ़ता है और कभी पाताल में जाकर छिप जाता है । (यहां सूर्यास्त और सूर्योदय से तात्पर्य है)। इस अपार विरह की अग्नि के कारण सूर्य शांति से स्थिर नहीं रह पाता है । वह जीवन, वस्तुतः धन्य है जो इस आग में जलता है और उसकी जलन सहता है । वह स्वयं जलने पर भी किसी को कुछ भी बतलाता नहीं है कि वह जल रहा है । धीरे-धीरे सुलग कर वह भीतर ही भीतर खाक हो जाता है किन्तु उसकी आग बाहर नहीं फूटती है और न वह उसकी दाह से दुख का नाम पुकारता है ।

हे पद्मावती ! बताओ कि मैं राजा के पास जाकर क्या कहूँ या क्या संदेशा दूं जिसने इतना दुखभार वहन किया है तात्पर्य, इतना कष्ट उठाया है । जिस दिन उसको तुम्हारा साक्षात दर्शन होगा उसी दिन मैं उसके विरह की ज्वाला को शमन करने में समर्थ सिद्ध हो सकूंगा । यह दुख जिसे वह भुगत रहा है, मेरा ही उत्पन्न किया हुआ है । तुम्हारे रूप–सौन्दर्य की चर्चा करके मैंने ही उसके हृदय में विरहाग्नि उत्पन्न की है ।

सुनि कै धनि, 'जारी अस कया' । मन भा मयन, हिये भै मया ।।
देखौं जाइ जरै कस भानू । कंचन जरे अधिक होइ वानू ।।
अब जौं मरै वह पेम बियोगी । हत्या मोहिं, जेहि कारन जोगी ।।
सुनि कै रतन पदारथ राता । हीरामन सौं कह यह बाता ।।

कंचन जौं कसिए कै ताता । तब जानिय दहुँ पीत कि राता ।।
नग कर मरम सो जड़िया जाना । जड़ै जो अस नग देखि बखाना ।।
को अब हाथ सिंघ मुख घालै । को यह बात पिता सौं चालै ।।

सरग इंद्र डरि कांपै, बासुकि डरै पतार ।
कहां सो अस बर प्रिथिमी मोंहि जोग संसार ।। ५ ।।

शब्दार्थ—रतन पदारथ राता=हृदय अनुराग से रंजित हो गया, ओपा=प्रकाश, कामदल कोपा=काम भाव तीव्रता के साथ, कंचन करी=स्वर्णकली, कसिए=कसौटी पर कसना, पीत कि राता=पीला या लाल, पीला सोना मध्यम और लाल चोखा माना जाता है, मरम=रहस्य या मर्म हाथ सिंघ अब घालै=सिंह के मुख में हाथ कौन डाले ? यह मुहावरा है जिसका अर्थ होता है परेशानी कौन मोल ले, पिता सौं चाले=पिता से यह बात कौन चलाये । मोहि जोग=मेरे योग्य, बासुकि=शेष नाग, सरग=स्वर्ग, प्रिथमि=पृथ्वी ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार कवि जायसी कहते हैं कि—

पद्मावती ने हीरामन तोते से रत्नसेन के सम्बन्ध में जब यह सुना कि वह बहुत सुन्दर, महान् और रूपवान है तो उसका हृदय प्रफुल्लित हो गया । सूर्य के प्रकाशित होते ही जैसे सर्वत्र प्रकाश हो जाता है वैसे ही रत्नसेन के आगमन को सुनकर पद्मावती का हृदय प्रकाशित हो गया और प्रसन्नता का वारापार न रहा । उसके हृदय में विरह भाव जाग्रत हो गया और उस पर काम का आक्रमण होने लगा । रत्नसेन के योगी होकर आने की बात सुनकर पद्मावती को भी गर्व का अनुभव हुआ । उसने प्रेम की साधना का सही-सही अनुभव किया । पद्मावती सोचने लगी कि स्वर्ण को आग में तपाकर ही उसके खरेपन और खोटेपन का अनुमान लगाया जा सकता है—तभी पता चलता है कि वह पीला है या लाल, खरा है या खोटा ? स्वर्ण-कलिका को कांच का मिथ्या प्रेम नहीं होता है । वह तभी शोभा पा सकती है जबकि वह रत्न से मिल जाय । व्यंजना यह है कि प्रेम केवल दिखावा मात्र नहीं होता है, उसके सत्यांश की अनुभूति ही प्रभावित करती है । सच्चे रत्नों को जड़ने वाला ही सच्चे रत्न का रहस्य पाता है । वही हीरे में सच्चा रत्न जड़ता है, किन्तु ऐसा कौन साहसी है जो सिंह के मुख में हाथ डाले तात्पर्य, पिता से इस सम्बन्ध की चर्चा करे, मेरे विवाह की बात चलावे ।

पद्मावती कहती है कि मेरे पिता के भय से तो स्वर्ग का इन्द्र और पाताल का वासुकि या शेषनाग भी कांपता है किन्तु मेरे योग्य वरणीय ऐसा व्यक्ति इस पृथ्वी पर कौन होगा जैसा कि रत्नसेन है ?

विशेष—१. इस पद में पद्मावती के हृदय का आकर्षण और यह विचार कि कैसे मैं पिता से इसकी चर्चा करवा सकूंगी बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें भारतीय नारी का आदर्श निहित है ।

तू रानी ससि कंचन-करा । वह नग रतन सूर निरमला ।।
बिरह-बजागि बीच का कोई । आगि जो छुवै जाइ जरि सोई ।।
आगि बुझाइ परे जल गाढ़ै । यह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै ।।
बिरह क आगि सूर जरि कांपा । रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ।।

खिनहिं सरग, खिन जाइ पतारा । थिर न रहै एहि आगि अपारा ॥
धनि सो जीउ दगध इमि सहै । अकसर जरै, न दूसर कहै ॥
सुलगि सुलगि भीतर होइ सावां । परगट होइ न कहै दुख नावां ॥
काह कहौं हौं ओहि सौं जेइ दुख कीन्ह निमेट ।
तेहि दिन आगि करै वह (बाहर) जेहि दिन होइ सो भेंट ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कंचन करा=कंचन की कली । निरमरा=निर्मल । बजागि=वज्राग्नि । जाइ जरि सोई=वही जल जाता है । खिनहिं=क्षणभर में । पतार=पाताल में । एहि आगि अपारा=यह आग अपार है । दगध इमि सहै=इस प्रकार की जलन को सहता है । अकसर=अकेला । सावां=श्याम । 'काह कहौं हौं ओहि सौं जेइ दुख दीन्ह निमेट'=सूआ रानी से पूछता है कि मैं राजा के पास जाकर क्या संदेशा कहूँ जिसने इतना दुखभार वहन किया है । जेहि दिन भेंट=जिस दिन उससे साक्षात् भेंट होगी ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भ के संसर्ग से तोता पद्मावती से कह रहा है—हे रानी ! तू निर्मल चन्द्रमा की कला है और रत्नसेन निर्मल सूर्य है और तू स्वर्णकली है तो वह उसमें जड़ा जाने वाला रत्न है । विरह की वज्राग्नि के मध्य कौन आया है ? जो भी कोई इस अग्नि को छू सकेगा; वही जल जायेगा । जल को निकालने और चारों ओर छिड़कने से और प्रकार की साधारण आग तो बुझ जाती है, किन्तु विरह की आग का बुझ पाना संभव नहीं है । तात्पर्य, विरह की अग्नि बढ़ती ही जाती है । अनेक प्रयत्न करने पर भी वह शमन की दशा में नहीं आ पाती है ।

जायसी कहते हैं कि विरहाग्नि के समक्ष सूर्य भी स्थिर नहीं रह सका है । रात-दिन वह जलता रहता है और प्राण धधकते रहते हैं । परिणामतः वह आकाश में चढ़ता है और कभी पाताल में जाकर छिप जाता है । (यहां सूर्यास्त और सूर्योदय से तात्पर्य है)। इस अपार विरह की अग्नि के कारण सूर्य शांति से स्थिर नहीं रह पाता है । वह जीवन, वस्तुतः धन्य है जो इस आग में जलता है और उसकी जलन सहता है । वह स्वयं जलने पर भी किसी को कुछ भी बतलाता नहीं है कि वह जल रहा है । धीरे-धीरे सुलग कर वह भीतर ही भीतर खाक हो जाता है किन्तु उसकी आग बाहर नहीं फूटती है और न वह उसकी दाह से दुख का नाम पुकारता है ।

हे पद्मावती ! बताओ कि मैं राजा के पास जाकर क्या कहूँ या क्या संदेशा दूं जिसने इतना दुखभार वहन किया है तात्पर्य, इतना कष्ट उठाया है । जिस दिन उसको तुम्हारा साक्षात दर्शन होगा उसी दिन मैं उसके विरह की ज्वाला को शमन करने में समर्थ सिद्ध हो सकूंगा । यह दुख जिसे वह भुगत रहा है, मेरा ही उत्पन्न किया हुआ है । तुम्हारे रूप-सौन्दर्य की चर्चा करके मैंने ही उसके हृदय में विरहाग्नि उत्पन्न की है ।

सुनि कै धनि, 'जारी अस कया' । मन भा मयन, हिये भै मया ॥
देखौं जाइ जरै कस भानू । कंचन जरे अधिक होइ बानू ॥
अब जौं मरै वह पेम-बियोगी । हत्या मोहिं, जेहि कारन जोगी ॥
सुनि कै रतन पदारथ राता । हीरामन सौं कह यह बाता ॥

जौं वह जोग संभारै छाला । पाइहि भुगुति, देहुं जयमाला ॥
आय बसंत कुसल जौं पावौं । पूजा मिस मंडप कहं आवौं ॥
गुरु के बैन फूल हौं गांथे । देखौं नैन, चढ़ावौं माथे ॥

कवंल भवर तुम्ह बरना, मैं माना पुनि सोइ ।
चांद सूर कह चाहिय, जौ रे सूर वह होइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—धनि=धन्या पद्मावती । जारी अस काया=शरीर को जलाया । मया=दया । मयन=कामदेव । बानू=वर्ण या रंगत । छाला=मृगचर्म । फूल हौं गांथे=तुम्हारे कहने से मैंने प्रेम की जयमाला उसके लिए गूंथली है । पूजा मिस=पूजा के बहाने ।

[नोटः—इस पद का डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक करार दिया है, किन्तु इसे अप्रामाणिक मानने का अर्थ है नारी हृदय की उस स्थिति के चित्रण को भुला देना जो प्रेमी के प्रति सहज आस्था और भावना का द्योतक है । अतः शुक्ल जी का मत उचित है और डॉ० गुप्त को भी इसे स्वीकार कर लेना चाहिए ।]

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती के मनोगत भावों का वर्णन किया है जो हीरामन तोते के मुख से रत्नसेन की दशा सुनकर उसने व्यक्त किये । कवि कहता है—

जैसे ही पद्मावती ने सुना कि रत्नसेन ने अपने शरीर को तपा दिया है तो उसके मन म काम भावना उदित हुई । वह विरहाग्नि में जलने लगी । उसका शरीर काम से और मन दया से द्रवित हो उठा । दया रत्नसेन के जोगी रूप के कारण उत्पन्न हुई । उसके मन में इच्छा हुई कि रत्नसेन काम भाव से किस प्रकार जल रहा है । सोना जब आग में तपता है तो उसमें शुद्धि के साथ साथ चमक भी आती जाती है। तात्पर्य यह हैकि रत्नसेन अब विरह-आग में तप कर शरीर और मन दोनों से शुद्ध हो जायगा । अतः अब यदि उसकी हत्या विरह में ही हो गई तो मुझे पाप लगेगा । रत्नसेन की अपने प्रति आसक्ति जान कर उसने हीरामन तोते से कहा कि यदि वह योगी रूप में मेरे निमित्त प्रयत्नशील है, तो उसे अपने काम में लगा रहना चाहिए, उसे निश्चय ही उसका भोग भी प्राप्त होगा । मैं उसके गले में जयमाला या वरमाला डालूंगी । वसन्त पंचमी आ रही है, यदि मैं ठीक-ठाक रही तो उस दिन पूजा के बहाने शिव-मंडप में जाऊंगी और गुरु के वचन रूपी पुष्पों को गूंथ कर और उसे अपने नयनों से देख कर जयमाला प्रदान कर दूंगी ।

पद्मावती कहती है कि तुमने मेरा और उसका वर्णन कमल और भ्रमर के रूप में किया है जो मुझे स्वीकार है । चन्द्रमा (पद्मावती) की कला सूर्य (रत्नसेन) को अवश्य प्राप्त होनी चाहिए । यदि वह सचमुच सूर्य है अर्थात् तपस्वी है तो वह निश्चय ही मुझे पाने का अधिकारी है। तात्पर्य यह है कि पद्मावती यह बता देती है कि यदि वह सच्चा प्रेमी, सच्चा साधक और दृढ़ निश्चय वाला है तो उसका अधिकारी और अभीष्ट उसे मिल जायेगा ।

हीरामन जो सुना रस बाता । पावा पान भएउ मुख राता ॥
चला सुआ, रानी तब कहा । भा जो परावा कैसे रहा ? ॥
जो निति चलै संवारै पांखा । आजु जो रहा, कालिह को राखा ? ॥

न जनौं आजु कहां दहुँ ऊआ । आपहु मिलै, चलेहु मिलि, सूआ ।।
मिलि कै बिछुरि मरन कै आना । कित आएहु जौं चलेहु निदाना ? ।।
सुनु रानी हौं रहतेउ रांधा । कैसे रहौं बचन कर बांधा ।
ताकरि दिरिट ऐसि तुम्ह सेवा । जैसे कुंज मन रहै परेवा ।।
बसै मीन जस धरती, अंबा बसै अकास ।
जौ पिरीत पै दुवौ महं अंत होहिं एक पास ।। ८ ।।

शब्दार्थ—पाएउ पान = विदा होने के लिए पान का बीड़ा पाया । चलै=चलने के निमित्त । परावा=पराया, दूसरों का । संवारै पांखा=पखों को संवारता है । मरन कै आना = मरण के तुल्य । निदाना=अन्ततोगत्वा । रहतेउ रांधा=पास रहता । वचनकर बांधा=वचनबद्ध हूं । ताकर = रत्नसेन की । तुम्ह सेवा=तुम्हारी सेवा में । अंबा=आम का फल ।

ससंदर्भ व्याख्या—संदर्भ, पूर्वानुसार कवि जायसी कहते हैं—

जब हीरामन ने इस प्रकार की रसीली बातें कहीं तो उसने विदाई का पान खाया और उसका मुख लाल हो गया । जब सुआ चला तो रानी ने कहा कि जो पराया है वह अपने साथ सदैव नहीं रह सकता । जो पक्षी सदैव ही चलने के निमित्त अपने पंखों को संभालता है वह अधिक से अधिक आज रह भी गया तो क्या हुआ ? उसे कौन रख सकता है ? न मालूम आज सूर्योदय कैसे हुआ कि तुम्हारे दर्शन हुए और मिलने चले आये; किन्तु तुरन्त ही चलने को तत्पर भी हो गये । पद्मावती कहती है कि मिलना अच्छा है, किन्तु मिलने के बाद बिछुड़ना मृत्यु की ही घड़ी है । यदि तुम्हें जाना ही था तो इधर आये ही क्यों थे ?

तोते ने कहा कि हे रानी ! मैं तो तेरे पास ही सदा रहता, पर इस समय विवशता है, मैं वचनबद्ध हूं ; इसलिए रहना संभव नहीं है । उस रत्नसेन की तुम्हारी सेवा में इस प्रकार दृष्टि है जैसे पक्षी का सहज प्रेम कुंज में लगा रहता है । जायसी कहते हैं कि जब मछली पकाई जाती है तब उसमें आम की खटाई पड़ जाती है, इस प्रकार आम और मछली का संयोग हो जाता है । जिस प्रकार आम और मछली दोनों का प्रेम एक जल के साथ होने से दोनों में प्रेम सम्बन्ध होता है उसी प्रकार मेरा और रत्नसेन, दोनों का प्रेम तुम पर हैं। इस लिए जब दोनों विवाह के द्वारा एक साथ हो जायेंगे तो मैं वहीं पर तुम दोनों के साथ रहूंगा ।

विशेष—इस पद के अन्त में जो दोहा है, उसमें आम और मछली के संयोग का वर्णन किया गया है । सामान्यतया काव्य परम्परा में मछली और आम की प्रीति या संयोग का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु अवधी की लोक-कथाओं और लोक-गीतों में इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है । जायसी के इस प्रयोग का कारण अवधी भाषा की लोक गाथाएं ही रही हैं ।

आवा सुआ बैठ जहं जोगी । मारग नैन, वियोग वियोगी ।।
आइ पेम-रस कहा संदेसा । गोरख मिला, मिला उपदेसा ।।
तुम्ह कहं गुरू मया बहु कीन्हा । कीन्ह अदेस, आदि कहि दीन्हा ।।
सबद, एक उन्ह कहा अकेला । गुरु जस भिंग, फनिग जस चेला ।।
भिंगी ओहि पांखि पै लेई । एकहि बार छीनि जिउ देई ।

ताकहं गुरू करै असि माया । नव औतार देइ, नव काया ।।
होइ अमर जो मारि कै जीया । भौंर कवंल मिलि कै मधु पीया ।।
आवै ऋतु बसंत जब तब मधुकर, तब बासु ।
जोगी जोगी जो इमि करै सिद्धि समापत तासु ।। ६ ।।

शब्दार्थ—मया-दया, अदेस-आज्ञा, आदि-आदिनाथ शिव जो सब नाथों के आदि गुरु हैं। भ्रंगि-वह कीड़ा जो पतंगों को अपने रंग में बदल देता है. फनिगा-पतगा, असि-इस प्रकार की, इमि-इस प्रकार, समापति-समाप्ति । तासु-उसकी ।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि पद्मावती के पास से चलकर सुआ वहां आया जहां जोगी रत्नसेन बैठा था । वियोगी राजा की आंखें पद्मावती के मार्ग पर ही लगी-लगी विरह के दुख में वियोगी बनी हुई थीं । तोते ने आकर उससे प्रेम का संदेश कहा तथा बताया कि गोरख मिले और उनसे गोरखपंथी उपदेश भी उसे मिला । तुम्हारे ऊपर गुरु ने बड़ी कृपा की-तुम्हारा प्रणाम स्वीकार किया और वह आदिम नाथ शंकर को दे दिया है । उन्होंने एकान्त में केवल एक संदेश दिया है-"गुरु भृंगी के समान और शिष्य पतिंगे के समान होता है ।"

जायसी कहते हैं कि भृंगी वही है जो पतिंगे को पंखों पर लेकर एक बार के स्पर्श से ही उसे नवजीवन प्रदान कर दे । व्यंजना यह है कि सच्चा गुरु वहीं है जो शिष्य को परमात्मक जीवन की नवीनता प्रदान कर सके । शिष्य के प्रति गुरु की ऐसी महा कृपा होती है कि वह उसे नवीन जीवन और नया तन प्रदान करता है । इस प्रकार गुरु कृपा से ही शिष्य अमर हो जाता है । मर-कर उसे नवकल्प प्राप्त होता है । भ्रमर की तरह वह शिष्य भी परमात्मा रूपी कमल का मधु पीता है । आशय यह है कि पद्मावती का, मिलन मधु प्राप्त करने का बल, यही रहस्य है ।

जायसी कहते हैं कि बसन्त ऋतु के आने पर ही भ्रमर और सुगंध परस्पर मिलते है । जो योगी इस प्रकार के मधु मिलन को पाने के लिए योग करता है, वही अन्ततोगत्वा सफलता के दर्शन प्राप्त करता है ।

विशेष—इस छन्द में जो संदेश है, वह संकेतात्मक, है नाथसिद्ध पंथ की मान्यता का प्रकाशन भर है, किन्तु उसमें प्रेम रस घोल दिया गया है । यही कवि कौशल है जो महाकवियों की कृतियों में विशिष्टतः दिखाई पड़ता है । वस्तुतः जायसी ने यहां प्रेम रस की चाशनी में नाथ सिद्धों के तांत्रिक और नीरस दर्शन को पका कर मधुर और आकर्षक बना दिया है ।

बसन्त–खण्ड

दैउ दैउ कै सो ऋतु गंवाई । सिरी-पंचमी पहुंची आई ।
भए हुलास नवल ऋतु माहां । खिन न सोहाइ धूप औ छाहां ।।
पदमावति सब सखी हंकारी । जावत सिंघल दीप कै बारी ।।
आजु बसंत नवल ऋतुराजा । पंचमि होइ, जगत सब साजा ।।
नवल सिंगार बनस्पति कीन्हा । सीस परासहि सेंदुर दीन्हा ।।
बिगसि फूल फूले बहु बासा । भौंर आइ लुबुधे चहुं पासा ।।

पियर-पात दुख झरे निपाते । सुख पल्लव उपने होइ राते ।।
अवधि आइ सो पूजी जो हींछा मन कीन्ह ।
चलहु देवगढ़ गोहने, चहहु सो पूजा दीन्ह ।। १ ।।

शब्दार्थ—दउ कै दैउ कै=किसी प्रकार या आसरा देखते-देखते जैसे-तैसे । हंकारा = बुलाया । गवाई=बिताई । खिन न सोहाइ=क्षण भर भी शोभित नहीं होता । जावत=जितनी । बारी=बालिकाएं । नवल=नयी । परासहिं=पलाश । बहु बासा=विविध सुगंधों । निपाते=पत्रविहीन या निष्पत्र । उपने=उत्पन्न या उदित । पूजी=समाप्त हुई । हींछा=इच्छा या अभीष्ट, कामना । गोहने = साथ में ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के वसंत पूजा सम्बन्धी कार्यक्रम की सांकेतिक व्यंजना की है । वे कहते हैं—

जैसे-तैसे करके, बड़ी परेशानी के साथ वह समय बिताया । तब कहीं जाकर वसंत-पंचमी का अवसर आया । नयी ऋतु में वे सभी प्रसन्न हुए और यह उल्लास तथा विह्वलता इतनी बढ़ी कि धूप या छांह एक क्षण भी अच्छी नहीं लगी या लगती थी । पद्मावती ने समय आया जानकर अपनी सभी सखियों को बुलाया—वे सभी सखियां जो भी सिंहलद्वीप में थीं । उनसे कहा कि आज नया वसन्त का दिन है, बड़ा सुहावना है । पंचमी की तिथि है; सम्पूर्ण संसार तैयारी कर रहा है, वनस्पतियों ने भी नया शृंगार किया है । देखो पलाश ने अपने लाल फूलों के द्वारा अपने सिर में लाल सिंदूर सजाया है । इतना ही नहीं, अनेक सुगंध युक्त पुष्प खिलकर प्रफुल्लित हो रहे हैं जिनके निकट लोभी किन्तु आकर्षित होकर भ्रमर चारों ओर से आकर घिर गये हैं । दुःख रूपी पीले पत्ते झड़कर नष्ट हो रहे हैं और सुख रूपी नवीन लाल-लाल पल्लव विकसित हुए हैं । जिस अवधि या समय की मुझे प्रतीक्षा थी, वह आज पूरी हो गई है । हे सखियो ! मैंने मन में कामना कर रखी थी । अतः तुम सब मेरे साथ देव मंदिर में चली चलो । मैं अपने देवता का आराधन करना चाहती हूं ।

विशेष—यह बड़ा सुन्दर पद है । कवि की शक्ति-भर सुन्दर कल्पना और तज्जन्य प्रकृति का सघन चित्रण मन को बड़ा आकर्षित करता है ।

फिरि आन ऋतु-बाजन बाजे । औ सिंगार बारिन्ह सब साजे ।।
कवल-कली पदमावति रानी । होइ मालति जानौं बिगसानी ।।
तारा मंडल पहिरि भल चोला । भरे सीस सब नखत अमोला ।।
सखी कुमोद सहस दस संगा । सबै सुगंध चढ़ाए अंगा ।।
सब राज रायन्ह कै बारी । बरन बरन पहिरे सब सारी ।।
सबै सुरूप, पदमिनी जाती । पान, फूल, सेंदुर सब राती ।।
करहिं किलोल सुरंग-रंगीली । औ चोवा चंदन सब गीली ।।
चहुं दिसि रही सो बासना फुलवारी अस फूली ।
वै बसंत सौं भूलीं, गा बसंत उन्ह भूलि ।। २ ।।

शब्दार्थ—आन—राजा की आज्ञा या डौंडी । बारिन्ह—बालाओं ने । होइ मालति—श्वेत हास द्वारा मालती के समान होकर । बिगसानी—विकसित । अमोल—अनमोल । कुमोद—कुमुदिनी । सहस—सहस्त्र । रायन्ह—

राव राजा। बासना—सुगंध। वसन्त सौं भूलीं—वे सभी सखियां वसन्त शोभा से तन-मन की सुधि भुला बैठीं।

ससंदर्भ व्याख्या—बसन्त पंचमी के अवसर पर चारों ओर खुशी का वातावरण छा गया। राजा ने स्वयं आज्ञा दे दी। इसी का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है—

वसन्त ऋतु की पंचमी के पूजन की सूचना-विषयक राजा की आज्ञा चारों ओर फिर गई। वाद्य बजने लगे। सभी कुमारियों ने अपने अपने शृंगार किए। कमल कली पद्मावती प्रसन्नता से ऐसी हंसी कि मालतीवत् दिखाई देने लगी। उसने तारा मंडल नामक वस्त्र का सुन्दर लहंगा या वस्त्र धारण किया। यह ठीक वैसा ही लगता था जैसे चन्द्रमा ने नक्षत्रों का अनमोल वस्त्र धारण कर लिया हो। उसके साथ दस हजार कुमुदिनी सदृश सखियां थीं जो सभी अपने अंगों में सुगन्धित द्रव्य लगाये हुए थीं।

जायसी कहते हैं कि सभी कन्याएं राजा और राव घराने की थीं। सभी ने अलग-अलग विविध वर्णों की साड़ी पहन रखी थी। सभी रूपवंती और पद्मिनी जाति की थीं। उन सभी के मुख में पान, शरीर पर फूलों का शृंगार और मांग में सिंदूर था जिसके कारण वे लाल दिखाई पड़ती थीं। वे सभी अच्छे रंग वाली रंगीली लड़कियां कुलेलें करती थीं और चन्दन और अंगराज आदि के लेप से वे गीली थीं। चारों दिशाओं में उनकी सुगंध फैली थी जैसे फुलवाड़ी फूलकर महक रही हो। पद्मावती वसन्त के सौन्दर्य को देखकर ठगी सी रह गयी और ठीक वैसे ही वसन्त पद्मावती के सौन्दर्य को देखकर हतप्रभ और विस्मित सा रह गया या भूल-भाल गया।

भै आहा पदमावति चली। छत्तिस कुरि भइ गोहन भली॥
भइं गोरी संग पहिरि पटोरा। बाम्हनि ठांव सहस अंग मोरा॥
अगरवारि गज गौन करेई। वैसिनि पाव हंसगति देई॥
चदेलिनि ठमकहिं पगु धारा। चलीं चोहानि होइ झनकारा॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि प्रेम मधु-माती॥
बानिनि चली सेंदुर दिए मांगा। कयथिनि चलीं समाइं न आंगा॥
पटइनि पहिरि सुरंग तन चोला। औ बरइनि मुख खात तमोला॥
चलीं पउनि सब गोहने फूल डार लेइ हाथ।
बिस्वनाथ कै पूजा, पदमावति के साथ॥ ३॥

शब्दार्थ—आहा=वाह-वाह, धन्य-धन्य, छत्तिस कुलि=छत्तीसों कुलों, पटोरा=वस्त्र अगरवारि=अग्रवालिनें, वैसिन=वैश्य-क्षत्रियों की कुमारियां, ठवकन्ह=ठुमक कर, सोहाग=सौभाग्य, सोनारि=स्वर्ण की नारी या सुन्दर नारी, वानिन=आदत, कयथिन=कथूले या मोटे कपड़े।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में पद्मावती के शिव-मंडप-गमन का वर्णन किया गया है। जायसी कहते हैं कि—

जब पद्मावती ने प्रस्थान किया तो सर्वत्र वाह-वाही होने लगी। छत्तीसों कुलों की राजकुमारियां उसके साथ हो चलीं। कुमारियां तथा पद्मावती रेशमी वस्त्र पहन कर साथ चलदीं। ब्राह्मणियां अनेक स्थलों पर अंग-संचालन के लिए तैयार रहती थीं। अग्रवालिनें हाथियों की चाल से चल रही

थीं और वैश्यों की कुमारियां हंसगामिनी सी धीरे-धीरे चलती थीं। चंदेल कुमारियां ठुमक-ठुमक कर पैर रख रही थीं। चौहान वंशजाएं पदों में घुंघुरू बांधे झुमक-झुमक कर चलती थीं। स्वर्णकारों की स्त्रियां इसलिए शोभा पा रही थीं क्योंकि उनके पास अलंकरण के साधन थे। कलावारों या शराबियों की लड़कियां प्रेम का मधु पीकर मस्त चाल से चल रही थीं। बनैनी स्त्रियां मांग में सिन्दूर धारण करके चल रही थीं। कायस्थिनें अपने गर्व में नहीं समा पा रही थीं। पटहारिनें रंगीन लहंगा पहने हुए थीं और तम्बोलिनें मुख में पान धारण किये शोभायमान लग रही थीं। इस प्रकार सभी वर्गों की स्त्रियां अपने-अपने आभूषणों में चल रही थीं।

जायसी कहते है कि अपनी-अपनी अभिलाषाओं का फल पाने वाली सभी स्त्रियां अपने-अपने हाथों में फूलों की डालियां लेकर चलीं। इस प्रकार विश्वनाथ अर्थात् शंकर की पूजा के निमित्त सभी सहेलियां साथ-साथ चल रही थीं।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी का लक्ष्य काव्य की सरसता प्रतिष्ठित करने का उतना नहीं है जितना कि यह प्रतिपादित करने का कि सिंहल में विविध जाति की स्त्रियां थीं। सामाजिक दृष्टि को प्रमुखता देने के कारण यह सब वर्णन हुआ है।

कवंल सहायं चलीं फुलवारी। फर फूलन सब करहिं धमारी ॥
आपु आपु महं करहिं जोहारू। यह बसंत सब कर तिवहारू ॥
चहै मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लिएउ सब कोई ॥
फागु खेलि पुनि दाहब होरी। सैंतब खेह, उड़ाउब झोरी ॥
आजु साज पुनि दिवस न दूजा। खेलि बसंत लेहु कै पूजा ॥
भा आयसु पदमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा ॥
तस हम कहं होइहि रखवारी। पुनि हम कहां, कहां यह बारी ॥
पुनि रे चलब घर आपने पूजि बिसेसर-देव।
जेहि काहुहि होइ खेलना आजु खेलि हंसि लेव ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—धमारी=होली की क्रीड़ा, जोहारू=प्रणाम, तिवहारू=त्यौहार, मनोरा झूमक=एक प्रकार के गीत जिन्हें स्त्रियां झुंड बांधकर गाती हैं, इसके प्रत्येक पद में "मनोरा झूमक हो" वाक्य आता है, सैंतब=समेट कर इकट्ठा करेंगी, खेह=धूल, भा आयसु=आज्ञा हुई, करब हम फेरा=हम फिर यहां आकर फेरे नहीं दे सकेंगी, तस हम कहं=वहां हमारी, विसेसर-देव=विश्वेश्वर देव या शिवजी, जेहि काहुकि होइ खेलना=जिस किसी को खेलना हो।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भ में जायसी कह रहे हैं—

कमलवत् कोमला और सुन्दरी पद्मावती की सहायक के रूप में अनेक फुलवाड़ी सखियां चल पड़ीं। सभी अपने-अपने मन में फल-फूलों की कामनाएं संजोये हुए थीं। वे परस्पर प्रणाम करती और कहती कि देखो सहेलियो यह परस्पर सभी का त्योहार है। आज का दिन वह दिन है जबकि 'मनोरा झूमक' वाले गीत होने चाहिए। सभी फल-फूलों के साथ चलना

चाहिए। हम सभी पहले फाग खेलेंगी और फिर होली जलायेंगी और फिर मिट्टी को समेटकर उसकी होली उड़ावेंगी।

जायसी कहते हैं कि सखियों ने कहा कि आज जैसा मनभावन दिन दूसरा नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आज का दिन बड़ा शुभ है। अतः इस अवसर का उपयोग करना चाहिए। आज देवता का पूजन करो और बसन्त खेलो। पद्मावती के शब्द थे—हम फिर दुबारा यहां लौट पाने में असमर्थ होंगी वरन् यहां से जाने पर तो हमारी रखवाली होगी। फिर कहां हम और कहां यह वाटिका होगी? यहां से विश्वेश्वर शंकर जी की पूजा करके हमें घर चलना चाहिए। अतः आज हस खेल लो—फिर दुबारा यह अवसर आये न आये क्या पता? हर्षा भरा यह आलम ऐसा गुजरे कि हम केवल इसकी याद भर करके जीवित रह सकें।

काहू गही आंब कै डारा। काहू जांबु बिरह अति झारा ॥
कोइ नारंग कोइ झाड़ चिरौंजी। कोइ कटहर, बड़हर, कोइ न्योंजी ॥
कोइ दारिउ कोइ दाख औ खीरी। कोइ सदाफर, तुरंज जंभीरी ॥
कोइ जायफर, लौंग, सुपारी। कोइ नरियर, कोइ गुवा, छोहारी ॥
कोइ बिजौर, करौंदा-जूरी। कोइ अमिली, कोइ महुअ, खजूरी ॥
काहू हरफारेवरि कसौंदा। कोइ अंवरा, कोइ राय करौंदा ॥
काहू गही केरा कै घौरी। काहू हाथ परी निबकौरी ॥
काहु पाई नीयरे कोउ गए किछु दूरि।
काहू खेल भएउ विष, काहू अमृत-मूरि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—आंब=आम का वृक्ष, कच्ची उम्र या अप्राप्त यौवना, झारा=जलाया, झुलसी सी; नारंग=नारंग या बिना रंग की, झाड़=झाड़ी, कटहर=कठोर (फारसी लिपि में कट्टर) वड़हर=बड़हल का वृक्ष या बढ़ा हुआ, न्योंजी=चिलगोजा या लीची—निराश जी वाली, खीरी=खिरनी (सांखोरी—फारसी लिपि), सदाफर=सदाफर वृक्ष, सदा फलने वाला, तुरंज=एक प्रकार का नीबू, जंभीरी=जभाई-लेना, गुवा सुपारी=दक्खिनी सुपारी, बिजौर=बिजौरा नीबू=बिना जोड़ी या पुरुष के, नरियल=नर+यरी=पुरुष से यारी या मित्रता करने वाली, अंबलि=इमली, अनमिली=अस्पृश्य या पुरुष से अछूती हर फारे वरि=हर एक साथ मिलने वाली, घौरी=केले की घौर, निवंकौरी=नीम का फल, कड़वाहट।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने बताया है कि भिन्न-भिन्न लड़कियों ने भिन्न-भिन्न पेड़ों की डाली पकड़कर फल तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। किसी ने आम की डाली पकड़ी और किसी ने विरह की जलाई हुई काली जमुनी की डाल को पकड़कर खूब झकझोरा, किसी ने नारंगी, किसी ने चिरौंजी किसी ने कटहल, किसी ने बडहल, किसी ने लीची, किसी ने अनार पकड़े। इसी प्रकार दाख, खिरनी, सदाफर, जंभीरी नीबू, जायफर, लौंग, सुपारी, कमरख, गुवा सुपारी, छुहारा, बिजौर नारियल, महुआ, इमली, खजूर, हरपारेउरी, कसौंदा, आंवला, वेर, करौंदा, केला की घौर और नीम की फली आदि फल सभी ने प्राप्त किए। किसी भाग्यशालिनी को तो निकट ही फल मिल गये, किसी को थोड़ी दूर। किसी को खेल अमृत हो गया और किसी को विष हुआ।

[नोट—वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस पद का श्लेषपरक अर्थ भी किया है। सामान्यतः जायसी की वर्णन पद्धति में नाम गिनाने की प्रवृति प्रमुख है, किन्तु फिर भी इसका श्लेषपरक अर्थ इस प्रकार किया गया है। इस श्लिष्टार्थ से विभिन्न प्रकार की स्त्रियों का वर्णन सामने आ जाता है—

"कोई कच्ची उम्र की अप्राप्तयौवना थी जिसे पति ने असमय में ही ग्रहण कर लिया था। कोई विरह से जामुन की भांति जलकर काली होगई थी। कोई बिना रंग की थी और कोई चिरौंजी मेवा खाती थी। कोई कठोर दिल की थी और किसी का जी बड़ा था। किसी के जी में न्यूनता या निराशा थी। किसी का दिल फट गया था। कोई दाख की भांति सूख गई थी। कोई सदा फलने वाली थी, तो कोई रंज में जंभाई लेती रहती थीं। कोई जी में प्रसन्न थी, तो कोई लावण्य में पूरी उतरती थी। किसी के पास वस्तुएं कम थी और कोई अपना सब कुछ खोकर हारी थी। कोई बिना जोड़ी की थी और कोई पुरुष से यारी जोड़े हुए थी। कोई पति से अनमिली थी और कोई अपनी जोड़ी के लिए मधुप को बुला रही थीं। कोई हरजाई थी और नरसमूह से मिलती थी। कोई बिना वर की कुमारी थी तो कोई किसी वीर को रौंद रही थी। कोई क्रीड़ा के ढेर में लगी थी तो किसी के हाथ केवल कड़वाहट ही लगी थी। किसी ने अपना पति निकट ही पा लिया था और किसी को दूर जाना पड़ा। किसी को जीवन का खेल विष सिद्ध हुआ और किसी को अमृत।"]

पुनि बीनहिं सब फूल सहेली। खोजहिं आस-पास सब बेली।।
कोइ केवड़ा, कोइ चंप नेवारी। कोइ केतकि मालति फुलवारी।।
कोइ सदबरग, कुंद, कोइ करना। कोइ चमेलि, नागेसर बरना।।
कोइ गुलाल, सुदरसन, कूजा। कोइ सोनजरद पाव भल पूजा।।
कोइ मौलसिरि, पुहुप बकौरी। कोइ रूपमंजरी गौरी।।
कोइ सिंगारहार तेहि पाहां। कोइ सेवती, कदम के छाहां।।
कोइ चंदन फूलहिं जनु फूली। कोइ अजान-बीरो तर भूली।।
(कोइ) फूल पाव, कोइ पाती, जेहि के हाथ जो आंट।
(कोइ) हार चीर अरुझाना, जहां छुवै तहं कांट।। ६।।

शब्दार्थ:—बीनहिं=चुनना, रह बेली=बेलियां, कूजा=कुब्जक या सफेद जंगली गुलाब, गौरी=श्वेत मल्लिका बकौरी=बकावली अजानबीरो=एक बड़ा पेड़ जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसके नीचे जाने से आदमी सुध-बुध भूल जाता है।

ससंदर्भ व्याख्या:—जायसी पूर्व संदर्भानुसार कहने लगे—

फिर सभी सहेलियां फूल चुनने लगीं, जो फूल जिसके पास था उसी को वे तोड़ने लगीं। केवड़ा, चंपा, नेवारी, केतकी, मालती, सदबरग, कुन्द, करना, चमेली, नागकेसर, गुलाब, सुदर्शन, सफेद जंगली गुलाब, सोन-जरद, मौलिश्री, गुलबकावली, रूपमंजरी, गुनगौरी, हारसिंगार, सेवती, कदम्ब, चन्दन और अजानबिरवा के नीचे सभी कुछ भूलगई। किसी को फूल मिला और किसी को पत्ती, जिसे जो प्राप्त हो सका वही ले लिया। किसी का कपड़ा और हार वृक्षों में उलझ गया तो किसी ने जहां भी छुआ है, वहीं कांटा दिखाई दिया।

फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई । झुंड बांधि कै पंचम गाई ।।
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरी । मादर, तूर, झांझ चहु फेरी ।।
सिंगि, सख, डफ बाजन बाजे । बंसी, महुग्रर सुर सग साजे ।।
और कहिय जो बाजन भले । भांति भांति सब बाजत चले ।।
रथहिं चढ़ी सब रूप-सोहाई । लेइ बसत मठ-मंडप सिधाई ।।
नवल बसत, नवल सब बारी । सेंदुर बुक्का होइ धमारी ।।
खिनहिं चलहिं, खिन चांचरि होई । नाच कूद भूला सब कोई ।।
सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात ।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ।। ७ ।।

शब्दार्थ:—पंचम=पचम स्वर में । भेरी=नगाड़े । मादर=मर्दल, एक प्रकार का मृदग । धमारी=होली का खेल । झुंडबांधि कैं=एक सखी को बीच में करके सभी सखियां तालियां बजातीं, नाचती हैं तब झुंड बांधकर क्रीड़ा होने लगती है । चांचरि=चर्चरी गीत, हाथों में दो छोटे डडे लेकर लड़के-लड़कियों की टोली का मडली नृत्य, वसन्त में गाया जाने वाला राग । रात=लाल । सेंदुर खेह उड़ा अस=सिंदूर और धूल इतनी उड़ी । गगन मयउ सब रात=सम्पूर्ण आकाश लाल होगया ।

ससंदर्भ व्याख्या:—कवि जायसी इन पंक्तियों में सखियों के परस्पर क्रीड़ा-भाव का वर्णन कर रहे हैं । वे कहते हैं:—

फल-फूलों से लदी हुई सभी डालियां झुकाई गईं । टोलियां बनाकर सभी सखियों ने वसंत पंचमी के गीत गाये । ढोल, डडे और भेरी बाजे बजने लगे । मर्दल, तूरी और झांझ चारों ओर घूमकर बजाये गये। शख, सींगी, ढफ या ढ़फली भी साथ-साथ बजने लगे । बांसुरी और महुग्रर के स्वर उमड़ने लगे और भी जितने अच्छे बाजे थे, तरह-तरह से सभी बजने लगे या बजाये जाने लगे । रूप और शोभा से युक्त बालाएं रथ पर चढ़ चढ़कर चलीं और वसन्त लेकर शिव मडप की ओर चल पड़ीं । नया वसन्त था । नयी उम्र की वे बालिकाएं थीं । सभी उमगित्न हो होकर सिंदूर की बुक्कियां छोड़ने लगीं; उछल कूद होने लगी । वे क्षण-क्षण में रुक-रुककर चंचल-क्रीड़ा-नृत्य और कौतुक करती थीं । इस सब रास रंग में वे अपने को भूल गयी थीं ।

जायसी कहते हैं कि खेल-खेल में सिंदूर की धूल इतनी उड़ी कि सारा आकाश लाल होगया, सम्पूर्ण धरती रक्तिमवर्णा होगई । इतना ही नहीं सारे वन में पेड़ों के पत्ते लाल रंग के होगये ।

विशेष:—इसमें रस-रास का बड़ा सरस और मनोहरी वर्णन किया गया है । दोहे में कवि-कल्पना बड़ी काव्यात्मक बन पड़ी है । अतिशयोक्ति होते हुए भी हास्यास्पद नहीं है ।

एहि विधि खेलति सिंघलरानी । महादेव-मढ़ जाइ तुलानी ।।
सकल देवता देखै लागे । दिस्टि पाप सब ततछन भागे ।
एइ कबिलास इंद्र कै अछरी । की कहुँ तें आई परमेसरी ।।
कोई कहै पदमिनी आई । कोइ कहै ससि नखत तराई ।।
कोई कहै फूली फुलवारी । फूल ऐसि देखहु सब बारी ।।
एक सुरूप औ सुंदरि सारी । जानहु दिया सकल महि बारी ।।

मुरछि परं जोई मुख जोहै । जानहु मिरिग दियारहि मोहै ।
कोई परा भौंर होइ, बास लीन्ह जनु चांप ।
कोइ पतग भा दीपक, कोइ अधजर तन कांप ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—जाइ तुलानी = जा पहुंची । सकल देवता=सम्पूर्ण देवतागण । ततछन=तत्क्षण । अछरी=अप्सरा । ऐसि=ऐसी । दियारहि=मृगतृष्णा । मोहे=आकर्षित करना । चांप=चपा, चपे की महक भौंरा नहीं सह सकता । अधजर=अधजला ।

ससदर्भ व्याख्याः—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने शिव-मंदिर पर सहेलियों के साथ पहुंचती राजकुमारी पद्मावती का वर्णन किया है । कवि कहता है:—

सिंहल की राजकन्या अनेक क्रीड़ाए करती हुई शिव के मंडप में जा पहुंची । उसके पहुंचते ही सभी देवता उसे देखने लगे और देखने से उनकी दृष्टियों पाप क्षणान्तर में भाग गये । उन्होंने सोचा, जो स्वर्ग लोक की अथवा इन्द्र की अप्सरायें कही जाती हैं, वे ये है या, ऐसा प्रतीत होता है कि ये परमेश्वर की विशिष्ट सृष्टियां है या मातृकाएं है । किसी ने कहा ये पद्मिनी स्त्रियां हैं । कोई बोला ये चांद की तारिकाए हैं । किसी ने कहा—अरे ! ये तो पुष्प सज्जित फुलवारियां है । इस प्रकार की चर्चा करते-करते सभी उनके रूप-सौन्दर्य को देखकर भ्रमित और चकित रह गये । उनके अपार सौन्दर्य और आकर्षण का एक कारण तो यह था कि वे सुन्दर थीं और फिर सिंदूर से सजी-धजी थीं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो धरती पर दीपक जला दिये गये हों ।

जायसी कहते हैं कि उन नारियों को जिस-जिसने देखा मूर्च्छित हो गये मानो मृग दीपकों को देखकर उन पर आसक्त होगये हों । कोई कोई तो ऐसा वेसुध होगया जैसे भ्रमर चंपे की सुगंध म हो जाता है । तात्पर्य है कि भ्रमर जैसे चंपा की गंध को सहन नही कर पाता है उसी प्रकार बहुत से दर्शक उनकी शरीर की कान्ति को देख नहीं सके और वेहोश हो गये । कुछ ऐसे भी थे जो दीप के पतंग के समान हो गये जो उस पर जलकर उस अधजले शरीर से कम्पायमान हो जाता है, अधजला सा होकर कांपने लगता है ।

पदमावति गं देव दुवारा । भीतर मंडप कीन्ह पैसारा ॥
देवहि ससै भा जिउ केरा । भागों केहि दिसि मंडप घेरा ॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा । तिसरे आइ चढ़ाएसि पूजा ॥
फर फूलन्ह सब मडप भरावा । चदन अगर देव नहवावा ॥
लेइ सेंदुर आगे भै खरी । परसि देव पुनि पायन्ह परी ॥
'और सहेली सबै बियाहीं । मो कह देव ! कतहुँ वर नाहीं ॥
हौं निरगुन जेइ कीन्ह न सेवा । गुनि निरगुनि दाता, तुम देवा ॥
वर सौं जोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन हींछा पूजै वेगि चढ़ावहुँ आनि' ॥ ६ ॥

शब्दार्थ.—देवदुवारा=देवता के द्वार पर, पैसारा=प्रवेश, संसै=संशय हुआ, नहवावा=स्नान करना, एक जोहार कीन्ह औ दूजा=दो बार प्रणाम किया, बियाहीं=विवाहिता, कतहुं=कहीं भी, निरगुन=गुणरहित,

मोहि मेरवहु—मुझे मिलादो, कलस जाति हौं मानि= मैं इच्छा पूर्ण होने पर एक कलश चढ़ाऊंगी, यह कहे जाती हूँ।

ससंदर्भ व्याख्या:—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं—

पद्मावती देवता के दरवाजे पर पहुंची, उसने मंडप के भीतर प्रवेश किया। उसे प्रवेश करते देखकर मंदिर के देवता को भी सन्देह हुआ कि चारों ओर से मेरा मंडप बालिकाओं ने कैसे घेर लिया है। मुझे किस ओर से निकल भागना चाहिए। पद्मावती ने एक बार प्रणाम किया और फिर तुरंत ही दूसरी बार भी प्रणाम किया और तीसरी बार प्रणाम करके अपनी पूजा सामग्री देव को अर्पित की। जायसी कहते हैं कि फल-फूलों से सम्पूर्ण शिव-मंडप भर गया। पद्मावती ने चन्दन और अगर से देव को स्नान कराया। देवता के सिंदूर का टीका भरकर विनत भाव से आगे जाकर खड़ी हुई। देवता के स्पर्श के पश्चात् वह उसके पांवों पर गिर पड़ी। उसने देवता से प्रार्थना की कि हे देव! मेरी अन्य सहेलियां विवाहिता हैं, क्या मेरे लिए कहीं भी कोई वर नहीं है। यह ठीक है कि मैंने तुम्हारी पूजा नहीं की और इसी कारण मैं निर्गुण हूँ और निर्गुण होने के कारण ही मैं तुम्हारी पूजा नहीं कर सकी। हे देवता! तुम तो गुण और निर्गुण को प्रदान करने वाले हो। तात्पर्य, इन सभी बातों से ऊंचे हो, सर्वोपरि हो। तुम्हें किसी की सेवा की भी क्या आवश्यकता है?

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने देव से विनयपूर्वक कहा कि हे देव! मेरे निमित्त किसी वर को शीघ्र ही मुझसे मिलाओ। मैं कलश चढ़ाने की मनौती करके जा रही हूँ। जिस दिन मैं सुहागिनी हूंगी, मन-वांछित वर प्राप्त करूंगी। यदि यह होगया तो मैं निश्चय ही आकर कलश चढ़ाऊंगी।

हौंछि हौंछि बिनवा जस जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भइ रानी॥
उतरु को देइ, देव मरि गएउ। सबत अकूत मंडप महं भएउ॥
काटि पवारा जैस परेवा। सोएउ ईस, और को देवा॥
भा बिनु जिउ नहिं आवत ओझा। बिष भइ पूरि, काल भा गोझा॥
जो देखै जनु बिसहर-डसा। देखि चरित पदमावति हंसा॥
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोइ, को मानै सेवा?॥
को हौंछा पूरै, दुख खोवा। जेहि मानै आए सोइ सोवा॥
जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल नहिं डोल।
धर कोइ जीव न जानौं मुख रे बकत कुबोल॥ १०॥

शब्दार्थ:—हौंछि-हौंछि=इच्छा के साथ। बिनवा=विनय करने लगा। कर जोरि=हाथ जोड़कर। अकूत=अभौतिक या दिव्य। पवारा=फैंक दिया। ओझा=उपाध्याय। गोझा=एक पकवान, पिराक। खोवा=खोव, खोवे। बिसहर=विसधर।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों, में जायसी रानी पद्मावती की विनय का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

रानी पद्मावती ने इच्छापूर्वक, जैसे वह विनय करना जानती थी, विनय की। इसके पश्चात् उसने देवता को हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा उसके समक्ष खड़ी हो गई। वह खड़ी-खड़ी देवता के आशीर्वाद की कामना करने लगी। किन्तु वहां पर उत्तरस्वरूप आशीर्वाद देने वाला कोई नहीं था।

देवता तो समाप्त हो चुका था। देव मृत्यु का दिव्य और पावन शब्द गगन-मंडप से उत्पन्न हुआ। पक्षी जिस प्रकार काटकर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार शंकर ही मूर्च्छित होगया, और देव ताओं की तो चर्चा ही क्या है? सभी पुजारी और ओझा लोग भी जीव-विहीन से होगये प्रसाद की पूड़ियां विष होगईं, और गूझियां मृत्युरूपिणी होगई। जिसे भी देखा वही मानो सांप से डसा गया है। यह देखकर पद्मावती हस पड़ी।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने हसकर कहा कि हम देवता को प्रसन्न करने के लिए आये थे, किन्तु यहां तो देवता स्वयं मूर्छित हो गये हैं। अब ऐसा कौन है जो हमारी कामनाओं को पूर्ण कर सकेगा तथा हमारे जीवन में व्याप्त दुखों का हरण कर सकेगा। जिसकी पूजा और मनौती लेकर या मानकर हम यहां आई थीं, वही प्रगाढ़ निद्रा में सो गया है। जायसी वर्णन करते हैं कि पद्मावती की सखियां जिसे भी पकड़ पकड़ कर उठाती थीं, उसी का सिर बेचैनी से डोलने लगता था। किसी के धड़ में जीवन ही नहीं था तो कोई केवल असंगत और अनापशनाप बातें कहता जाता था।

तत्खन एक सखी बिहसानी। कौतुक आइ न देखहु रानी ॥
पुरुब द्वार मढ़ जोगी छाए। न जानौं कौन देस तें आए ॥
जनु उन्ह जोग तंत तन खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला ॥
उन्ह मह एक गुरू जो कहावा। जनु गुड़ देइ काहू बौरावा ॥
कुंवर बतीसौ लच्छन राता। दसए लछन कहै एक बाता ॥
जानौं आहि गोपिचंद जोगी। की सो आहि भरथरी बियोगी ॥
वै पिंगला गए कजरी आरन। ए सिंघल आए केहि कारन? ॥

यह मूरति, यह मुद्रा, हम न देख अवधूत।
जानौं होहि न जोगी कोइ राजा कर पूत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—बिहसानी=प्रसन्न होती हुई। पुरुबद्वार=पूर्व के दरवाजे पर। न जानौं=न मालूम। निसरे=निकले हैं। गुड़=मन्त्र। बौरावा=पागल हुआ। दसए लच्छन=योगियों के बत्तीसों लक्षणों मे दसवां लक्षण सत्य माना जाता है यहां उसकी ओर ही संकेत है। पिंगला=पिंगला नाड़ी साधने के लिए अथवा पिंगला नाम की अपनी रानी के कारण। कजरी आरन=कदली वन।

ससंदर्भ व्याख्या—संदर्भ पूर्वानुसार जायसी इस पद में वर्णन करते हैं कि जब पद्मावती देवताओं को बेहोशी को देखती हंस रही थी, तभी एक सखी ने आकर उससे कहा कि—

उसी क्षण एक सखी हास्यमुद्रा में फुदकती हुई आई और कहने लगी हे रानी! क्या तुम इस वैचित्र्यपूर्ण चमत्कार को नहीं देख रही हो? मन्दिर के पूर्व दरवाजे पर कुछ योगी छाये हुए हैं। उनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वे किस देश से आये हैं। हां; इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने नवीन योग मन्त्र पाया है और सभी सिद्ध बनने के लिए शिष्य बन कर निकले हैं। उनमें से एक गुरु है, पर विदित ऐसा होता है कि उसको किसी ने मन्त्र देकर पागल बना दिया है। तात्पर्य यह है कि वह अपनी ही धुन में मस्त बौखलाया और बौराया सा लगता है। (तात्पर्य रत्नसेन से है जो 'पद्मा' के वियोग में पगलाया सा दीखता है।)

जायसी वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह राजकुमार बत्तीसों लक्षणों से युक्त प्रतीत होता है। वह या तो धर्म के लक्षणों में से 'सत्य' कहने वाला भर्तृहरि है या गोपीचन्द। भर्तृहरि पिंगला के कारण कदली वन गये थे। न मालूम यह किस कारण से सिंहलद्वीप आया हुआ है। सखियाँ कहती हैं कि ऐसी मूर्ति और ऐसी मुद्रा का पहले कभी वर्णन और दर्शन नहीं किया गया है। ऐसा अवधूत पहले नहीं देखा है। इसे देखकर राजकुमारी पद्मावती ऐसा लगता है कि वह कोई योगी नहीं है, वरन् किसी राजा का राजकुंवर है तात्पर्य राजघराने का बत्तीसों लक्षणों से युक्त राजकुमार है।

सुनि सो बात रानी रथ चढ़ी। कहं अस जोगी देखौं मढ़ी॥
लेइ संग सखी कीन्ह तहं फेरा। जोगिन्ह आइ अपछरन्ह घेरा॥
नयन कचोर पेम-मद-भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सहुं ढरे॥
जोगी दिस्टि दिस्टि सौं लीन्हा। नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा॥
जेहि मद चढ़ा परा तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले॥
परा माति गोरख कर चेला। जिउ तन छांड़ि सरग कहं खेला॥
किंगरी गहे जो हुत बैरागी। मरतिहु बार उहै धुनि लागी॥
जेहि धधा जाकर मन लागै सपनेहु सूझ सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं करहिं पेम मन बंध॥ १२॥

शब्दार्थ—अस जोगी=ऐसा योगी जिसका वर्णन सखी ने किया था। अपछरन्ह=अप्सराओं ने, कचोर=कटोरा, पेम-मद-भरे=प्रेम के मद से भरे हुए, सुदिस्टि=सुन्दर दृष्टि, जोगी सहुं=जोगी के सामने, योगी की ओर, नैन रोपी नैनहिं जिउ दीन्हा=आंखों में ही पद्मावती के नेत्रों के मद को लेकर बेसुध हो गया, सिउ=शिविका।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी ने इन पंक्तियों में पद्मावती के शिविका पर चढ़कर योगियों की ओर जाने का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

पद्मावती ने जैसे ही राजकुंवर योगी की बात सुनी वैसे ही वह एक शिविका पर चढ़ कर उस योगी दल की ओर उन्मुख होती हुई चल पड़ी। उसने सोचा कि मैं चलकर देखूं तो सही वह योगी कौन है और कहां का है। परिणामत: सखियों को साथ लेकर वह मढ़ में पहुंची तो लगा कि उस अकेले रत्नसेन को अप्सराओं ने घेर लिया हो। योगी के नैन-कटोरे प्रेम के मद से भरे हुए थे। योगियों की दृष्टि से दृष्टि मिली। तात्पर्य यह है कि जैसे ही योगी की दृष्टि पद्मावती पर पड़ी त्योंही उसके नैन-कटोरे छलक पड़े। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो योगी की दृष्टि ने उसकी दृष्टि के ढ़ाले हुए मद का पी लिया। आंखों ने आंखों को मानो प्राण दे दिये। कवीश्वर जायसी कहते हैं कि जो पद्मावती का मधु चखना चाहता था अब स्वयं उसके चंगुल में पड़ गया था। मद को एक कटोरी पीकर ही जैसे उसकी सुध-बुध जाती रही। गोरख के योगमार्ग का शिष्य होकर भी वह रूप के मद से मात खाकर मतवाला हो गया। उसके प्राण शरीर त्यागकर मानो स्वर्ग गमन कर चुके थे। किंगरी धारण करने वाले योगी को मरण-समय भी पद्मावती-पद्मावती की रट लगी हुई थी। तात्पर्य यह है कि वह पद्मावत

के प्यार का भूखा था। अतः उसे प्रतिक्षण वही, उसी के नाम की रट लगी हुई थी।

कवि जायसी कहते हैं कि जिस कार्य की ओर व्यक्ति की दृष्टि लग जाती है वह सपने में भी वही काम करता दिखाई देता है जो उसके मन में होता है। तपस्वी लोगों का भी यही हाल रहता है। वे ऊपर से तप साधते हैं, किन्तु उनका मन प्रेम-पाश में आबद्ध होता है।

विशेष—१. वर्णन रसात्मक है और बताया गया है कि योगी तप साधकर भी प्रेम-योगी बने रहते हैं।

२. तीसरी पंक्ति में रूपक का सफल निर्वाह किया गया है।

नैन कचारे पेम-मद-भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सहुं ढ़रे।

पदमावति जस सुना बखानू। सहस-करा देखेसि तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा। अधिको सूत, सीर तन लागा॥
तब चदन आखर हिय लिखे। भीख लेइ तुइं जोग न सिखे॥
घरी आइ तब गा तूं सोई। कैसे भुगुति परापति होई?॥
अब जौं सूर अहौ ससि राता। आएउ चढ़ि सो गगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखिन सौं कही। इहै ठांव हौं बारति रही॥
परगट होहुं त होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतगू॥
जा सहुं हौं चख हेरौं सोइ ठांव जिउ देइ।
एहि दुख कतहुं न निसरौं, को हत्या असि लेइ?॥१३॥

शब्दार्थ—जस—जैसा, सहस करा—हजारों कलाएं, मेलेसि—डालना, मकु—शायद, सूत—सोया हुआ, सीर—शीतल या ठडा, आखर हिय लिखे—हृदय पर अक्षर लिखे भीख लेइ—भीख लेने का, घरी—पल या घटिका, परापति—प्राप्त, इहै ठांव—इसी स्थान पर, बाराति रही—बचाती रही, जा सहुं—जिसकी ओर, चख हेरौं—नेत्रों से देखना, जिउदेइ—प्राण दे देता है या समाप्त हो जाता है कतहुं न निसरौ—कहीं भी नहीं निकलती हूं, असि—ऐसी।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी पद्मावती को देखते ही रत्नसेन की मूर्च्छा का तथा पद्मा' की चातुरी और रूप-गर्विता का परिचय दे रहे हैं। वे इसी वर्णन के संदर्भ मे कह रहे हैं—

पद्मावती ने हीरामन तोते के मुख से जैसी प्रशंसा रत्नसेन की सुनी थी, उसे सहस्त्रों कलाओं के समान वैसा ही विकसित और प्रकाशित पाया था। सूर्य के समान रत्नसेन के शरीर पर चन्दन लगा हुआ था कि शायद एक क्षण मात्र के लिए वह जग जाय। किन्तु परिणाम विपरीत निकला। रत्नसेन ठंडक पाकर और भी अधिक अचेत हो गया। उसकी अचेतावस्था को देखकर पद्मावती ने चन्दन के अक्षर से उसके हृदय पर यह लिख दिया, हे जोगी! तुमने भिक्षा लेने की तरकीब अभी तक नहीं जानी है। तात्पर्य है योगी तो हो गये हो, किन्तु उसके अनुकूल सतर्कता अभी भी नहीं सीख पाये हो। जब मैं तेरे द्वार पर आई तभी तू सो गया। तुझे भिक्षा— प्रेम की भिक्षा—कैसे प्राप्त हो सकती है। अब यदि तू सूर्य है और मुझ चन्द्रमा में पूर्णतः आसक्त है तो

सातवें आकाश पर चढ़ कर आना'। यह संदेश लिख कर पद्मावती ने सखी से कहा कि मैं इस स्थान पर आने में इसीलिए संकोच कर रही थी।

पद्मावती ने अपनी सखी से कहा कि स्पष्टीकरण या बात के खुल जाने के भय से ही मैं आने में हिचकिचा रही थी। यदि यह बात खुल गई तो रंग में भंग हो जायगा। रत्नसेन जैसे ही जाग कर उठेगा वैसे ही वियोग ज्वाला में जल उठेगा। उसकी जलन ठीक वैसी ही होगी जैसी दीपक पर पतंगे की होती है। इसी संदर्भ में पद्मावती सोचती है कि मैं भी कैसी हूँ जिस किसी की ओर भी आंख उठाकर देखती हूँ वह उसी स्थान पर मूर्च्छित हो जाता है, प्राणों का बलिदान कर देता है। यही, दुख है कि मैं कभी भी किसी भी क्षण घर से बाहर नहीं निकलती हूँ क्योंकि यह हत्या मैं अपने सिर पर धारण करके हत्यारिन या पाप-भागिनी नहीं बनना चाहती हूँ।

विशेष—पद्मावती का यह कथन बड़ा हास्यात्मक लगता है "एहि दुख कबहुँ न निसरौं, को हत्या असि लेइ ?"

कीन्ह पयान सवन्ह रथ हांका। परबत छांड़ि सिंघलगढ़ ताका॥
बलि भए सबै देवता बली। हत्यारिन हत्या लेइ चली॥
को अस हितू मुए गह बाहीं। जौं पै जिउ अपने घट नाहीं॥
जौं लहि जिउ आपन सब कोई। बिनु जिउ कोइ न आपन होई॥
भाइ बंधु औ मीत पियारा। बिनु जिउ घरी न राखै पारा॥
बिनु जिउ पिंड छार कर कूरा। छार मिलावै सो हित पूरा॥
तेहि जिउ बिनु अब मरि भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा॥

परी कया भुइं लोटै, कहां, रे जिउ बलि भीउं।
को उठाइ बैठारै बाज पियारे जीव॥ १४॥

शब्दार्थ—पयान=प्रस्थान। परबत छांड़ि=पर्वत को छोड़ कर। बलि गये=बलिदान हो गये। अस हितू=ऐसा हितू। घट=हृदय। मीत पियारा=मित्र और प्रियजन। छार=धूल या मिट्टी। मरि भा=मर गया या मर चुका। बलि भीउ=बलि और भीम कहलाने वाला। बाज=बिना, बग़ैर या छोड़कर।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के लौटने का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

पद्मावती ने अपनी सभी सखियों के साथ प्रस्थान किया, अपने-अपने रथ हांके या चलाये। पर्वत मार्ग या स्थल को छोड़कर सभी ने सिंहलगढ़ की राह ली। उस बलि से सभी देवता बली हो गये। तात्पर्य यह है कि पद्मावती के दिव्य दर्शन से शिव तथा अन्य देवता भी मृतप्राय से या मूर्च्छित हो गये। वह हत्यारिन पद्मावती हत्या का पाप अपने सिर पर लेकर चल पड़ी। संसार में ऐसा कौन है जो कि हित के साथ मरे हुए की बांह पकड़ने को तैयार हो। यदि अपने शरीर में ही प्राण नहीं हैं तो कौन किसका सगा सम्बन्धी होगा? जब तक अपने प्राण हैं तभी तक सब अपने हैं। अपने प्राणों का विसर्जन होने पर कोई भी ऐसा नहीं है जो कि सहारा दे सके। तात्पर्य यह है कि प्राण न रहने पर सब पराये हो जाते हैं।

जायसी कहते हैं कि भाई-बंधु और प्यारे लोग कोई भी प्राण रहित को एक क्षण भी अपने पास नहीं रख सकते हैं। बिना जीव के तो शरीर मिट्टी का कूड़ा मात्र है। जो इस शरीर को मिट्टी में मिल दे अर्थात् इसे मिट्टी समझ कर उसके प्रति आसक्तिहीन हो जाय, वही पूरा हितकारी है। उस जीव के अभाव में ही राजा मर गया है, अब कौन उठ कर गर्व से गरजेगा। जायसी ने वर्णन किया है कि राजा का शरीर पृथ्वी पर पड़ा रुदन कर रहा था। उसे यह अनुभव हो रहा था कि अब उसका जीव या प्राण कहाँ चला गया है। प्राण प्यारे की अनुपस्थिति में अब उसके शरीर को कौन उठा कर बैठा सकता है? तात्पर्य सभी अपने-अपने प्रियजनों की मदद तभी तक करते हैं जब तक कि प्रेम होता है।

विशेष—१. इसमें पद्मावती के विचार सहज और सरल हैं।
२. वर्णन रसात्मक है और उपदेश प्रधान भी।

पदमावति सो मंदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी॥
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान कह सखी हँकारी॥
देव पूजि जस आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ, आली॥
जनु ससि उदय पुरुब दिसि लीन्हा। औ रवि उदय पछिउँ दिसि कीन्हा॥
पुनि चलि सूर चाँद पहँ आवा। चांद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा॥
दिन औ राति भए जनु एका। राम आइ रावन गढ़ छेंका॥
तस किछु कहा न जाइ निखेवा। अरजुन-बान राहु गा बेधा॥
जनहुँ लंक सब लूटी, हनुवँ बिधंसी बारि।
जागि उठिउँ अस देखत, सखि कहु सपन बिचारि॥ १५॥

शब्दार्थ—पईठी=प्रवेश किया, बईठी=बैठ गयी, सूती=सोते समय, बिहारी=विहार आदि की कथा, बिहान=सवेरा, जस आइउँ काली=जैसे कल आई, आली=सखी, पछिउँ=पश्चिम दिशा, मेरावा=मिलन, एका=एक, निखेवा=निषिद्ध, राहू=रोहू, मछली, राहु गा बेधा=मत्स्यवेध हुआ, बिधसी=विध्वंस।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व पद के प्रसंग में जायसी कहते हैं—पद्मावती अपने अन्तःपुर में वापस लौट आई और प्रफुल्ल चित्त हो सिंहासन पर जा बैठी। उसने दिन भर के विहार और विलासपूर्ण भ्रमण की कथा सखियों से कह डाली। रात को निद्रा आई। सवेरा हुआ तो प्रातः वेला में सभी सखियों को बुलाकर उसने अपने एक स्वप्न का वर्णन किया—

पद्मावती ने कहा कि जब कल मैं देव पूजा से लौट कर आई तो हे सखियो! मैंने एक स्वप्न देखा। ऐसा देखा, मानो चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित हुआ है और चन्द्र सूर्य दोनों का मधुर मिलन हुआ। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे दिन और रात मिलकर एक हो गये हैं अथवा राम ने आकर रावण का किला घेर लिया हो किन्तु कुछ ऐसा हुआ कि उसे वर्णित नहीं किया जा सकता है। वह था—कि अर्जुन के बाण ने द्रौपदी हित राधा को बेध डाला।

जायसी कहते हैं कि उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सम्पूर्ण लंका अथवा कटि लूट ली गई और हनुमान ने पूरी शक्ति के साथ वाटिका को भा

बाला को उजाड़ दिया। बालिका के अर्थ में उसके यौवन और कौमार्य को विध्वस कर डाला। हे सखियो! यह भयानक स्वप्न देख कर मैं चौंक कर जग गई। अब मैं बहुत चिन्तित हूँ। हे सखियो! तुम सभी मुझे इस रहस्य को उद्घाटित करके समझाओ।

विशेष—इस पद में जायसी ने यह स्वप्न दिखा कर आगे पद्मावती और रत्नसेन के संयोग का वर्णन कर दिया है। यह बड़ा मनोवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक धारा पर इसकी व्याख्या भी की जा सकती है

सखी सो बोली सपन-बिचारू। कालिह जो गइहु देव के बारू॥
पूजि मनाइहु बहुतै भांती। परसन आइ भए तुम्ह राती॥
सूरुज पुरुष चांद तुम रानी। अस बर दैउ मेरावै आनी॥
पच्छिउं खंड कर राजा कोई। सो आवा बर तुम्ह कह होई॥
किछु पुनि जूझ लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि सगरामा॥
चांद सुरुज सौं होइ बियाहू। बारि बिधंसब बेधब राहू॥
जस ऊषा कहं अनिरुध मिला। मेटि न जाइ लिखा पुरबिला॥
सुख सोहाग जो तुम्ह कहं पान फूल रस भोग।
आजु कालिह भा चाहै, अस सपने क संजोग॥ १६॥

शब्दार्थः—सपन विचारू—स्वप्न को विचार कर, कालिह—कल, देव के बारू—दवता के दरवाजे पर, मनाइहु—मनाया या प्रसन्न किया, परसन आइ भये तुम राती—वही देव स्वप्न में पिछली रात आकर तुम पर प्रसन्न हुआ है, वर दैउ—देव ऐसा वर तुझे प्रदान करेगा, पच्छिउं—पश्चिम खण्ड, सगरामा—संग्राम, वियाहू—विवाह, वारि विधसव—संभोग के समय शृंगार के अस्त व्यस्त होने का संकेत है, पुरबिला—पूर्वजन्म के कर्म, अस सपने क सजोग—इस स्वप्न का संयोग या व्यवस्था होगी।

ससदर्भ व्याख्याः—प्रसगपूर्वानुसार। इन पंक्तियों में एक सखी पद्मावती के स्वप्न का विश्लेषण कर रही है। वह कहती है कि हे सखि सुनो!

सखि, स्वप्न का विचार करके कहने लगी कि तुम कल मंदिर में देवता को प्रसन्न करने गई थी। वहां तुमने अनेक प्रकार से देवता को पूजार्चन आदि के द्वारा मनाया था और उसी का यह परिणाम है कि वह तुमसे प्रसन्न होगया है और तुम्हें यह स्वप्न प्रदान किया है। वास्तविकता यह है कि सूर्य पुरुष है और तुम चांद सी रानी हो। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य और चांद स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार देवता ने तुम्हें उससे मिलाया है। वही सूर्य तुम्हारा वरण करेगा, फिर तुम जैसी रूपमती स्त्री के लिए तुम्हारे पिता से उसका युद्ध होगा। तुम्हारे पिता रूपी रावण से उसका ऐसे ही संग्राम होगा जैसे राम का हुआ था। पश्चिम खण्ड का राजा आयेगा और वरण कर तुम्हें ले जायेगा।

जायसी कहते हैं कि सखियों ने बताया कि अन्ततोगत्वा चांद और सूर्य का, अर्थात् तुम्हारा और उस पश्चिम-खण्ड के राजा का परिणय होगा। वाटिका या वाला का विध्वंस भी तुम्हारे परस्पर मिलन का सूचक है। तात्पर्य यह है कि वह तुम्हारे कौमार्य को संभोग करके बींध डालेगा। यही अर्जुन के द्वारा राहू मछली का बींधा जाना समझो या राधावेध समझो। सखि ने बताया कि

जैसे उषा को स्वप्न में अनिरूद्ध पति मिला था, उसी प्रकार तुमने भी अपना पति पा लिया है। तात्पय, तुम्हें स्वप्न में जिसके दर्शन हुए है वही तुम्हारा पति परमेश्वर बनेगा। हे कुमारिके ! पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर लिखा गया भाग्य कभी मिथ्या साबित नहीं होगा। तुम्हारे सौभाग्य में जो सुख सौभाग्य, पान, फूल और रसादि का भोग लिखा हुआ है वह आजकल में ही तुझे उपलब्ध हो जायगा। हे रानी ! तुम्हारे इस स्वप्न का यही फल है।

विशेष:—१. इसमें स्वप्न की व्याख्या बड़ी संगत है।
२. जायसी पूर्वजन्म के कर्मों को ही भाग्य मानते हैं।

राजा-रत्नसेन-सती-खण्ड

कै बसंत पदमावति गई। राजहि तब बसंत सुधि भई ।।
जो जागा न बसत न बारी। ना वह खेल, न खेलनहारी ।।
ना वह ओहि कर रूप सुहाई। गै हेराइ, पुनि दिस्टि न आई ।।
फूल झरे, सूखी फुलवारी। दीठि परी उकठी सब बारी ।।
केइ यह बसत बसत उजारा ? । गा सो चांद, अथवा लेइ तारा ।।
अब तेहि बिनु जग भा अंधकूपा। वह सुख छांह, जरौं दुख धूपा ।।
बिरह दवा को जरत सिरावा ? । को पीतम सौं करै मेरावा ? ।।

हिये देख तव चदन खेवरा, मिलि कै लिखा बिछोव।
हाथ मींजि सिर धुनि कै रोवै जो निंचित अस सोव ।। १ ।।

शब्दार्थ—सुधि भई—स्मृति हुई या स्मरण हो आया। बसन्त न बारी न तो वसन्त दिखाई दिया और न वाटिका या बाला ही। ओहि—उसका। गै हेराइ—खो देना। पुनि दिस्टि न आई—दुबारा दृष्टिगत नहीं हुई। उकठी—उकठ गई या विनष्ट हो गई। उजारा—उजाड़ देना या नष्ट कर देना। अंधकूपा—संसार अंधा कुंआ बन गया। दुख धूपा—दुख की धूप में। विरह-दवा—विरह की दावाग्नि। सिरावा—शीतल करे। मेरावा—मिलाप। खेवरा—खौरा हुआ, चित्रित किया या लगाया हुआ। बिछोव—वियोग। हाथमींजि—हाथ मलकर। सिरधुनि कै—सिर मार-मार कर।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के मढ़ से चले जाने के पश्चात् रत्नसेन की वियोग व्यथा का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते है—

वसन्तोत्सव मनाकर पद्मावती तो चली गई, किन्तु राजा को कोई होश नहीं हुआ। पद्मावती के पूजन करके चले जाने के पश्चात् वसन्त की सुधि हुई। जब उसे होश आया तब न तो वसन्त था और न वहां उसकी शोभा थी। इतना ही नहीं वह न तो खेल था और न खेल खेलने वाली वह खिलाड़िन पद्मावती ही थी, और न उसकी सहेलियां थी। वे सभी अदृश्य हो गईं और फिर दुबारा दृष्टिगत नहीं हुईं।

सभी फूल झर चुके थे और फुलवारियां भी सूख गई थीं। उसे सब स्थानों पर सूखी हुई झाड़ियां ही दृष्टिगोचर हो रही थीं। यह दृश्य देखकर रत्नसेन ने सोचा कि किसने इस चमन को नष्ट कर डाला है। ऐसा कौन है जो इसे उजाड़ कर चला गया है। पद्मावती—चन्द्र अपनी सखि-तारिकाओं

के साथ विलीन हो गया है । तात्पर्य यह है कि न तो सहेलियां, है और न उसकी साख ही हैं । रत्नसेन उसके वियोग में व्यथित होने लगा और उसने विचार कर कहा कि अब तो ससार में उस के बिना कुछ भी दिखाई नही देता है । सारा संसार अन्धकूप के समान अन्धा नजर आता है । वह सुख की शीतल छाया अब कहां है जो उसके आगमन स सारे वातावरण में छा गई थी । अब तो उसके वियोग में दुख की धूप गर्मी पैदा करने लगी है । अब इस विरह की दावाग्नि को कौन शीतलता प्रदान कर सकता है ? तात्पर्य, यह विरहाग्नि मेरी प्रिया पद्मावती के बिना अब शांत नहीं हो सकती है । अतः कौन मुझे उससे मिलायेगा ?

इतने मे रत्नसेन ने अपना हृदय देखा जिस पर चंदन लगा हुआ था जिसमें मिलकर वियोगानुभूति का उल्लेख था । यह पढ़कर रत्नसेन हाथ मल कर पछताने लगा और सिर धुनने लगा कि अब कैसे उससे मिलन होगा ? यह वही रत्नसेन था जो अभी थोड़ी देर पहले बेहोश था और दीन दुनिया से पूरी तरह बेखबर था ।

जस बिछोह जस मीन दुहेला । जल हुंत काढ़ि अगिनि मह मेला ॥
चदन-आंक दाग हिय परे । बुझहिं न ते आखर परजरे ॥
जनु सर-आगि होइ हिय लागे । सब तन दागि सिंघ बन दागे ॥
जरहिं मिरिग बन खंड तेहि ज्वाला । औ ते जरहिं बैठ तेहि छाला ॥
कित ते आंक लिखे जौं सोवा । मकु आंकन्ह तेइ करत बिछोवा ॥
जस दुसतहि साकुंतला । मधवानलहि काम कंदला ॥
भा बिछोह जस नलहि दमावति । नैना मूंदि छपी पदमावति ॥

आइ बसंत जो छपि रहा होइ फूलन्ह के भेस ।
केहि बिधि पावौं भौंर होइ, कौन गुरू-उपदेस ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जस बिछोह—जैसे वियुक्त । दुहेला—दुखी । मह मेला—डाल देना । चंदन-आंक—चन्दन के अक्षर । परजरे—प्रज्ज्वलित । सब तन दागि सिंघ बन दागे—मानो उन्हीं अग्निबाणों से झुलस कर सिंह के शरीर में दाग बन गये हैं और बन मे आग लगा करती है । कित ते आंक लिखे जौं सोवा—जब सोया था तब वे अंक क्यों लिखे गये; दूसरे पक्ष में जब जीव अज्ञान दशा में गर्भ में रहता है तब भाग्य का लेख क्यों लिखा जाता है । दुसंतहिं—दुष्यंत को । साकुंतला—शकुन्तला । दमावति—दमयन्ती । फूलन्ह के भेस—फूलों के वेश में ।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व सदर्भानुसार, कवि जायसी इन पंक्तियों में रत्नसेन के हृदय की विरह-भावनाओं का प्रकाशन कर रहे हैं । वे कहते हैं—

जैसे जल का वियोग मछली के निमित्त कष्टदायी प्रतीत होता है वैसे ही राजा को कष्ट का अनुभव हुआ । उसे लगा मानो जल से निकल कर (या मिलन) अग्नि में प्रवेश किया हो । जो चन्दन के अक्षर पद्मावती ने उसके वक्षस्थल पर अंकित किये थे वे विरहाग्नि मे जल कर दाग के रूप में दिखाई देने लगे । वे प्रज्ज्वलित चन्दन के अक्षर बुझाये न बुझे, जलते ही रहे । ऐसा लगता था कि वे अक्षर जलती हुई शलाकाओं से लिखे गये थे । उस दावाग्नि ने सम्पूर्ण जगत को जला डाला और वन के सम्पूर्ण सिंह दागित हो

गये हैं। तात्पर्य यह है कि वन के सभी सिंह इससे दाग दिये गये या स्वयं ही जलकर दागी बन गये। सम्पूर्ण वन के मृग भी उससे जलने लगे। वे लोग भी विरहाग्नि से जलने लगे जो मृग-छाला पर बैठे हुए थे।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने रत्नसेन के हृदय पर चंदन के अंक क्यों लिखे ? जिनकी शीतलता के कारण मैं (वह रत्नसेन) और भी प्रगाढ़ निद्रा में सो गया, यदि ये अंक उसे लिखने ही थे तो उसे वियोग भी नहीं करना चाहिए था, दुष्यंत को शकुन्तला माधवानल को कामकंदला और नल को दमयंती का विछोह हुआ था, उसी प्रकार ये अंक मुझे विरह के कारण दुखदायी प्रतीत हुए हैं और परिणामतः विरहाग्नि में जला रहे हैं। अब तो वह पद्मावती मेरी आंखों को बन्द कर या अपने रूप-सौन्दर्य के कारण छिपाकर चली गई है। तात्पर्य मुझे मूर्छित करके चली गई है या छिप गई है।

मेरी मनोकामनाओं की पूर्ति का समय आया, उससे पूर्व ही वह चली गई है। वसन्त की वेला में मिलने की जो शुभ घड़ी आयी थी, वह टल गई। मेरी प्रिया वसन्त के इन फूलों में कहीं छिप गई है। मैं अब किस प्रकार भ्रमर बनकर उसे देख सकने में समर्थ हो सकूंगा। इस समय उसे पाने के लिए ऐसा कौनसा गुरु है जो मुझे सद्उपदेश दे और मैं अपनी प्रिया पद्मावती के दर्शन कर सकूं।

विशेष:—१. पद का 'सर-आगि' शब्द विवादास्पद रहा है, किन्तु है नहीं। इसका पाठान्तर 'सरागिनि' मिलता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में इसका अर्थ शराग्नि (जलते हुए सरकंडे की अग्नि) कहा है।

रोवै रतन-माल जनु चूरा । जहं होइ ठाढ़, होइ तहं कूरा ।।
कहां वसंत औ कोकिल-बैना । कहां कुसुम अति बेधा नैना ।।
कहां सो मूरति परी जो डीठी । काढ़ि लिहेसि जिउ हिये पईठी ।।
कहां सो देस दरस जेहि लाहा ? । जौं सुबसंत करीलहि काहा ? ।।
पात-बिछोह रूख जो फूला । सो महुआ रोवै अस मूला ।।
टपकैं महुअ आंसु तस परहीं । होइ महुआ बसंत ज्यों झरहीं ।।
मोर बसत सो पदमिनि बारी । जेहि बिन भएउ बसंत उजारी ।।

पावा नवल बसत पुनि बहु आरति बहु चोप ।
ऐस न जाना अंत ही पात झरहिं, होइ कोप ।। ३ ।।

शब्दार्थ:—माल=माला, हार । कूरा=कूट या ढेर । कोकिल-बैना=कोयल के बैन । काढि लिहेसि—निकाल लिये । हिये पईठी=हृदय में प्रवेश किया । कहां सो देस दरस जेहि लाहा=वसन्त के दर्शन से लाभ उठाने वाला अच्छा देश चाहिए, सो कहां है ? करील के वन में वसंत के जाने से ही क्या ? आरति=दुख । चोप=चाह । कोंप=कोंपल । पात झरहिं=पत्तों का झड़ना।

ससंदर्भ व्याख्या:—जायसी कहते हैं कि राजा के रुदन के रक्तिम आंसू इस प्रकार बिखरते थे मानो माला के माणिक्य टूट-टूटकर बिखर रहे हों । जहां कहीं भी वह खड़ा होता था, वहां पर आंसुओं की माणिक्य माला का ढेर लग जाता था । रोता हुआ रत्नसेन वसन्त के सौन्दर्य और कोकिल की मधुर कूक को ढूंढता प्रतीत होता था । वह कहने लगा—केतकी का फूल (पद्मावती) अब कहां चली गई जिसने मेरे नेत्र—भ्रमरों को बींधा था । वह मूर्ति अब कहां छिप गई जो एकबारगी दिखाई तो दी थी, किन्तु न मालूम कहां चली गई । वह दृष्टि साधारण नहीं थी, वह तो मेरे प्राणों में प्रवेश करके उन्हें निकाल कर ले गई है ।

जायसी कहते हैं कि रत्नसेन वियोगानुभव करता हुआ कहने लगा कि अब वह (पद्मावती) कहां गई, उसका दरस-स्पर्श भी अब संभव नहीं है । अब तक तो दर्शन और स्पर्श ही मेरा एकमात्र आधार था, किन्तु अब वह भी नहीं रहा है । अतः मेरा जीवन नीरस और बेमानी प्रतीत हो रहा है । सच भी है, प्रिया के अभाव में जीवन का क्या मूल्य है ? भले ही सर्वत्र वसंत की छटा बिखरती दिखाई दे रही हो, किन्तु प्रियाहीन प्राणों की तो करील की सी स्थिति है । व्यंजना है कि भले ही पद्मावती आई हो, किन्तु मुझ रत्नसेन को तो दुर्भाग्य ही प्राप्त हो सका है । जायसी आगे की पंक्तियों में रत्नसेन की विरह-व्यथा को व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार पत्तों के बिना महुआ का वृक्ष विकसित होता हुआ भी रोता हुआ सा रहता है उसी प्रकार की स्थिति रत्नसेन की है । वह भी पद्मावती के वियोग में नीरस, व्यथित और रुदन करता सा प्रतीत हो रहा है । वास्तविकता यह है कि पद्मावती के चले जाने से जो दुख रत्नसेन को हुआ, वह चंदन के अक्षरों को हृदय पर लिखे देखकर द्विगुणित हो गया है । परिणामतः रत्नसेन पद्मावती के बिछोह में भूला सा, ठगा सा और भरमाया सा चारों ओर घूमता दिखाई देता है ।

वसन्त ऋतु में जैसे महुआ झरता है, उसी प्रकार राजा के आंसू झरते थे । जिस प्रकार महुए के निमित्त वसन्त ही में पतझर होता है उसी भांति

रत्नसेन के जीवन-वृक्ष पर भी पतझर आगया है। यौवन के वसंत में भी वह पतझड़ का अनुभव करने लगा। राजा ने सोचा कि मेरा वसन्त तो कुमारी पद्मिनी थी, जिस से बिछुड़ कर मेरा वसन्त उजड़ गया है या विनष्ट हो गया है। रत्नसेन कहता है कि परेशानी और व्यथा के अतिरेक से मैंने वह (पद्मावती) रत्न प्राप्त किया था, वह भी चला गया। मुझे इस बात का परिचय न था कि प्रेम का इतना दयनीय और व्यथित अन्त होगा? यह तो बहुत कुछ ऐसा हुआ जैसे कोंपल रूप में ही पत्ते खिलने से पूर्व ही झड़ गये हों। तात्पर्य यह है कि अभी-अभी तो मेरा प्रेम विकसित हुआ था, किन्तु पूर्णतः विकसित होने से पूर्व ही वह मर गया या मुरझा गया।

विशेष—कुछ प्रतियों में इस पद के अन्त का दोहा इस प्रकार मिलता है।

मिलि, जो प्रीतम बिछुरहीं, सो जानहिं एह भेव।
प्रान रहें घट भीतर, कोइ अन्त न पावै भेव।

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा॥
आपनि नाव चढ़ै जो देई। सो तौ पार उतारै लेई॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुआ क सेंवर तू भा मोरा॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसे बूड़ं मझ धारा॥
पाहन सेवा कहाँ पसीजा?। जनम न ओव होइ जो भीजा॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकत को भार लेइ सिर दूजा?॥
काहे न जिय सोइ निरासा। मुए जियत मन जाकरि आसा॥
सिध तरेंदा जेइ गहा पार भए तेहि साथ।
ते पै बूड़े बाउरे भेंड़-पूँछि जिन्ह हाथ॥ ४॥

शब्दार्थ—मलिछ—म्लेच्छ। बिसवासी—विश्वासघाती। लागि—लिए। टेकेउ—सहारा लिया था। सेंवर—शाल्मली या सेमल। जरम—जन्म या जीवन भर। चहै भा पारा—पार उतरना चाहता है। बूडै—डूब जाता है। पाहन सेवा—पत्थर की सेवा, तात्पर्य कठोर हृदय वाले व्यक्ति से है। ओद-गीला, आर्द्र। तरेंदा—तैरने वाला या काठ या बेड़ा। पूँछि—दुम।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्वपद के प्रसंग में रत्नसेन खीझता हुआ मंडप के देव से कहता है—

हे विश्वासघाती देवता! तू बड़ा म्लेच्छ है। मुझे अफसोस है कि मैं ने तेरी आराधना क्यों की? जो स्वयं अपनी नौका को चढ़ने के लिए देता है, वह तो लेकर अवश्य ही पार उतरता है। अच्छे फल के लिए ही मैंने तेरे चरणों का सहारा लिया था, किन्तु तू तो मेरे लिए तोते का सेमल हो गया। तात्पर्य है कि जैसे तोता सेमल के फल को देखकर बड़ी आशाएं हृदय में संजोता है, किन्तु जब वह पक जाता है तब उसमें चोंच मारता है। चोंच मारने के पश्चात् उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, केवल खाली रूई के गाले से दिखाई देते हैं। परिणामतः वह निराश हो जाता है। ठीक उसी तोते की सी स्थिति का आज मैं भी अनुभव कर रहा हूं।

जायसी कहते हैं कि जो कोई भी पत्थर पर चढ़कर पार उतरना चाहता है वह ऐसे ही मंझधार में डूब जाता है। तात्पर्य है कि पत्थर पर चढ़-

कर कैसे पार हो सकता है ? पत्थर की सेवा करने से कोई भी फल नहीं निकलता है । इसी कारण यह मंडप का देव भी नहीं पसीजा । यह मण्डप का देव व्यर्थ ही रहा । यह तो जन्म भर व्यर्थ ही भीगता रहता है । इतना भीगने पर भी वह पत्थर कभी भी हरा-भरा नहीं हो पाता है। अतः इस पत्थर-देवकी पूजा करना व्यर्थ है । रत्नसेन ने कहा कि वह पागल कहलाता है जो कि पत्थर की पूजा करता है । शक्ति के भार को कोई दूसरा कैसे ले सकता है । व्यजना है कि ईश्वर की शक्ति पत्थर के देवता में नहीं आ सकती है । इसलिए उसी निराश प्रेमी की पूजा ही क्यों की जाए? जो व्यक्ति तैरने वाले शक्तिशाली सिंह के बेड़े को पकड़ते हैं, वे उसके साथ पार हो जाते हैं, परन्तु जिनके हाथ भेड़ की दुम पकड़ते हैं, वे धार के किनारे पर ही डूब जाते हैं ।

विशेष—इस पद में मूर्ति पूजा का खण्डन किया गया है तथा एकेश्वरवाद के सिद्धांत की प्रतिष्ठापना की गई है ।

देव कहा सुनु, बउरे राजा । देवहि अगुमन मारा गाजा ।।
जौं पहिलेहि अपने सिर परई । सो का काहुक धरहरि करई ।।
पदमावति राजा कै बारी । आइ सखिन्ह सह बदन उघारी ।।
जैस चांद गोहने सब तारा । परेउं भुलाइ देखि उजियारा ।।
चमकहि दसन बीजु कै नाई । नैन चक्र जमकात भवांई ।।
हौं तेहि दीप पतंग होइ परा । जिउ जम काढ़ि सरग लेइ धरा ।।
बहुरि न जानौं दहुँ का भई । दहुं कबिलास कि कहुँ अपसई ।।

अब हौं मरौ निसांसी, हिये न आवै सांस ।
रोगिया की को चालै, बैदहि जहां उपास ? ।। ५ ।।

शब्दार्थ—बउरे—पागल । अगुमन—आगमन । गाजा—वज्र । धरहरि—धर पकड़, बचाव । गोहने—साथ में या सेवा में । जमकात—यमराज की कटारी । भंवही—घूमते थे । बहुरि—फिर । अपसई—गायब हो गई । निसांसी—स्वास विहीन । उपास—उपवास । बैदहि—वैद्य को । उघारी—खोलना, दिखाना ।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पत्थर के देवता के द्वारा राजा रत्नसेन के प्रति कहलाया है । देव कहता है—

रत्नसेन की पगलाई बातों को सुनकर मन्दिर के देवता ने कहा—हे बावले राजा सुनो ! मैं तो पहले ही वज्र से पीड़ित था क्योंकि पद्मावती ने रूप-सौन्दर्य का जादू मेरे ऊपर भी कर दिया था; तात्पर्य मैं मूर्च्छित हो गया था । अतः जिस व्यक्ति के सिर पर पहले ही आपदा आ पड़ी हो वह दूसरे व्यक्ति की रक्षा कैसे कर सकता है ।

जायसी कहते हैं कि देवता ने राजा को समझाया । उसने कहा कि राजकुमारी पद्मावती जब अपनी सखियों के साथ मण्डप में पधारी तो उसके आधे उघड़े हुए चन्द्रवदन को देखकर मैं होश हवास खो बैठा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चन्द्रमा समस्त तारागणों के साथ पृथ्वी पर उतर आया हो । वास्तव में हे राजा ! मैं पद्मावती के चन्द्रवदन को देखकर तथा उससे विकीर्ण होने वाली चन्द्रप्रभा को देखकर आत्मविस्मृत सा हो गया । उसके दांत विद्युत की भांति चमकते थे और अपनी छटा बिखेरते थे । उसके चंचल

नेत्र यमराज के चक्र की भांति चतुर्दिक घूमते थे। मैं उसी में (रूप–सौन्दर्य में) दीपक का पतंगा होकर गिर पड़ा और झुलसने लगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे यमराज ने मेरे प्राणों को पकड़ कर स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया हो। देवता ने बताया कि मुझे पता नहीं कि इसके पश्चात् क्या हुआ—वह स्वर्ग को चली गई या कहीं पास ही गायब हो गई। जायसी कहते हैं कि इस दृश्य के साथ देव श्वासविहीन होकर मरणासन्न स्थिति में पहुंच गया। हृदय में होने वाली सांसों का संचारण रुक गया। देवता ने कहा कि हे राजा! जहां वैद्य ही उपवास कर रहा हो वहां रोगी का उपचार करने के लिए कौन व्यवस्था करे?

विशेष—इस पद में मन्दिर के देवता की हृदयगत स्थिति का मूल्यांकन किया गया है। दोहे में दृष्टांत अलंकार की सुन्दर योजना है।

आनहि दोस देहुं का काहू। संगी कया, मया नहिं ताहू॥
हता पियारा मीत बिछोई। साथ न लाग आपु गै सोई॥
का मैं कीन्ह जो काया पोषी। दूषन मोहिं, आप निरदोषी॥
फागु बसंत खेलि गइ गोरी। मोहि तन लाइ बिरह कै होरी॥
अब अस कहां छार सिर मेलौं। छार जो होहुं फाग तब खेलौं॥
कित तप कीन्ह छांड़ि कै राजू। गएउ अहार न भा सिध काजू॥
पाएउं नहिं होइ जोगी जती। अब सर चढ़ौं जरौं जस सती॥
आइ जो पीतम फिरि गा, मिला न आइ बसंत।
अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत॥ ६॥

शब्दार्थ—आनहि—दूसरे को। मया—कृपा। हता—मारा। पोसी—पोषण करना। दूषन—दोष देना। सिध—सिद्ध। भसंमत—भस्म करना।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में राजा रत्नसेन ने देवता से जो कहा उसका वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं—

राजा ने कहा—हे देव! मेरे पक्ष में हो जाओ। मैं किसी दूसरे को क्या दोष दूं। मेरा साथ देने वाला शरीर ही मुझ पर कृपालु नहीं तो किसी दूसरे की क्या बात है। इस शरीर ने मुझे मार डाला है और मेरी प्रेमिका से मेरा वियोग करा दिया है। मेरी प्रिया पद्मावती आई थी और चली भी गई, किन्तु यह मेरा शरीर उसके साथ नहीं जा सका, यह तो यहां सोता ही रहा। मैंने यह कैसी भूल की जो इस कृतघ्नी शरीर को पाल कर बड़ा किया। हे देव! दोषी तो मैं हूं। आप तो निर्दोष हैं।

जायसी कहते हैं कि राजा रत्नसेन ने देवता से कहा कि वह गोरी पद्मावती तो बसंत का फाग खेलकर चली गई किन्तु जाते-जाते मेरे शरीर में विरह की आग होली की भांति प्रज्वलित कर गई। रत्नसेन कहता है कि हे देवता! अब मैं अपने शरीर पर कौन सी राख डालूं जिससे मिट्टी में मिलकर प्रिया पद्मावती के साथ फाग खेलूं। राजा चिंतित होता हुआ कहता है कि मैंने जो तप किया वह व्यर्थ ही चला गया और मैंने व्यर्थ ही राजपाट, आहार-विहार छोड़ा किन्तु मेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ। मैं योगी यती होकर भी पद्मावती को प्राप्त नहीं कर सका। अतः अब मैं चिता पर चढ़कर अपने शरीर को जला दूंगा। मेरी प्रियतमा आयी और चली गई, किन्तु

में बसंत रूपी पदमावती को प्राप्त न कर सका। अतः अब मैं अपने शरीर में होली की भांति आग जलाकर इसे हमेशा के लिए जला दूंगा। तात्पर्य यह है कि मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता हूँ।

विशेष—जायसी यह बताना चाहते हैं कि सूफी सम्प्रदाय में विरह का अधिक महत्व है। विरह ही मिलन के लिये सीढ़ी का काम करता है। प्रस्तुत पद का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार, इसी सिद्धांत की प्रतिष्ठा करता जान पड़ता है।

ककनू पंखि जैस सर साजा। तस सर साजि जरा चह राजा॥
सकल देवता आइ तुलाने। दहुँ का होइ देव असथाने॥
विरह अगिनि बज्रागि असूझा। जरै सूर न बुझाए बूझा॥
तेहि के जरत जो उठै बजागी। तिनउं लोक जरै तेहि लागी॥
अबहि कि घरी सो चिनगी छूटै। जरहिं पहार पहन सब फूटै॥
देवता सबै भसम होइ जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होइ सब ताता। है कोई एहि राख बिधाता॥
मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ॥ ७॥

शब्दार्थः—ककनू—एक पक्षी जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आयु पूरी होने पर वह घोंसले में बैठकर गाने लगता है जिससे आग लग जाती है और वह जल जाता है। बजागी—वज्राग्नि। चिनगी—चिनगारी। पहन—पाषाण या पत्थर।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी रत्नसेन के हृदय में जलने वाली विरहाग्नि का वर्णन करते हुये कहते हैं—

जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार ककनू पक्षी मृत्यु से पूर्व अपनी चिता सजाता है और घोंसले में जाकर गीत के माध्यम से मृत्यु को आमन्त्रित करता है, उसी प्रकार राजा ने भी जलने के लिये चिता सजाने की इच्छा प्रकट की। राजा की यह इच्छा देखकर मण्डप के सभी देवतागण उसी स्थल पर आगये और आपस में विचार-विमर्श करते हुये कहने लगे कि देव के स्थान पर यह क्या होने जारहा है? तात्पर्य यह है कि ऐसे पवित्र स्थान पर राजा का चिता में जलकर समाप्त हो जाना अच्छा नहीं। देवताओं ने आकर देखा कि वहां न दिखाई देने वाली विरह की भयंकर आग जल रही है और उस में सूर्य रूपी रत्नसेन प्रज्जवलित हो रहा है। अनेक प्रयत्न करने के बावजूद भी वह विरहाग्नि बुझाये नहीं बुझती। देवताओं ने सोचा कि यदि यह आग ऐसे ही जलती रही तो इस वज्राग्नि से तीनों लोक जल जायेंगे और फिर क्षण मात्र में ही चिनगारियां इतनी छूटेंगी कि कुछ भी शेष न बचेगा। यहां तक कि पत्थर और पहाड़ सभी टूट फूटकर चकनाचूर हो जायेंगे।

जायसी कहते हैं कि विरह की इसी आग से कोई देवता भी नहीं बच सकेगा और उनके भस्म होने से जो राख हो जायेगी उसे समेटने वाला भी पैदा न होगा। व्यंजना यह है कि विरहाग्नि में सभी कुछ समाप्त हो जायेगा; पृथ्वी और आकाश भी नहीं बचेंगे। हे विधाता! कौन है जो इस समय इसकी रक्षा कर सके? जायसी कहते हैं कि काम की चिनगारी का नाम मात्र सुनते

ही पृथ्वी और आकाश व्याकुल हो जाते हैं। वस्तुतः वह विरही धन्य है, उसका हृदय धन्य है जिसमें यह विरहाग्नि समा जाती है।

विशेष:—इन पंक्तियों में जायसी ने विरह की बड़ी गूढ़ और मार्मिक व्यंजना की है। वर्णन की यह विराटता प्रभावित तो करती है किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि से सोचने पर इसका हलकापन भी स्पष्ट हो जाता है। विरह की महानता सर्वविदित है। एक अन्य कवि ने भी कहा है—

विरह प्रेम की जाग्रत गति है
और सुषुप्ति मिलन है।

हनुवँत बीर लंक जेइ जारी। परबत उहै अहा रखवारी॥
बैठि तहाँ होइ लंका ताका। छठएँ मास देइ उठि हाँका॥
तेहि कै आगि उहौ पुनि जरा। लंका छाँड़ि पलंका परा॥
जाइ तहाँ वै कहा सँदेसू। पारबती औ जहाँ महेसू॥
जोगी आहि बियोगी कोई। तुम्हरे मँडप आगि तेइ बोई॥
जरा लँगूर सु राता उहाँ। निकसि जो भागि भएउ करमुहाँ॥
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा। बजरअंग जरतहि उठि भागा॥
रावन लंका हौं दही, वह हौं दाहै पाव।
गए पहार सब औटि कै, को राखै गहि पाव? ॥ ८ ॥

में वसंत रूपी पदमावती को प्राप्त न कर सका। अतः अब मैं अपने शरीर में होली की भांति आग जलाकर इसे हमेशा के लिए जला दूंगा। तात्पर्य यह है कि मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता हूँ।

विशेष—जायसी यह बताना चाहते हैं कि सूफी सम्प्रदाय में विरह का अधिक महत्व है। विरह ही मिलन के लिये सीढ़ी का काम करता है। प्रस्तुत पद का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार, इसी सिद्धांत की प्रतिष्ठा करता जान पड़ता है।

ककनू पंखि जैस सर साजा। तस सर साजि जरा चह राजा॥
सकल देवता आइ तुलाने। दहुं का होइ देव असथाने॥
विरह अगिनि वज्रागि असूझा। जरै सूर न बुझाए बूझा॥
तेहि के जरत जो उठै बजागी। तिनउ लोक जरैं तेहि लागी॥
अबहि कि घरी सो चिनगी छूटै। जरहिं पहार पहन सब फूटै॥
देवता सबै भसम होइ जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होइ सब ताता। है कोई एहि राख बिधाता॥
मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ धनि हिया, जहं अस अगिनि समाइ॥ ७॥

शब्दार्थः—ककनू—एक पक्षी जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आयु पूरी होने पर वह घोंसले में बैठकर गाने लगता है जिससे आग लग जाती है और वह जल जाता है। बजागी—वज्राग्नि। चिनगी—चिनगारी। पहन—पाषाण या पत्थर।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी रत्नसेन के हृदय में जलने वाली विरहाग्नि का वर्णन करते हुये कहते हैं—

जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार ककनू पक्षी मृत्यु से पूर्व अपनी चिता सजाता है और घोंसले में जाकर गीत के माध्यम से मृत्यु को आमन्त्रित करता है, उसी प्रकार राजा ने भी जलने के लिये चिता सजाने की इच्छा प्रकट की। राजा की यह इच्छा देखकर मण्डप के सभी देवतागण उसी स्थल पर आगये और आपस में विचार-विमर्श करते हुये कहने लगे कि देव के स्थान पर यह क्या होने जारहा है? तात्पर्य यह है कि ऐसे पवित्र स्थान पर राजा का चिता में जलकर समाप्त हो जाना अच्छा नहीं। देवताओं ने आकर देखा कि वहां न दिखाई देने वाली विरह की भयंकर आग जल रही है और उस में सूर्य रूपी रत्नसेन प्रज्जवलित हो रहा है। अनेक प्रयत्न करने के बावजूद भी वह विरहाग्नि बुझाये नहीं बुझती। देवताओं ने सोचा कि यदि यह आग ऐसे ही जलती रही तो इस वज्राग्नि से तीनों लोक जल जायेंगे और फिर क्षण मात्र में ही चिनगारियां इतनी छूटेंगी कि कुछ भी शेष न बचेगा। यहां तक कि पत्थर और पहाड़ सभी टूट फूटकर चकनाचूर हो जायेंगे।

जायसी कहते हैं कि विरह की इसी आग से कोई देवता भी नहीं बच सकेगा और उनके भस्म होने से जो राख हो जायेगी उसे समेटने वाला भी पैदा न होगा। व्यंजना यह है कि विरहाग्नि में सभी कुछ समाप्त हो जायेगा; पृथ्वी और आकाश भी नहीं बचेंगे। हे विधाता! कौन है जो इस समय इसकी रक्षा कर सके? जायसी कहते हैं कि काम की चिनगारी का नाम मात्र सुनते

ही पृथ्वी और आकाश व्याकुल हो जाते हैं। वस्तुतः वह विरही धन्य है, उसका हृदय धन्य है जिसमें यह विरहाग्नि समा जाती है।

विशेष:—इन पंक्तियों में जायसी ने विरह की बड़ी गूढ़ और मार्मिक व्यंजना की है। वर्णन की यह विराटता प्रभावित तो करती है किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि से सोचने पर इसका हलकापन भी स्पष्ट हो जाता है। विरह की महानता सर्वविदित है। एक अन्य कवि ने भी कहा है—

विरह प्रेम की जाग्रत गति है
और सुषुप्ति मिलन है।

हनुवँत बीर लंक जेइ जारी। परवत उहै अहा रखवारी॥
बैठि तहां होइ लंका ताका। छठएं मास देइ उठि हांका॥
तेहि कै आगि उहौ पुनि जरा। लंका छाड़ि पलंका परा॥
जाइ तहां वै कहा संदेसू। पारबती औ जहां महेसू॥
जोगी आहि बियोगी कोई। तुम्हरे मंडप आगि तेइ बोई॥
जरा लंगूर सु राता उहां। निकसि जो भागि भयउ करमुहां॥
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा। बजरअंग जरतहि उठि भागा॥

रावन लंका हौं दही, वह हौं दाहै आव।
गए पहार सब औटि कै, को राखै गहि पाव ? ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—जेइ जारी—जिसने जलायी। पलंका—पलंग अथवा लंका के आगे पलंका नाम का कल्पित द्वीप।

सप्रसंग व्याख्या—इस छंद में कवि जायसी ने रत्नसेन की विरहाग्नि को स्पष्ट किया है। वह कहते हैं—

वीर हनुमान जिसने लंका को जलाया था वही पर्वत की रखवाली करता था। वही वीर उसी स्थान पर बैठकर लंका की ओर दृष्टि लगाये रहता था। वीर हनुमान प्रत्येक छः-मास पश्चात् हुंकार देता था। जायसी कहते हैं कि पर्वत का रखवाला ऐसा वीर हनुमान भी विरह की आग में जलने लगा। वह इतना जला कि लंका के भी आगे पलंका नाम के किसी द्वीप में जा छिपा। तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म को छोड़कर वह दूर भाग गया। दूर जाकर उसने शंकर को यह संदेश कहा कि कोई वियोगी, योगी का भेष बनाकर आया है। उसने तुम्हारे मण्डप में विरह की आग बोई है; परिणामतः तुम्हारा मण्डप जलने लगा है। आग से जलकर ही बन्दरों के मुख भी लाल और काले हो गये और वे वहां से भागने लगे हैं। उसी वज्राग्नि से मैं भी जलने लगा। मेरा वज्रांग शरीर भी जल उठा और मैं वहां से भाग आया।

जायसी कहते हैं कि हनुमान ने तो रावण की लंका जलायी थी, किन्तु यह वीर स्वयं ही जलने लगा। कुछ भी शेष नहीं बचा है। सुमेरु पर्वत भी जलने लगा है। अब कोई भी ऐसा नहीं रहा जो उस कलमुहे बन्दर के पैर पकड़ कर रोक दे जिससे वह अनर्थ होने से बच जावे।

विशेष—जायसी ने पद्मावत में हिन्दू-कथाओं का वर्णन कहीं २ किया है। हनुमान, राम, रावण, शंकर, पार्वती आदि का जैसा चाहा है मनमाना वर्णन किया है। वास्तविकता यह है कि जायसी का ज्ञान इन हिन्दू कथाओं के सम्बन्ध में सुना-सुनाया था; परिणामतः वे इनका असंगत वर्णन कर गये

में वसंत रूपी पदमावती को प्राप्त न कर सका। अतः अब मैं अपने शरीर में होली की भांति आग जलाकर इसे हमेशा के लिए जला दूंगा। तात्पर्य यह है कि मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता हूँ।

विशेष—जायसी यह बताना चाहते हैं कि सूफी सम्प्रदाय में विरह का अधिक महत्व है। विरह ही मिलन के लिये सीढ़ी का काम करता है। प्रस्तुत पद का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार, इसी सिद्धांत की प्रतिष्ठा करता जान पड़ता है।

ककनू पंखि जैस सर साजा। तस सर साजि जरा चह राजा॥
सकल देवता आइ तुलाने। दहुं का होइ देव असथाने॥
बिरह अगिनि वज्रागि असूझा। जरै सूर न बुझाए बूझा॥
तेहि के जरत जो उठै बजागी। तिनउं लोक जरै तेहि लागी॥
अबहि कि घरी सो चिनगी छूटै। जरहि पहार पहन सब फूटै॥
देवता सबै भसम होइ जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होइ सब ताता है कोई एहि राख बिधाता॥
मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहं अस अगिनि समाइ॥ ७॥

शब्दार्थः—ककनू—एक पक्षी जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आयु पूरी होने पर वह घोंसले में बैठकर गाने लगता है जिससे आग लग जाती है और वह जल जाता है। बजागी—वज्राग्नि। चिनगी—चिनगारी। पहन—पाषाण या पत्थर।

मर्मदर्श व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी रत्नसेन के हृदय में जलने वाली विरहाग्नि का वर्णन करते हुये कहते हैं—

जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार ककनू पक्षी मृत्यु से पूर्व अपनी चिता सजाता है और घोंसले में जाकर गीत के माध्यम से मृत्यु को आमंत्रित करता है, उसी प्रकार राजा ने भी जलने के लिये चिता सजाने की इच्छा प्रकट की। राजा की यह इच्छा देखकर मण्डप के सभी देवतागण उसी स्थल पर आगये और आपस में विचार-विमर्श करते हुये कहने लगे कि देव के स्थान पर यह क्या होने जारहा है? तात्पर्य यह है कि ऐसे पवित्र स्थान पर राजा का चिता में जलकर समाप्त हो जाना अच्छा नहीं। देवताओं ने आकर देखा कि वहां न दिखाई देने वाली विरह की भयंकर आग जल रही है और उस में सूर्य रूपी रत्नसेन प्रज्जवलित हो रहा है। अनेक प्रयत्न करने के बावजूद भी वह विरहाग्नि बुझाये नहीं बुझती। देवताओं ने सोचा कि यदि यह आग ऐसे ही जलती रही तो इस वज्राग्नि से तीनों लोक जल जायेंगे और फिर क्षण मात्र में ही चिनगारियां इतनी छूटेंगी कि कुछ भी शेष न बचेगा। यहां तक कि पत्थर और पहाड़ सभी टूट फूटकर चकनाचूर हो जायेंगे।

जायसी कहते हैं कि विरह की इसी आग से कोई देवता भी नहीं बच सकेगा और उनके भस्म होने से जो राख हो जायेगी उसे समेटने वाला भी पैदा न होगा। व्यंजना यह है कि विरहाग्नि में सभी कुछ समाप्त हो जायेगा; पृथ्वी और आकाश भी नहीं बचेंगे। हे विधाता! कौन है जो इस समय इसकी रक्षा कर सके? जायसी कहते हैं कि काम की चिनगारी का नाम मात्र सुनते

हैं। इस प्रकार की योजना के पीछे जायसी का प्रमुख उद्देश्य केवल चमत्कार की सृष्टि करना था। आश्चर्य है कि इस पद में चमत्कार की सृष्टि भी नहीं हो सकी है और विरह वर्णन के प्रसंग में हिन्दू कथाओं का यह जोड़, ऊपर से लगायी हुई थिगली सा लगता है। लंका के साथ २ पलंका की कल्पना भी असमीचीन है।

इस पद में विरह वर्णन को व्यापकता प्रदान करने के मोह में और वर्णन को कथा से जोड़ने के प्रलोभन में जायसी बड़ी बेतुकी और असंगत बातें कह गये हैं।

पार्वती–महेश खण्ड

ततखन पहुँचे आइ महेसू। बाहन बैल, कुस्टि कर भेसू ॥
कार्यरि कया हड़ावरि बांधे। मुंड-माल औ हत्या कांधे ॥
सेसनाग जाके कंठमाला। तनु भभूति, हस्ती कर छाला ॥
पहुंची रुद्र-कवंल कै गटा। ससि माथे औ सुरसरि जटा ॥
चंवर घंट औ डंवरू हाथा। गौरा पारावती धनि साथा ॥
औ हनुवंत बीर संग आवा। धरे भेस बांदर जस छावा ॥
अयतहि कहेन्हि, न लावहु आगी। तेहि कै सपथ जरहु जेहि लागी ॥
की तप करै न पारेहु, की रे नसाएहु जोग ?।
जियत जीउ कस काढ़हु ? कहहु सो मोहि वियोग ॥ १ ॥

शब्दार्थ—ततखन—उसी क्षण। महेसू—शिवजी। बाहन—सवारी। कुष्टि—कोढ़ी। हड़ावरि—अस्थियों की माला। हत्या—मृत्यु। भभूति—राख। रुद्र कवंल—रुद्राक्ष की माला। गटा—गोल दाना।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में शिवजी के आगमन का वर्णन किया गया है। कवि कहता है कि उसी क्षण शिवजी आ पहुँचे। अपने बैल पर सवार वे कोढ़ी का भेष बनाये हुए थे। शरीर पर मोटे कपड़े धारण किये हुये थे और हड्डियों की माला शरीर से बन्धी हुई थी। कंधे पर मृत्यु और गले में मुंडमाला लटक रही थी। शेषनाग की माला भी कण्ठ में थी। शरीर से राख लिपटी हुई थी और हाथी का चर्म शरीर से लिपटा हुआ था। वे रुद्राक्ष की माला और कमल गट्टे के दस्ताने पहिने हुये थे। मस्तक पर चंद्रमा और जटाओं में गंगा थी। उनके हाथों में चंवर, घण्टा और डमरू थे। पार्वती साथ थी। वीर हनुमान उनके साथ बंदर के बच्चे के रूप में आये थे। शिवजी ने आते ही रत्नसेन से कहा कि तुम इस प्रकार अपने शरीर में आग मत लगाओ। तुम्हें हम उसी की शपथ दिलाते हैं जिसकी विरह की आग में तुम जल रहे हो।

शिवजी ने कहा कि या तो तुम पूर्ण तप करने में असमर्थ रहे या तुम्हारा योग खण्डित होगया है। तुम जीवित ही अपने प्राणों का बलिदान क्यों कर देना चाहते हो ? बतलाओ तो सही, हम उसका कुछ उपचार करेंगे।

कहेसि मोहि बातन्ह बिलमावा। हत्या केरि न डर तोहि आवा ॥
नरं देहु, दुख जरौं अपारा। निस्तर पाइ जाउं एक बारा ॥
जस भरथरी लागि पिंगला। मो कहं पदमावति सिंघला ॥
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नावं लीन्ह तप जोगू ॥

एहि मद सेएउं आइ निरासा । गइ सो पूजि, मन पूजि न आसा ।।
मैं यह जिउ डाढ़े पर दाधा । आधा निकसि रहा घट आधा ।।
जो अधजर सो विलंब न लावा । करत बिलंब बहुत दुख पावा ।।

एतना बोल कहत मुख, उठी बिरह कै आगि ।
जौं महेस न बुझावत, जाति सकल जग लागि ।। २ ।।

शब्दार्थ—कहेसि—कहा । बातन्ह—बातों में । निनसावा—निर्वाह कराता है । निस्तर—उद्धार । दाधा—जलाया । अधजर-आधा जला हुआ ।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी शिवजी द्वारा कहे गये कथन का रत्नसेन के द्वारा उत्तर दिलवा रहे हैं । राजा कहता है—

मुझे बताओ तुम कौन हो जो इस प्रकार बातों में विलंब कर रहे हो । मुझे अपनी आग में जल जाने दो । क्या तुम्हें दया का कोई भय नहीं है । मैं अपार दुःख सहन कर रहा हूं । मुझे इस विरह की अग्नि में जल जाने दो । यदि मैं एक बार भी इसमें जल गया तो इस संसार से मेरा उद्धार हो जायेगा । जिस प्रकार राजा भरथरी के निमित्त पिंगला का वियोग था उसी प्रकार मेरे लिये पद्मावती का वियोग है । उसी के विरह में मैं जल रहा हूं । राजकुमारी पद्मावती की प्राप्ति के निमित्त ही मैंने राज-पाट छोड़ दिया है और सभी भोग विलासों को तिलांजलि देदी है । मैंने जैसे ही उस रानी का नाम सुना वैसे ही मैंने उसकी प्राप्ति के निमित्त तप प्रारंभ किया है । मैंने इस मंडप में आकर अनासक्त भाव से देवता की सेवा की है । वह मेरी रानी पद्मावती यहां आयी थी । उसने देवता की सेवा की थी और चली भी गई, किन्तु मेरी मन की आशा पूरी नहीं हुई है । इसी कारण मेरा तन और मन उसी के विरह में जल रहा है । उसके विरह में मेरे आधे प्राण तो जल चुके हैं और आधे घट के भीतर शेष रह गये हैं । जो अग्नि आधा जल जाता है वह पूर्ण जलने में विलंब नहीं लगाता है । यदि वह विलंब करता है तो उसे महान कष्ट का अनुभव होता है । तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण भाग्य दुःख उठाता है या पश्चाताप करता है ।

जायसी कहते हैं कि जैसे ही राजा रत्नसेन ने इतनी बात अपने मुख कही, त्यों ही उसके मुख से विरह की लपट उठने लगी । कवि कहता है कि यदि उस आग को शिवजी उसी समय नहीं बुझाते तो सम्पूर्ण संसार उसमें जलकर भस्म हो जाता ।

पारबती मन उपना चाऊ । देखौं कुंवर केर सत भाऊ ।।
ओहि एहि बीच, कि पेमहि पूजा । तन मन एक, कि मारग दूजा ।।
भइ सुरूप जानहुं अपछरा । बिहंसि कुंवर कर आंचर धरा ।।
सुनहु कुंवर मोसौं एक बाता । जस मोहि रंग न औरहि राता ।।
औ विधि रूप दीन्ह है तोकां । उठा सो सबद जाइ सिव लोका ।।
तब हौं तोपहं इंद्र पठाई । गइ पदमिनि, तैं अछरी पाई ।।
अब तजु जरन, मरन, तप जोगू । मोसौं मानु जनम भरि भोगू ।।

हौं अछरी कबिलास कै जेहि सरि पूज न कोइ ।
मोहि तजि संवरि जो ओहि मरसि, कौन लाभ तेहि होइ ? ।।३।।

शब्दार्थ—उपना=उत्पन्न हुआ। चाऊ=चाव या शौक। सत भाइ=सत्य भावना। ओहि ऐहि बीच कि प्रेमहि पूजा=पद्मावती व रत्नसेन में कुछ अंतर रह गया है, अब वह अंतर प्रेम से भर गया है और परिणामतः वे दोनों अब अभिन्न होगये हैं। राता=ललित या सुन्दर। तोकां=उसका। तोपहं=उस पर। तस=ऐसा। कबिलास=स्वर्ग।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने बताया है कि रत्नसेन की प्रेम परीक्षा के निमित्त पार्वती के मन में चाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा कि मैं इसके मन में स्थित सत्य भावना को तो जान लूं। अब तक तो इसके तन और मन में जो भी थोड़ा बहुत अंतर रह गया था वह अब भर गया है और वे दोनों अभिन्न होगये हैं। तात्पर्य यह है कि इनका प्रेम दिव्य है अथवा केवल शारीरिक ? इतना विचार आते ही पार्वतीजी ने अपना स्वरूप बदल लिया और वे अप्सरा के रूप में परिवर्तित होगई। रूप बदलकर उन्होंने कुंवर रत्नसेन का आंचल पकड़ लिया और रत्नसेन से कहा–हे कुंवर, मेरी एक बात सुन। जैसा मेरा रंगरूप है वैसा और किसी का इस दुनिया में नहीं है। हां, एक तू ऐसा अवश्य है जिसे विधाता ने सुन्दर रूप–सौन्दर्य प्रदान किया है। तेरे इस रूप सौन्दर्य की प्रशंसा के शब्द शिवलोक तक पहुंच गये हैं। इसी कारण इन्द्र महाराज ने मुझे तेरे लिये भेजा है। यदि तुमसे पद्मावती बिछुड़ गई तो क्या हुआ, तुझे मुझ जैसी अप्सरा तो प्राप्त होगई है। अतः अब तू जलना और मरना छोड़ दे। तपस्या और योग साधना भी छोड़ दे। अब तो तू मुझे ही जीवन भर अपना मान और पूर्ण संतोष के साथ मेरे साथ भोग कर। जायसी कहते हैं कि पार्वतीजी ने कहा कि मैं तो स्वर्ग की अप्सरा हूं जिसके रूप सौन्दर्य की तुलना में स्वर्ग और नरक में कोई नहीं है। अतः तू मुझे छोड़ कर यदि उसका स्मरण करता हुआ मरेगा तो तुझे क्या लाभ होगा। तात्पर्य यह है कि तू मुझे वरण करले।

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दूसरे सौं भाव न बाता॥
मोहि ओहि संवरि मुए तस लाहा। नैन जो देखसि पूछसि काहा ?॥
अबहि ताहि जिउ देइ न पावा। तोहि अस अछरी ठाढ़ि मनावा॥
जौं जिउ देइहौं ओहि कै आसा। न जनौं का होइ कबिलासा॥
हौं कबिलास काह लै करऊं ?। सोइ कबिलास लागि जेहि मरऊं॥
ओहि के बार जीउ नहि बारौं। सिर उतारि नेवछावरि सारौं॥
ताकर चाह कहै जो आई। दोउ जगत तेहि देहुँ बड़ाई॥
ओहि न मोरि किछु आसा, हौं ओहि आस करेउं।
तेहि निरास पीतम कहं, जिउ न देउं का देउं॥ ४॥

शब्दार्थ.—अछरि=अप्सरा। तोर राता=तेरा रंग सुन्दर है। भाव न बाता=मुझे दूसरे से बात करना अच्छा नहीं लगता। तस लाहा=उससे लाभ है। बारौं=बचाऊं। सारौं=करूं। चाह=खबर। बड़ाई=प्रशंसा। किछु=कुछ भी।

राजा ने कहा कि हे अप्सरा ! तेरा रंग रूप भले ही कितना ही सुन्दर हो, मुझे अपनी प्रिया पद्मावती को छोड़कर दूसरे से बात करना तक अच्छा नहीं लगता है। वरण करने का तो प्रश्न ही अलग है। मैं तो उसका स्मरण करता हुआ मरना अधिक अच्छा समझता हूं—यह मेरे कहने की बात नहीं है। तुम तो स्वयं ही अपनी आंखों से देख रही होकि अभी तक तो मैं अपनी प्रिया का स्मरण करते हुये प्राणों का बलिदान भी नहीं कर पाया था कि उससे पहिले तुम जैसी सुन्दर अप्सरा आकर मनाने लगी। यदि मैं उसी के निमित्त अपने प्राण दे दूंगा तो न मालुम स्वर्ग लोक में क्या हाहाकार हो जायेगा।

राजा रत्नसेन ने कहा कि मैं स्वर्ग को प्राप्त करके क्या करूंगा। मेरा तो वही स्वर्ग है जिसके निमित्त तपस्या करता हुआ मैं यहां आया हूं और मैं अपने प्राण दे रहा हूं। उसी रानी पद्मावती के दरवाजे पर अपने प्राण दे दूंगा और अपने जीवन को नहीं बचाऊंगा। मैं अपने सिर को उतार कर भेंट कर दूंगा। मैं तो यह कहता हूं कि जो कोई भी मेरी प्रिया की खबर तक ला देगा उसे इस लोक एवं परलोक में बहुत बड़ा मानूंगा। रत्नसेन ने कहा कि मुझे किसी और चीज की आवश्यकता नहीं है, मैं तो केवल उसी पद्मावती की आशा करता हूं। हे अप्सरा ! तू ही बता कि उस प्राणा रहित पद्मावती के लिये यदि मैं अपना प्राणांत नहीं करूं तो और क्या करूं।

गौरइ हंसि महेस सौं कहा। निहचै एहि बिरहानल दहा॥
निहचै यह ओहि कारन तपा। परिमल पेम न आछै छपा॥
निहचै पेम-पीर यह जागा। कसे कसौटी कंचन लागा॥
बदन पियर जल डभकहिं नैना। परगट दुवौ पेम के बैना॥
यह एहि जनम लागि ओहि सीझा। चहै न औरहि, ओही रीझा॥
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जीता॥
एहू कहं तस मया करेहू। पुरवहु आस, कि हत्या लेहू॥

हत्या दुइ के चढ़ाए कांधे बहु अपराध।
तीसर यह लेउ माथे जो लेवै कै साध॥ ५॥

शब्दार्थ—गौरइ—पार्वती, महेस सों—शिवजी से, निहचै—निश्चय ही, विरहानल—विरह की आग में, ओहि कारन—उसके कारण, परिमल—सुगंधि, आछै छपा—छिपता नहीं है, कसै—कसने पर, बदन पियर—मुख पीला पड़ गया है, डभकहि नैना—नेत्र डबडबाते है, सीझा—जलना।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने शिव और पार्वती का वार्तालाप प्रस्तुत किया है। वह कहता है—

पार्वती ने हंसते हुए शिवजी से कहा कि निश्चय ही वह विरह की आग में जल रहा है। वह उसी पद्मावती के कारण तपस्या करने में लगा हुआ है। वस्तुत: प्रेम की सुगंधि छुपाये नहीं छिपती है। निश्चित रूप से वह प्रेम की पीड़ा में जल रहा है। पार्वती ने शिवजी से कहा कि मुझे तो वह प्रेम के क्षेत्र में खरा दिखाई देता है, ठीक वैसे ही जैसे असली सोना कसौटी पर कसने पर खरा उतरता है। प्रेम के कारण ही उसका मुख पीला पड़ गया है और नेत्रों में अश्रु-जल छलक रहा है। उसके शरीर की इन दो विशेषताओं से प्रेमभाव ही प्रकट हो रहा है। असल में वह उसी पद्मावती

के लिए जन्म भर जलता रहा है। वह किसी और की कामना नहीं करता। वह तो पद्मावती पर ही रीझा हुआ है। हे महादेवजी! तुम तो देवताओं के भी पिता हो। सब के मन की आशा पूर्ण करने वाले हो। तुम्हारी शरण में आकर तो राम ने रावण से युद्ध जीत लिया था। इसीलिए, कृपा करके इस साधक के ऊपर भी दया कीजिए। इसकी आशा पूरी कीजिए और अपने सिर पर हत्या मत चढ़ाइये। जायसी कहते हैं कि पिछली दो हत्याओं का अपराध तो अभी तक तुम्हारे सिर पर चढ़ा हुआ है। अब यह तीसरी हत्या सिर पर क्यों धारण करते हो? तात्पर्य यह है कि उसकी (रत्नसेन की) मनचाही वस्तु उसे प्रदान करो।

विशेष—जायसी ने इस पद में शिवजी के सिर पर दो हत्याओं का उल्लेख किया है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि शिवजी के ऊपर कहीं भी दो हत्याओं का उल्लेख नहीं मिलता है। हां, कुछ लोग जायसी के कथन को प्रमाण मानकर दो हत्याओं की कल्पना अवश्य कर लेते हैं। सुधाकर द्विवेदी ने गंगा और चन्द्रमा को शिवजी के कन्धे की दो हत्याएं बताई हैं। कारण यह है कि पार्वती उन्हें अपने एकांत प्रेम की बाधक आठ पहर की हत्या मानती है।

श्री शिरेफ ने सती के मृत शरीर को कन्धे पर रखने और मदन दहन को दो हत्याएं माना है। श्री मुंशीराम शर्मा, गणेश को मारना, और जीवित रखने के लिए हाथी को मारना दो हत्याएं मानते है। प्राचीन काल में ब्राह्मण, गाय या देवता को मारना हत्या माना जाता था। अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्त होकर उसके पीछे भागते हुए ब्रह्मा का मस्तक शिवजी ने काट लिया था और कामदेव को अपने तीसरे नेत्र से भस्म कर दिया था। ये भी दो हत्याएं मानी जा सकती हैं। श्री क्षेमेन्द्र ने अपने 'देशोपदेश' ग्रन्थ में शिव की ब्रह्म हत्या का उल्लेख किया है।

सुनि कै महादेव कै भाखा। सिद्धि पुरुष राजैं मन लाखा॥
सिद्धहि अंग न बैठे माखी। सिद्ध पलक नहिं लावै आँखी॥
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ भूख नहिं माया॥
जेहि जग सिद्ध गोसाँई कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा?॥
बैल चढ़ा कुस्टी कर भेसू। गिरिजापति सत आइ महेसू॥
चीन्है सोइ रहै जो खोजा। जस बिक्रम औ राजा भोजा॥
जो ओहि तंत सत्त सौं हेरा। गए हेराइ जो ओहि भा मेरा॥
बिनु गुरु पंथ न पाइय भूलै सो जो भेट।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट॥ ६॥

शब्दार्थ—भाखा—वाणी। लाखा—पहिचाना। माखी—मक्खी। लावै आँखी—पलक नहीं मारता।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने बताया है कि रत्नसेन को महादेव को देखकर कुछ विस्मय हुआ और उसने मन में यह अनुमान किया या मन ने पहचान लिया कि यह कोई सिद्ध पुरुष है। सिद्ध पुरुष के प्रमाण में उसके मन ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये—सिद्ध पुरुष के शरीर पर मक्खी नहीं बैठती है, उसके नेत्रों में आलस्य नहीं होता, [illegible]

भी उसे पाता है या पाना चाहता है वह अपने आपको पहले पहचानना चाहता है। उस गढ़ में नौ ड्योढ़ियां हैं और पांच कोतवाल घूम-घूमकर उसकी पहरेदारी करते रहते हैं।

जायसी वर्णन करते हैं कि दसवें द्वार पर एक गुप्त द्वार है जिसे 'नाकी' कहते हैं। उस विकट मार्ग की चढ़ाई बड़ी भयंकर और कठिन है। कोई सूक्ष्मदर्शी या रहस्य का जानकार ही उस कठिन मार्ग को पा सकता है। जो भी उसके द्वार तक पहुंच जाता है वह चींटी सा सूक्ष्म बन कर उस गढ़ पर चढ़ जाता है। गढ़ के नीचे अपार गहरा कुंड है। उसी गंभीर और अथाह कुंड का मार्ग मैं तुम्हें बताये देता हूँ। देखो जैसे चोर बड़ी सावधानी से सेंध लगाकर प्रवेश करता है और जुआरी बड़ी सतर्कता से दांव फेंकता है तथा गोताखोर बड़ी सावधानी से गोता या डुबकी लगाता है, उसी प्रकार तुमको सिंहलद्वीप के स्वर्गोपम दरवाजे तक पहुंचना है। तात्पर्य यह है कि चोर की भांति संयम से काम लो और सिंहलद्वीप के महल में प्रवेश करो।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने हठयौगिक प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। सिंहलगढ़ को शरीर के समान बनाने का लक्ष्य ही यह है। मनुष्य का शरीर हठयोग के लिए उपयुक्त साधन है। शरीर में इन्द्रियों के नव द्वार हैं और ब्रह्मरंध्र दसवां दरवाजा है। हठयौगिक प्रक्रिया के अनुसार यह गुप्त द्वार तब खुलता है जब योगी की साधना पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। "रीढ़ की हड्डी में मूलाधार चक्र है। यहां पर कुण्ड में कुण्डलिनी भी निवास करती है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सुषुम्ना का मार्ग है जिसमें से होकर कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड तक पहुंच पाती है।" यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारिणी और समाधि के द्वारा कुण्डलनी जगायी जाती है तथा सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊर्ध्वगमन करती है। इसी सुषम्ना को सुरंग और मूलाधार को कुण्ड की अभिधा प्राप्त है।

यहां सिंहलगढ़ शरीर का प्रतीक है। रत्नसेन को यही उपर्युक्त प्रक्रिया स्पष्ट करके समझाई गई है। आध्यात्मिक व्यंजना के कारण यहां समासोक्ति का प्रयोग और निर्वाह बड़ी सतर्कता और सफलता से किया गया है।

दसवं दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो तहां सांस मन बधी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तू मन नाथु मारि कै सांसा। जो पै मरहि अबहि करु नासा ॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥
"हौं हौं" कहत मरो मति खोई। जौं तू नाहि आहि सब कोई ॥

भी उसे पाता है या पाना चाहता है वह अपने आपको पहले पहचानना चाहता है। उस गढ़ में नौ ड्योढ़ियां हैं और पांच कोतवाल घूम-घूमकर उसकी पहरेदारी करते रहते हैं।

जायसी वर्णन करते हैं कि दसवें द्वार पर एक गुप्त द्वार है जिसे 'नाकी' कहते हैं। उस विकट मार्ग की चढ़ाई बड़ी भयंकर और कठिन है। कोई सूक्ष्मदर्शी या रहस्य का जानकार ही उस कठिन मार्ग को पा सकता है। जो भी उसके द्वार तक पहुंच जाता है वह चींटी सा सूक्ष्म बन कर उस गढ़ पर चढ़ जाता है। गढ़ के नीचे अपार गहरा कुंड है। उसी गंभीर और अथाह कुंड का मार्ग मैं तुम्हें बताये देता हूँ। देखो जैसे चोर बड़ी सावधानी से सेंध लगाकर प्रवेश करता है और जुआरी बड़ी सतर्कता से दांव फेंकता है तथा गोताखोर बड़ी सावधानी से गोता या डुबकी लगाता है, उसी प्रकार तुमको सिंहलद्वीप के स्वर्गोपम दरवाजे तक पहुंचना है। तात्पर्य यह है कि चोर की भांति संयम से काम लो और सिंहलद्वीप के महल में प्रवेश करो।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने हठयौगिक प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। सिंहलगढ़ को शरीर के समान बताने का लक्ष्य ही यह है। मनुष्य का शरीर हठयोग के लिए उपयुक्त साधन है। शरीर में इन्द्रियों के नव द्वार हैं और ब्रह्मरंध्र दसवां दरवाजा है। हठयौगिक प्रक्रिया के अनुसार यह गुप्त द्वार तब खुलता है जब योगी की साधना पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। "रीढ़ की हड्डी में मूलाधार चक्र है। यहां पर कुण्ड में कुण्डलिनी भी निवास करती है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सुषुम्ना का मार्ग है जिसमें से होकर कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड तक पहुंच पाती है।" यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारिणी और समाधि के द्वारा कुण्डलनी जगायी जाती है तथा सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊर्ध्वगमन करती है। इसी सुषम्ना को सुरंग और मूलाधार को कुण्ड की अभिधा प्राप्त है।

यहां सिंहलगढ़ शरीर का प्रतीक है। रत्नसेन को यही उपर्युक्त प्रक्रिया स्पष्ट करके समझाई गई है। आध्यात्मिक व्यंजना के कारण यहां समासोक्ति का प्रयोग और निर्वाह बड़ी सतर्कता और सफलता से किया गया है।

दसवें दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहाँ सांस मन बंधी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥
तू मन नाथु मारि कै सांसा। जो पै मरहि अबहि करु नासा॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता॥
'हौं हौं' कहत सबै मति खोई। जौं तू नाहि आहि सब कोई॥
जियतहि जूरै मरै एक बारा। पुनि कः मीचु को मारै पारा?॥
आपुहि गुरू सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥
आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहां सो दूसर कोइ?॥१०॥

जस घर भरे चोर मत कीन्हा । तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्हा ।।
गुपुत चोर जो रहै सो सांचा । परगट होइ जीउ नहिं बांचा ।।
पौरि पौरि गढ़ लाग केवारा । औ राजा सौं भई पुकारा ।।
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेला । न जनौं कौन देस तें खेला ।।

भएउ रजायसु देखौ, को भिखारि अस ढीठ ।
बेगि बरज तेहि आवहु जन दुइ पठैं बसीठ ।। १ ।।

शब्दार्थ—सिधि-गुटका=सिद्धि का गुटका या मत्र । गनेस मनावा=गणेश को मनाया । परी हूल=कोलाहल हो गया । गढ़ छेंका=गढ को घेर लिया । रजायसु=आज्ञा हुई । बेगि बरज तेहि आवहु=शीघ्र मना कर के आओ ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने रत्नसेन के साथी योगियों द्वारा सिंहल के घेर लेने का वर्णन किया है । वे कहते हैं—

राजा ने शिवजी से सिद्धि का गुटका प्राप्त किया । सिद्ध होकर उसने गणेश की अस्तुति और वन्दना प्रारंभ करदी । शंकर के सिद्धि गुटिका देते ही योगियों ने गढ़ को घेर लिया । सर्वत्र कोलाहल होने लगा । सभी पद्मिनी स्त्रियां दरवाजों और छतों पर चढ़-चढ़ कर देखने लगीं कि सिंहल घिर गया और उसके बाहर जोगियों की मढ़ियां उठती चली आ रही हैं । जैसे चोर सेंध लगाते समय खरभर करने लगता है, उसी प्रकार जोगियों ने गढ़ में सेंध लगा कर प्रवेश पाने का प्रयत्न किया । सच्चा और पक्का चोर तो वह होता है जो अपने को तथा अपने रहस्य को गुप्त रखता है । जो प्रगट कर देता है, वह जीवित नहीं बच सकता है, उसके प्राण संकट में आ जाते हैं ।

जायसी कहते है कि दुर्ग की पौरी-पौरी पर कपाट लगे हुए हैं । इतने में ही राजा को भी सूचना हुई कि जोगियों ने आकर दुर्ग को पूर्णतः घेर लिया है; वे पूरी तरह चारों ओर छा गये हैं । न मालूम वे कौन हैं और किस देश के है । इस समाचार को सुनकर राजा ने आदेश दिया कि तुरन्त ही जाकर देखो कि ये कौन भिखारी हैं जो इतनी धृष्टता कर रहे हैं । राजा ने कहा कि दो व्यक्ति जाकर तुरन्त ही उन्हें रोक दो । उन्हें आगे नहीं बढ़ना चाहिए । (यदि बढ़ें तो प्राणांत भी संभव है ।)

उतरि बसीठन्ह आइ जोहारे । "की तुम जोगी, की बनिजारे ।।
भएउ रजायसु आगे खेलहि । गढ़ तर छांड़ि अनत होइ मेलहि ।।
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे । आएहु मरैं हाथ जिउ लीन्हे ।।
इहां इन्द्र अस राजा तपा । जबहि रिसाइ सूर डरि छपा ।।
हौ बनिजार तौ बनिज बेसाहौ । भरि बैपार लेहु जो चाहौ ।।
हौ जोगी तौ जुगुति सौं मांगो । भुगुति लेहु, लै मारग लागो ।।
इहां देवता अस गए हारी । तुम्ह पतिंग को अहौ भिखारी ।।

तुम्ह जोगी बैरागी, कहत न मानहु कोहु ।
लेहु मांगि किछु भिच्छा, खेलि अनत कहुं होहु" ।। २ ।।

शब्दार्थ—बसीठन्ह=दूतों ने । जोहारे=प्रणाम किया । की तुम जोगी की बनजारे=तुम योगी हो या बनजारे । अस लागेहु=ऐसे काम में लगे । कोहू=क्रोध ।

जस घर भरे चोर मत कीन्हा । तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्हा ॥
गुपुत चोर जो रहै सो सांचा । परगट होइ जीउ नहिं बांचा ॥
पौरि पौरि गढ़ लाग केवारा । भौ राजा सौं भई पुकारा ॥
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेला । न जनौं कौन देस तें खेला ॥
भएउ रजायसु देखौ, को भिखारि अस ढीठ ।
वेगि बरज तेहि आवहु जन दुइ पठैं बसीठ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सिधि-गुटका=सिद्धि का गुटका या मंत्र । गनेस मनावा=गणेश को मनाया । परी हूल=कोलाहल हो गया । गढ़ छेंका=गढ को घेर लिया । रजायसु=आज्ञा हुई । वेगि बरज तेहि आवहु=शीघ्र मना कर के आओ ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने रत्नसेन के साथी योगियों द्वारा सिंहल के घेर लेने का वर्णन किया है । वे कहते हैं—

राजा ने शिवजी से सिद्धि का गुटका प्राप्त किया । सिद्ध होकर उसने गणेश की सस्तुति और वन्दना प्रारंभ करदी । शंकर के सिद्धि गुटिका देते ही योगियों ने गढ़ को घेर लिया । सर्वत्र कोलाहल होने लगा । सभी पद्मिनी स्त्रियां दरवाजों और छतों पर चढ़-चढ़ कर देखने लगीं कि सिंहल घिर गया और उसके बाहर जोगियों की मढ़ियां उठती चली आ रही हैं । जैसे चोर सेंध लगाते समय सरभर करने लगता है, उसी प्रकार जोगियों ने गढ़ में सेंध लगा कर प्रवेश पाने का प्रयत्न किया । सच्चा और पक्का चोर तो वह होता है जो अपने को तथा अपने रहस्य को गुप्त रखता है । जो प्रगट कर देता है, वह जीवित नहीं बच सकता है, उसके प्राण संकट में आ जाते हैं ।

जायसी कहते हैं कि दुर्ग की पौरी-पौरी पर कपाट लगे हुए हैं । इतने में ही राजा को भी सूचना हुई कि जोगियों ने आकर दुर्ग को पूर्णतः घेर लिया है; वे पूरी तरह चारों ओर छा गये हैं । न मालूम वे कौन हैं और किस देश के हैं । इस समाचार को सुनकर राजा ने आदेश दिया कि तुरन्त ही जाकर देखो कि ये कौन भिखारी हैं जो इतनी धृष्टता कर रहे हैं । राजा ने कहा कि दो व्यक्ति जाकर तुरन्त ही उन्हें रोक दो । उन्हें आगे नहीं बढ़ना चाहिए । (यदि बढ़ें तो प्राणांत भी संभव है ।)

उतरि बसीठन्ह आइ जोहारे । "की तुम जोगी, की बनिजारे ॥
भएउ रजायसु आगे खेलहि । गढ़ तर छांड़ि अनत होइ मेलहि ॥
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे । आएहु मरै हाथ जिउ लीन्हे ॥
इहां इंद्र अस राजा तपा । जबहि रिसाइ सूर डरि छपा ॥
हौ बनिजार तौ बनिज बेसाहौ । भरि बैपार लेहु जो चाहौ ॥
हौ जोगी तौ जुगुति सौं मांगौ । भुगुति लेहु, लै मारग लागौ ॥
इहां देवता अस गए हारी । तुम्ह पतिंग को अहौ भिखारी ॥
तुम्ह जोगी बैरागी, कहत न मानहु कोहु ।
लेहु मांगि किछु भिच्छा, खेलि अनत कहुं होहु" ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बसीठन्ह=दूतों ने । जोहारे=प्रणाम किया । की तुम जोगी की बनजारे=तुम योगी हो या वनजारे । अस लागेहु=ऐसे काम में लगे । कोहू=क्रोध ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने दूतों का वार्तालाप व्यंजित किया है—वह वार्तालाप जो उन्होंने जोगियों से किया।

कवि कहता है कि दोनों दूतों ने नीचे जाकर जोगियों को प्रणाम किया और पूछा कि तुम योगी हो या बनजारे? सच-सच बतलादो। राजा की आज्ञा हुई है कि तुम लोग यहां से आगे की ओर रम जाओ। यहां रह कर अपना और हमारा समय बर्बाद मत करो। किले को छोड़ कर किसी दूसरे स्थान पर जाकर अपना खेल खेलो। किसने तुम्हें शिक्षा दी है जिससे तुम यहां पर डेरा डाले हुए हो। क्या अपने प्राण गंवाना चाहते हो? इस किले में इन्द्र के समान राजा की तप साधना चलती रहती है। जब वह क्रोध करता है तो भयभीत होकर सूर्य भी छिप जाता है।

दूतों ने कहा कि यदि तुम बनजारे हो तो अपने वाणिज्य को जाकर बेच डालो। व्यापार के बदले में जो चाहो वह ले लो, किन्तु यहां से टलो तो सही। यदि व्यापारी नहीं, योगी हो, तो अपने मनोनुकूल भुक्ति या भोजन भिक्षा मांग लो तथा भिक्षा ग्रहण करके अपने मार्ग को ग्रहण करो अर्थात् यहां से आगे की ओर चलते बनो। यहां पर तो बहुत से देवतागण भी हार गये हैं, तुम पतिंगे सरीखे भिक्षुक किस गिनती में हैं। तात्पर्य, तुम तो कुछ भी नहीं हो। दूतों ने कहा कि हे जोगियो और वैराग्य-साधको! तुम कहने का बुरा मत मानना; क्रोध न करना, कुछ भिक्षा मांग लो और अपने किसी दूसरे स्थान पर प्रस्थान करो। तात्पर्य, यहां से अन्यत्र चले जाओ।

"आनु जो भीखि हौं आएउं लेई। कस न लेउं जौं राजा देई॥
पदमावति राजा कै बारी। हौं जोगी ओहि लागि भिखारी॥
खप्पर लेइ बार भा मांगौं। भुगुति देइ, लेइ मारग लागौं॥
सोई भुगुति-परागति भूजा। कहाँ जाउं अस बार न दूजा॥
अब घर इहां जीउ ओहि ठाऊं। भसम होउं बरु तजौं न नाऊं॥
जस बिनु प्रान पिंड है छूंछा। धरम लाइ कहिहौं जो पूछा॥
तुम्ह बसीठ राजा के ओरा। साखि होहु एहि भीख निहोरा॥
जोगी बार आव सो जेहि भिच्छा कै आस।
जो निरास दिढ़ आसन कित गौने केहु पास?" ॥३॥

शब्दार्थ—आनु जो=जिसके लिए आये हो। आएउं लेई=लेने आया है। कस न लेहु=क्यों नहीं लूंगा। बार=दरवाजे पर। लेई मारग लागौं=अपने मार्ग पर चला जाउंगा। भूजा=मांग। धरम लाइ=धर्म लिए हुए सत्य, सत्य-सत्य। भीख निहोरा—भिक्षा के निमित्त खुशामद करता हूँ। निरास=कामना रहित।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने रत्नसेन के माध्यम से उसके अभीष्ट-प्राप्ति पद्मावती के सम्बन्ध में कहलाया है—

रत्नसेन ने कहा कि निश्चय ही मैं भिक्षा के निमित्त ही आया हूं। यदि राजा देगा तो क्यों नहीं लूंगा? पद्मावती राजा की सुपुत्री है, उसी के कारण मैं भिखारी बन कर आया हूं। अतः आपके द्वार पर खड़ा होकर खप्पर हाथ में धारण करके भिक्षा की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी इस भिक्षा को लेकर मैं वापस चला जाउंगा या अपने मार्ग को

ग्रहण कर लूंगा। यही भिक्षा हमारी पूजा है और यही हमारे जीवन की परमगति है। इस प्रकार का दूसरा दरवाजा और कौन सा होगा जहां जाकर मैं अपनी भिक्षा पद्मावती को प्राप्त कर सकूं। मेरा तन यहां है और प्राण पद्मावती के पास हैं। मैं यदि जलकर भी राख हो जाऊं तो कोई चिन्ता नहीं है। किन्तु मैं अपनी हृदयेश्वरी पद्मावती का नाम लेना कदापि नहीं छोड़ सकता हूँ। योगी रत्नसेन ने कहा—

बिना प्राण के शरीर जैसे व्यर्थ है, वैसे ही पद्मावती के बिना मेरा शरीर और प्राण अधूरा है, व्यर्थ है। मैं धर्म की शपथ खाकर कहता हूं कि मैंने वही बताया है जो आप लोगों ने पूछा है। तुम राजा के दूत हो, तो, मैंने जो भीख पाने की प्रार्थना की है; इसके तुम गवाह हो। व्यंजना यह है कि तुम भी राजा से मेरी ओर से इस कार्य के लिए प्रार्थना करो-मेरी मदद करो।

राजा ने कहा कि जिस योगी को भिक्षा पाने की आशा होती है वही दरवाजे पर आने का साहस कर सकता है, कोई दूसरा, आना तो क्या इस प्रकार का विचार भी नहीं बना सकता है। आशाहीन अपने आसन पर ही डटा रहता है वह किसी के भी निकट मांगने के निमित्त नहीं जाता है या क्यों जाए? तात्पर्य यह है कि मैं रत्नसेन, पद्मावती का भिखारी बनकर दरवाजे पर सामने आया हूं। अतः भिक्षा लेकर ही वापस जा सकूंगा।

मुनि बसीठ मन उपजी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहि पीसा ॥
जोगी अस कहुँ कहै न कोई। सो कहु बात जोग जो होई ॥
यह बड़ राज इंद्र कर पाटा। धरती परा सरग को चाटा? ॥
जौं यह बात जाइ तहं चली। छूटहिं अबहिं हस्ति सिंघली ॥
औ जौं छुटहिं बज्र कर गोटा। बिसरिहि भुगुति, होइ सब रोटा ॥
जहं केहु दिस्टि न जाइ पसारी। तहां पसारसि हाथ भिखारी ॥
आगे देखि पांव धरु, नाथा। तहां न हेरु टूट जहं माथा ॥

यह रानी तेहि जोग है जाहि राज औ पाटु।
सुंदरि जाइहि राजघर, जोगिहि बांदर काटु ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—मन उपजी रीसी—मन में क्रोध उत्पन्न हुआ। धरती परा सरग को चाटा—धरती पर खड़ा हुआ कौन स्वर्ग या आकाश चाटता है। (तात्पर्य यह है कि राजा स्वर्गवत् ऊंचा है और तुम धरती पर पड़े धूल चाटते हो।) गोटा—गोला। बिसरिहि—भूल जाओगे। रोटा-गुंधे हुए आटे की दबी हुई रोटी के समान हो जाओगे। दिस्टि—दृष्टि। पसारी—फैलाई या दौड़ाई। हेरु टूट जहं माथा—वहां मत देखो जहां देखने पर मस्तक टूटने का भय हो। बांदर-काटु—बन्दर काटे। (मुहावरा है, अर्थात् जोगी का बुरा हो या उसका नाश जाय। रानी पद्मावती तो मुक्ति या भोग भोगेगी, जोगी बन्दर का मुंह काला हो या वह चूल्हे में पड़े, उस रानी का जोगी से क्या काम, या क्या संयोग।)

बातों में आयेंगे तो हम स्वयं भी वैसे ही पिस जायेंगे जैसे कि जौ के साथ घुन भी पिस जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तुम्हारी बातों में आ गये तो तुम तो दण्ड भोगोगे ही, साथ ही हम भी राजदण्ड के अधिकारी होंगे। योगी को जो बातें करनी चाहिए वैसी बातें तुम क्यों नहीं करते हो। तात्पर्य यह है कि भोग विलास की यह वार्ता तुम्हें योगी होकर शोभा नहीं देती है। तुम्हें तो योगीजनोचित बात कहनी चाहिए। यह राजा बहुत बड़ा है और इसका राज पाट भी बहुत बड़ा है। ऐसा कौन है जो धरती पर खड़े होकर स्वर्ग के समान ऊंचे राजा के सामने जाकर खड़ा हो। तात्पर्य यह है कि धरती का कोई भी प्राणी उसके लिए नहीं है जिसे तुम चाह रहे हो। यदि तुम्हारी इस वार्ता का पता राजा को लग गया तो तुम्हारी खैर नहीं है। तुरन्त सिंहली हाथी आकर तुम्हें और तुम्हारे साथियों को रौंद डालेंगे और यदि वज्र के गोले छूटने लगे तो तुम अपनी सारी भक्ति-साधना भूल जाओगे तथा पूरी तरह खूंद या गूंथ दिये जावोगे।

तुम स्वयं ही अपने मन में विचार करो कि जहां दृष्टि तक दौड़ाना संभव नहीं है, वहां तक तुम भिखारी बनकर हाथ फैला रहे हो या फैलाना चाहते हो। व्यक्ति को चलते समय आगे पैर तभी रखना चाहिए जब आगे का मार्ग साफ और समतल हो। यदि ऐसा नहीं है तो उसे वहां देखना या दृष्टि दौड़ाना ही ठीक नहीं है जहां देखने मात्र से मस्तक टूट जाये। दूतों ने बताया कि वह राजकुमारी तो उसके योग्य है जिसके पास राज-पाट है। वह सुन्दरी तो राजघर या राजप्रासादों में जाकर जोवनयापन करेगी, जोगी का तो मुंह काला हो या वह चूल्हे में जाये। तात्पर्य है कि किसी जोगी जती से पद्मावती का संयोग और सम्मिलन संभव नहीं है। तुम जैसों के भाग्य में तो इतस्ततः भ्रमण ही लिखा है, सो तुम भटको-भ्रमो।

जौं जोगी सत बांदर काटा। एकै जोग, न दूसरि बाटा ॥
औ साधना आवै साधे। जोग-साधना आपुहि दाधे ॥
सरि पहुँचाव जोगि कर साथू। दिस्टि चाहि अगमन होइ हाथू ॥
तुम्हरे जोर सिंघल के हाथी। हमरे हस्ति गुरू हैं साथी ॥
अस्ति नास्ति ओहि करत न बारा। परबत करै पावं कै छारा ॥
जोर गिरे गढ़ जावत भए। जे गढ़ गरब करहिं ते नए ॥
अंत क चलना कोइ न चीन्हा। जो आवा सो आपन कीन्हा ॥
जोगिहि कोह न चाहिय, तस न मोहि रिसि लागि।
जोग तंत ज्यौं पानी काह करै तेहि आगि? ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—आपुहि दाधे—स्वयं को ही जलाती है। सरि पहुँचाव—बराबर या ठिकाने पहुंचा देना है। दिस्टि चाहि अगमन होइ हाथू—दृष्टि पहुंचने के पूर्व ही योगी का हाथ पहुंच जाता है।

ससंदर्भ व्याख्या—रत्नसेन ने दूतों की बात सुनकर कहा कि हे दूतो! यदि जोगी बन्दर काटा है तो भी उसके पास जोग के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। तात्पर्य अन्य कोई मार्ग उसके पास है ही नहीं। अन्य साधनाएं तो साधने से प्राप्त होती है, किन्तु योग की साधना का तात्पर्य तो स्वयं को जलाना भर है या जलाने से ही योग की सिद्धि प्राप्त होती है। योगी योग का

साथ करने से बराबरी पर पहुंच जाता है। दृष्टि से आगे भी उसका हाथ पहुंच जाता है। तुम्हारे पास यदि सिंहल के मस्त और शक्तिशाली हाथी है तो हमारे पास हमारे साथी योगी–यती हैं। हाथियों को नष्ट करने में हमें तथा हमारे गुरु को देर नहीं लगेगी। पर्वत तो उनके निमित्त पांव की धूल हैं। गढ़ का घमंड मिट्टी में मिल जाता है। बड़े-बड़े प्रासाद और नये मंदिर जिनकी तुमने चर्चा की है तथा जो रानी के लिए तुमने आवश्यक बताये हैं, वे सभी गिरते या नष्ट होते जाते है, तात्पर्य शीघ्र ही ढह जायेंगे। अन्त में चला जाना कोई नहीं पहचानता है। व्यंजना यह है कि यह कोई नहीं पहचानता कि जब जिसे समाप्त होना होता है, हो ही जाता है, उसका ठहरना कठिन है। जो भी इस संसार में आता है अपनी ही गर्वोक्ति करता है। जोगी को क्रोध की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमें तुम्हारी बातों का क्रोध नहीं लगा है। योगतत्व तो पानी के समान शीतल और शांति का प्रदाता है; विचारी अग्नि उसका क्या कर सकती है?

विशेष—१. इस पद में रत्नसेन के माध्यम से उन सभी प्रश्नों का एक-एक करके उत्तर प्रस्तुत किया है जो दूतों ने राजा रत्नसेन से कहे थे। स्पष्टीकरण के निमित्त उन्हें यहां दिया जा रहा है—

दूतों के वचन	राजा के उत्तर
१. योगी को बंदर काटता है।	१. बन्दर के काटने पर भी जोगी का मार्ग जोग ही है।
२. आगे देख कर पैर रखो।	२. योग साधना में आगे क्या देखना, उसमें तो अपने को चलाना ही है।
३. राजा इन्द्र के समान राज-पाट से सुशोभित है।	३. योग का साथ करने से जोगी बराबरी पर पहुँच जाता है।
४. जहां तक दृष्टि नहीं जाती तुम हाथ फैलाते हो।	४. जोगी का हाथ बहुत दूर पहुँचता है। उसके लिए कुछ भी अगम नहीं है।
५. सिंहल हाथी और गोले तुम्हें नष्ट कर देंगे।	५. हाथियों से भी बढ़ कर हमारे गुरु हैं। वे सभी कुछ नष्ट कर डालेंगे। अच्छे-अच्छे पर्वत उनकी दृष्टि मात्र से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।
६. रानी को प्राप्त करने के निमित्त राजपाट चाहिए।	६. राजपाट शीघ्र ही नष्ट होने वाला है। यह सदैव नहीं बना रहता है। अच्छे अच्छे प्रासाद गिर कर मिट्टी में मिल जाते हैं।

राजा करत तेहिं भीख मंगावै । भीख मांगि तेहि राज दियावै ।।
मंदिर ढाहि उठावै नए । गढ़ करि गरब खेह मिलि गए ।।
बसिठन्ह जाइ कही अस बाता । राजा सुनत कोह भा राता ।।
ठावहिं ठाँव कुंवर सब मांखे । केइ अब लीन्ह जोग, केइ राखे ? ।।
अबहीं बेगहि करौ संजोऊ । तस मारहु हत्या नहिं होऊ ।।
मन्त्रिन्ह कहा रहौ मन बूझे । पति न होइ जोगिन्ह सौं जूझे ।।
ओहि मारे तौ काह भिखारी । लाज होइ जौं माना हारी ।।
ना भल मुए, न मारे मोखू । दुवौ बात लागै सम दोखू ।।
रहै देहु जौं गढ़ तर मेले । जोगी कित आछैं बिनु खेले ? ।।
आछै देहु जो गढ़ तरे, जनि चालहु यह बात ।
तह जो पाहन भख करहिं अस केहिके मुख दांत ।। ६ ।।

शब्दार्थ—अस बाता—ऐसी वार्ता, कोह भा राता—क्रोध में लाल हो गया, मांखें—क्रोधित हुए, तस मारहु—उसे मार डालो, मन बूझे—मन में समझो या शांति धारण करो, पति न होइ—प्रतिष्ठा नहीं मिलती है, मोखू—मोक्ष, दोखू—दोष, पाहन—पत्थर, भख—भक्षण करना ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में राजा गधर्वसेन के क्रोध का वर्णन किया गया है तथा मन्त्रियों की तर्क बुद्धि पर भी प्रकाश डाला गया है । कवि कहता है—

दूतों की बात सुन कर राजा का मुख क्रोध से लाल हो गया । स्थान-स्थान पर इस चर्चा से राजकुमार लोग क्रोधित होने लगे । अब इन जोगियों का रक्षक कौन हो सकता है? अभी शीघ्रता से तैयारियां करके इन्हें मार डालो, भले ही योगियों के मारने से हत्या या पाप लगे । इस निर्णय को सुनकर कुछ मंत्रियों ने राजा को समझाया—"हे राजा ! उतावलापन मत करो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता है । मन में कुछ सोचो और विचारो तब कुछ करना । जोगियों से लड़ाई करने में कोई भी बड़प्पन नहीं है और न कोई लाभ ही। अगर इन्हें मार भी डाला गया तो क्या हुआ, वे भिखारी ही तो है । और यदि हमें पराजय मिली तो बड़ी लज्जाप्रद बात होगी। अतः न तो इनके हाथों मारे जाने में कल्याण है और न इन्हें मार कर ही सुख-लाभ हैं । दोनों ही प्रकार से हम पाप के भागी बनेंगे । यदि ये हमारे दुर्ग की पृष्ठभूमि में एकत्र भी हैं तो क्या हुआ ? ये बिना देशाटन किये हुए एक स्थान पर रह ही नहीं सकते हैं । अतः यदि वे गढ़ के नीचे हैं तो रहने दो, वे स्वतः ही प्रस्थान कर देंगे । यह बात यहीं समाप्त करदो । इन जोगियों के मुख में ऐसे कठिन दांत कहां हैं कि ये रोज पत्थर चबा कर अपना पोषण कर सकें । भाव यह है कि इनके पास खाने को इतनी खाद्य सामग्री कहां कि ये यहां अधिक दिन ठहर सकें । ये तो खाद्यान समाप्व होते ही यहां से चलते बनेंगे । अतः उस परिस्थिति में इन्हें मारने या भगाने का कोई आवश्यकता नहीं है ।

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए । राजे कहा बहुत दिन लाए ।।
न जनौं सरग बात दहुं काहा । काहु न आइ कही फिरि चाहा ।।
पंख न काया, पौन न पाया । केहि बिधि मिलौं होइ कै छाया ? ।।
सवरि रकत नैनहिं भरि चूआ । रोइ हंकारेसि मांझी सुआ ।।

परी जो आसु रकत कै टूटी । रेंगि चलीं जस बीर-बहूटी ॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती । सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती ॥
बांधी कंठ परा जरि कांठा । बिरह क जरा जाइ कित नाठा? ॥
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ रोइ लिखा अकत्थ ।
आखर दहै, न कोइ छुवै, दीन्ह परेवा हत्थ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—चाहा—लौट कर खबर दी, रेंगि—धीरे-धीरे चलना, बीर-बहूटी—राम की गुड़ियां, हंकारा—बुलाया, माझी—पद प्रदर्शक, नाठा—नष्ट होना, लिखनी बरुनि—बरौनियों की कलम बना कर, अकत्थ—अकथ्य, जो कहा न जा सके, दहै—जलते थे परेवा हत्थ—पक्षी के हाथों में दे दिया।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी, रत्नसेन की विरहावस्था के चित्रण के संदर्भ में कहते हैं—

राजा ने सोचा कि गये हुए दूत अभी तक वापस नहीं आये हैं। पर्याप्त समय व्यतीत हो गया, किन्तु उनका अभी तक लौटना संभव न हुआ। न मालूम स्वर्ग के सदृश सिंहल के राजमदिर में क्या और कैसी घटना घट रही होगी? किसी भी दूत ने लौट कर कोई भी समाचार नहीं दिया। विवशता यह है कि शरीर में न तो पंख हैं और न चरणों में वायु की गति ही है। अतः अब पद्मावती से किस प्रकार मिलन संभव हो सकता है? पद्मावती का स्मरण करते ही उसकी आंखों से रक्त की बूंदें गिरीं और वे ही बीर बहूटी बन कर भूमि पर लाल रग की दिखाई पड़ रही हैं। उसी लाल रक्त से उसने चिट्ठी लिखदी है। उस चिट्ठी को तोते ने लिया तो लाल अक्षरों के ही कारण तोते की चोंच भी लाल हो गई। उसने उस चिट्ठी को तोते के कंठ में बांध दिया, तो कंठ जल गया। यही कारण है कि उसके कंठ में जो कंठी का दाग है वह अभी तक बना हुआ है। वास्तविकता यह है कि विरह का दाग बड़ी मुश्किल से छूटता है या मिटता है।

जायसी कहते हैं कि नेत्रों की स्याही और बरौनियों की कलम बनाकर राजा ने विलाप किया और वह सब कुछ लिख दिया जो लिखने में नहीं आ सकता है या वर्णनातीत है। अकथनीय कैसे कथन की सीमाओं में आ सकता है। जिन प्रज्ज्वलित अक्षरों को कोई स्पर्श नहीं कर सकता है उनसे लिखित पत्रावली रत्नसेन ने हीरामन तोते को दे दी।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलकार की योजना है।

औ मुख बचन जो कहा परेवा । पहिले मोरि बहुत कहि सेवा ॥
पुनि रे संवार कहेसि अस दूजी । जो बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी ॥
सो अबहीं तुम्ह सेव न लागा । बलि जिउ रहा, न तन सो जागा ॥
भलेहि ईस हू तुम्ह बलि दीन्हा । जहं तुम्ह तहां भाव बलि कीन्हा ॥
जौ तुम्ह मया कीन्ह पगु धारा । दिस्टि देखाइ बान विष मारा ॥
जो जा कर अस आसामुखी । दुख महं ऐस न मारै बुखी ॥
नैन-भिखारी न मानहिं सीखा । अगमन दौरि लेहिं पै भीखा ॥
नैनहिं नैन जो बेधि गए, नहिं निकसें वै बान ।
हिये जो आखर तुम्ह लिखे ते सुठि लीन्ह परान ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—परेवा—पक्षी । संवार—संवाद । बलि जिउ रहा, न तन सों जागा—जीव तो पहले ही बलि चढ़ गया था; इसी से तुम्हारे आने पर वह शरीर न जागा । ईस—महादेव । भाव—भाता है । आसामुखी=मुख का आसरा देखने वाला । परान—प्राण ।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में रत्नसेन ने तोते से जो मौखिक संदेश कहा, उसी को लिपिबद्ध करते हुए जायसी कहते हैं—

रत्नसेन ने तोते से कहा कि हे पक्षी ! इस पत्र के अतिरिक्त पद्मावती से यह मौखिक सन्देश कहना । मेरी ओर से सेवा और भक्ति का सन्देश देना, फिर दुबारा मेरा स्मरण दिलाना और कहना कि तूने जो सेवा बलि मंदिर मे देवता को चढ़ाई थी, उससे सम्बन्धित तपस्वी अभी तक वहां पड़ा हुआ है । इतना ही नहीं तुम उससे यह भी कहना कि प्राणविहीन शरीर कब तक और कैसे जीवित रह सकता है ? तात्पर्य प्रिया का मिलन अनिवार्य है । यदि ऐसा न हुआ तो सफलता और मिलन संदिग्ध है । वियोग में प्राणों की बलि निश्चित है । यह तो तुमने अच्छा ही किया जो मेरी इस प्रकार की बलि दी, क्योंकि बलिदान या समर्पण वहीं शोभित हो सकता है जहां तू है और तेरे अभाव में यह भी संभव नहीं जान पड़ता है ।

हे रानी ! तुमने कृपापूर्वक जो देवमंदिर में पदार्पण किया तभी मुझे दर्शन देकर विष-बुझे बाणों से घायल कर दिया था तभी तो मैं चेतना शून्य हो गया । जो कोई भी व्यक्ति जिस किसी के निमित्त आशावान रहता है, उसे चाहिए कि प्रेमी को वह इतना दुखी न करे, कारण कि एक तो वह स्वयं दुखी रहता है और दूसरे दुखी को और दुख देकर मारना ठीक नहीं है । मैं तो तुम्हारे नेत्रों का भिखारी हूं, इन्हें शिक्षा आदि की आवश्यकता नहीं है, वे तो केवल दौड़कर तेरी व तेरे प्रेम की भिक्षा के अभिलाषी हैं ।

जायसी कहते हैं कि राजा ने हीरामन तोते के माध्यम से पद्मावती को कहलवाया कि हे रानी ! तेरे नेत्रों की कोरों में बिंध-जाने के कारण मेरे नेत्र निकलते नहीं हैं । वे तो अब पूरी तरह फंस गये है । नैन-बाणों के अभी तक न निकलने से बड़ी व्यथा सहनी पड़ रही है । इसके साथ ही हे रानी पद्मावती, देवमंदिर में अचेतावस्था को प्राप्त हो जाने पर तुमने मेरे हृदय पर जो चंदन के अक्षर लिखे थे, वे मेरे प्राणों में चुभ गये हैं और वे अब किसी भी प्रकार निकाले नहीं निकलते हैं । अब तो वे मेरे प्राणों में पैठ कर वहीं के हो गये हैं या वहीं अटक गये हैं ।

ते विष-बान लिखौं कहं ताईं । रकत जो चुआ भीजि दुनियाईं ।।
जान जो गारै रकत-पसेऊ । सुखी न जान दुखी कर भेऊ ॥
जेहि न पीर तेहि काकरि चिंता । पीतम निठुर होइं अस निंता ॥
कासौं कहौं विरह कै भाषा ? । जासौं कहौं होइ जरि राखा ॥
विरह आगि तन बन बन जरे । नैन-नीर सब सायर भरे ॥
पाती लिखी सवरि तुम्ह नावाँ । रकत लिखे आखर भए सावाँ ॥
आखर जरहि न काहू छूआ । तब दुख देखि चला लेइ सूआ ।।

अब सुठि मरौं; छूंछि गइ (पाती) पेम पियारे हाथ ।
भेंट होत दुख रोइ सुनावत जीउ जात जौं साथ ।। ९ ।।

शब्दार्थ—भीजि दुनियांई—सारी दुनिया ही भीग गई। गारे—निचोड़े। रकत पसेऊ—रक्त प्रस्वेद। काकरि—किसकी। निता—नित्य। सायर—सागर। छूंछि—खाली। सांवा—श्याम।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने रत्नसेन के माध्यम से कहलाया है—उन विषैले बाणों के सम्बन्ध में कहां तक वर्णन किया जा सकता है। उनके लगने के कारण इतना रक्त निकला कि सम्पूर्ण दुनिया ही भीगती गई। इस दुख का अनुभव वही कर सकता है जो अपने रक्त को प्रस्वेद के रूप में निकालता है। वह व्यक्ति, दुखी व्यक्ति का भाव क्या समझ सकता है जो कभी दुख की गलियों से नहीं गुजरा है। तात्पर्य यह है कि सुखी व्यक्ति दुखी के हृदयगत भावों को कभी नहीं जान पाता है।

जायसी वर्णन करते हैं कि जिसने कभी दर्द का अनुभव ही नहीं किया वह किसी के सम्बन्ध में क्या चिन्तित हो सकता है? तात्पर्य यह है कि नहीं हो सकता है। प्रियतम तो सदैव ऐसा ही निष्ठुर होता है। मैं अपनी विरह-जन्य पीड़ा या वेदना के बोल किससे कहूं? मैं जानता हूं कि जिस किसी से भी कहूंगा वह भी जल कर राख हो जायगा। विरहाग्नि से तन और मन दोनों ही जल जाते हैं। अर्थ है घर में रहते हुए घर और शरीर जलने लगा और योग के निमित्त जब वन में पहुंचा तो सम्पूर्ण वन जलने लगा।

आंखों के आंसुओं से सारे सागर भर गये। मैंने तुम्हें स्मरण करके पत्र लिखा है, रक्त से मैंने लिखा है पर विरहाग्नि की तपन से अक्षर काले हो गये हैं। वे जल रहे थे और इसी कारण कोई भी उनका स्पर्श नहीं कर पाता था। तभी मेरे दुख को देखकर तथा मन में दुखी होकर पत्रवाहक हीरामन तोता तेरे निमित्त मेरा पत्र लिए चला आया। अब मैं भले ही प्राणों की बलि दे दूं किन्तु प्रियतमा के हाथ में तो चिट्ठी कोरी या खाली ही गयी है। कितना शुभ होता यदि मेरे प्राण भी तुम्हारे साथ चले जाते और मिलन क्षणों में रो-रोकर अपना दुखड़ा दूसरे को सुनाता चलता। पर हाय! यह संभव न हो सका और अब सिवाय रोने के और कुछ भी तो अपने वश में या हाथ में नहीं है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में वर्णन भावप्रवण हो गया है तथा विरहानुभूति की व्यंजना विशद और अतिशयोक्तिपूर्ण हो गई है।

२. कवि ने अपने माध्यम से रत्नसेन की प्रेमिल भावनाओं का चित्र साकार कर दिया है। भाषा, प्रेषणीय गुण से युक्त हो अभिव्यक्ति में सार्थक दिखाई देती है।

कंचन तार बांधि गिउ पाती। लेइ गा सुआ जहां धनि राती॥
जैसे कवंल सूर के आसा। नीर कंठ लहि मरत पियासा॥
बिसरा भोग सेज सुख वासा। जहां भौंर सब तहां हुलासा॥
तौ लगि धीर सुना नहि पीऊ। सुना त घरी रहै नहि जीऊ॥
तौ लगि सुख हिय पेम न जाना। जहां पेम कत सुख बिसराना?॥
अगर चंदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू॥
कथा कहानी सुनि जिव जरा। जानहुं घीउ बसंदर परा॥
बिरह न आपु संभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ पिउ करत राति दिन जस पपिहा मुख सूख॥ १०॥

शब्दार्थ—गिउ=गले में । कंचन तार=कंचन के या सुनहले तागे में । धनि राती = धन्या पद्मावती सुन्दरी थी । नीर कठ लहि मरत पियासा=कंठ तक पानी में रहता है, फिर भी प्यासा मरता है । बिसरा=विस्मृत किया । सुख-बासा=सुखी जीवन या मिलन कक्ष के प्रसाधन । हुलासू = आनंद । सुख बिसराना—सुख विस्मृत हो जाता है । घीउ=घृत । बसंदर=वैश्वानर या अग्नि । जामा=उत्पन्न हुआ । संभारे=सभाले । मुख सूख=मुख सूख गया ।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में राजा रत्नसेन के पास से हीरामन तोते के गमन का प्रसग वर्णित है । वह पद्मावती के पास पहुंचा । जायसी ने कहा—

सोने के तार से बंधी हुई (गले में) पत्री लेकर सुआ चल दिया । वह वहां पर जा पहुंचा जहां अनुरक्ता प्रिया पद्मावती थी । जिस प्रकार कमल सूर्य की आशा में कंठ तक जल पाकर भी प्यासा रहता है उसी प्रकार सब सुख होते हुए भी वह रत्नसेन की आशा में अतृप्त थी । पद्मावती ने रत्नसेन के वियोग में सुख भोगों को पूर्णतः छोड़ दिया था । वह मिलन और शयन कक्ष में रह कर भी सभी प्रसाधनों और भोग-विलास के साधनों से दूर रहती थी । कारण उसका सुखभोग तो वहीं था जहां उसके रस का ग्रहीता भ्रमर विद्यमान था । वह अपने असली भ्रमर के अभाव में व्यथित और पीड़ित थी ।

जायसी कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जभी तक धैर्य धारण कर सकता है जब तक कि उसे प्रियतम की सूचना नहीं मिलती है । जैसे ही उसे प्रिय का नाम याद आता है वैसे ही वह उसके बिना रहना उचित नहीं समझता है । व्यंजना यह है कि वह प्रिय के अभाव में जीवित नहीं रह सकता है । वस्तुतः सुख जभी तक रहता है जब तक कि हृदय में प्रेम का कमल विकसित नहीं होता है; उसके अंकुरित होते ही वह सुख और आराम को नहीं पा सकता है । जिस हृदय में प्रेम है वहां सुख और आराम कहां है ? अर्थात जब तक प्रेम का सुख-विश्राम है, तब तक हृदय में सच्चा प्रेम जम ही नहीं सकता है । प्रेम तो विरह के कारण ही उत्पन्न और फलता-फूलता है । शीतल अगर और चंदन भी विरह में पद्मावती के तन-मन को जलाते हैं । शरीर के वस्त्र भी उसके लिए अग्निवत् प्रतीत होते थे—तात्पर्य दाहक थे । उपदेश और प्रेम की कथा-कहानी सुनकर उसका प्राण और भी जलता था; मानो आग में घृत पड़ गया हो ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती विरह में इतनी विवश और अव्यवस्थित सी रहती थी कि वह स्वयं अपने को संभाल नहीं पाती थी । वस्त्र मैले थे और सिर के केश रूखे थे । रात दिन वह "हा प्रियतम !, हा प्रिय !!" कह कर समय बिताती थी ! उसकी 'प्रिय-प्रिय' की यह रटन ठीक चातक की भांति थी जो स्वाति बूंद के जल के निमित्त रट लगाता रहता है।

विशेष—१. पद्मावती के प्रेम की एकनिष्ठता का वर्णन किया गया है और उसकी तुलना चातक के प्रण और संकल्प से की गई है । पद्मावती का मुख पपीहे की सी रटन से सूखा जाता था ।

२. उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलंकार का प्रयोग किया गया है ।

ततखन गा हीरामन आई । मरत पियास छांह जनु पाई ॥
भल तुम्ह, सुआ ! कीन्ह है फेरा । कहहु कुसल अब पीतम केरा ॥
बाट न जानौं, अगम पहारा । हिरदय मिला न होइ निनारा ॥
मरम पानि कर जान पियासा । जो जल मह ँ ता कह ँ का आसा ? ॥
का रानी यह पूछहु बाता । जिनि कोइ होइ पेम कर राता ॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी । अहा सो महादेव मठ जोगी ॥
तुम्ह बसत लेइ तहां सिधाई । देव पूजि पुनि ओहि पह ँ आई ॥
दिस्टि बान तस मारेहु घायल भा तेहि ठांव ।
दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नांव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—छांह जनुपाई=मानो मरते हुए को छांह या शरण मिल गई हो । फेरा=वापसी । वाट=मार्ग । अगम=अगम्य । निनारा=पृथक् । दिस्टिवान=दृष्टि-बाण । तसमारेउ=उसके मारे ।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती विरह में जल ही रही थी कि इतने में ही हीरामन तोता आ गया । उसके आते ही पद्मा को ऐसा लगा मानो मरते हुए ने किसी सबल शरण को पा लिया हो । हे तोते तुम भले हो जिससे तुम वापस आ गये हो । अत. अब तुम प्रियतम की कुशल-वार्ता करो । मैं तो स्वयं प्रियतम के पास जाने का मार्ग नहीं जानती हूँ, मार्ग में अगम्य पहाड़ पड़ते हैं । अब तो उस प्रिय से प्यार हो गया है और हृदय मिलकर अभिन्न हो गया है, तो पृथक् नहीं हो सकता है ।

जायसी ने कहा कि पानी के महत्व को वही व्यक्ति जान सकता है जो प्यासा हो, तृषित हो । जो जल में रहते हैं वे पानी की इच्छा नहीं करते हैं अत: उस प्यास के महत्व को भी नहीं समझ पाते हैं । इतनी वार्ता सुनकर रानी से हीरामन तोते ने कहा—हे रानी ! इस विषय में क्या कहती हो ? कोई प्रेम में अनुरक्त ही न हो । तुम्हारे दर्शनों के लिए जो योगी महादेव के मंडप में आया है, वह वियोगी हो गया है । इस वियोग का सूत्रपात जब से हुआ है कि जब तुम बसन्त के दिन मंडप में गई थीं और तुम्हें उसने देखा था । तुम तो पूजा करके वापस आ गईं, किन्तु राजा के मन में वियोग की चिनगारी छोड़ आई हो । तात्पर्य यह है कि तुम्हारे वियोग में राजा वियोगी का कठिन जीवन बिताता है । उसे तुम्हारा अभाव खलता है । हे रानी ! तुमने अपनी दृष्टि का बाण इतनी तीव्रता से मारा है कि वह उसकी चोट से आहत होकर वहीं पर गिर गया है । अब तो वह पद्मावती के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता है । हर क्षण वह पद्मावती-पद्मावती नाम लेकर ही समय काटता है । दूसरा कोई भी नाम उसे प्रिय नहीं लगता है ।

ईंगुर भा पहार जौं भीजा । पै तुम्हार नहिं रोवं पसीजा ॥
तहां चकोर कोकिला, तिन्ह हिय मया पईठि ।
नैन रकत भरि आए, तुम्ह फिरि कीन्हि न दीठि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—रोंव-रोंव—रोम-रोम । बान—बाण । सूतहिं-सूत—शरीर के प्रत्येक स्रोत में । कया—गुदड़ी । रतनारा—रक्तिम । बूड़ि उठा—डूब गया । ताता—गर्म । मजीठ—मंजिष्ठा । बनसपती—वनस्पतियां लाल हो गई । पुहुमि—पृथ्वी ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में भी पूर्ववत् प्रसंग ही है । जायसी वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

रत्नसेन के रोम-रोम में पद्मावती के प्रेम—बाण बिंधते गये और रोम-रंध्र से रक्त इस प्रकार बहने लगा जैसे पसीना बह रहा हो । विरह में आंखों से विरह की धार बह चली । परिणाम यह निकला कि शरीर के कपड़े रक्तप्रस्वेद प्लावित हो गये । लाल रंग से रंग गये । प्रभात काल में उदित होने वाला सूर्य जो स्वभावतः लाल होता है मानो उसी रंग से लाल हो गया । जायसी ने विरह की विशदता की व्यंजना के निमित्त यह कल्पना कर ली है । इतना ही नही उसी लाल रंग से मजीठ और टेसू भी लाल वर्ण के हो गये ।

जायसी कहते हैं कि जहां-जहां भी वह रक्त पृथ्वी पर गिरा वहीं वह लाल होती गई । इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी लाल हो गई । लाल भी साधारण नहीं बिल्कुल गेरू के समान रक्तिम होती गई । जो भी पक्षी आदि वहां थे, वे सभी लाल हो गये । वसन्तोत्सव मे जो नवलरुधिर लाली खिलती दिखाई देती है, वह मानो उसी से लाल होकर पल्लवित और विकसित होती जाती है । सभी योगी—यति, सन्यासी उसी रक्त से भीगकर गेरुआ वस्त्र धारण किये, मानो लाल हो गये । उसी रक्त से सती की सारी काया में आग सी लग गई और वह लाल हो गई । आकाश के बादलों में जो लालिमा दिखाई देती है वह भी उसी का परिणाम है । पहाड़ भी उस रक्त से इस प्रकार लाल होते गये कि ईंगुर ही पैदा हो गया, किन्तु तुम्हारा एक भी रोम, प्रेमजन्य विरह के रंग में नहीं भीगा दिखाई देता है ।

जायसी कहते हैं कि इस प्रकार के वियोग को देखकर चकोर और कोयल के हृदय में दया भाव जाग्रत हुआ और इनके नेत्रों में रक्तिम लाली उभरने लगी । आंखों में आंसू डबडबाने लगे, किन्तु हे रानी ! तुम इतनी निष्ठुर हृदया हो—पाषाणी हो कि तुमने उसकी ओर एक बार भी दृष्टिपात नहीं किया है ।

विशेष—१. इस पद में भी विरह-वेदना का वर्णन बड़ा विशद और गम्भीर है । प्रकृति के विशद और प्रगाढ़ रूप को देखकर वर्णन बड़ा व्यंजक और मार्मिक बन गया है ।

२. मानवीय प्रभाव से संयुक्त यह वर्णन बड़ा संवेदनापूर्ण हो गया है । जायसी की काव्यात्मक प्रतिभा का ही परिणाम है कि यह विशद और गम्भीर वर्णन सम्भव हो सका है ।

३. इस पद में हेतूत्प्रेक्षा का अच्छा प्रयोग हुआ है। जायसी की यह विशेषता है कि वे बड़ी आसानी से उत्प्रेक्षा को या उपमा को हेतूत्प्रेक्षा में बदल डालते हैं।

ऐस बसंत तुम्हहि पै खेलहु। रकत पराए सेंदुर मेलेहु॥
तुम्ह तौ खेलि मंदिर मह आई। ओहि क मरम पै जान गोसाई॥
कहेसि जरैं को बारहि बारा। एकहि बार होहुँ जरि छारा॥
सर रचि चहा आगि जो लाई। महादेव गौरी सुधि पाई॥
आइ बुझाइ दीन्ह पथ तहां। मरन-खेल कर आगम जहां॥
उलटा पथ पेम के बारा। चढ़ै सरग, जौ परै पतारा॥
अब धंसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै सांस, कि मरै निरासा॥
पाती लिखि सो पठाई इहै सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै, काह रजायसु होइ? ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—मेलेहु—डालो, मन्दिर मह आई—मन्दिर में आगई, गोसाई—ईश्वर, को बारहि बार—बारम्बार कौन मरे या जले। जरि छारा—जलकर राख हो जाता है, दीन्ह पथ तहां—वहां का मार्ग बताया, मरन खेल कर आगम जहां—जहां प्राण निछावर करने का आगम है, उलटा पन्थ—योगियों का अन्तर्मुख मार्ग-विषयों की ओर जाते हुए मन को उलटा पीछे की ओर फेरकर ले जाने वाला मार्ग, पावै सांस—जीवन प्राप्त करना।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पक्तियों में जायसी रत्नसेन के तोते के प्रति कहे गये कथन को लिपिबद्ध कर रहे हैं—

जायसी कहते हैं कि हे तोते! पद्मावती से कहना कि तुम्हीं ऐसा निष्ठुर वसन्त खेलने वाली हो कि दूसरे के रक्त को सिंदूर सा मलती हो। तुम तो वसन्त खेलकर महलों में चली गईं पर तुम्हारे प्रेमी के मन पर जो बीती है, उसे भगवान ही जानता है। रत्नसेन ने कहा कि बार-बार कौन मरे और उसका कष्ट सहे? एक ही बार जलकर राख क्यों न हो जाया जाय। चिता जलाकर जब रत्नसेन आग लगाने लगा तब महादेव और पार्वती को उसकी दयनीय दशा की स्मृति आई। उन्होंने आकर आग बुझाई और रत्नसेन को समझाया। जहां पहले मृत्यु का भीषण खेल चल रहा था वहां पहुंच कर शंकर पार्वती ने उसकी सुधि ली, रक्षा की। पद्मावती के पास पहुंचकर तोते ने कहा कि प्रेमद्वार का रास्ता उल्टा होता है। जो पहिले पाताल में गिरता है तभी वह प्रेम के स्वर्ग पर चढ़ता है इसीलिए अब रत्नसेन तुम्हें पाने की आशा लेकर पाताल में धंसना चाहता है, चाहे वहां उसे सांस मिले अथवा बिना श्वांस होकर मर ही क्यों न जाय।

यों अपना दुख रोकर अपनी लिखी प्रेम पाती तुम्हें भेजी है। कौन जाने कि इस बीच उसके प्राण रहें या न रहें। हे रानी! अब तुम्हारी क्या आज्ञा है, सो बताओ।

विशेष—१. इन पंक्तियों की रसात्मकता स्वयं स्पष्ट है। कवि-वर्णन पद्धति पाठकों को प्रभावित करती है।

२. प्रेम-साधना की कठिनाइयों की ओर कवि ने संकेत किया है।

कहि कै सुआ जो छोड़ेसि पाती । जानहु दीप छुवत तस ताती ॥
गीउ जो बांधा कंचन तागा । राता सांव कंठ जरि लागा ॥
अगिनि सांस संग निसरै ताती । तरुवर जरहिं ताहि कै पाती ॥
रोइ रोइ सुआ कहै सो बाता । रकत कै आंसु भएउ मुख राता ॥
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा । सो कस जरै बिरह अस घेरा ॥
जरि जरि हाड़ भएउ सब चूना । तहां मासु का रकत बिहूना ॥
वह तोहि लागि कया सब जारी । तपत मीन, जल देहि पवारी ॥

तोहि कारन वह जोगी भसम कीन्ह तन दाहि ।
तू असि निठुर निछोही, बात न पूछै ताहि ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—तस ताती—गर्म । गीउ—गले में । बांधा कंचन-तागा—कंचनवर्णी धागा बंधा हुआ था । सांव—श्याम । निसरै—निकलती है । ताती—गर्म । देख कंठ जरि लाग सो गेरा—उसका कंठ जलने लगा । अस घेरा—इस प्रकार घिरा हुआ । सब चूना—चूर्ण हो गये । बिहूना—विहीन । पवारी—फेंक दे । तन दाहि—शरीर को जलाकर । निछोही—बिना मोह वाली ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी हीरामन तोते के वचनों को लिपिबद्ध कर रहे हैं जो उसने रानी पद्मावती से कहे थे—

तोते ने रत्नसेन की प्रेम-पत्रिका रानी पद्मावती को दे दी तथा उसने उस राजा की विषम परिस्थिति का वर्णन भी किया । रत्नसेन की पत्रिका विरह से इतनी तप्त थी कि वह आग से तपती हुई और गर्म भी दिखाई दे रही थी । वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो अग्नि परीक्षा के समय हाथों पर प्रतिष्ठित आग का कोई गोला हो । तोते की ग्रीवा पर जो रेशमी धागों का बंधान था वही मानो जल जल कर लाल और श्याम वर्ण वाली कंठी की धारियां थीं । उसकी श्वासों के साथ ही अग्नि की लपट निकल रही थी । इस विरहाग्नि की शिखा से वृक्ष भी जल रहे थे ।

जायसी कहते हैं कि उस पत्रिका की आग से सभी हड्डियां जल-जल कर चूना हो गई थीं, तात्पर्य समाप्त हो गई थीं । जब हड्डियां ही विरहाग्नि से झुलसा गई थीं तो फिर रक्तहीन मांस की तो बात ही क्या थी ? तोते ने रुदन भरे स्वर में सभी बातें कहीं और उसका मुख रक्त वर्ण के समान हो गया था । यह बातें कहते-कहते उसकी दशा व्यथा से भरपूर हो गई । हीरामन तोते ने बताया कि पत्री की जलन से मेरा कंठ भी जलने लगा है । इसी कारण मैंने इस पत्रिका को तुम्हारे सम्मुख डाल दिया है । हीरामन तोता कहता है कि हे रानी पद्मावती ! राजा रत्नसेन ने तुम्हारे वियोग में अपने शरीर को इस प्रकार जलाया है कि उसकी चेतना विलुप्त हो गई है । वह ऐसे तड़फता है जैसे जल-वियोग में मीन तड़फड़ाती है । हे रानी ! तुम्हीं बताओ कि क्या तुम उसके इस वियोग में तनिक भी कृपा नहीं कर सकती हो ? क्या तनिक भी प्रेम-जल प्रदान करके उसे जीवित रहने में सहायक नहीं हो सकती हो ?

तोते ने कहा कि हे रानी ! देखो तुम्हारे ही कारण वह प्रेम-योगी बना है और तुम्हारे ही कारण उसने अपने शरीर की भस्म को राख बना

दिया है। इसके विपरीत तुम इतनी निष्ठुर और निर्मोहिनी हो कि उस वियोगी का हाल-चाल तक पूछना पसंद नहीं करती हो।

कहेसि "सुआ ! मोसों सुनु बाता" । चहों तो आज मिलों जस राता ॥
पै सो मरम न जाना भोरा । जानै प्रीति जो मारि कै जोरा ॥
हौं जानति हौं अबही कांचा । ना वह प्रीति रंग थिर रांचा ॥
ना वह भएउ मलयगिरि बासा । ना वह रबि होइ चढ़ा अकासा ॥
ना वह भएउ भौंर कर रंगू । ना वह दीपक भएउ पतंगू ॥
ना वह करा भृंग कै होई । ना वह आपु मरा जीउ खोई ॥
ना वह प्रेम औटि एक भएउ । ना ओहि हिये मांझ डर गएऊ ॥

तेहि का कहिय रहब जिउ रहै जो पीतम लागि ।
जहं वह सुनै लेइ धंसि, का पानी, का आगि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—कहेसि—कहीं। मोसों—मुझसे। मारि कै जोरा—मारकर प्रीति जोड़ता है। कांचा—कच्चा। रांचा—रंग गया। भौंर कर रंगू—भ्रमर के से रंग वाला। जीउ खोई—प्राणों को खोकर। औटि—पगकर या पक कर। हिये मांझ—हृदय के मध्य। का पानी का आगि—क्या पानी और क्या अग्नि।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि हीरामन तोता की बात सुनकर रानी पद्मावती ने कहा—

पद्मावती तोते की वार्ता सुनकर कहने लगी—हे तोते ! तुमने तो मुझसे अपने मन की बात कह दी, किन्तु अब मेरी भी तो सुनो। यदि मैं चाहूं तो मैं उसके अनुराग और प्रेम को देखते हुए आज ही मिल लूं, किन्तु यह मेरे प्रेम का रहस्य ही है कि मैं उससे मिलना चाह कर भी नहीं मिलना चाहती हूं। हे तोते ! प्रणय मार्ग के रहस्यों को तो वही समझ सकता है जो पहले प्राणों को गंवाकर प्रीति जोड़ता है या उस मार्ग पर चरण रोपता है।

हे तोते ! मैं यह भली भांति जानती हूं कि वह प्रेम में अभी कच्चा है, अभी उसके मन में प्रणय का रंग कच्चा है, उसमें स्थिरता और परिपक्वता नहीं आने पाई है। नहीं कहा जा सकता है कि प्रेम के मलयगिरि से अभी उसने अपने को सुगंधित किया है या नहीं तथा क्या पता कि वह अभी सूर्य बन कर आकाश के वक्ष पर चढ़ा है या नहीं ? तात्पर्य यह है कि अभी तप साधना की ओर प्रवृत्त हुआ है या नहीं।

क्या पता कि अभी भी उसके हृदय में भ्रमर की सी आसक्ति का रंग चढ़ा है या नहीं ! और नहीं कहा जा सकता है कि वह अभी प्रेम-दीपक के निमित्त पतंगा बन कर समर्पित हुआ है या नहीं। तात्पर्य यह है कि अभी सक प्रेम-मार्ग की अनिवार्य शर्तों को उसने पूरा किया है या नहीं। साहसपूर्वक कटिबद्ध हुए बिना प्रेम-मार्ग में सफलता का सोपान दिखाई नहीं देता है। इसी कारण पद्मावती आगे की पंक्तियों में फिर हीरामन तोते से कहती है कि क्या वह राजा प्रेम मार्ग में विक्षिप्त सा हुआ है या नहीं। उसके पास भृंगी की कला है या नहीं ? मुझे यह भी तो ज्ञात नहीं कि विरह में वह अभी तक जीवित है या मर गया है। तात्पर्य मूर्च्छित हो गया है, या चैतन्य है। न मालूम कि मुझे उसका आवेशपूर्ण प्रेम प्राप्त हुआ है या नहीं। वह

मुझसे एक रूप हुआ है या नहीं? प्रेम मार्ग में जिस निर्भयता की आवश्यकता होती है, वह उसके हृदय से अभी तक निकली है या नहीं, हीरामन ये सभी बातें अभी तक मुझे ज्ञात नहीं हैं।

जायसी कहते हैं कि उस व्यक्ति के निमित्त क्या कहा जा सकता है जिसके जीवन का प्रत्येक क्षण प्रियतम के निमित्त ही निर्मित हुआ हो; वह तो पूर्णतः गौरवशाली है या महान है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह जहां कहीं भी प्रियतम की चर्चा सुने, वहीं उसे पाने के लिए प्रवेश करे या कदम बढ़ावे। उसे प्रियतम के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए आग और पानी का भी डर नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कठिन से कठिन कर्म से भी नहीं घबराना चाहिए।

विशेष—१. इस अंश में जायसी ने सबल भावनाओं को व्यक्त किया है। प्रेमी का जीवन सदैव प्रियतम के निमित्त होता है।

२. वर्ड्सवर्थ ने भी इससे मिलती जुलती बात कही है—"*Poetry is a spontaneous overflow of powerful feelings.*"

पुनि धनि कनक-पानि मसि मांगी। उतर लिखत भीजी तन आंगी॥
तस कंचन कहं चहिय सोहागा। जौं निरमल नग होइ तौ लागा?॥
हौं जो गई सिव-मंडप भोरी। तहवां कस न गांठि तैं जोरी॥
भा बिसंभार देखि कै नैना। सखिन्ह लाज का बोलौं बैना?॥
खेलहि मिस मैं चंदन घाला। मकु जागसि तौं देउं जयमाला॥
तबहुं न जागा, गा तू सोई। जागे भेंट न सोए होई॥
अब जौं सूर होइ चढ़े अकासा। जौं जिउ देइ त आवै पासा॥

तौ लगि भुगुति न लेइ सब रावन सिय जब साथ।
कौन भरोसे अब कहौं? जीउ पराए हाथ॥ १६॥

शब्दार्थ—धनि—स्त्री। कनक पानि—सोने का पानी। मसि—स्याही। बिसंभार—बेसुध। घाला—डाला। मकु—शायद या कदाचित। जागे भेंट न सोये होई—मिलन तो जागने पर ही होता है सोने पर नहीं।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में रानी पद्मावती रत्नसेन के पत्र का उत्तर दे रही है। उत्तर देने के निमित्त उसके कार्य-कलापों का वर्णन जायसी ने इन पंक्तियों में किया है। जायसी कहते हैं—

बालिका पद्मावती ने सोने के पानी की स्याही मंगवाई और रत्नसेन के पत्र का उत्तर लिखने को तत्पर हुई। उत्तर लिखते समय वह इतनी भाव विह्वल हो गई कि सात्विक शृंगारिक भावों से उसके शरीर की अंगिया बिल्कुल भीग गई। तात्पर्य यह है कि पत्र लेखन के समय रत्नसेन के नाम स्मरण मात्र से उसे रोमांच हो आया और वक्षस्थल स्वेद बिंदुओं से गीला हो गया। उसने पत्र में लिखा कि हे राजा! कंचन के लिए सुहाग की आवश्यकता होती है अथवा मुझ शुद्ध कंचना पद्मावती को पाने के लिए तुम्हे सौभाग्य संयुक्त होना आवश्यक है। जो निर्मल नग होता है वही सोने के साथ जड़ा जा सकता है। इन पंक्तियों में पद्मावती संकेत से यह भी बता रही है कि मैं भी तुझे तेरी तरह ही चाहती हूं। जब मैं शिव मंडप में गई थी तभी तूने मुझे पकड़ कर मेरे साथ ग्रन्थि बंधन क्यों नहीं कर लिया था। अब

पश्चाताप करने से क्या लाभ है। मेरे वहां पहुंचने पर बिल्कुल विपरीत घटित हुआ। मेरे नेत्रों को देखकर तू बेसुध हो गया, और मैं सखियों की लाजवश कुछ बोली नहीं। आवश्यकता इस बात की थी कि तू जाग्रत रहता और मुझ से वार्तालाप करता। मैंने खेल के बहाने तेरे शरीर पर चंदन भी छिड़का कि तू जाग जाय किन्तु तुम सोये रहे। मैं सोचती रही कि कदाचित तुम जाग जाओ तो मैं तुम्हें जयमाला पहिना दूं। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी तुम नहीं जागे। तुम यह तो जानते हो कि जागने पर ही मिलन हो सकता है, सोने से कहीं प्रिय मिलन होता है? भाव यह है कि साधक ईश्वर का साक्षात्कार तभी कर सकता है जबकि वह जाग्रतावस्था में हो। पद्मावती ने आगे पत्र में लिखा कि हे राजा! अब तो तुम मुझसे तभी मिल सकते हो जबकि सूर्य बनकर आकाश मार्ग से आओ, प्राणों को संकट में डालो। तब कहीं जाकर मुझसे मिलने के लिए निकट आओगे।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने पत्र में लिखा कि रावण के साथ जब तक सीता रही तब तक वह उसका भोग न कर सका। तात्पर्य यह है कि जब मैं तेरे पास गई तब तो तुमने मुझे अपनाया नहीं, बेहोश हो गये; अब जब कि मैं तुमसे बहुत दूर हूँ तब कैसे कहूँ कि मैं तेरी हो सकूंगी। अब तो मेरा जीवन दूसरे के अर्थात पिता के हाथों में है। वह जब चाहेगा, जिसके साथ चाहेगा तभी मुझे भेजेगा।

अब जौं सूर गगन चढ़ि आवै। राहु होइ तौ ससि कहं पावै॥
बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तू जोगी कित आहि अकेला॥
बिक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहं गएउ पतारा॥
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुंवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहं जोगी भएऊ॥
साध कुंवर खंडावत जोगू। मधु मालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहं सुरसर साधा। ऊषा लागि अनिरुध बर बांधा॥

हौं रानी पदमावती, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहिके प्रथम करै अपनास॥ १७॥

शब्दार्थ—जीउ पर खेला=प्राणों पर खेल गया। मिरगावति=मृगावती रानी। अपनाश=अपना विनाश। धंसा=प्रवेश किया। बारा=दरवाजे पर। साध=साधना। जोगू=योग्य।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्वानुसार। पद्मावती ने पत्र में आगे लिखा कि यदि तुम सूर्य हो तो आकाश पर चढ़ कर आ जाओ। अगर तुम राहू अपने को समझते हो तो कैसे शशि रूपी पद्मावती को प्राप्त कर सकते हो? बहुतों ने अपने प्राण इसी प्रक्रिया में खोये हैं। तू ही यहां अकेला साधक नहीं है। व्यंजना यह है कि साधक को इस प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता है। राजा विक्रमादित्य, प्रेम द्वार पर प्रवेश कर गया था और पाताल में स्वप्नावती के लिये गया। सदावच्छ मुग्धावती को प्राप्त करने के लिये वैरागी हो गया। इसी प्रकार राजकुमार मृगावती के लिये कंचनपुर गया था, उसने भी योगी का भेष धारण किया। कुंवर मनोहर ने मधुमालती के वियोग में अपने प्राणों को सुखा डाला और बड़ा सुन्दर योग साधा। इसी प्रकार सुरसर नामक

राजकुमार ने प्रेमावती के लिये कठोर साधना की। अनिरुद्ध ने अपनी प्रियतमा ऊषा के निमित्त सेना सजाकर भयंकर संग्राम किया।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने लिखा कि हे राजा! मैं धवलगृह में एक खण्ड पर निवास करती हूँ। मुझे वही प्राप्त कर सकेगा जो पहिले साधना के द्वारा अपना नाश कर लेगा।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने अनेक प्रेम साधकों की गाथाओं का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के पीछे जायसी का उद्देश्य प्रेम पंथ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना रहा है।

हौं पुनि इहां ऐस तोहि राती। आधी भेंट पिरीतम पाती॥
तहं जो प्रीति निवाहै आंटा। भौंर न देख केत कर कांटा॥
होइ पतंग अधरन्ह गहु दीया। लेखि समुद धंसि होइ मरजीया॥
रातु रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती॥
चातक होइ पुकारु पियासा। पीउ न पानि सेवाति कै आसा॥
सारस कर जस बिछुरा जोरा। नैन होहि जस चंद चकोरा॥
होहि चकोर दिस्टि ससि पाहां। औ रवि होइ कंवलदल माहां॥
महूँ ऐसै होउं तोहि कहं, कहि तौ ओर निबाहु।
राहु बेधि अरजुन होइ जीतु दुरपदी ब्याहु॥ १८॥

शब्दार्थ—निबाहै आंटा=निर्वाह कर सकता है। केतुकर कांटा=केतकी का फूल। मरजीया=गोता लगाने वाला। ओर निबाहु=प्रेम को अंत तक निभाना। राहु भेदि=रोहू मछली को भेद कर। जीतु=जीत कर। दुरपदी-ब्याहु=द्रोपदी रूपी पद्मावती से विवाह करो।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के पत्र की आगे की पंक्तियों का उल्लेख कर रहे हैं। वे कहते हैं—

पद्मावती ने पत्र में लिखा कि हे प्रियतम! मैं तुम पर वैसी ही अनुरक्त हूँ जैसे तुम मुझ पर। तुम्हारा पत्र क्या मिला मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मुझे साक्षात तुम्हीं मिल गये हो। अधिक नहीं तो तुम्हारे पत्र से अर्द्ध मिलन तो हो ही गया समझो। प्रिय, यदि तुम प्रेम का निर्वाह करना चाहते हो तो मार्ग में आने वाले कटकों की ओर ध्यान मत दो। जानते नहीं, जो प्रेम करते हैं वे अपने प्रेम का निर्वाह करने के लिये मार्ग के व्यवधानों और कंटकाकीर्ण पथों की परवाह नहीं करते। भौंरा केतकी के फूल से प्रेम करता है तो वह अपने प्रेम को निभाता भी है, भले ही उसे कंटकों का सामना करना पड़े। अतः तुम तो पतंगा बन जाओ और अपने ओठों से दीपक की ज्वाला को पकड़ लो। डुबकिया बन कर समुद्र में प्रवेश करो। जैसे दीपक की बत्ती स्नेह के रंग में रंगी हुई होती है उसी प्रकार तुम भी प्रेम में डूब जाओ और जलना स्वीकार कर लो। सीप जैसे स्वांति की ओर टकटकी लगाये रहती है वैसे ही तू भी अपने प्रेम की ओर दृष्टि लगाये रह। चातक जैसे कांक्षा बनकर पुकारता है वैसे ही तुम अपनी प्रेमिका की रट लगाये रहो। जैसे चातक अन्य कोई पानी नहीं पीता केवल स्वांति की आशा करता है वैसे ही तुम भी अपनी प्रेमिका को हृदय में स्थापित करलो। सारस जैसे अपने जोड़े से अलग होकर तथा चकवी अपने चकवे से बिछुड़ कर और चकोरी जैसे चंदा पर दृष्टि लगाती

है और सूर्य तालाब में खिले हुये कमल से प्रेम करता है वैसे ही हे राजा ! तू भी प्रेम में एकनिष्ठ बन जा। मैं भी तुझ से वैसा ही प्रेम करती हूँ जैसा कि मैंने तुमसे कहा है। अतः शक्तिसम्पन्न बन प्रेम का निर्वाह करो। यदि तुम शक्तिशाली हो तो अर्जुन की भांति रोहू मछली को भेद कर मुझ पद्मावती रूपी द्रौपदी को ब्याह ले जाओ। तात्पर्य यह है कि अपने प्राणों की बाजी लगा कर मुझे प्राप्त करो।

विशेष—इस पद में रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार हैं।

राजा यहां ऐस तप झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा ॥
नैन लाइ सो गएउ बिमोही। भा बिनु जिउ, जिउ दीन्हेसि ओही ॥
कहां पिंगला सुखमन नारी। सूनि समाधि लागि गइ तारी ॥
बूंद समुद्र जैस होइ मेरा। गा हेराइ अस मिलै न हेरा ॥
रंगहि पान मिला जस होई। आपहि खोइ रहा होइ सोई ॥
सुऐ जाइ जब देखा तासू। नैन रकत भरि आए आंसू ॥
सदा पिरीतम गाढ़ करेई। ओहि न भुलाइ, भूलि जिउ देई ॥
मूरि सजीवन आनि कै औ मुख मेला नीर।
गरुड़ पंख जस झारै अमृत बरसा कीर ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—झूरा=सूख गया या झर गया। छार करि कूरा=राख का कूड़ा हो गया है। नैन लाइ=नेत्रों से ध्यान मग्न होकर। सुखमन=सुषुम्ना नाड़ी या मध्य नाड़ी। सूनि-समाधि=शून्य समाधि। तारी=त्राटक या टकटकी। पिरीतम=प्रियतम। गाढ़=कठिन अवस्था।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में रत्नसेन की विरह दशा का वर्णन किया गया है। कवि कहता है—

राजा, पद्मावती के वियोग में इस प्रकार झूर रहा था या सूखता जा रहा था कि शरीर विरह-आग से जलकर क्षार या मिट्टी का कूड़ा बन गया था। तात्पर्य विनष्ट होता जा रहा था। नेत्रों की आग से रत्नसेन को अपनी ओर ध्यानमग्न करके पद्मावती तो चली गई, किन्तु वह उसी की ओर आकर्पित होता रहा। आकर्षण की प्रक्रिया में बिना जीवन के वह मृतक सा हो गया। उस रानी पद्मावती की पिंगला सुषुम्ना नाड़ी की गति रुक जाने से वह शून्य या निर्विकाल्पिक समाधि में लीन हो गया—उस समाधि की ताली लग गई। जिस प्रकार जल की बूंद समुद्र में मिलकर अद्वैत हो कर रहती है उसी प्रकार वह भी शून्य समाधि में खो गया और अब प्रयत्न करने पर भी वह नहीं मिलता था। जिस प्रकार किसी भी रंग में मिलकर पानी उसी रंगवत् हो जाता है वैसे ही रत्नसेन भी उसमें मिलकर एकरूप हो गया।

जायसी कहते हैं कि तोते ने आकर वैसे ही देखा तो मन में विचार किया कि यह तो सर्वनाश हो गया। उसकी आंखों में रक्त के आंसू छलक आये, उसने सोचा कि जो प्रियतम सदैव संकट ही संकट प्रदान करता है, उस प्रेमी को भुलाना आसान नहीं है चाहे उसे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़े। तोता राजा रत्नसेन की स्थिति देख कर घबराया और उसके उपयुक्त उपचार के निमित संजीवनी बूटी ले आया। उस संजीवनी को तोते ने रत्नसेन के मुख में डाल दिया और फिर जैसे गरुड़ अपने पखों से अमृत बरसाता है उसी प्रकार सुए

ने अपने पंखों को फड़फड़ा कर रत्नसेन पर पद्मावती के प्रेम का सन्देश रूपी अमृत बरसाया।

मुआ जिया अस बास जो पावा। लीन्हेसि सांस, पेट जिउ आवा ॥
देखेसि जागि, सुआ सिर नावा। पाती देइ मुख बचन सुनावा ॥
गुरू क बचन स्रवन दुइ मेला। कीन्ह सुदिस्टि, बेगि चलु चेला ॥
तोहि अलि कीन्ह आप भइ केवा। हौं पठवा गुरु बीच परेवा ॥
पौन सांस तोसौं मन लाई। जोवै मारग दिस्टि बिछाई ॥
जस तुम्ह कया कीन्ह अगि-दाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू ॥
तब उदंत छाला लिखि दीन्हा। बेगि आउ, चाहै सिध कीन्हा ॥

आवहु सामि सुलच्छना, जीउ बसै तुम्ह नांव।
नैनहिं भीतर पंथ है, हिरदय भीतर ठावं ॥ २० ॥

शब्दार्थ—मुआ जिया=मृतक भी जीवित हो जाता है। अस बास= ऐसी अमृतोपम सुगंध पाले तो। पेट जिउ आवा=प्राण आ गये। सावन= श्रवण या कान। केवा=केतकी। अगिदाहू=विरह की दाहक अग्नि। अगाहू=विदित होना या आगे से ही समझ लेना। उदंत=संवाद या वृत्तान्त। छाला=पत्र। सामि=स्वामी। सुलच्छना=शुभ लक्षणों वाली। जीउ बसै तुम्ह नांव=तुम्हारे नाम से ही जीवन चलता है।

ससंदर्भ व्याख्या:—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि प्रेम-संदेश को प्रेमी को यदि ऐसी सुगंधि मिल जाती है जैसी कि रत्नसेन को दी गई तो उसे पाकर मरा हुआ भी जीवित हो जाता है। सन्देश को जानकर रत्नसेन की मृतप्राय सांसें वापस लौट आईं। यह समझकर कि राजा की सांसें वापस आरही हैं, तोते के जी में जी आया। राजा को जाग्रत देखकर तोते हीरामन ने सादर सिर झुकाया, पत्र दिया और राजा को साथ ही साथ मुख से भी संदेश दिया। हे शिष्य ! अपने गुरु के वचनों को अपने कानों में डालकर शीघ्र ही प्रस्थान करो, कारण यही वह समय है जब तुम उससे मिल सकते हो और तुम्हारी साधना सफल हो सकती है। पद्मावती ने तुम्हारी ओर सुदृष्टि डाली है।

तोते ने कहा कि हे राजा ! तुम्हें भ्रमर मानकर वह स्वयं कमलकलिका या केतकी बन गई और मुझ पक्षी को संदेशवाहक बनाकर भेजा है। तात्पर्य, मध्यस्थता करने के लिए और वास्तविकता का ज्ञान कराने के निमित्त उस रानी ने मुझे ही तुम्हारे पास भेजा है। वह रानी अपने सौरभ-सने स्वांसों से तुम पर दृष्टि और मन लगाये प्रतीक्षारत है। मिलन मार्ग पर मधुर प्रतीक्षा में बैठी रानी पद्मावती तेरी ओर दृष्टि किये बैठी है। तुमने अपने शरीर को विरहाग्नि और तपस्या से जला दिया है वह पद्मावती रूपी गुरु-शक्ति को विदित है। उस रानी पद्मावती ने लिखकर भी भेजा है कि तुम शीघ्र ही आजाओ, मैं तुम्हें सिद्ध पुरुष बनाना चाहती हूं। पत्र में लिखा है कि हे शुभ-लक्षणे ! तुम शीघ्र ही आजाओ, मेरे प्राण और शरीर के रोम-रोम तुम्हारे नाम में ही बसे हुए हैं। (तात्पर्य, तुम्हारे नाम के सहारे ही वह जीवित रहती है) मेरे नेत्रों के भीतर तुम्हारे आने का मार्ग है और हृदय के भीतर तुम्हारे रहने का स्थान है। (व्यंजना है कि मैं केवल तुम्हारा ही नाम ले लेकर जीवित

रहती हूँ और नयनों को तुम्हारे मार्ग पर बिछाये समय काट रही हूँ) साथ ही मेरे हृदय में तुम्हारे अतिरिक्त कोई और स्थान नहीं बना सकता है। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी। किन्तु शीघ्र ही आकर मुझसे मिलो और एकरूप हो जाओ ताकि मैं और तुम दोनों ही सुख की नींद सो सकें।

विशेषः—१. इन पंक्तियों में कवि ने पद्मावती की हृदयगत भावनाओं का वर्णन किया है।

२. वर्णन रसात्मक और बहुत ही भावप्रवण बन पड़ा है।

सुनि पदमावति कै असि मया। भा बसंत, उपनी नइ कया॥
सुआ क बोल पौन होइ लागा। उठा सोइ, हनुवंत अस जागा॥
चांद मिलै कै दीन्हेसि आसा। सहसौ कला सूर परगासा॥
पाति लीन्हि, लेइ सीस चढ़ावा। दीठि चकोर चंद जस पावा॥
आस-पियासा जो जेहि केरा। जौं झिझकार, ओहि सहुँ हेरा॥
अब यह कौन पानि मैं पीया। भा तन पांख, पतंग मरि जीया॥
उठा फूलि हिरदय न समाना। कंथा टूक-टूक बेहराना॥
जहाँ पिरीतम वै बसहिं यह जिउ बलि तेहि बाट।
वह जो बोलावै पाव सौं, हौं तहँ चलौं लिलाट॥ २१॥

शब्दार्थः—असि मया—ऐसी कृपा। भा बसंत—वसंतोपम यौवन उत्पन्न होगया। उपनी नइ कया—नया शरीर विकसित हुआ। पौन होइ—पवन के समान। हनुवंत—हनुमान के समान शक्तिशाली। पाति लीन्हि—पत्रिका हाथ से लेली। सीस चढ़ावा—सिर पर धारण की। झिझकार—झिड़के। सहुँ—सामने। बेहराना—फट गया। जिउ बलि तेइ बाट—प्राणों, उसी मार्ग पर जाओ जहां प्रियतम रहते हैं। लिलाट—मस्तक।

ससंदर्भ व्याख्याः—प्रसंग पूर्वपदानुसार। जायसी इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन की चैतन्य शक्ति और स्फूर्ति का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

पद्मावती की इस प्रकार की कृपा को सुनकर राजा रत्नसेन वसन्त ऋतु की भांति प्रफुल्लित हो उठा। उसके शरीर में जैसे नये पत्तों का शुभागमन हुआ हो। तात्पर्य यह है कि पद्मावती का प्रेम संदेश जैसे ही राजा के कानों में पड़ा वैसे ही वह ऐसा प्रफुल्लित हुआ जैसे वसन्त में नवपल्लव लग गये हों। तोते की बोली उसे ऐसी लगी जैसे जाग्रति की और स्फूर्ति देने की शक्ति का यकायक संचार होगया हो। वह संदेश को सुनकर ऐसी नवजीवनी शक्ति के साथ उठा जैसे हनुमान यकायक जाग गये हों।

जायसी कहते हैं कि चन्द्ररूपी पद्मावती से मिलने की आशा उसे होगयी इसलिए वह इस प्रकार जागा, जैसे सहस्त्रों करों से सूर्य प्रकाशित हो उठा हो। राजा ने पत्रिका को लेकर शिर पर धारण किया। तात्पर्य, बड़े आदर से उसे सिर पर चढ़ाया। उसकी दृष्टि से ऐसा आनंद प्रकट हुआ जैसे चकोर ने चन्द्रमा को पा लिया हो। कहते हैं कि जो जिसकी आशा का प्यासा होता है उसे यदि प्रेमी झिड़क भी दे या फटकार दे तो भी प्रेमी प्रियतम की ओर ही देखता है। राजा सोचने लगा कि मैंने अब कौनसी प्राणवायु पी ली कि मेरे शरीर में पंख से लग रहे हैं। तात्पर्य, प्रिया का संदेश पाकर उसके

शरीर की रग-रग में चेतना आ गई है, अतः उसे ऐसा ही प्रतीत होता है मानो उसके पंख लग गये हों। परिणामतः वह ऐसा अनुभव करता है। उसे ऐसी प्रसन्नता हुई कि वह हृदय में समा न सका, प्रसन्नता के अतिरेक से उसकी गुदड़ी टुकड़े-टुकड़े होकर फट गई। उसने कहा कि जहां प्रियतमा निवास करती है, वहीं मेरा जीव उसके रास्ते पर न्योछावर है। यदि वह मुझे पैरों से चल-कर भी बुलावे तो मैं उसे पाने के लिए सिर के बल जाऊंगा।

विशेष:—१. हनिवंत अस जागा—लोक कथाओं में एक ऐसी ही दन्त कथा है कि हनुमानजी छः मास तक सोते थे और उसके बाद उठकर हांक लगाते थे-पीछे भी जायसी ने ऐसा ही कथन किया है।

२. इस पद में रूपक अलंकार का प्रयोग भी हुआ है जो बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

जो पथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुद ओहि धंसि लेई॥
जहं वह कुंड विषम ओगाहा। जाइ परा तहं पाव न थाहा॥
बाउर अंध पेम कर लागू। सौंह धंसा, किछु सूझ न आगू॥
लीन्हे सिधि सांसा मन मारा। गुरू मछंदरनाथ सभारा॥
चेला परे न छांड़हि पाछू। चेला मच्छ, गुरू जस काछू॥
जस धसि लीन्ह समुद मरजीया। उघरे नैन, बरै जस दीया॥
खोजि लीन्ह सो सरग-दुवारा। बज्र जो मूदे जाइ उघारा॥
बांक चढ़ाव सरग-गढ़, चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर, चढ़े सेंधि देइ चोर॥ २२॥

शब्दार्थ:—पथ मिला—मार्ग मिला है। महेसहि सेई—महेश की सेवा करने से। ओहि—वे। विषम ओगाहा—भयंकर और गहरा। पाव न थाहा—थाह नहीं मिलती है। बाउर—बावला। सौंह—शपथपूर्वक। लागू—लाग या लगन। परै—दूर। बरै जस दीया—जैसे दीपक जलता है। बांक—वंकिम या वक्र। सरग दुवार—दूसरे अर्थ में दशम द्वार या स्वर्ग का दरवाजा। सरग-गढ़—स्वर्ग गढ़ या दशम् दरवाजे की चढ़ाई।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में जायसी रत्नसेन के प्रस्थान का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि शंकर जी की प्रार्थना करके जो मार्ग मिला था उसी आधार पर चलने के लिए वह चल पड़ा। जब वह विषम और गम्भीर कुंड में प्रविष्ट होगया तो ऐसा मान हुआ मानो उसे थाह मिल गयी हो। प्रेम में लगा हुआ मनुष्य पागल और अंधा हो जाता है। वह सीधा धंसता ही चला जाता है। उसे आगे का कोई भी मार्ग दिखाई नहीं देता है। वह प्रेममग्न होकर न केवल आगे बढ़ता ही जाता है, अपितु उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

जायसी कहते हैं कि राजा श्वास रोककर और मन को वशीभूत करके सामने घुस गया और उसने अपने साध्य को प्राप्त किया। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ साथ ही थे, उनका मार्ग सभाले हुए। शिष्य के गिर पड़ने पर भी सच्चा गुरु उसका साथ नहीं छोड़ता है, पीछा करता ही जाता है। चेला तो मछली की भांति होता है और गुरु कछुए की भांति होता है। राजा इस प्रकार मार्ग पर बढ़ा जैसे गोताखोर समुद्र में प्रवेश करता है। उसके नेत्र खुले तो मानो दीपक से प्रकाशित दिखाई दिये। राजा ने स्वर्ग का दरवाजा खोज लिया और वहां के जो द्वार वज्र से बंद होरहे थे, उन्हें खोला।

गढ़ में सुरंगों की चढ़ाई बड़ी विकट थी। उस पर चढते-चढते प्रातः काल होगया। तब कहीं गढ़ के ऊपर पुकार हुई कि चोर सेंघ लगाकर महल में प्रवेश कर गये हैं।

विशेषः—१. इस पद में हठयोग और राजयोग का समन्वय किया गया है। इसमें गोरख के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का भी संकेत किया गया है। इसमें हठयोग के संकेत विद्यमान हैं। कुंड मूलाधार चक्र का कुंड है, उसमें से कुंडलिनी सीधे सुषुम्ना मार्ग से चढ़ती है। सुषुम्ना की जायसी ने सीढ़ियों से उपमा पीछे सिंहल वर्णन में भी की है। कुंडलिनी के ऊपर चढ़ने पर विद्युत जैसा प्रकाश होता है और त्रिकुटी पर पहुंचने पर वज्र के कपाट खुल जाते हैं। त्रिकुटी को जायसी ने स्वर्गद्वार भी कहा है। सुषुम्ना की वंकिम चढ़ाई का भी उल्लेख जायसी ने कई बार किया है।

२. इसमें समासोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है। वर्णन वही हठयौगिक और परम्परागत है। कवि-कौशल वर्णनों में ही देखा जा सकता है।

गंधर्वसेन-मंत्री-खंड

राजै सुनि, जोगी गढ़ चढ़े। पूछै पास जो पंडित पढ़े॥
जोगी गढ़ जो सेंधि दै आवहिं। बोलहु सबद सिद्धि जस पावहिं॥
कहहिं वेद पढ़ि पंडित बेदी। जोगि भौंर जस मालति-भेदी॥
जैसे चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ए दुवौ जीउ पर खेलहिं॥
पंथ न चलहिं वेद जस लिखा। सरग जाए सूरी चढ़ि सिखा॥
चोर होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरि तिन्हहि नहिं दोखू॥
चोर पुकारि बेधि घर मूसा। खेलै राज-भंडार मंजूसा॥
जस ए राजमंदिर महं दीन्ह रैनि कहं सेंधि।
तस छेंकहु पुनि इन्ह कहं, मारहु सूरी बेधि॥ १॥

शब्दार्थ—राजै सुनि=राजा ने सुना। जोगी गढ़ चढ़े=योगी गढ़ पर चढ़ आये थे। बोलहु सबद=शब्दों का उच्चारण करना। भौंरजस=जैसे भ्रमर। सबद=व्यवस्था। सरग जाए=स्वर्ग जाना। सूरि=सूली। सूरी पर मोखू=सूली पर मोक्ष मिलता है। तिन्हहिं=उन्हें। दोखू=दोष। घर मूसा=घर में चोर। मंजूसा=मंजूषा।

ससंदर्भ व्याख्या—यह पद गंधर्वसेन-मंत्री खण्ड से अवतरित हैं। इसमें कवि वर्णन करता है—

राजा ने सुना कि योगी गढ़ पर चढ़ आये हैं। जो निकट में पंडित और विद्वान् थे, उनसे राजा ने सलाह ली या मंत्रणा की। यदि सेंध लगाकर गढ़ पर चढ़ आवें तो क्या करना चाहिए और शास्त्र सम्मत कौनसा दण्ड विधान उनके अपराध के निमित्त बताया जा सकता है। पंडितों ने वेद के मंत्रों का उच्चारण किया और कहा कि हे राजन्! योगी उस भ्रमर के समान है जो मालती पुष्प को उसकी गंध के निमित्त बेध डालता है। जैसे चोर सेंध लगाते हैं वैसे ही योगी और भौंरे भी अपने प्राणों पर खेल जाते हैं। ये वेद सम्मत या पुष्ट मार्ग पर कभी भी नहीं चलते हैं। स्वर्ग-गमन के निमित्त ये तो सूली पर चढ़ना सीखते हैं। चोर को सूली पर ही मोक्ष मिल

जाता है। जो राजा अपने निर्णय से इन्हें सूली देता है, उसे कोई पाप नहीं लगता है। चोर पुकार कर और गढ़ तोड़कर चोरी करते हैं और राजभंडार की वे तिजोरी खोल डालते हैं। पंडितों ने कहा कि जैसे चोर-जोगी राजभंडार को चुराने के लिए रात में सेंध लगाकर चढ़े हैं, इसकी यही सजा अपेक्षित है। इन्हें सूली पर चढ़ाकर मार दिया जाय।

विशेष—१. इस पद में जायसी ने अर्थशास्त्र की व्यवस्था के आधार पर ही न्याय की हिन्दू प्रणाली की ओर संकेत किया है। वेद शब्द से यहां धर्मशास्त्र या स्मृति ग्रंथ आदि का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. इस वर्णन से तत्कालीन योगियों की उद्दंडता और उनके दुराचार का संकेत भी मिलता है। जायसी के समय का समाज इसमें वर्णित है।

रांध जो मंत्री बोले सोई। ऐस जो चोर सिद्ध पै कोई ॥
सिद्ध निसंक रैनि दिन भवंहीं। ताका जहां तहां अपसवहीं ॥
सिद्ध निडर अस अपने जीवा। खड़ग देखि कै नावहि गीवा ॥
सिद्ध जाइ पै जिउवध जहां। औरहि मरनपंख अस कहां? ॥
चढ़ा जो कोपि गगन उपराहीं। थोरे साज मरै सो नाहीं ॥
जबुक जूझ चढ़ै जो राजा। सिंघ साज कै चढ़ै तो छाजा ॥
सिद्ध अमर काया जस पारा। छरहि भरहि, वर जाइ न मारा ॥
छरही काज कृस्न कर, राजा चढ़ै रिसाइ।
सिद्धगिद्ध जिन्ह दिस्टि गगन पर, विनु छर किछु न बसाइ ॥२॥

शब्दार्थ—रांध=पास, समीप। सिद्ध पै कोई=यह कोई सिद्ध-पुरुष होगा। निसंक=निःशंक, शंकाहीन। भवंही=घूमते हैं। अपसवहीं=जाते हैं या पहुंचते हैं। नावहि गीवा=गर्दन झुकाते हैं। जिउवध=जीव का वध। मरन पंख=मृत्यु के पंख जैसे चींटों के जम जाते हैं। पारा=पारद। छरहि=छल से या युक्ति से। वरहि=बल से या शक्ति से।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी पूर्व सदर्भानुसार कहते हैं:—समीपस्थ राजमंत्री बोले—हे राजा! जो इस प्रकार का चोर है, वह अवश्य कोई सिद्ध पुरुष होगा। सिद्ध पुरुष मार्ग-कुमार्ग का ध्यान न करके मन चाहे स्थल पर रात्रि में भी निर्भय होकर घूमते रहते हैं। सिद्ध पुरुष अमय होते हैं वे जहां भी दृष्टि डालते हैं वहीं पर पहुंच जाते हैं। सिद्ध पुरुष अपने जीवन के लिए नहीं डरता है, वह तो तलवार देखकर अपनी गर्दन झुका देता है। जहां पर जान की हत्या होती है वहां सिद्ध अवश्य पहुंचते हैं। सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त और किसी के पास भी मृत्यु के पंख नहीं होते हैं। जब सिद्ध पुरुषों को क्रोध आता है तो कोई भी उनके सामने ठहर नहीं पाता है। वे छोटी-मोटी योजना से नहीं मर सकते हैं।

मंत्रियों ने कहा कि हे राजा! हमारी आक्रमण योजना सियार भी नहीं होनी चाहिए; वह तो सिंहवत् ही होनी चाहिए। सिद्ध पुरुष तो अमर होता है। उसका शरीर पारे के समान अकाट्य होता है। अतः ऐसे योगी को तथा सिद्ध को तो छल से ही मारा जा सकता है, बल प्रयोग उसके लिए व्यर्थ का आयोजन मात्र है। तुम राजा, जानते तो होगे कि कृष्ण के सभी कार्य-कलाप छल से ही सम्पन्न हुए थे। राजा युधिष्ठिर से जो भी कार्य कराया

गया था वह भी छल के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ था। यद्यपि वे युधिष्ठिर छल-छदम् के नाम से क्रोधित हो जाते थे, किन्तु कृष्ण ने युक्तियों से ही सारा कार्य सम्पन्न करा लिया था। सिद्ध लोग गृद्ध पक्षियों की भांति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, अतः ऐसे लोगों को जीतने के लिए किसी न किसी छल-छदम् का सहारा लेना ही पड़ता है। बिना उसके सफलता नहीं; विजय नहीं।

विशेष—इन पंक्तियों में जायसी ने तत्कालीन सिद्धों के प्रति दबा हुआ रोष प्रकट किया है। ये लोग बड़े अत्याचारी होते थे। कबीर की कविता भी इसी का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

अबहीं करहु गुदर मिस साजू। चढ़हिं बजाइ जहां लगि राजू॥
होंहि संजोवल कुंवर जो भोगी। सब दर छेंकि धरहिं अब जोगी॥
चौबिस लाख छत्रपति साजे। छपन कोटि दर बाजन बाजे॥
बाइस सहस हस्ति सिंघली। सकल पहार सहित महि हली॥
जगत बराबर वै सब चांपा। डरा इन्द्र बासुकि हिय कांपा॥
पदुम कोट रथ साजे आवहिं। गिरि होइ खेह गगन कहं धावहिं॥
जनु भुइंचाल चलत महि परा। टूटी कमठ पीठि, हिय डरा॥
छत्रन्हि सरग छाइगा, सूरुज गयउ अलोपि।
दिनहि राति अस देखिय, चढ़ा इंद्र अस कोपि॥ ३॥

शब्दार्थ—अबहीं करहु=शीघ्र या अभी करो। गुदर=राजा के दरबार में हाजिरी, मोजरा करो या युद्ध के निमित्त प्रस्ताव रखो। संजोवल=सावधान। दर=दल या सेना। बजाइ=घोषणा के साथ। छेंकि=घेरकर। पब्बै=पर्वत। बराबर चांपा=पैर से रौंदकर समतल कर दिया। हिय कांपा=हृदय कांपने लगा। जनु भुंइचाल चलत=मानो भूचाल आ गया हो। कमठ-पीठि=कच्छप भगवान। अलोपि=छिप गया।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में पूर्व प्रसंगानुसार जायसी वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि मंत्रियों ने जोगियों को चढ़ा देखकर कहा-दरबार में तुरन्त हाजिरी होनी चाहिए और इसी समय किसी भी बहाने से सेना को सजा लिया जाय। जहां तक राज्य है उन सभी स्थलों से सेना बुला ली जाय। जो राजकुमार भोग विलास में लिप्त हैं, वे भी सैन्य सजाकर संचालन करने के लिए तत्पर हो जावें। सभी द्वारों पर सेना द्वारा घेरकर योगियों को तुरन्त पकड़ा जाए। राजमन्त्रियों के इसी परामर्श के अनुसार चौबीस लाख छत्रपति राजा तैयार हुए और छप्पन करोड़ दल में बाजे बजे। बाईस हजार सिंहली हाथी चले जिनके कारण सभी पर्वत हिलने लगे। संसार रौंद दिया गया और रौंद-रौंद कर समतल कर डाला गया। उनके चलने से पृथ्वी पर ऐसा दबाव पड़ा कि इन्द्र भी डर कर भयभीत हो गया। शेषनाग का हृदय कांप उठा। अगणित रथ सजे और उनकी दरारों से पहाड़ मिट्टी हो होकर आकाश में उड़ने लगे। ऐसा प्रतीत हुआ कि सम्पूर्ण संसार में भूचाल आ गया हो। परिणामतः कच्छप की पीठ चटकने और टूटने लगी और वे हृदय में त्रास से आतंकित होकर घबराने लगे। सर्वत्र भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया।

जायसी कहते हैं कि आकाश में धूल का छाता सा छा गया । धूल इतनी उठी कि सूर्य भी विलुप्त होगया । राजा इतने क्रोध में होकर चढ़ा कि दिन ही में रात का सा दृश्य दिखाई पड़ने लगा ।

विशेष—अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है । वर्णन प्रणाली में धूल उठने से सूर्य के छिप जाने और दिन में ही रात्रि के दृश्य के प्रस्तुत हो जाने की कल्पना कवित्व-रूढ़ियों के प्रयोग का संकेत करती है ।

देखि कटक औ मैमत हाथी । बोले रतनसेन कर साथी ॥
होत आव दल बहुत असूझा । अस जानिय किछु होइहि जूझा ॥
राजा तू जोगी होइ खेला । एही दिवस कहँ हम भए चेला ॥
जहाँ गाढ़ ठाकुर कहँ होई । संग न छाँड़ै सेवक सोई ॥
जो हम मरन-दिवस मन ताका । आजु आइ पूजी यह साका ।
बरु जिउ जाइ, जाइ नहिं बोला । राजा सत सुमेरु नहिं डोला ॥
गुरु केर जौं आयसु पावहिं । सौंह होहिं औ चक्र चलावहिं ॥
आजु करहिं रन भारत सत बाचा देइ राखि ।
सत्य देख सब कौतुक, सत्य भरै पुनि साखि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कटक—सैन्य दल, मैमंत हाथी—मस्त गति वाले हाथी, आजु आइ पूजी यह साका—आज वह समय पूरा हो गया है, एही दिवस—इसी दिवस, बरु जिउ जाय—भले ही प्राण चले जावें, बोला—वचन, सत बाचा—सत्य वचन ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी कहते हैं कि राजा गंधर्वसेन का कटक-दल बहुत विशाल था । उसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

राजा गंधर्वसेन की सेना और मदमस्त हाथियों के दल को देखकर रत्नसेन के साथी कहने लगे कि अपार सेना उमड़ती हुई चली आ रही है । उस सेना को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो युद्ध की तैयारी हो रही हो । हे राजा ! तुमने जोगी का भेष धारण किया है, हम भी इसी दिन के लिए तेरे शिष्य बने हैं । जब स्वामी पर कोई विपत्ति आवे, वहाँ अवश्य साथ निभाना चाहिए । जो संकट के समय काम आता है, वही सच्चा सेवक कहलाता है । हमने मन में जैसा मृत्यु का दिवस सोचा था; उसी प्रकार का आज समय आ गया है । हमारे प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से पीछे नहीं हटेंगे ।

हे राजन ! सत्य का सुमेरु कभी विचलित नहीं होता है । यदि हमें गुरु की आज्ञा प्राप्त हो जाय तो हम सामने डट कर चक्र चलावेंगे । आज हम महाभारत मचा देंगे । तात्पर्य, राजा ! आज केवल आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा है । आज तो हम महाभारत जैसा युद्ध करके सत्य की रक्षा करेंगे । केवल सत्य पर ही हम इस क्रीड़ा को सम्पन्न करेंगे । सत्य की विजय और युद्ध के दौरान सत्य ही हमारा विश्वास और उसकी साक्षी होगा ।

विशेष—१. इसका वर्णन-कौशल संवलित और भाषा प्रशंसनीय गुण से भरपूर है । कवि ने कल्पना को भी महत्त्व दिया है ।

२. इस पद में वचन प्रतिज्ञा की बात कही गई है, बिल्कुल निम्नलिखित पंक्ति की तरह—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाइ पर वचन न जाई ॥

विशेष—इस पद में सूफियाना पद्धति पर प्रेम योगी का चित्रण किया गया है। सूफी को सर्वत्र वही वह दिखाई पड़ता है जिसका वह अभिलाषी होता है। परिणामतः वह प्रेमी–योगी जो प्रेम का दीवाना होता है, संसार में किसी भी अन्य तत्व को परवाह नहीं करता है।

जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा। कोटि अंतरपट बीचहि दीन्हा ॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
'हौं हौं' करत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं ? ॥
मारै गुरू, कि गुरू जियावै। और को मार ? मरै सब आवै ॥
सूरी मेलु, हस्ति करु चूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गुरू ॥
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा। जगत जो नास्ति, नास्ति पै देखा ॥
अंध मीन जस जल महं धावा। जल जीवन चल दिस्टि न आवा ॥

गुरु मोरे मोरे हिये, दिए तुरंगम ठाठ।
भीतर करहिं डोलावै, बाहर नाचै काठ ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—जब लगि=जब तक, अहा=था, अन्तरपट=परदा या व्यवधान, इतराहीं=इतराते हैं या गर्व करते हैं, सूरी मेलु=शूली पर डाल दो, करु चूरू=चूर करे या पीस डाले, नास्ति–नास्ति=नश्वर संसार के लिए प्रयोग किया गया है, पै=ही, जस जल में धावा=जैसे जल में दौड़ती है, जल जीवन चल दिस्टि न आवा=यह जीवन, जल सा चंचल है, यह दिखाई नहीं देता है, मोरे हिये=मेरे हृदय में, तुरगम=घोड़े, ठाठ=रचना या ढांचा, काठ=जड़ वस्तु।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वानुसार। जायसी रत्नसेन के शुद्ध हृदय का वर्णन कर रहे है। राजा ने कहा—

जब तक मैं गुरु था अथवा जब तक मुझ में अहं भाव था तब तक तो उस ब्रह्म को पहिचानना कठिन था। उस समय तक मेरे और उसके बीच अनेक पर्दे थे। जब उसे पहचान लिया तो मुझ में और उसमें कोई अन्तर दिखाई न पड़ा। अब वह प्रिया और मैं एक ही हैं। परस्पर अभिन्न हैं। अब तो वही मेरा तन है, मन है, जीव और यौवन है।

जायसी कहते हैं कि अब तक तो मैं राजा—'मैं' के धोखे में पड़ा हुआ था, परिणामतः वास्तविकता को नहीं पहचाना, अब तो मैं सिद्ध हो गया हूँ और परछाई नहीं रही है अर्थात् अब दोनों का एकीकरण हो गया है। जीव ब्रह्म की छाया है यह द्वैतभाव अब नहीं रहा है। अब तो, हमारा वह गुरु ही हमें मार सकता है जो ब्रह्म है। वही जीवन प्रदान कर सकता है और उसके अतिरिक्त ऐसा कौन है जो मुझे मारे और जिलाये। अन्य सभी इस संसार में मरण हेतु ही आते हैं अतः वे किसी को भी मार सकते हैं, किन्तु हम तो केवल उस ब्रह्म रूपिणी प्रिया के भक्त हैं जो सारे संसार का नियमन, संचालन करती है। अतः तुम अब तो चाहे हमें शूली दो या सिंहली मदमाते हाथियों के नीचे डाल दो कोई परवाह नहीं है। हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बोलेंगे, गुरु ही हमारा रक्षक है। वह गुरु हाथी पर चढ़ा हुआ सभी कुछ देख रहा है। संसार तो नश्वर है और इसी कारण चतुर्दिक सभी कुछ नश्वर ही नश्वर है ... के समान जल रूपी जीवन को

राजै छेंकि धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुख सहै बियोगी ॥
ना जिउ धरक धरत होइ कोई। नाहीं मरन जियन डर होई ॥
नाग-फांस उन्ह मेला गीवा। हरष न बिसमौ एकौ जीवा ॥
जेइ जिव दीन्ह सो लेइ निकासा। बिसरै नहिं जौ लहि तन सांसा ॥
कर किंगरी तेहि तंतु बजावै। इहै गीत बैरागी गावै ॥
भलेहि आनि गिउ मेली फांसी। है न सोच हिय, रिस सब नासी ॥
मैं गिउ फांद ओहि दिन मेला। जेहि दिन पेम-पंथ होइ खेला ॥
परगट गुपुत सकल महं पूरी रहा सो नावं।
जहं देखौं तहं ओही, दूसर नहिं जहं जावं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—जिउ = जीव, धरक=धड़क, नाग-फांस=सर्प का सा बंधन, हरष न बिसमौ एकौ जीवा=उन्हें किसी प्रकार का हर्षानुभव या विषादानुभव नहीं हुआ क्योंकि सिद्ध पुरुषों को हर्ष और विषाद से क्या ? निकासा=निकालना, बिसरै=भूल जाना, जौ लहि=जब तक, किंगरी=चिकारा या सारंगी, तन्त=तार, इहै गीत=प्रेम का गीत, रिस सब नासी=सम्पूर्ण क्रोध का विनाश हो गया तात्पर्य सभी क्रोध नष्ट हो गया, गीउ फांद=गले का फंदा ओहि दिन=उसी दिन, पूरी रहा=पूरी तरह व्याप्त है। ओही=वही प्रिया पद्मावती।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में राजा गंधर्वसेन के द्वारा सम्पूर्ण योगियों को पकड़े जाने का वर्णन किया गया है। कवि जायसी कहते हैं—

राजा गंधर्वसेन ने सभी योगियों को घेर कर पकड़ लिया। वियोगी रत्नसेन दुख पर दुख सहने लगा फिर भी इतने कष्टों को सहने के अनन्तर भी किसी के मुख से उफ तक नहीं निकली। सभी निर्द्वन्द्व भाव से अपना काम करते हुए चुप थे। उनके मन में न तो कोई शंका थी और न किसी प्रकार का कष्ट ही था। यद्यपि वे जानते थे कि पकड़े जाने पर न मालूम क्या दुर्गति होगी, किन्तु फिर भी उन जोगियों ने किसी भी धड़क या धड़कन (आशंका) को हृदय में स्थान नहीं दिया। मरने जीने की तनिक भी चिन्ता उन्होंने नहीं की। वे सिद्ध पुरुषों की भांति इस बात पर तुले हुए थे कि कुछ भी हो, हम अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। उन सभी ने नागफांस में अपनी-अपनी गर्दनें स्वयं ही डाल दी थीं। उन्हें किसी प्रकार का हर्ष या विषाद नहीं हुआ। जिसने जीवन दान ही कर दिया, वह तो आशाविहीन है; वह तो जब तक शरीर में सांस रहेगी, तभी तक अपने इष्ट को याद करता रहता है। उसे भूल जाना सम्भव नहीं है। हाथ में छोटी सारंगी लिए हुए उसी का तार वह बजाता है और उसी पर वैरागी रत्नसेन प्रेम का गीत गाता था। वह कहता था कि भले ही तुमने हमारी ग्रीवा में फंदा डाल दिया हो, किन्तु मैंने क्रोध को इस प्रकार नष्ट कर दिया है कि तनिक भी चिन्ता हृदय में नहीं रही है, तात्पर्य, उसे तो पहले ही नष्ट कर दिया है। मैंने तो अपनी गर्दन फांसी के फंदे में उसी दिन डाल दी थी जिस दिन प्रेम-पथ पर खेलने चला था। अब तो सम्पूर्ण मही मण्डल में वही पद्मावती प्रकट या गुप्त रूप में व्याप्त दिखाई पड़ती है। जहां तक मेरी दृष्टि का प्रसार है, वहां तक वही वह दिखाई देती है, कोई दूसरा नाम तक नहीं सुनाई देता है, या किसी दूसरे का नाम लेना ही मैं नहीं जानता हूँ।

विशेष—इस पद में सूफियाना पद्धति पर प्रेम योगी का चित्र गया है। सूफी को सर्वत्र वही वह दिखाई पड़ता है जिसका वह प्रे होता है। परिणामतः वह प्रेमी-योगी जो प्रेम का दीवाना होता है, में किसी भी अन्य तत्व की परवाह नहीं करता है।

जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा। कोटि अंतरपट बीचहि दीन्
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सो
'हौं हौं' करत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं
मारै गुरू, कि गुरू जियावै। और को मार ? मरै सब आ
सूरी मेलु, हस्ति करु चूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गु
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा। जगत जो नास्ति, नास्ति पै दे
अंध मीन जस जल महं धावा। जल जीवन चल दिस्टि न आ

गुरु मोरे मोरे हिये, दिए तुरंगम ठाठ।
भीतर करहिं डोलावैं, बाहर नाचै काठ॥ ७ ॥

शब्दार्थ:—जब लगि=जब तक, अहा=था, अन्तरपट=प व्यवधान, इतराहीं=इतराते हैं या गर्व करते हैं, सूरी मेलु=शूली दो करु चूरू=चूर करे या पीस डाले, नास्ति-नास्ति=नश्वर लिए प्रयोग किया गया है, पै=ही, जस जल में धावा=जैसे जल में है, जल जीवन चल दिस्टि न आवा=यह जीवन, जल सा चंचल दिखाई नहीं देता है, मोरे हिये=मेरे हृदय में, तुरगम=घोड़े, ठाठ=ढांचा, काठ=जड़ वस्तु।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वानुसार। जायसी रत्नसेन के शुद्ध हृदय कर रहे है। राजा ने कहा—

जब तक मैं गुरु था अथवा जब तक मुझ में अहं भाव था तब उस ब्रह्म को पहिचानना कठिन था। उस समय तक मेरे और उ अनेक पर्दे थे। जब उसे पहचान लिया तो मुझ में और उसमें को दिखाई न पड़ा। अब वह प्रिया और मैं एक ही हैं। परस्पर अभिन्न सो वही मेरा तन है, मन है, जीव और यौवन है।

जायसी कहते हैं कि अब तक तो मैं राजा—'मैं' के धोखे में था, परिणामतः वास्तविकता को नहीं पहचाना, अब तो मैं सिद्ध और परछाई नहीं रही है अर्थात् अब दोनों का एकीकरण हो गया ब्रह्म की छाया है यह द्वैतभाव अब नहीं रहा है। अब तो, हमारा व. हमें मार सकता है जो ब्रह्म है। वही जीवन प्रदान कर सकता है। अतिरिक्त ऐसा कौन है जो मुझे मारे और जिलाये। अन्य सभी हम मरण हेतु ही आते हैं अतः वे किसी को भी मार सकते हैं, किन्तु हम हम ब्रह्म रूपिणी प्रिया के भक्त हैं जो सारे संसार का नियमन, संचालन है। अतः तुम अब तो चाहे हमें शूली दो या सिंहली मदमाते हाथी नीचे डाल दो कोई परवाह नहीं है। हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं गुरु ही हमारा रक्षक है। वह गुरु हाथी पर चढ़ा हुआ सभी कुछ देख है। संसार तो नश्वर है और इसी कारण चतुर्दिक सभी कुछ नश्वर ही दिखाई दे रहा है। मनुष्य तो अन्धी मछली के समान जल रूपी जीवन

ओर दौड़ लगाता है या प्रेरित होता है। उसे वास्तविक जीवन-जल कहीं भी दिखाई नहीं देता है।

जायसी कहते हैं कि रत्नसेन ने कहा कि मेरे गुरु (ब्रह्म) ने मेरे निमित्त काठ के घोड़े का ठाठ मुझे प्रदान कर रखा है। भीतर से जैसे ही यंत्र घूमती है यह नाचने लगता है। काष्ठ का अश्व एक प्रकार से तमाशा ही तो है। अन्दर से चलाने पर वह नाचता, कूदता, उछलता और जमता है। भाव यह है कि मनुष्य का शरीर उस काठ के घोड़े के सदृश है जिसके चलाने वाला कोई और ही है। मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म, उपादान मात्र हैं। उस परमेश्वर के संकेत मात्र से संसार के सारे कर्म होते चलते हैं। तात्पर्य यह है कि परमतत्व की ही कृपा से सभी कुछ होता है।

सो पदमावति गुरु हौं चेला। जोग-तत जेहि कारन खेला ॥
तजि वह बार न जानों दूजा। जेहि दिन मिलै, जातरा पूजा ॥
जीउ काढ़ि भुइं धरौं लिलाटा। ओहि कहं देउं हिये महं पाटा ॥
को मोहि ओहि छुआवै पाया। नव अवतार देइ, नइ काया ॥
जीउ चाहि जो अधिक पियारी। मांगै जीउ देउं बलिहारी ॥
मांगै सीस, देउं सह गीवा। अधिक तरौं जौं मारै जीवा ॥
अपने जिउ कर लोभ न मोहीं। पेम-बार होइ मांगौं ओही ॥

दरसन ओहि कर दिया जस, हौं सो भिखारि पतंग।
जो करवत सिर सारै, मरत न मोरौं अंग ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सो=वह पद्मावती। जोग तंत=योग मंत्र। जेहि कारन=जिस कारण। तजि वह बार=उस दरवाजे को छोड़कर। जातरा पूजा=यात्रा सफल हुई। जीउ काढ़ि=प्राणों को निकाल कर। ओहि कहं=उसके निमित्त। हिये महं पाटा=हृदय में सिंहासन। छुआवै पाया=पैरों का स्पर्श करने में मदद कर सके। नव अवतार=नया अवतार। नइ काया=नवीन शरीर। जीउ चाहि जो अधिक पियारी=वह पद्मावती मुझे प्राणों की अपेक्षा अधिक प्रिय है। सह गीवा=साथ में ग्रीवा। करवत सिर सारै=सिर पर आरा चलाये।

ससदर्भ व्याख्या—संदर्भपूर्वपदानुसार। रत्नसेन के शब्दों को लिपिबद्ध करता हुआ कवि कहता है—

रत्नसेन ने कहा कि पद्मावती मेरी गुरु है और मैं उसका शिष्य हूं। मैंने जो योग-मार्ग ग्रहण किया है, यह सब उसी के निमित्त यानी उसे ही प्राप्त करने के लिए ग्रहण किया है। अब मैं उसके दरवाजे को छोड़कर किसी दूसरे दरवाजे पर नहीं जा सकता हूं। अब तो मुझे उस दिन की प्रतीक्षा है जब कि मेरी यात्रा पूजा या अभिलाषा जिसके लिए यह कष्टसाध्य साधना की है; पूरी होगी। उसकी प्राप्ति के निमित्त मैं अपना हृदय निकालकर पृथ्वी पर मस्तक टेक दूंगा। इतना ही नहीं, उस रानी पद्मावती का मेरे हृदय में सिंहासन होगा। संसार में ऐसा कौन है जो मुझे उससे मिला देगा? यदि किसी ने मुझे उससे मिला दिया तो वह मेरे लिए नवजीवन का संदेश लेकर आयेगा तथा नया शरीर प्रदान करेगा। वह पद्मावती मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। तात्पर्य यह है कि उसकी प्राप्ति के निमित्त अपने प्राणों का बलिदान भी

मुझे असह्य नहीं होगा। यदि मुझसे प्राणों की बलि भी मांगी जाय तो उसके निमित्त दे सकता हूं—वह भी खुशी-खुशी। यदि मुझसे सिर मांगा जाय तो मैं गर्दन भी काटकर दे दूंगा। यदि वह अपने ही हाथों से मुझे मार डाले तो मैं अपने संसार से तर जाऊंगा।

जायसी कहते हैं कि रत्नसेन ने बताया कि मुझे अपने जीवन का लोभ नहीं है। मैं तो अपने प्राणों की बलि देकर भी उसे ही चाहता हूं। मैं तो प्रेम के द्वार पर खड़ा होकर उसी को मांग रहा हूं। उस रानी पद्मावती का दर्शन मुझे दीपक के समान है और मैं उस दीप ज्योति वाला पद्मावती पर जलने वाला पतंगा हूं। यदि वह मेरे सिर पर आरा भी चलावे तो भी मैं सहर्ष तैयार हूं, अपने अंगों को नहीं मोड़ूंगा तात्पर्य, विचलित नहीं हो सकता हूं, अपने संकल्प पर दृढ़ रहूंगा।

पदमावति कंवला ससि-जोती। हंसै फूल, रोवै सब मोती॥
बरजा पितै हसी औ रोजू। लागे दूत, होइ निति खोजू॥
जैवहि सुरुज कहं लागा राहू। तवहि कंवल मन भएउ अगाहू॥
बिरह अगस्त जो बिसमो उएऊ। सरवर-हरष सूखि सब गएऊ॥
परगट ढारि सकै नहि आंसू। घटि घटि मांसु गुपुत होइ नासू॥
जस दिन मांझ रैनि होइ आई। बिगसत कंवल गएउ मुरझाई॥
राता बदन गएउ होइ सेता। भंवत भंवर रहि गए अचेता॥
चित्त जो चिता कीन्ह धनि, रोवैं रोवं समेत।
सहस साल सहि, आहि भरि, मुरुछि परी, गा चेत॥ ९॥

शब्दार्थ—ससि-जोती—चन्द्र ज्योति। बरजा—बरजना। नित खोजू—नित्य प्रति खोज करने वाले। अगाहू—आगे। बिसमो—विषम या विपरीत। उएऊ—उदित हुए। परगट ढारि सकै—प्रत्यक्षतः नहीं ढाल सकती थी। घटि-घटि—हृदय के प्रत्येक कोने की। राता बदन—अनुराग से लाल मुख। अचेता—चेतनाहीन धनि—धन्या। रोवैं रोवं—रोम सहित रोती थी। सहस साल सहि—सहस्त्रों वेदनाएं बरदाश्त करके।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी वर्णन कर रहे हैं—

पद्मावती तो कमलवत् है, चन्द्रमा की ज्योति कला है। जब वह हंसती है तो फूल झरने लगते हैं। वह रोती है तो मोती से आंसू बिखरते हैं। उसके पिता गंधर्वसेन ने उसके हंसने रोने पर भी इसी कारण रोक लगा रखी है। दूती, नित्य प्रति उसकी चौकसी करती रहती है। इधर जैसे ही सूर्य रत्नसेन को राहु गंधर्वसेन ने बंदी बनाया, वैसे ही कमल सी पद्मावती को दुःख होने लगा। बिना समय के विरह रूपी अगस्त्य नक्षत्र का उदय हुआ है। परिणामस्वरूप समस्त प्रसन्नता रूपी सरोवर सूख गया। पद्मावती प्रत्यक्ष रूप से रो नहीं सकती थी क्योंकि उसके रोने पर भी तो प्रतिबंध था। हां, गुप्तरूप से उसके शरीर का मांस दुखातिरेक से छीज रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे दिन में ही रात हो गई हो और विकसित कमल मुरझा गया हो, ललाई से रक्तिम मुख, विरह वेदना के दुख से मुरझा गया था। जो बदन अब तक अनुराग के रंग से रंजित था, वही अब विरह में मुरझाने लगा था। विरह के भवर में चकराती हुई पद्मावती अचेतावस्था को प्राप्त हो गई थी।

जायसी कहते हैं कि सुन्दरी और शुभलक्षणा पद्मावती ने अपने हृदय में ही प्रिय रत्नसेन का चित्र बनाया और उसे अपने रोम-रोम से निचोड़ कर रंगों से भर दिया। उन्हीं हजारों रोम रंध्रों के मार्ग से उसके हृदय में दुख भरता चलता गया। परिणामतः सहस्त्र दुखों का भार सहन करती हुई वह पद्मावती आह भर कर मूच्छित हो गई तथा पृथ्वी पर गिर पड़ी।

विशेषः—१: इस पद में लुप्तोपमा, रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों की योजना की गई है।

२: इस पद में पद्मावती की मनोगत भावनाओं का सूक्ष्म रेखाओं से बड़ा ही स्थूल वर्णन किया गया है।

पदमावति संग सखी सयानी। गनत नखत सब रैनि बिहानी॥
जानहिं मरम कंवल कर कोई। देखि बिथा बिरहिन कै रोई॥
बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहै, काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह-काल मारे पर मारा॥
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाव पर घाव बजागी॥
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला॥
तन रावन होइ सर चढ़ा, बिरह भएउ हनुवंत।
जारे ऊपर जारै, चित मन करि भसमंत॥ १०॥

शब्दार्थ—सखी सयानी—चतुर सखियां। गगन नखत—आकाश के नक्षत्र। रैनि बिहानी—रात्रि बीत गई। मरम कंवल कर कोई—कमल के मर्म को कुमुदिनी सखियां ही जान सकती हैं। बिथा—व्यथा या दुख। काल कै कला—काल की साक्षात प्रतिमूर्ति। काल बरु भला मृत्यु सहन करना श्रेयस्कर है। सिधारा—चला गया। नवेला—नया। दुहेला—दुखप्रद। भसमंत—भस्म करना या पूर्णतः नष्ट करके विलुप्त कर देना।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार जायसी इन पंक्तियों में पद्मावती की विरह-भावना की अभिव्यंजना कर रहे हैं। वे कहते हैं—

पद्मावती के साथ में उसकी बहुत सी चतुर सखियां थीं। नक्षत्रों के समान उन सखियों ने चन्द्र रूप पद्मावती की प्रेम-पीड़ा को समझ लिया। वस्तुतः कमल पद्मा के कष्ट को या विरह दुख को कुमुदिनी सखियां ही जान सकती थी। वे सखियां पद्मावती की विरह व्यथा को देखकर रो पड़ीं। विरह कठोर और काल की ही एक कला या किरण है। तात्पर्य विरह का दुख काल के दुख से किसी प्रकार भी कम नहीं है। काल तो एक साथ ही प्राणों का हरण कर सकता है, किन्तु विरह धीरे-धीरे प्राणों को निचोड़-निचोड़ कर समाप्त कर सकता है। विरह की विशिष्टता यह होती है कि वह जले हुए पर और अधिक आग डालता है। विरह की वज्राग्नि जख्म पर जख्म करती जाती है। विरह तीर पर तीर चलाता जाता है। विरह रोग पर रोग पैदा करता है। विरह शरीर में चुभ चुभ कर कष्ट पर कष्ट देता जाता है। विरह का कष्ट मृत्यु से भी अधिक भयंकर होता है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती का शरीर रावण के रूप में है जो चिता

पर चढ़ा है और उसके अन्दर विरहाग्नि हनुमान के रूप में है जो उसे जला-जला कर भस्म कर देना चाहती है।

विशेष—१. इसमें व्यतिरेक और रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(क) विरह काल मारे पर मारा—पंक्ति में व्यतिरेक का सौन्दर्य है।
(ख) "तन रावन होइ सर चढ़ा, विरह भएउ हनिवंत" रूपक अलंकार है।

२. रावण और हनुमान विषयक उपमाएं पिछले पृष्ठों में भी आ चुकी हैं। जायसी ने इस प्रकार की अटपटी उपमाओं की भरमार की है।

कोइ कुमोद पसारहिं पाया। कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया ।।
कोइ मुख सीतल नीर चुवावै। कोइ अंचल सौं पौन डोलावै ।।
कोइ मुख अमृत आनि निचोवा। जनु बिष दीन्ह, अधिक धनि सोवा ।।
जोवहिं सांस खिनहि खिन सखी। कब जिउ फिरै पौन-पर पंखी ।।
बिरह काल होइ हिये पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा ।।
खिनहिं मौन बांधे, खिन खोला। गही जीभ मुख आव न बोला ।।
खिनहिं बेझि कै बानन्ह मारा। कंपि कंपि नारि मरै बेकरारा ।।

कैहेसु बिरह न छांड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहूं दिसि रोवहिं, अंधर धरति अकास ।। ११ ।।

शब्दार्थ—कमोद=कुमुदिनी, पसारहिं=फैलाते हैं, छिरकहिं काया=शरीर पर चंदन छिड़कती हैं नीर चुवावै=जल चुआती हैं या मुख में डालती हैं, पौन डुलावै=हवा करना, निचोवा=निचोड़ना, जोवहिं=देखती हैं, खिनहिं खिन=क्षण-क्षण पर, पईठा=प्रविष्ट हुआ है, आव न बोला=मुख से बोल नहीं निकलते हैं, बेकरारा=व्याकुल हो-होकर, कैसेहु=किसी भी युक्ति से, अंधर=अंधेरा।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के विरह में उसकी अचेतावस्था का वर्णन किया है। बताया गया है कि विरह में अचेत हो जाने पर उसकी सखियां अनेक उपचार करने लगी। जायसी कहते हैं—

कुमुदिनी सी सखी पद्मावती के हाथ-पैर सहलाने लगी और कोई शरीर पर मलयगिरि चंदन का छिड़काव करने लगी। पद्मावती को चैतन्य अवस्था में लाने के लिए कोई सखी मुंह में शीतल जल देने लगी तो कोई अपने आंचल से उसे पखा झलने लगी। किसी ने पद्मावती को होश में लाने के लिए अमृत निचोड़ा किन्तु पद्मावती बाला को, वह जहर सा लगा। अमृत के निचोड़ने से उसे ऐसा लगा मानो किसी ने उसके मुख में विष डाल दिया हो। पद्मावती को अमृत भी विष लगा जिससे वह चैतन्य होने की अपेक्षा और भी अधिक बेहोश या चेतनाहीन होने लगी। सखियां क्षण-क्षण पर उसकी सांसें देखने लगीं। वे सोचने लगीं कि न मालूम किस क्षण वायु के साथ उसका प्राण पक्षी लौट आए। विरह काल सा बन कर उसके हृदय में घुसा था और मानो हाथ में प्राण निकाल कर बैठा हो। पद्मावती क्षण में मुट्ठी बांधती थी क्षण में खोल देती थी। वह बोल नहीं पा रही थी। मुख में जीभ उसकी जकड़ती जा रही थी। विरह रूपी काल उसे अपने प्रहारों से विद्ध

करता जाता था, प्राण ले रहा था। विकल हो कर वह वियोगिनी नारी कांपती-कांपती मर रही थी।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती के शरीर को विरह किसी प्रकार भी छोड़ नहीं पा रहा था वह तो ऐसा आभास देता था कि चांद को ग्रहण ने ग्रसित कर लिया हो। चतुर्दिक नक्षत्र (सखियां) रुदन कर रही थीं। धरित्री और गगन दोनों में ही अंधकार व्याप्त था।

विशेष—इस पद में पद्मावती के विरह का वर्णन सूफियाना पद्धति पर किया गया है।

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि विधि हिये जोति परगासी॥
निसस ऊभि भरि लीन्हेसि सांसा। भा अधार, जीवन कै आसा॥
विनवहिं सखी, छूट ससि राहू। तुम्हरी जोति जोति सब काहू॥
तू ससि बदन जगत उजियारी। केइ हरि लीन्ह कीन्ह अधियारी?॥
तू गजगामिनि गरब गहेली। अब कस आस छांड़ु तू, बेली॥
तू हरि लंक हराए केहरि। अब कित हारि करति है हिय हरि॥
तू कोकिल बैनी जग मोहा। केइ व्याधा होइ गहा निछोहा?॥
कवल कली तू पदमिनि! गइ निसि, भएउ बिहानु।
अबहुँ न संपुट खोलसि जब रे उआ जग भानु॥ १२॥

शब्दार्थ—घरी चारि—चार घड़ी तक, गहन गरासि—ग्रहण से ग्रसित, तात्पर्य दुःख में ग्रस्त, विधि हिये जोति परगासी—फिर विधाता ने हृदय में ज्योति प्रकाशित की, निसस—ऊंची और दीर्घ निश्वास, अधार—सहारा, जगत-उजियारी—संसार उज्ज्वल है, गजगामिनी—मस्त चाल से चलने वाली, गरब-गहेली—गर्व में भ्रमित निछोहा—निष्ठुर, उआ जग भानु—संसार में उदित होने वाला सूर्य उदित हो गया है।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती की चार घड़ी की अचेतावस्था के बाद का काव्यात्मक वर्णन किया है—

इस प्रकार चार घड़ी तक पद्मावती मूर्च्छित अवस्था में पड़ी रही। इसके पश्चात् विधाता ने उसके हृदय में ज्योति प्रकट की। उसने एक अंगड़ाई लेकर सांस ली। अब कुछ-कुछ जीवन की आशा हुई। सखियां सभी विनती करने लगीं कि हे रानी! अब तो अचेतावस्था को छोड़ो। उन्होंने कहा कि हे पद्मावती तुम्हारा ही प्रकाश सम्पूर्ण जगत् का प्रकाश है। तुम ही तो संसार में प्रकाश ज्योति-विकीर्ण करने वाली चन्द्रवदनी हो। तुम्हारी ज्योति का हरण किसने कर लिया है और तुम्हें किसने अंधकारमय बना दिया है। तात्पर्य यह है कि संसार का सभी प्रकाश तुम्हारा प्रकाश है। तुम्हारे अंधकार-मग्न होने से सम्पूर्ण संसार में प्रकाश लुप्त हो जाता है। हे रानी! तुम गज-गामिनी हो। गर्व में निमग्न तुम्हारी मस्त चाल सभी के मन को बांध लेती है। हे लता के समान सुकुमारी! इस क्षण तुम क्यों आशा छोड़ रही हो। तुमने ही तो सिंह से कटि छीन कर उसे पराजित किया है।

जायसी कहते हैं कि सखियों ने कहा कि हे हृदयहारिणी! अब तुम क्यों निराश करती हो। तू तो संसार को मोहित करने वाली कोकिल बैनी है। तुम्हें किस व्याधि ने निष्ठुर होकर पकड़ लिया है। हे पद्मावती! तुम कमल

की कली हो। अब रात्रि की अंधकारमयी वेला व्यतीत हो गई है और नया प्रभात सामने आ गया है। क्या अब भी तू अपने नेत्र–सपुटों को नहीं खोलेगी जब कि सारा संसार उदासी छोड़ कर प्रसन्नता का वरण कर रहा है किन्तु तुम अभी भी निशा सी उदासी लिए क्यों दिखाई दे रही हो। अब तो प्रियतम की प्राप्ति का अवसर आ गया है, अतः सजग होकर कार्य करने की आवश्यकता है।

विशेष—इस पद में लुप्तोपमा, रूपक और प्रतीक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

भानु-नावं सुनि कंवल बिगासा। फिरि कै भौंर लीन्ह मधु बासा ॥
सरद-चंद मुख जबहिं उघेली। खंजन-नैन उठे करि केली ॥
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीउ बरियाईं ॥
दबै बिरह दारुन, हिय कांपा। खोलि न जाइ बिरह-दुख झांपा ॥
उदधि-समुद जस तरंग देखावा। चख घूमहिं मुख बात न आवा ॥
यह सुनि लहरि लहरि पर धावा। भंवर परा, जिउ थाह न पावा ॥
सखी आनि विष देहु तौ मरऊं। जिउ न पियार, मरैं का डरऊं ? ॥

खिनहिं उठै, खिन बूड़ै, अस हियं कंवल संकेत।
हीरामनहि बुलावहि, सखी! गहन जिउ लेत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—भानु नांव—भानु का अर्थात् सूर्य का नाम (रत्नसेन प्रिय), बिगासा—विकसित हुआ, फिरि कै भौंर लीन्ह मधु बासा—भ्रमरों ने फिर मधु-वास लिया अर्थात् काली पुतलियां खुलीं, सरद चंद—शरद के चांद (पद्मावती), उघेली—खोलना, केली—क्रीड़ा, बरियाई—जबरदस्ती, दबै—दबाता है, दारुन हिय कांपा—उनका कठोर हृदय कांपने लगा, झांपा—ढका हुआ, तरग—लहरें, चख घूमहि—नेत्र घूमते हैं, पियार—प्रेम, मरैं का डरऊं—मरने से क्या डरना, संकेत—संकट, गहन—सूर्य रूप रत्नसेन का अदर्शन।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी का प्रतिपाद्य है कि प्रिय रत्नसेन का नाम सुनते ही पद्मावती का हृदय प्रफुल्लित हो गया। कवि कहता है—

सूर्य समान रत्नसेन का नाम सुनकर कमल रूपी पद्मावती का मुख विकसित हो गया और भौंरे (नेत्र) मानों फिर से मधुमय सुगंध प्राप्त करने लगे। पद्मावती ने जैसे ही प्रिय रत्नसेन का नाम सुना, वैसे ही उसका शरद चन्द्र सा मुख कांतिमान हो उठा। उसमें एक चमक आ गई जिसे देख कर नेत्र-खंजन क्रीड़ा करने लगे। विरह के वशीभूत होकर उसके मुख से बोल नहीं निकलते थे। हां, उसका जीव मृतकवत् अब मरा–अब मरा कह कर पुकारता था। दारुण विरह से दबा हुआ हृदय कंपित होता था और विरह के दुख से ढका हुआ खोला नहीं जाता था। महासमुद्र में जैसे अनेक तरंगें निकलती हैं उसी भांति उसके हृदय में अनेक भाव उमड़ते थे, आंखों में करोड़ों भाव उमड़ते दिखाई देते थे किन्तु मुख पर एक भी दिखाई नहीं देता था। तात्पर्य उसके नेत्रों की पुतलियों में वेदना की लहरें दिखाई दे रही थीं, किन्तु वह मुख से ध्वनित नहीं हो पा रही थीं। वे मौन और मूच्छित थीं। उसके नेत्रों से आंसुओं

की धारा भी प्रस्फुटित नहीं हो पा रही थी। उसके नेत्र एक एक लहर पर दौड़ते थे किन्तु उनको थाह नहीं मिलती थी। अन्त में वह बोली कि हे सखी! तुम मुझे कहीं से विष लाकर दे दो जिससे अपने प्राणों का विसर्जन करके मैं सुख शांति लाभ कर सकूं। प्राणों का रहना अब ठीक नहीं हैं किन्तु मैं इन्हें समाप्त कैसे कर सकती हूँ क्योंकि मेरा जीव तो रत्नसेन के पास है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की मनःस्थिति ऐसी थी कि वह वेदना की लहरों में क्षण भर में डूब जाती थी और क्षणान्तर में ही उतराती थी। तात्पर्य, वह व्यथा की लहरों पर ही खेलती रहना चाहती थी। उसके हृदय रूपी कमल से यह संकेतित होता है। व्यंजना यह है कि उसका वक्षस्थल दुख के भार के आलोड़न से उभरता और दबता था। परिणामस्वरूप उसने अपनी सखी से कहा कि मुझे ग्रहण पकड़े लिए जा रहा है। अतः प्रयत्न करके शीघ्र ही हीरामन तोते को बुलाओ।

चेरी धाय सुनत खिन धाई। हीरामन लेइ आइ बोलाई ॥
जनहु वैद ओषद लेइ आवा। रोगिया रोग मरत जिउ पावा ॥
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले ॥
कवलहि बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर-बरन पीर हिय गाढ़ी ॥
कित कंवलहि भा पेम-अंकूरू। जो पै गहन लेहि दिन सूरू ॥
पुरइनि छांह कंवल कै करी। सकल बिथा सुनि अस तुम हरी ॥
पुरुष गभीर न बोलहिं काहू। जो बोलहिं तौ और निबाहू ॥
एतनै बोल कहत मुख पुनि होइ गई अचेत।
पुनि को चेत संभारै ? उहै कहत मुख सेत ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—चेरी—दासी। धाय—दासी। खिन धाई—क्षण भर में ही दौड़ी आई। ओषद—औषधि। लेइ आवा—ले आया। रोगिया रोग मरत जिउ पावा—रोगी ने मरणासन्न स्थिति में आराम पाया या जीवनदान प्राप्त किया। असीस—आशीर्वाद। नैन धनि खोल—धन्या ने नेत्र खोले। जिमि—जैसे। कंवलहि—कमल को, तात्पर्य पद्मावती से है। पेम-अंकूरु—प्रेम का अंकुर। गहन लेहि दिन सूरू—सूर्य को ग्रहण लग गया हो। पुरइन छांह—कमलों की छाया। कवल कै करी—कमल कलिका। सकल बिथा—सम्पूर्ण व्यथा। अस तुम हरी—तुमने हरण कर ली। काहू—कभी भी या कदाचित ही। एतनै—इतने या इस प्रकार। अचेत—अचेतावस्था में। चेत संभारे—चैतन्य हो या होश को प्राप्त करावे। उहै कहत मुख सेत—उसका मुख श्वेत हो गया।

सन्दर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती की अचेतावस्था का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वे इसी प्रसंग में कहते हैं कि पद्मावती क्षण-क्षण में ही अचेतावस्था और चैतन्यावस्था को प्राप्त हो जाती थी। जायसी कहते हैं—

पद्मावती ने जैसे ही हीरामन तोते की बात कही, वैसे ही एक दासी तुरन्त ही दौड़ती चली गई और उस तोते को शीघ्र ही लिवा लाई। तोते का आगमन पद्मावती के लिए बहुत ही हितकारी सिद्ध हुआ। उसका आना ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई वैद्य दवा ले आया हो और उससे मृत प्रायः रोगी को

की कली हो। अब रात्रि की अंधकारमयी बेला व्यतीत हो गई है और नया प्रभात सामने आ गया है। क्या अब भी तू अपने नेत्र-सपुटों को नहीं खोलेगी जब कि सारा संसार उदासी छोड़ कर प्रसन्नता का वरण कर रहा है किन्तु तुम अभी भी निशा सी उदासी लिए क्यों दिखाई दे रही हो। अब तो प्रियतम की प्राप्ति का अवसर आ गया है, अतः सजग होकर कार्य करने की आवश्यकता है।

विशेष—इस पद में लुप्तोपमा, रूपक और प्रतीक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

भानु-नावं सुनि कंवल बिगासा। फिरि कै भौंर लीन्ह मधु बासा ॥
सरद-चंद मुख जबहि उघेली। खंजन-नैन उठे करि केली ॥
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीउ बरियाईं ॥
दबै बिरह दारुन, हिय कांपा। खोलि न जाइ बिरह-दुख झांपा ॥
उदधि-समुद जस तरंग देखावा। चख घूमहिं मुख बात न आवा ॥
यह सुनि लहरि लहरि पर धावा। भंवर परा, जिउ थाह न पावा ॥
सखी आनि विष देहु तो मरऊं। जिउ न पियार, मरैं का डरऊं ? ॥

खिनहिं उठै, खिन बूड़ै, अस हियं कंवल संकेत।
हीरामनहिं बुलावहि, सखी ! गहन जिउ लेत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—भानु नांव—भानु का अर्थात् सूर्य का नाम (रत्नसेन प्रिय), बिगासा—विकसित हुआ, फिरि कै भौंर लीन्ह मधु बासा—भ्रमरों ने फिर मधु-वास लिया अर्थात् काली पुतलियां खुलीं, सरद चंद—शरद के चांद (पद्मावती), उघेली—खोलना, केली—क्रीड़ा, बरियाई—जबरदस्ती, दबै—दबाता है, दारुन हिय कांपा—उनका कठोर हृदय कांपने लगा, झांपा—ढका हुआ, तरग—लहरें, चख घूमहिं—नेत्र घूमते हैं, पियार—प्रेम, मरैं का डरऊं—मरने से क्या डरना, संकेत—संकट, गहन—सूर्य रूप रत्नसेन का अदर्शन।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी का प्रतिपाद्य है कि प्रिय रत्नसेन का नाम सुनते ही पद्मावती का हृदय प्रफुल्लित हो गया। कवि कहता है—

सूर्य समान रत्नसेन का नाम सुनकर कमल रूपी पद्मावती का मुख विकसित हो गया और भौंरे (नेत्र) मानो फिर से मधुमय सुगंध प्राप्त करने लगे। पद्मावती ने जैसे ही प्रिय रत्नसेन का नाम सुना, वैसे ही उसका शरद चन्द्र सा मुख कांतिमान हो उठा। उसमें एक चमक आ गई जिसे देख कर नेत्र-खंजन क्रीड़ा करने लगे। विरह के वशीभूत होकर उसके मुख से बोल नहीं निकलते थे। हां, उसका जीव मृतकवत् अब मरा-अब मरा कह कर पुकारता था। दारुण विरह से दबा हुआ हृदय कंपित होता था और विरह के दुख से ढका हुआ खोला नहीं जाता था। महासमुद्र से जैसे अनेक तरंगें निकलती हैं उसी भांति उसके हृदय में अनेक भाव उमड़ते थे, आंखों में करोड़ों भाव उमड़ते दिखाई देते थे किन्तु मुख पर एक भी दिखाई नहीं देता था। तात्पर्य उसके नेत्रों की पुतलियों में वेदना की लहरें दिखाई दे रही थीं, किन्तु वह मुख से ध्वनित नहीं हो पा रही थीं। वे मौन और मूच्छित थीं। उसके नेत्रों से आंसुओं

की धारा भी प्रस्फुटित नहीं हो पा रही थी। उसके नेत्र एक एक लहर पर दौड़ते थे किन्तु उनको थाह नहीं मिलती थी। अन्त में वह बोली कि हे सखी! तुम मुझे कहीं से विष लाकर दे दो जिससे अपने प्राणों का विसर्जन करके मैं सुख शांति लाभ कर सकूं। प्राणों का रहना अब ठीक नहीं है किन्तु मैं इन्हें समाप्त कैसे कर सकती हूँ क्योंकि मेरा जीव तो रत्नसेन के पास है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती की मन:स्थिति ऐसी थी कि वह वेदना की लहरों में क्षण भर में डूब जाती थी और क्षणान्तर में ही उतराती थी। तात्पर्य, वह व्यथा की लहरों पर ही खेलती रहना चाहती थी। उसके हृदय रूपी कमल से यह संकेतित होता है। व्यंजना यह है कि उसका वक्षस्थल दुख के भार के आलोड़न से उभरता और दबता था। परिणामस्वरूप उसने अपनी सखी से कहा कि मुझे ग्रहण पकड़े लिए जा रहा है। अतः प्रयत्न करके शीघ्र ही हीरामन तोते को बुलाओ।

चेरी धाय सुनत खिन धाई। हीरामन लेइ आइ बोलाई ।।
जनहु बैद ओषद लेइ आवा। रोगिया रोग मरत जिउ पावा ।।
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले ।।
कवलहि बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर-बरन पीर हिय गाढ़ी ।।
कित कंवलहि भा पेम-अंकूरू। जो पै गहन लेहि दिन सूरू ।।
पुरइनि छांह कँवल कै करी। सकल बिथा सुनि अस तुम हरी ।।
पुरुष गभीर न बोलहिं काहू। जो बोलहिं तौ और निवाहू ।।
एतनै बोल कहत मुख पुनि होइ गई अचेत।
पुनि को चेत संभारै ? उहै कहत मुख सेत ।। १४ ।।

शब्दार्थ—चेरी—दासी। धाय—दासी। खिन धाई—क्षण भर में ही दौड़ी आई। ओषद—औषधि। लेइ आवा—ले आया। रोगिया रोग मरत जिउ पावा—रोगी ने मरणासन्न स्थिति में आराम पाया या जीवनदान प्राप्त किया। असीस—आशीर्वाद। नैन धनि खोले—धन्या ने नेत्र खोले। जिमि—जैसे। कंवलहि—कमल को, तात्पर्य पद्मावती से है। पेम-अंकूरु—प्रेम का अंकुर। गहन लेहि दिन सूरू—सूर्य को ग्रहण लग गया हो। पुरइन छांह—कमलों की छाया। कवल कै करी—कमल कलिका। सकल बिथा—सम्पूर्ण व्यथा। अस तुम हरी—तुमने हरण कर ली। काहू—कभी भी या कदाचित ही। एतनै—इतने या इस प्रकार। अचेत—अचेतावस्था में। चेत संभारे—चैतन्य हो या होश को प्राप्त करावे। उहै कहत मुख सेत—उसका मुख श्वेत हो गया।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती की अचेतावस्था का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वे इसी प्रसंग में कहते हैं कि पद्मावती क्षण-क्षण में ही अचेतावस्था और चैतन्यावस्था को प्राप्त हो जाती थी। जायसी कहते हैं—

पद्मावती ने जैसे ही हीरामन तोते की बात कही, वैसे ही एक दासी तुरन्त ही दौड़ती चली गई और उस तोते को शीघ्र ही लिवा लाई। तोते का आगमन पद्मावती के लिए बहुत ही हितकारी सिद्ध हुआ। उसका आना ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई वैद्य दवा ले आया हो और उससे मृत प्रायः रोगी को

पुनः जीवनदान प्राप्त हो गया हो। तोते ने आते ही आशीर्वाद दिया और पद्मावती ने नेत्र खोले और कोयल की भांति मधुर वचनों का उच्चारण किया। कमल-पद्मावती में जैसे ही व्यथा बढ़ी कि उसके हृदय का केसरिया रंग पीड़ा के कारण प्रगाढ़ हो गया।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने सोचा कि यदि यौवन के प्रारम्भ में ही ग्रहण लगना था तो फिर हृदय में प्रेमांकुर का उगना ही अनावश्यक था। कमल की बेल छाया में जिस प्रकार कमल-कली सुख लाभ करती है उसी प्रकार हे पुरइन! तुम्हारे आगमन के कारण सम्पूर्ण विरह-व्यथा का निवारण हो गया है। जायसी कहते है कि गंभीर पुरुष कभी कुछ कहते नहीं है और कह भी देते है तो उसका पूर्ण निर्वाह करते है। तात्पर्य, गंभीर व्यक्ति पूरे संकल्प और साहस के साथ अपने व्यक्तित्व को प्रभावित करने के लिए कटिबद्ध हो जाते है। यहां पर धाय या दासी की बुद्धिमता की ओर संकेत किया गया है। इतने वचन पद्मावती जैसे-तैसे कह सकी किन्तु तुरन्त ही उसको अचेतावस्था मे रहना पड़ा। तात्पर्य इतने बोल-बोलते २ वह अचेत हो गई। जैसे ही उसे चेतना हुई वह अपने मुख से वही अस्पष्ट बातें कहने लगी। भाव यह है कि पूर्व ढंग से ही बेसिर पैर की बातें कहने लगी।

और दगध का कहौं अपारा। सती सो जरै कठिन अस झारा ॥
होइ हनुवंत पैठ है कोई। लंकादाहु लागु करै सोई ॥
लंका बुझी आगि जो लागी। यह न बुझाइ आंच बजागी ॥
जनहु अगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहिं अंग अंगारा ॥
कटि कटि मांसु सराग पिरोवा। रकत कै आंसु मांसु सब रोवा ॥
खिन एक बार मांसु अस भूजा। खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूजा ॥
एहि रे दगध हुंत उतिम मरीजै। दगध न सहिय, जीउ बरु दीजै ॥

जहं लगि चंदन मलयगिरि औ सायर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं, बुझै न आगि सरीर ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—दगध—दाह। कहौं अपारा—अपार जलन का क्या वर्णन करूं। झारा—ज्वाला या लपट। लंका दाहु—लंका का दाह। बजागी—वज्राग्नि। पहारा—पर्वत। अंग अपारा—अंगों का अपार जलन। अस भूंजा—ऐसा भूना। उतिम—उत्तम। दगध न सहिय—जलन न सहिए। जीउ बरु दीजै—प्राण भले ही चले जावें।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में पद्मावती का विरह वर्णन बढ़ाया चढ़ाया हुआ है। वे इस प्रकार विरह का वर्णन करते हुए कहते हैं—उस पद्मावती के विरह वर्णन का और क्या वर्णन करूं। उसकी विरह ज्वाला इतनी बढ़ी हुई थी कि जो भी उसके पास जाता था, वही जल जाता था। कोई हनुमान होकर उसके शरीर रूपी लंका में प्रवेश किए है, वह उसका—दाह कर रहा है। लंका भी जली थी, किन्तु वह जल कर बुझ गई थी किन्तु यह पद्मावती के विरह की आग बुझाये न बुझती थी। विरह की आग को देखकर ऐसा लगता था मानो आग के पहाड़ उठ रहे हों। वे विरहाग्नि के पहाड़, सभी अंगों मे लगते थे। उसके शरीर से रक्त और मांस कट-कट कर गिरता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो अंग का मांस काट-काट कर सलाखों

में कवाब की तरह भूनने के लिए पिरो दिया था। परिणामस्वरूप सारा मांस खून के आंसुओं से रुदन कर रहा था। जायसी कहते हैं कि वह विरहाग्नि मानो क्षण भर में मार कर मांस भून रही थी और फिर दूसरे ही क्षण, तत्काल, जिन्दा करके ऐसी गर्जना करती थी जैसे सिंह गर्जना करता है। इस प्रकार के विरह-ताप को सहन करने से तो कहीं अधिक अच्छा यह होगा कि प्राण ही समाप्त हो जायें। विरह का ताप सहन करने से तो कहीं अधिक अच्छा यह होगा कि प्राण ही समाप्त हो जायें। विरह का ताप सहन करना अच्छा नहीं है, भले ही प्राण चले जायें।

जायसी कहते हैं कि मलयगिरि पर जितना भी चंदन है और समुद्रों में जितना जल है—यदि वे सब मिलकर भी विरह के ताप को बुझाएं तो भी उसके शरीर की विरहाग्नि बुझ नहीं पायेगी।

विशेष—विरह-वर्णन सूफियाना है। परिणामतः इसमें मांस, रक्त, कवाब आदि का वर्णन किया गया है। अलंकार अत्युक्ति है।

हीरामन जौ देखेसि नारी। प्रीति-बेल उपनी हिय-बारी ॥
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम जो पीतम बेली ॥
प्रीति-बेलि जिनि अरुझै कोई। अरुझे मुए न छूटै सोई ॥
प्रीति-बेलि ऐसै तन डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा ॥
प्रीति-बेलि कै अमर को बोई? दिन दिन बढ़ै, छीन नहिं होई ॥
प्रीति-बेलि संग बिरह अपारा। सरग पतार जरै तेहि झारा ॥
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा। दूसर बेलि न संचरै पावा ॥

प्रीति-बेलि अरुझै जब तब सुछांह सुख-साख।
मिलै पिरीतम आइ कै, दाख-बेलि रस चाख ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—प्रीति-बेलि=प्रेम की लता। उपनी=उत्पन्न हुई। हिय-बारी=हृदय की वाटिका में। दुहेली=दुखी। अरुझी पेम=प्रेम में उलझी। पीतम बेली=प्रियतम की लता। अरुझै कोई=उलझ जाय (कोई)। मुए=मरे हुए। डाढ़ा=जलाना। पलुहत=पल्लवित होना। छीन=क्षीण या पतली। सरग पतार=स्वर्ग पाताल। संचरै=संचरण करना। दाख-बेलि=द्राक्षा या अंगूर की लता।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व पद के संदर्भ में ही जायसी कहते हैं—

हीरामन ने जब पद्मावती बाला को ऐसी विरह-विदग्ध दशा में देखा तो समझ लिया कि उसके हृदय में प्रीति बेलि उत्पन्न हो गई है। हीरामन तोते ने पद्मावती से कहा कि तुम भला दुखी क्यों न हो, क्योंकि तुम तो प्रेम-वल्लरी में पूर्णतः उलझ गई हो। इस प्रकार जायसी ने कहा कि प्रीति-लता से कोई भी उलझे नहीं। उलझ जाने पर प्राण गवाकर भी उससे कोई नहीं छूटता है। प्रीति की लता इसी तरह शरीर को दग्ध करती है। इस प्रेम-वल्लरी में जब पल्लव फूटते हैं या विकसित होते हैं तो प्रारम्भ में बड़े सुखकारी और मनहरण होते हैं पर साथ ही दुख भी बढ़ने लगता है। व्यंजना यह है कि जवानी के फूटते ही काम पीड़न बढ़ने लगता है। प्रीति की लता के साथ ही अपार विरह भी पैदा होता है। उसकी लपटों से आकाश और पाताल जलने-झुलसने लगते हैं। किसने प्रीति की यह अमरवल्लरी बोई

है जो दिनों दिन बढ़ती जाती है। सूखती तो इसलिए नहीं कि प्रेम अंकुरित होने के साथ ही बढ़ता जाता है, रुकता नहीं है। प्रेम-लता अकेले ही बढ़ती है, फलती-फूलती है। जहां पर प्रेम की लता फलती-फूलती है वहां पर दूसरी और कोई लता विकसित नही हो पाती है। तात्पर्य यह है कि प्रेमी के अधिकार मे आने पर प्रिया पर किसी दूसरे का अधिकार नही हो पाता है।

जायसी कहते हैं कि प्रीति की लता से जो उलझता है उसे सुख की शीतल और सुखद छाया का अनुभव होता है और जब प्रियतम आकर मधुर मिलन क्षण बिताता है तभी अमृतोपम सुखोपलब्धि होती है। तात्पर्य यह है कि प्रीति का सुख तभी प्राप्त होता है जब कि प्रिय मिलन होता है। प्रिय मिलन का सुख अंगूर की लता के समान है जो रसवती होने पर सभी को रसास्वाद प्रदान करती है।

विशेष—१. वर्णन रसात्मक है। पाठक का मन इसे पढ़ते ही झूम उठता है। स्वस्थ कल्पना के परिवेश में ही सभी वर्णन परिभ्रमित होता है।

२. सांगरूपक अलंकार का प्रयोग सुन्दरता से हुआ है।

पदमावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुँत देखौं पीतम-छाया।।
कहत लाज औ रहै न जीऊ। एक दिसि आगि दुसर दिसि पीऊ।।
सूर उदयगिरि चढ़त भुलाना। गहनै गहा, कंवल कुंभिलाना।।
ओहट होइ मरौं तो झूरी। यह सुठि मरौं जो नियर न दूरी।।
घट महं निकट, बिकट होइ मेरू। मिलहि न मिले, परा तस फेरू।।
तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा। उतरौं पार तेही बिधि सेवा।।
दमनहि नलहि जो हंस मेरावा। तुम्ह हीरामन नावं कहावा।।
मूरि सजीवन दूरि है सालै सकती बानु।
प्रान मुकुत अब होत है, बेगि देखावहु भानु।। १७।।

शब्दार्थ—टेकै पाया=चरण स्पर्श किया। पीतम छाया=प्रियतम की छाया। जीऊ=जीव या प्राण। दुसर=दूसरा। दिसि पीऊ=दिशा में प्रियतम। ओहट=ओट मे। मेरू=मेल मिलाप। मिलहि न मिलै=मिलने पर भी या पास होने पर भी नहीं मिलता। मोर=मेरा खेवक=खेने वाला। तेही बिधि सेवा=उसी विधि से। मेरावा=मिलाना। सालै=सालता है। सकती-बानु=शक्ति-बाण। मुकुत=मुक्त। भानु=सूर्य।

सन्दर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी हीरामन तोते के माध्यम से रानी पद्मावती को आशीर्वाद दे रहे हैं। हीरामन तोता पूर्व सन्दर्भ में कहता है—

हीरामन तोते ने अपना मस्तक पृथ्वी पर टेका और बोला कि हे रानी! युग युगान्तर तक तुम्हें सुख और राजपाट प्राप्त हो। तात्पर्य, तुम काफी समय तक राज्य भोगो, आनन्दपूर्वक जीवन यापन करो। जिसके हाथ में तेरी सजीवनी बूटी है वह तेरा प्रियतम रत्नसेन अब दूर नहीं है। तुम्हारे पिता राज्य भोग कर चुके हैं, वे ब्राह्मणों को सम्मानित करने वाले और जोगियों के प्राण हरण करने वाले थे। पंखियों के मार्ग पर कोतवाल बैठे हुए हैं। प्रेम के सांगी रत्नसेन ने सुरंग के माध्यम से प्रवेश कर रात भर चढ़ता रहा किन्तु दरवाजे के पास आते ही राजा के कर्मचारियों ने चोर

समझ कर उसे पकड़ लिया। अब वे उसे शूली पर चढ़ा देंगे। परिणामस्वरूप तुम्हारे हृदय में पर्याप्त व्यथा भर गई है। इतने पर भी स्मरणीय यह है कि अब तो तुम्हीं उसकी जीवनाधार हो। रोगी तो शरीर के रोग से जीवित रहता है, व्यंजना यह है कि उसके रोग की अवधि जब तक रहती है, तभी तक रोगी का शरीर भी जीवित रहता है—वह रत्नसेन तो जीव रूप में तुम्हारे भीतर आ गया है, उसका शरीर भी अपनी अवधि तक रहेगा।

हे रानी! तुम्हारे रूप को अपने प्राणों में भर कर वह अपना नया या दूसरा शरीर धारण करेगा। उसका अपनापन तुम्हारे शरीर खण्ड अर्थात् हृदय में खोया हुआ है, अतः उसे काल कभी भी खोज नहीं पाता है।

विशेष—योगी, दूसरे के शरीर में अपनी आत्मा का प्रवेश कर लेते थे और अपने शरीर को छोड़कर भी जीवन धारण करते थे। शंकराचार्य के सम्बन्ध में कथा है कि कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए उन्होंने अपने शरीर को छोड़कर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर लिया था एव कामशास्त्र का पूर्ण व्यावहारिक अध्ययन करके अपने पुराने रूप में पुनः आ गए थे।

हीरामन मुइ धरा लिलाटू। तुम्ह रानी जुग जुग सुख-पाटू॥
जेहि के हाथ सजीवन मूरी। सो जानिय अब नाहीं दूरी॥
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै विप्र मरावै जोगी॥
पौंरि पौंरि कोतवार जो वैठा। पेम क लुबुध सुरग होइ पैठा॥
चढ़त रैनि गढ़ होइगा भोरू। आवत वार धरा कै चोरू॥
अब लेइ गए देइ ओहि सूरी। तेहि सौं अगाह बिथा तुम्ह पूरी॥
अब तुम्ह जिउ, काया वह जोगी। कया क रोग जानु पै रागी॥
रूप तुम्हार जीउ कै (आपन) पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा, तेहि काल न पावै हेरि॥ १८॥

हीरामन जो बात यह कही। सूर के गहन चांद तब गही॥
सूर के दुख सौं ससि भइ दुखी। सो कित दुख मानै करमुखी?॥
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा। मोहि ओहि साथ धरति गगनेहा॥
रहै त करौं जनम भरि सेवा। चलै त, यह जिउ साथ परेवा॥
कहेसि कि कौन करा है सोई। पर-काया परवेस जो होई॥
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला। चेला गुरू, गुरू भा चेला॥
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल, हेरि फिरि जाई॥
चेला सिद्धि सो पावै गुरु सौं करै अछेद।
गुरु करै जो किरपा, पावै चेला भेद॥ १९॥

शब्दार्थ—सूर के गहन = सूर्य को ग्रहण लग गया। ससि भइ दुखी= चन्द्रमा दुखी हो गया, तात्पर्य पद्मावती दुखी हो गई। करमुखी=काले मुंह वाली। गगनेहा=गगन में, स्वर्ग मे। करा=कला। परेवा=पक्षी। परकाया परवेस=दूसरे शरीर में प्रवेश करना। लुकाई=छिपा। अछेद= अभेद या भेदभाव का त्याग। चेला सिद्धि सो पावै=वही चेला सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी पूर्वपद प्रसंग में कहते हैं—जब हीरामन तोते ने पद्मा से यह बात कही, तो रत्नसेन रूपी सूर्य के

ग्रहण का दुख अनुभव कर. पद्मा रूपी चांद को भी ग्रहण ने ग्रस लिया। सूर्य के दुख से जब चन्द्रमा दुख पाता है तो इतना दुख अनुभव करता है कि उसका मुख काला हो जाता है। पद्मावती का मुख भी कालिमा संयुक्त हो गया। उस पद्मावती ने कहा कि अब यदि वह योगी मर भी गया तो मेरे प्राणों का विनाश भी उसके साथ ही हो जायगा। मेरा और उसका मिलन धरती और आकाश पर भी हो जायगा। तात्पर्य यह है कि यहां नहीं तो स्वर्ग में हमारा मिलन अवश्य हो जायगा। यदि वह जीवित रहा तो मैं उसकी आजन्म सेवा करूंगी। यदि वह मर गया तो मेरा भी मरण हो जायगा।

जायसी कहते हैं कि हे गुरु तोते ! मैं ऐसा कौनसा कर्त्तव्य करूं जिससे मुझे परकाया प्रवेश हो सके। वह कौन से उलटे मार्ग पर चला कि चेला गुरु और गुरु चेला हो जाये। तात्पर्य यह है कि रत्नसेन से पहले योग मार्ग में राजा चेला था और पद्मावती गुरु। अब राजा ने उस मार्ग को छोड़कर शूली पर चढ़ने का मार्ग लिया तो राजा सिद्ध हो गया और पद्मावती उसके निमित्त आकुल-व्याकुल होगयी। पहले रत्नसेन में पद्मा के लिए व्याकुलता थी अब पद्मा में रत्नसेन के लिए। शरीर का ऐसा कौन सा भाग है जहां वह छिप जाता है और काल आकर उसकी खोज-बीन करने लगता है। इस पर तोते ने उत्तर दिया कि योग मार्ग से चेला सिद्धि प्राप्त करता है और गुरु से उसका भेदभाव समाप्त होजाता है। तात्पर्य दोनों—गुरु-शिष्य—में अभेदत्व या अभिन्नत्व हो जाता है। बात यही है कि गुरु की कृपा अनिवार्य है, और इसी कृपा के पश्चात् गुरु, शिष्य को सभी आध्यात्मिक रहस्य उद्घाटित कर देता है। व्यंजना यह है कि पहले तो पद्मावती के निमित्त रत्नसेन के हृदय में विकलता थी और अब शूली पर चढ़ने की साधना से पद्मावती उसके लिए व्याकुलता का अनुभव करती है। यही वैचित्र्यमय रहस्य है।

अनु रानी तुम गुरु, वह चेला। मोहि बूझहु कै सिद्ध नवेला ? ॥
तुम्ह चेला कहं परसन भई। दरसन देइ मंडप चलि गई ॥
रूप गुरू कर चेले डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा ॥
जीउ काढ़ि लै तुम्ह अपसई। वह भा कया, जीउ तुम्ह भई ॥
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान, जान पै जीऊ ॥
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओहि बिथा सो तुम्ह कहं आई ॥
तुम ओहिके घट वह तुम माहां। काल कहां पावै वह छाहां ? ॥

अस वह जोगी अमर भा पर-काया-परवेस।
आवै काल, गुरुहि तहं देखि सो करै अदेस ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अनु=फिर या आगे। नवेला=नया। डीठा=देखा। पईठा=प्रवेश किया। मोहि बूझउ कै सिद्ध नवेला ? नया सिद्ध बनकर स्वयं उल्टा मुझसे पूछती हो ? जीउ काढ़ि=प्राणों को काढ़कर। अपसई=चलती बनी। सीऊ=शीत। जीऊ=जीव या जीवन। बिथा=व्यथा या व्याधि। ओहिके घट=उसके हृदय या अन्तःकरण। अदेस=नमस्कारपूर्वक।

ससदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में पूर्व संदर्भानुसार वही प्रसंग चल रहा है। जायसी वर्णन करते हुए कहते हैं:—

तोते ने पद्मावती से कहा कि हे रानी ! तुम ही अनुकूल हो। तुम ही उसकी गुरु हो और वह तुम्हारा शिष्य है। तुमने ही तो उसे नया रूप प्रदान कर नवीन पद्धति का सिद्ध बनाया है। सिद्ध बनाने के पश्चात् अब मुझ से क्या पूछती हो ? जो है उसे मांगो। उसको दर्शन देने के लिए तुम मडप तक गई थीं। तुमने ही उसे अपना सब कुछ प्रदान किया है। तुम्हारा ही उसके लिए समर्पण रहा है। गुरु का रूप चेले ने मंडप के अन्तर्गत देखा और उसका चित्र उसके हृदय में परकाया प्रवेश के माध्यम से प्रवेश कर गया। तुम तो उसका हृदय या जीव निकाल कर चलती बनीं। इसका परिणाम यह हुआ कि वह तो शरीर हो गया और तुम जीव रूपिणी होगईं। तात्पर्य यह है कि तुमने रत्नसेन के प्राणों का हरण करके अपने में प्रवेश करा लिया। परिणामतः वह अब जीवहीन 'काया कंकाल' मात्र शेष रह गया है।

जायसी कहते हैं कि हीरामन तोते ने बताया कि हे रानी ! शरीर, शरीर है। उसका क्या भरोसा ? पता नहीं कब उस शरीर को शीत या धूप लग जाये। उसे तो उसकी काया अब नहीं जानती है, केवल तुम्हारा प्राण जानता है। अतः तुम्हारा अन्तवर्ती सुख अब उसे प्राप्त हो गया है और उसकी जो विरह व्यथा थी अब तुम्हारे पास आगई है। व्यंजना है कि उसके सम्पूर्ण दुख अब तुम्हें उठाने हैं और तुम्हारे सभी सुख अब स्वभावतः उसके (राजा के) होगये हैं। अब तो वह तुम्हारे शरीर में है और तुम उसके हृदय में हो। तुम दोनों ही परस्पर अभिन्न और एकनिष्ठ भाव से एक हो गये हो। अब एक दूसरे की सुख–पीडा का आदान–प्रदान स्वभावतः चल रहा है। तोते ने कहा–इसलिए उसकी छाया को मृत्यु कैसे स्पर्श कर सकती है। तात्पर्य, मृत्यु का उस सिद्ध पुरुष के शरीर पर कोई प्रभाव नहीं होगा।

जायसी वर्णन करते हैं कि इस प्रकार परकाया के प्रवेश से वह योगी अमर हो गया। काल आता है, पर उसके स्थान पर तुम्हें देखकर, प्रणाम करके लौट जाता है।

विशेषः—इस पद में जादुई प्रभाव या मैसमरेज्म की पद्धति तथा परकाया प्रवेश की अच्छी पद्धति वर्णित और अंकित है।

सुनि जोगी कै अमर जो करनी। नेवरी बिथा बिरह कै मरनी ।।
कवंल-करी होइ बिगसा जीऊ। जनु रवि देख छूटि गा सीऊ ।।
जो अस सिद्ध को मारै पारा ? । निपुरुष तेइ जरै होइ छारा ।।
कहौ जाइ अब मोर सदेसू। तजौ जोग अब होहु नरेसू ।।
जिनि जानहु हौं तुम्ह सौं दूरी। नैनन्ह मांझ गड़ी वह सूरी ।।
तुम्ह परसेद घटे घट केरा। मोहि घट जोउ घटत नहि बेरा ।।
तुम्ह कहं पाट हिये महं साजा। अब तुम मोर दुहूं जग राजा ।।
जौं रे जियहिं मिलि गर रहहिं मरहिं तो एकै दोउ।
तुम्ह जिय कहं जिनि होइ किछु मोहि जिउ होउ सो होउ ।।२१।।

शब्दार्थः—अम्मर—अमर। करनी—क्रिया कलाप। नेवरि या नेवरी–निवटी या छूटी। निपुरुष—पुरुषार्थहीन। सूरी—शूली जो रत्नसेन को दी जाने वाली थी। परसेद—प्रस्वेद या पसीना। घट—घटने पर। बेरा—देर विलम्ब। पाट—राज सिंहासन। हिये महं—हृदय में सुशोभित। दुहूं जग—दोनों ही संसार।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में तोते के मुंह से रत्नसेन की अमर करनी या महत्वपूर्ण करनी सुनकर पद्मावती को जो अहसास हुआ, उसी का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं—

योगी की अमर करनी या कर्म सुनकर पद्मावती ने, जो विरह से मृतक वत् हो गई थी, निवृत्ति प्राप्त की, मुक्ति प्राप्त की। उस पद्मावती का हृदय कमल कली की भांति विकसित हुआ, मानो सूर्य को देखकर उसका समस्त शीत लुप्त हो गया हो। उसने कहा कि जो रत्नसेन सिद्ध महात्मा है, उसे कौन मार सकता है या हताहत कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जो सिद्ध पुरुष होते हैं, उन पर न तो मृत्यु का और न काल का कोई असर होता है और न किसी प्रकार की कोई भी आपदा उन्हें पथ से विचलित कर सकती है। यदि, इतने पर भी कोई इस प्रकार की चेष्टा करेगा तो वह पुरुषार्थहीन होकर भस्म हो जायगा।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने हीरामन तोते से कहा कि हे तोते! अब जाओ, मेरा संदेश जाकर प्रस्तुत करो कि वह अब योगी के रूप को तथा वेश को त्याग दे और राजसी ठाठ बाट में जीवन बितावे। तात्पर्य है कि सिद्धि के क्षेत्र में तो वह अकेला ही सभी को पराजित करता है अतः उसमें रत्नसेन के सिद्ध व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा है। अब इसको छोड़कर वह कहीं जा ही नहीं सकता है। वह यह न समझे कि मैं उससे दूर हूँ। अरे! मेरे नेत्रों में ही वह शूली गड़ी हुई है। राजा रत्नसेन के प्रस्वेद के गिरने पर शरीर प्राण निकालने में देर नहीं लगा सकता। उसके बैठने के लिए मैंने हृदय के भीतर सिंहासन सजाया है और वह अब मेरे दोनों, इह लोक और परलोक का स्वामी हो चुका है।

यदि हम जीवित रहेंगे तो ग्रीवा से ग्रीवा मिलाकर रहेंगे। यदि मरे तो एक ही साथ प्राणों का विसर्जन करेंगे। तात्पर्य यह है कि मृत्यु भी साथ ही आयगी क्योंकि अभेद और अभिन्नत्व इसका प्रमुख कारण है। अतः जो भी कष्ट आवें, वे मेरे ऊपर ही पड़ें और रत्नसेन को कष्टवत् प्रतीत न हों। तात्पर्य वह सुखी, समृद्ध और शांत रहे।

विशेष—१. वर्णन गंभीर और व्यावहारिक है। इस प्रकार के वर्णन मन पर प्रभाव छोड़ जाते हैं।

२. उत्प्रेक्षा अलंकार और वर्णन शैली अभिशंसा के योग्य है।

रत्नसेन-सूली-खंड

बांधि तपा आने जहं सूरी। जुरे आइ सब सिंघलपूरी॥
पहिले गुरुहि देइ कहं आना। देखि रूप सब कोइ पछिताना॥
लोग कहहिं यह होइ न जोगी। राजकुंवर कोई अहै वियोगी॥
काहुहि लागि भएउ है तापा। हिये सो माल, करहु मुख जपा॥
जस मारं कहं बाजा तूरू। सूरी देखि हंसा मंसूरू॥
चमके दसन भएउ उजियारा। जो जहं तहां बीजु अस मारा॥
जोगी केर करहु पै खोजू। मकु यह होइ न राजा भोजू॥
सब पूछहिं, कहु जोगी! जाति जनम औ नांव।
जहां ठांव रोगे कर हंसा सो कहु केहि भाव॥ १॥

शब्दार्थ—तपा=तपस्वी। आने=लाये। सूरी=शूली। सिंघलपूरी=सिंहलपुर के निवासी। देइ=शूली देने के निमित्त। सब कोउ=सभी कोई। करहु मुख=हाथ से और मुंह से। जस=जैसे ही। मसूरु=मंसूर नामक सूफी जो अनहलक (सोऽहं) का उपदेश करता था और हंसते हंसते शूली पर चढ़ा था। दसन=दांत। बीजु=बिजली। मकु=कदाचित्।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी रत्नसेन के बांध कर लाये जाने का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

सभी तपस्वी उस स्थान पर बांध कर लाये गये जहां शूली देने का स्थान नियत किया हुआ था। इस समाचार को सुनकर कि शूली दी जा रही है, सभी सिंहलगढ़ के निवासी वहां पर आ गये। सर्वप्रथम जोगियों के गुरु रत्नसेन को शूली देने के लिए लाया गया। उस जोगी का सौन्दर्य अद्भुत था जिसे देखकर सभी नगर निवासी विस्मय विमुग्ध होकर उस जोगी को देखने लगे। उन्हें इस बात का पछतावा होने लगा कि इतने सुन्दर व्यक्ति को, जो राजा सा प्रतीत होता है—सूली क्यों दी जा रही है। वे परस्पर विचार-विनिमय करने लगे कि यह जोगी नहीं है; निश्चय ही कोई राजकुमार है या कोई वियोगी है। यह निश्चय ही किसी के निमित्त तपस्वी हुआ है और इसके हृदय में माला है तथा हाथ और मुख दोनों से उसी अपने मनोवांछित का नाम जप रहा है।

जायसी कहते हैं कि जैसे ही उसके मारने के लिए तुरही बजाई गई त्योंही वह मसूर की तरह उस सूली को देखकर हसने लगा। यकायक उसकी बत्तीसी चमक उठी जिससे प्रकाश हो गया और जो जहां था वहीं उसे बिजली सी मार गई। सब कहने लगे भाई! इस योगी की तो खोज खबर करनी चाहिए। कहीं राजा भोज ही इसके रूप में न आ गया हो। इसी विचार के साथ सभी जोगी से पूछने लगे कि कहो जोगी, तुम्हारा क्या नाम है, क्या जाति है और कौन सा स्थान है जहां तुम पैदा हुए हो। जिस सूली के स्थान को देखकर सभी रोने लगते है और धैर्य खोकर विचलित हो जाते हैं, उस स्थान पर तुम कैसे हंस रहे हो—प्रसन्न मुद्रा में मस्ती से हास्य बिखेर रहे हो।

विशेष १. राजा भोज का संकेत जायसी ने अनेक स्थलों पर दिया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ भोग करने वाला राजा लिया है। संस्कृत की दृष्टि से भुंज धातु का अर्थ भोग के निमित्त होता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जायसी ने किस अभिप्राय से इस शब्द का प्रयोग किया था। हमारी दृष्टि में दोनों ही अर्थ किये जा सकते हैं।

का पूछहु अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी॥
जोगिहि कौन जाति, हो राजा। गारि न कोह, मारि नहिं लाजा॥
निलज भिखारि लाज जेइ खोई। तेहि के खोज परै जिनि कोई॥
जाकर जीउ मरै पर बसा। सूरी देखि सो कस नहिं हंसा?॥
आजु नेह सौं होइ निबेरा। आजु पुहुमि तजि गगन बसेरा॥
आजु कया-पींजर बंदि टूटा। आजुहि प्रान परेवा छूटा॥
आजु नेह सौं होइ निनारा। आजु प्रेम-सँग चला पियारा॥
आजु अवधि सिर पहुँची, किए जाहु मुख रात।
बेगि होहु मोहिं मारहु जिनि चालहु यह बात॥ २॥

शब्दार्थ—गारि—गाली पर; कोह—क्रोध; निलज—निर्लज्ज, मरै पर वसा—मरने पर स्थित होता है, निबेरा—छुट्टी, पुहुमि—पृथ्वी, कया-पींजर—शरीर रूपी पिंजड़े, प्रान-परेवा—प्राणों का पक्षी या प्राण पखेरू, नेह सौं—स्नेह से, निनारा—पृथक्, आजु अवधि सिर पहुँची—अवधि किनारे पर पहुँची अर्थात् पूरी हुई, बगि होहु—जल्दी करो, जिनि चालहु यह बात—अन्यथ। यह बात मत करो या इस प्रकार नाम पते पूछ कर इस प्रसंग को ही मत चलाओ।

ससंदर्भ व्याख्या— संदर्भपूर्वानुसार। जायसी इन पंक्तियों में जोगी रत्नसेन की जाति आदि के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसका उत्तर निपिबद्ध कर रहे हैं। रत्नसेन ने उन जोगियों से कहा—

योगी ने कहा कि अरे भाई! हमारी जाति क्या पूछते हो। हम तो योगी हैं, तपस्वी हैं, भिखारी हैं। जा जोगी होते हैं, उनकी जाति क्या होती है। तात्पर्य, कुछ भी नहीं होती है। जोगी जती तो सरल और सीधे स्वभाव के होते है। उन्हे गाली देने पर न तो क्रोध होता है और न कोई लज्जानुभव ही होता है। हम तो भिखारी हैं। सच्चा भिखारी वही होता है जो लज्जा खोकर निर्लज्ज बनता है। अतः जो भिखारी है, उसकी खोज खबर करने से कोई लाभ नहीं है। वह तो कोई भी हो—भिखारी है-तपस्वी है। वह ऐसा व्यक्ति होता है जो मन को मार कर इन्द्रियों को वशीभूत करके आचरण करता है।

जायसी कहते हैं कि जिसके प्राण दूसरे के आधीन होकर मरने पर उतारू हों वह सूली को देख कर क्यो न हंसेगा अर्थात् अवश्य हंसेगा। तात्पर्य यह है कि परतंत्र रहने से तो मृत्युवरण कही श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जोगी तो आत्मसंयमी और आत्मनिर्भर होता है, वह किसी के आधीन रह कर जीवन-यापन नहीं कर सकता है। उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व की अपेक्षा रहती है और और जब इस स्वतंत्रता में व्याघात पहुँचता है तो वह आधीन रहने की अपेक्षा मरण को वरण करना अच्छा समझता है। आज मैं जीवन के स्नेह से मोह-मुक्त हो गया हूं जिससे मृत्यु रूपी पिंजड़े का बंधन या पराधीनता छूट जायगी तथा प्राण-पखेरू सदा के लिए उड़ जायेंगे। आज इसी क्षण मैं स्नेह से पृथक् हो जाऊंगा। प्रेम के साथ ही सांसारिक मोह आदि सभी विकार सदैव के निमित्त नष्ट हो जायेंगे।

जायसी कहते हैं कि मेरे जीवन का आखिरी समय है, आज जीवन की अवधि समाप्त हो जायगी। अतः मैं यहां (मृत्यु लोक) से सदैव के निमित्त चला जाऊंगा। शीघ्रता से मुझे मार डालो। मैं अब अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता हूं। मुझसे अधिक पूछ ताछ मत करो–शीघ्र ही जो करणीय हो, उसे कर डालो।

विशेष—१. दोहे में रत्नसेन की विकलता स्पष्ट है। यह ठीक उसी भांति की है जैसी मसूर की थी। इसमें भौतिक शरीर के परित्याग के साथ ही ब्रह्म-अमर मिलन की उत्कंठा है।

२. इसमें रूपक अलंकार का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया है।

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा । हम तोहि करहिं केत कर भँवरा ॥
कहेसि ओहि संवरों हरि फेरा । मुए जियत आहौं जेहि केरा ॥
औ सवरों पदमावति राजा । यह जिउ नेवछावरि जेहि नामा ॥
रकत क बूंद कया जस अहही । 'प मावति पदमावति' कहही ॥
रहै त बूंद बूंद महं ठाऊं । परै त सोई लेइ लेइ नाऊं ॥
रोंव रोंव तन तासौं ओधा । सूतहि सूत बेधि जिउ सोधा ॥
हाड़हि हाड़ सबद सो होई । नस नस मांह उठै धुनि सोई ॥
जागा विरह तहां का गूद मांसु कै हान ? ।
हौं पुनि सांचा होइ रहा ओहि के रूप समान ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कहेन्हि—कहा गया, जेहि चाहसि सवरा—जिसे स्मरण करना चाहो उसे स्मरण कर लो, करहि केत कर भवरा—हम तुम्हें अब शूली से ऐसा ही छेदेंगे जैसा केतकी के कांटे भ्रमर का शरीर—छेदन करते हैं, हरि—प्रत्येक, आहौं—हूँ, नेवछावरि—न्योछावर या बलिदान, अहहि—है, बुंद बुंद—बूंद बूंद में, लेइ लेइ नाऊं—उसी का नाम ले लेकर, तासौं—उससे, ओधा—लगा हुआ या उलझा हुआ, सोधा—शुद्ध किया (यह कल्पना मोती शुद्ध करने की प्रक्रिया से ली गई है जिसमें चांदी चलनी या झंझरी की भांति हो जाती है), गूद—गूदा या मज्जामांस, सांचा—ढांचा, समान—समाई ।

ससंदर्भ व्याख्या—[इन पंक्तियों में प्रसंग तो पूर्वानुसार ही है किन्तु सदभ है योगी और राजदरबारियों की बातचीत का ।] राजदरबारी, राजा रत्नसेन से कहते हैं—देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ गया है अत: जिस किसी का भी स्मरण करना हो, कर लो । यह समय विवाद का नहीं है, अपने अभीष्ट के याद करने का है । उन्होंने कहा कि हम तुम्हें शूली पर बांध कर मार डालेंगे । शूली पर बांध कर मार डालना वैसा ही है जैसा कि केतकी के कांटे में उलझ कर भ्रमरा विद्ध हो जाता है । राजा ने कहा कि हम तो उसे ही प्रत्येक वार स्मरण करते हैं जिसे मृत्यु और जीवन दोनों ही स्थितियों में चाहते है । मैं तो उस सुन्दरी पद्मावती का ही स्मरण करता हूँ जिसके नाम के सहारे मेरा जीवन है और अब मृत्यु के साये में भी मैं उसे ही स्मरण करता हूँ ।

जायसी कहते हैं कि राजा रत्नसेन ने कहा कि देखो ! जब तक मेरे शरीर में रक्त की एक भी बूंद है तब तक मैं उसी परम प्रिया व सुन्दरी पद्मावती का नाम लूंगा या लेता रहूंगा । मेरे शरीर में स्थित रक्त की प्रत्येक बूंद उसी पद्मावती का नाम रट रही है । यदि जीवित हूं तो हर एक बूंद में पद्मावती का ही स्थान है । यदि मरता हूं तो उसी का नाम लेकर मरूंगा । इस शरीर का रोम-रोम उसी में लगा हुआ है और सूत्र सूत्र द्वारा वेध कर प्राणों को सोधा गया है या शोधन किया गया है । इस शरीर यंत्र की प्रत्येक ग्रन्थि से उसी का शब्द निकलता है और प्रत्येक नस-नस में उसी की ध्वनि निकल रही है । जायसी कहते हैं कि जहां विरह जाग्रत हो गया है, वहां गूदे और मांस की हानि से क्या प्रयोजन है ? मैं तो सांचा मात्र रह गया हूं जिसका सत्व पद्मावती के रूप में समाया हुआ है । तात्पर्य यह है कि मेरा शरीर तो केवल

शब्दार्थ—गारि—गाली पर, कोह—क्रोध, निलज—निर्लज्ज, मरै पर बसा—मरने पर स्थित होता है, निबेरा—छुट्टी, पुहुमि—पृथ्वी, कया-पींजर—शरीर रूपी पिजड़े, प्रान-परेवा—प्राणों का पक्षी या प्राण पखेरू, नेह सौं—स्नेह से, निनारा—पृथक्, आजु अवधि सिर पहुंची—अवधि किनारे पर पहुंची अर्थात् पूरी हुई, बगि होहु—जल्दी करो, जिनि चालहु यह बात—अन्यथा यह बात मत करो या इस प्रकार नाम पते पूछ कर इस प्रसंग को ही मत चलाओ।

ससंदर्भ व्याख्या— संदर्भपूर्वानुसार। जायसी इन पंक्तियों में जोगी रत्नसेन की जाति आदि के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसका उत्तर निपिबद्ध कर रहे हैं। रत्नसेन ने उन जोगियों से कहा—

योगी ने कहा कि अरे भाई ! हमारी जाति क्या पूछते हो। हम तो योगी हैं, तपस्वी हैं, भिखारी हैं। जो जोगी होते हैं, उनकी जाति क्या होती है। तात्पर्य, कुछ भी नहीं होती है। जोगी जती तो सरल और सीधे स्वभाव के होते हैं। उन्हे गाली देने पर न तो क्रोध होता है और न कोई लज्जानुभव ही होता है। हम तो भिखारी हैं। सच्चा भिखारी वही होता है जो लज्जा खोकर निर्लज्ज बनता है। अतः जो भिखारी है, उसकी खोज खबर करने से कोई लाभ नहीं है। वह तो कोई भी हो—भिखारी है—तपस्वी है। वह ऐसा व्यक्ति होता है जो मन को मार कर इन्द्रियों को वशीभूत करके आचरण करता है।

जायसी कहते हैं कि जिसके प्राण दूसरे के आधीन होकर मरने पर उतारू हों वह सूली को देख कर क्यों न हंसेगा अर्थात् अवश्य हंसेगा। तात्पर्य यह है कि परतंत्र रहने से तो मृत्युवरण कहीं श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जोगी तो आत्मसंयमी और आत्मनिर्भर होता है, वह किसी के आधीन रह कर जीवन-यापन नहीं कर सकता है। उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व की अपेक्षा रहती है और और जब इस स्वतंत्रता में व्याघात पहुंचता है तो वह आधीन रहने की अपेक्षा मरण को वरण करना अच्छा समझता है। आज मैं जीवन के स्नेह से मोह-मुक्त हो गया हूं जिससे मृत्यु रूपी पिंजड़े का बंधन या पराधीनता छूट जायगी तथा प्राण-पखेरू सदा के लिए उड़ जायेंगे। आज इसी क्षण मैं स्नेह से पृथक् हो जाऊंगा। प्रेम के साथ ही सांसारिक मोह आदि सभी विकार सदैव के निमित्त नष्ट हो जायेंगे।

जायसी कहते हैं कि मेरे जीवन का आखिरी समय है, आज जीवन की अवधि समाप्त हो जायगी। अतः मैं यहां (मृत्यु लोक) से सदैव के निमित्त चला जाऊंगा। शीघ्रता से मुझे मार डालो। मैं अब अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता हूं। मुझसे अधिक पूछ ताछ मत करो—शीघ्र ही जो करणीय हो, उसे कर डालो।

विशेष—१. दोहे में रत्नसेन की विकलता स्पष्ट है। यह ठीक उसी भांति की है जैसी मयूर की थी। इसमें भौतिक शरीर के परित्याग के साथ ही ब्रह्म-भ्रमर मिलन की उत्कंठा है।

२. इसमें रूपक अलंकार का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया है।

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा । हम तोहि करहिं केत कर भँवरा ॥
कहेसि ओहि संवरौं हरि फेरा । मुए जियत आहौं जेहि केरा ॥
औ सवरौं पदमावति राजा । यह जिउ नेवछावरि जेहि नामा ॥
रकत क बूंद कया जस अहहीं । 'पदमावति पदमावति' कहहीं ॥
रहै त बूंद बूंद महं ठाऊं । परै त सोई लेइ लेइ नाऊं ॥
रोंव रोंव तन तासौं ओधा । सूतहि सूत बेधि जिउ सोधा ॥
हाड़हि हाड़ सबद सो होई । नस नस मांह उठै धुनि सोई ॥
जागा बिरह तहां का गूद मांसु कै हान ? ।
हौं पुनि सांचा होइ रहा ओहि के रूप समान ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कहेन्हि—कहा गया, जेहि चाहसि सवरा—जिसे स्मरण करना चाहो उसे स्मरण कर लो, करहि केत कर भंवरा—हम तुम्हें अब शूली से ऐसा ही छेदेंगे जैसा केतकी के कांटे भ्रमर का शरीर—छेदन करते हैं, हरि—प्रत्येक, आहौं—हूँ, नेवछावरि—न्यौछावर या बलिदान, अहहि—है, बुंद बुंद—बूंद बूंद में, लेइ लेइ नाऊं—उसी का नाम ले लेकर, तासों—उससे, ओधा—लगा हुआ या उलझा हुआ, सोधा—शुद्ध किया (यह कल्पना मोती शुद्ध करने की प्रक्रिया से ली गई है जिसमें चांदी चलनी या झंझरी की भांति हो जाती है), गूद—गूदा या मज्जामांस, सांचा—ढांचा, समान—समाई।

ससंदर्भ व्याख्या—[इन पंक्तियों में प्रसंग तो पूर्वानुसार ही है किन्तु संदर्भ है योगी और राजदरबारियों की बातचीत का।] राजदरबारी, राजा रत्नसेन से कहते हैं—देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ गया है अतः जिस किसी का भी स्मरण करना हो, कर लो। यह समय विवाद का नहीं है, अपने अभीष्ट के याद करने का है। उन्होंने कहा कि हम तुम्हें शूली पर बांध कर मार डालेंगे। शूली पर बांध कर मार डालना वैसा ही है जैसा कि केतकी के कांटे में उलझ कर भ्रमरा विद्ध हो जाता है। राजा ने कहा कि हम तो उसे ही प्रत्येक बार स्मरण करते हैं जिसे मृत्यु और जीवन दोनों ही स्थितियों में चाहते है। मैं तो उस सुन्दरी पद्मावती का ही स्मरण करता हूँ जिसके नाम के सहारे मेरा जीवन है और अब मृत्यु के साये में भी मैं उसे ही स्मरण करता हूँ।

जायसी कहते हैं कि राजा रत्नसेन ने कहा कि देखो ! जब तक मेरे शरीर में रक्त की एक भी बूंद है तब तक मैं उसी परम प्रिया व सुन्दरी पद्मावती का नाम लूंगा या लेता रहूंगा। मेरे शरीर में स्थित रक्त की प्रत्येक बूंद उसी पद्मावती का नाम रट रही है। यदि जीवित हूं तो हर एक बूंद में पद्मावती का ही स्थान है। यदि मरता हूं तो उसी का नाम लेकर मरूंगा। इस शरीर का रोम-रोम उसी में लगा हुआ है और सूत्र सूत्र द्वारा वेध कर प्राणों को सोधा गया है या शोधन किया गया है। इस शरीर यंत्र की प्रत्येक अस्थि से उसी का शब्द निकलता है और प्रत्येक नस-नस से उसी की ध्वनि निकल रही है। जायसी कहते हैं कि जहां विरह जाग्रत हो गया है, वहां गूदे और मांस की हानि से क्या प्रयोजन है ? मैं तो सांचा मात्र रह गया हूं जिसका सत्व पद्मावती के रूप में समाया हुआ है। तात्पर्य यह है कि मेरा शरीर तो केवल

सांचा या ठठरी मात्र है । उसमें असली तत्व तो पद्मावती का सत्व या रूप है । जब वही नहीं तो मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है ।

विशेष—वर्णन बड़ी व्यापकता लिये हुए है । प्रभावगुण सम्पन्न भाषा और प्रेषणीयता समन्वित भाव व्यंजना का आकर्षण हृदय में जम जाता है । 'पुनरुक्ति प्रकाश' अलंकार का प्रयोग किया गया है जो बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है ।

जोगिहि जबहिं गाढ़ अस परा । महादेव कर आसन टरा ॥
वो हंसि पारबती सौं कहा । जानहुँ सूर गहन अस गहा ॥
आजु चढ़े गढ़ ऊपर तपा । राजै गहा सूर तब छपा ॥
जग देखै गा कौतुक आजू । कीन्ह तपा मारै कह साजू ॥
पारबती सुनि पायन्ह परी । चलि, महेस ! देखैं एहि घरी ॥
भेस भांट भांटिनि कर कीन्हा । औ हनुवंत बीर संग लीन्हा ॥
आए गुपुत होइ देखन लागे । वह मूरति कस सती सभागी ॥
कटक असूझ देखि कै राजा गरब करेइ ।
दैउ क दसा न देखै, दहुं का कहं जय देइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गाढ़ अस परा—संकट पड़ा । आसन टरा—आसन डगमगाने लगा । सूर गहन अस गहा—सूर्य रूपी रत्नसेन को संकट लग गया है या ग्रहण लग गया है । कौतुक—क्रीड़ा । पायन्ह परि—चरणों में गिर पड़ी । एहि घरी—इस घड़ी को, इस घटना को देखने के निमित्त ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि रत्नसेन पर आकस्मिक रूप से आये संकट का वर्णन कर रहा है । इस संकट से स्वयं पार्वती और महेश भी प्रभावित हुए । कवि कहता है—योगी पर जब ऐसा संकट आया तो महादेव का जो जगताधिपति हैं, आसन डोलने लगा । तात्पर्य शिव को इस घटना की सूचना हुई कि भक्त रत्नसेन पर इस प्रकार का महासंकट आ पड़ा है । इस तथ्य को जानकर उन्होंने तुरन्त ही पार्वती से हास्य मुद्रा में कहा कि मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूर्य रूपी राजा रत्नसेन को ग्रहण ने ग्रसित कर लिया है । आज दुर्ग के ऊपर तपस्वी चढ़ गये है तथा राजा गन्धर्वसेन ने उन्हें पकड़ लिया है । यही कारण है कि सूर्यवत् राजा रत्नसेन छिप गया है और सम्पूर्ण संसार इस विस्मित कर देने वाली कौतूहलमयी क्रीड़ा को देखने के निमित्त एकत्र हुआ है । आज तपस्वी को शूली के माध्यम से मारने के लिए सामान तैयार किया जा रहा है । पार्वती ने ज्यों ही यह समाचार सुना, वे घबरा गईं और शिवजी के चरणों में गिर पड़ीं । चरणों में गिरकर उन्होंने कहा कि 'हे स्वामी ! शीघ्रता कीजिए और चलिये, इस अवसर पर यह दृश्य देखें ।" इसके साथ ही दोनों ने (शिव और पार्वती ने) भाट और भाटिनी का वेश बनाया और साथ में वीर हनुमान को लिया । छिपे-छिपे पार्वती और महादेव उस सत्य और भव्याकृति राजा रत्नसेन के पास पहुंच गये तथा वहां जाकर उन्होंने दर्शन किये । जायसी कहते है कि राजा गन्धर्वसेन अपनी सेना को देखकर गर्वित होता था । किसी को क्या पता कि विधाता किस क्षण किसे विजयहार पहना दे । तात्पर्य यह है कि गर्व तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । साथ ही कभी-कभी विधाता या परमेश्वर की कृपा से असंभव घटनाएं भी घटित होकर आश्चर्य और कौतूहल का कारण बन जाती हैं ।

आसन लेइ रहा होइ तपा । 'पदमावति पदमावति' जपा ।।
मन समाधि तासौं धुनि लागी । जेहि दरसन कारन बैरागी ।।
रहा समाइ रूप औ नाऊं । और न सूझ बार जहं जाऊं ।।
औ महेस कहं करौं अदेसू । जेइ यह पंथ दीन्ह उपदेसू ।।
पारबती पुनि सत्य सराहा । औ फिरि मुख महेस कर चाहा ।।
हिय महेस जौं, कहै महेसी । कित सिर नावहिं ए परदेसी ? ।।
मरतहु लीन्ह तुम्हारहिं नाऊं । तुम्ह चित किए रहे एहि ठाऊं ।।

मारत हौ परदेसी, राखि लेहु एहि बोर।
कोइ काहू कर नाहीं जो होइ चलै न तीर ।। ५ ।।

शब्दार्थ—मनसमाधि—मनः समाधि । तासौं—उससे । धुनि लागी—ध्यान लगाया । जेहि दरसन कारन—जिसके दर्शनों के कारण । सूझ बार—दरवाजा दिखाई नहीं देता है । आदेसू—आदेश करता हूं, प्रणाम करता हूं चाहा—ताका । हिय महेस जौं कहै महेसी कित सिर नावहिं ए परदेसी—पार्वती कहती हैं कि जब महेश इसके हृदय में हैं तब ये परदेशी क्यों किसी के सामने सिर झुकाए । कोई काहू कर नाहीं—कोई किसी का नहीं है । तीर होइ चलै—साथ दें, पास जाकर सहायता करें ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी ने राजा रत्नसेन की योग साधना का वर्णन किया है । वे कहते हैं—

तपस्वी बनकर राजा रत्नसेन ने आसन लगा लिया और पद्मावती के नाम का जाप करने लगा । मन को समाधिस्थ करके वह उसी में तल्लीन हो गया जिसके दर्शनों के लिए वह वैरागी बना था । उसके हृदयमंदिर में उसी का रूप और नाम समाया हुआ था । वह पद्मावती के दरवाजे को छोड़कर अन्यत्र कहीं गमन का अभिलाषी नहीं था । उसने अन्तिम बार शंकरजी को प्रणाम किया जिन्होंने इस मार्ग पर चलने का आदेश दिया था तथा तरीका बताया था । पार्वतीजी ने उसके सत्य, नियम और हृदयस्थित सत्याधारित प्रेम की प्रशंसा की और उन्होंने शंकरजी के मुंह की ओर देखा । पार्वती ने कहा कि जब शिवजी इसके हृदय में हैं तब यह परदेशी क्यों किसी के सामने सिर झुकावे । हे शंकरजी ! मरते समय भी इन तपस्वियों ने तुम्हारा ही नाम लिया, परन्तु तुम इसी स्थान पर चुप खड़े देखते रहे ।

जायसी कहते हैं कि पार्वतीजी ने शिवजी से प्रार्थना की कि हे स्वामी ! आप इसे मरने से बचा लीजिए, इस अपार संसार में कोई भी किसी का नहीं है । अपना उसे ही समझना चाहिए जो, कि समय पर आकर या संकट के समय सहायता करे ।

विशेष—इसमें रत्नसेन के एकनिष्ठ प्रेम का वर्णन किया गया है । कवि ने प्रतिपादित किया है कि इस सत्यजनित प्रेम को देखकर पार्वती के हृदय में भी करुणा भाव जाग्रत हो गया । परिणामस्वरूप उन्होंने शिवजी से प्रार्थना की कि इस रत्नसेन योगी को बचा लीजिए ।

लेइ सदेस सुअटा गा तहां । सरो देहिं रतन कहं जहां ।।
देखि रतन हीरामन रोवा । राजा जिउ लोगन्ह हठि खोवा ।।

देखि रुदन हीरामन केरा । रोवहिं सब, राजा मुख हेरा ॥
मांगहिं सब बिधिना सौं रोई । कै उपकार छोड़ावै कोई ॥
कहि संदेस सब बिपति सुनाई । बिकल बहुत, किछु कहा न जाई ॥
काढ़ी प्रान बैठी लेइ हाथा । मरै तौ मरौं, जिग्रौं एक साथा ॥
सुनि संदेस राजा तब हंसा । प्रान प्रान घट घट महं बसा ॥
सुग्रटा भांट दसौंधी, भए जिउ पर एक ठांव ।
चलि सो जाइ ग्रब देख तहं जहं बैठा रइ राव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सुग्रटा—तोता । गा तहां—वहां गया । मुख हेरा—मुख को देखकर । विधना—विधाता से । मरैं तो मरौं, जिग्रौं एक साथा—मरेंगे तो साथ ग्रौर जीयेंगे तो साथ । दसौंधी—भाटों की एक जाति विशेष ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी तोते हीरामन के उस स्थल पर पहुंचने का वर्णन कर रहे हैं जहां कि रत्नसेन को सूली पर चढ़ाये जाने की तैयारी हो रही थी । कवि वर्णन करता हुग्रा कहता है—

तोता पद्मावती का प्रणय संदेश लेकर उस स्थल पर पहुंच गया जहां पर राजा रत्नसेन को सूली पर चढ़ाया जाना था । तोता, राजा को देखकर रोने लगा कि वह जिद्द से ग्रनेक लोगों की भांति प्राणों को खो रहा था । इस प्रकार हीरामन के रोते ही वे सभी रोने लगे जो वहां थे । इतना ही नहीं, उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि किसी भी प्रकार राजा रत्नसेन छूट जाये । कोई उपकारी ऐसा हो जो इसे छुड़ा ले ।

जायसी कहते हैं कि ऐसी स्थिति में हीरामन ने सभी विपत्तियां सुना दीं ग्रौर कहा—पद्मावती बहुत व्याकुल है । कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि व्याकुलता में उसकी क्या स्थिति होगी । तोते ने कहा कि पद्मावती प्राणों को निकालकर हाथ में लिए बैठी है । वह सोचती है कि यदि रत्नसेन के प्राणों की समाप्ति हुई तो वह भी समाप्त हो जायगी । इसके विपरीत यदि वह जीवित रहा तो वह उसके साथ ग्रपना जीवन बितायेगी । इस प्रकार का संदेश सुनकर राजा हंसने लगा ग्रौर ग्रपनी हंसी के साथ ही रत्नसेन के हृदय में प्राणों का संचार होने लगा । सुग्रा ग्रौर दशौंधी भाट के रूप में शंकरजी स्वयं प्राणों की बाजी लगाकर वहां चले जहां गंधर्वसेन बैठा हुग्रा था । तात्पर्य, शंकर ने उसे प्राणों के मूल्य पर भी बचाने की योजना बनाई ।

विशेष—इस पद में हीरामन तोते ने जो विपत्तियां सुनाई हैं या जिनका ग्राभास दिया है, वह सच्चे हृदय की पुकार हैं ।

राजा रहा दिस्टि कै ग्रोंधी । रहि न सका तब भांट दसौंधी ॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी । पुरुष न ग्राछे बैठ पेटारी ॥
कान्ह कोपि जब मारा कंसू । तब जाना पूरुष कै बंसू ॥
गन्ध्रबसेन जहां रिस बाढ़ा । जाइ भांट ग्रागे भा ठाढ़ा ॥
बोला गंध्रबसेन रिसाई । कस जोगी, कस भांट ग्रसाई ॥
ठाढ़ देख सब राजा राऊ । बाएं हाथ दीन्ह बरम्हाऊ ॥
जोगी पानि, ग्रागि तू राजा । ग्रागिहि पानि जूझ नहि छाजा ॥
ग्रागि बुझाइ पानि सौं, जूझु न, राजा ! बूझु ।
लीन्हे खप्पर बार तोहि, भिच्छा देहि न जूझु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—ग्रौंधी—नीची दृष्टि किये हुए। मेलि कै—लेकर। ग्राछे—अच्छा लगता है। ग्रसाई—ग्रताई या ग्रत्याचारी बेढगा। छाजा—शोभित होना। बार—दरवाजे पर। न जूझु—युद्ध करने को उद्यत मत हो।

ससंदर्भ व्याख्याः—[पूर्वसंदर्भानुसार।] जायसी कहते हैं कि राजा गंधर्वसेन नीचे की ग्रोर दृष्टि किये हुए बैठा था, उसकी इस उदासीनता को दशौंधी भाट बरदाश्त न कर सका। शिवजी जो भाट के रूप में थे, हाथ में कटार लेकर ग्रागे ग्राये ग्रौर कहा-पुरुष मंजूषा में बैठा हुग्रा शोभा नहीं देता है। कृष्ण ने क्रोध करके कंस को मार डाला था। इसके ग्रनन्तर ही उनके वंश का पुरुषार्थ प्रमाणित हो सका था। गंधर्वसेन को यह सब सुनकर बड़ा क्रोध ग्राया ग्रौर क्रोध के ग्राते ही वह राजा के सामने जा खड़ा हुग्रा। उसके पास बहुत से राजा राव खड़े थे। उन्हें देखकर भी ब्राह्मण ने बांए हाथ से ग्राशीर्वाद दिया। बांये हाथ से ग्राशीर्वाद देने का ग्रर्थ राजा के प्रति क्रोध प्रकट करना है। उसने कहा-गंधर्वसेन तू बड़ा प्रतापी राजा है। मैं शंकर की मूर्ति में हूं ग्रतः मेरा कहा मानो। जोगी तो पानी है, तू राजा ग्रग्निरूप है। ग्रग्नि ग्रौर जल का युद्ध संभव ही नहीं है। ग्रग्नि शीघ्र ही पानी से बुझकर शांत हो जायगी, इस बात को ग्रपने मन से स्वीकार करलो।

जायसी कहते हैं कि शिव ने राजा को समझाया कि वह जोगी तेरे दरवाजे पर खपर लेकर भिक्षा मांग रहा है, उसे भिक्षा देदो। भाव व्यंजना यह है कि योगी सत् से युक्त है। ग्रहिंसा का पालक है। उसमें त्याग, तपस्या ग्रौर क्षमाशीलता ग्रादि गुण हैं। इन गुणों के समक्ष तुम्हारा ग्रग्निवत् रूप कुछ भी महत्व नहीं रखता है। ग्रत तुम्हारा उससे युद्ध करना शोभा नहीं देता है; यह बात ग्रपने मन में समझ लो। इसके मनोनुकूल कार्य करना ही ग्रभीष्ट है।

विशेष.—कुछ प्रतियों में 'गध्रबसेन तू राजा महा। हौं महेस मूरति सुन कहा।' पंक्ति नही है। स्वयं शुक्ल जी की प्रति में यह पंक्ति नहीं मिलती है। हमने इसकी व्याख्या तो ग्रवश्य देदी है क्योंकि कुछ प्रतियों में यह मिलती है, किन्तु हमारी धारणा यह है कि यह पंक्ति निरर्थक है। शिव भाट के वेश में होने पर भी यह क्यों कहने लगे कि 'हौं महेस"।

जोगि न होइ, ग्राहि सो भोजू। जानहु भेद करहु सो खोजू॥
भारत ग्रोइ जूझ जौ ग्रोधा। होहिं सहाय ग्राइ सब जोधा॥
महादेव रनघंट बजावा। सुनि कै सबद बरम्हा चलि ग्रावा॥
फनिपति फन पतार सौं काढ़ा। ग्रस्टो कुरी नाग भए ठाढ़ा॥
छप्पन कोटि बसंदर बरा। सवा लाख परबत फरहरा॥
चढ़े ग्रस्र लै कृस्न मुरारी। इंद्रलोक सब लाग गोहारी॥
तैंतिस कोटि देवता साजा। ग्रौ छानबे मेघदल गाजा॥
नवौ नाथ चलि ग्रावहिं ग्रौ चौरासी सिद्ध।
ग्राजु महाभारत चले, गगन गरुड़ ग्रौ गिद्ध॥ ८॥

शब्दार्थः—ग्राहि—है। खोजू—खोज बीन करना। भारत—महाभारत का सा युद्ध। ग्रोधा—ठाना या छेड़ना। रनघट—युद्ध का घंटा बजाते हैं। गोहा—पुकार लग गई। फनपति—शेषनाग। पतार सौं काढ़ा—पाताल से काढ़ा। ग्रस्टो कुरी—ग्राठों कुलों के नाग। गाजा—गर्जना करने लगे

नवो नाथ–गोरख पंथियों के नौ नाथ। चौरासी सिद्ध–बौद्ध वज्रयान योगियों के चौरासी सिद्ध। महाभारत चले—आज महाभारत का सा भीषण संग्राम छिड़ता है या प्रारंभ होगा।

ससदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के विषय में वर्णन करते हुए भाट रूपी शिव ने कहा कि—

यह योगी नहीं है—राजा भोज है या भोग करने वाला राजा है। इस रहस्य को जानने वाला ही इसे पहचान सकता है। यदि तुमने युद्ध प्रारभ किया तो महाभारत मच जायगा। तुम इसे अकेला मत समझना, इसके सभी देवता साथी हैं जो आवश्यकतानुसार इसकी मदद के लिए आ जावेंगे। इतना कहते ही महादेवजी ने युद्ध का घंटा बजाया। उसकी आवाज सुनते ही ब्रह्मा आ गये। अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कृष्ण भी आ पधारे। सम्पूर्ण इन्द्रलोक सहायता के लिए दौड़ पड़ा। जायसी वर्णन करते हैं कि शेषनाग ने सहायतार्थ पाताल से अपना फन निकाला। आठों कुलों के देवता उपस्थित हो गये। तैंतीस करोड़ देवताओं ने युद्ध की तैयारी कर डाली। छियानवे करोड़ मेघों के दल गर्जना करते हुए युद्ध की भयंकरता की सूचना देने लगे। तात्पर्य, युद्ध का सा वातावरण बन गया।

जायसी कहते हैं कि नवों वर्ग और सिद्धों के चौरासी वर्ग सभी आ पहुँचे। इस प्रकार, सभी के आगमन को जानकर यह निश्चित हो गया कि आज महाभारत का युद्ध होगा, कारण सभी युद्ध के लिए आ गये हैं।

विशेष:—जायसी का ज्ञान अधिकांश बातों के सम्बध में सुना–सुनाया था। अतः उनकी अधूरी जानकारी के कारण ही इसमें 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' वाली कहावत भली भांति चरितार्थ होती जान पड़ती है।

भइ अज्ञा को भांट अभाऊ। बाएं हाथ देइ बरम्हाऊ ॥
को जोगी अस नगरी मोरी। जो देइ सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी ॥
इंद्र डरै निति नावै माथा। जानत कृस्न सेस जेइ नाथा ॥
बरम्हा डरै चतुर–मुख जासू। औ पातार डरै बलि वासू ॥
मही हलै औ चलै सुमेरू। चांद सूर औ गगन कुबेरू ॥
मेघ डरै बिजुरी जेहि दीठी। कूरुम डरै धरति जेहि पीठी ॥
चहौं आजु मांगौं धरि केसा। और को कोट पतंग नरेसा ? ॥
बोला भांट, नरेस सुनु ! गरब न छाजा जीउ।
कुंभकरन कै खोपरी बूड़त बांचा भीउं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—अभाऊ—आदर भाव न जानने वाला अशिष्ट, बरम्हाऊ—आशीर्वाद देना, निति नावै माथा—नित्य प्रति मस्तक नम्रता से झुकाता है, चतर मुख जासू—जिस ब्रह्मा के चार मुख हैं, औ पातार डरै बलि वासू-पाताल में रहने वाला शेषनाग भी डरता है, मही हलै—पृथ्वी डर से हिलती है या कांपती है, कूरम—कच्छप धरति जेहि पीठी—जिस की धरित्री पर पीठ है, मांगौं धरि केसा—बाल पकड़कर बुला भेजूं, गरब न छाजा जीउ—हृदय में किसी को भी गर्व नहीं अच्छा लगता है, बूड़त—डूबने से, बांचै भीउं—भीम बच गये थे।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पंक्तियों में कवि, भाट-रूपी शिव के वचनों की हुई प्रतिक्रिया को चित्रित कर रहा है। वह कहता है—

इसी बीच राजा की आज्ञा हुई कि यह कौन अशिष्ट भाट है, जो इस प्रकार से बढ़ चढ़कर बातें बना रहा है और बांये हाथ से आशीर्वाद दे रहा है। तात्पर्य, भाट को इस प्रकार का आचरण शोभनीय नहीं होता है। फिर भी यह ऐसा क्यों कर रहा है। ऐसा कौन योगी है जो मेरी नगरी में रहकर सेंध लगाकर गढ़ में चोरी करने की कामना रखता है। ऐसा कोई भी तो नहीं, जो मेरे सामने शरारत कर सके या हमारी बराबरी कर सके। स्वयं इन्द्र देवता भी हमसे भय खाता है और नित्य प्रति आकर मस्तक झुकाता है। शेष-नाग के नाथने वाले कृष्ण भी मुझसे डरते हैं। चार मुख वाले ब्रह्मा आकाश में रहकर भी मुझसे डरते हैं। पाताल में बलि और वासुकि भी भय मानते हैं। मेरे क्रोध के कारण पृथ्वी कंपित होने लगती है। मदराचल, सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, आकाश और कुबेर सभी डरते हैं।

जायसी कहते हैं कि गंधर्वसेन इतना प्रतापी और शक्तिशाली राजा था कि उसकी शक्ति के सामने बादल डरने लगते हैं और विद्युत भी भय मानती है। पृथ्वी जिस की पीठ पर टिकी हुई है, ऐसा कच्छप भी गंधर्वसेन से भयाक्रान्त रहता है। राजा गंधर्वसेन ने कहा कि सुन भाट ! यदि मैं कामना करूं तो इन सभी को बाल पकड़कर मंगवा सकता हूं। तात्पर्य यह है कि ये देवता सभी मेरे संकेतों पर काम करते हैं अतः इन्हें जब चाहूं और जैसे चाहूं पकड़-वाकर बुला सकता हूं। जब ये ही मंगाये जा सकते हैं तो छोटे-मोटे राजाओं की तो बात ही क्या है ? ये छोटे मोटे राजा तो कीट पतंगे हैं। राजा गंधर्व-सेन की इन गर्व भरी उक्तियों को सुनकर भाट रूपी शिव ने कहा—हे राजा ! सुनो, मनुष्य को गर्व अच्छा नहीं लगता है। गर्व करने से किसी की कोई शान नहीं बढ़ती है। देखो न, कुंभकर्ण जैसे शक्तिशाली की खोपड़ी में भीम डूबते हुए कठिनाई से बच सका था। [कहावत है कि 'कुंभकर्ण की खोपड़ी भीमा-गोता लेई।' भीम के सर्वनाश के सम्बंध में एक किवंदन्ती और प्रसिद्ध है। भीम एक बार कार्य-वश लंका की ओर गये। भीम को अपने बल और विशाल शरीर का गर्व था। मार्ग में उन्हें एक जलाशय मिला जिसमें वे स्नान करने लगे और गहराई अधिक होने के कारण डूबने लगे। तब कुछ स्त्रियों ने उन्हें बाहर निकाला और बताया कि भीम जिसे जलाशय समझ रहे हैं, वह कुंभ-कर्ण की खोपड़ी है। पानी भर जाने से तालाब जैसी दिखाई देती है। जब भीम का विशाल शरीर कुंभकर्ण की खोपड़ी में डूब सकता है, तो कुंभकर्ण भीम से कितना अधिक विशाल रहा होगा, इसी का अनुमान सर्वनाश का कारण है।]

विशेष:—इसमें जो कथा दी गई है उसका प्रचलन देहात में मिलता है। इसमें लोकोक्ति अलंकार है।

रावन गरब विरोधा रामू। ओही गरब भएउ संग्रामू ॥
तस रावन अस को बरिबंडा। जेहि दस सीस, बीस भुजदंडा ॥
सूरुज जेहि कै तपै रसोई। नितिहि बसंदर धोती धोई ॥
सूक सुमंता, ससि मसिआरा। पौन करै निति बार बोहारा ॥

जमहिं लाइ कै पाटी बांधा । रहा न दूसर
जो अस वज्र टरै नहिं टारा । सोउ मुवा दुइ
नाती पूत कोटि दस अहा । रोवनहार न

ओछ जानि कै काहुहि जिनि कोई गरव
ओछे पर जो दैउ है जीति पत्र तेइ देइ

शब्दार्थ—विरोधा रामू—राम का विरोध किया, बरिबण्डा—बलवन्त, बली, भुजडंडा—भुजदण्ड, तपै—तप वैश्वानर, सूक—शुक्र, सुमंता—मन्त्री, मसिआरा—मसियार, करै निति बार बोहारा—पवन नित्य प्रति वहां आकर बुहार है, सपने कांधा—जिसे उसने स्वप्न में भी कुछ समझा, कांध कार किया, ओछ—छोटा, दैउ है जीति पत्र तेइ देइ—जो उसे परमात्मा विजय का पत्र प्रदान करता है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी वर्णन कह रहे हैं—

रावण ने अभिमान के कारण ही राम का विरोध किया का यह परिणाम था कि भयंकर युद्ध हुआ। यदि रावण के होता तो युद्ध की भूमिका भी नहीं बन पाती। उस रावण के शाली और कौन होगा जिसके दस सिर और बीस भुजाएं थीं। यहां आकर उसकी रसोई करता था और अग्नि उसकी धोती शुक्राचार्य उसके दरबान और चन्द्रमा उसका मशालची था। प्रति आकर उसके दरवाजे पर आकर झाड़ू देता था।

रावण ने मृत्यु को चारपाई से बांध रखा था। संसार उसकी बराबरी नहीं कर पाता था। इतना शक्तिशाली राजा अभिमान के कारण राम द्वारा मारा गया। अटल और गर्वीला के समक्ष टिक नहीं सका। उसके परिवार में पुत्र-पौत्रादि दस क एक भी रोने को न रहा। व्यंजना यह है कि रावण जैसा बलश गर्वोन्मत्त होकर अधिक दिन नहीं जी सका। परिणाम और भी उल कि उसके परिवार में कोई भी उसकी मृत्यु के अनन्तर रोने वाला न तात्पर्य यह है कि किसी को छोटा समझ कर कोई गर्व नहीं करे। छो को परमेश्वर ही पार लगाता है। परमेश्वर, छोटे व्यक्ति को, विजय प्रदान करता है। व्यंजना है कि तू रावण के समान प्रतापी है योगी तपस्वी रत्नसेन के समक्ष कुछ भी नहीं है। यदि तू इससे लड़ा सर्वनाश निश्चित है। कोई भी तेरी सहायता नहीं करेगा और इ असहाय अवस्था में तू बेमौत मारा जायगा।

विशेष—१. गर्व किसी को भी शोभित नहीं करता है। गर्व पतन की ओर बढ़ते हैं। गर्व से बुद्धि भ्रमित हो जाती है।

२. जो व्यक्ति छोटा होता है उसे भी घबराना नहीं चाहिए छोटे व्यक्ति की मदद सदैव परमात्मा करता है।

अब जो भांट उहां हुत आगे। बिनै उठा राजहिं रिस ल
भांट अहै सकर कै कला। राजा सहुँ राखै अरगा

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी भाट के कथन को लिपिबद्ध करते हुए कह रहे हैं—जब तक वे भाट कहता रहा, वह राजा सुनता रहा किन्तु उसका क्रोध बराबर बढ़ता रहा। जब भाट जब उस तरह खड़ा हुआ था उसके सामने राजा गन्धर्वसेन से भाट ने कहा कि—हे राजा! भाट तो ईश्वर का अंश होता है, यह सत्य है, मेरे विनय स्वीकार करो और क्रोध मत करो। भाट प्रकार का अवतार होता है जो राजा के सामने भी प्रतिबन्ध लगा सकता है। वह अपने मरण उपस्थित मृत्यु को भी विशेष गरिमा और मूल्य प्रदान करता है। जो व्यक्ति स्वयं ही मृत्युवरण के लिए तैयार होता है, वह किसी के न तो अधीन होता है और न कोई उसे मारने का दम्भ कर सकता है। इस पर किसी को क्रोध नहीं करना चाहिए।

जायसी कहते हैं कि इस प्रकार के वचन सुनकर गन्धर्वसेन कहने लगा—अरे भाट! क्यों मृत्यु की सीढ़ी पर चढ़ रहे हो। संसार में जन्म इसलिए मिलता है कि उसे भलीभांति आराम से बिताया जाय, किन्तु तुम इसके विपरीत आचरण कर रहे हो। दूसरे शब्दों में अकारण ही क्यों अपनी मौत को निमन्त्रण दे रहे हो? व्यर्थ ही एक वितंडा क्यों खड़ी कर रहे हो, अपनी जाति की कला में क्यों दोषों को इकट्ठे कर रहे हो। बायें हाथ से राजा को आशार्वाद देते हो। भट्ट या भाट जाति को क्योंकर कलंकित करता है। ऐसा कार्य करो जिससे तुम्हें उपहार प्राप्त हो—तुम उन्नति और सुख का मुख देखो। भाट होने के कारण अब तुम्हें प्राण-दण्ड तो क्या दें, किन्तु अब भी नतशिर होकर विनती करो जिससे तुम्हें संरक्षण प्राप्त हो। तू भाट है और यह एक योगी है। इसका और तुम्हारा साथ कैसे सम्भव हो सकता है? सच-सच बखान कर कि इस तरह तुझे क्यों छला गया है। तेरा चित्त क्यों अमित्र हो गया है। चित्तगत अशान्ति के कारण तुम इस प्रकार का आचरण छोड़ दो, इससे दुख बढ़ेगा—सुख विनष्ट होगा या होता रहेगा।

जौं सत पूछसि गंध्रब राजा। सत पै कहौं परै नहिं गाजा ॥
भांटहि काह मीचु सौं डरना। हाथ कटार, पेट हनि मरना ॥
जंबूदीप चितउर देसा। चित्रसेन बड़ तहां नरेसा ॥

रतनसेन यह ताकर बेटा । कुल चौहान जाइ नहिं मेटा ।।
खांड़ै अचल सुमेरु पहारा । टरै न जौं लागै संसारा ।।
दान-सुमेरु देत नहिं खांगा । जो ओहि मांग न औरहि मांगा ।।
दाहिन हाथ उठाएउ ताही । और को अस बरम्हावौं जाही ? ।।
नांव महापातर मोहिं, तेहिक भिखारी ढीठ ।
जौं खरि बात कहे रिस लागै, कहै बसीठ ।। १२ ।।

शब्दार्थ—परै नहिं गाजा—चाहे वज्र ही क्यों न पड़े, काह—क्या, मीचु—मृत्यु, हनि—मरना, महापातर—महापात्र, भाटों की एक पदवी विशेष, खरि बात—खरी बात या सही बात, रिस लागै—क्रोध आने लगता है, बसीठ—संदेशवाहक या दूत, तेहिक—उसी का ।

ससंदर्भ व्याख्या—(प्रसंग पूर्वानुसार) जायसी कहते हैं कि भाट ने कहा कि हे राजा गंधर्वसेन ! यदि तुम सत्य जानना चाहते हो तो मैं भी सत्य ही कहूंगा । सत्य भाषण के निमित्त भले ही मुझ पर वज्र गिरे । भाट को मृत्यु का कोई डर नहीं होता है । वह तो अपने हाथ में तलवार रखता है और पेट में मार कर उसे स्वयं मरना होता है । भावार्थ यह है कि सत्यवादिता के कारण भाट तो स्वयं अपनी मृत्यु का आवाहन करता है । जायसी आगे की पंक्तियों में कहते हैं कि जम्बू देश में चित्तौड़ देश है । वहां का राजा चित्रसेन महान् राजा हुआ है । यह रत्नसेन नामक राजा उसी का पुत्र है । इसका वंश चौहान है और उसे कोई भी मिटा नहीं सकता है । तलवार का वह धनी है । उसके कृपाण-कौशल के समक्ष कोई भी नहीं टिक सकता है । वह तलवार चलाने में सुमेरु सा अटल रहता है । भले ही सारी दुनिया इसके विरुद्ध हो जाय पर यह टाले नहीं टल सकता है । जायसी कहते हैं कि वह दानप्रिय है—सुमेर के समान दान देने में इसे कुछ भी कमी नहीं पड़ती है । जो व्यक्ति एक बार उस राजा से मांग लेता है, वह दुबारा जीवन में किसी दूसरे से नहीं मांगता है । व्यंजना है कि वह एकबारगी इतना दे देता है कि दुबारा जीवन में तनिक भी सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं होती है । मैंने अपना दाहिना हाथ तो उसी राजा के निमित्त उठा रखा है । उसकी बराबरी में अब कोई भी दूसरा नहीं है जो मेरे आशीर्वाद का भागी हो । मुझे महापात्र की पदवी उसी ने प्रदान की है । मैं तो उसी का धृष्ट भिखारी हूं । यद्यपि, खरी बात कहने पर सुनने वाले को क्रोध लगता है पर दूत तो सदैव खरी बात ही कहता है । सत्य वचन बड़े कटु होते हैं ।

विशेष—चित्तौड़गढ़ की महिमा का वर्णन किया गया है । इसमें यह भी बताया गया है कि सत्य वचन सुनकर सभी को क्रोध आता है ।

ततखन पुनि महेस मन लाजा । भांट-करा होइ बिनवा राजा ।।
गन्ध्रवसेन ! तूं राजा महा । हौं महेस-मूरति, सुनु कहा ।।
जो पै बात होइ भलि आगे । कहा चहिय, का भा रिस लागे ।।
राजकुंवर यह, होहि न जोगी । सुनि पदमावति भएउ बियोगी ।।
जंबूदीप राजघर बेटा । जो है लिखा सो जाइ न मेटा ।।
तुम्हरहि सुआ जाइ ओहि आना । औ जेहि कर, बर कै तेइ माना ।।
पुनि यह बात सुनी सिव-लोका । करसि बियाह धरम है तोका ।।

मांगै भीख खपर लेइ, मुए न छांड़ै बार ।
बूझहु, कनक-कचोरी भीखि देहु, नहिं मार ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—ततखन—तत्क्षण, मन लाजा—मन में लज्जित होना, भांट-करा—भाट के समान, भाट की कला धारण करके, राजघर—राजघराने के, ओहि आना=वहां जाकर आया है, जेहि कर वर=जिसके वर, सिव-लोका—शिवलोक में, खपर लेहि—खप्पर लेकर, मुए न छोड़े बार—मरते भी दरवाजा नहीं छोड़ता है, कनक—कचोरी—स्वर्ण की कटोरी ।

सप्रसंग व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि पूर्वसदर्भानुसार वर्णन कर रहा है । वह कहता है कि उसी क्षण शिवजी ने यह विचार कर, कि मैंने भाट की भांति राजा से विनय की है, मन में लज्जित हो गये । उन्होंने कहा--गंधर्वसेन ! तुम एक महान् राजा हो और मैं साक्षात शिव हूं । मैं तुमसे सच बात कहता हूं कि जो बात सच्ची और अच्छी हो, हितकर हो, तो उसे कहना ही श्रेयस्कर है । सच बात को सुनकर यदि किसी को क्रोध होता है तो क्या ? सत्य वचन कई बार ऐसे ही दाहक और मर्मान्तिक होते हैं । देखो राजा ! यह राजकुंवर है, कोई योगी नहीं है । इसने तुम्हारी बेटी पद्मावती का रूप-सौन्दर्य सुनकर वियोग धारण किया है । यह जम्बूद्वीप के राजघराने का बेटा है । जो भाग्य में लिखा होता है, वह मिटाये नहीं मिटता है । वह यहां अपने आप नहीं आया है, तुम्हारा तोता हीरामन ही इसे लाया है । इतना ही नहीं जिसके लिए यह वर बनकर आया है उसने भी इसे प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया है । यह समाचार मैंने शिवलोक में सुना था । अब यह तुम्हारा धर्म है कि तुम इसका विवाह शीघ्र ही कर दो । खप्पर लेकर यह तो भीख मांग रहा है । मरणोपरांत भी यह तुम्हारा घर नहीं छोड़ेगा । तुम इस पर अच्छी तरह विचार करलो और अपनी सोने की कटोरी सी बाला पद्मावती का इसके साथ विवाह करदो । तुम्हें भी इससे प्रसन्नता होगी और इसे भी स्वर्गोपम आनंद मिलेगा । इस विचार को त्यागकर इस योगी, को अन्यथा समझ कर मारना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है ।

ओहट होहु रे भांट भिखारी । का तू मोहिं देहिं असि गारी ॥
को मोहिं जोग जगत होइ पारा । जा सहुँ हेरौं जाइ पतारा ॥
जोगी जती आव जो कोई । सुनतहि त्रासमान भा सोई ॥
भीखि लेहि फिरि मांगहि आगे । ए सब रैनि रहे गढ़ लागे ॥
जस हींछा, चाहौं तिन्ह दीन्हा । नाहि बेधि सूरी जिउ लीन्हा ॥
जेहि अस साध होइ जिउ खोवा । सो पतंग दीपक तस रोवा ॥
सुर, नर, मुनि सब गंध्रव देवा । तेहि को गनै ? करहिं निति सेवा ॥

मोसौं को सरवरि करै ? सुनु, रे झूठे भांट !
छार होइ जो चालौं निज हस्तिन कर ठाट ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—ओहट—ओट या परे, भांट भिखारी—सामान्यतः जो भाट है और भीख मांगता है, जा सहुं हेरौं—जिसकी ओर भी देखता हूं, जाइ पतारा—पाताल में चला जाता है, त्रासमान—भयाक्रान्त, सोई—वही, जस हींछा—जैसी इच्छा हो, अस साध—ऐसी कामना, जिउ खोवा—प्राणों को खो देता है, तेहि को गनै—उन्हें कौन गिनता है या कौन उनको गणना करता है,

मोसों—मुझसे, सरवरि—समानता, झूठे भाट—असत्य भक्षी भाट, छार होइ—मिट्टी बनकर, हस्तिन—हाथी।

ससंदर्भ व्याख्या:—इन पक्तियों में कवि जायसी ने शिव-रूपी भाट को राजा गंधर्वसेन का उत्तर अंकित और वर्णित किया है। गंधर्वसेन बोला, अरे ओ भिक्षुक भाट! यहां से दूर हट जा या मेरी दृष्टि से ओझल होजा। इस प्रकार के वचन बोलकर तू हमें क्यों गाली देता है। संसार में ऐसा कौन है जो मेरी समता कर सकता हो। मैं जिस किसी की ओर भी दृष्टिपात करलूं वह पाताल में चला जाता है। तात्पर्य, पृथ्वी पर न रहकर समाप्त हो जाता है। योगी-जती जो भी मेरे सम्मुख आता है, मेरा नाममात्र सुनकर भयाक्रान्त हो जाता है। तात्पर्य व्यक्ति और राजा ही नहीं, योगी-यती भी मुझसे भयभीत रहते हैं और वे मेरे सामने कभी भी आने का प्रयत्न नहीं करते है। योगी आते भी हैं तो अपनी भिक्षा लेकर सामने से चलते बनते हैं। ये योगी सबसे भिन्न हैं कि आकर रातभर गढ़ का घेरा डाले रहे हैं।

जायसी कहते हैं कि राजा गंधर्वसेन कहता है कि मेरी, इन्हें जैसा दण्ड देने की कामना थी, वह अभी पूरी नहीं हुई है। अब तक तो यदि मैं चाहता तो इनके प्राण ले लेता, सूली पर चढ़ा देता, किन्तु मैंने अपने मन से ही इन्हें क्षमा कर रखा है। वस्तुतः जिस व्यक्ति को अपने प्राणों का बलिदान देने की ऐसी उत्कट अभिलाषा होती है वही दीपक तले आकर पतंगों की भांति प्राण त्याग देता है। इस योगी की कौन कहे सुर, नर, मुनि आदि भी नित्य-प्रति मेरी सेवा या चाकरी करते हैं। मेरी बराबरी करने का दम कौन भर सकता है? यदि कोई है भी तो वह मिथ्याभिमान के रोग से पीड़ित है। ओ झूठे भाट! सुन यदि मैं अपने हाथियों की सेना पेल दूं तो ये सभी कुचल कर धूल में मिल जावेंगे।

जोगी घिरि मेले सब पाछे। उरए माल आए रन काछे॥
मंत्रिन्ह कहा सुनहु हो राजा। देखहु अब जोगिन्ह कर काजा॥
हम जो कहा तुम्ह करहु न जूझू। होत आव दर जगत असूझू॥
खिन इक महं झुरमुट होइ बीता। दर महं चढ़ि जो रहै सो जीता॥
कै धीरज राजा तब कोपा। अंगद आइ पांव रन रोपा॥
हस्ति पांच जो अगमन धाए। तिन्ह अंगद धरि सूंड़ फिराए॥
दीन्ह उड़ाइ सरग कहं गए। लौटि न फिरे, तहं हिं के भए॥
देखत रहे अचंभो जोगी, हस्ती बहुरि न आव।
जोगिन्ह कर अस जूझब, भूमि न लागत पाव॥ १५॥

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी पूर्व संदर्भानुसार वर्णन कर रहे हैं—

राजा की यह गर्वोक्ति सुनकर पीछे के सब योगी आकर एकत्रित हो गये हैं। वे ऐसे प्रतीत हुए जैसे उत्साह से भरे हुए योद्धा रण के लिए सज्जित होकर आये हों। मंत्रियों ने कहा—राजन् सुनो इन योगियों का कार्य देखो। हमने तुम से कहा था कि युद्ध मत करो। ये योगी अशक्त और दुर्बल नहीं हैं। देखो तो सही इनका विशाल दल आ रहा है जिसके कारण चारों ओर कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है। क्षण भर में ही अंधकार होना चाहता है। युद्ध में तो जो अग्रसर होकर बढ़ता है, वही विजयी होता है। राजा ने धैर्य धारण करते हुए क्रोध प्रकट किया। उधर योगियों की मदद के निमित्त अंगद ने भी आकर युद्ध में अपना पैर जमाया। उन पांच हाथियों को जिन्हें राजा ने आगे बढ़वाया था, अंगद ने सूंड पकड़ कर और घुमाकर ऊपर फेंक दिया। वे दूर आकाश में उड़ गये और फिर लौटकर नहीं आये, वहीं पर रह गये या गायब हो गये। जायसी कहते हैं कि योगी सविस्मय यह व्यापार देखते रहे कि हाथी फिर दुबारा नीचे पृथ्वी पर आयें, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। योगी इस प्रकार लड़ते रहे कि उनके पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ते हैं।

विशेष—वर्णन-चमत्कार देखते ही बनता है। इस प्रकार का युद्ध वर्णन सूफी सिद्धान्तों के मेल में नहीं है। जोगियों का घेरना, अंगद का पाँव रोपना, हाथियों को सूंड पकड़ कर उछालना आदि एक खिलवाड़ ही है।

कहहिं बात, जोगी सब आए। खिनक माहं चाहत हैं भाए ॥
जो लहि धावहिं अस कै खेलहु। हस्तिन केर जूह सब पेलहु ॥
जस गज पेलि होहिं रन आगे। तस बगमेल करहु सग लागे ॥
हस्ति क जूह आय अगसारी। हनुवंत तबै लंगूर पसारी ॥
जैसे सेन बीच रन आई। सबै लपेटि लंगूर चलाई ॥
बहुतक टूटि भए नौ खंडा। बहुतक जाइ परे बरम्हंडा ॥
बहुतक भंवत सोह अंतरीखा। रहे जो लाख भए ते लीखा ॥
बहुतक परे समुद महं, परत न पावा खोज।
जहां गरब तहं पीरा, जहां हंसी तहं रोज ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—खिनक माहं—क्षण भर में। भाए धावहिं—दौड़ते हैं। तस—वैसे ही। बगमेल—सवारों की पंक्ति। अगसारी—अग्रसर या आगे। भंवत—चक्कर लगाते हुए। अंतरीख—अन्तरिक्ष या आकाश। लीखा—लिक्षा या एक मान जो पोस्ते के दाने के बराबर माना जाता है। खोज—पता या निशान। रोज—रोदन या रोना। बहुतक—बहुत से। पीरा—पीड़ा या वेदना।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कवि कहता है कि बात कहने की देर थी कि जोगी आ गये। क्षण भर में ही वे आक्रमण की ओर झुके। बातें हुईं कि जब तक वे लड़ें तब तक इस प्रकार युद्ध करो कि हाथियों का सारा झुंड या समूह छूट जाय या छुड़वा दिया जावे। ज्यों-ज्यों हाथी रणक्षेत्र में आगे-आगे बढ़ें, त्यों त्यों सवारों की पंक्तिबद्ध कतार आगे की ओर साथ-साथ चलाओ। राजा के आदेश से अनुसार हाथियों के झुंड आगे आ गये। उनके

आते ही हनुमान ने अपनी पूंछ फैलाई और जैसे ही युद्धक्षेत्र के मध्य उनका आगमन हुआ वैसे ही वीर हनुमान ने अपनी पूंछ में लपेट कर सभी को बहुत दूर फैंक दिया। जायसी कहते हैं कि कुछ भी पता नहीं कि कितनों के टुकड़े नौ खण्डों में हुए और कितने ही ब्रह्माण्ड में जाकर गिरे। अनेक ऐसे थे जो आकाश में चक्कर लगाते हुए शोभा पा रहे थे। जो लाखों की संख्या में थे वे सभी एक लोख या छोटे से दाने के बराबर ही बचे। तात्पर्य यह है कि युद्ध-क्षेत्र में होने वाले प्रहारों से वे सभी जो बड़े और शक्तिशाली थे, केवल हलके से लीख के आकार के समान रह गये।

जायसी कहते हैं कि युद्ध क्षेत्र के दौरान बहुत से तो समुद्र में जाकर गिरे और बहुत से ऐसे अपरिचित स्थानों पर गिरे जहां पर उनका पता लगाना असंभव था। वास्तव में जहां गर्व है वहां अन्त में पीड़ा होना आवश्यक है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे अधिक हसने के पश्चात् अधिक रोना पड़ता है।

विशेष— गर्व करना अच्छा नहीं है, जो गर्व करता है वही अन्त में पश्चाताप करता भी है। गर्व से कष्ट मिलना स्वाभाविक है।

पुनि आगे का देखै राजा। ईसर केर घंट रन बाजा॥
सुना सख जो बिस्नू पूरा। आगे हनुवंत केर लंगूरा॥
लीन्हे फिरहिं लोक बरम्हंड। सरग पतार लाइ मृदमंडा॥
वलि, वासुकि औ इंद्र नरिंदू। राहु, नखत, सुरुज औ चंदू॥
जावत दानव राच्छस पुरे। आठौ बज्र आइ रन जुरे॥
जेहि कर गरब करत हुत राजा। सो सब फिरि बैरी होइ साजा॥
जहवां महादेव रन खड़ा। सीस नाइ नृप पायन्ह परा॥
केहि कारन रिस कीजिए? हौं सेवक औ चेर।
जेहि चाहिय तेहि दीजिय, बारि गोसाईं केर॥ १७॥

शब्दार्थ—ईसर—ईश्वर या महादेव। मृदमण्डा—धूल से छा गया। वासुकि—शेषनाग। नरिंदू—नरेन्द्र। जावत—जितने भी; जेहि कर–जिनका। गरब करत हुत राजा—राजा जिनका गर्व करता था या जिनके सहारे गर्वोन्मत्त था। फिरि—विमुख होकर। जहवां—जहां पर। रन खड़ा—युद्ध में खड़े हों। सीस नाइ नृप पायन्ह परा—सिर नवाकर राजा पांवों में आ गिरा। रिस कीजिए—क्रोध करते हो। चरे—गुलाम। जेहि चाहिये—जिसे चाहते हो। बारि—कन्या।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार ही कवि जायसी युद्ध का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि राजा ने देखा कि महादेवजी का युद्ध भूमि में घण्टा बज रहा है। विष्णु का बजाया हुआ शंख भी उसने सुना और सबसे आगे हनुमान की पूंछ देखी। योगी सारे ब्रह्माण्ड के लोगों को लिये थे। आकाश, पाताल सभी धूल से छा गया। वलि, वासुकि, राजा, इन्द्र, राहु, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, राक्षस और सभी दानव और आठों वज्र आकर रण में एकत्र हुए। जायसी कहते हैं कि राजा गंधर्वसेन को जिनका बहुत गर्व था या राजा जिन रणबांकुरे वीरों तथा अपनी सेनाओं पर बहुत गर्वोन्मत्त रहता था वे सभी उससे विमुख हो गये और शत्रुवत् आचरण करने लगे। तात्पर्य, राजा का वह

सहारा भी समाप्त हो गया जिसके बल पर वह फूला नहीं समाता था। राजा ने देखा कि युद्ध क्षेत्र में साक्षात् महादेव खड़े हैं। महादेव को युद्ध में खड़े देख कर राजा सिर नवाकर पैरों पर गिर पड़ा। उसका सम्पूर्ण अभिमान नष्ट हो गया। वह विनत भाव से चरणों में आकर लोट गया। कहने लगा कि हे महादेव! किस कारण से क्रोध करते हो; मैं तो तुम्हारा सेवक हूँ, क्रोध मत करो। यह कन्या आपकी है और अब इसके वरण के निमित्त इच्छा भी आपकी ही है। आप स्वेच्छा से इस पद्मावती कन्या को जिसे चाहें दे दें। तात्पर्य,अपने मनानुकूल इसका विवाह इस योगी से कर दें। राजा का यह कथन शिव को साक्षात् रूप से पहचानने के बाद ही अंकित किया गया है।

पुनि महेस अब कीन्ह बसीठी। पहिले करुइ, सोइ अब मीठी ।।
तूं गंध्रब राजा जग पूजा। गुन चोदह, सिख देइ को दूजा ? ।।
हीरामन जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा ।।
तेहि बोलाइ पूछहु वह देसू। दहुँ जोगी, की तहां नरेसू ।।
हमरे कहत न जौं तुम्ह मानहु। जो वह कहै सोइ परवांनहु ।।
जहां बारि, वर आवा ओका। करहि बियाह धरम बड़ तोका ।।
जो पहिले मन मानि न कांधै। परखै रतन गांठि तब बांधै ।।

रतन छपाए ना छपै, पारिख होइ सो परीख।
घालि कसौटी दीजिए कनक-कचोरी भीख ।। १८ ।।

शब्दार्थ—बसीठी—दूत। करुइ—कड़वी। जग पूजा—संसार जिसे पूजता है। दूजा—दूसरा। तुम्हार परेवा—तुम्हारा पक्षी। परवांनहु—प्रमाण मानो। ओका—उसका। कांधै—स्वीकार करता है। परखै—परीक्षा करता है। घालि—डाल कर। कनक कचोरी—सोने की कचोरी अर्थात् पद्मावती।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में शिवजी ने राजा गंधर्वसेन से कहा—मैं अब दूत की तरह तुमसे वह विनती कर रहा हूँ जो पहले तो कड़वी प्रतीत होती थी किन्तु अब मीठी प्रमाणित हो गयी है। हे राजा गंधर्वसेन! तुम संसार में पूज्य हो, तुम्हारे अन्दर चौदह गुणों का वास है। ऐसी परिस्थिति में अब तुम्हें कोई क्या शिक्षा दे सकता है। हीरामन नामक तोता तुम्हारा ही है। वही तोता चित्तौड़ चला गया था और उसने वहां जाकर राजा रत्नसेन की सेवा की थी। अतः तुम अब उसी तोते को बुलाओ और चित्तौड़गढ़ के समाचारों से अवगत हो जाओ। उसी से यह पूछो कि रत्नसेन योगी है अथवा वहां का प्रतिष्ठित और पूज्य राजा है? हम इस संदर्भ में कुछ भी कहें किन्तु उसका कोई भी अर्थ नहीं होगा। अत: तुम तो उसी बात को प्रमाण मानना जिसे तोता कहे। इसके अतिरिक्त यह बात भी तो ठीक है कि जहां कन्या होती है वहीं पर विवाह का आयोजन किया जाता है। इन परिस्थितियों में उचित यही है कि तुम धर्म के अवतार होने के नाते अपनी कन्या का विवाह इससे कर दो यदि मेरे इस कथन से संतुष्टि मिले तो तुम मेरी बात मान लेना। सबसे पहले, गुणवान व्यक्ति, रत्न की परीक्षा करते हैं। यदि वह खरा निकलता है तो उसे बाद में अपनी गांठ में बांध लेते हैं। जायसी कहते हैं कि शिवजी ने गंधर्वसेन से कहा कि तुम्हें भी यही बात अपनानी

चाहिए। यदि योगी रत्नसेन, गुणवान और खरा रत्न जान पड़े तो इसका विवाह कर देना। वास्तव में रत्न छिपाने से कभी नहीं छिपता है। जो कोई उसकी परीक्षा करता है वही सच्चा पारखी होता है। शिवजी ने कहा कि हे राजा! अपनी परीक्षा की कसौटी पर इस योगी को कस डालो और फिर स्वर्ण की कलिका पद्मावती को इसे भीख में दे दो। तात्पर्य यह है कि पद्मावती का विवाह रत्नसेन से कर दो।

विशेष--इन पंक्तियों में कवि जायसी ने शिवजी के द्वारा जो विवाह का प्रस्ताव कराया है वह बड़ा संयत है। कवि-कल्पना का संयम और उसके अनुकूल भाषा का प्रयोग इस पद की विशेषता है।

राजैं जब हीरामन सुना। गएउ रोस, हिरदय महं गुना॥
अज्ञा भई बोलावहु सोई। पंडित हुंते धोख नहिं होई॥
एकहि कहत सहस्रक धाए। हीरामनहिं बेगि लेइ आए॥
खोला आगे आनि मंजूसा। मिला निकसि बहु दिनकर रूसा॥
अस्तुति करत मिला बहु भांती। राजैं सुना हिये भइ सांती॥
जानहुं जरत आगि जल परा। होइ फुलवार रहस हिय भरा॥
राजैं पुनि पूछी हंसि बाता। कस तन पियर, भएउ मुख राता॥
चतुर वेद तुम पंडित, पढ़े शास्त्र औ वेद।
कहां चढ़ाएहु जोगिन्ह, आइ कीन्ह गढ़ भेव॥ १६॥

शब्दार्थ—गुना=विचार किया। अज्ञा भई=आज्ञा हुई। सहस्रक=एक हजार। वेगि=शीघ्रता से। रुसा=रुष्ट अथवा नाराज। अस्तुति=प्रार्थना। सांती=शांति। रहस=आनन्द। फुलवार=प्रफुल्ल।

सप्रसंग व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी हीरामन तोते के राजा के सामने आने वाले समाचार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे ही राजा गंधर्वसेन ने हीरामन तोते के सम्बन्ध में सुना वैसे ही उसका क्रोध शांत हो गया और उसने अपने मन में विचार किया। राजा की आज्ञा हुई कि हीरामन तोते को शीघ्र बुलाया जाय। वह पंडित है, उसके द्वारा कही हुई बातें कभी भी धोखे में नहीं डाल सकती हैं। राजा की आज्ञा के साथ ही एक व्यक्ति के स्थान पर हजारों आदमी दौड़ पड़े। बड़ी शीघ्रता से वे सभी हीरामन तोते को ले आये। तोते के पिंजड़े को राजा के सामने ही खोला गया। पिंजड़े के खुलते ही बहुत दिन का रुठा हुआ तोता बड़ी भक्ति भावना के साथ सबसे मिला। उसने अनेक प्रकार की स्तुति की। तोते के आशीर्वाद को सुनकर राजा को शांति मिली। उसके द्वारा कहे गये वचन इतने शांतिदायक थे कि राजा के हृदय की सम्पूर्ण जलन शांत हो गयी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो जलती हुई आग में जल पड़ गया हो। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसके हृदय में आनन्द प्रवाहित होने लगा। राजा ने बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते हुए हंसकर हीरामन तोते से पूछा-तुम्हारा यह शरीर पीला और मुख लाल क्यों हो रहा है? तुम चारों वेद पढ़े हुए पंडित हो, शास्त्रों के मर्मज्ञ हो; बताओ तो सही कि ये योगी किले पर कैसे चढ़े, और इन्होंने किस विधि से दुर्ग में सेंध लगायी है।

हीरामन रसना रस खोला । दै असीस, कै अस्तुति बोला ॥
इंद्रराज राजेसर महा । सुनि होइ रिस, किछु जाइ न कहा ॥
पै जो बात होइ भलि आगे । सेवक निडर कहै रिस लागे ॥
सुवा सुफल अमृत पै खोजा । होहु न राजा बिक्रम भोजा ॥
हौं सेवक, तुम आदि गोसाईं । सेवा करौं जिऔं जब ताईं ॥
जेइ जिउ दीन्ह देखावा देसू । सो पै जिउ महं बसै, नरेसू ! ॥
जो ओहि सवरै 'एकै तुही' । सोई पंखि जगत रतमुहीं ॥
नैन बैन औ सरवन सब ही तोर प्रसाद ।
सेवा मोरि इहै निति बोलौं आसिरबाद ॥ २० ॥

शब्दार्थ—रसना=जिह्वा । किछु जाइ न कहा—कुछ भी नहीं कहा जाता । होहु न राजा विक्रम भोजा—तुम विक्रम के समान भूल मत करो (कहावत है कि एक तोते ने राजा विक्रम को दो अमृतफल यह कहकर दिये थे कि जो यह फल खायेगा वह बुड्ढे से जवान हो जायेगा । राजा ने उन फलों को रख लिया । संयोग से एक फल में सांप के दांत लग गये । वही फल परीक्षा के लिए एक कुत्ते को खिलाया गया और वह मर गया । राजा ने क्रोधित होकर तोते को मरवा डाला और बचे हुए एक फल को बगीचे में फिकवा दिया । बगीचे में फेंके हुए फल पर जब और फल लगे तो उसे एक बूढ़े माली ने उठा कर खा लिया । उसे खाते ही बूढ़ा माली फिर से जवान हो गया । इस समाचार को जान कर राजा विक्रम को बहुत पश्चाताप हुआ ।) रतमुही—लाल मुख वाली चिड़िया । सरवन—कान । तोर प्रसाद—तेरा प्रसाद है ।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व सदर्भानुसार जायसी कहते हैं । हीरामन तोते ने अपनी रसभरी रसना खोली और राजा को आशीर्वाद दिया तथा उसकी सस्तुति की । वह कहने लगा—हे राजा ! आप राजाओं में इन्द्र हैं और सर्वोपरि महाराजाधिराज हैं । आपके समक्ष आपके क्रोध का स्मरण करके कुछ भी कहने में भय लगता है । इतने पर भी सेवक उस बात को निडर होकर कहता है जो भविष्य में सच होने वाली है । सत्य और भविष्य में घटित होने वाली घटना का कथन करने से यदि किसी को क्रोध आये तो आता रहे । तोता तो सदैव मधुर, अमृतोपम फलों को खोजता रहता है किन्तु राजा विक्रम बनकर उसका भोग करने को तत्पर नहीं है । मैं तो सेवक हूँ और तुम प्रभो प्रारम्भ से ही स्वामी हो । अतः जीवन भर मैं आपकी सेवा सुश्रूषा में लगा रहूँगा । ऐसा कौन है जिसने जीवन देकर मुझे यह संसार दिखाया है तथा संसार में मुझे मार्गदर्शन किया है, वही राजा मेरे मानस में निवास करता है ।

जायसी कहते हैं कि जो पक्षी 'केवल एक तू ही तू ही है' कह कर जीवन-यापन कर देता है, वही सच्चा प्रेमी है । वही एकनिष्ठ भाव से आराधना करने वाला व्यक्ति ही ईश्वर का स्मरण करता है और उसी पक्षी का मुँह लाल होता है । हे राजा ! नेत्र, श्रवण, वचन और बुद्धि—ये सभी आपका ही प्रसाद है । मेरी सेवा तो केवल इतनी सी है कि नित्य प्रति आशीर्वाद देकर वचनों का उच्चारण करूँ ।

जो अस सेवक जेइ तप कसा । तेहि क जीभ पै अमृत बसा ।।
तेहि सेवक के करमहिं दोषू । सेवा करत करै पति रोषू ।।
औ जेहि दोष निदोषहि लागा । सेवक डरा, जीउ लेइ भागा ।।
जो पंछी कहवां थिर रहना । ताकै जहां जाइ भए डहना ।।
सप्त दीप फिरि देखेउ; राजा । जबूदीप जाइ तब बाजा ।।
तहं चितउरगढ़ देखेउ ऊंचा । ऊंच राज सरि तोहि पहूँचा ।।
रतनसेन यह तहां नरेसू । एहि आनेउं जोगी के भेसू ।।

सुआ सुफल लेइ आएउं, तेहि गुन तें मुख रात ।
कया पीत सो तेहि डर, सवरौं विक्रम बात ।। २१ ।।

शब्दार्थ—अस सेवक—ऐसा सेवक । तप कसा—तप में शरीर को कस डाला । अमृत बसा—अमृत बसता है । करमहिं दोष—कर्म को दोष । पति-रोष—पति को क्रोध आता है । निदोषहि—निर्दोष । जीउ लेइ भागा—जीव लेकर भाग गया । डहना—पख । सवरौं विक्रम बात—विक्रम के समान जो राजा गधर्वसेन है, उसके कोप का स्मरण करता हूँ, ऊपर कहा ही जा चुका है—'होहु न राजा विक्रम भोजा ।'

ससंदर्भ व्याख्या—इन पक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि हीरामन तोते ने कहा कि जो सेवक अपने मालिक की ऐसी शुभ दशा चाहता है, उसकी जिह्वा पर अमृत रहता है । यह उस सेवक के कर्म का ही दोष है, यदि सेवा करते हुए उसके स्वामी को क्रोध हो जाय । तोते ने कहा कि जहां पर निर्दोष व्यक्ति भी दोष का भागी बनता है वहां विचारा सेवक डरता है । इतना ही नहीं वह इसी, भय के कारण अपना जीव लेकर भागता है । पक्षी स्थिर कैसे रह सकता है, जब उसके पख हैं तो जिधर ही देखता है चला जाता है । इसकी भावना यह है कि जब आपकी कुदृष्टि मिली तो मैं आपके यहां से किसी ओर चला गया था ।

जायसी कहते है कि राजा से हीरामन तोते ने कहा कि हे राजा ! मैंने सातों द्वीप घूमकर देख लिये और अन्त में जम्बू द्वीप पर जा पहुंचा । वहा मैंने ऊंचाई पर स्थित चित्तौड़गढ़ को देखा । राज्य आपके ही समान उच्च गौरव सम्पन्न है । यह रत्नसेन उसी स्थान का राजा है । यह यहां पर योगी के वेश में आया है या लाया गया है। तोता पुण्य के फलों का भक्षण करता है । इसी विशेषता से उसका मुख लाल है, किन्तु शरीर इसलिए पीला है कि मैं विक्रम की भांति उपेक्षा वृत्ति का अनुभव करता हूं । व्यंजना यह है कि मुझे खुशी है कि मैं रत्नसेन रूपी अमृत फल खोज कर यहां लाया हूं, किन्तु राजा विक्रम की भांति तुम इस फल का उपभोग न करने की बहुत बड़ी भूल कर रहे हो ।

विशेष—उपमा अलंकार का सौन्दर्य प्रभावित किये बिना नहीं रहता है ।

पहिले भएउ भांट सत भाखी । पुनि बोला हीरामन साखी ।।
राजहि भा निसचय, मन माना । बांधा रतन छोरि कै आना ।।
कुल पूछा, चौहान कुलीना । रतन न बांधे होइ मलीना ।।
हीरा दसन पान-रंग पाके । विहंसत सबै बीजु बर ताके ।।

मुद्रा स्रवन बिनय सौं चांपा । राजपना उघरा सब झांपा ॥
आना काटर एक तुखारू । कहा सो फेरौ, भा असवारू ॥
फेरा तुरय, छतीसौ कुरी । सबै सराहा सिंघलपुरी ॥
कुंवर बतीसौ लच्छना, सहस-किरिन जस भान ।
काह कसौटी कसिए ? कंचन बारह बान ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सतभाखी—सत्य का भक्षण करने वाला, साखी—साक्षी करके, मलीना—मलिन, पाके—पके हुए, मुद्रा स्रवन विनय सौं चांपा—विनय पूर्वक कान की मुद्रा को पकड़ा, झांपा—ढका हुआ, काटर—कट्टर, तुखारू—तुखार जाति का घोड़ा, फेरौ—घुमाओ या चलाओ, तुरय—घोड़ा, छतीसौ कुरी—छत्तीसों कुल के क्षत्रीय, जस भान—जैसे सूर्य की किरणें प्रकाशित करती है ।

ससंदर्भ व्याख्या–इन पंक्तियों में कवि जायसी वर्णन करते हैं कि प्रथम बार तो भाट ने राजा के सामने सत्य वचन कहे थे, फिर हीरामन उसकी बातों का साक्षी हुआ । यह सब देखकर राजा को निश्चय हो गया, उसका मन मान गया । राजा ने सभी स्थिति को भांप लिया और बंधे हुए रत्नसेन को छुड़वाकर मंगवाया या बुलवाया । रत्नसेन से पूछने पर विदित हुआ कि वह चौहान वंशी कुलीन राजपूत है । जायसी कहते है कि बांधने से रत्न मलीन नहीं हो जाता है । व्यंजना यह है कि जोगी बनने या बंदी बनाये जाने से रत्नसेन की शोभा कम न हुई थी । उसके हीरा के समान चमकते हुए दांत पान के रंग में पके थे । तात्पर्य यह है कि पान खाने से दांतों के बीच-बीच में पान का रंग था और उसके बीच में सफेद दांत चमक रहे थे । जब वह मुस्कराता था तो विद्युत के समान सभी दांतों को सभी ने देखा । वह जोगी कानमुद्रा तो पहने था । राजा की आज्ञा से उसके सभी ढके हुए राजचिन्ह प्रकट किये गये । लोगों ने एक काटर का घोड़ा ला दिया और कहा कि इस पर सवारी करके फिरा दो । तान, चालाक और चैतन्य बना दो । उस राजा ने चढ़कर जोगी वेष में उस घोड़े को ऐसा फिराया कि छत्तीसों कुलों के सिंहलद्वीप के क्षत्री उसकी संस्तुति करने लगे । राजकुमार रत्नसिंह बत्तीसों लक्षणों से युक्त सूर्य के समान उसकी सहस्त्रों किरणों से प्रकाशित या ज्योतित था । जो स्वयं ही सहस्त्रों किरणों के समान शुद्ध बारहबानी सोना ही है उसे कोई क्या कसौटी पर कसेगा ।

विशेष—अलंकरण सार्थक और व्यावहारिक है । इसमें श्लेष उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों का प्रयोग-बाहुल्य भी सारल्य का परिचायक है ।

हँसि कुँवर बर कंचन जोगू । 'अस्ति अस्ति' बोला सब लोगू ॥
मिला सो बंस अंस उजियारा । भा बरोक तब तिलक सँवारा ॥
अनिरुध कहँ जो लिखा जयमारा । को मेटै ? बानासुर हारा ॥
आजु मिलि अनिरुध कहँ ऊखा । देव अनंद, दैत सिर दूखा ॥
सरग सूर, भुइँ सरवर केवा । बनखंड भंवर होइ रसलेवा ॥
पच्छिउँ कर बर पुरुब क बारी । जोरी लिखी न होइ निनारी ॥
मानुष साज लाख मन साजा । होइ सोई जो बिधि उपराजा ॥
गए जो बाजन बाजत जिन्ह मारन रन माहिं ।
फिर बाजन तेइ बाजे मंगलचार उनाहिं ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—अस्ति-अस्ति—हाँ, हाँ—वाह-वाह, उजियारा—उज्ज्वलता, वरोक—वरेच्छा या फलदान जयमारा—जयमाला, केवा—कमल रस लेवा—रसग्रहीता, जोरी लिखी न होइ निनारी—जो भगवान ने जोड़ी लिखी है, वह पृथक नहीं हो सकती है विधि उपराजा—विधाता ने लिख दिया है।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी पूर्व संदर्भानुसार ही वर्णन कर रहे हैं—यह जानकर कि कमल वर्णी पद्मावती के संयोग के लिए सूर्य रत्नसेन वर उचित है, सभी लोगों ने कहा कि अवश्य ही यह वर उचित है या वरणीय है। इसमें कहीं कोई अनुचित बात नहीं है। कारण स्पष्ट है कि सुन्दर वंश का उज्ज्वल प्रकाश रूपी वर हमें मिल गया है। शीघ्र ही वर रक्षा हुई और तिलक की तैयारियां होने लगीं। कवि जायसी कहते हैं कि जब अनिरुद्ध की जयमाला लिखी थी तो उसे कौन मिटा सकता था, आखिरकार वाणासुर को पराजित होना ही पड़ा था। आज रत्नसेन रूप अनिरुद्ध को पद्मावती रूपी उषा मिल गई है। [उषा वाणासुर की पुत्री थी और अनिरुद्ध की प्रेयसी थी, वाणासुर की हार के बाद उषा और अनिरुद्ध का विवाह हुआ था।] आज पद्मावती और रत्नसेन का ऐसा मेल हुआ जैसे उषा और अनिरुद्ध मिले थे। इसी शुभ मिलन पर देवताओं को अपार हर्ष का अनुभव हुआ और दैत्यों और दानवों के सिर में पीड़ा हुई। कवि का कथन है कि सूर्य आकाश में होता है और कमल पृथ्वी पर तालाब में होता है। कमल का रस पीने वाला भौंरा दूर जंगल में रहता है किन्तु फिर भी ये दोनों एक हो जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिम का वर और पूर्व की वधू इन दोनों की जोड़ी मिली है जो अलग नहीं रह सकती। इन लोगों को दाम्पत्य जीवन में बंधना ही था। कविवर जायसी लिखते हैं कि मनुष्य, मन में लाखों करोड़ों कल्पनाओं को सजाता है किन्तु उनसे क्या? जो भगवान की इच्छा होती है वही निश्चय पूर्वक घटित होता है। कहावत भी तो है—"होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है।" जिन जोगियों को मारने के लिए रण में बाजे बजाये गये थे, उन्हीं बाजों से उनका मंगलाचार गाया जाने लगा। वस्तुतः ईश्वर की लीला अपार है।

विशेष—भाग्य और ईश्वर की एकमात्र सत्ता को कवि ने काव्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है। होने वाली घटनाएं अवश्य घटित हो जाती हैं।

बोल गोसांई कर मैं माना। काह सो जुगुति उतर कह आना? ॥
माना बोल, हरष जिउ बाढ़ा। औ बरोक भा, टीका काढ़ा ॥
दूबी मिले, मनावा भला। सुपुरुष आपु आपु कहं चला ॥
लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू। जो तप करै सो पावै भोगू ॥
वह मन चित जो एकै अहा। मारै लीन्ह न दूसर कहा ॥
जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं निति सेवा ॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग जुग सुख, जाइ न लेखा ॥
रतनसेन सग बरनौं पदमावति क बियाह।
मंदिर बेगि संवारा, मादर तूर उछाह ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—छेवा—दुख झेला, मादर,—मृदंग, तूर—तुरही, उछाह—उत्साह और आनन्द, लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू—रत्नसेन जिसके लिए

ऐसा योग साध रहा था उसे स्वर्ग से उतार लाया, मारै लीन्ह—मार ही डालना चाहते थे, न दूसर कहा पर दूसरी बात भी मुंह से न निकली।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार जायसी वर्णन कर रहे हैं—

राजा ने बताया कि मैने आपके कथन को स्वीकार किया, अब कौन सी युक्ति शेष है और इसका उत्तर क्या हो सकता है? राजा के मन में अपार हर्ष और उत्साह हुआ। वररक्षा की रस्म पूरी की गई और राजा ने रत्नसेन का तिलक किया। दोनों गले मिले और एक दूसरे को मान मनाया। इस प्रकार दोनों सुपुरुष अपने अपने कार्य में रत हो गये। कवि कहता है कि रत्नसेन ने जिसके लिए योग किया था, उसे प्राप्त करके ही दम लिया। जो तपस्या करते हैं, उन्हें उसका सुन्दर फल मिलता अवश्य है। जो व्यक्ति अपने मन और चित्त से एक होकर आराधना करता है, उसके मुख से मरते समय भी दूसरी बात नहीं निकलती है। रत्नसेन ने भी मरण के समय तक वही बात कही जिसकी अभिलाषा उसके मन में थी। प्राणों की बलि देकर भी वह अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने की कामना से लेशमात्र भी अलग न हटा। देवता भी उस राजा की सेवा करते थे। थोड़े ही दिन तक उसे दुख मिला, फिर बाद में सम्पूर्ण जीवन में उसे सुख ही सुख मिला। जायसी कहते हैं कि अब आगे के पृष्ठों में मैं रत्नसेन के साथ पद्मावती के विवाह का वर्णन करता हूं। महल तुरन्त सजाया गया, मृदंग तुरही आदि वाद्य बजने लगे और उत्साह प्रारम्भ हो गया।

[नोट—शुक्ल जी की प्रति में यह पद दिया गया है किन्तु डा० माताप्रसाद इसे प्रक्षिप्त मानते हैं, कारण यह है कि इस छन्द में वररक्षा तिलक आदि के दुबारा उल्लेख हैं।]

रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खण्ड

लगन धरा औ रचा वियाहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू॥
बाजन बाजे कोटि पचासा। भा अनंद सगरौं कैलासा॥
जेहि दिन कह निति देव मनावा। सोइ दिवस पदमावति पावा॥
चांद सुरुज मनि माथे भागू। औ गावहि सब नखत सोहागू॥
रचि रचि मानिक मांड़व छावा। औ भुइं रात बिछाव बिछावा॥
चंदन खांभ रचे बहु भांती। मानिक-दिया बरहिं दिन राती॥
घर घर बंदन रचे दुवारा। जावत नगर गीत झनकारा॥
हाट बाट सब सिंघल जहं देखहु तहं रात।
धनि रानी पदमावति जेहिकै ऐसि बरात॥ १॥

शब्दार्थ—लगन धरा=लग्न रखी गयी। रचा बियाहू=विवाह की रचना हुई। नेवत=निमंत्रण। सब काहू=सब किसी को या सभी को। सगरौं=सम्पूर्ण। देव मनावा=देवता को मनाया गया। मनि माथे भागू=मस्तक पर सौभाग्य मणि। सोहागू=सौभाग्य के परिचायक गीत। मांड़व छावा=मंडप सजाते थे। रात=रंगीन या लाल वर्ण के। बिछाव=बिछावन या बिस्तर। चहुँ पानी=चारों ओर। बरहिं दिन राती—दिन रात माणिक के दीपक जलते हैं। बन्दन=बन्दनवार। जावत=जितने भी। तह रात=जहां

अगर और कस्तूरी की सुगंध को शरीर से लगवाइये। शरीर पर से मोटे कपड़ों को उतार दो और मुद्रा आदि को भी, क्योंकि ये शरीर पर अब शोभित नहीं होते हैं। इनके स्थान पर कानों में जड़ाऊ कुंडल और शरीर पर सुन्दर व सुगंधित वस्त्र धारण करलो। जटाओं का निवारण करदो और सुगंधित तेल को प्रयोग में लाओ जिससे तुम्हारा राजसी ठाट-बाट हो जावे। केशों को झाड़ो या साफ करो तथा सिर पर मुकुट को धारण करो। शरीर पर जो मोटे कपड़े धारण कर रखे हैं, उन्हें उतार दो और कौपीन तथा ढीला ढाला रुई का कपड़ा धारण करो। जायसी कहते हैं कि राजकुमारों ने राजा रत्नसेन से प्रार्थना की कि हे राजा! चरणों में से खड़ाऊं छोड़ दो और सुन्दर जूतियां धारण करो। बांके बाने से चलने वाला तुम्हारा घोड़ा आ गया है। अतः मौर धारण करने के लिए सिर पर छत्र धारण कीजिए और शीघ्र ही घोड़े पर सवारी करो।

विशेष—१. वर्णन, सरल और व्यावहारिक है तथा समयानुकूल भी है।

२. चतुरसम—चन्दन, केसर, अगर और कस्तूरी को समान मात्रा में लेकर बनायी गई सुगंधित सामग्री। इसका उल्लेख रामचरित मानस में भी मिलता है। तुलसी ने कहा है-'बीथीं सींचीं चतुरसम चौके चारु पुराई।' जायसी से दो शताब्दि पूर्व 'वर्ण रत्नाकार' ग्रंथ में चतुः सम का उल्लेख मिल जाता है। उससे भी पूर्व हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' में चतुः सम का प्रयोग मिलता है। कहा गया है-"चन्दनागुरुकस्तूरीकुंकमवस्तु चतुः समम्"।

३. आइने अकबरी में भी ऐसे अंगरखे का उल्लेख मिलता है जो अधिक लम्बा चौड़ा और अधिक रुई वाला होता था।

साजा राजा, बाजन बाजे। मदन सहाय दुवौ घर गाजे॥
औ राता सोने रथ साजा। भए बरात गोहने सब राजा॥
बाजत गाजत भा असवारा। सब सिंघल नइ कीन्ह जोहारा॥
चहुं दिसि मसियर नखत तराईं। सूरुज चढ़ा चांद के ताईं॥
सब दिन तपे जैस हिय माहां। तैसि राति पाई सुख-छाहां॥
ऊपर रात छत्र तस छावा। इंद्रलोक सब देखै आवा॥
आजु इंद्र-अछरी सौं मिला। सब कविलास होहि सोहिला॥
धरती सरग चहूं दिसि पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै मंदिर जहं होइ मंगलाचार॥ ३॥

शब्दार्थ—साजा राजा-राजा सज गया। मदन सहाय-मदन सहायक या कामोत्तेजक। गोहने-साथ में। राता औ सोन रथ-दूल्हे का रथ ऊपर से लाल रंग के कपड़े से सजाया जाता था। मसियर-मशाल। सोहिला-सोहिला या सोहर नाम का गीत। पूरि रहे-भरे हुए थे।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि, राजा रत्नसेन के सजने का वर्णन करता हुआ कह रहा है। राजा राजसी वेशभूषा में सज धज कर तैयार हुआ। प्रसन्नता का वार पार न था। सर्वत्र कामदेव के उत्तेजक बाजे बजने लगे। उन्हें देख, ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामोद्दीपक मेघ गर्जना करने लगे हों। राजा के बैठने के लिए सोने का रथ सजाया गया। सभी संगी साथी बराती बने। राजा रत्नसेन पूरे बाजे-गाजे के साथ रथारूढ़ हुआ। सभी सिंहल निवासी उसे

प्रणाम करने लगे। सर्वत्र या चतुर्दिक नक्षत्र और तारागण आकर मशालची बन गये। इसका अर्थ यह भी संभव है—मशाल जलाने वाले अपनी मशालों के साथ ऐसे लग रहे थे मानो नक्षत्र या तारागण चमक रहे हों।

जायसी कहते हैं कि रत्नसेन रूपी सूर्य ने चन्द्रवदनी पद्मावती के वरण के निमित्त प्रयास किया और उसमें उसे सफलता मिली। सारे दिन रत्नसेन रूपी सूर्य ने पद्मावती रूपी चन्द्रवदनी के लिए तपस्या की थी, इसी कारण उसने अब रात की सुख छाया प्राप्त की है। सिर पर लाल रंग का छत्र बांधा गया और सारा इन्द्रलोक आकर उसकी सेवा में लग गया। आज वस्तुतः इन्द्र अप्सरा से मिला है-इस प्रकार की उक्तियां कही जाने लगी। अतः सारे कैलाशवत् सिंहल में विवाह के मंगल गीत गाये जाने लगे।

कवि वर्णन करता हुआ कहता है कि धरती और आकाश में सर्वत्र मशालें जल रही थीं। सभी हृदय बड़े मनोरम थे। कहीं भी ऐसा न था जो आकर्षण का केन्द्र न बना हो। बरात बाजे-गाजे के साथ राज-मंदिर की ओर चली आ रही थी और वहां पर मंगलाचार हो रहा था। तात्पर्य यह है कि विवाह के मांगलिक उत्सव-आयोजन हो रहे थे। सम्पूर्ण सिंहल आनंद का सोता बन गयी थी।

पदमावति धौराहर चढ़ी। वहुं कस रवि जेहि कहं ससि गढ़ी॥
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह महं सो जोगी को अहा?॥
केइ सो जोग लै ओर निवाहा। भएउ सूर, चढ़ि चांद वियाहा॥
कौन सिद्ध सो ऐस अकेला। जेइ सिर लाइ पेम सौं खेला?॥
का सौं पिता बात अस हारी। उतर न दीन्ह, दीन्ह तेहि बारी॥
का कहं दैउ ऐस जिउ दीन्हा। जेइ जयमार जीति रन लीन्हा॥
धनि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए॥

को बरियंड बीर अस, मोहि देखै कर चाव।
पुनि जाइहि जनवासहि, सखि! सोहि वेगि देखाव॥ ४॥

शब्दार्थ—धौराहर—धवलगृह। जेहि कह ससि गढ़ी-जिसके लिए चन्द्रमा रूपिणी पद्मावती बनाई गई। निबाहा—निर्वाह किया। सो ऐस अकेला—ऐसा सिद्ध पुरुष और कौन है। उतर न दीन्ह दीन्ह तेहि बारी—उत्तर तो दिया नहीं, अपनी कन्या ही दे डाली गयी। जेइ जयमार-जिसे जयमाला। नवै न नाए-नवाने पर भी जो न झुका। बरिबंड—बलशाली। देखै कर चाव-देखने का शौक है। जनवासहि—जनवासे की ओर। वेगि देखाव—शीघ्र दिखाओ।

ससंदर्भ व्याख्या—रत्नसेन को सजता हुआ देखने जब सभी लोग आये तो स्वयं पद्मावती को भी इच्छा हुई। कवि जायसी इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—पद्मावती महल के ऊपर रत्नसेन सूर्य को देखने के निमित्त चढ़ गई। वस्तुतः वह चन्द्र रूपिणी उसकी गढ़ना या रचना देखने के लिए धवलगृह पर चढ़ी। बरात को देखने के अनन्तर उसने अपनी सहेलियों से पूछा कि 'कहो तो सखियों। इनमें कौनसा वह जोगी है?' वह जोगी कौनसा है जिसने योग-व्रत का संकल्प लेकर उसे अन्त तक निभाया है। इतना ही नहीं, जिसने आकाश पथ से आकर चन्द्रिका पद्मावती से विवाह किया है। ऐसा कौनसा साहसी जोगी है जिसने सिर के बल प्रेम के क्षेत्र में विचरण

किया है। मेरे पिता जैसे व्यक्ति जिस जोगी की बातों से पराजित हो गये और उसकी बात का उत्तर न दे सके, इसके विपरीत; उत्तर के बदले अपनी कन्या ही दे डाली है।

जायसी कहते हैं कि उस व्यक्ति को परमेश्वर ने ऐसी विजय दी है कि उसने रण को विजित करके विवाह की वरमाला ही गले में डाल दी है। वस्तुतः ऐसा पुरुष धन्य है जो झुकाये से नहीं झुकता है और दूसरे देश में भी अपना पौरुष प्रकट करने का साहस रखता है। हे सखियो! इन सभी बातों का कर्ताधर्ता आखिर वह वीर पुरुष कहां पर है? मैं उस वीर के दर्शनों की इच्छुक हूं। अतः हे सखियो! शीघ्र ही मुझे बताओ, नहीं तो वह यहां से जनवासे की ओर चला जायगा।

विशेष—इस पद में जायसी ने स्त्रीजनोचित उत्सुकता और कामना-पूर्ण दृष्टि का परिचय बड़े मनोहर ढंग से चित्रित किया है। अभी भी कुछ ग्रामों में सहेलियों के बीच कन्या अपने वर को कोठे पर चढ़कर देखती है। अवधी ग्राम में भी यह पद्धति मिलती है। इसी कारण जायसी तथा तुलसीदास दोनों ने अपनी-अपनी कृतियों में इस प्रकार का वर्णन बड़े मनोयोग से किया है।

सखी देखावहिं चमकै बाहू। तू जस चांद, सुरुज तोर नाहू॥
छपा न रहै सूर-परगासू। देखि कंवल मन होइ बिगासू॥
ऊ उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार, सो तेहि परछाहीं॥
जस रवि, देखु उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता॥
ओही मांझ भा दूलह सोई। और बरात संग सब कोई॥
सहसौ कला रूप बिधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा॥
मनि माथे, दरसन उजियारा। सौंह निरखि नहिं जाइ निहारा॥
रूपवंत जस दरपन, धनि तू जाकर कंत।
चाहिय जैस मनोहर मिला सो मन भावंत॥ ५॥

शब्दार्थ—बाहू—भुजायें। नाहू—स्वामी या पति। सूर-परगासू—सूर्य का प्रकाश। बिगासू—विकसित होना। उपराहीं—ऊपर चढ़ कर। उजियार—प्रकाश है। तेहि परछांही—उसी की प्रतिच्छाया है। परभाता—प्रभात। ओही मांझ—उसी के मध्य में। सहसौ—सहस्त्रों कलाएं। मनि-माथे—मस्तक में मणियाँ। निरखि—दृष्टि गड़ा कर। जाकर कंत—जिसका स्वामी। मन-भावंत—मन को भाने वाला।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी सखियों के द्वारा रत्नसेन और पद्मावती की जोड़ी की प्रशंसा को चित्रित करते हैं। वे कहते हैं—

पद्मावती को सभी सखियां संकेत से रत्नसेन को दिखाने लगीं तो उनकी बढ़ी हुई बाहें चमक उठीं। वे कहती हैं कि जिस प्रकार तू चन्द्रमा की भांति है, उसी प्रकार तेरा पति सूर्य की भांति है। सूर्य का प्रकाश किससे छिपा रहता है। उसे तो देखते ही सभी का मन और हृदय-कमल प्रफुल्लित हो जाता है। वह संसार में सभी वस्तुओं से अधिक प्रकाशित है और उज्ज्वलता में अपना सानी नहीं रखता है। संसार में जो भी प्रकाश दिखाई देता है वह सभी इसका प्रकाश है। दूसरे शब्दों में इसकी ही प्रतिच्छाया मात्र है। सूर्य को

देख कर जैसे प्रभात की लालिमा पहले ही छा जाती है, उसी प्रकार छत्र लाल रंग का दिखाई देता है।

सखियों ने कहा कि बरात के मध्य में दूल्हा आ रहा है, अन्य सभी बराती उसके आगे-पीछे आ जा रहे हैं। तुम्हारे दूल्हे को संसार का उज्ज्वलतम रूप कहा जा सकता है। सचमुच ही विधाता ने उसे सहस्त्र-सहस्त्र किरणों से बनाया है। वह स्वर्गोपम आनंददायी रथ पर चढ़ा हुआ आ रहा है। उसके मस्तक पर मणि शोभायमान है। उसका मुख इतना अधिक प्रकाशित है कि उसकी ओर दृष्टि मिला कर देखा जाना संभव नहीं है। तात्पर्य है कि रत्नसेन की कांति के सामने कोई भी टिक नहीं सकता है। सभी उससे अभिभूत होकर चकित हो जाते हैं। सखियों ने कहा कि हे पद्मावती! तू जिस पति की पत्नी बनने वाली है वह तो दर्पण के समान स्वच्छ और निर्मल आभा से समन्वित है। तू धन्य है कि तुझे ऐसा मनहरण पति प्राप्त हुआ है। वस्तुतः तुझे जैसा पति मिलना चाहिए था, वैसा ही मन-भावन तुझे मिल गया है। इस प्रकार तेरे सौभाग्य में कहीं कोई कमी नहीं दिखाई देती है। तू परम सौभाग्यशालिनी है। तेरा सौभाग्यशृंगार तेरे ही अनुकूल है।

विशेष—इसकी यह पंक्ति उल्लेखनीय है—

वह उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार सो तेहि परछाहीं॥

इस पंक्ति में रहस्यवादी संकेत है। पूर्ण व्यापकता के साथ कवि ने संकेत दिया है कि रत्नसेन का रूप परम दिव्य है। उसके समान कोई दूसरा नहीं है। संसार का सभी कुछ उसका ही प्रतिबिम्ब है। कारण, समस्त संसार में उसी की दिव्यतम रूपराशि व्याप्त है। अलंकार, पूर्णोपमा और रूपक का निर्वाह किया गया है।

देखा चांद सूर जस साजा। अस्टौ भाव मदन जनु गाजा॥
हुलसे नैन दरस मद माते। हुलसे अधर रंग-रस राते॥
हुलसा बदन ओप रवि पाई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई॥
हुलसे कुच कसनी-बंद टूटे। हुलसी भुजा, बलय कर फूटे॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं आजू॥
आजु चांद-घर आवा सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू॥
आजु कटक जोरा है कामू। आजु बिरह सौं होइ संग्रामू॥
अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहूँ न समाइ।
ठावहिं ठावँ बिमोही गइ मुरछा तनु आइ॥ ६॥

शब्दार्थ—अस्टौ भाव—आठों भावों से-पाठान्तर सहमो भाव-पूर्ण भावाकुलता के साथ। गाजा—गर्जन की। हुलसे नैन—नेत्र प्रसन्न हो गये। मदमाते—मदोन्मत्त। रंग रस राते—रंग और रस में रंगे हुए। हुलसे कुच—स्तन उमग से उल्लासित होने लगे। कसनी बंद—अंगिया के बंद। बलय—चूड़ी। लंक—कटि या कमर। रावन—रमण करने वाला प्रिय। दर साजहिं—दरवाजे सज्जित हुए। सिंगार होइ सब चूरू—आज सूर्य के आगमन से चन्द्रमा का सभी शृंगार चूर्ण-चूर्ण हो जायगा। कटक—दल। कामू—कामदेव।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि पद्मावती रूपी चांद ने रत्नसेन रूपी सूर्य को देखा। उसने देखा कि उसके शरीर में

कामदेव के आठों भाव-रोमांच, कंप और स्वेदादि जाग्रत हो गये हैं। रत्नसेन के सौन्दर्य को देखने के अनन्तर पद्मावती के नेत्र मदमस्त होकर खुमार से भर उठे। प्रसन्नता से सूर्य होठों में प्रेमातिरेक के कारण लालिमा की झलक दिखाई देने लगी। प्रफुल्लित हृदय चोली में न समाता था। कुच उभरे और चोली के बंद टूट गये। व्यंजना यह है कि पद्मावती के हृदय में इतना व्यापक आनद का सागर लहरें लेने लगा कि वक्षस्थल पर सजे स्तन-युगल उल्लासित होकर हिलने लगे। उनका बंधान टूट गया। कञ्चुकी के बंदों का टूटना इस बात का संकेत देता है कि पद्मावती को काम भाव ने आकर दबा लिया। दर्शन मात्र से कामोत्तेजना का सकेत प्रतीक्षारत नायिका के मन और अंग-प्रत्यंगों से ही संभव है। इतना ही नहीं, उस पद्मावती की भुजाओं का रग भी और ही हो गया। वे फूल उठीं और ककण तथा चूड़ियां कामोत्तेजना से परस्पर हिल डुल कर टूटने लगीं। कमर ऐसी हुलसी कि आज तो प्रिय सगागम होगा।

जायसी कहते हैं कि राम-लक्ष्मण के समान रत्नसेन दल सजा कर इस लका की लंक पर आ पहुँचा। आज कामदेव ने अपनी सारी सेना एकत्र करली और अब सग्राम होगा। आज चन्द्रमा के घर सूर्य आवेगा और सभी शृंगार चूर-चूर हो जायगा। भाव यह है कि आज रत्नसेन और पद्मावती का परस्पर मिलन होगा और इसी कारण पद्मावती का सभी शृंगार संभोग क्रिया के दौरान चूर चूर हो जायगा। तात्पर्य जी भर कर काम-क्रीड़ा होगी। पद्मावती के शरीर के अंग-प्रत्यंग उल्लासित होने लगे। कोई भी अंग शरीर की परिधि में नहीं समाता था। संयम छूट रहा था और उसका शरीर आज वश में नहीं था। उसका शरीर अपने प्रत्येक अंग-प्रत्यंग के साथ काम-पीड़ित हो गया था और उसकी स्थिति मूर्च्छित नारी की सी हो गई थी। वह प्रेम वश और काम वश नारी बेसुध सी हो गई थी।

विशेष—१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अष्ट भावों को विकल्प से, नेत्र, अधर, मुख, हृदय, कुच, भुजा, कटि और काम मंदिर में जगा हुआ काम भाव माना है। यह कल्पना संगत जान पड़ती है।

२. 'राम लखन दल' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने सुलक्षिणी स्त्रियों का समूह भी किया है। इस अर्थ से श्लेपजन्य चमत्कार का आनंद प्राप्त होता है।

सखी संभारि पियावहिं पानी। राजकुंवरि काहे कुंभिलानी॥
हम तौ तोहि देखावा पीऊ। तू मुरझानि, कैस भा जीऊ॥
सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू। मो कहं भएउ चांद कर राहू॥
तुम जानहु आवै पिउ साजा। यह सब सिर पर धम धम बाजा॥
जेते बराती औ असवारा। आए सबै चलावनहारा॥
सो आगम हौं देखति झखी। रहन न आपन देखौं, सखी!॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गवनब तहां बहुरि नहिं अवना॥
अब यह मिलन कहां होइ? परा बिछोहा टूटि।
तैसि गांठि पिउ जोरब जनम न होइहि छूटि॥ ७॥

शब्दार्थ—पियावहिं पानी=पानी पिलाती हैं। कुंभिलानी=मुरझा गयी। मुरझानि= उदास हो गई। कैस भा जीऊ=तेरा प्राण कैसा-कैसा उदास

सा हो गया है। झंखी=झीख कर, पछता कर। गवना=विवाहोपरांत गमन। गवनब तहां बहुरि नहि अवना=वहां गमन होगा जहां से दुबारा आगमन नहीं होगा। तैसि गांठ पिउ जोरब=प्रिय ऐसी गांठ जोड़ेगा कि आजन्म न छूटेगी।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती की मूर्च्छा को दूर करने की विधियों और सखियों के व्यवहार-कौशल का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

सखियां पद्मावती की कामातुर स्थिति को संभालने के लिए उसे पानी पिलाने लगीं। कहने लगीं कि हे राजकुमारी! तुम इस प्रकार क्यों मलीन हो गई। हमने तो तुम्हें तुम्हारे प्रियतम के दर्शन कराये थे, किन्तु तुम्हारे जीव या प्राणों को यह यकायक क्या हो गया है? पद्मावती ने कहा कि अरी सखियों, सुनो। सभी कहती हैं कि मेरा विवाह हो रहा है पर यह तो मेरे निमित्त इसी प्रकार है जैसे चन्द्रमा को राहू ग्रहण करले। तुम समझती हो कि मेरा प्रिय सजधज कर आ रहा है, किन्तु तुम यह क्यों नहीं समझ लेती कि ये बारात के छम-छम बाजे सभी मेरे निमित्त हैं। इनसे मेरा मन टूट सा रहा है। ये बाराती और सवार मुझे ले जाने के निमित्त आये हैं।

पद्मावती ने सखियों से कहा कि हे सखियों इन! बारातियों के आगमन पर मैं बहुत दुखी हूँ क्योंकि अब मुझे यह स्पष्ट आभासित होने लगा है कि मेरा यहां रहना संभव नहीं है। ये मुझे यहां से बाजे-गाजे के साथ ले जायेंगे। विवाहोपरांत जब दूसरी बार गमन या द्विरागमन होगा तो फिर तो वहां चले ही जाना होगा। वहां जाने पर फिर लौटना संभव नहीं है। अकस्मात् इस प्रकार का वियोग आ पड़ा है। अब सहेलियों से मिलन कहां और कैसे संभव हो सकेगा? अब तो प्रियतम इतनी कड़ी गांठ बांधेगा कि जन्म भर भी उससे मुक्ति संभव नहीं है। तात्पर्य, एक बार का बंधन जीवनभर का साथ है या बंधन है।

विशेष—इस पद में जायसी ने अत्यन्त गम्भीर रहस्यवादी व्यंजना की है। आत्मा परमात्मा का मिलन होने पर यह संसार छूट जाता है। कबीर ने भी तो कहा है—'हरि मोरे पीव मैं राम की बहुरिया'। जायसी का व्यावहारिक संकेत भी स्पष्ट और युक्ति संगत है। ससुराल जाने का अर्थ है दुबारा पितागृह में शीघ्र ही वापस न आना और वहीं का होकर रह जाना।

आइ बजावति बैठि बराता। पान, फूल सेंदुर सब राता॥
जहं सोने कर चित्तर-सारी। लेइ बरात सब तहां उतारी॥
मांझ सिंघासन पाट सवारा। दूलह आनि तहां बैसारा॥
कनक खंभ लागे चहुँ पांती। मानिक-दिया बरहिं दिन राती॥
भएउ अचल ध्रुव जोगि पखेरू। फूलि बैठ थिर जैस सुमेरू॥
आजु दैउ हौं कीन्ह सभागा। जत दुख कीन्ह नेग सब लागा॥
आजु सूर ससि के घर आवा। ससि सूरहि जनु होइ मेरावा॥
आजु इन्द्र होइ आएउं सजि बरात कबिलास।
आजु मिली मोहि अपछरा, पूजी मन कै आस॥ ८॥

शब्दार्थ—बजावति—बाजे बजाती हुई, सब राता—सभी लाल हो गये या

सभी पान फूल पाकर अनुरक्त हो गये, बैसारा–बिठाया गया। कनक-खंभ–स्वर्ण के खम्भे, चहूं पासी–चारों ओर, मानिक दिया–माणिक्य दीपक, बरहिं–जलते हैं, जोगि पखेरू–पक्षी के समान एक स्थान पर जमकर न रहने वाला योगी, नेग लागा–सफलता प्राप्त की। मेरावा–मिलन।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि वर्णन कर रहा है कि बाजे बजाती हुई बारात आ गई और सभी लोग पान-फूल और सिंदूर के स्वागत से लाल हो गये। दूसरे शब्दों में, स्वागत आदि से सभी का मन अनुरक्त हो गया। सुनहरी चित्रशाला पर बारात इस प्रकार आकर बैठी जैसे फुलवारी ही सजधज कर बैठी हो। सभी के मध्य में सुनहरा सिंहासन था। उसी सिंहासन पर दूल्हे को बिठाया गया। मण्डप में चारों ओर स्वर्ण के खम्भे लगे हुए थे। उन पर रात दिन माणिक्य के दीप झिलमिला रहे थे। वह योगी रूप रत्नसेन जो पहले पक्षी की भांति विचरण करता था अब वही अपने लक्ष्य पर ध्रुव के समान अचल और स्थिर हो गया था। वह सुमेरु पर्वत की भांति स्थिर व हर्षित होकर बैठा था। वह सोचने लगा कि आज परमात्मा ने मुझे सौभाग्यशाली बनाया है। जितना कष्ट मुझे तपस्या के दौरान मिला था वह आज अच्छा लग रहा है। कहा भी तो जाता है कि तपस्या का फल मीठा होता है। जायसी कहते हैं कि आज सूर्य चन्द्रमा के घर आया है। आज चांद और सूर्य का मधुर मिलन होगा। तात्पर्य, पद्मावती और रत्नसेन का मिलन होगा। आज मैं इन्द्र बनकर बरात सजाये हुए सुमेरु या कैलाश शिखर पर आया हूं। मुझे अप्सरा के समान पद्मावती मिलेगी और आज अनेक कष्टों के अनन्तर में अपने मन की आशा पूर्ण कर सकूंगा और प्रसन्नता का अनुभव करूंगा।

विशेष—इस पद में वर्णन बड़ा प्रभावकारी है और कवि कल्पनाएं मन में विश्वास जमा देती हैं। 'चित्तरसारी' शब्द के सम्बन्ध में डा० मनमोहन गौतम द्वारा दिया गया यह संदर्भ भी ध्यान देने योग्य है—

"उसमान रचित चित्रावली से प्रतीत होता है कि राजमहल से लगी हुई वाटिका में एक चित्रशाला या 'चित्तरसारी' होती थी। इसमें अतिथि ठहराये जाया करते थे। एक पंक्ति इस प्रकार आई है—

चित्रावलिकी है चित्तरसारी। काटी मोहि विचित्र संवारी॥"

जायसी के वर्णन से भी इसी प्रकार का आभास मिलता है। स्पष्ट ही, चित्रसारी राजभवन के भीतर की वाटिका में हुआ करती थी। राजा रत्नसेन ने उसी स्थान पर जनवासा प्राप्त किया था।

होइ लाग जेवनार-पसारा। कनक पत्र पसरे पनवारा॥
सोन-थार मनि मानिक जरे। राय रंक के आगे धरे॥
रतन-जड़ाऊ खोरा खोरी। जन जन आगे दस दस जोरी॥
गडुवन हीर पदारथ लागे। देखि बिमोहे पुरुष सभागे॥
जानहुं नखत करहिं उजियारा। छपि गए दीपक औ मसियारा॥
गइ मिलि चांद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसे निरमरा॥
जेहि मानुष कहं जोति न होही। तेहि भइ जोति देखि वह जोती॥
पांति पांति सब बैठे, भांति भांति जेवनार।
कनक पत्र दोनंह तर, कनक पत्र पनवार॥ ६॥

शब्दार्थ-जेवनार पसारा-ज्योनार को परोसा गया, कनक-पत्र-स्वर्ण पत्र, पसरे पनवारा-पत्तलें परोसी गईं, राय रंक गरीब और अमीर, खोरा-खोरी-कटोरा और कटोरी, सौ सौ जोरी-सौ सौ जोड़ी कटोरी कटोरे सामने परोसे गये, (पाठान्तर मिलता है. दस-दस जोरी। शुक्लजी ने इसे ही स्वीकार किया है)। गडुवन-गडुओं में लोटों में, मसियारा-मशाल, उदोत-उदित।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी विवाह के अवसर पर परोसे गये भोजन का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

ज्योनार होने लगा और भोजन परोसे जाने लगा। सभी को स्वर्ण-पत्र पर भोजन परोसा गया। स्वर्ण-पत्रों की ही पतलें थीं। स्वर्ण थालों में मणि और माणिक्य के जड़ाऊ खाद्य-प्रसाधन परोसे गये। इसी प्रकार का भोजन सभी के आगे (गरीबों और राजा को) परोसा गया। रत्नों से जड़े हुए कटोरे-कटोरियां सभी के आगे दस-दस जोड़ियों के रूप में परोसे गये। लोटों में भी हीरे और रत्न जड़े हुए थे या भरे हुए थे। इन सभी को देखकर सभी भाग्यशाली पुरुष विमोहित हो गये। वे ऐसे चमकते थे मानो नक्षत्र प्रकाशित हो रहे हों। सभी मशालों और दीपकों की ज्योति मन्दी पड़ गई। चन्द्र और सूर्य की कलाओं के संयोग से जैसा प्रकाश होता है वैसा ही निर्मल प्रकाश सर्वत्र विकीर्ण हो रहा था। जो व्यक्ति तेजहीन थे या कांति से रहित थे वे सभी इस प्रकार के वातावरण में कांति सयुक्त हो गये। सभी लोग पंक्तिवद्ध होकर बैठ गये। भांति-भांति के भोजन परोसे गये। जायसी उस शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि खाने वाले लोग कनक-पत्र की सुनहली धोती धारण किये हुए बैठे थे और उनके समक्ष स्वर्ण-पात्रों से निर्मित पत्तलें बिछी हुई थीं। अतः दोनों ही शोभा को द्विगुणित कर रही थीं।

विशेष—'जेवनार पसारा' का पाठान्तर 'सुसारा' है जिसका अर्थ है रसोई की सामग्री। लक्ष्मीकान्त ने इसका अर्थ स्वादिष्ट किया है किन्तु यह अनुमानाधारित अर्थ विशेष संगत नहीं जान पड़ता है। इसका अर्थ भोजन सामग्री ही है। स्वयं तुलसीदास ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है—

भरि भरि वसहं अपार कहारा। पठई जनक अनेक सुसारा।
(बालकाण्ड में)

२. इसी प्रकार 'पनवारा' शब्द का प्रयोग भी तुलसी के काव्य में मिलता है।

सादर लगे परन पनवारे। कनक कीलमनि पानसं वारे।

सूरदास ने भी इसका प्रयोग किया है—

ग्वारिन के पनवारे चुनि-चुनि, उदर भरी जे सीथिन।
(सूरसागर से, पद सख्या : ११०८)

पहिले भात परोसे आना। जनहुं सुबास कपूर बसाना ॥
झालर मांड़ि आए पोई। देखत उजर पाग जस धोई ॥
लुचुई और सोहारी धरी। एक तो ताती औ सुठि कांवरी ॥
खंडरा वचका औ डुभकौरी। वरी एकोतर सौ, कोहंडौरी ॥
पुनि संधाने आए बसांधे। दूध दही के मुरंडा बांधे ॥

श्री छप्पन परकार जो आए । नहिं अस देख, न कबहूं खाए ॥
पुनि जाउरि पछियाउरि आई । घिरित खाँड़ कै बनी मिठाई ॥
जेंवत अधिक सुवासित, मुंह महं परत बिलाइ ।
सहस स्वाद सो पावै एक कौर जो खाइ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—पहिले भात—सर्वप्रथम भात परोसा गया । जनहुँ—मानो । सुवासा—सुगंधि । झालर—एक प्रकार का पकवान । मांडे—एक प्रकार की चपाती । पाग—पगड़ी । लुचई—मैदे की बहुत महीन पूरी । सोहारी—पूरी । कोंवरी—मुलायम । खंडरा—फँटे हुए बेसन के भाप पर पके हुए चौखूंटे टुकड़े जो रसे या दही में भिगोये जाते हैं । बचका—बेसन और मैदे को एक में फेंटकर जनेवा के समान टपका घी में छानते हैं, फिर दूध में भिगोकर रख देते हैं । एकोतर सौ—एकोत्तर शत, एक सौ एक । कौंहडोरी—पेठे की बरी । संघाने—अचार । बसांधे—सुगंधित । मुरंडा—भुने गेहूँ और गुड़ के लड्डू, जाउरि—खीर । पछियावरि—एक प्रकार का शरबत ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार जायसी कहते हैं—सर्वप्रथम भांति-भांति के भात लाकर परोसे गये जिनमें से कपूर की सुगंध आ रही थी, ऐसा प्रतीत होता था मानो वे कपूर से सुगंधित किये गये हों । घी से भरे हुए झालर आये जो बड़े मधुर स्वाद से भरपूर थे । साथ ही मांडे (चपाती) भी परोसी गईं । ये सभी पदार्थ इतने निर्मल और उज्ज्वल थे कि दूर से ही चमकते थे तथा इनसे सभी के पाप धुल जाते थे । लुचई, पूरी और सोहारी परसी गईं जो एक तो गरम फिर मुलायम भी थीं । जायसी कहते हैं कि फिर जो बावन तरह के भोज्य पदार्थ आये, वैसे न तो कभी देखे थे और न कभी खाने का सौभाग्य ही प्राप्त हुआ था । खंडरे काट कर चाशनी में पकाये गये और उन्हें एक सौ एक हांडियों में डालकर रख दिया गया, इसके पश्चात् अनेक प्रकार के अचार डाले गये । दूध, दही के बांधे हुए छेने के लड्डू आये । दूध और चावल की गाढ़ी खीर, शक्करपारे आदि की तश्तरी और शर्बत परोसा गया । इनके अतिरिक्त और भी बहुत से व्यंजन परोसे गये जिनका वर्णन संभव नहीं है ।

जायसी कहते हैं कि सारे खाद्य पदार्थ अत्यन्त सुगंधित थे और मुंह में रखते ही पेट में चले जाते थे । एक-एक ग्रास का स्वाद लेने पर या एक ही ग्रास खाने पर सौ-सौ ग्रासों का स्वाद प्राप्त होता था ।

विशेष नोट—अब आगे जो ११, १२, १३ संख्या से पद दिये जा रहे हैं, वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सपादित जायसी ग्रंथावली में ही मिलते हैं । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इन तीनों पदों को प्रक्षिप्त माना है । उन्होंने इसके कई कारण बताये हैं । उनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

"प्रथम पद में कहा गया है कि भोजन के समय बीन नहीं बजा, इसलिए रत्नसेन ने भोजन नहीं किया । दूसरे पद में भोजन न करने का कारण पूछा गया है और रत्नसेन ने नाद के विषय में विचार प्रकट किये हैं । तीसरे पद में रत्नसेन का समाधान किया गया है कि नाद-श्रवण से उन्माद होता है । ठीक वैसे ही जैसे कि मद्य-पान से होता है । यह वार्ता अप्रासंगिक

है। बाजे पहले भी बजे हैं, जब और सब जगहों में नाद का निषेध नहीं और हर जगह उन्माद नहीं उत्पन्न हुआ तो भोजन के समय ही ऐसा क्यों होता? फिर, प्रथम पद में रत्नसेन को मनाने के लिए पंडित-विद्वान् का उल्लेख है। विद्वान् शब्द का ग्रंथ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। फिर, वे पंडित और विद्वान विद्वत्ता की कौन कहे, मूर्खता की बातें करते हैं, क्योंकि दूल्हे को मनाने के लिए कहते हैं कि तुम्हें भूख नहीं है, नहीं तो इतने स्वादिष्ट भोजन की कौन कहे, तुम तो रूखा-सूखा भी खाते, तुम इतनी चतुराई क्या छांट रहे हो।"

जेवन आवा, बीन न बाजा। बिनु बाजन नहिं जेंवै राजा।
सब कुंवरन्ह पुनि खेंचा हाथू। ठाकुर जेंव तो जेंवै साथू॥
विनय करहिं पंडित विद्वाना। काहे नहिं जेवहिं जजमाना?॥
यह कविलास इंद्र कर बासू। जहां न अन्न न माछरि मांसू॥
पान फूल आसी सब कोई। तुम्ह कारन यह कीन्हि रसोई॥
भूख, तो जनु अमृत है सूखा। धूप तो सीअर नींबी रूखा॥
नींद, तो भुइं जनु सेज सपेती। छांटहु का चतुराई एती?॥
कौन काज केहि कारन बिकल भएउ जजमान।
होइ रजायसु सोई बेग देहिं हम आन॥ ११॥

शब्दार्थ—जेंवन आवा—जीमने के लिए आ गये। ठाकुर—स्वामी। काहे नहिं—क्यों नहीं। माछरि मांसू—मच्छर और मांस। भूख तो जनु अमृत है सूखा-यदि भूख है तो रूखा-सूखा भी मानो अमृत है। तुम्ह कारन—तुम्हारे ही कारण तो।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में पूर्व संदर्भानुसार कवि ने बारात के भोजन आदि का वर्णन किया है—

खाना तो परोस दिया गया है, किन्तु वाद्य-वादन नहीं हो रहा था। रत्नसेन बिना बाजे के भोजन करता ही न था। राजा को भोजन के बिना बैठे हुए देखकर दूसरे राजकुमारों ने भी अपना हाथ खींच लिया। तात्पर्य, भोजन करना बंद कर दिया। उन्होंने कहा कि यदि हमारे अधिपति भोजन करें तो हम भी भोजन करेंगे। यदि ये भोजन से उपरत रहें तो हमें भी उससे अलग रहना पड़ेगा। विद्वान् पंडित इस दृश्य को देखकर प्रार्थना करने लगे कि 'यजमान! आप भोजन क्यों नहीं करते हैं? यह कैलाश तो इन्द्र का निवास स्थान है। यहां पर अन्न और मछली का मांस उपलब्ध नहीं है। ये सभी लोग पान-फूल के आधार पर जीवित रहते हैं। यह रसोई या भोजनादि की व्यवस्था तो केवल आपके निमित्त ही की गई है। वस्तुतः यदि भूख होती है तो सभी कुछ या रूखा-सूखा भी अमृतोपम प्रतीत होता है। यह ठीक वैसे ही है जिस प्रकार धूप में नीम का पेड़ शीतल छाया प्रदान करके आनंद लाभ कराता है और नींद में पृथ्वी ही सुन्दर शैय्या प्रतीत होती है।

जायसी कहते हैं कि हे यजमान्! आप किस कारण व्याकुलता का अनुभव कर रहे हो? यह कौनसा चातुर्य है? हमें शीघ्र ही बताओ कि किस वस्तु की शीघ्र ही आपको अपेक्षा है। हम आपकी आज्ञानुसार तुरन्त ही उस अभिलाषित वस्तु को समक्ष प्रस्तुत कर देंगे, पर आप कुछ कहिए तो सही।

नाद हिये, मद उपनै काया । जहँ मद तहां पँड़ नहि छाया ।।
होइ उनमद जूझा-सो करै । जो न बेद आंकुस सिर धरै ।।
जोगी होइ नाद सो सुना । जेहि सुनि काय जरै चौगुना ।।
कया जो परम तत मन लावा । घूम माति, सुनि और न भावा ।।
गए जो धरमपंथ होइ राजा । तिन कर पुनि जो सुनै तो छाजा ।।
जस मद पिए घूम कोइ नाद सुनै पै घूम ।
तेहितें बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम ।। १३ ।।

शब्दार्थ—उतर—उत्तर, सोई—उसका या वही, महि—पृथ्वी, डोलै-घूमती है या हिलती है, पँड—ईश्वर की ओर ले जाने वाला माग, मोक्ष का मार्ग । (बौद्धों का चौथा सत्य मार्ग है । उन्हीं के यहां से वज्रयान योगियों के बीच होता हुआ शायद वह सूफियों तक पहुंचता है।) उन्मद-उन्मत्त, तिन कर पुनि जो सुनै तो छाजा—राजधर्म मे रत जो राजा होगये हैं उनका पुण्य तू सुने तो शोभा भी देता है । चढ़े रहसि कै दूम—मद चढने पर उमग में आने पर झूमने लगता है या मस्ती से मदोन्मत्त होकर झूमने लगता है ।

ससंदर्भ व्याख्या:— (पूर्वसंदर्भानुसार ।) जायसी इन पंक्तियों मे राजा रत्नसेन के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं । वे इसी संदर्भ मे कहते हैं कि हे राजा आप उत्तर सुनो ! यदि वेद न होते तो यह पृथ्वी ही हिल उठती या भूकंप ही आजाता । नाद, वेद, प्रेम का मद और सत्य-ये चारों मार्ग है, जिन्हें अपने शरीर मे ही विचार कर लो । नाद हृदय में और मद शरीर में उत्पन्न होता है । जहां मद होता है, वहां न मार्ग होता है न कोई छाया ही । यदि वेद शिक्षा के रूप में अपना अंकुश उनके शिर पर न रखते तो व्यक्ति उन्मत भाव से ही युद्ध किया करते । योगी होकर व्यक्ति उस नाद को सुनता है । इसके सुनने से ही शरीर चौगुना जलता है । जिस शरीर ने परम तत्व की ओर मन लगाया है, परिणामत: वह मस्ती से सर्वत्र घूमता-फिरता है । जायसी कहते है कि इस प्रकार के व्यक्ति को अन्य कोई नाद प्रीतिकर नही लगते है। हे राजा ! जो व्यक्ति धर्मपंथ का अनुगमन करते हुए इस संसार से निरत हुए हैं, उनकी कीर्ति-गाथा को सुनने से तुम पुण्य—लाभ से जनित शोभा को धारण करोगे । सुरा पान के पश्चात् व्यक्ति जैसे मतवाला होकर झूमने लगता है, उसी प्रकार नाद का मद चढ़ने से, उमगित होकर व्यक्ति झूमने लगता है । तात्पर्य यह है कि नाद की स्वर लहरी में जो उमंगभरी मस्त-फिजां है, उससे कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता है । इस दृष्टि से इसे वर्ज्य ही रखना उचित और प्रीतिकर है ।

भइ जेंवनार, फिरा खड़वानी । फिरा अरगजा कुंहकुंह-पानी ।।
फिरा पान, बहुरा सब कोई । लाग बियाह चार सब होई ।।
मांड़ो सोन क गगन संवारा । बंदनवार लाग सब बारा ।।
साजा पाट छत्र कै छाहां । रतन-चौक पूरा तेहि माहां ।।
कंचन-कलस नीर भरि धरा । इंद्र पास आनी अपछरा ।।
गांठि दुलह दुलहिन कै जोरी । दुओ जगत जो जाइ न छोरी ।।
बेद पढ़ै पंडित तेहि ठाऊं । कन्या तुला राशि लेइ नाऊं ।।
चांद सुरुज दुओ निरमल, दुओ संजोग अनूप ।
सुरुज चांद सों भूला, चांद सुरुज के रूप ।। १४ ।।

शब्दार्थ—खंडवानी—शरबत । अरगजा—सुगंधित द्रव्य या चूर्ण । बहुरा—फिरा । दुओ जगत—दोनों संसार में । जाइन छोरी–छोड़ी नहीं जाती है या जा सकती है । संजोग अनूप—अनुपम सम्मिलन या संयोग ।

सप्रसंग व्याख्या—भोजन समाप्त हुआ । सभी खा-पीकर संतुष्ट हुए और अन्त में सभी सुगंधित द्रव्यों, शर्बतों का वितरण किया गया । जायसी कहते हैं–भोजनोत्तर जेवनार समाप्त होने के साथ ही शर्बत प्रदान किया गया । इसमें अरगजा और कुंकुम आदि के सुगंधित चूर्ण मिले हुए थे । सभी को भोजनोपरांत पान दिये गये । सभी पान इत्यादि खाकर जनवासे की ओर लौटे । इसके पश्चात् विवाह कार्य होने लगे । विवाह मंडप में सुनहली चांदनी तनी हुई थी जिसमें प्रत्येक दरवाजे पर वन्दनवार लगी हुई थीं । स्वर्ण कलश जल से भरकर प्रतिष्ठापित किया गया ।

जायसी कहते हैं कि इन्द्ररूपी रत्नसेन के पास अप्सरा रूपी पद्मावती लाई गई। दूल्हे और दुलहिन का ग्रंथि बंधन किया गया। यह ग्रंथि बंधन ऐसा था कि यह दोनों लोकों में–इस लोक और परलोक में भी छूटता नहीं । दूसरे शब्दों में ग्रंथि बंधन इस बात का प्रतीक होता है कि यह सम्बन्ध जन्मजन्मांतर तक चलता है । पंडितप्रवर उसी स्थान पर वेद-मन्त्रों का पाठ कर रहे थे और उसी बीच पद्मावती और रत्नसेन की जन्म राशि क्रमशः कन्या और तुला का नामोच्चारण करते जाते थे । चांद सी पद्मावती और सूर्यवत् रत्नसेन दोनों ही बड़े निर्मल थे, दोनों का संयोग अप्रतिम था । दोनों का प्रेम परस्पर अत्यन्त प्रगाढ़ था । इसी प्रेम प्रगाढ़ता का परिणाम यह था कि पद्मावती रत्नसेन के रूप में और रत्नसेन पद्मावती के रूप में भूल से गये । व्यंजना है कि परस्पर प्रेम-पाश में आबद्ध हो बेसुध हो गये ।

दुओ नांव लै गावहि बारा । करहि सो पदमिनि मंगल चारा ॥
चांद के हाथ दीन्ह जयमाला । चांद आनि सूरज गिउ घाला ॥
सूरज लीन्ह, चांद पहिराई । हार नखत–तरइन्ह स्यों पाई ॥
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा । जोबन जनम कंत कहं दीन्हा ॥
कंत लीन्ह, दीन्हा धनि हाथा । जोरी गांठि दुओ एक साथा ॥
चांद सुरुज सत भांवरि लेहीं । नखत मोति नेवछावरि देहीं ॥
फिरहि दुओ सत फेर, घुटै कै । सातहु फेर गांठि सो एकै ॥
भइ भांवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह ।
दायज कहौं कहां लगि ? लिखि न जाइ जत दीन्ह ॥१५॥

शब्दार्थ—दुवो नांव—दोनों नाम पदमावती और रत्नसेन का। बारा—बालिकाएं । मंगलचारा—विवाहोत्सव के गीत और आचार आदि । हार नखत तरइन्ह स्यो पाई—हार क्या पाया मानो चन्द्रमा के साथ तारों को भी प्राप्त कर लिया । स्यों—साथ । दायज—दान दहेज ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार ही जायसी द्वारा इन पंक्तियों में विवाह के उपलक्ष्य का वर्णन किया गया है । वे कहते हैं–पंडित लोग दोनों पद्मावती और रत्नसेन का नामोच्चारण करते हुए मंत्रोच्चार करने लगे । घर में पद्मिनी जाति की स्त्रियां मंगलाचार और विवाह के अवसरानुकूल मंत्रोच्चार करने में लगी हुई थीं । चन्द्र-तुल्य पद्मावती के हाथ में जयमाला

नाद हिये, मद उपनै काया । जहं मद तहां पंड़ नहिं छाया ॥
होइ उनमद जूझा सो करै । जो न बेद आंकुस सिर धरै ॥
जोगी होइ नाद सो सुना । जेहि सुनि काय जरै चौगुना ॥
कया जो परम तत मन लावा । घूम माति, सुनि और न भावा ॥
गए जो धरमपंथ होइ राजा । तिन कर पुनि जो सुनै तौ छाजा ॥
जस मद पिए घूम कोइ नाद सुने पै घूम ।
तेहितें बरजे नीक है, चढ़ै रहसि कै दूम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—उतर—उत्तर, सोई—उसका या वही, महि—पृथ्वी, डोलै—घूमती है या हिलती है, पंड—ईश्वर की ओर ले जाने वाला मार्ग, मोक्ष का मार्ग। (बौद्धों का चौथा सत्य मार्ग है। उन्हीं के यहां से वज्रयान योगियों के बीच होता हुआ शायद वह सूफियों तक पहुंचता है।) उन्मद—उन्मत्त, तिन कर पुनि जो सुनै तौ छाजा—राजधर्म में रत जो राजा होगये हैं उनका पुण्य तू सुने तो शोभा भी देता है। चढ़ै रहसि कै दूम—मद चढने पर उमग में आने पर झूमने लगता है या मस्ती से मदोन्मत्त होकर झूमने लगता है।

ससंदर्भ व्याख्या:—(पूर्वसदर्भानुसार।) जायसी इन पंक्तियों में राजा रत्नसेन के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। वे इसी संदर्भ में कहते हैं कि हे राजा आप उत्तर सुनो! यदि वेद न होते तो यह पृथ्वी ही हिल उठती या भूकप ही आजाता। नाद, वेद, प्रेम का मद और सत्य—ये चारों मार्ग हैं, जिन्हें अपने शरीर में ही विचार कर लो। नाद हृदय में और मद शरीर में उत्पन्न होता है। जहां मद होता है, वहां न मार्ग होता है न कोई छाया ही। यदि वेद शिक्षा के रूप में अपना अंकुश उनके शिर पर न रखते तो व्यक्ति उन्मत भाव से ही युद्ध किया करते। योगी होकर व्यक्ति उस नाद को सुनता है। इसके सुनने से ही शरीर चौगुना जलता है। जिस शरीर ने परम तत्व की ओर मन लगाया है, परिणामतः वह मस्ती से सर्वत्र घूमता-फिरता है। जायसी कहते हैं कि इस प्रकार के व्यक्ति को अन्य कोई नाद प्रीतिकर नहीं लगते है। हे राजा! जो व्यक्ति धर्मपंथ का अनुगमन करते हुए इस ससार से निरत हुए हैं, उनकी कीर्ति-गाथा को सुनने से तुम पुण्य—लाभ से जनित शोभा को धारण करोगे। सुरा पान के पश्चात् व्यक्ति जैसे मतवाला होकर झूमने लगता है, उसी प्रकार नाद का मद चढ़ने से, उमगित होकर व्यक्ति झूमने लगता है। तात्पर्य यह है कि नाद की स्वर लहरी में जो उमंगभरी मस्त-फिजां है, उससे कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता है। इस दृष्टि से इसे वर्ज्य ही रखना उचित और प्रीतिकर है।

भइ जेंवनार, फिरा खड़वानी। फिरा अरगजा कुंहकुंह-पानी ॥
फिरा पान, बहुरा सब कोई। लाग बिहाय चार सब होई ॥
मांड़ौ सोन क गगन संवारा। बंदनवार लाग सब बारा ॥
साजा पाट छत्र कै छाहां। रतन-चौक पूरा तेहि माहां ॥
कचन-कलस नीर भरि धरा। इंद्र पास आनी अपछरा ॥
गांठि दुलह दुलहिन कै जोरी। दुऔ जगत जो जाइ न छोरी ॥
बेद पढ़ै पंडित तेहि ठाऊं। कन्या तुला राशि लेइ नाऊं ॥
चांद सुरुज दुऔ निरमल, दुऔ संजोग अनूप।
सुरुज चांद सों भूला, चांद सुरुज के रूप ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—खंडवानी—शरबत । अरगजा—सुगंधित द्रव्य या चूर्ण । बहुरा—फिरा । दुम्रो जगत—दोनों संसार में । जाइन छोरी—छोड़ी नहीं जाती है या जा सकती है । संजोग अनूप—अनुपम सम्मिलन या संयोग ।

सप्रसंग व्याख्या—भोजन समाप्त हुआ । सभी खा-पीकर संतुष्ट हुए और अन्त में सभी सुगंधित द्रव्यों, शर्बतों का वितरण किया गया । जायसी कहते हैं-भोजनोत्तर जेंवनार समाप्त होने के साथ ही शर्बत प्रदान किया गया । इसमें अरगजा और कुंकुम आदि के सुगंधित चूर्ण मिले हुए थे । सभी को भोजनोपरांत पान दिये गये । सभी पान इत्यादि खाकर जनवासे की ओर लौटे । इसके पश्चात् विवाह कार्य होने लगे । विवाह मंडप में सुनहली चांदनी तनी हुई थी जिसमें प्रत्येक दरवाजे पर वन्दनवार लगी हुई थी । स्वर्ण कलश जल से भरकर प्रतिष्ठापित किया गया ।

जायसी कहते हैं कि इन्द्ररूपी रत्नसेन के पास अप्सरा रूपी पद्मावती लाई गई। दूल्हे और दुलहिन का ग्रंथि बंधन किया गया। यह ग्रंथि बंधन ऐसा था कि यह दोनों लोकों में-इस लोक और परलोक में भी छूटता नहीं । दूसरे शब्दों में ग्रंथि बंधन इस बात का प्रतीक होता है कि यह सम्बन्ध जन्मजन्मांतर तक चलता है । पंडितप्रवर उसी स्थान पर वेद-मंत्रों का पाठ कर रहे थे और उसी बीच पद्मावती और रत्नसेन की जन्म राशि क्रमशः कन्या और तुला का नामोच्चारण करते जाते थे । चांद सी पद्मावती और सूर्यवत् रत्नसेन दोनों ही बड़े निर्मल थे, दोनों का संयोग अप्रतिम था । दोनों का प्रेम परस्पर अत्यन्त प्रगाढ़ था । इसी प्रेम प्रगाढ़ता का परिणाम यह था कि पद्मावती रत्नसेन के रूप में और रत्नसेन पद्मावती के रूप में भूल से गये । व्यंजना है कि परस्पर प्रेम-पाश में आबद्ध हो बेसुध हो गये ।

दुम्रो नांव लै गावहिं बारा । करहिं सो पदमिनि मंगल चारा ।।
चांद के हाथ दीन्ह जयमाला । चांद आनि सूरुज गिउ घाला ।।
सूरुज लीन्ह, चांद पहिराई । हार नखत-तरइन्ह स्यों पाई ।।
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा । जोबन जनम कंत कहं दीन्हा ।।
कंत लीन्ह, दीन्हा धनि हाथा । जोरी गांठि दुम्रो एक साथा ।।
चांद सुरुज सत भांवरि लेहीं । नखत मोति नेवछावरि देहीं ।।
फिरहिं दुम्रौ सत फेर, घुटै कै । सातहु फेर गांठि सो एकै ।।
भइ भांवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह ।
दायज कहौं कहां लगि ? लिखि न जाइ जत दीन्ह ।।१५।।

शब्दार्थ—दुवौ नांव—दोनों नाम पदमावती और रत्नसेन का। बारा—बालिकाएं । मंगलचारा—विवाहोत्सव के गीत और आचार आदि । हार नखत तरइन्ह स्यों पाई—हार क्या पाया मानो चन्द्रमा के साथ तारों को भी प्राप्त कर लिया । स्यों—साथ । दायज—दान दहेज ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार ही जायसी द्वारा इन पंक्तियों में विवाह के उपलक्ष्य का वर्णन किया गया है । वे कहते हैं—पंडित लोग दोनों पद्मावती और रत्नसेन का नामोच्चारण करते हुए मंत्रोच्चार करने लगे । घर में पद्मिनी जाति की स्त्रियां मंगलाचार और विवाह के अवसरानुकूल

थी और चांद-रूपिणी पद्मावती ने उस जयमाला को सूर्य-रूपी रत्नसेन के गले में डाल दी। सूर्यरूपी रत्नसेन ने चन्द्ररूपिणी पद्मावती की माला को धारण किया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे हार क्या पाया मानो चन्द्रमा के साथ तारों को भी प्राप्त किया। तदनंतर उस धन्या पद्मावती ने अंजलि में जल भर लिया और अपना यौवन और जीवन अपने पति को समर्पित कर दिया पति रत्नसेन ने अपनी वधू पद्मावती का हाथ ग्रहण किया और अपना हाथ उसे ग्रहण कराया, फिर दोनों ने एक ही साथ हाथ पकड़े। ग्रंथिबंधन हुआ। चांद और सूरज अर्थात् पद्मावती और रत्नसेन ने विवाह के समय की भांवरे लीं। नक्षत्र रूपी सखियां न्यौछावर में मोती प्रदान करने लगीं। दोनों ने नियमानुसार सात भांवरे ग्रहण की या वे सात भांवरे फिरी गईं। सात भांवरों का अर्थ कोई साधारण सम्बन्ध नहीं था-वरन् आन, मर्यादा और जीवन भर का अटल, अचल सम्बन्ध भी था। जायसी कहते हैं कि भांवरें होते ही ब्राह्मण और याचकों को दक्षिणा देने के बाद राजकुल की अन्य नियम विधियां भी पूरी की गईं। जायसी कहते हैं कि उस दान का कहां तक वर्णन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि दान का इतना अधिक रूप था कि उसे वर्णन करना सम्भव नहीं है।

रतनसेन जब दायज पाना। गध्रबसेन आइ सिर नावा॥
मानुस चित्त आनु किछु कोई। करै गोसाइं सोइ पै होई॥
अब तुम्ह सिंघलदीप गोसाईं। हम सेवक अहहीं सेवकाई॥
जस तुम्हार चितउरगढ़ देसू। तस तुम्ह इहां हमार नरेसू॥
जंबूदीप दूरि का काजू?। सिंघलदीप करहु अब राजू॥
रतनसेन बिनवा कर जोरी। अस्तुति-जोग जीभ कहं मोरी॥
तुम्ह गोसाइं जेइ छार छुड़ाई। कै मानुस अब दीन्हि बड़ाई॥
जो तुम्ह दीन्ह तौ पावा जिवन जनम सुखभोग।
नातरु खेह पायकै, हौं जोगी केहि जोग॥ १६॥

शब्दार्थ—दाइज—दान दहेज। सिर नावा—सिर झुकाना। आनु किछु होई—कुछ अन्य ही सोचता रहता है। करै गुसाईं सोइ पै होई—जो विधाता चाहता है, वही घटित होता है। नातर—नहीं तो। खेह पॉय कै—पैर की धूल।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में गंधर्वसेन की विनयशीलता और राजा रत्नसेन के प्रति की गई शिष्टतापूर्ण विनती का वर्णन किया गया है। कवि कहता है—जब रत्नसेन ने सभी दहेज प्राप्त कर लिया तो राजा गंधर्वसेन आकर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगा। उसने कहा-मनुष्य नित्य प्रति कुछ न कुछ चिन्ता किया करता है, किन्तु उसका चिन्तालीन होना व्यर्थ है क्योंकि ईश्वर जो चाहता है, वही करता है। मनुष्य के करने-धरने से कुछ भी नहीं होता है। मनुष्य जिसे कभी अपने मन में सोचता भी नहीं है, वही घटित हो जाता है। आप अब सिंहलद्वीप के राजा हैं। हम तो आपके सेवक हैं। सेवक के कार्यानुसार हम आपकी सेवा करेंगे। जिस प्रकार चित्तौड़गढ़ आपका देश है उसी भांति यह भी आपका ही राज्य है। आप आज से यहां के भी राजा हो गये हो। अतः हे राजा! अब उस दूरवर्ती देश गमन का क्या प्रयोजन है।

अब तो तुम यहीं पर राज्य भोग करो। इस प्रकार के गंधर्वसेन के वचन सुनकर रत्नसेन ने करबद्ध प्रार्थना करते हुए कहा–हे राजन्! आपकी संस्तुति करने के लिए मेरे पास जिह्वा नहीं है। हे स्वामी! तुम्हीं ने तो मुझे जोगी से गृहस्थ या राजा बनाया है और मानवोचित गौरव से सम्मानित किया है। यह सब आपका ही प्रताप है जिससे आज मैं इस रूप में यहां विद्यमान हूं। अतः आपके कारण ही हमने यह सुख पाया है वरना हम तो पैर की धूल के ही समान थे। तात्पर्य, हम जो पैर की धूल के समान थे, उसे आपने गौरवान्वित करके सिर से लगाया है या महत्व प्रदान किया है, अन्यथा हमारा तो जीवन किस लायक था अर्थात् हमारी तो हस्ती ही क्या थी कि इस गौरव को भोगते।

धौराहर पर दीन्हा बासू। सात खंड जहवां कबिलासू॥
सखी सहसदस सेवा पाई। जनहुँ चांद संग नखत तराई॥
होइ मंडल ससि के चहुं पासा। ससि सूरहि लेइ चढ़ी अकासा॥
चलु सूरुज दिन अथवै जहां। ससि निरमल तू पावसि तहां॥
गंध्रवसेन धौरहर कीन्हा। दीन्ह न राजहि, जोगिहि दीन्हा॥
मिलीं जाइ ससि के चहुं पाहां। सूर न चापै पावै छाहां॥
अब जोगी गुरु पावा सोई। उतरा जोग, भसम गा धोई॥

सात खंड धौराहर, सात रंग नग लाग।
देखत गा कबिलासहि, दिस्टि-पाप सब भाग॥ १७॥

शब्दार्थ—धौराहर–धवलगृह या उच्च प्रासाद। बसू–निवास स्थान। जहंवा–जहां पर। सहस दस–दस सहस्र। चहुं पासा–चारों ओर। अथवैं–अस्त होना या उदय होना। चांपै पावे–दबाने पाता है। दिस्टि पाप–दृष्टि का पाप।

ससंदर्भ व्याख्या—[पूर्व संदर्भ के अनुसार।] जायसी इन पंक्तियों में रत्नसेन के निवास स्थान का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि राजा रत्नसेन को धवलगृह पर निवास स्थान दिया गया। वह स्थान इतना ऊंचा था मानो सातों खण्डों का साक्षात् कैलाश हो। दस सहस्र सखियां परिचारिका के रूप में रत्नसेन को प्रदान की गई। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो चन्द्रमा के साथ तारिका सखियां आ गई हो। चन्द्ररूपिणी पद्मावती के इर्द गिर्द उन्होंने घेरा डाल रखा था। जब चन्द्र को साथ लेकर सूर्य रत्नसेन उस आकाशगामी महल में आया तो सेविकाएं तारिकाओं के रूप में पद्मावती के इधर-उधर एकत्र हो रहीं जिससे सूर्य रूपी रत्नसेन दिन में ही चन्द्रमा की कांति को फीकी न करदे। व्यंजना है कि रत्नसेन उसे संभोग व्यापार के दौरान म्लानमुख न बनादे।

जायसी कहते हैं कि सखियों ने कहा, हे रत्नसेन! चलो जहां दिन अस्त हो जायगा वहीं निर्मल शशि को तू प्राप्त हो सकेगा। (पद्मावती सखियों के बीच होने से चन्द्र है और सखियां तारिकाए हैं। सूर्य यदि दिन में चन्द्रमा से मिलेगा तो चन्द्रमा कांतिहीन हो जायगा।) पद्मावती जब रत्नसेन को धौराहर या धवलगृह पर ले गई तो सखियों ने उसे घेर लिया और दिन में रत्नसेन से उसे मिलने न दिया। कवि वर्णन करता है कि राजा ने धवलगृह

बनवाया और उसे राजा को न देकर योगी को दे दिया। अब जोगी ने उस गुरु को प्राप्त किया है ताकि उसका योगाभ्यास समापन की ओर अग्रसर हो। इस प्रकार योगी के शरीर की राख भी घुल गई है। सात खण्ड के धवलगृह मे सात रंगों वाले रत्न हिलमिल कर जगमगा रहे थे। उस कैलाशवत् धवलगृह को देखकर समस्त वह दृष्टि नष्ट हो गई या धुंधली पड़ गई जो पापों में अवलिप्त थी।

विशेष—इस पद में आध्यात्मिक व्यंजना भी स्पष्ट है। जहां कहीं अवसर मिला है वहां जायसी ने सिंहलगढ़ के वर्णन में गूढार्थ प्रस्तुत करके योगपरक अर्थ की ओर भी संकेत किया है। "सूर्य मूलाधार चक्र में स्थिर होता है. चन्द्र त्रिकुटी पर स्थित आज्ञाचक्र में होता है। तारे निर्मल अन्तःकरण रूपी आकाश की क्षुद्र वृत्तियाँ हैं। शशि और सूर्य के आकाश में मिलन से तात्पर्य सहस्त्रार स्थित चन्द्र और मूलाधार स्थित सूर्य का मिलन है। मूलाधार के सूर्य का विष सूख जाता है और चन्द्र का अमृत ही व्याप्त हो जाता है। दिन के अन्त में सूर्य का तेज जाता रहता है और चन्द्र निर्मल दृष्टिगत होता है। योग के लिए अन्तःकरण की विशुद्धता अनिवार्य है, इसीलिए तारे (विशुद्ध वृत्तियां) तो चन्द्र को घेरे रहती हैं कि सूर्य का विष उसे घेर न सके। धवल-गृह के सात खण्ड और सात रंग, सात चक्र के द्योतक हैं-और प्रत्येक चक्र का रंग रत्न के रंग से ध्वनित है।"

सात खंड सातौ कविलासा। का बरनौं जग ऊपर बासा ॥
हीरा ईंट कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा ॥
चूना कीन्ह औटि गजमोती। मोतिहु चाहि अधिक तेहि जोती ॥
बिसुकरमै सो हाथ सँवारा। सात खंड सातहिं चौपारा ॥
अति निरमल नहिं जाइ बिसेखा। जस दरपन महं दरसन देखा ॥
भुइं गच जानहुं समुद हिलोरा। कनकखंभ जनु रचा हिंडोरा ॥
रतन पदारथ होइ उजियारा। भूले दीपक औ मसियारा ॥

तहं अछरी पदमावति रतनसेन के पास।
सातौ सरग हाथ जनु औ सातौ कविलास ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—का बरनौं-क्या वर्णन करूं। गिलावा-गारा। चाहि—अपेक्षा। बिसुकरमै-विश्वकर्मा। सातहिं चौपारा-सात ही चौपाल हैं। गच—फर्श। मसियारा-मशाल। अछरी-अप्सरा।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वसंदर्भानुसार प्रसंग में जायसी वर्णन कर रहे हैं-धवलगृह के वे सातों खण्ड सात स्वर्ग जैसे हैं। इस प्रकार के उत्तम निवास स्थान का मैं क्या वर्णन करूं? उस धवलगृह पर हीरे की ईंट, कपूर का गिलावा या गारा और उसके ऊपर मलयगिरि चंदन का अवलेप किया गया था। स्वयं विश्वकर्मा ने उस सात खंड वाले धवलगृह का अलंकृत निर्माण अपने हाथों से किया था। सातों खण्ड और सात चौपालें इसी प्रकार की थीं। गजमुक्ताओं को गलाकर चूना तैयार किया गया था, और उस चूने में मोती से भी अधिक सफेदी थी। वह ऐसा स्वच्छ और निर्मल भवन था कि उसकी सुन्दरता का अनुमान करना भी कठिन था। दर्पण में जैसे स्वरूप या आकृति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है वैसे ही उसकी दीवारों में आकृति का

प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था । तात्पर्य यह है कि उसका फर्श और उसकी दीवारें इतनी निर्मल और कांतिमान थीं कि उनमें सभी कुछ साफ-साफ दिखाई देता था ।

जायसी कहते है कि पृथ्वी पर फर्श ऐसा दिखाई पड़ता था मानो समुद्र की लहरें हों । रत्न और मणियों का ऐसा प्रकाश विकीर्ण होता था कि दीपक और मशाल अर्थहीन और ज्योतिहीन प्रतीत होती थीं । इस प्रकार के स्थान पर रत्नसेन के पास पद्मावती थी । उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सातों स्वर्ग और सातों कैलाश रत्नसेन के हाथों ने पालिये हों ।

विशेष--वर्णन रसात्मक और पूर्णतः काव्यात्मक है । वर्णन प्रतिभा प्रशंसनीय है । आलंकारिकता से यह और भी प्रभावकारी बन गया है ।

पुनि तहं रतनसेन पगु धारा । जहां नौ रतन सेज संवारा ।।
पुतरी गढ़ि गढ़ि खभन काढ़ी । जनु सजीव सेवा सब ठाढ़ी ।।
काहू हाथ चंदन कै खोरी । कोइ सेंदुर, कोइ गहे सिंघोरी ।।
कोइ कुहंकुहं केसर लिहे रहै । लावै अंग रहसि जनु चहै ।।
कोई लिहे कुमकुमा चोवा । धनि कब चहै, ठाढ़ि मुख जोवा ।।
कोइ बीरा, कोइ लीन्हे बीरी । कोइ परिमल अति सुगंध समीरी ।।
काहू हाथ कस्तुरी मेदू । कोइ किछु लिहे, लागु तस भेदू ।।
पांतिहि पांति चहूं दिसि सब सोंधे कै हाट ।
मांझ रचा इंद्रासन, पदमावति कहं पाट ।। १६ ।।

शब्दार्थ--पगु धारा-कदम रखे । सेज संवारा-शय्या सजाई हुई थी । पुतरी पुतली । गढ़ि-गढ़ि-रच-रच करके । सजीव-जीव सहित या साक्षात् । खोरी-कटोरी या तिलक की सामग्री । सिंधोरी-काठ की सुन्दर डिबिया जिसमें स्त्रियां ईंगुर या सिंदूर रखती हैं । बीरी-दांत रंगने का मंजन । परिमल-पुष्पगंध या इत्र । सुगंध समीरी-सुगंधित वायु वाला । सोंधे-गंधद्रव्य ।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में रत्नसेन के शयनागार में प्रविष्ट होने का वर्णन किया गया है । वे कहते हैं—तदनतर रत्नसेन ने शयनागार में प्रवेश किया । वह शयनागार नवरत्नों की शय्या से शोभायमान था । पलंग के खंभों पर उभार-उभारकर पुतलियां चित्रित की गई थीं । वे सभी ऐसी लगती थीं मानो सजीव स्तंभ प्रतिमाएं सेवा में खड़ी हुई हों । किसी के हाथ में चन्दन की कटोरी थी, किसी के हाथ में सिंदूर को सुरक्षा पूर्वक रखने की रंगीन काष्ठ निर्मित डिबिया थी । कोई केसर और कुंकुम लिए हुए थी—शायद इसलिए कि वह उसे प्रसन्न होकर अंग पर लगाना चाहती थी । कुछ ऐसी सखियां भी थीं जो कुंकुम और चोवा लिए हुये थीं और इस आशा से खड़ी थीं कि और कुछ नहीं तो कैसे ही दर्शन लाभ ही हो जाय ।

जायसी वर्णन करते हैं कि कुछ सखियां पान का बीड़ा और कुछ दांत रंगने की बीरी लिए खड़ी थी । कुछ के पास अत्यन्त सुगंधित समीरी इत्र था । किसी के हाथों में मुश्क और कस्तूरी थी । इस प्रकार वे अनेक भांति की बनी हुई थीं । चतुर्दिक पंक्ति-पंक्ति में जैसे सुगंधियों का बाजार लगा हो, उसके बीच पद्मावती का इन्द्रासन सदृश सिंहासन था ।

विशेष—यह निर्विवाद सत्य है कि जायसी की रुचि वर्णनों में विशेष रमी है। यही कारण है कि जहां कहीं भी वर्णन अपेक्षित है वहां भी, और जहां नहीं है, वहां भी, वर्णनों की भरमार करना जायसी का सबसे बड़ा कमाल है। वे छोटे से तत्व को वर्णनों के रंग में रंगकर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि मूल तत्व तो तिरोहित हो जाता है और वर्णनों की कलाबाजी ऊपर ही ऊपर तैरती और चमकती दिखाई देती है। इस पद में भी वर्णन का अनपेक्षित और अवांछित रंग है जो प्रभावोत्पादन न करके गणनात्मक वस्तु व्यापार की योजना भर करता है।

पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड

सात खंड ऊपर कबिलासू। तहँवां नारि-सेज सुख बासू॥
चारि खंभ चारिहु दिसि खरे। हीरा - रतन - पदारथ - जरे॥
मानिक दिया जरावा मोती। होइ उजियार रहा तेहि जोती॥
ऊपर राता चदवा छावा। औ भुइं सुरग बिछाव बिछावा॥
तेहि महं पालक सेज सो डासी। कीन्ह बिछावन फूलन्ह बासी॥
चहुं दिसि गेंडुवा औ गलसूई। कांची पाट भरी धुनि रूई॥
बिधि सो सेज रची केहि जोगू। को तहं पोढ़ि मान रस भोगू?॥
अति सुकुवारि सेज सो डासी, छुवै न पारै कोइ।
देखत नवै खिनहि खिन, पावं धरत कसि होइ॥ १॥

शब्दार्थ—तहवां—वहां पर। सुख—बासू—सुख का वास या रति-क्रीड़ा का सुखप्रद स्थल। पालक—पलग। डासी—बिछाई। बासी—सुगंधित। गेंडुआ—गेंडुआ या तकिया (उपधान)। गलसूई—गाल के नीचे रखने का छोटा तकिया। कांची—गोटा-पट्टा। पोढ़ि—लेटकर। सुकुवारि—कोमल।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी रत्नसेन और पद्मावती के मिलन-स्थल, शैय्या और सुख साधनों का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

धवलगृह सात खण्डों के ऊपर कैलाशवत् स्थित था। उसी के शयनागर में सुखप्रद शय्या थी जहां मिलन का प्रबंध था। पलंग के चारों खभे चारों ओर थे। इनमें हीरे, जवाहरात, रत्न और मणियां जड़ी हुई थीं। माणिक्य और मोती के दीपक जल रहे थे, जिनकी ज्योति से प्रकाशद्युति विकीर्ण हो रही थी। लाल रग का चंदोवा ऊपर शोभायमान था और नीचे पृथ्वी पर लाल रंग का बिस्तरा बिछाया गया था। इसके ऊपर पलंग शोभित था तथा उस पलग के ऊपर सेज बिछी हुई थी जिस पर सुगंधित पुष्पों का कोमलतम बिछौना था। बिछावन के चारों ओर तकिये और आरामदेह छोटे-छोटे तकिये जो गालों के नीचे लगाये जाते हैं, रखे हुए थे। इनमें कच्चे रेशम की धुनी हुई रूई भरी हुई थी। न मालूम विधाता ने यह सेज किसलिए रची थी। कौन ऐसा भाग्यशाली था जो इस पर सुखपूर्वक विश्राम करेगा? ऐसा कौन है जो इस पर आराम से लेटकर रस भोग का आनंद लेकर जीवन

सफल करता ? व्यंजना है कि रत्नसेन जैसा सौभाग्यशाली होना असंभव था जो उस शय्या पर लेटकर परिरंभण का आनंदानुभव करता।

जायसी कहते हैं कि वह सेज अति सुकोमल और सुगंधित द्रव्यों से सजाई गई थी। यह सेज ऐसी थी कि कोई भी इसे छू नहीं पाता था। कवि कहता है कि वह सेज इतनी कोमल थी जो दृष्टि के बोझ से ही प्रति पल पर झुक-झुक या लचक-लचक पड़ती थी। यह सेज उस व्यक्ति के बोझ को कैसे समालेगी जो कि इस पर आकर विश्राम करेगा और सुख रस लूटेगा।

विशेष—१. वर्णन रसात्मक है। साथ ही कल्पना की अतिरंजना इसमें द्रष्टव्य है।

२. अतिशयोक्ति और उपमा अलकार का सौन्दर्य देखते ही बनता है।

राजै तपत सेज जो पाई। गांठि छोरि धनि सखिन्ह छपाई॥
कहैं कुंवर! हमरे अस चारू। आज कुंवरि कर करब सिंगारू॥
हरदि उतारि चढ़ाउब रंगू। तब निसि चांद सुरुज सौं संगू॥
जस चातक-मुख बूंद सेवाती। राजा-चख जोहत तेहि भांती॥
जोगि छरा जनु अछरी साथा। जोग हाथ कर भएउ बेहाथा॥
वै चातुरि कर लै अपसईं। मंत्र अमोल छीनि लेइ ‹ईं॥
बैठ खोइ जरी औ बूटी। लाभ न पाव, मूर भइ टूटी॥
खाइ रहा ठग-लाडू, तंत मंत बुधि खोइ।
भा धौराहर बनखंड, ना हंसि आव, न रोइ॥ २॥

शब्दार्थ—छपाई—छिपादी। चारू—चाल या चलन या रिवाज। करब—करेंगी। सेवाती—स्वाति बूंद। छरा—ठगा गया। बेहाथा—विना हाथ के या हाथ से अलग। चातुरि—चातुरी। अपसईं—चली गईं। अमोल—अनमोल। ठग—लाडू—विष या नशा मिला हुआ लड्डू जिसे पथिकों को खिलाकर ठग लोग बेहोश कर लेते हैं।

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में पद्मावती और रत्नसेन के मिलन क्षणों में सखियों का परिहासपूर्ण मजाक चित्रित किया गया है। वे पद्मावती को छिपा देती है। जायसी कहते हैं—राजा रत्नसेन ने अपार तपस्या के अनतर यह सुखप्रदायिनी शय्या प्राप्त की थी, किन्तु सखियों ने परिहास में ही दोनों की गांठें छुड़ाकर पद्मावती को छिपा दिया। उन्होंने पद्मावती को छिपाकर कहा कि हे राजकुमार! हमारे यहां एक रिवाज है जिसके अनुसार हम राजकुमारी का शृंगार करेंगी। शरीर से कुमारित्व की हल्दी उतारेंगी और उसके स्थान पर जवानी का मदभरा रंग भरेंगी। तब कहीं रात्रि को राजा और रानी का मिलन संभव हो सकेगा।

जायसी कहते हैं कि सखियों के मुख से यह बात सुनकर राजा रत्नसेन की ऐसी अवस्था हो गई जैसे चातक के मुंह में स्वाति बूंद आते-आते रह जाए। व्याकुल अवस्था में वह चारों ओर देखने लगा। उसके हृदय को बड़ी पीड़ा पहुँची। ऐसा प्रतीत हुआ मानो योगी, अप्सराओं के द्वारा ठगा गया या छला गया हो। दूसरे शब्दों में संयोग मिलते-मिलते जैसे रह गया कवि कहता है कि सखियां पद्मावती को लेकर बहुत दूर चली गई औ

इस प्रकार वे बहुमूल्य रत्न और मूल्यवान मत्र लेकर चली गईं। राजा को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पद्मावती रूपी औषधि को ही लेकर कोई चला गया। उस पद्मावती का मिलन विरही हृदय की सर्वोत्तम औषधि थी। इससे रत्नसेन को ऐसा प्रतीत हुआ मानो पद्मावती मिलन का लाभ तो हुआ ही नहीं बल्कि गांठ का मूलधन खोया तो खोया—व्यथा और द्विगुणित हो गई। यह तो ऐसा हुआ जैसे ठगों के नशीले लड्डू खाकर कोई पथिक बेहोश हो जाय और ठग उसका सभी कुछ लूट लें। रत्नसेन प्रेम की मदिरा से इतना छक गया कि उसे होश ही नहीं रहा। वह अपनी बुद्धि और चेतन शक्ति खो बैठा। धवलग्रह उसके निमित्त निर्जन वन गया। वह न तो रो ही पाता था और न बेचारा व्यथा का मारा हस ही पाता था। स्थिति विचित्र थी।

विशेष—विवाहोत्तर मिलन प्रसंग की पृष्ठभूमि के रूप में यह पद बड़ा व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक है। प्रथम मिलन के निमित्त निर्दिष्ट और आयोजित सभी तथ्य अनुभव पर आधारित हैं। वर्णन वैभव का समस्त शृंगार कवि कल्पना पर ही टिका हुआ है।

अस तप करत गएउ दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी॥
परी सांझ, पुनि सखी सो आई। चांद रहा, उपनी जो तराई॥
पूंछहि "गुरु कहां, रे चेला! बिनु ससि रे कस सूर अकेला?॥
"धातु कमाय सिखे तैं जोगी। अस कस भा निरधातु बियोगी?॥
"कहा सो खोएहु बिरवा लोना। जेहि ते होइ रूप औ सोना॥
"का हरतार पार नहि पावा। गधक काहे कुरकुटा खावा॥
"कहां छपाए चांद हमारा? जेहि बिनु रैनि जगत अंधियारा"॥
नैन कौड़िया हिय समुद, गुरु सो तेहि महं जोति।
मन मरजिया न होइ परे हाथ न आवै मोति॥ ३॥

शब्दार्थ—अस तप = इस प्रकार का प्रतीक्षामय तप। उपनी—उदित हुआ। परी सांझ=संध्या होने पर। कस=कैसे। धातु=वीर्य (शाक्त तत्व) बिरवालोना=सुन्दर वृक्ष, अमलोनी नामक घास जिसे रसायनीक धातु सिद्ध करने के काम में लाते हैं। हरतार=एक जड़ी। कुरकुटा=ठडा भात। कौड़िया=कौड़िल्ला पक्षी जो मछली पकड़ने के लिए समुद्र पर मडराता है। मरजिया=गोताखोर।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कवि जायसी कहते हैं—इस प्रकार तपस्या करते हुए बड़ी कठिनता से दिन व्यतीत हुआ। दिवस के चार पहर ऐसे व्यतीत हुए मानो चार वर्ष बीते हों। सांयकाल होने पर फिर वही सखियां आईं। चन्द्रमा तो उदय नहीं हुआ, तारागण ही दिखाई पड़े। तात्पर्य यह है कि पद्मावती नहीं मिली केवल सखियां ही दिखाई दीं। सखियों ने कहा कि हे चेला! तेरा गुरु पद्मावती कहां है? बिना चन्द्र के सूर्य कैसे है? हे जोगी! तुमने तो धातु को सिद्ध करना सीखा है, अब वियोगी बनकर निस्सार कैसे बन रहे हो। तुमने उस अमलोनी बिरवा को कहां खो दिया है जिसके द्वारा चांदी और सोना बन सकता था। श्लेष की सहायता से कवि ने पद्मावती का वर्णन सोना और चांदी बनाने वाली धातु-प्रक्रिया के द्वारा किया है। अमलोनी बिरवा, सौन्दर्य की लतिका पद्मावती अब कहां है? रूप

का अर्थ तेज और सोने का मयन है। सखियों ने कहा—हे योगी! पद्मावती को तुमने कहां खो दिया है। उससे मिलने पर तेरे मुख पर शोभा ही नहीं सोना भी प्राप्त होता है। वास्तव में तूने उस हरतार का वास्तविक स्वरूप नहीं जाना है। वह गधिनी पद्मा अब कहां पर है जिसे प्राप्त करने के निमित्त तुमने ठंडा भात (या चावल) खाया था। हे राजा! तेरे नेत्र पद्मावती के लिए कौडिल्ला पक्षी हैं, हृदय समुद्र है एवं गुरु पद्मावती उसमें प्रकाश है। जब तक मन गोताखोर उसमें नहीं पड़ेगा उसे मोती कैसे प्राप्त हो सकता है? भाव यह है कि तेरे नयन कोडिल्ले पक्षी की तरह मछली पर बार बार टूटते हैं, पर पद्मावती पानी की सतह पर चलने वाली मछली नहीं है, वह तो सागर की गहराई मे रहने वाला मोती है। उसकी प्राप्ति के निमित्त गोताखोर की भांति जीवन को खतरे में डालना होगा।

विशेष—इस पद की चौथी पंक्ति से छठी पंक्ति तक दो अर्थ है। सखियों ने संकेत के द्वारा कथन किया है। इस प्रकार दो अर्थ हो जाते हैं—एक धातु-परक और दूसरा पद्मावती-परक। दोनों अर्थों को समझने के लिए विशिष्ट अर्थ द्रष्टव्य है जो नीचे दिये जा रहे हैं। धातुपरक अर्थ देखिये।

धातुपरक अर्थ के संकेत सूत्र—

धातु कमाना—रांगे से चांदी और तांबे से सोना बनाना। अनेक रस सिद्ध जोगी और रसायनी निकृष्ट धातुओं से मूल्यवान धातु बना लेते थे। इसी कार्य को धातु कमाना कहते थे।

जोगी—सिद्ध या नाथ जोगी जो रसायन की प्रक्रिया से तांबे से सोना बनाते और पारे का संस्कार करके सिद्धि गुटिका बनाते थे।

निरधातु—खान से निकले पारे में सोना, चांदी, तांबा आदि धातुएं मिली होती है जब उसे इन धातुओं से अलग कर दिया जाता है तो वह निरधातु या नपुंसक हो जाता है।

वीरी लोना—अमलोनी जड़ी जिसका स्वाद नमकीन होता है।

हरताल—हरताल के द्वारा रांगे को चांदी बनाने का प्रयोग होता था।

पार—पारा, तांबे से सोना बनाने के लिए पारे की आवश्यकता होती थी।

गधक कहां कुरकुटा खावा—पारे में गंधक डालने से गंधक पारे को खा जाती है और पारे के कण अलग नहीं रह जाते हैं। इस प्रकार पारा उड़ नही सकता, बंधा रहता है। गधक पार्वती के रज और पारा शिव के वीर्य का प्रतीक है। इस प्रकार गंधक और पारे के योग में रज-वीर्य रूप धातुओं का योग कहा जाता है। भाव यह है कि हे जोगी! तूने जो धातु विद्या सीखी है तो आज तेरा पारा धातुओं से हीन क्यों हो रहा है। तूने अमलोनी बूटी को कहां खो दिया जिसकी सहायता से तू चांदी और सोना बनाता। क्या हरताल और पारा तेरे पास नहीं है तथा गंधक कहां है जो पारे के कणों को खाकर बांध लेती है।

पद्मावती-परक अर्थ—

संकेत सूत्र—धातु कमाना—शुक्र या वीर्य की साधना, जिससे मन वश में होता है। जोगी—योगी, ऊर्ध्वरेता साधक। निरधातु—निर्वीर्य, सत्वहीन। बोरी-लोना—सौन्दर्य की लतिका पद्मावती। रूप—शोभा। सोना—शयनकक्ष का सुख। हरताल—हरित या रजोधर्म से युक्त। पार—पारा, शुक्र, गंधक—गंधवती पद्मिनी स्त्री। कुरकुटा—ठंडा या नीरस भात।

हे जोगी! तू ने योग साधकर शुक्र को वश में करके मन को जीतने की विधि सीखी है; तो अब क्यों धातुहीन होकर चंचल हो रहा है? तेरी वह सौन्दर्य की लता पद्मावती अब कहां खो गई है जो तेरे मुख पर 'श्री' लाती और शयनकक्ष का सुख प्रदान करती। उस रजोधर्म वाली पद्मावती को शुक्र (पारा) क्यों नहीं मिला। वह गंधवती पद्मावती कहां है जिसके लिए तुमने ठंडे भात को खाकर तपस्या की थी?

का पूछहु तुम धातु, निछोही! । जो गुरु कीन्ह अंतरपट ओही॥
सिधि-गुटिका अब मो संग कहा। भयउं रांग, सत हिये न रहा॥
सो न रूप जासौं दुख खोलौं। गएउ भरोस तहां का बोलौं?॥
जहं लोना बिरवा कै जाती। कहि कै सदेस आन को पाती?॥
कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहिं जिउ दीजै॥
तुम्ह जोरा कै सूर मयंकू। पुनि बिछोहि सो लीन्ह कलंकू॥
जो एहि घरी मिलावै मोहीं। सीस देउं बलिहारी ओही॥

होइ अबरक ईंगुर भया, फेरि अगिनि महं दीन्ह।
काया पीतर होइ कनक, जौ तुम चाहहु कीन्ह॥ ४॥

शब्दार्थः—निछोही—निष्ठुर। जो गुरु कीन्ह अंतरपट ओही—जो उस गुरु पद्मावती को तुमने छिपा दिया है। रांग—रांगा। सत हिये न रहा—हृदय में सत्य नहीं रहा। जोरा कै—एक बार जोडी मिलाकर (तोले भर रांगे और तोले भर चांदी का दो तोले चांदी बनाना रसायनियों की बोली में जोड़ा करना कहलाता है)।

ससंदर्भ व्याख्याः—पूर्वसंदर्भानुसार कवि जायसी कहते हैं—रत्नसेन ने कहा कि ओ निर्मोही! अब तुम धातु की क्या बात करती हो। तुमने उस गुरु पद्मावती को पर्दे के अन्दर कर दिया है। अब मेरे पास सिद्धि गुटिका नहीं है, अब तो बस में रांगा ही रह गया हूं। हृदय में सत नहीं है। अब मुझ में पहले सा सत् नहीं रह गया है। वह स्वरूप भी मेरे सामने नहीं है जिससे अपना दुख कहूं। अब जब विश्वास ही चला गया क्या बोलूं? मेरे पास न तो ऐसा कोई है जो मेरा संदेशवाहक बनकर उस स्थान से, जहां लावण्य का पौधा है (पद्मावती और अमलोनी घास) पत्री (पत्रिका) ले आवे अथवा जो पारे को हरताल से मिलादे क्योंकि पारा गंधक को देखते ही प्राण दे देता है अर्थात्, उसमें मिल जाता है। हे सखियो! तुमने सूर्य और चन्द्रमा की एकबार जोड़ी मिलाकर पुनः उनको वियुक्त कर दिया और परिणामतः कलंक को मोल लिया। जो मुझे उससे मिला देवे उसको मैं अपना यह सिर न्यौछावर करदूं। जो अभ्रक था वह ईंगुर होगया। उसको पुनः अग्नि में डालकर वियोग वेदना का दुख समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। अतः अब यदि तुम मेरी पीतल वर्णी कमजोर काया को सोना बनाना चाहती हो तो मुझ निरधातु को मोल

रूपा पद्मावती से मिला दो। मैं उसके निमित्त अपने सिर को न्योछावर कर सकता हूँ।

विशेष:—पूर्व पद के संदर्भ में यह पद ठीक बैठ जाता है, अतः इसके प्रक्षिप्त मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता है। इस पद में श्लेष और रूपक अलंकारों का सुन्दर और उपयुक्त प्रयोग हुआ है।

नोट:—यह पद केवल शुक्ल सम्पादित जायसी ग्रंथावली में ही मिलता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसे प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक माना है।

का बसाइ जो गुरु अस बूझा। चकाबूह अभिमनु ज्यों जूझा॥
विष जो दीन्ह अमृत देखराई। तेहि रे निछोही को पतियाई?॥
मरै सोइ जो होइ निगूना। पीर न जानै बिरह बिहूना॥
पार न पाव जो गधक पीया। सो हत्यार कहौ किमि जीया॥
सिद्धि-गुटीका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं॥
अब तेहि बाज रांग भा डोलौं। होइ सार तौ बर कै बोलौं॥
अबरक कै पुनि ईगुर कीन्हा। सो तन फेरि अगिनि महँ दीन्हा॥
मिलि जो पीतम बिछुरहि काया अगिनि जराइ।
की तेहि मिले तन तप बुझै, की अब मुए बुझाइ॥ ५॥

शब्दार्थ:—का बसाइ—क्या वश चल सकता है। चकाबूह—चक्रव्यूह में। निछोही—निष्ठुर। को पतियाई—विश्वास कैसे किया जा सकता है। निगूना—निर्गुण या गुणहीन। बिरह बिहूना—विरह के दुख से रहित या अनभिज्ञ। हत्यार—पाठांतर हरतार। किमि जीया—कैसे जीवित रह सकता है। बाज—बिना। बर—बल। तन तप बुझै—शरीर की तपन शांत हो। मुए—मरकर।

ससंदर्भ व्याख्या:—पद्मावती के सखियों द्वारा छिपाये जाने वाले संदर्भ को ही कवि इन पंक्तियों में उद्घाटित कर रहा है। रत्नसेन इसी तथ्य को सखियों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है। वह कहता है कि जब गुरु-रूप पद्मावती स्वयं ही छिपने की इच्छुक थी तो इसमें मेरा क्या वश है। मेरी स्थिति तो अभिमन्यु की सी हो गई है, जो गुरु द्रोण के चक्रव्यूह में जूझते-जूझते फंस गया था। जो पहले मीठा व्यवहार करके बाद में विष देता है, उसके लिए क्या किया जाय? मैं चक्रव्यूह को तोड़ते-तोड़ते अपने प्राण दे दूंगा। तुम कहती हो कि मन को मारकर ही मोती उपलब्ध होता है। मैं समझता हूँ कि सचमुच जो शरीर को भी शून्य कर देता है वही सच्ची मौत मरता है। जो विरह से विहीन है, वह पीड़ा का अनुभव नहीं करता। (तात्पर्य यह है कि सहज साधना में तन और मन दोनों का मारना, नाथ सिद्धों की मान्यता के अनुकूल, आवश्यक है।) रत्नसेन कहता है कि जिसने खुद पीड़ा नहीं सही, वह दूसरों की पीड़ा का क्या अनुभव कर सकता है? जो गधक अर्थात् पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का पान करेगा या भोग करेगा, वह कभी भी तृप्ति लाभ नहीं करेगा—दूसरे शब्दों में उसका वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकेगा।

जायसी कहते हैं कि जिसने रत्नसेन के प्राणों का हरण कर लिया है या जिसने प्रेम वीणा के सभी तारों को अपनी ओर खींच लिया है उसका जीना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जिसके पास सिद्धि की गुटिका नहीं है,

उससे धातु की चर्चा करना व्यर्थ है। व्यंजना है कि रत्नसेन तो सिद्धि प्रदात्री पद्मावती के अभाव में निरधातु ही है। इतना ही नहीं, उसके अभाव में वह रांगे के समान निस्सार है। तत्वसंयुक्त होकर ही व्यक्ति कुछ बोल सकता है। जिसके पास तत्व ही नहीं, धातु ही नहीं, वह क्या कर सकता है? तात्पर्य यह है कि रत्नसेन तभी कुछ कहने की स्थिति में होगा जबकि वह वीर्यत्व से समन्वित होगा। इसके अभाव में कुछ भी बलपूर्वक कहना कठिन है। वीर्य-संयम के अभाव में कोई भी सफलता संभव नहीं है। अभ्रक रूपी पद्मावती को प्राप्त करने के लिए मैंने अपने शरीर को ईंगुर या रस-सिंदूर जैसा बना दिया है। भाव है कि—पद्मावती को प्राप्त करने के लिए मैंने कठिन साधना की है। रत्नसेन कहता है कि पद्मावती को प्राप्त करने के निमित्त हे सखियो! अभी थोड़ा मिलन का अवसर मिला तभी तुमने उसे फिर अग्नि में होम कर मुझसे उस अभ्रक को अलग कर दिया है।

जायसी कहते हैं कि जब एक बार प्रियतम से मिलकर अलग होना पड़ता है तो शरीर विरह की आग में जलने लगता है। अब या तो उससे मिलकर ही हृदय म जलती हुई आग समाप्त या शान्त हो सकती है या फिर प्राणों का बलिदान करने पर तपन बुझ सकती है। व्यंजना है कि हृदय की 'जलन' तभी समाप्त हो सकती है जबकि पद्मावती मिलन हो। बिना मिले शांति लाभ संभव नहीं है।

विशेष १. "इस पद में जायसी ने रासायनिक दृष्टिकोण से आत्मा-परमात्मा के मिलन-विच्छेद का रूपक बांधा है। अतः व्यंजना दुरूह हो गई है। मूल आशय यही है कि परमात्मा से बिछुड़कर आत्मा की विरह-दशा दयनीय हो जाती है। यह मान्यता सहजयान्ती संप्रदाय की है। यहां रासायनिक आधार से जायसी ने यह सिद्ध किया है कि रत्नसेन रूपी 'पारद' को जिस पद्मावती रूपिणी 'गंधक या अभ्रक' ने मिलकर अपने में मिला लिया था—रस-सिंदूर या ईंगुर बना लिया था, उसे सखियों ने पुनः अग्नि में डालकर अलग करना चाहा है। अभ्रक गंधक से पारद बांधा जाता है—यह रस शास्त्र की रासायनिक मान्यता है।"

२. इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी बात है, वह है कि मिलन के प्रसंग में क्या इस प्रकार की धातु या रासायनिक प्रक्रिया का वर्णन अपेक्षित था? स्पष्टतः नहीं। पद्मावती और रत्नसेन के मिलन प्रसंग को किसी दूसरी रमणीय शैली में भी प्रस्तुत किया जा सकता था। जायसी जैसे वर्णन प्रिय और रसिक कवि के लिए इस प्रकार का मधुर वर्णन कठिन न था। पता नहीं जायसी ने क्यों ऐसा किया है। इसी प्रकार के और भी अन्य प्रसंग पद्मावत में हैं जो रस को विरस बनाते जान पड़ते हैं।

सुनि कै बात सखी सब हंसी। जनहुँ रैनि तरइ परगसीं॥
अब सो चांद गगन महं छपा। लालच कै कित पावसि तपा?॥
हमहुँ न जानहिं दहुं सो कहां। करब खोज औ बिनउब तहां॥
औ अस कहब आहि परदेसी। करहि मया; हत्या जनि लेसी॥
पीर तुम्हारि सुनत भा छोहू। दैउ मनाउ, होइ अस ओहू॥
तू जोगी फिरि तपि कर जोगू। तो कहं कौन राजसुख-भोगू॥

यह रानी जहवां सुख राजू । बारह अभरन करै सो साजू ॥
जोगी दिढ़ आसन करै अहथिर जरि मन ठावं ।
जो न सुना तौ अब सुनहि बारह अभरन नावं ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—तरई परगसीं—तारिकाएं प्रकाशित या उदित हुईं । मह छपा—छिप गया । तपा—तपस्वी । बिनउब—विनती करना । जनि लेपी—न ले । दैउ मनाउ होइ अस ओहू—ईश्वर को मना कि उसकी भी वैसी ही दया हो गई है जैसी हम लोगों की तुझ पर हो रही है । बारह अभरन—बारह आभूषण (ग्रंथों में जो बारह आभरण बताये गये हैं वे हैं—नूपुर, किंकिणी, वलय, अंगूठी, कंकण, अंगद, हार, कंठश्री, वेसर, खूंट या बिरिया, टीका, सीस फूल । आभ णों के चार भेद बताये जाते हैं—आवेध्य, बंधनीय, क्षेप्य जैसे कड़ा व अंगूठी, और आरोप्य जैसे हार—जायसी ने सोलह शृंगार और बारह आभरण की बातें लेकर पद में कोई गड़बड़ करदी है ।) अहथिर—अस्थिर ।

सप्रसंग व्याख्याः—इन पंक्तियों में कवि जायसी सखियों की रत्नसेन के प्रति की गई चुहलबाजी का वर्णन कर रहे हैं । वे कहते हैं कि राजा रत्नसेन की बातें सुनकर सखियां हंस पड़ीं मानो रात्रि के समय तारकावली उदित हो गई हो । वे कहने लगीं-चन्द्र आकाश में छिप गया तो हे तपस्वी! तप करते, लाल होने से या केवल लालसा मात्र से उसे पाना किस प्रकार संभव है । तात्पर्य, उसे इस लालसा मात्र से ही पाना कठिन कार्य है । वास्तविकता यह है कि हम भी नहीं जानती कि वह अब इस समय कहां है । हम प्रयत्न करके उसकी खोज बीन करेंगी । वह हमें जहां भी जैसे भी मिलेगी तुरन्त ही उससे विनय करेंगी कि 'हे रानी वह बिचारा परदेशी है, दया करो, उसको मरने के लिए प्रेरित मत करो।'

जायसी कहते है कि सखियां रत्नसेन की दयनीय स्थिति को देखकर दयार्द्र हो उठीं और कहा—हमें तुमसे सच्ची सहानुभूति है । अतः अब तो तुम ईश्वर को मनाओ और विनयपूर्वक उससे प्रार्थना करो कि तुम्हारी ही तरह वह भी विरहानल में जले, उसे भी दुखभार उठाना पड़े । तुम तो योगी हो, तपस्या करने में मन लगाओ । तुम्हें राजभोग से क्या लेना देना है ? वह तो रानी है, अतः यदि अपना शृंगार बारह आभूषणों से करे तथा शृंगार-जन्य सुखरति का लाभ उठाये तो क्या आश्चर्य है । तात्पर्य तुम्हें अपने अनुकूल और रानी को अपने व्यक्तित्व के अनुकूल आचरण करना चाहिए । हे जोगी ! दृढ़ता, चित्त में धारण करो और उन बारह आभरणों का नाम सुनो जिन्हें आज तक तुमने सुना हो नहीं होगा ।

विशेष—मन को दृढ़ करने पर विशेष बल है । रत्नसेन योगी है अतः उसे योग मार्ग का अनुसरण करके कार्य सिद्धि के पथ पर अग्रसर होना चाहिए ।

प्रथमैं मज्जन होइ सरीरू । पुनि पहिरै तन चंदन चीरू ॥
साजि मांगि सिर सेंदुर सारै । पुनि लिलाट रचि तिलक संवारै ॥
पुनि अंजन दुहुं नैनन्ह करै । औ कुंडल कानन्ह महं पहिरै ॥
पुनि नासिक भल फूल अमोला । पुनि राता मुख खाइ तमोला ॥

गिउ अभरन पहिरें जहं ताईं । औ पहिरें कर कंगन कलाईं ।।
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा । पायन्ह पहिरें पायल चूरा ।।
बारह अभरन अहैं बखाने । ते पहिरें बरहौ अस्थाने ।।
पुनि सोरहौं सिंगार जस चारिहु चौक कुलीन ।
दीरघ चारि, चारि लघु, चारि सुभर चौ खीन ।। ७ ।।

शब्दार्थ—मज्जन=स्नान । चदन चीरू=चन्दन का सुगंधित वस्त्र । सिर सिंदूर सारैं=सिर पर सिंदूर धारण किया । कानन्ह महं=कानों में । फूल=नाक में पहनने वाली लोंग । तमोला=ताम्बूल या पान । राता मुख=मुख लाल हो गया । छुद्रावलि=क्षुद्र घटिका, करधंनी । चूरा=चूड़ा आदि आभूषण । एइ बखानें=यही हैं जिनका वर्णन किया जाता है । बरहौ असथाने=बारहों स्थानों पर । कुलीन=उत्तम वंश वाली । दीरघ=दीर्घ या बड़े । चारि सुभर चहु खीन=चार शुभ्र अथवा खूब भरे हुए और चार पतले आभरण धारण किये । (चारों अंगों के अनुकूल धारण किये गये आभूषण वर्णित किये गये हैं । जायसी ने आभरण को शृंगार समझ लिया है । वस्तुतः उन्हें भारतीय हिन्दू परिवारों की गाथाओं या रीति रिवाजों का ज्ञान अपूर्ण था । यही कारण है कि वे बारह आभरणों को सोलह शृंगारों से मिलाकर वर्णन कर गये हैं ।)

ससदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी द्वारा बारह आभरणों का वर्णन किया गया है । सखियां कहती हैं—सर्वप्रथम पद्मावती स्नान करती है और इस प्रकार उस शरीर को निर्मल बना लेती है । पुनः चन्दन के समान शीतल और सुगंधित वस्त्र धारण किये जाते हैं । इसके पश्चात् वह मांग संवार कर सिंदूर भरती है, फिर मस्तक पर तिलक लगाती है । तदनतर दोनों आंखों में अंजन लगाती है फिर कानों को कुंडलों से शोभायमान करती है । इसके पश्चात् नाक में अनमोल फूल पहन कर, पान को खाकर मुख को लाल किया जाता है । इस प्रकार के आभूषणों से शरीर को सजाकर पद्मावती गले में हार आदि आभूषण धारण करती है । हाथ में कलाई और कगन आदि पहनती है । परिणामस्वरूप उसकी शोभा पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाती है । कमर में किंकिणी धारण की जाती है तथा पगों में पायल और कड़े पहने जाते हैं । तदनतर सोलह शृंगार किये जाते हैं जो चारों कुलों के लिए श्रेष्ठ हैं । (पद्मावती के शृंगार चार-चार के समूहों में इस प्रकार विभाजित होते हैं कि चार तो बड़े और चार छोटे तथा चार शुभ्र या खूब भरे हुए और चार पतले । यह चारों प्रकार के आभरण अंगों के सर्वथा अनुकूल और उपयुक्त होते हैं । चार दीर्घ अंगों के अवयव हैं—केश अंगुली, नयन, ग्रीवा । चार छोटे अंगों में दशन, कुच, ललाट, नाभि । चार भरे हुए अंगों में कपोल, नितम्ब, जांघ और कलाई । चार पतले अंगों में—नाक, कटि, पेट और अधर माने जाते हैं ।)

पदमावति जो संवारैं लीन्हा । पूनिउं राति दैउ ससि कीन्हा ।।
करि मज्जन तन कीन्ह नहानू । पहिरे चीर, गएउ छपि भानू ।।
रचि पत्रावलि, मांग सदूरू । भरे मोति औ मानिक चूरू ।।
चंदन चीर पहिर बहु भांती । मेघघटा जानहुं बग पांती ।।

गूंथि जो रतन मांग बैसारा । जानहुँ गगन टूटि निसि तारा ॥
तिलक लिलाट धरा तस दीठा । जनहुँ दुइज पर सुहल बईठा ॥
कानन्ह कुंडल खूंट औ खूंटी । जानहुँ परी कचपची टूटी ॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भइ कहि न जाइ तस भाव ।
मानहुँ दरपन गगन भा तेहि ससि तार देखाव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सवारें=शृंगार को । पूनिउं रात=पूर्णिमा की रात्रि सी । चीर=वस्त्र । छपि भानू=आभूषण पहनने से उनकी कांति के कारण भानु अर्थात् सूर्य भी छिप गया । पत्रावलि=पत्रभंग रचना । मेघ घटा=बादलों की घटा में । बगपांती=बगुलों की पंक्तियां । बैसारा=बैठाया । तिलक=टीका या बिन्दी । सुहल=सुहेल (अगस्त्य तारा) तारा जो दूज के चन्द्रमा के साथ दिखाई पड़ता है. इसका विशेष प्रयोग अरबी, फारसी काव्य में मिलता है । खूंट=कान का एक चक्राकार गहना । मानहुं दरपन गगन भा तेहि ससि तार देखाव=मानो आकाश रूपी दर्पण में जो चन्द्रमा और तारागण दिखाई पड़ते है, वे सभी इसी पदमावती के प्रतिबिम्ब हैं । (सभी की कांति पद्मावती की शोभा का ही प्रसार है)

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी पद्मावती के शृंगार का वर्णन कर रहे हैं । शृंगार के पश्चात् पद्मावती कैसी शोभायमान हुई और उसके शृंगार की सृष्टि में क्या प्रतिक्रिया हुई, इसी सब का वर्णन इन पंक्तियों में कवि जायसी कर रहे हैं । वे कहते हैं—

पद्मावती ने ज्योंही शृंगार किया त्योंही उसकी आभा सर्वत्र छिटकने लगी । वह कांति आभा ऐसी प्रतीत हुई मानो ईश्वर ने पूर्णिमा की रात की चन्द्रिका सर्वत्र छिटका दी हो । उसने सर्वप्रथम मज्जन या सुन्दर और निर्मल स्नान किया तत्पश्चात् सुगंधित जल से स्नान किया, फिर उसने बहुमूल्य जड़ाऊ वस्त्र पहिने जिनकी कांति के सामने सूर्य भी कांतिहीन होकर अपने को लज्जित करता हुआ छिप गया । केशों की पट्टियां बांधी और फूल पत्तियों से उन्हें सजाया सवारा । मांग में सिन्दूर भरा और मांग को मोती और माणिक्य से पूर दिया । चंदन से मिश्रित वस्त्र पहिने । चंदन की शोभा ऐसी लगती थी जैसे केशरूपी मेघों की घटाओं में बगुलों की पंक्ति उड़ रही हो । सिर की मांग में जड़े हुये रत्न इस प्रकार शोभायमान होते थे मानो आकाश से तारा टूट कर मांग में आकर जगमगाने लगा हो । पद्मावती के मस्तक पर लगा हुआ तिलक ऐसा प्रतीत होता था मानो द्वितीया के चंद्रमा के बीच में कोई सुन्दर नक्षत्र बैठा हुआ हो । मणी के कुन्डल, कर्णफूल और कानों के आभूषण ऐसे सुन्दर लगते थे मानो कृत्तिका नक्षत्र जड़ा हुआ हो ।

जायसी वर्णन करते हैं कि जब पद्मावती जड़ाऊ आभूषण पहनकर खड़ी हुई तो उसकी सुन्दरता अवर्णनीय थी । फिर भी ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश उसकी मांग का दर्पण बन गया हो और उसमें आभूषणों का प्रतिबिम्ब, चन्द्र ताराओं के रूप में परिलक्षित होता हो।

बांक नैन औ अंजन-रेखा । खंजन मनहुं सरद ऋतु देखा ॥
जस जस हेर, फेर चख मोरी । लरै सरद महं खंजन-जोरी ॥
भौंहैं धनुक धनुक पै हारा । नैनन्ह साधि बान विष मारा ॥

करनफूल कानन्ह अति सोभा । ससि-मुख आइ सूर जनु लोभा ।।
सुरंग अधर औ मिला तमोरा । सोहै पान फूल कर नोरा ।।
कुसुमगध, अति सुरग कपोला । तेहि पर अलक-भुअंगिनि डोला ।।
तिल कपोल अलि कवंल बईठा । बेधा सोइ जेइ वह तिल दीठा ।।

देखि सिगार अनूप विधि बिरह चला तब भागि ।
काल कस्ट इमि ओनवा, सब मोरे जिउ लागि ।। ६ ।।

शब्दार्थ—बांकि=टेढ़े । खजन मनहुँ सरद ऋतु देखा=पद्मावती का मुख-चन्द्र शरद के पूर्ण चद्र के समान होकर ऋतु का आभास देता है। हेर=ताकती है । धनुक=इन्द्र धनुप । ओनवा=झुका गा पड़ा । काल कस्ट इमि ओनावा, सब मोरे जिउ लागि=विरह कहता है कि यह काल कष्ट आ पड़ा, सब मेरे ही जी के लिये ।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में कवि जायसी ने पद्मावती के बदन सौन्दर्य का वर्णन किया है । कवि कहते हैं कि पद्मावती की तिरछी आंखों में काजल की रेखा ऐसी शोभित होती थी मानों शरद ऋतु में खजन पक्षी दिखाई पड़ गया हो । जब वह अपने चचल नेत्रों को इधर उधर घुमाती थी तो लगता था मानो खंजन पक्षी की जोड़ी परस्पर क्रीड़ा कर रही हों । पद्मावती की भौंहे धनुप के आकार की थी किन्तु उनसे कामदेव का धनुष भी पराजित हो जाता था । इसका अर्थ यों भी किया जा सकता है कि एक भौंह दूसरी भौंह रूपी धनुप से अपने सौन्दर्य कटाक्ष की प्रतिद्वन्दिता कर रही थी । वह अपनी भौहों पर नेत्रों के वाण चलाकर पुष्पों को घायल करती थी । उसकी नाक में लगा हुआ स्वर्ण फूल बड़ा शोभाशाली था । उसे देखकर ऐसी कल्पना की जा सकती है मानो शशिमुख पर शुक्र नक्षत्र या तोता शोभायमान हो । उसके लाल रग के सुन्दर ओठ थे जिनकी लालिमा पान खाने से और भी बढ़ गई थी । इस प्रकार, उसके ओठों की लालिमा बन्धूक के पुष्पों के समान होगई थी। पद्मावती के कपोलों का सौन्दर्य पुष्पों की बनी गेंद के समान था । तात्पर्य यह है कि पद्मावती के कपोल, पुष्प के समान कोमल और मधुर थे । उन कपोलों पर अलक अर्थात बालों की सर्पिणी लहर हिलती डुलती दिखाई देती थी ।

जायसी कहते है कि पद्मावती के कपोल पर काला तिल भी था जो कमल पर बैठे हुये भौंरे के समान लगता था । जो कोई भी उस तिल को देख लेता था वही उसकी ओर आकर्षित होकर बिंध जाता था । उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर विरह वहां से भाग गया था । वह यह सोचने लगा था कि पद्मावती का सौन्दर्य तो मेरे प्राण लेने के लिये कालकूट विप के समान विषैला आघात करता है ।

विशेप— प्रस्तुत पद में उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमालंकार का सौन्दर्य पाठक को विशेप प्रभावित करता है । वर्णन शैली सरस और मनहरण है। उत्प्रेक्षा की कलात्मकता चौथी पंक्ति में देखते ही बनती है ।

का बरनौं अभरन औ हारा । ससि पहिरे नखतन्ह कै मारा ।।
चीर चारु औ चंदन चोला । हीर हार नग लाग अमोला ।।
तेहि झांपी रोमावलि कारी । नागिनि रूप डसै हत्यारी ।।
कुच कंचुकी सिरीफल उभे । हुलसहिं चहहिं कंत-हिय चुभे ।।

बाहंन्ह बहुँटा टांड़ सलोनी । डोलत बाहं भाव गति लोनी ॥
तरवन्ह कवल-करी जनु बांधी । बसा-लक जानहुं दुइ आधी ॥
छुद्रघंट कटि कंचन-तागा । चलतं उठहिं छतीसौ रागा ॥
चूरा पायल अनवट पायंन्ह परहिं बियोग ।
हिये लाइ टुक हम कहं समदहु मानहुं भोग ॥ १० ॥

शब्दार्थ—बरनौ—वर्णन करना । नखतन—नक्षत्र । मारा—माला । चारु—सुन्दर । अमोला—अनमोल । झांपि—ढ़क लिया । उभे—उठे हुये । गिरीफल—श्रीफल या स्तन । हुलसै—उमगित होना । बहुंटा—बांह पर पहिनने का एक आभूषण । लोनि—लावण्यमय। अनवट—अंगूठे में पहिनने वाले बिछुये । समपहु—आलिंगन करना ।

ससदर्भ व्याख्या—जायसी आभूषणों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि पद्मावती के आभूषणों का क्या वर्णन किया जाय । कण्ठ में हार ऐसा लगता है मानो चन्द्रमा ने नक्षत्रों की माला पहिन ली हो । सुन्दर साड़ी और चंदनी वस्त्र मे हीरे और अन्य अमूल्य रत्न टंगे हैं । मूल्यवान हीरे में नग जड़े थे । इन्होंने हृदय की उस रोमावली को ढ़क लिया था जो नागिन के समान प्राण ले लेती है । उसके स्तन, चोली में श्रीफल के सदृश्य उभरे हुये थे । मानो ये हुलस कर पति के हृदय में चुभ जाना चाहते हों । बाहों में टाड या बहुंटे शोभित हैं जो बाहों के हिलने से अन्यतम सुन्दरता पाते हैं । कमर के लहंगे की टोर कमल नाल के समान लगती है । कमर सिंह की कमर के समान इतनी पतली है मानो उसके दो भाग कर दिये हों । सोने के तागों में घुंघुरों की करधनी चलते समय अनुपम ध्वनि करती है जैसे राग की ध्वनि हो रही हो । उसके पैर मे कड़ा, पायल बिछिया है,उन सबसे छतीसों राग का सम्मिलित स्वर निकलता है । जायसी कहते हैं कि पद्मावती के गहनों सहित उनके स्वर मानो पति के सुख को प्राप्त करने के लिये उल्लासित हो रहे हों । इस भेष के आभूषणों का स्वर मानो यह कह रहा हो कि तुम हमें हमारे पति से भेंट करादो तो सुख का वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकेगा ।

विशेष—जायसी ने उत्प्रेक्षा का कलात्मक प्रयोग किया है । आभूषणों की अनुपम ध्वनि ध्वन्यात्मक सौन्दर्य की विधायक है । इसमें जायसी ने संयोग शृंगार का अच्छा निर्वाह किया है ।

अस बारह सोरह धनि साजै । छाज न और; आहि पै छाजै ॥
बिनवहिं सखी गहरु का कीजै ? जेइ जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजै ॥
सवंरि सेज धनि मन भइ संका । ठाढ़ि तेवानि टेकि कर लंका ॥
अनचिन्ह पिउ, कांपों मन माहां । का मैं कहब गहब जो बाहां ॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी । तरुनि भई मैमत भुलानी ॥
जोबन-गरब न मैं किछु चेता । नेह न जानों साव कि सेता ॥
अब सो कंत जो पूछिहि बाता । कस मुख होइहि पीत कि राता ॥
हौं बारी औ दुलहिनि, पीउ तरुन सह तेज ।
ना जानों कस होइहि चढ़त कंत के सेज ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—गहरु=देर या विलम्ब, सवंरि=स्मरण करके, तेवानि=सोच या चिन्ता में पड़ गयी, अनचिन्ह=अपरिचित, गहब=ग्रहण करना,

बारि बैंस=बाल्यावस्था, सावं कि सेता=श्याम या श्वेत, कस मुख=किस मुख से ।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में भी प्रसंग पूर्व संदर्भानुसार ही है। कवि पद्मावती के श्रृंगार का वर्णन करता हुआ कहता है—इस प्रकार वह राजकुमारी पद्मावती बारह आभरणों और सोलह श्रृंगारों से सज्जित हो गई। कवि का कहना है कि ये सभी श्रृंगार जितने उस पर सुशोभित हो रहे हैं उतने किसी और पर शोभित नहीं हो सकते हैं। सखियां उससे विनयपूर्वक कहने लगीं कि अब देर न करो । जिस रत्नसेन ने तुम्हारे लिए जान की बाजी लगादी, उसे अब अपना हृदय समर्पित करो तथा सुख पाओ। इस विचार के साथ ही पद्मावती को सेज का स्मरण आया और उसका शंकित मन कांप उठा और वह कमर पर हाथ करके विचार करने लगी—अपरिचित प्रिय से सहवास कैसे कर सकेगी । जब प्रियतम बांह पकड़ेंगे तो वह क्या उत्तर दे सकेगी। और अब तक तो मेरी कौमार्यावस्था भी बीत गई है। किन्तु अभी तक प्रीति की रीति नहीं जानी । जवानी के आते ही कामोद्दीप्त भावों से उन्मत्त हो मैंने कुछ भी सीखा समझा नहीं है। मैं यह नहीं जानती थी कि प्रेम का रंग श्याम है अथवा श्वेत है। इस विषय में जब प्रियतम पूछेंगे तो मैं क्या कहूँगी ? मेरे मुख का रंग पीला होगा या लाल, कुछ भी कहा नहीं जा सकता है।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती विचार करने लगी कि मैं बाला हूं और नयी दुलहिन भी, किन्तु प्रेमी या प्रिय, तरुण तपस्वी है। न मालूम प्रिय की सेज पर उसके साथ सोने पर कैसा अनुभव होगा ।

विशेष—इसमें स्त्रियों की मनोवृत्ति और पति मिलन की प्राथमिक शंकाओं और मनोभावनाओं का परिचय मिलता है।

सुनु धुनि ! डर हिरदय तब ताईं । जो लगि रहसि मिलै नहिं साईं ॥
कौन कली जो भौंर न राई ? । डार न टूट पुहुप गरुआई ॥
मातु पिता जौ बियाहै सोई । जनम निबाह कत संग होई ॥
भरि जीवन राखै जहँ चहा । जाइ न मेंटा ताकर कहा ॥
ताकहं बिलँब न कीजै बारी । जो पिउ-आयसु सोइ पियारी ॥
चलहु बेगि आयसु भा जैसे । कंत बोलावैं रहिए कैसे ? ॥
मान न करसि, पोढ़ करु लाडू । मान करत रिस मानै चाँडू ॥
साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट ।
तन, मन, जोबन, साजि कै देइ चली लेइ भेंट ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—तब ताईं=तब तक, रहसि=आनन्दपूर्वक, नहिं साईं=स्वामी नहीं मिलता है, राई=अनुरक्त हो जाना, डार न टूट पुहुप गरुआई=कौन फूल अपने बोझ से ही डाल से टूटकर न गिरा, कत=स्वामी, निबाह=निर्वाह, मेंटा ताकर कहा=उसका कथन टाला नहीं जा सकता है, पोढ़=पुष्ट, लाडू=लाड़, प्यार, प्रेम। चाडू=गहरी चाह वाला, साजन=पति ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्वांद के संदर्भ में ही कवि कह रहा है। एक सखि ने पद्मावती के भाव को समझकर कहा कि हे राजकुमारी ! सुनो और समझो। तब तक ही मन में भय बना रहता है जब तक कि पति से एकान्त

मिलन नहीं होता है। कमल की कली पर भ्रमर का आकर्षण और अनुराग आवश्यक है। तुम्हीं बताओ ऐसी कौनसी कली है जिस पर भ्रमर आसक्त नहीं हुआ है। फल के बोझ से क्या डाल नहीं टूटती है। प्रिय संयोग से कुछ भी दुखानुभव नहीं होता है। माता-पिता तो केवल विवाह करते है, पर जीवन भर का साथ तो पति ही देता है या उसी के साथ निभाना पड़ता है। इस कारण आजीवन पत्नी कहीं भी रहे, पति का वचन वह टाल नहीं सकती है। इसी कारण अब उससे मिलने में देर मत करो।

जायसी कहते हैं कि जो स्त्री पति की आज्ञा में होती है वह कभी भी अप्रिय और पति दृष्टि से दूर नहीं रह सकती है। व्यंजना है कि पति की आज्ञाकारिणी स्त्री कभी भी पति को विमुख नहीं देख सकती है क्योंकि पति की आज्ञा का ही पालन करने से तो नारी प्रिया या प्रिय वचन बोलने वाली बनती है। अतः आज्ञा के अनुसार शीघ्र चलो। पति ने बुलाया है फिर ठहरना कैसा? अधिक मान न करो, थोड़ा प्यार भी करो। अधिक मानवती नायिकाओं से साजन अप्रसन्न हो जाते हैं। हे पद्मावती तुम्हें उस पति ने बुलाया है जिसकी आज्ञा अमिट और अपरिहार्य है। तन, मन, और यौवन से सज्जित होकर उसे स्वयं को भेंट देने के लिए शीघ्र ही प्रस्थान करो।

विशेष—प्रिय समागम से पूर्व स्त्री के मन की शंका-कुशंकाओं को इस पद में स्थापित किया गया है। कवि का यह वर्णन बड़ा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है।

पदमिनि-गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
गीव देखि कै छपा मयूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू॥
भौंहन्ह धनुक छपा आकारा। बेनी बासुकि छपा पतारा॥
खड्ग छपा नासिका बिसेखी। अमृत छपा अधर-रस देखी॥
पहुँचहि छपी कवँल पोनारी। जंघ छपा कदली होइ बारी॥
अछरी रूप छपानी जबहि चली धनि साजि।
जावत गरब गहेली सबै छपीं मन लाजि॥ १३॥

शब्दार्थ—कुंजर—हाथी। मेल सिर धूरी—सिर में धूल डालने लगे। छपाना—छिप गया। बीजु लजाना—विद्युत लज्जित हो गई। मधु बैना—मधुपूर्ण वचन या मीठे वचन। गीव—ग्रीवा या गर्दन। मयूरू—मोर। लंक—कमर। सदूरू—शार्दूल। आकारा—आकार। पोनारी—पद्मनाल। कदली—केला। खड्ग छपा—तलवार छिप गई। गरब-गहेली—गर्व धारण करने वाली।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी पद्मावती के अंग-प्रत्यंग का उत्प्रेक्षा के सहारे वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—प्रिय समागम के लिए जाती पद्मावती की चाल देखकर हंस लजाकर उड़ गये और हाथी ने अपने मस्तक पर धूल डालली। तात्पर्य, दोनो ही उसकी गति के समक्ष लज्जित हो गये और हीन भावना का अनुभव करने लगे। उसके मुख की कांति के समक्ष चांद लज्जा से छिप गया और अपनी फीकी आभा से निस्तेज हो गया।

या पत्नी तुझसे अलग होती है क्योंकि तेरे शरीर से नीरस भात की दुर्गन्ध आ रही है ।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने रत्नसेन से कहा कि हे राजा योगी, तेरी भस्मी को देखकर मुझमें अस्पृश्यता जागृत हो रही है । इस प्रकार के वचनों के साथ चन्द्र-पद्मावती, राहु-रत्नसेन के पास से दूर भागने लगी । पद्मावती ने कहा कि हे जोगी, तेरी काया तपस्वी की है । तेरी यह प्रतिच्छाया मेरे शरीर पर प्रतिबिम्बित होती हुई उसे छूना चाहती है । तुम तो जोगी हो, इसीलिए द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा क्यों नहीं मांगते हो । यहां आकाश पर चढ़कर तूने मांगना सीखा है, यही तेरी तुच्छता है । जायसी कहते हैं कि रानी ने कहा कि कोई भी जोगी भिखारी राजमंदिर में प्रविष्ट होने का अधिकारी नहीं हो सकता । वह दरवाजे पर खड़ा होकर कुछ भिक्षा मांगता है ।

विशेष—इसमें पहली पंक्ति का पाठान्तर है । कुछ प्रतियों में यह पंक्ति इस प्रकार लिखी मिलती है–

गोरख सबद सिद्ध भा राजा । रामा सुनि रावन होइ गाजा ।

में तुम्ह कारन, पेम-पियारी ! राज छांड़ि कै भएउं भिखारी ।।
नेह तुम्हार जो हिये समाना । चितउर सों निसरेउ होइ आना ।।
जस मालति कहं भौंर बियोगी । चढ़ा बियोग, चलेउं होइ जोगी ।।
भौंर खोजि जस पावै केवा । तुम्ह कारन मैं जिउ पर छेवा ।।
भएउं भिखारि नारि तुम्ह लागी । दीप पतंग होइ अंगएउं आगी ।।
एक बार मरि मिलै जो आई । दूसरि बार मरै कित जाई ? ।।
कित तेहि मीचु जो मरि कै जीया? । भा सो अमर, अमृत-मधु पीया ।।

भौंर जो पावै कवल कहं बहु आरति बहु आस ।
भौंर होइ नेवछावरि, कंवल देइ हंसि बास ।। १६ ।।

शब्दार्थ—तुम्ह कारन=तुम्हारे कारण, नेह तुम्हारा=तुम्हारा स्नेह, हिये समाना=हृदय में समाना, निसरेउ=निकल पड़े, होई आना=अन्य होकर तात्पर्य, राजा रूप से कुछ दूसरे रूप यानी योगी रूप में निकल पड़े हैं । जस=जैसे, केवा=कमल, छेवा=क्षेपण करना, अंगएउं आगी=शरीर पर सहा । दूसरे शब्दों में शरीर अंगीकार किया, तेहि मीचु=उसकी मृत्यु, कित=कहां, मरि कै जीया=मरकर जीवित होना, बहु आरति=बहुत से कष्ट, नेवछावरि=न्यौछावर ।

ससदर्भ व्याख्या—रत्नसेन ने पद्मावती का उत्तर सुनकर स्वयं पूर्वसदर्भ में ही कहा कि हे प्राणाधिके ! नाराज न होओ । तुम्हारे ही प्रेम के कारण तो मैं राजपाट छोड़कर भिखारी बना हूं । तुम्हारी प्रीति मेरे हृदय में बसी, तो मैंने चित्तौड़ में भी किसी दूसरी स्त्री का स्मरण नहीं किया है । रत्नसेन ने कहा कि जिस प्रकार मालती के निमित्त भ्रमर वियोगी हो जाता है, उसी प्रकार मुझ पर वियोग का रंग चढ़ा है और मैं जोगी बनकर वहां से चल पड़ा हूं ।

हे सुन्दरी रानी पद्मावती ! मैं तुम्हारे लिए ही तो भिखारी बना हूं और मैं तुम्हारे सामने दीपक के पतंगे के समान आकर भस्मीभूत हो गया हूं ।

मैंने दीपक के पतंगे की भांति ही प्रेमाग्नि तुम्हारे निमित्त स्वीकार की है। भ्रमर, जिस प्रकार कमल को खोज निकालता है उसी प्रकार मैंने तुम्हें खोज निकाला है। कमल के समान तुम्हारा सयोग मुझ भ्रमर से हुआ है। तुम्हारे ही लिए या तुम्हें प्राप्त करने के लिए ही मैंने अपने प्राणों पर यह सकट लिया है; यदि ऐसा न करता तो तुम्हारी प्राप्ति संभव न थी।

जायसी कहते है कि जो एक बार मरकर अथवा कष्ट सहन करके अपनी प्रिया से मिलता है उसे दूसरी बार मरने की क्या आवश्यकता है? वास्तव में यह ठीक है कि जो मरकर जीता है, उसके लिए मृत्यु का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि उसने तो मिलकर ही गलत अमरत्व पाया है। जो भ्रमर अनेक दुख, कातरता और आशाओं के बाद कमल को प्राप्त कर सकता है और स्वयं उस पर निछावर हो जाता है, उसे कमल बड़ी प्रफुल्लता से अपनी सुगंध वितरित कर देता है। व्यजना यह है कि हे पद्मावती! मैंने तुम्हारे लिए जो कष्ट सहा है वही इस बात क प्रमाण है कि मुझे अब तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिए।

अपने मुंह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहिं राजा॥
हौं रानी तू जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी?॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तू भिखारि तेहि माहिं अकेला॥
पौन बांधि अपसवहिं अकासा। मनसहिं जाहिं ताहि के पासा॥
एही भांति सिस्टि सब छरी। एही भेख रावन सिय हरी॥
भौंरहि मीचु नियर जब आवा। चंपा--बास लेइ कहं धावा॥
दीपक जोति देखि उजियारी। आइ पांखि होइ परा भिखारी॥
रंनि जो देखं चंदमुख ससि तन होइ अलोप।
तुहूं जोगी तस भूला करि राजा कर ओप॥ १७॥

शब्दार्थ—न बडाई छाजा = अपने मुख से बड़ाई शोभा नहीं देती है। कतहुं = कहीं या कैसे भी। कौन चिन्हारी = क्या जान पहचान है। छंद = कपट या धूर्तता। तेहि माहि अकेला = उनमे एक ही कपटी या धूर्त है। अपसवहि = जाते हैं। मनसहि = मन में ध्यान या कामना करते हैं। सिस्टि सब छरी = सम्पूर्ण सृष्टि छली गई है। अलोप = अदृश्य। तुहुं = तू भी। ओप = शोभा का कार्य।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व पद के प्रसंग में पद्मावती रत्नसेन की बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे योगी राजा! किसी भी मनुष्य को अपने आप अपनी बड़ाई नही करनी चाहिए क्योंकि अपने आप अपनी प्रशंसा के पुल बांधना ठीक नहीं है। जो जोगी है वह कभी भी राजा नहीं हो सकता है। अत: हे राजा! तुम्हारा कहना कि मैं राजा या सर्वथा असत्य है। मैं रानी हूं और तू भिखारी जोगी है। जोगी और भोगी का क्या सयोग सम्भव है? तात्पर्य, इन दोनों में कोई भी मेल सम्भव नहीं है। सभी जोगी कपट की क्रीड़ा खेलना जानते हैं, फिर तुम क्या उन सभी भिखारियों से पृथक हो सकते हो? अर्थात्, तुम भी उनमें से एक हो। जोगी लोग प्राणायाम के सहारे गगन तक पहुँचते है, वे तो जहां जाने को सोचते है, वहीं पहुँच जाते हैं। इसी कौतुक से तुमने भी इस संसार को छल लिया है। तेरे समान ही इस कपटी वेश में तो

रावण ने सीता का हरण किया था, किन्तु इतने पर भी यह सच है कि जब भ्रमर का समय निकट आता है तो चंपा की गंध लेने को दौड़ता है। व्यंजना यह है कि हे कपटी जोगी, तेरा भी अन्त निकट है जो मेरे पास प्रणय केलि करने आया है। दीपक की उज्ज्वल लौ पर लालायित होकर पतिंगा उससे आलिंगन हेतु भिखारी बनकर गिरता है पर जलकर समाप्त हो जाता है।

जायसी कहते हैं कि रात्रि को चन्द्रमा का मुख निरख कर कोई भी यह समझ लेता है कि संभवतः मेरे शरीर का भी वैसा ही सुन्दर रूप है; अतः वह उसका समागम करना चाहता है। इसी भांति तू भी जोगी, मेरे रूप लावण्य पर भरमाया है, अतः राजा के सुन्दर रूप का कपटी वेश बनाकर मेरे पास इस आशा से आया कि मैं तेरे साथ विहार या रमण कर सकूंगी। मुझे विश्वास है कि तू राजा नहीं है। यह तो तेरा कपट है कि तू मुझसे इस प्रकार का आचरण कर रहा है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग बड़े कौशल के साथ किया गया है। कवि ने अभीष्ट प्रतिपादनार्थ कल्पना में भी संयम रखने का श्रम उठाया है। एक बात यह है कि मिलन प्रसंग में पद्मावती जो स्वयं रत्नसेन पर जान देती थी, इस प्रकार आचरण करती है, भले ही वह परीक्षा के लिए ही हो, स्वयं एक कपट लगता है। इस प्रकार के वर्णन प्रभावित नहीं करते हैं।

अनु, धनि तू निसिअर निसि माहां। हौं दिनिअर जेहि कै तू छाहां॥
चांदहि कहां जोति औ करा। सुरुज कै जोति चांद निरमरा॥
भौंर बास चंपा नहि लेई। मालति जहां तहां जिउ देई॥
तुम्ह हुंत भएउं पतंग कै करा। सिंघलदीप आइ उड़ि परा॥
सेएउं महादेव कर बारू। तजा अन्न, भा पवन अहारू॥
अस मैं प्रीति गांठि हिय जोरी। कटै न काटे, छुटै न छोरी॥
सीतै भीखि रावनहि दीन्ही। तूं असि निठुर अंतरपट कीन्ही॥

रंग तुम्हारेहि रातेउं, चढ़ेउं गगन होइ सूर।
जहं ससि सीतल तहं तपौं, मन हींछा, धनि ! पूर॥१८॥

शब्दार्थ—अनु—फिर। निसिअर—निशाकर चन्द्रमा। दिनिअर—दिनकर सूर्य। जोति औ करा—ज्योति और किरण कलाएं। निरमरा—निर्मल। जिउ देई—प्राण देना। सेएउं—सेवा करना। बारू—दरवाजे पर। तजा—छोड़ा। भा पवन अहारू—पवन का ही आहार बन गया। हिय जोरी—हृदय में जोड़ रखी है। छुटै न छोरी—छोड़ने पर छूटती भी नहीं है। मन हींछा—मनोवांछा। पूर—पूरी होगी। धनि—धन्या पद्मावती।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कवि जायसी कहते हैं कि रत्नसेन ने कहा कि हे प्रिये! प्रसन्न होओ। सचमुच तुम रात्रि में चन्द्रमा के समान सुन्दर हो और मैं दिन का सूर्य हूं या दिनकर के समान हूं तथा तुम उसकी छायानर हो। चन्द्रमा में ज्योति और कला कहां होती है? तात्पर्य, नहीं होती है। सूर्य की ज्योति से ही चन्द्रमा निर्मल प्रतीत होता है। वस्तुतः भौंरा चम्पा की सुगंध नहीं ग्रहण करता है, वह तो जहां मालती होती है वहीं अपना प्राण न्यौछावर करता है। तुम्हारे ही लिए तो मैंने पतंग की कला की है

और प्रेम में ही जलने के निमित्त सिंहलद्वीप में आकर ठहरा हूं या आकर ठहराया गया हूं। मैंने महादेव के दरवाजे की या मन्दिर की सेवा की है। मैंने अन्न छोड़ दिया है, हवा ही मेरा एक मात्र जीवनाधार बनी हुई है। मैंने तुम से प्रीति की गांठ जोड़ ली है, यह प्रीति की गांठ काटे नहीं कट सकती है और छुड़ाने पर छूट नहीं सकती है। सीता ने रावण को भी भिक्षा दे दी थी, किन्तु तुम तो ऐसी निष्ठुरहृदया हो कि कपड़े की ओट में हो रही हो। मैं तुम्हारे (प्रियतमा) के रंग में ही लाल हो गया हूं और सूर्य रूप में आकाश में चढ़ गया हूं। तात्पर्य, आकाश मार्ग के द्वारा ही तुम्हारे निकट तक आ सका हूं। अच्छा, तुम ही सोचो जहां शीतल चन्द्र है वहां ताप कहां? व्यंजना है कि तुम शीतल चन्द्र हो फिर तुम्हारे सम्पर्क में आने पर ताप नहीं रह सकता है। अतः हे राजकुमारी पद्मावती! मैं तुमसे प्रणय याचना करता हूं। कृपा करके प्रणयदान दे दो और मुझे अपने स्नेहांचल की छाया में शरण देकर कृतार्थ करो ....मेरा जीवन सफल करो और मेरी चिर प्रतीक्षित मनोकामना को पूर्ण करो।

विशेष:—रत्नसेन ने हृदय की प्रणय भावना की अच्छी अभिव्यक्ति की है। कवि ने भावानुकूल शब्द-विधान कर अपनी मधुर-कल्पना का परिचय दिया है। विशिष्ट अलंकरण के अभाव में भी यह पद अच्छा बन पड़ा है।

जोगि भिखारि! करसि बहु बाता। कहसि रंग, देखौं नहि राता॥
कापर रंगे रंग नहि होई। उपजै औटि रंग भल सोई॥
चांद के रंग सुरुज जस राता। देखै जगत सांझ परभाता॥
दगधि बिरह निति होइ अंगारा। ओही आंच धिकै संसारा॥
जो मजीठ औटै बहु आंचा। सो रंग जनम न डोलै रांचा॥
जरै बिरह जस दीपक-बाती। भीतर जरै, उपर होइ राती॥
जरि परास होइ कोइल-भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू॥

पान, सुपारी, खैर जिमि मेरइ करै चकचून।
तौ लगि रंग न रांचै जौ लगि होइ न चून॥१६॥

शब्दार्थ—जोगि भिखारि—जोगी या भिखारी, करसि बहु बाता—बहुत बातें करते हो, कापर—कपड़े, औटि—औटाकर या गर्म करके, देखै जगत सांझ परभाता—संध्या सवेरे जो लालिमा दिखाई पड़ती है, दगधि—दग्ध करके, धिकै—तपता है, मजीठ—साहित्य में पक्के राग या प्रेम को मजिष्ठा-राग कहते हैं, जनम न डोलै—जन्मभर दूर नहीं होता है, कोइल-भेसू—कोयल के से काले रंग के समान करै चकचून—चूर्ण करे।

सन्दर्भ व्याख्या:—पूर्व सन्दर्भानुसार जायसी वर्णन करते हैं कि पद्मावती ने रत्नसेन को बड़ा सधा हुआ और तर्कपूर्ण उत्तर दिया। उसने कहा—हे राजा! तू जोगी है, भिखारी है अतः बहुत चढ़ा बढ़ाकर बातें कर रहा है। तुमने अपने प्रेम के रंग का उल्लेख किया है किन्तु मैं तुम्हें अनुराग रंग से रंजित देख नहीं पा रही हूं। कपड़े मात्र रंग लेने से प्रेम नहीं चढ़ सकता है। प्रेम का वास्तविक रंग वही है जो हृदय में औटे तात्पर्य यह है कि कपड़े पर कोई भी रंग अच्छी तरह तभी चढ़ता है जबकि उसे गर्म किया जाय, ठीक उसी प्रकार विरह की आग में तपकर ही प्रेम का पक्का और कञ्चनवर्णी रंग

निखरता है। सूर्य जब चांद के प्रेम रंग में लाल होता है तो उसका स्वरूप सांग या प्रातः दिखाई पड़ता है। वह विरह में प्रज्जवलित होकर अंगारा बन जाता है तथा उसकी आंच से सम्पूर्ण संसार गर्म हो जाता है। जायसी कहते हैं कि यदि मंजिष्ठा को पर्याप्त मात्रा में औटाया जाय तो ही उसका रंग पक्का बन पाता है। इस प्रकार का पक्का रंग जन्मभर नहीं छूटता है। प्रेमी इसी प्रकार प्रेम में जलता है जैसे दीपक की बत्तिका जलती है, किन्तु आह तक नहीं भरती है। इसके विपरीत जलबल कर भी लाल रंग की दिखाई पड़ती है और इस प्रकार अपने अनुराग का परिचय देती रहती है। पलाश कोयले की भांति जलता है तब कहीं जल-बलकर फूलता है और टसूओं से रक्तमय होता है।

इसी विचार को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए जायसी कह रहे हैं कि भले ही पान के साथ सुपारी और कत्था को मिलाकर चकनाचूर करदो, किन्तु जब तक उसमें चूना नहीं पड़ेगा तब तक वह रंग नहीं दे सकता है, उसमें वह परिपक्वता नहीं आती है जो आनी चाहिए। यही प्रेम की भी स्थिति है। प्रेम की परिपक्वता के निमित्त विरह की आग में तपना और तत्पश्चात् प्रज्ज्वलित होकर चमकना ही सच्चे प्रणय की पहचान है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। दोहे में दृष्टान्त अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

का, धनि ! पान रंग, का चूना। जेहि तन नेह दाघ तेहि दूना ।।
हौं तुम्ह नेह पियर भा पानू। पेड़ी हुंत सोनरास बखानू ।।
सुनि तुम्हार ससार बड़ौना। जोग लीन्ह, तन कीन्ह गड़ौना ।।
करहिं जो किंगरी लेइ बैरागी। नौती होइ विरह कै आगी ।।
फेरि फेरि तन कीन्ह भुंजौना। औटि रकत रंग हिरदय औना ।।
सूखि सोपारी भा मन मारा। सिरहिं सरौता करवत सारा ।।
हाड़ चून भा, विरहहि दहा। जानै सोइ जो दाघ इमि सहा ।।

सोई जान वह पीरा जेहि दुख ऐस सरीर।
रकत-पियासा होइ जो का जानै पर पीर ? ।।२०।।

शब्दार्थः—नेह-स्नेह, दाव-जलन या आग, दूना-द्विगुणित पियर भा पानू-पान सी पीली, पेड़ी हुत-पेड़ी ही से, जो पान डाल या पेड़ी ही में पुराना होता है, उसे भी पेड़ी ही कहा जाता है। सोनरास-पका हुआ पीलापन या सफेदपन, बड़ौना-बड़ाई या एक जाति का पान भी इस नाम से पुकारा जाता है, गड़ौना-एक प्रकार का पान जो जमीन में गाड़कर पकाया जाता है। नौती-नूतन या ताजी फेरि-फेरि तन कीन्ह भुजौना-आग में फिरा फिराकर भुजौना पान सा बना लिया, औना-आना है या आ सकता है। इमि-इस प्रकार।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में रत्नसेन पद्मावती के प्रश्नों का पूर्व संदर्भानुसार ही उत्तर देते हुए जायसी कहते हैं—रत्नसेन ने कहा कि हे प्रिये ! प्रेमी के लिए क्या लालिमा और क्या चूना ? तात्पर्य, रंग और चूने की क्या बात है ? प्रेमी, प्रेमी है। किन्तु अपनी प्रेमी तो वह जो सभी प्रकार से जले। प्रेमी के शरीर में जलन कुछ दुगुनी होती है। देखो न ! मैं तुम्हारे

प्रेम में पड़कर पान के समान पीला पड़ गया हूँ। मैं तो पेड़ी का पुराना पान था, किन्तु तोते ने तुम्हारा मुनरास जैसे नये पान के रूप में वर्णन किया है—अत्यन्त सुन्दरी कहकर सम्बोधित और प्रेरित किया है। तुम्हारे सिंहल या संसार के इस बढ़ौना (पान) को सुनकर मैंने योग का व्रत ले लिया और अपने शरीर को जर्जर पान सा बना दिया। किंगरी के साथ वैरागी बना और भजन में निरत हुआ तथा विरहाग्नि का आमन्त्रण स्वीकार किया। फिर मैंने अपने शरीर को भून डाला। वह ऐसा प्रतीत हुआ मानो रक्त गर्म होकर हृदय में आ गया।

जायसी कहते हैं कि मैंने मन को चतुर्दिक मारकर सुपारी सा नीरस बना डाला। हे रानी! मैंने सिर पर भी सरौते या आरे की सी कष्टानुभूति को धारण किया। वस्तुतः विरह में जो जला तो हाड़ जलकर चूना बन गये। कवि का कथन सही है कि विरह की दावाग्नि को वही जान सकता है जिसने इसे सहा है।

जायसी कहते हैं कि हे पद्मावती! वह व्यक्ति इस विरह की व्यथा को कैसे और क्योंकर समझने लगा जिसने इस प्रकार की वेदना को सहा तो क्या, जाना तक नहीं है। दुख की पीड़ा को वह व्यक्ति क्या जान सकता है जो इस मार्ग से गुजरा नहीं है। इसके विपरीत, जो रक्त पिपासु है वे दूसरे की पीड़ा को क्या समझेंगे और क्या दूसरों के विरहजन्य कष्ट को अनुभव करेंगे। अर्थात् नहीं करेंगे। कारण, इसके लिए सभी का भुक्तभोगी होना परम अनिवार्य है।

विशेष—इसमें मुद्रा अलंकार का प्रयोग किया है। पान की विभिन्न जातियों का वर्णन करके जायसी ने अपनी बहुज्ञता प्रकट की है।

जोगिन्ह बहुत छद, न ओराहीं। बूँद सेवती जैस पराहीं ॥
परहिं भूमि पर होइ कचूरू। परहिं कदलि पर होइ कपूरू ॥
परहिं समुद्र खार जल ओहीं। परहिं सीप तो मोती होहीं ॥
परहिं मेरु पर अमृत होई। परहिं नागमुख विष होइ सोई ॥
जोगी भौंर निठुर ए दोऊ। केहि आपन भए? कहै जो कोऊ ॥
एक ठाँव ए थिर न रहाहीं। रस लेइ खेलि अनत कहुँ जाहीं ॥
होइ गृही पुनि होइ उदासी। अंत काल दूवौ बिसवासी ॥
तेहि सौं नेह को दिढ़ करै? रहहिं न एकौ देस।
जोगी भौंर, भिखारी इन्ह सौं दूरि अदेस। २१ ॥

शब्दार्थ—ओराहीं—चुकते हैं या समाप्त होते हैं, पराहीं—पड़ना, कचूर—हल्दी की तरह का एक पौधा, अनत—अन्यत्र, गिरिहि—गृही, उदासी—उदासी, बिसवासी—विश्वासघाती, आछहिं—रहते हैं, सहदेस—समान देश में रहने वाले। अदेस—दूर ही से प्रणाम करना।

सन्दर्भ सहित व्याख्या—[पूर्व कथनानुसार] जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने राजा रत्नसेन से कहा—जोगियों के मन से बहुत से छल कपट निकलते हैं। इसी प्रकार जैसे कि स्वाति नक्षत्र से बूँदें टपकती हैं। वे बूँदें जो समुद्र में गिरकर खारा जल, सीप में मोती, पृथ्वी पर कचूर, केले के भीतर कपूर, सुमेरु पर अमृत, और नागमुख में गिरकर विष हो जाती हैं। जोगी

मौंरे की गति एक सी होती है, ये दोनों कभी कहीं स्थिर नहीं रह
हैं। कौन कहता है कि वे किसी के अपने हुए हैं? एक स्थल पर
पने नहीं होते हैं। भोजन प्राप्त करते ही विचरकर अन्यत्र चले
हैं। ये कभी गृहस्थी बन जाते हैं और कभी सन्यासी। अन्ततोगत्वा
ही विश्वासघाती हैं। प्रेम तो उसे करना चाहिये जो प्रेम करने
। और स्थिर रूप से एक ही स्थल पर साथ साथ रहने वाला हो।
ो जोगी, भिखारी और मौंरे को दूर से ही प्रणाम करती हूँ।

र थल नग न होंहि जेहि जोती । जल जल सीप न उपनहिं मोती ॥
। बन बिरिछ न चंदन होई । तन तन बिरह न उपनै सोई ॥
ह उपना सो औटि मरि गयऊ । जनम निनार न कबहूं भएऊ ॥
: अंबुज, रवि रहे अकासा । जौं इन्ह प्रीति जानु एक पासा ॥
गी भौंर जो थिर न रहाहीं । जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं ॥
तोहि पायउं आपन जोऊ । छांड़ि सेवाति न आनहिं पीऊ ॥
र मालती मिलै जो आई । सो तजि आन फूल कित जाई ? ॥

चंपा प्रीति न भौंरहि, दिन दिन आगरि बास।
भौंर जो पावै मालती मुएहु न छांड़ै पास ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—उपनहिं=उत्पन्न होते हैं। औटि=तप कर, गर्म होकर।
र=पृथक। अंबुज=कमल। न आनहिं पीऊ=दूसरा जल नहीं
। आन फूल=अन्य किसी किनारे पर। सो तजि=उसे छोड़कर।
: सेवांति=स्वांति को छोड़कर।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व पद के प्रसंग में जायसी कहते हैं कि—रत्नसेन
द्मावती से कहा कि नग प्रत्येक स्थल पर नहीं पाये जाते हैं। मोती
क जल की सीपी में उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्येक वन में चंदन वृक्ष नहीं
है। इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में विरह उत्पन्न नहीं हो सकता है।
शरीर में विरह होता है, विरही उसके उबाल में उबलकर प्राणदान दे
है। कमल जल में होता है और सूर्य आकाश में, किन्तु प्रीति
त में दोनों सदैव निकट ही रहते हैं। जोगी और भ्रमर स्थिर नहीं
हैं क्योंकि वे जिसे खोजते हैं, उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं। मैंने अपने
सरिम तुम्हें पा लिया है। अतः दूर जाने का प्रश्न नहीं है।

जायसी कहते हैं कि जैसे स्वांति बूंद को छोड़कर चातक कहीं
जाता है, वैसे ही प्रेमी चातक अपने प्रिय स्थान को छोड़कर कहीं
स्थान पर नहीं जाया करता है। प्रिय जब अपनी प्रिया को पा लेता
। उसे छोड़ता नहीं है ठीक वैसे ही जैसे भ्रमर मालती को पाकर उसे
ने की तो बात ही दूसरी है, किसी अन्य पुष्प के पास जाता भी नहीं
चम्पा ऐसी प्रीति लता में दिन पर दिन सुगन्ध की वृद्धि होती जाती है,
भ्रमर गलकर नष्ट हो क्यों न हो जाय; पर मरकर भी वह मालती को
छोड़ता।

विशेष—१. आचार्य शुक्ल की प्रति में, दोहे का पाठान्तर इस
र है जो प्रसंगानुकूल और औचित्यपूर्ण है—

चंपा प्रीति न भौंरहि दिन-दिन आगरि बास।
भौंर जो पावै मालती मुएहु न छांड़ै पास ॥

इसका अर्थ यों करना चाहिए—चम्पा फूल में भ्रमर की प्रीति नहीं होती है यद्यपि उसकी सुगन्ध दिन पर दिन बढ़ती जाती है। भ्रमर जब मालती को पा लेता है तो मरने पर भी उसको नहीं छोड़ता है। रत्नसेन ने यहां प्रेम की एकनिष्ठता का परिचय दिया है। ऊपर जो अर्थ दिया गया है उसका आधार निम्नलिखित दोहा है—

चपा प्रीति जो बेलि हैं, दिन, दिन आगरि बास।
गरि गुरि आपु हेराइ जौ मुएहु न छांडे पास॥

२. इस पद में आत्मा और परमात्मा की एकता का परिचय दिया गया है। महान् सन्यासी रामकृष्ण परमहंस की ये पंक्तियां भी करीब-करीब ऐसी ही हैं—

तुम्हें देखें तो फिर गैरों को किन आंखों से हम देखें।
ये आंखें फूट जायें गरचे इन आंखों से हम देखें॥

३. पद की प्रथम दो पंक्तियों की समता संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक से की जा सकती है—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे।
साध्वो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने न वने॥

अर्थात् प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होते और प्रत्येक हाथी के गजमुक्ता नहीं होते हैं। साधक व सिद्ध भी सर्वत्र नहीं मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं पाये जाते हैं।

ऐसे राजकुंवर नहीं मानौं। खेलु सारि पांसा तब जानौं॥
कांचे बारह परा जो पांसा। पाक पैंत परी तनु रासा॥
रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरह रहैं त राखा॥
सत जो धरै सो खेलनहारा। ढारि इगारह जाइ न मारा॥
तूं लीन्हे आछसि मन दूवा। औ जुग सारि चहसि पुनि छूवा॥
हौं नव नेह रचौं तोहि पाहां। दसवं दावं तोरे हिय माहां॥
तो चोपर खेलौं करि हिया। जो तरहेल होइ सौतिया॥

जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि अंत होइ जौ नित।
तेहि मिलि गंजन को सहै? बरु बिनु मिले निचिंत॥२३॥

शब्दार्थ—सारि—गोट चित्तरसारी और सार या तत्व। पांसा—पांसा का खेल, पास, सांप और स्वाद की भांति निस्सार। कांचे बारह परा—पाठान्तर है—कांचे बारहि बार फिरासी—१+५+६ का दाव जिसमें एक गोट केवल बारह घर चलती है, तथा जुग घर तथा २+५+५ जिसमें जुग गोटें बारह घर और तीसरी १ घर चलती है। दूसरा अर्थ है—काम-क्रीड़ा में कच्चा द्वार-द्वार पर घुमाता है। तीसरे अर्थ में कच्चा योगी द्वार-द्वार भटकाता है कुछ भी प्राप्त नहीं करने देता है। पाके—पक्के ६+६+१ का जो बारह जिसमें जुग गोटें बारह घर और तीसरी १ घर ही चलती है। दूसरा अर्थ काम-क्रीड़ा में पक्का; तीसरा साधना मार्ग में अनुभवी।

आठ अठारह—पहले अर्थ में खिलाड़ी झूंठ बोलते हैं। आठ को अठारह कहते हैं। दूसरे अर्थ में आठ और अठारह वर्ष की उम्र। तीसरे,

आठ चक्र या अष्टांग योग साधन और संसार की अठारह चिन्ताएं। सोरह=पहले अर्थ में ५+५+६ का दाव। दूसरे, सोलह शृंगार। तीसरे, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं और एक मन। सतरह=पहले अर्थ में ५+६+६ का दाव। दूसरे अर्थ में सत पर रहना। तीसरे अर्थ में सत्य की रक्षा करना। सतए—पहले अर्थ में १+१+५ का दाव। दूसरे अर्थ म सात प्रकार के आलिंगन यथा वृक्षारूढ़ लतावेष्ठि, जघनोपरिगूढ़, तिलतंडुल, क्षीरनीरक, ललाटिका और विद्धक। तीसरे अर्थ में सत्यबल। ग्यारह=पहले अर्थ में १+५+५ का दाव। दूसरे और तीसरे अर्थ में दस इन्द्रियां और एक मन। दुवा=पहले अर्थ में दाव जिसमें तीनों पांसो की दो बिन्दियां ऊपर रहें। दूसरे अर्थ में सखी। तीसरे अर्थ में द्वैतभाव। जुग सारि=पहले अर्थ में दो गोटें जिन्हें जुग कहते है, जुग बांधना। दूसरे अर्थ में स्तन, तीसरे अर्थ में मन और शुक्र का वश मे करना। नवनेहि=पहले अर्थ में २+२+५ और १+२+६ के दाव। दूसरे अर्थ में नवोढ़ा का स्नेह। तीसरे अर्थ में नवचक्रो का प्रेम। दसौं दाउं=पहले अर्थ मे २+२+६ का दाव। दूसरे अर्थ में पांच प्रकार के नखक्षत (अर्धचन्द्र, मंडल, मयूरपद दशप्लुत, उत्पलपत्र) पांच दशनक्षत (तिलक, प्रवाल, बिन्दुक, खण्डाभ्र और बोल) चौपर=पहले अर्थ मे चौपड़। दूसरे अर्थ मे चार प्रकार की सुरति यथा पद्मासन, नागरवरेणु, विदारित और स्कन्धपाद। तीसरे अर्थ म चतुष्पट; चारो किवाड़ खुले हुए। तिरहेल=पहले अर्थ मे तीन बाजी। दूसरे अर्थ मे तीन प्रकार की केशाकर्षण क्रीड़ा (समहस्त, भुजगवल्ली और कामावतस।) तीसरे अर्थ मे इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना। तिया=पहले अर्थ मे तीनो पांसों का एक ही प्रकार से पड़ना। दूसरे अर्थ मे स्त्री। तीसरे अर्थ में त्रिक साधना। मिलि बिछुरन=पहले अर्थ मे जुग बांधना और जुग फूटना। दूसरे अर्थ मे मिलन और वियोग। तीसरे अर्थ मे मिलन और वियोग जिनकी स्थिति आध्यात्मिक है। तत=पहले अर्थ मे खेलने की इच्छा। दूसरे अर्थ मे रमणेच्छा, तीसरे अर्थ में कामना करना।

मर्मस्पर्श व्याख्या—इस पद के तीन प्रकार से अर्थ किये गये है। हम इन तीनों अर्थों को उद्धृत कर रहे हैं:—

चौपड़परक अर्थ (प्रथम)

पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार! मैं इस प्रकार नहीं मानूंगी। अब तुम चौपड़ का खेल खेलो तो जानूं। बारह पांसे कच्चे हैं, उनके पड़ने पर तू केवल बारह घर चल सकने में समर्थ हो सकेगा। यदि पक्के बारह पड़ेंगे तो स्थिर नहीं रह सकते हैं। आठ अठारह की चाल नहीं चलती है। सोलह सत्रह का पांसा पड़े तभी ठीक है इसमें खिलाड़ी बच जाता है। यदि सात पांसे पड़ें तो खिलाड़ी हारता है। जो ग्यारह गोटें हारता है उसकी गोटें मारी नहीं जाती है। तुम मन में दुवा का दांव लिये हुए हो और दो गोटें चलना चाहते हो। मैं तो तेरे लिए नौ का दांव चाहती हूं पर तेरे मन में दस का दांव है। मैं साहस करके तुमसे चौपड़ खेलूंगी। जो तीन बाजी खेले वही तीन-तीन का दाव लेने वाला होगा। जुग बांधने के पश्चात

जुग में फूटना दुखकारक है, उसमें खेल में अन्त तक उसी की इच्छा बनी रहती है। जुग के फूटने से तो यही अच्छा है कि जुग मिलाया ही न जाय।

शृंगारपरक अर्थ (द्वितीय)

पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार! मैं इस प्रकार मानने वाली नहीं हूं। अब तुम चित्रसारी पर आकर काम केलि में सलग्न हो जाओ तभी तुम्हारी स्थिति मेरी समझ में आ सकती है। यदि तुम काम-क्रीड़ा में कच्चे हुए तो द्वार पर घूमते रहोगे और यदि पक्के होगे तो मन को रोकना कठिन होगा। तात्पर्य यह है कि काम क्रीड़ा में प्रवीण होने वाला व्यक्ति कभी भी उससे उत्पर ही ऊपर रह सकता है; वह तो पूर्णतः रति क्रीड़ा में रम जाता है। अब हमारा बचपन नहीं है जिससे हम आठ वर्ष के हों। अब तो अठारह वर्ष की युवावस्था सामने है। इसे देखो और भोग की सामग्री समझकर रत हो जाओ। अब तो देखना है कि स्पष्ट सोलह शृंगारों से युक्त नायिका के साथ कौन अपने सत (उद्दीपन) को रोकने में समर्थ होगा। सात प्रकार के आलिंगनों में जिसका उद्दीपन स्खलित होता है वही काम क्रीड़ा का सच्चा और पक्का खिलाड़ी है। जब तू दसों इन्द्रियों और मन को विषय के सांचे में ढाल देगा तो मार नहीं खायेगा। क्यों ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अपने मन में किसी और स्त्री को रखे हुए हो और फिर दोनों स्तनों को छूना चाहते हो। मैं तेरे साथ नवोढ़ा मुग्धा का प्रेम करना चाहती हूं। अर्थात्, मैं तो सलज्जा हूं पर तू तो प्रौढ़ नायक की भांति दसों दांव (पांच नख क्षत और पांच दशन क्षत) अपने हृदय में रखे हुए है फिर मैं तो तेरे साथ चारों प्रकार की सुरति केलि करने का दिल रखती हूं क्योंकि स्त्री तो वही है जो तीनों प्रकार की केशाकर्षण क्रीड़ा में सफल उतरे। जिस पति के मिलन के पश्चात् वियोग में जलन होती है उसके साथ मिलने की अभिलाषा अन्त तक बनी रहती है। उससे मिलकर वियोग का दुख कौन सहे। इससे अच्छा तो मिलन का न होना ही अच्छा है क्योंकि मिलने के बाद प्राप्त होने वाला वियोग मन को अतिरिक्त पीड़ा पहुंचाता है।

योगपरक अर्थ (तीसरा)

पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार! मैं इसे कभी स्वीकार नहीं करूंगी। यदि तुम योग के मार्ग में खेलो तो मैं तुम्हारी सच्ची स्थिति का अनुमान कर सकती हूं। इसके पश्चात् ही मुझे यह विदित होगा कि तुम सारपूर्ण हो या निस्सार। यदि तू साधना में कच्चा होगा तो द्वार से द्वार तक भटकता ही फिरेगा और यदि तू साधना में अनुभवी और निष्णात होगा तो तू एक ही जगह स्थिर नहीं रहेगा, अपितु धीरे-धीरे समाधि की ओर अग्रसर होता जायगा। तू अपने अष्टचक्रों या अष्टांग योग की साधना में तो नहीं रहता, व्यर्थ ही जगत् के अठारह धंधों की बात चलाता है। पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं और मन इन सोलहों में सत् वही धारण कर सकता है जो उसकी रक्षा में तत्पर रहता है। जो इनमें अपने भार सत् से विचलित होता है वह खेल में हार जाता है। यदि तू दस इन्द्रियों और मन को साध लेगा, तो अमरता को प्राप्त कर सकेगा।

वस्तुतः अभी तेरे मन में द्वैतभाव विद्यमान है फिर भी दो सार वस्तुओं-मन और शुक्र को छूना चाहता है। मैं तो तेरे नवचक्रों के लिए प्रेम उत्पन्न करना चाहती हूँ पर तेरे हृदय में तो दसों इन्द्रिय-द्वारों के लिए आसक्ति भरी है। फिर भी तुम साहस करके चारों दरवाजों को उभारकर पूरे फक्कड़ बनकर जोग के पथ पर खेलो। जो इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना में पूरा उतरता है वही त्रिक साधना का साधक कहलाता है।

योग मार्ग की सिद्धि प्राप्त करने पश्चात् उससे भ्रष्ट होने में महान् कष्ट होता है और साधक का सिद्धि प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है। इस सिद्धि और अप्राप्ति से अच्छा तो यह है कि आदमी उस मार्ग में ही न पड़े और निश्चिन्त रहे।

डॉ० मनमोहन गौतम ने चौपड़परक अर्थ को समझाने के लिए चौपड़ खेल के नियमों का भी उल्लेख किया है। हम भी यहां उल्लेख कर रहे हैं—चौपड़ के खेल में तीन पांसे और चार रंगों की १६ गोटें होती हैं। प्रत्येक पांसा प्रायः हाथी दांत का बना हुआ होता है। यह चौपहल होता है और एक पहल में एक बिन्दी (इक्का), दूसरे पहल में दो बिन्दी (दुआ), तीसरे में पांच बिन्दी (पंजा) और चौथे पहल में छः बिन्दियां (छक्का) होती हैं। इन तीनों पांसों को खेलते समय हाथ में लेकर ढरकाते हैं। ढाल देने पर जो बिन्दियां तीनों पांसों के ऊपरी पहल पर दिखाई पड़ती हैं, उन्हीं का जोड़ दांव कहा जाता है। सबसे छोटा दांव तीन काने (१ + १ + १) कहलाता है। सबसे बड़ा दांव अठारह (६ + ६ + ६) कहलाता है। तीन और अठारह के बीच के दांव इस प्रकार हैं—

४ (१ + १ + २), ५ (१ + २ + २), ६ (२ + २ + २), ७ (१ + १ + ५), ८ (१ + २ + ५) तथा (१ + १ + ६), ९ (२ + २ + ५) और (१ + २ + ६), १० (२ + २ + ६) ११, (१ + ५ + ५) व १२ तीन प्रकार के होते हैं। दो कच्चे बारह और १ पक्का बारह। पौ बारह कच्चे बारह के। (१ + ५ + ६) में एक गोटी केवल १२ घर चल सकती है और जुग छः घर (२ + ५ + ५), दूसरी प्रकार का कच्चा बारह है जिसमें जुग की गोटें दस घर और २ घर चलती हैं। पौ बारह दांव (६ + ६ + १) कहलाता है, जिसमें जुग गोटें १२ घर और तीसरा एक घर चलती है।

१३ (२ + ६ + ५) और (१ + ६ + ६), १४ (२ + ६ + ६), १५ (५ + ५ + ५), १६ (५ + ५ + ६), १७ (५ + ६ + ६), १८ (६ + ६ + ६)।

चौपड़ के कपड़े में चार फड़ें होती हैं। हर एक फड़ पर तीन लाइनों में घर होते हैं। प्रत्येक पंक्ति में आठ घर होते हैं। इस प्रकार एक फड़ में २४ और कुल चौपड़ में ९६ घर होते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे कोठा कहते हैं। इसी कोठे में चारों फड़ों की गोटें बैठती या पुगती हैं। इन्हें पक्की गोटें कहते हैं। काली-पीली गोटों का जोड़ा और लाल हरी गोटों का जोड़ा माना जाता है। जब चार व्यक्ति खेलते हैं तो काली-पीली वाले आमने-सामने बैठते हैं और एक दूसरे के गुइयां होते हैं। हरी

वस्तुतः अभी तेरे मन में द्वैतभाव विद्यमान है फिर भी दो सार वस्तुओं-मन और शुक्र को छूना चाहता है। मैं तो तेरे नवचक्रों के लिए प्रेम उत्पन्न करना चाहती हूँ पर तेरे हृदय में तो दसों इन्द्रिय-द्वारों के लिए आसक्ति भरी है। फिर भी तुम साहस करके चारों दरवाजों को उभार-कर पूरे फक्कड़ बनकर जोग के पथ पर खेलो। जो इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना में पूरा उतरता है वही त्रिक साधना का साधक कहलाता है।

योग मार्ग की सिद्धि प्राप्त करने पश्चात् उससे भ्रष्ट होने में महान् कष्ट होता है और साधक का सिद्धि प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है। इस सिद्धि और अप्राप्ति से अच्छा तो यह है कि आदमी उस मार्ग में ही न पड़े और निश्चिन्त रहे।

डॉ० मनमोहन गौतम ने चौपड़परक अर्थ को समझाने के लिए चौपड़ खेल के नियमों का भी उल्लेख किया है। हम भी यहां उल्लेख कर रहे हैं—चौपड़ के खेल में तीन पांसे और चार रंगों की १६ गोटें होती हैं। प्रत्येक पांसा प्रायः हाथी दांत का बना हुआ होता है। यह चौपहल होता है और एक पहल में एक बिन्दी (इक्का), दूसरे पहल में दो बिन्दी (दुआ), तीसरे में पांच बिन्दी (पंजा) और चौथे पहल में छः बिन्दियां (छक्का) होती हैं। इन तीनों पासों को खेलते समय हाथ में लेकर ढरकाते हैं। ढाल देने पर जो बिन्दियां तीनों पासों के ऊपरी पहल पर दिखाई पड़ती हैं, उन्हीं का जोड़ दाव कहा जाता है। सबसे छोटा दांव तीन काने (१+१+१) कहलाता है। सबसे बड़ा दांव अठारह (६+६+६) कहलाता है। तीन और अठारह के बीच के दांव इस प्रकार हैं—

४(१+१+२), ५ (१+२+२), ६ (२+२+२), ७ (१+१+५), ८ (१+२+५) तथा (१+१+६), ९ (२+२+५) और (१+२+६), १० (२+२+६) ११, (१+५+५) व १२ तीन प्रकार के होते हैं। दो कच्चे बारह और १ पक्का बारह। पौ बारह कच्चे बारह हैं। (१+५+६) में एक गोटी केवल १२ घर चल सकती है और जुग छः घर (२+५+५), दूसरी प्रकार का कच्चा बारह है जिसमें जुग की गोटें दस घर और २ घर चलती हैं। पौ बारह दाव (६+६+१) कहलाता है, जिसमें जुग गोटें १२ घर और तीसरा एक घर चलती है।

१३ (२+६+५) और (१+६+६), १४ (२+५+६), १५ (५+५+५), १६ (५+५+६), १७ (५+६+६), १८ (६+६+६)।

चौपड़ के कपड़े में चार फड़ें होती हैं। हर एक फड़ पर तीन कतारों में घर होते हैं। प्रत्येक पंक्ति में आठ घर होते हैं। इस प्रकार एक फड़ में २४ और कुल चौपड़ में ९६ घर होते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे कोठा कहते हैं। इसी कोठे में चारों फड़ों की गोटें बैठती या पुगती हैं। इन्हें पक्की गोटें कहते हैं। काली पीली गोटों का जोड़ा और लाल हरी गोटों का जोड़ा माना जाता है। जब चार व्यक्ति मिलते हैं तो काली-पीली वाले आमने-सामने बैठते हैं और एक दूसरे के गुइयां होते हैं। इसी

चौपड़ का जुग, जोड़ा और योग । औटि=औटकर, तपकर, अभिलाषा करके और आवर्तित होकर या झूमकर । कनक=सोना, स्वर्ण, पद्मावती, सुन्दर वर्ण वाला । सोहागा=सोहागा, सौभाग्य और शुक्र ।

सप्रसंग व्याख्या--इस पद के तीन अर्थ प्रस्तुत हैं--

चौपड़ परक अर्थ (प्रथम)

रत्नसेन ने पद्मावती के गम्भीर वचनों का उत्तर ठीक उसी प्रकार दिया जैसा पद्मावती ने दिया था । उसने कहा कि हे नारी ! मैं सत्य वचन कह रहा हूँ, सुनो ! पुरुष का कथन ही शपथ और प्रतिज्ञा के समान है । तात्पर्य यह है कि पुरुष के कथन में दृढता होती है । मेरा मन, पद्मावती तेरे ऊपर इस प्रकार अनुरक्त है कि दिन भर तेरे साथ पांसा फेंकू और रात भर गोट चलूं । मैं तो यह कामना करता हूँ कि मेरे पौ बारह दाव पड़ते जांय और सिरे से खेल आरम्भ करके मैं आखिर के घर तक पहुंच जाऊं । मैं तो खेल में गोटों की मार भी सह लूंगा और बीच के कोठे में पहुंचने के लिये मेरे पास दाव न रहेगा । दाव का खेल कठिन होता है अतः कुछ गोटों के पुग जाने के बाद भी हाथ में पासा लेकर दूसरी गोटों के लिये दावों की आशा लगानी होगी और यदि ठीक दाव न आया तो पक्की गोटें भी कच्ची हो जायेंगी । मैं जीती हुई बाजी भी हार जाऊंगा और तुम जीत जाओगी । मैं अपने जुग को कभी फूटने न दूंगा । यदि तुम दुआ और तिया दाव फेंकने वाली होगी तभी जुग अलग हो सकता है । अब मेरा मन तो तेरे साथ जन्म २ पांसा खेलने का है । अब तो मैंने जोग करके इस कबिलास को पा ही लिया है ।

वस्तुतः जिसके प्राण जिसमें रहते हैं उसे उसी का सहारा रहता है । उन दोनों का पार्थक्य इस प्रकार नहीं हो सकता जैसे सोना और सुहागा जब तपकर एक हो जाते हैं तो अलग नहीं हो सकते । तात्पर्य यह है कि एक बार मिलने के पश्चात् वियोग की संभावनाएं और आशंकायें निष्फल है ।

श्रृंगार परक अर्थ (दूसरा)

रत्नसेन ने कहा कि हे कामिनी ! मैं सत्य बात कह रहा हूँ । पुरुष के वचनों के सहारे ही स्त्री विवाह में उसके साथ वचनबद्ध होती है । अब तो मेरा मन तुझ पर इतना आसक्त है कि दिन में तो तेरे पास रहना ही है, रात्री में भी तेरे स्तनों के सहारे रहना चाहता है । हे रानी ! मैं बारम्बार तेरे पांव पड़कर खुशामद करता हूं कि सिर से चुम्बन आदि की क्रीड़ा प्रारम्भ कर पैरों तक पहुंच जाता हूं । चित्त में बहुत रम गया हूं । तात्पर्य यह है कि मैं चित्रसारी में इतना डूब गया हूं कि सभा-मंडप में फंसने के लिये भी नहीं पहुंच पाता हूं । आयु की परिपक्व अवस्था हो गई है फिर भी भोग की आशा में डूबा रहता हूं । मैं तो भोग कार्य में डूबा रहकर भी पराजित ही रहता हूं । वास्तव में विजय तो तुम्हारी ही होती है । तुम्हारे साथ जुड़कर मैं अब अलग नहीं होना चाहता ।

रत्नसेन ने कहा कि पद्मावती, हम दोनों को अलग करने वाली कोई भी शक्ति दुनियां में नहीं है । मेरा मन, मेरा जीवन सभी कुछ तो तेरे

वश में है। वास्तव में मैं तो तेरे साथ मिलने के लिये ही इस स्थान तक आया हूं। जिसका मन जिसके पास रहता है उसी के आश्रय में उसका जीवन व्यतीत होता है। कंचन-रूपी पद्मावती अपने सौभाग्य-शृंगार रत्नसेन से पृथक नहीं हो सकती क्योंकि दोनों एक दूसरे के प्रति कामना करके आकर्षित हुये और मिले हैं।

योग परक अर्थ (तृतीय)

"हे सुषुम्ना नाड़ी सुनो, मैं तुमसे सत्य कहता हूं। आत्मपुरुष के साथ अनहद नाद में तल्लीन होने से ही तुम्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और तुम बच सकोगी। यह मन तुम में इतना रम गया है कि दिन रात तेरा ही स्मरण करता है। मैं बार बार यही मनाता हूं कि मेरे भीतर कुछ प्रकाश हो। मैं योग मार्ग में सिर देकर, मन को गुरु चरणों में रत करता हूं। इन्द्रियों को मारकर सुरति में इस प्रकार रमा हूं कि त्रिकुटी पर अनहद नाद ही सुनाई पड़ता है। सूर्य और स्वांस के सिद्ध हो जाने पर भी मैं हारा हूं। हे सुषुम्ना, तुमसे एक बार मिलकर मैं अलग कभी न हूंगा, अब दोनों को कौन अलग कर सकता है? अब तो आजीवन तेरे ही सांनिध्य में रहूंगा। मैंने योग धारण कर लिया है और कैलाश पर शिव के समीप आ गया हूं। जिसका जो, जिसके पास रहता है उसको उसी का आश्रय मिलता है। ब्रम्हांड स्थित ओज में सूर्य मिल गया है। अतः अब मैं ऊर्ध्वगामी बनकर उच्च स्थान से नीचे की ओर स्खलित नहीं हो सकता।

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता। निहचय तू मोरे रँग राता॥
निहचय भौंर कवल-रस रसा। जो जेहि मन सो तेहि मन बसा॥
जब हीरामन भएउ सँदेसी। तुम्ह हुँत मँडप गइउँ, परदेसी॥
तोर रूप तस देखिउँ लोना। जनु, जोगी! तू मेलेसि टोना॥
सिधि-गुटका जो दिस्टि कमाई। पारहि मेलि रूप बैसाई॥
भुगुति देइ कहँ मैं तोहि दीठा। कंवल-नैन होइ भौंर बईठा॥
नैन पुहुप तू अलि भा सोभी। रहा बेधि अस, उड़ा न लोभी॥
जाकरि आस होइ जेहि, तेहि पुनि ताकरि आस।
भौंर जो दाधा कवल कहँ, कस न पाव सो बास? ॥२५॥

शब्दार्थ—सत बाता—सत्य वचन। निहिचय—निश्चय। रंग राता—मेरे ऊपर अनुरक्त है। सँदेसी—संदेशा ले जाने वाला। तुम्ह हुत—तुम्हारे लिये। लोना—लावण्यमयी। बैसाई—बैठाया। कवल नैन हुइ भौंर बईठा—मेरे नेत्र कमल में तू भौंरा होकर पुतली के समान बैठ गया है। कवल कहं—कमल

अनुरक्त रहता है उसका मन उसी में बसता है। हीरामन तोता मेरे और तुम्हारे प्रेम के मध्य में महत्वपूर्ण कार्य करने में समर्थ हुआ है। उसी तोते से तेरा संदेश सुनकर मैं तेरे दर्शन के लिये शिव मंदिर में गई थी। मैंने तुम्हारा सुन्दर रूप देखा था। उसे देखकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो, हे जोगी! तुमने मुझ पर कोई जादू टोना कर दिया हो। तुम्हें सिद्धि की गुटिका प्राप्त है जो दिव्य दृष्टि के परिणामस्वरूप मिली है। तुमने पारे में रूपा को जमा रखा है। (गोरखपंथी साधु पारे के मिश्रण से रांगे से चांदी बनाते हैं) व्यंजना यह है कि तुमने अपनी साधना से अपने रूप को मेरे भीतर प्रविष्ट करा दिया है। वास्तव में हे राजा! मैंने तुझे मुक्ति या भिक्षा देने के लिये देखा परन्तु तुम मेरे नेत्र कमल में भ्रमर रूपी पुतली के समान होकर बैठ गये। मेरे नेत्र पुष्प रूप थे, उनमें भ्रमर के समान तुम शोभायमान थे। तुम लोभी बनकर मेरे नेत्रों में ऐसे बिंध गये कि वहां से उड़कर कहीं अन्यत्र न जा सके। वास्तव में जब एक व्यक्ति को दूसरे से इस प्रकार की आशा होती है तो उस दूसरे को भी उसके प्रति वैसी ही इच्छा होती है। जो भौंरा कमल के लिये इस प्रकार जलता है और कष्ट उठाता है वह उसकी सुगंध क्यों नहीं प्राप्त करना चाहेगा ? अर्थात्, अवश्य चाहेगा।

विशेष—पद की दूसरी पंक्ति में अर्थान्तरन्यास अलंकार है क्योंकि यहां पर सामान्य कथन की पुष्टि विशेष कथन से की गई है। रूपक का सौन्दर्य भी देखते ही बनता है।

कन मोहनी वहु हुति तोही। जो तोहि बिया सो उपनी मोही ॥
बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातकि भइउं कहत पिउ पीऊ" ॥
जरिउं विरह जस दीपक बाती। पथ जोहत भइ सीप सेवाती ॥
डाढ़ि डाढ़ि जिमि कोइल भई। भइउं चकोरि, नींद निसि गई ॥
तोरे पेम पेम मोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जिमि तएऊ ॥
हीरा दिपै जो सूर उदोती। नाहि त कित पाहन कहं जोती ! ॥
रवि परगासे कंवल बिगासा। नाहि त कित मधुकर, कित बासा ॥

तासों कौन अंतरपट जो अस पीतम पीउ।
नेवछावरि अब सारों तन मन, जोबन, जीउ ॥२६॥

शब्दार्थ—मोहनी—मोहित करने वाली। वहु हुति—शायद थी। तोहि—तुझ को। तलफ—तड़फन। जोहत—देखते हुये। सेवाति—स्वांति बूंद। उदोति—उदय होना। अन्तर पट—छिपाव।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार पद्मावती रत्नसेन से कह रही है कि न मालूम तुम्हारे भीतर कौनसी मोहनकारी शक्ति थी कि विरह की जो पीड़ा तेरे अंदर थी वही मुझ में उत्पन्न हो गई। मैं हृदय में इस प्रकार व्यथित हुई जैसे मछली बिना जल के तड़फती है। परिणामस्वरूप पपीहे के समान मैं पीउ कहने लगी। विरह में इस प्रकार जलने लगी, जैसे दीपक की बत्ती जलती है। इतना ही नहीं, मैंने तुम्हारी प्रतीक्षा इस प्रकार की जैसे सीप स्वांति की करती है। हे राजा ! मैं तुम्हारे विरह में व्यथित होकर इस प्रकार पुकारती फिरी जैसे डाल डाल पर कोयल कूकती है। मुझे रातों को नींद नहीं आती थी। रात भर जागते २ मैं तेरी स्मृति करती हुई ठीक वैस

हो रात बिताती थी जैसे चकोरी रातभर एकटक चन्द्रमा को देखती रहती है। अब मेरा प्रेम तुमसे पूरी तरह हो गया है। सोना, जिस प्रकार तपाने पर लाल हो जाता है उसी प्रकार विरह में मैं तप उठी। सूर्य जब उदित हो जाता है तब ही हीरे में चमक आती है नहीं तो कहां पत्थर और कहां ये ज्योति। सूर्य के प्रकाशित होने से ही ये कमल विकसित होता है नहीं तो कहां भंवर और कहां कमल की सुगन्ध। जो प्रियतम इतना प्रिय है उससे क्या दुराव छिपाव। अब तो मैं उसके ऊपर बलिहारी जाती हू। इतना ही नहीं अब तो मैं अपने तन, मन, यौवन और प्राण सबको न्यौछावर कर दूंगी।

[नोट—इस पद के बाद रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सपादित जायसी ग्रन्थावली में जो तीन पद और दिये गये हैं उन्हें डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। प्रक्षिप्त होने के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि यह पद सभी प्रतियों में नहीं है तथा इनमें जो पहला पद है उसमें पद्मावती, रत्नसेन से प्रश्न करती है कि उसने सिंहल और उसके विषय कैसे जान लिये और ऐसे दुर्गम प्रेम मार्ग को महादेवजी ने उसे कहां दिखला दिया। दूसरे पद में रत्नसेन इन प्रश्नों का उत्तर देता है कि हीरामन तोते ने सब कुछ बता दिया। तीसरे पद में रत्नसेन के उत्तर से पद्मावती सन्तुष्ट होकर उसके प्रति अनुराग कथन करती है। डा० गुप्त का कथन है—"कहने की आवश्यकता नहीं कि पद्मावती के प्रश्नों का जो उत्तर यहां रत्नसेन ने दिया है वह हीरामन ने बहुत पहिले ही पहली भेंट में ही बता दिया था। सारी कथा हो जाने के बाद रत्नसेन से पद्मावती का यह प्रश्न करना वैसा ही लगता है जैसे सारी रामायण समाप्त हो जाने के बाद भरत, राम से यह कहे हों कि भाई तुम्हारा बनवास क्यों हुआ?" हम इन पदों की व्याख्या यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।]

हंसि पद्मावति मानी बाता। निहचय तू मोरे रंग राता ॥
तू राजा दुहुं कुल उजियारा। अस कै चरचिउं मरम तुम्हारा ॥
पै तू जम्बूदीप बसेरा। किम जानेसि कस सिंघल मोरा ?॥
किमि जानेसि सो मानसर केवा। सुनि सो भौंर भा जिउ पर छेवा ॥
ना तुइ सुनी, न कबहूं दीठी। कैस चित्र होइ चितहि पईठी ?॥
जौ लहि अगिनि करै नहि भेदू। तौ लहि औटि चुवै नहि मेदू ॥
कहं संकर तोहि ऐस लखावा ?। मिला अलख अस पेम चखावा ॥

जेहि कर सत्य सघाती तेहि कर डर सोइ मेट।
सो सत कहु कैसे भा, दुवौ भांति जो भेंट ॥२७॥

शब्दार्थ—मानी बाता—बात मान ली। उजियारा—प्रकाशमान। चरचिउं—चर्चा करना या जान लेना। बसेरा—निवासी। किम जानेसि—कैसे जानते हो। केवा—कमल। छेवा—खेला या डाला। औटि—तपकर। सघाति—साथी। दुवौ भांति—दोनों प्रकार से।

सन्दर्भ व्याख्या—पूर्व सन्दर्भानुसार पद्मावती ने राजा से कहा कि हे राजा! निस्सन्देह तू मेरे रंग में रंगा हुआ है। मैं तेरे ऊपर गर्व करती हूं। तुम दोनों कुलों को प्रकाशित करने हो। मैंने जो वचन अब तक कहे हैं वे तो तेरा रहस्य जानने के निमित्त ही कहे गये हैं। इतने पर भी म

इतना तो बताओ कि तुमने यह कैसे जान लिया कि सिंहलदीप इतना सुन्दर है। तुम जहां रहते हो वह जंबूद्वीप तो बहुत दूर है। इस मानसरोवर में प्रफुल्लित होकर विकसित होने वाला मुझ जैसा कमल किस प्रकार तुम्हारी दृष्टि में आया कि तुम उसे सुनते ही अपने प्राणों पर खेलते हुये भ्रमर बनकर चले आये।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने रत्नसेन से कहा कि तुमने मेरे संबन्ध में न तो कुछ सुना ही था और न इसके पूर्व कभी देखा ही था। इतने पर भी मेरा चित्त या रूप सौंदर्य किस विधि से तुम्हारे हृदय में प्रवेश पा गया है।

कहा जाता है कि जब तक अग्नि प्रज्जवलित होकर अन्दर भिद नहीं जाती है तब तक मेद (कस्तूरी अथवा मद या अहंकार) पिघलकर टपकता नहीं है। महादेवजी ने तुझे इस प्रकार के दर्शन कराने का सौभाग्य कहां से कराया जिसके परिणामस्वरूप तुझे अलख दिखलाई दिया और प्रेम का रस प्राप्त हुआ। पद्मावती ने कहा कि हे राजा! जिसका सत्य साथी होता है उसे कोई भय नहीं रहता और यदि रहता भी है तो सत्य ही उस भय को निर्मूल सिद्ध करता है। इस प्रकार सत्य तुम्हें कहां और कैसे प्राप्त हो गया जिसकी भेंट दोनों प्रकार से करनी चाहिये।

सत्य कहौं सुनु पद्मावती। जहं सत पुरुष तहां सुरसती॥
पाएउं सुवा, कही वह बाता। भा निहचय देखत मुख राता॥
रूप तुम्हार सुनेउं अस नीका। ना जेहि चढ़ा काहु कहं टीका॥
चित्र किएउं पुनि लेइ लेइ नाऊं। नैनहि लागि हिये भा ठाऊं॥
हौं भा सांच सुनत ओहि घड़ी। तुम होइ रूप आइ चित चढ़ी॥
हौं भा काठ मूर्ति मन मारे। चहै जो कर सब हाथ तुम्हारे॥
तुम्ह जो डोलाइहु सबहीं डोला। मौन सांस जो दीन्ह तो बोला॥

को सोवै को जागै? अस हौं गएउं बिमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहं देखौं तहं तोहि॥ २८॥

शब्दार्थ—सुरसती—सरस्वती। नीका—अच्छा, सुन्दर। नैनहि लागि—आंखों से लेकर। सांच—सत्य स्वरूप या सांचा। ओहि घरी—उस क्षण। चित चढ़ी—चित में स्थिर होना। मन मारे—मन को मारना।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती की वार्ता सुनकर रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती सुन! मैं तुमसे सत्य कहता हूं कि जहां पर सत्यवादी पुरुष होते हैं वहां सरस्वती का निवास होता है। मुझे तुम्हारा हीरामन नामक तोता मिला था, उसी के माध्यम से तुम्हारे सम्बन्ध में मुझे जानकारी प्राप्त हुई। हीरामन तोते के अनुराग से युक्त लाल मुख को देख कर मुझे निश्चय हो गया कि इसके कहे हुए कथन सत्य हैं।

राजा ने कहा कि हे पद्मावती! मैंने तुम्हारे रूप सौन्दर्य के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन सुना कि अभी तक कुंवारी हो और किसी का भी तिलक तुम्हारे चित्त नहीं आया है। इसके पश्चात् मैंने मन ही मन तुम्हारा चित्र कल्पित किया और उसी कल्पना के आधार पर तुम्हें हृदय और नेत्रों में भर लिया।

तुम्हारे रूप सौन्दर्य का वर्णन सुनकर मैं उसी समय सत्य स्वरूप सोना बन गया जिसमें तुम सौन्दर्य की चांदी बन कर ढल गईं और इस प्रकार मेरे हृदय में तुम्हारे चित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। मैं मन मारे हुए काष्ठवत मूर्ति बन गया। इस समय तुम जो चाहो कर सकती थीं क्योंकि सब कुछ तुम्हारे ही हाथ में था। तुम मुझे जब कभी भी हिलाती थीं तभी मैं हिलता था अन्यथा मैं मौन ही रहता था। मेरे मुख से बोल तभी निकलते थे जब कि तुम मेरे हृदय में सांस प्राण का संचार करती थीं। उस समय कैसा सोना और कैसा जागना। तात्पर्य यह है कि मुझे न नींद थी न जाग्रति। कारण यह था कि मैं तुम पर पूरी तरह मोहित हो गया था। चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष मुझे तुम्हारे अतिरिक्त दूसरी वस्तु दिखलाई नहीं देती थी। मैं जहां कहीं भी दृष्टि दौड़ाता था वहां मैं तुम ही तुम को देखता था।

बिहंसी धनि सुनि कै सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ॥
रहा जो भौंर कवल के आसा। कस न भोग मानै रस बासा?॥
जस सत कहा कुंवर! तू मोही। तस मन मोर लाग पुनि तोही॥
जब-हुंत कहि गा पंखि सदेसा। सुनिउं कि आवा है परदेसा॥
तब-हुंत तुम बिनु रहै न जीऊ। चातकि भइउं कहत "पिउ पीऊ"॥
भइउं चकोरि सो पंथ निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी॥
भइउं बिरह दहि कोइल कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी॥

कौन सो दिन जब पिउ मिलै यह मन राता तासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥ २६॥

शब्दार्थ—सत भाऊ=सत्य भावना। रावन=रमण करने वाला। जब हुंत=जब से। कहिगा=कह गया। तब हुंत=तब से। पसारि=फैलाना। दहि=जलकर। तासु=उससे। मोर=मेरे। हौं—मैं। निहारि=देखना।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व सदर्भानुसार कवि कहता है कि वह सौभाग्यशालिनी पद्मावती रत्नसेन की सत्य भावना सुनकर बहुत ही प्रमुदित हुई और उसने कहा कि यदि मैं सुन्दर स्त्री हूं तो तुम रमण करने वाले सुन्दर राजा हो। जो भ्रमर कमल की आशा में रहता है वह उसकी मकरन्द और सुगन्ध की आशा क्यों न करेगा? अर्थात अवश्य करेगा। हे राजा! तूने जिस प्रकार की सत्य बातें कही हैं उन पर मुझे विश्वास है। मेरा मन भी तुझ पर उसी प्रकार अनुरक्त है जैसे तेरा मुझ पर।

पद्मावती ने रत्नसेन से कहा कि जब से संदेश देने वाला हीरामन तोता तुम्हारे सम्बन्ध में मुझसे कह गया है, तब से मेरा चित्त तुम्हारी ओर ही लगा हुआ है। मैंने ज्योंही यह सुना कि परदेसी आ गया है तब से ही तुम्हारे अभाव में मेरा मन विचलित रहता है, और चातक की भांति पीउ-पीउ रटते हुए चातक ही बन गई हूं। तुम्हारे मार्ग की प्रतीक्षा करती हुई मैं चकोरी के समान बन गई हूं। समुद्र में सीप की भांति मैं तुम्हारे लिए नैन खोले हुए प्रतीक्षा किया करती थी। तुम्हारी विरहाग्नि में जलते हुए मैं कोयल सी काली हो गई थी और वृक्ष की शाखा २ पर पुकारती हुई इधर उधर घूमती फिरती थी। मैं यह सोचती थी कि ऐसा कौनसा दिन होगा जबकि मुझे मेरे

इतना तो बताओ कि तुमने यह कैसे जान लिया कि सिंहलद्वीप इतना सुन्दर है। तुम जहाँ रहते हो वह जंबूद्वीप तो बहुत दूर है। इस मानसरोवर में प्रफुल्लित होकर विकसित होने वाला मुझ जैसा कमल किस प्रकार तुम्हारी दृष्टि में आया कि तुम उसे सुनते ही अपने प्राणों पर खेलते हुये भ्रमर बनकर चले आए।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने रत्नसेन से कहा कि तुमने मेरे सम्बन्ध में न तो कुछ सुना ही था और न इसके पूर्व कभी देखा ही था। इतने पर भी मेरा चित्र या रूप सौंदर्य किस विधि से तुम्हारे हृदय में प्रवेश पा गया है।

कहा जाता है कि जब तक अग्नि प्रज्ज्वलित होकर अन्दर सिद्ध नहीं जाती है तब तक भेद (कस्तूरी अथवा मद या अहंकार) निकलकर टपकता नहीं है। महादेवजी ने तुम्हें इस प्रकार के दर्शन कराने का सौभाग्य कहाँ से बनाया जिसके परिणामस्वरूप तुम्हें अवसर दिखलाई दिया और प्रेम का रस प्राप्त हुआ। पद्मावती ने कहा कि हे राजा ! जिसका सत्य साथी होता है उसे कोई भय नहीं रहता और यदि रहता भी है तो सत्य ही उस भय को निर्मूल सिद्ध करता है। इस प्रकार सत्य तुम्हें कहाँ और कैसे प्राप्त हो गया जिसकी भेंट दोनों प्रकार से करनी चाहिये।

सत्य कहौं सुनु पद्मावती । जहँ सत पुरुष तहाँ सुरसती ॥
पाएउँ सुवा, कहौ वह बाता । भा निहचय देखत मुख राता ॥
रूप तुम्हार सुनेउँ अस नीका । ना जेहि चढ़ा काहु कहँ टीका ॥
चित्र किएउँ पुनि लेइ लेइ नाऊँ । नैनहि लागि हिये भा ठाऊँ ॥
हौं भा सांच सुनत ओहि घरी । तुम होइ रूप आइ चित चढ़ी ॥
हौं भा काठ मूर्ति मन मारे । चहै जो कर सब हाथ तुम्हारे ॥
तुम्ह जो डोलाइहु तबहीं डोला । मौन सांस जो दीन्ह तौ बोला ॥

को सोवै को जागै ? अस हौं गएउँ बिमोहि ।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—सुरसती—सरस्वती । नीका—अच्छा, सुन्दर । नैनाहि लागि—आंखों से लेकर । सांच—सत्य स्वरूप या सांचा । ओहि घरी—उस क्षण। चित चढ़ी—चित में स्थिर होना । मन मारे—मन को मारना ।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती की वार्ता सुनकर रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती सुन ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि जहां पर सत्यवादी पुरुष होते हैं वहां सरस्वती का निवास होता है । मुझे तुम्हारा हीरामन नामक तोता मिला था, उसी के माध्यम से तुम्हारे सम्बन्ध में मुझे जानकारी प्राप्त हुई । हीरामन तोते के अनुराग से युक्त लाल मुख को देख कर मुझे निश्चय हो गया कि इसके कहे हुए कथन सत्य हैं ।

राजा ने कहा कि हे पद्मावती ! मैंने तुम्हारे रूप सौन्दर्य के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन सुना था कि अभी तक कुंवारी हो और किसी का भी तिलक तुम्हारे लिए नहीं आया है । इसके पश्चात् मैंने मन ही मन तुम्हारा चित्र कल्पित किया और उसी कल्पना के आधार पर तुम्हें हृदय और नेत्रों में भर लिया ।

रतनसेन सो कंत सुजानू । खटरस-पंडित, सोरह बानू ॥
तस होइ मिले पुरुष औ गोरी । जैसी बिछुरी सारस-जोरी ॥
रची सारि दूनौ एक पासा । होइ जुग जुग आवहिं कबिलासा ॥
पिय धनि गही, दीन्हि गलबाहीं । धनि बिछुरी लागी उर माहीं ॥
ते छांडि रस नव केलि करेहीं । चोका लाइ अधर-रस लेहीं ॥
धनि नौ सात, सात औ पांचा । पुरुष दस ते रह किमि बांचा ? ॥
लीन्ह बिधांसि बिरह धनि साजा । औ सब रचन जीत हुत राजा ॥
जनहुं औटि कै मिलि गए तस दूनौ भए एक ।
कंचन कसत कसौटी हाथ न कोऊ टेक ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—सारि—पांसा सारी । नौ सात—सोलह श्रृंगार । सात औ पांचा—बारह आभरण । दस—दस अंगुलियां । वांचा—वचन । विधांसि—विध्वंस । गलबाहीं—गले में भुजाएं डाल दीं । चोका लाइ—चूसकर । पुरुष दस ते रह किमि बांचा—ये श्रृंगार और आभरण पुरुष की दस उंगलियों से कैसे बच सकते हैं ।

शब्दार्थ—लिहुंटी—लिपटी । कुरला—क्रीड़ा, मनुहारी—शांति, तृप्ति । सोगू—सोग । मोखू—मोक्ष प्राप्त करना । दारिउँ—दाड़िम । दाख—द्राक्षा या अंगूर । कोकिल-बैनी—कोयल के से वचन ।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं कि जो नारी रति क्रीड़ा में चतुर होती है वह प्रेमी के हृदय में समाकर उसके गले का हार बन जाती है । वह जहां जिस हृदय में प्रेम जोड़ती है वह हृदय कठिनाई से मुक्त हो जाता है । काम-क्रीड़ा से ही शांति मिलती है, जिसमें क्रीड़ा नहीं वह सुन्दर स्त्री नहीं है । क्रीड़ा में ही पति को संतुष्टि होती है और क्रीड़ा करने से ही स्त्री को छुटकारा मिलता है । जिस नारी में रति क्रीड़ा का पूर्ण संचार होता है वही सच्ची सौभाग्यवती होती है । अपने पति के कंठ से लिपटी, वह चन्दन सी सुगन्धित शीतल होती है । गेंद के समान, उसके पति ने गोद में ले लिया । वह गेंद से भी अधिक कोमल थी । दाड़िम, दाख और बेल आदि के मीठे रसों को खाकर स्त्री ने पति के लिए ही अपने जोबन को रख रखा है । पद्मावती कोयल के समान मीठे वचन बोलने लगी । प्रिय समागम से उसमें वसन्त का आगमन हुआ और फलों ने अपने सम्पुट खोल दिये । "प्रिय-प्रिय" कहते हुए उस बाला की जिह्वा सूख गयी । वह चातक की भांति उसका नाम रटती थी । अब स्वाति रूप प्रियतम रत्नसेन के प्रेम बिन्दु, उसको इस प्रकार सहज मिले जैसे सीप के अन्तःकरण में गिरकर मोती बन गये हों । इससे उसे महत् सतोष प्राप्त हुआ ।

विशेष—जायसी ने सुरति का विस्तृत वर्णन किया है जो कि अश्लीलत्व की सीमा तक पहुंच गया है । यह सभी, सूफी काव्यों के प्रभाववश ही हुआ है । फिर भी अन्य सूफी काव्यों की अपेक्षा संतुलन और समन्वय बना ही हुआ है । अलंकरण से वर्णन में माधुर्य आ गया है ।

भएउ जूझ जस रावन रामा । सेज विधांसि बिरह संग्रामा ।।
लीन्हि लंक, कंचन-गढ़ टूटा । कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ।।
औ जोबन मैमंत विधांसा । बिचला बिरह जीउ जो नासा ।।
टूटे अंग अंग सब भेसा । छूटी मांग, भंग भए केसा ।।
कंचुकि चूर, चूर भइ तानी । टूटे हार, मोति छहरानी ।।
बारी, टाँड सलोनी टूटी । बाहूँ कंगन कलाई फूटी ।।
चंदन अंग छूट अस भेंटी । बेसरि टूटि तिलक गा मेटी ।।

पुहुप सिंगार संवार सब जोबन नवल बसंत ।
अरगज जिमि हिय लाइ कै मरगज कीन्हेउ कंत ।। ३३ ।।

शब्दार्थ—जूझ—रति युद्ध । विधांसि—विध्वंस हो गई या की गई । लंक—कमर । कंचनगढ़—स्वर्णगढ़, अर्थात्, रति क्रिया से सम्बन्धित स्त्रियों का गुप्तांग । जीउ जो नासा—जिसने जीव की दशा बिगाड़ रखी थी । तानी—तनी या बंद । बारी—कानों की बालियां । अरगज—अरगजा नामक सुगंधित द्रव्य जिसका लेप किया जाता है ।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी इन पंक्तियों में रत्नसेन और पद्मावती के रतियुद्ध का वर्णन कर रहे हैं । कवि कहता है कि वे दोनों रति-क्रीड़ा में इस प्रकार संलग्न हो गये जैसे राम, रावण का युद्ध हो रहा हो । इस क्रिया कलाप

में शय्या भी टूट गई। बहुत दिनों से मिलन की प्रतीक्षा करने वाले दो प्रेमियों की रति-क्रीड़ा में इस प्रकार होना स्वाभाविक है। कमर या लंका को प्रिय ने दोनों बाहों में भर लिया और उस बाला का मर्दन करने लगा, परिणामतः उसके स्वर्णाभरण टूटने लगे। उस पद्मावती का किया हुआ सभी शृंगार प्रियतम रत्नसेन ने लूट लिया। यौवन रूपी मदमत्त हाथी के विध्वंस में दोनों के बीच रहने वाला विरह, प्राण लेकर भाग खड़ा हुआ। प्रत्येक अंग-अंग का वेश विन्यास बिगड़ गया। मांग छूट गई, केश बिखर गये, कंचुकी और उसकी तनी बंद टूट गये। यौवन के जोर से तथा रत्नसेन के कर मर्दन में मानो कंचुकी के बंद बचते ही कैसे जब कि रतिरमण से शय्या ही विध्वंस को प्राप्त हुई।

जायसी वर्णन करते हैं कि मांग छूट गई, बाल बिखर गये, कंचुकी और उसकी तनी चूर-चूर हो गई, हार टूट गये और उनके मोती तितर-बितर हो गये। बालियां तथा सुन्दर तरकी (कान का आभूषण) टूट गईं। भुजा में कलाई के पास पहना हुआ कंगन भी टूट गया। रत्नसेन ने पद्मावती से इस प्रकार भेंट की कि उसके शरीर से लगा हुआ चंदन छूट गया। नथ टूट गई और तिलक मिट गया। यौवन रूपी नवल बसंत ने जो संवार कर पुष्पों का शृंगार किया था, उसका अन्त रत्नसेन ने अरगजा नामक सुगंध द्रव्य के समान हृदय से लगाकर मर्दन कर डाला।

बिनय करै पदमावति बाला। सुधि न, सुराही पिएउ पियाला॥
पिउ-पाँवरु माथे पर लेऊँ। जो मांगै नइ नइ सिर देऊँ॥
पै, पिय! एक बचन सुनु मोरा। चाखु, पिया! मधु थोरै थोरा॥
पेम-सुरा सोई पै पिया। लखै न कोइ कि काहू दिया॥
छुवा दाख-मधु जो एक बारा। दूसरि बार लेत बेसँभारा॥
एक बार जो पी कै रहा। सुख-जीवन, सुख भोजन लहा॥
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सौं चाखा कीजै॥
जो तुम चाहौ सो करौ, ना जानौं ...

द्राक्षा का मधु तो केवल एक बार ही पीने के लिए होता है। यदि, उसे दूसरी बार पियोगे तो बेहोश हो जाओगे। जो एक बार ही पीकर संतुष्ट हो जाता है, उसी का भोजन और भोजन गुणमय कहा जाता है। अब लो, पान, फूल से रास-रंग करो और अपने अधरों से मेरे अधरों तक का रस चूसो या चुम्बन लो।

पद्मावती ने कहा कि यह सेवी राग है, वैसे जैसा तुम चाहो वैसा करो। मैं भी तुम्हारी इच्छानुसार ही कार्य करूंगी—तुम जिसमें प्रसन्न रहोगे वही करना मेरा धर्म है। भले बुरे का विचार करना भी इसलिए गलत है कि जो भी कार्य किया जायेगा वह तुम्हारी प्रसन्नता के लिए ही होगा। तात्पर्य यह है कि नारी पद्मावती अपना सभी कुछ समर्पित करके, प्रिय रत्नसेन को आनंदित करना अपना कर्त्तव्य समझती है। यही उसके जीवन की साध है, और यही उसका जीवनगत उद्देश्य है। इससे वह पलभर भी विचलित नहीं होती है।

विशेष—इसमें नारी के आत्मसमर्पण पर बल दिया गया है। कामायनी में श्रद्धा मनु को भी ऐसा ही आत्मसमर्पण प्रदान करती है। आत्मसमर्पण करने के पश्चात् लुटने-लुटाने का आनन्द नारी को मिलता है, वही उसके जीवन की सबसे बड़ी निधि है। कामायनी की ये पंक्तियां इसी तथ्य की प्रकाशिका हैं—

मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं
इतना ही सरल झलकता है।

सुनु, धनि ! प्रेम-सुरा के पिए। मरन जियन डर रहे न हिए ॥
जेहि मद तेहि कहां संसारा। को सो घूमि रह, को मतवारा ॥
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ, जाइ परि सोई ॥
जा कहं होइ वार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु, ओही चाहा ॥
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई ॥
रातिहु दिवस रहै रस-भीना। लाभ न देख न देखै छीजा ॥
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमारी सीतल नीरू ॥
एक बार भरि देहु पियाला, बार बार को मांग ?।
मुहमद किमि न पुकारै ऐस दांव जो खांग ? ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—अघाइ—संतुष्ट होना, अरथ-दरब—अर्थ और द्रव्य, बहाई—समाप्त कर देना, रस-भीजा—रस में डूबा हुआ, छीजा—क्षति या हानि, पलुह—पनपता है, खांग—कमी हुई।

ससंदर्भ व्याख्या—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती प्रिया सुनो ! प्रेम रूपी शराब के पीने पर हृदय में जीने-मरने का डर नहीं रहता है। जहां मस्ती है वहां संभालने का अवसर कहां है, उस अवस्था में या तो बेहोशी छाई रहती है या मस्ती की अवस्था बनी रहती है। इस रहस्य को तो वही जान सकता है जो प्रेम-मदिरा का पान करता है। वस्तुतः प्रेम रसिक प्रेम, की मदिरा को पीने से नहीं अघाता है, वह तो ज्यों ज्यों देखता और चाखता है त्यों त्यों उसकी पिपासा बढ़ती जाती है। जो व्यक्ति एक बार मधुपान करता है उसे, इसी का चस्का लग जाता है। फिर कभी भी वह इस मार्ग से पीछे नहीं हटता है। उसी प्रेम की मदिरा में डूबा रहता है। उसी के पीछे वह अपना

द्राक्षा का मधु तो केवल एक बार ही पीने के लिए होता है। यदि, उसे दूसरी बार पियोगे तो बेहोश हो जाओगे। जो एक बार ही पीकर संतुष्ट होजाता है, उसी का भोजन और भोजन गुणमय कहा जाता है। अब लो, पान, फूल से रास-रस करो और अपने अधरों से मेरे अधरों तक का रस चूसो या चुम्बन लो।

पद्मावती ने कहा कि यह मेरी राय है, वैसे जैसा तुम चाहो वैसा करो। मैं भी तुम्हारी इच्छानुसार ही कार्य करूंगी—तुम जिसमें प्रसन्न रहोगे वही करना मेरा धर्म है। अच्छे बुरे का विचार करना भी इसलिए गलत है कि जो भी कार्य किया जायेगा वह तुम्हारी प्रसन्नता के लिए ही होगा। तात्पर्य यह है कि नारी पद्मावती अपना सभी कुछ समर्पित करके, प्रिय रत्नसेन को आनंदित करना अपना कर्त्तव्य समझती है। यही उसके जीवन की साध है, और यही उसका जीवनगत उद्देश्य है। इससे वह पलभर भी विचलित नहीं होती है।

विशेष—इसमें नारी के आत्मसमर्पण पर बल दिया गया है। कामायनी में श्रद्धा मनु को भी ऐसा ही आत्मसमर्पण प्रदान करती है। आत्मसमर्पण करने के पश्चात् लुटने-लुटाने का आनन्द नारी को मिलता है, वही उसके जीवन की सबसे बड़ी निधि है। कामायनी की ये पंक्तियां इसी तथ्य की प्रकाशिका हैं—

मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं
इतना ही सरल झलकता है।

सुनु, धनि ! प्रेम-सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए ।।
जेहि मद तेहि कहां संसारा। को सो घूमि रह, को मतवारा ।।
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ, जाइ परि सोई ।।
जा कहं होइ वार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु, ओही चाहा ।।
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई ।।
रातिहु दिवस रहै रस-भीना। लाभ न देख न देखै छीजा ।।
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमारी सीतल नीरू ।।
एक वार भरि देहु पियाला, वार वार को मांग ? ।
मुहमद किमि न पुकारै ऐस दांव जो खांग ? ।। ३५ ।।

शब्दार्थ—अघाइ—संतुष्ट होना, अरथ-दरब—अर्थ और द्रव्य, बहाई—समाप्त कर देना, रस-भीजा—रस में डूबा हुआ, छीजा—क्षति या हानि, पलुह—पनपता है, खांग—कमी हुई।

ससंदर्भ व्याख्या—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती प्रिया सुनो ! प्रेम रूपी शराब के पीने पर हृदय में जीने-मरने का डर नहीं रहता है। जहां मस्ती है वहां संभालने का अवसर कहां है, उस अवस्था में या तो बेहोशी छाई रहती है या मस्ती की अवस्था बनी रहती है। इस रहस्य को तो वही जान सकता है जो प्रेम-मदिरा का पान करता है। वस्तुतः प्रेम रसिक प्रेम, की मदिरा को पीने से नहीं अघाता है, वह तो ज्यों ज्यों देखता और चाखता है त्यों त्यों उसकी पिपासा बढ़ती जाती है। जो व्यक्ति एक बार मधुपान करता है उसे, इसी का चस्का लग जाता है। फिर कभी भी वह इस मार्ग से पीछे नहीं हटता है। उसी प्रेम की मदिरा में डूबा रहता है। उसी के पीछे वह अपना

द्रव्य और धन बहा देता है और कहता है कि चाहे सब चला जाय, पीना न जावे। तात्पर्य, प्रेम रस तो मिलता ही रहना चाहिए।

जायसी कहते हैं कि ऐसा प्रेमी, जो प्रेम-मदिरा का पियक्कड़ होता है, रात दिन इसी में डूबा रहता है। वह न लाभ की परवाह करता है और न हानि की ही। उसे तो अपने काम से काम होना है। प्रातःकाल होते ही उसके शरीर में प्रसन्नता छा जाती है, शराब और नींद की खुमारी मिटाने के लिए वह ठंडे जल का प्रयोग करता है। अतः प्रिये! एक बार ही प्रेम का प्याला भरपूर कर सामने प्रस्तुत करदो, ताकि बार-बार तुमसे मांगनी न पड़े। जायसी कहते हैं कि जिसके पीने का क्रम टूट जाता है वह इस प्रकार की मदिरा को मांगने की रट क्योंकर लगा सकता है?

विशेष—प्रेम की मदिरा से छाये रहने वाले खुमार की व्यंजना बड़ी मधुर बन पड़ी है। अश्लील प्रसंग में भी जायसी रहस्यात्मक प्रेम की अभिव्यजना करने में सफल सिद्ध हुए हैं। इसके पीछे सूफी प्रेम की झलक है। वस्तुतः प्रेम के नशे में जीवन भर ऐसे डूबे रहना कि कभी खुमार न जावे बड़ी आनन्दप्रद स्थिति है। कबीर भी इसी प्रेम रस में मस्त रहते थे। वे सूफी प्रभाव से प्रभावित होकर ही तो कह गये हैं:—

हरि रस पीया जानियै कबहुं न जाय खुमार।
मैमता घूमत फिरै नाहैं तन की सार॥

उमर खैयाम ने भी इसी प्रकार की मदिरा का वर्णन किया है। इसमें मस्ती है, खुमार है और है कभी न मिटने वाली हवस।

भा बिहान ऊठा रवि साईं। चहुँ दिसि आईं नखत तराईं॥
सब निसि सेज मिला ससि सूरू। हार चीर बलया भए चूरू॥
सो धनि पान चून भइ चोली। रंग-रंगीलि निरंग भइ भोली॥
जागत रैनि भएउ भिनसारा। भई अलस सोवत बेकरारा॥
अलक सुरंगिनि हिरदय परी। नारंग छुव नागिनि बिष भरी॥
लरी मुरी हिय हार लपेटी। सुरसरी जनु कालिंदी भेंटी॥
जनु पयाग अरइल बिच मिली। सोभित बेनी रोमावली॥
नाभी लाभु पुन्नि कै कासी कुंड कहव।
देवता करहिं कलप सिर आपुहि दोष न लाव॥ ३६॥

शब्दार्थ—बिहान-सवेरा, रवि साईं सूर्य स्वामी उठ गया, चहु दिसी-चारों ओर से, नखत तराईं-सखियां, बलया-चूड़ी, पान-पके पान सी सफेद या पीली, चून-चूर्ण, निरंग-विवर्ण या बदरंग होकर, भिनसारा-सवेरा, अलस-आलस से युक्त, बेकरारा-व्याकुल, अलक-बालों की लट, लरी मुरी-बाल की काली लटें मोतियों के हार से लिपट कर उलझ गयीं।

ससंदर्भ व्याख्या—रात्रिरमणोपरांत का वर्णन करते हुए कवि जायसी कहते हैं—प्रातःकाल हुआ। सूर्य रूपी राजा रत्नसेन उठा। चारों ओर से नक्षत्र और तारिकाओं के रूप में सखियां आ गई। उन्होंने आते ही देखा कि सारी रात, सूर्य और चन्द्र (रत्नसेन और पद्मावती) मिले रहे। इससे उसका हार चीर और चूड़ियां चूर-चूर हो गई। वह स्त्री पद्मावती पान के पत्ते की भांति पीली हो गई और उसकी चोली चूर्ण चूर्ण हो गई। जो

पद्मावती रंग-रंगीली मुग्धा थी, अब रहस्तकालीन प्रभात में भोली-भाली और विवर्ण वदना हो गई थी। रात्रि जागरण करने से अब जो सवेरा हुआ तो उसका हाल बुरा था और वह परेशानी से अर्ध विस्मृत और सुषुप्ति की स्थिति में थी। अलक रूपी सर्पिणी उसके वक्ष पर पड़ी शोभा पा रही थी, जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो विषभरी सर्पिणी नारंग फल से लिपटी हुई हो। हृदय के हार से लिपटी बल खाती उसके हृदय पर वह अलक लट ऐसी लगती थी मानो यमुना से गंगा का मिलन हो रहा हो। अलक काला यमुना जल और हार उज्ज्वल गंगाजल सा प्रतीयमान होने से यह उपमा दी गई है। इतना ही नहीं; ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके दोनों स्तन प्रयाग और अरैल हैं और उसी के बीच गंगा यमुना मिल रही हैं। जो रोमावली नाभि से कुच तक अदृश्य रूप में आ रही है वह मानो सरस्वती है। इस प्रकार पूर्ण त्रिवेणी का सा दृश्य हो गया था। यह दृश्य पद्मावती के सौन्दर्य को द्विगुणित कर रहा था।

जायसी कहते हैं कि उसकी नाभि पुण्यलाभ करके काशी कुण्ड कहलाती है। इसी का रण देवता उस पर अपना स्वयं शिर निछावर करके प्राण दान दे देते हैं फिर भी उसे दोष नहीं लगता है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया है। अत: सौन्दर्य वर्द्धन से भाव वर्द्धन भी हो गया है।

बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा, उठु पदमिनि रानी।।
सुनत सूर जनु कवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधु बासा।।
जनहुँ माति निसयानी बसी। अति बेसभार फूलि जनु अरसी।।
नैन कवल जानहु दुइ फूले। चितवनि मोहि मिरिग जनु भूले।।
तन न संभार केस औ चोली। चित अचेत जनु बाउरि भोली।।
भइ ससि हीन गहन अस गही। बिथुरे नखत, सेज भरि रही।।
कँवल मांह जनु केसरि दीठी। जोवन हुत सो गंवाइ बईठी।।
देखि जो राखी इंद्र कहँ पवन बास नहि दीन्ह।
लागेउ आइ भौंर तेहि, कली बेधि रस लीन्ह।। ३७।।

शब्दार्थ—जगावहिं-जगाती है, सयानी-चतुर, सुनत सूर जनु कवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधुबासा-कमल खिला अर्थात् नेत्र खुले और भौंरे मधु और सुगंध लेने बैठे अर्थात् काली पुतलियां दिखाई पड़ीं, निसियानी-सुधबुध खोये हुए, अरसी-अलसी, बिथुरे नखत-आभूषण इधर उधर बिखर गये, केसरि दीठी-केसरी दिखलाई पड़ी, गंवाइ बईठी-गंवा बैठी-खो बैठी।

ससंदर्भ व्याख्या—कवि जायसी इन पंक्तियों में कहते हैं कि हंसती हुई सखियां पद्मावती को जगाने लगीं। यह कहने लगीं कि रत्नसेन तो उठ गया है। हे रानी! तू भी जागृत हो जा। सूर्य रूपी रत्नसेन का नाम सुनते ही पद्मावती ऐसी प्रफुल्लित हो उठी जैसे कमल विकसित हो जाता है। आंखों के विकसित कमल में मधुकर रूपी पुतलियां ऐसी प्रतीत होती थीं मानो मधु के समान हों। निद्रा के पश्चात् जैसे ही वह जागी तो ऐसी दिख रही थी मानो मद से बेहोश होकर अलसायी सी हो गई हो। वस्तुतः वह बहुत अधिक बेसुध

थी। अलसाई लता पद्मावती अलसी के फूल के समान बेसमाल सी लग रही थी। तात्पर्य अलसाई अवस्था में उसका शरीर अस्तव्यस्त था और चोली के फट जाने से उसके स्तनाग्र अलसी के श्यामल फूल के समान प्रतीत हो रहे थे।

जायसी कहते हैं कि उसके कमल रूपी नेत्र फूले हुए थे, उसकी चितवन रूपी मृग मानो सुप्तावस्था में भूल गयी थी। व्यंजना है कि उसकी चितवन सोये हुए मृग के समान इस समय भी भूली-भूली सी प्रतीत हो रही थी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि वह चन्द्ररूपिणी ग्रहण द्वारा ग्रसी हुई हो। नक्षत्र जैसे आभूषणों के गिरने से सेज भर गई थी। शरीर, केश और चोली को वह कुछ भी संभाल नहीं पा रही थी। तात्पर्य वह बेसुध लग रही थी। भोली-भाली पद्मावती का मन अचेत था। उसके चेहरे पर ऐसी पीतिमा थी जैसे कमल के ऊपर केसर छाई हुई शोभायमान लग रही हो। उसका यौवन था, जिसे वह गंवा चुकी थी। जिस यौवनलता को इन्द्र के निमित्त सुरक्षित रख छोड़ा था और जिसकी गंध पवन भी न पा सका था, उस पर रत्नसेन रूपी भ्रमर लग गया था और उस कली को बींधकर उसका सारा रसपान करने में समर्थ हो गया था। तात्पर्य यह है कि पद्मावती अस्पृश्य और अनाघ्रात कुसुम थी। इतने पर भी उसके यौवन की सुरक्षा न हो सकी और यौवन रस को रत्नसेन भ्रमर लूट ले गया था।

हंसि हंसि पूछहिं सखी सरेखी। मानहुं कुमुद चंद्र मुख देखी॥
रानी! तुम ऐसी सुकुमारा। फूल बास तन जीव तुम्हारा॥
सहि नहिं सकहु हिये पर हारू। कैसे सहिउ कंत कर भारू?॥
मुख अंबुज बिगसै दिन राती। सो कुंभिलान कहहु केहि भांती?॥
अधर कवल जो सहा न पानू। कैसे सहा लाग मुख भानू?॥
लंक जो पैग देत मुरि जाई। कैसे रही जो रावन राई?॥
चंदन चोव पवन अस पीऊ। भइउ चित्र सम, कस भा जीऊ?॥

सब अरगज मरगज भयउ, लोचन बिंब सरोज।
'सत्य कहहु पदमावति' सखी परीं सब खोज॥ ३८॥

शब्दार्थ:—सरेखी-चतुर, फूल बास तन जीव तुम्हारा-फूल शरीर और बास जीव। हिये पर हारू-हृदय पर हार का बोझ भी सहन करना असह्य हो गया था, भारू-बोझ, मुख-अम्बुज-मुख कमल, लंक-कमर, पैग देत-पैर रखते ही, मुरिजाई-मुड़ जाती थी, अरगज-चन्दनादि के लेप, मरगज-मर्दन, सखी परी सब खोज-सभी सखियां खोजबीन करती हुई पद्मावती से रति क्रिया की घटनाओं को जानने के निमित्त पीछे ही पड़ गई-जिद्द करके पूछने लगीं।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में सखियों के हास परिहास के बीच पद्मावती से रति क्रिया के कार्य कलापों के सम्बन्ध में हुई बातचीत का वर्णन किया गया है। कवि कहता है—

सभी सहेलियां पद्मावती से हंस-हंस कर रात के समागम विषयक वृतान्तों का हाल पूछने लगीं। वे प्रफुल्ल कमलिनी का मुख कमल निहारती हुई कहने लगीं—हे रानी! तुम तो बहुत ही कोमल वदना हो—इतनी कोमलांगी कि फूलों के सहारे तुम्हारा शरीर चलता है (तात्पर्य, तुम्हें फूलों की भी मार लगती हो) साथ ही शरीर पर हार का बोझ सहन करना भी तुम्हारे

कहौं, सखी ! आपन सतभाऊ । हौं जो कहति कस रावन राऊ ॥
काँपी भौंर पुहुप पर देखे । जनु ससि गहन तैस मोहि लेखे ॥
आजु मरम मैं जाना सोई । जस पियार पिउ और न कोई ॥
डर तौ लगि हिय मिला न पीऊ । भानु के दिस्टि छूटि गा सीऊ ॥
जत खन भानु कीन्ह परगासू । कँवल-कली मन कीन्ह बिगासू ॥
हिये छोह उपना औ सीऊ । पिउ न रिसाउ लेउ बरु जीऊ ॥
हुत जो अपार बिरह दुख दूखा । जनहुँ अगस्त-उदय जल सूखा ॥
हौं रंग बहुतै आनति लहरैं जैस समुंद ।
पै पिउ कै चतुराई खसेउ न एकौ बुंद ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—आपन सतभाऊ=अपना सद्भाव, मोहि लेखे=मेरे हिसाब से या मेरी समझ से, दूखा=नष्ट हुआ, खसेउ=गिरा, छोह=प्यार, रिसाई=रूठना, रंग=काम केलि या क्रीड़ा, [illegible]=जिस भांति ।

प्रसंग सहित व्याख्या—सखियों की आनन्दमयी क्रीड़ा के बाद पद्मावती उन्हें उत्तर देने लगी । उसने कहा कि हे सखियो, मैं अपना सत्य अनुभव कहती हूं । मैं जो संदेह में रहती थी कि न जाने पति किस भांति संभोग करेगा ? इसी विचार से मैं भ्रमर को फूल के साथ समागम में देखती थी तो मेरा हृदय कांप उठता था, भयाक्रान्त हो मैं घबरा जाती थी । अब संभोग के अनन्तर मैंने उस विधि और विधान को अपने अनुभव से जाना है । हे सखियो ! प्रिय जितना प्यारा लगता है उतना और कोई नहीं लगता है ।

सचाई यह है कि जब तक प्रिय समागम नहीं हुआ था, तभी तक उससे भय लगता था, किन्तु अब तो मैंने उसे साक्षात देख लिया है अतः भय की कोई बात नहीं रही है। प्रियतम रत्नसेन की दृष्टि पड़ने से ही मेरा भय जाता रहा और हृदय शीतल हो गया। यह ठीक वैसे ही हुआ है जैसे सूर्य के उदय होने पर शीत भाग जाता है। सूर्य रत्नसेन ने मेरे हृदय की आशंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। अब तो कमल की कली विकसित हो गई है और हृदय में शीतलता और शान्ति का वास होने लगा है। अब तो मैं यह कहती हूं कि पति किसी भी प्रकार रुष्ट नहीं होना चाहिए, चाहे भले ही कुछ भी हो। तात्पर्य, पद्मावती पति की प्रसन्नता के निमित्त कुछ भी कर सकती है। इसके लिए यदि, उसे अपने प्राण भी समर्पित करने पड़ें तो भी कोई बात नहीं है। अब तक हृदय में जो विरह व्याप्त था वह अब समाप्त हो गया है, मानो अगस्त्य ने सागर के जल को सोख लिया हो। पद्मावती ने अपनी सखियों से कहा कि मैं तो रंग-रहस्य की क्रीडाओं मे पर्याप्त कुशल थी ठीक वैसे ही जैसे समुद्र में अनेक लहरों का अपना-अपना रंग होता है। इतने पर भी मैं यह कहती हूं कि प्रियतम की चतुराई उससे भी कहीं अधिक है। उसके चातुर्य के सामने मेरी एक भी नहीं चल सकी। मैं उसके सुन्दर व्यवहार से पर्याप्त मोहित हो गई हूँ। अब मेरा सभी कुछ उसके वश में है।

करि सिंगार तापहं का जाऊं। ओही देखहुं ठांवहि ठांऊं॥
जौ जिउ महं तौ उहै पियारा। तन मन सौं नहि होइ निनारा॥
नैन मांह है उहै समाना। देखौ तहां नाहि कोउ आना॥
आपन रस आपुहि पै लेई। अधर सोइ लागे रस देई॥
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगमन भेंट दीन्ह कै चांडू॥
हुलसी लक लंक सौं लसी। रावन रहसि कसौटी कसी॥
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुंत गयउं हेराई॥
जस किछु देइ धरै कहं, आप लेइ संभारि।
रसहि गारि तस लीन्हेसि, कीन्हेसि मोहि ठंठारि॥४०॥

शब्दार्थ—तापहं—उसके पास, का जाऊं—क्या जाऊं, ओहि—उसे ही, ठांवहि ठांऊ—स्थान स्थान पर, उहै—वही, निनारा—पृथक, मांह—मध्य, चांडू—चाह, हुलसी—आनन्दित, हेराई—खोगये, ठंठारि—सूखा या नीरस।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं। पद्मावती कहने लगी कि हे सखियो, शृंगार करके उस प्रियतम के पास किस स्थान पर जाऊं। मैं तो अब उसके प्रेम में पूर्णतः लिप्त हो गई हूं, अतः स्थान-स्थान पर वही प्रिय दिखाई देता है। यदि मेरे प्राणों में कुछ है तो वही प्रिय समाया हुआ है। वह अब, इस प्रकार मेरे तन-मन में समा गया है, कि उससे पृथक् नहीं हुआ जाता। पद्मावती ने कहा कि आंखों में देखो तो वही वह दिखाई देता है। जहां भी दृष्टि दौड़ाती हूं वहां उसके सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता है। वह मेरे हृदय में समाया हुआ, आप ही आप, रस का पान कर रहा है। बाहर मेरे अधरों से लगकर मुझे चुम्बन रस पिलाता है। तात्पर्य यह है कि मेरे अन्तर्वर्ती प्राणों में भी अब वही प्रिय समाया हुआ है। वह प्रिय

आनन्द का स्वरूप है और बाहर जो आनन्द प्रतीत होता है, उस भौतिक आनन्द का भी वही स्रोत है।

जायसी वर्णन करते हैं कि पद्मावती के हृदय रूपी थाल ने स्तन रूपी लड्डू अभिलाषा के रूप में उसे समर्पित किये हैं। रमण के दौरान मेरी कमर उसकी कमर में लगकर शोभित हुई है और मैंने विशेष आनन्द लाभ किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो रावण रूपी या रमण करने वाले प्रियतम ने उसको कसौटी पर कसा—संभोग किया। मेरी सम्पूर्ण जवानी उसमें समाहित हो गई है। मैं तो यौवन और तज्जन्य आनन्द के कारण अपने आपको भूल सी गई हूं। जैसे राजा ने अपने यौवन को मुझे धरोहर के रूप में दे रखा था उसे उसने सम्भाल लिया। उसने मेरे सारे शृंगार को ले लिया है तथा मुझे तो केवल यौवन की रखवाली करने वाली बना दिया है। व्यजना है कि मेरा शृंगार उसका है। वह जब चाहे, जिस रूप में चाहे, इसे भोग सकता है। मैं तो मात्र इसकी रक्षिका हूं और अब तो वह थाती भी नहीं रही है। उसने संभोग काल में उसे प्राप्त करके मुझे निस्सार या ठाठरि कर दिया है। अतः सखियो ! अब तो मैं शून्य या रिक्त हूं।

अनु रे छबीली ! तोहि छवि लागी । नैन गुलाल कंत सग जागी ॥
चंप सुदरसन अस भा सोई । सोनजरद जस केसर होई ॥
बैठ भौंर कुच नारग वारी । लागे नख, उछरीं रग-धारी ॥
अधर अधर सों भीज तमोरा । अलकाउर मुरि मुरि गा तोरा ॥
रायमुनी तुम औ रतमुहीं । अलिमुख लागि भई फुलसुहीं ॥
जैस सिगार-हार सौं मिली । मालति ऐसि सदा रहु खिली ॥
पुनि सिंगार करु कला नेवारी । कदम सेवती बैठु पियारी ॥
कुंद कली सम बिगसी ऋतु बसत औ फाग ।
फूलहु फरहु सदा सुख औ सुख सुफल सोहाग ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—अनु–फिर, छबीली–शोभा वाली, गुलाल–अवजगे होने से गुलाल से लाल रग के हो गये हैं, चंप सुदरसन भा तेहि सोई। सोनजरद जसि केसरि होई–तेरा वह सुन्दर चंपा का सा रग, जर्द चमेली सा पीला हो गया है, उघरीं–पड़ी हुई दिखाई पड़ीं, धारी–रेखा, तमोरा–ताम्बूल, अलकाउर–अलकावलि, तोरा–तेरा, रायमुनी–एक छोटी सी सुन्दर चिड़िया, रतमुंही–लाल मुंह वाली, फूलसुंघनी नाम की छोटी चिड़िया, खिली–प्रसन्न नेवारी–अलग, सम बिगसी–समान विकसित हुई।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में सखियां पद्मावती से कहने लगीं–हे छबीली ! तुम प्रसन्न रहो और आनंदपूर्वक जीवन बिताओ। तुम्हें अब नयी छवि मिल गई है। पति के साथ रातभर जागते रहने के कारण तेरे नेत्र गुलाल के समान लाल हो गये हैं। चंप के समान तेरी उज्ज्वल कांति पीली पड़ गई है। हे सुन्दरी ! तेरे स्तन रूपी नारंगियों पर नखक्षत बने हुए हैं। उनके लाल रंग बने हुए हैं। उस प्रेमी से तेरे अधर मिले हैं। परिणामतः अधर से अधर मिल कर ताम्बूल के रंग के हो गये हैं। तेरे द्वारा सजायी हुई कुटिल घुंघराली केशराशि अस्तव्यस्त हो गई है।

हे सखी ! तुम रायमुनी जैसी पक्षी सी थीं और तुम्हारा मुख यौवन

की लाली से रंजित रहता था। तुम्हारा यौवन अक्षत था, किन्तु राजा रत्नसेन रूपी भ्रमर के साथ समागम करने के कारण फुलचुही चिड़िया के समान हो गई है। व्यंजना यह है कि तेरा यौवन, मद की लाली से लाल रहता था, किन्तु संभोग के कारण अब तो बिल्कुल श्यामवर्ण का रह गया है। ऐसी प्रतीत होती हो मानो तुम सदा खिली रहने वाली हो। अब दुबारा शृंगार करो, अपने क्षोभ का निवारण करो। अपने पति के चरणों की सेवा करती हुई उसकी प्रियभाषिणी बनो। जब तक कुन्दकली विकसित हो रही है तब तक बसन्त और फाग की ऋतु है—यौवन का वसन्त भी जब तक है तब तक कि केलि-क्रीड़ा का आलस है। सखियों ने कहा कि हे पद्मावती! सदैव खिलो, फलो और तुम्हारा सुख-सौभाग्य सफल हो, इसी से तुम सदैव सौभाग्यवती बनी रहोगी।

विशेष—वर्णन रसात्मक है। इसमें अनेक शब्दों की व्यंजना रति परक है। कवि ने बड़े कौशल से यह वर्णन पाठकों के सामने रखा है। अन्तिम पक्तियों में जायसी ने पद्मावती के साथ ही साथ सिंगारहार, मालती अलसी, नेवारी, कदम्ब, सेवती, कुन्द कली फूलों का नाम भी वसन्त ऋतु के साथ उपस्थित कर दिया है। मुद्रा और उपमा अलंकार की दृष्टि से हेतूत्प्रेक्षा के कारण इस पद का सौन्दर्य विशिष्टता लिये हुए है।

कहि यह बात सखी सब धाईं। चंपावति पहं जाइ सुनाईं ॥
आजु निरंग पदमावति बारी। जीवन जानहुं पवन अधारी ॥
तरकि तरकि गइ चंदन चोली। धरकि धरकि हिय उठै न बोली ॥
अही जो कली-कवल रसपूरी। चूर चूर होइ गईं सो चूरी ॥
देखहु जाइ जैसि कुंभिलानी। सुनि सोहाग रानी विहंसानी ॥
लेइ संग सबही पदमिनि नारी। आई जहं पदमावति बारी ॥
आइ रूप सो सबही देखा। सोन-बरन होइ रही सो रेखा ॥

कुसुम फूल जस मरदै, निरंग देख सब अंग।
चंपावति भइ वारी, चूम केस औ मंग ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—धाईं—दौड़ी दौड़ी गईं। पहं—पास। निरंग—विवर्ण वदना। पवन-अधारी—इतनी सुकुमारी है कि पवन के आधार पर ही मानों उसका जीवन है। अही—थी। सोन-बरन होइ रही सो रेखा—ऊपर कह आए हैं कि 'रावन रहसि कसौटी कसी'।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में कवि वर्णन करता है। पद्मावती और रत्नसेन के संभोग आदि की बातें सुन कर और पद्मावती को आशीर्वाद देकर सखियां दौड़ी-दौड़ी गईं और उन्होंने संभोग क्रिया का सारा वृतान्त चम्पावती से कह दिया। उन्होंने कहा कि आज सुन्दरी पद्मावती विवर्ण वदना हो गई है। उसका सौन्दर्य लुप्त हो गया है। उसके शरीर में प्राण नहीं हैं, केवल सांसें आ जा रही हैं। पद्मावती का चन्दन वस्त्र का चोला फट गया है, उसका हृदय धड़क रहा है, वह बोल नहीं सकती। जो पद्मावती कमल-कलिका थी और कला-युक्त तथा रस पूर्ण थी, वह चूर चूर हो गई, उसकी चूड़ियां भी चूर हो गईं, अब तुम देखो तो सही कि वह कैसी कुम्हिलाई हुई है।

आनन्द का स्वरूप है और बाहर जो आनन्द प्रतीत होता है, उस भौतिक आनन्द का भी वही स्रोत है।

जायसी वर्णन करते हैं कि पद्मावती के हृदय रूपी थाल ने स्तन रूपी लड्डू अभिलाषा के रूप में उसे समर्पित किये हैं। रमण के दौरान मेरी कमर उसकी कमर में लगकर शोभित हुई है और मैंने विशेष आनन्द लाभ किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो रावण रूपी या रमण करने वाले प्रियतम ने उसको कसौटी पर कसा—संभोग किया। मेरी सम्पूर्ण जवानी उसमें समाहित हो गई है। मैं तो यौवन और तज्जन्य आनन्द के कारण अपने आपको भूल सी गई हूं। जैसे राजा ने अपने यौवन को मुझे धरोहर के रूप में दे रखा था उसे उसने सम्भाल लिया। उसने मेरे सारे शृंगार को ले लिया है तथा मुझे तो केवल यौवन की रखवाली करने वाली बना दिया है। व्यंजना है कि मेरा शृंगार उसका है। वह जब चाहे, जिस रूप में चाहे, इसे भोग सकता है। मैं तो मात्र इसकी रक्षिका हूं और अब तो वह थाती भी नहीं रही है। उसने संभोग काल में उसे प्राप्त करके मुझे निस्सार या ठांठरि कर दिया है। अतः सखियो ! अब तो मैं शून्य या रिक्त हूं।

अनु रे छबीली ! तोहि छवि लागी। नैन गुलाल कंत सग जागी ॥
चंप सुदरसन अस भा सोई। सोनजरद जस केसर होई ॥
बैठ भौंर कुच नारग वारी। लागे नख, उछरीं रग-धारी ॥
अधर अधर सों भीज तमोरा। अलकाउर मुरि मुरि गा तोरा ॥
रायमुनी तुम औ रतमुहीं। अलिमुख लागि भई फुलचुहीं ॥
जैस सिगार-हार सौं मिली। मालति ऐसि सदा रहु खिली ॥
पुनि सिगार करु फला नेवारी। कदम सेवती बैठु पियारी ॥

कुंद कली सम बिगसी ऋतु बसंत औ फाग।
फूलहु फरहु सदा सुख औ सुख सुफल सोहाग ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—अनु-फिर, छबीली-शोभा वाली, गुलाल-अवजगे होने से गुलाल से लाल रग के हो गये हैं, चंप सुदरसन भा तेहि सोई। सोनजरद जसि केसरि होई-तेरा वह सुन्दर चंपा का सा रग, जर्द चमेली सा पीला हो गया है, उघरीं-पड़ी हुई दिखाई पड़ीं, वारी-रेखा, तमोरा-ताम्बूल, अलकाउर-अलकावलि, तोरा-तेरा, रायमुनी-एक छोटी सी सुन्दर चिड़िया, रतमुंही-लाल मुंह वाली, फूलसुंघनी नाम की छोटी चिड़िया, खिली-प्रसन्न नेवारी-अलग, सम बिगसी-समान विकसित हुई।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में सखियां पद्मावती से कहने लगीं-हे छबीली ! तुम प्रसन्न रहो और आनंदपूर्वक जीवन बिताओ। तुम्हें अब नयी छवि मिल गई है। पति के साथ रातभर जागते रहने के कारण तेरे नेत्र गुलाल के समान लाल हो गये हैं। चंप के समान तेरी उज्ज्वल कांति पीली पड़ गई है। हे सुन्दरी ! तेरे स्तन रूपी नारंगियों पर नखक्षत बने हुए हैं। उनके लाल रंग बने हुए हैं। उस प्रेमी से तेरे अधर मिले हैं। परिणामतः अधर से अधर मिल कर ताम्बूल के रंग के हो गये हैं। तेरे द्वारा सजायी हुई कुटिल घुंघराली केशराशि अस्तव्यस्त हो गई है।

हे सखी ! तुम रायमुनी जैसी पक्षी सी थीं और तुम्हारा मुख यौवन

की लाली से रंजित रहता था। तुम्हारा यौवन अक्षत था, किन्तु राजा रत्नसेन रूपी भ्रमर के साथ समागम करने के कारण फुलचुही चिड़िया के समान हो गई है। व्यंजना यह है कि तेरा यौवन, मद की लाली से लाल रहता था, किन्तु संभोग के कारण अब तो बिल्कुल श्यामवर्ण का रह गया है। ऐसी प्रतीत होती हो मानो तुम सदा खिली रहने वाली हो। अब दुबारा शृंगार करो, अपने क्षोभ का निवारण करो। अपने पति के चरणों की सेवा करती हुई उसकी प्रियभाषिणी बनो। जब तक कुन्दकली विकसित हो रही है तब तक बसन्त और फाग की ऋतु है—यौवन का वसन्त भी जब तक है तब तक कि केलि-क्रीड़ा का आलस है। सखियों ने कहा कि हे पद्मावती ! सदैव खिलो, फलो और तुम्हारा सुख-सौभाग्य सफल हो, इसी से तुम सदैव सौभाग्यवती बनी रहोगी।

विशेष—वर्णन रसात्मक है। इसमें अनेक शब्दों की व्यंजना रति परक है। कवि ने बड़े कौशल से यह वर्णन पाठकों के सामने रखा है। अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के साथ ही साथ सिंगारहार, मालती अलसी, नेवारी, कदम्ब, सेवती, कुन्द कली फूलों का नाम भी वसन्त ऋतु के साथ उपस्थित कर दिया है। मुद्रा और उपमा अलंकार की दृष्टि से हेतूत्प्रेक्षा के कारण इस पद का सौन्दर्य विशिष्टता लिये हुए है।

कहि यह बात सखी सब धाईं। चंपावति पहं जाइ सुनाईं ॥
आजु निरग पदमावति बारी। जीवन जानहुं पवन अधारी ॥
तरकि तरकि गइ चंदन चोली। धरकि धरकि हिय उठै न बोली ॥
अही जो कली-कवल रसपूरी। चूर चूर होइ गईं सो चूरी ॥
देखहुं जाइ जैसि कुंभिलानी। सुनि सोहाग रानी विहंसानी ॥
लेइ संग सबही पदमिनि नारी। आईं जहं पदमावति बारी ॥
आइ रूप सो सबही देखा। सोन-बरन होइ रही सो रेखा ॥

कुसुम फूल जस मरदै, निरंग देख सब अंग।
चंपावति भइ बारी, चूम केस औ मंग ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—धाई—दौड़ी दौड़ी गई। पहं—पास। निरंग—विवर्ण वदना। पवन-अधारी—इतनी सुकुमारी है कि पवन के आधार पर ही मानो उसका जीवन है। अही—थी। सोन-बरन होइ रही सो रेखा—ऊपर कह आए हैं कि 'रावन रहसि कसौटी कसी'।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि वर्णन करता है। पद्मावती और रत्नसेन के संभोग आदि की बातें सुन कर और पद्मावती को आशीर्वाद देकर सखियां दौड़ी-दौड़ी गईं और उन्होंने संभोग क्रिया का सारा वृतान्त चम्पावती से कह दिया। उन्होंने कहा कि आज सुन्दरी पद्मावती विवर्ण वदना हो गई है। उसका सौन्दर्य लुप्त हो गया है। उसके शरीर में प्राण नहीं हैं, केवल सांसें आ जा रही हैं। पद्मावती का चन्दन वस्त्र का चोला फट गया है, उसका हृदय धड़क रहा है, वह बोल नहीं सकती। जो पद्मावती कमल-कलिका थी और कला-युक्त तथा रस पूर्ण थी, वह चूर चूर हो गई, उसकी चूड़ियां भी चूर हो गईं, अब तुम देखो तो सही कि वह कैसी कुम्हिलाई हुई है।

रानी चम्पावती सखियों के कथन का असली अभिप्राय समझ गई और पद्मावती के विषय में इस प्रकार की बातें सुनकर हंस पड़ी। वह सभी पद्मिनी स्त्रियों के साथ वहां पर आई जहां पुत्री पद्मावती थी। सभी स्त्रियों ने उसका रत्यन्तकाल का क्षत-विक्षत शरीर देखा जो स्वर्ण-वर्ण के समान पीला हो रहा था—उदास हो गया था। रत्यन्तकाल में पद्मावती ऐसी लग रही थी जैसे कुसुभे का फूल मसल दिया गया हो। उस पद्मावती के शरीर के अंग-प्रत्यग उदास, शिथिल और रगहीन प्रतीत हो रहे थे। रानी चम्पावती यह देखकर उस पर न्यौछावर हो गई तथा प्रसन्न होकर उसकी काकुल मांग का चुम्बन किया।

विशेष—इस पद में भुक्त यौवना पद्मावती के विवर्ण और शिथिल सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। इसमें कवि ने सूक्ष्म कल्पना का परिचय बड़ी बारीकी से दिया है। अलंकारिकता का योगदान भी महत्वपूर्ण है।

सब रनिवास बैठ चहुं पासा। ससि-मंडल जनु बैठ अकासा ॥
बोलीं सबै "बारि कुंभिलानी"। करहु सभार, देहु खंडवानी ॥
कवल कली कोमल रंग-भीनी। अति सुकुमारि, लंक कै छीनी ॥
चांद जैस धनि हुत परगासा। सहस करा होइ सूर बिगासा ॥
तेहि के झार गहन अस गही। भई निरंग, मुख-जोति न रही ॥
दरब वारि किछु पुन्नि करेहू। औ तेहि लेइ सन्यासिहि देहू ॥
भरि कै थार नखत गजमोती। वारा कीन्ह चंद कै जोती ॥
कीन्ह अरगजा मरदन औ सखि कीन्ह नहानु।
पुनि भइ चौदसि चांद सो रूप गएउ ठपि भानु ॥४३॥

शब्दार्थ—रनिवास—रंगमहल। चहुं पासा – चारों ओर। ससि मंडल—चन्द्रमंडल। बारि—वारना, चारों ओर घुमा कर दान करना। खंडवानी—शर्बत। झार—ज्वाला या आग की लपटें। दरब—द्रव्य।

ससंदर्भ व्याख्या:—सम्पूर्ण रनिवास पद्मावती के चारों ओर बैठ गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो आकाश में चन्द्रमा का मंडल लगा हुआ है। सभी स्त्रियों ने कहा कि पद्मावती का स्वरूप कुम्हिला गया है और वह उदास तथा शिथिल हो गई है। अत. पद्मावती को संभाल कर शर्बत पिलाओ। यह तो वस्तुतः कमल की कोमल कली है एवं अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त है। वह अत्यन्त सुकुमारी है; उसकी कमर बहुत पतली है। चन्द्रमा के समान यह बेचारी बड़ी दुखी है। चन्द्रमा जैसी बालिका पूरी तरह सत्रस्त है। सूर्य ने अपनी सहस्त्र रश्मियों से मानो उसे ग्रस लिया था। उसकी लपटों से जैसे वह ग्रहण-ग्रसित हो गई थी। अब रत्यन्तकाल में वह विवर्ण वदना होकर कांतिहीन मुख वाली हो गई थी। सभी ने परामर्श दिया—इसके उपचार के निमित्त द्रव्य आदि का दान बहुत आवश्यक है। अतः कुछ द्रव्य आदि का दान करके कुछ पुण्य दान करना चाहिए और उस दान को किसी सन्यासी को दे देना चाहिए। इतना कहना था कि गजमुक्ताओं से भरा थाल उसके ऊपर सखियों ने उतारा या वार दिया। इसके पश्चात् सखियों ने पद्मावती के शरीर पर अरगजा का मर्दन किया और उसे स्नान आदि करा कर ताजगी प्रदान की गई।

स्नानोत्तर पद्मावती शृंगारादिकों मे सज्जित होकर चौदहवीं का चांद बन गई। उसकी कांति को देखकर सूय छिप गया।

पुनि बहु चीर आन सब छोरी। सारी कंचुकि लहर-पटोरी ॥
फुंदिया और कसनिया राती। छायल बद लाए गुजराती ॥
चिकवा चीर मघौना लोने। मोति लाग औ छापे सोने ॥
सुरंग चीर भल सिंघलदीपी। कीन्ह जो छापा धनि वह छीपी ॥
पेमचा डरिया औ चौधारी। साम, सेत, पीयर, हरियारी ॥
सात रंग औ चित्र चितेरे। भरि कै दीठि जाहि नहीं हेरे ॥
चदनौता औ खरदुक भारी। बांसपूर झिलमिल कै सारी ॥

पुनि अभरन बहु काढ़ा, अनवन भांति जराव।
हेरि फेरि निति पहिरैं, जब जैसे मन भाव ॥४४॥

शब्दार्थ.—बहु चीर=बहुत से वस्त्र। लहर पटोरी=पुरानी चाल का रेशमी किन्तु लहरदार कपड़ा। फुंदिया=नीवी या इजारबद के फुलरे। कसनियां=कसनी एक प्रकार की अंगिया। छायल=एक प्रकार की कुरती। चिकवा=चिकट नामक रेशमी वस्त्र। मघौना=मेघवर्ण अर्थात् नीले रंग का कपड़ा। पेमचा=किसी प्रकार का कपडा जो रेशम का होता है, तथा उसमें कमल के फूल छपे रहते हैं। चौधारी—चार खाने का कपड़ा। हरियारी—हरे रग। चितेरे—चित्रित। चदनौता—एक प्रकार का लहँगा। खरदुक—एक कपड़ा विशेष। बांसपूर—ढाके की बहुत महीन तंजेब जिसका थान बांस की पतली नली में आ जाता था। झिलमिल—एक बारीक कपड़ा। अनबन - अनेक प्रकार के कपड़े। जराव—जडाऊ काम। हेरि फेरि नित पहिरैं—नित्य प्रति बदल-बदल कर वह पद्मावती अपने मनोनुकूल वस्त्र पहनती थी। जैसे मन भाव—जैसा उसके मन को अच्छा लगता वैसा पहिनती थी।

ससदर्भ व्याख्या—इस पद में पद्मावती द्वारा पहने गये वस्त्रों का वर्णन किया गया है। कवि वर्णन करता हुआ कहता है कि—पद्मावती के पहनने के लिए अनेक प्रकार के वस्त्र लाये गये। पूर्व के धारण किये हुए सभी वस्त्र उतारे गये। उसकी साड़ी और कंचुकी लहरिया रेशम की बनी थी। नीवी के फुलरे और उसके ऊपर पद्मावती ने सफेद रग की ओढ़नी ओढ़ी। यह ढाके की महीन मलमल की बनी हुई थी। चिकवा नाम का रेशमी कपडा मेघ वर्ण अर्थात् नीला और सुन्दर था, जिसमें मोती जड़े हुए थे, और सोने का काम हो रहा था। सिंहलद्वीप के बने हुए अन्य अनेक सुन्दर कपड़े थे जिन पर छापे का काम हो रहा था। सिंहलद्वीप के बने हुए पेमचा, डोरिया और चारधारी वाले कपड़े थे जो श्याम श्वेत, पीले, हरे आदि सातों रंगों के थे, और उन पर अनेक चित्र चित्रित हो रहे थे। ये वस्त्र इतने चमकदार थे कि उनकी ओर आंख से देखा तक नहीं जा सकता था। इस प्रकार वस्त्रावृत होकर पद्मावती ने अनेक आभूषण पहने जो जड़े हुए थे। पद्मावती अपने मन की इच्छा के अनुकूल परिवर्तित कर-कराके मनभावने आभूषणों को धारण किया करती थी।

विशेष—जायसी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे जहां कहीं

भी वर्णन करने का और नाम गिनाने का अवसर आता है वहां मन भर कर वर्णन करते हैं। प्रस्तुत पद भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। इसमें कवि ने अनेक सुने-अनसुने कपड़ों के नाम गिनाये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिन्हें कपड़े का पर्यायवाची मानने को वाध्य होना पड़ता है। परिगणनात्मक शैली के प्रयोग के कारण ही इसमें भाव पक्ष की गरिमा नहीं मिलती है। नामपरिगणनात्मक शैली के बोझ से भावपक्ष को उभरने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। परिणामतः यह वर्णन उबाने वाला या कृति के पृष्ठों में भरती का माल दिखाई देता है।

रत्नसेन-साथी-खण्ड

रतनसेन गए अपनी सभा। बैठे पाट जहां अठ खंभा॥
आइ मिले चितउर के साथी। सबै बिहंसि कै दीन्ही हाथी॥
राजा कर भल मानहु भाई। जेइ हम कहं यह भूमि देखाई॥
हम कहं आनत जौ न नरेसू तौ हम कहां, कहां यह देसू॥
धनि राजा तुइ राज विसेखा। जेहि के राज सबै किछु देखा॥
भोग-बिलास सबै किछु पावा। कहां जीभ जेहि अस्तुति आवा?॥
अब तुम आइ अंतरपट साजा। दरसन कहं न तपावहु राजा॥

नैन सेराने, भूखि गइ देखे दरस तुम्हार।
नव अवतार आजु भा, जीवन सफल हमार॥१॥

शब्दार्थ—पाट=राजपाट। अठ खंभा=अष्टखम्भों से निर्मित। चितउर=चित्तौड़। दीन्हीं हाथी=हाथ मिलाया। भल मानहु=भला मनाओ, एहसान मानो या कृतज्ञता का अनुभव करो। अस्तुति=स्तुति। अंतरपट साजा=आंख की ओट में हुए। तपावहु=तरसाओ। सेराने=ठंडे हो गये। दरस तुम्हार=तुम्हारे दर्शनों से। नव अवतार=नया अवतार। जीवन सफल हमार=हमारा जीवन सफल हो गया।

ससंदर्भ व्याख्या—पद्मावती से मिलने के पश्चात् राजा रत्नसेन अपने चित्तौड़ से आये हुए साथियों की सभा में गया तथा सिंहासन पर आ बिराजा। वह स्थान अष्ट खम्भों से सज्जित था। इस स्थान पर उसे सभी चित्तौड़ के साथी मिल गये। सभी ने प्रसन्न होकर नमस्कार किया। वे आपस में कहने लगे कि हम तो राजा के विशेष कृतज्ञ हैं कि उसने हमारे ऊपर इतनी कृपा की और सिंहल की भूमि दिखाई है। यदि यह राजा हमें यहां न दिखाई देता तो, और यहां न ले आता तो हम न जाने कहां और कैसे होते। हे राज्याधिकारी राजा! तुम धन्य हो और तुम्हारा राज्य विशिष्टता का अधिकारी है। कारण, तुम्हारे ही राज्य में और अधिकार में रहने के कारण हमने सभी कुछ देख लिया।

साथियों ने कहा कि हे राजा! हमने तो भोग-विलास की सभी सामग्रियां प्राप्त करली हैं—खूब आनंदोपभोग किया है। हम प्राप्त आनन्द का वर्णन इसलिए नहीं कर सकते हैं कि हमारे पास ऐसी विशिष्ट जिह्वा नहीं है जो संस्तुति कर सके। अब, यह तो सब ठीक है पर हे राजा! यह तो बताओ कि तुम तो यहां आकर ही बैठ गये। हमें अब दर्शनों के लिए मत तरसाओ।

तात्पर्य, हमें दर्शन देते रहा करो। आज तुम्हारे रूप को देखकर हमारे नेत्र शीतल हो गये हैं—आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। तुम्हें देखकर हमारी भूख प्यास भाग गई है। आज तुम्हारे दर्शन पाकर हमें ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो नये जन्म में प्रवेश किया हो और नया अवतार धारण किया हो। वस्तुतः हमारा जीवन आज सफल हुआ है। हम राजा, आपको इस रूप में देख कर कृत-कृत्य हो गये हैं।

विशेष—इसमें राजा के साथियों का उल्लास और हर्ष व्यंजित है। अनलकृत होकर भी वर्णन बड़ा रसात्मक और स्वाभाविक है।

हंसि कै राज रजायसु दीन्हा। मै दरसन कारन एत कीन्हा॥
अपने जोग लागि अस खेला। गुरु भएउं आपु कीन्ह तुम्ह चेला॥
अहक मोरि पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्हि कै जोग विसेखेहु॥
जो तुम्ह तप साधा मोहि लागी। अब जिनि हिये होहु बैरागी॥
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के सग मानै भोगू॥
सोरह सहस पदमिनी मांगी। सबै दीन्हि. नहि काहुहि खांगी॥
सब कर मन्दिर सोने साजा। सब अपने अपने घर राजा॥

हस्ति घोर औ कापर सबहि दीन्ह नव साज।
भए गृही औ लखपती, घर घर मानहुं राज॥२॥

शब्दार्थ—राज रजायसु—राजा ने आज्ञा दी। एत—इतना सभी। अस खेला—इस प्रकार खेला हूं या क्रीड़ा की है। गुरु भयेऊ आप—आप हमारे गुरु अथवा पथ प्रदर्शक। अहक—लालसा या कामना। मोहि लागी—मेरे निमित्त या मेरे कारण। काहुहि खांगी—किसी के निमित्त भी कम नहीं पड़ी या घटी, सभी की इच्छा पूर्ण हुई। मदिर सोने साजा—सभी को मंदिर स्वर्ण निर्मित मिले हुए थे। अपने अपने घर राजा—सभी अपने-अपने स्थान पर राजा थे। घोर—घोड़ा। कापर—कपड़े। नव साज—नया साज सामान। गृही—गृहस्थ। लखपती—लक्षाधीश। घर घर मानहुं राज—सभी ने अपने-अपने घर पर राज्य का सा आनन्द मनाया तथा सुखोपलब्ध किया।

ससदर्भ व्याख्या—पूर्व पद के प्रसग में ही कवि जायसी कह रहे हैं। रत्नसेन ने अपने साथियों की वार्ता सुनकर कहा—मैंने अब तक जो भी कुछ किया, वह सब पद्मावती के दर्शनों की इच्छा से ही किया है। अपनी योग साधना (पद्मावती के मिलन, के निमित्त ही विचरण किया है। इस साधना में मैं स्वयं गुरु बना और तुम सबको अपना शिष्य बनाया। मेरी यह लालसा थी कि तुम पुरुषार्थ को पहचानो और गुरु को जानकर योग में विशेषता प्राप्त करो। जब तुमने मेरे साथ होकर योग धारण किया है, तो अब मेरी सिद्धि प्राप्त हो जाने पर और राजसी भोग अपना लेने पर तुम भी भोग में प्रवृत्त हो जाओ। वैराग्य भावना के पश्चात् जैसे मैंने भोग साधना की ओर कदम बढ़ाया है वैसे ही तुम सभी वैराग्य के पश्चात् भोग की ओर बढ़ो। कारण, जो जिसके साथ होकर तप और योग करता है वह उसके साथ भोग करने में भी शामिल होता है। फिर राजा ने अपने साथियों के लिए सोलह हजार पद्मिनियों को मांगा और अपने सभी साथियों में उन्हें वितरित कर दिया। जायसी कहते हैं कि—

सभी के भवन स्वर्ण निर्मित थे और सभी अपने-अपने घर में राजा के समान शोभायमान होते थे। व्यंजना है कि सभी सुखी और आनन्दमय जीवन बिता रहे थे। सभी को हाथी-घोड़े, कपड़े और अभिनव साज सामान दे दिये गये थे। वे सभी अपने आनन्दमग्न हो जीवन यापन करते थे। सभी गृहस्थी और लक्षाधीश बन गये। उन्हें देख कर ऐसा लगता था मानो सभी अपने-अपने घरों में राजा और सर्वसुख सम्पन्न अधिपति बन गये हों।

विशेष—वर्णन में संतुलन रखा गया है, अन्यथा जायसी चाहते तो अपनी परिगणनात्मक शैली के आधार पर सभी सोलह हजार नारियों के नाम और गुण गिना सकते थे।

षट्-ऋतु-वर्णन-खण्ड

पदमावति सब सखी बोलाई। चीर पटोर हार पहिराई ॥
सीस सबन्ह के सेंदुर पूरा। औ राते सब अंग सेंदूरा ॥
चंदन अगर चित्र सब भरीं। नए चार जानहु अवतरीं ॥
जनहु कवल संग फूलीं कुईं। जनहुं चांद संग तरई ऊईं ॥
धनि पदमावति, धनि तोर नाहू। जेहि अभरन पहिरा सब काहू ॥
बारह अभरन, सोरह सिंगारा। तोहि सोंह नहिं ससि उजियारा ॥
ससि सकलंक रहै नहिं पूजा। तू निकलंक, न सरि कोइ दूजा ॥
काहू बीन गहा कर, काहू नाद मृदंग।
भवन्ह अनंद मनावा रहसि कूदि एक संग ॥ १ ॥

शब्दार्थ—चीर—वस्त्र। सेन्दुर पुरा—सिंदूर लगाया। चार—ढंग। जेहि—जिसके कारण। नाहू—स्वामी। सौंहों—सामने। पूजा—पूर्ण। निकलंक—निष्कलंक या कलंकरहित। सरि—समान। रहस्य—आनन्द गाहा—ग्रहण किया।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पद में कवि जायसी काव्य रीति परम्परा के अनुसार षट्-ऋतु-वर्णन का प्रसंग प्रस्तुत कर रहे हैं। वे कहते हैं कि पद्मावती ने सभी सखियों को अपने पास बुला लिया। उन्हें रेशमी वस्त्र और हार पहिना दिये, सबके सिर में सिंदूर लगा दिया। परिणामस्वरूप सबके शरीर लाल रंग के दिखाई देने लगे। चंदन, अगर और चतुर-सम नामक सुगन्धित द्रव्यों से पूरी तरह सुगन्धित वे सखियां मानों नव वेषभूषा में प्रस्तुत हुई। पद्मावती की सखियां ऐसी प्रतीत हो रही थीं जैसे कमल के साथ कुमोदनी अथवा चंद्र के साथ तारावली। सखियों ने पद्मावती से कहा—हे पद्मावती! तू धन्य है और तेरा पति धन्य है जिनके श्रृंगार करने के पश्चात ही सब किसी ने साज श्रृंगार धारण किया। बारह अलंकार और सोलह श्रृंगार पद्मावती ने धारण किये थे, जिसके कारण सखियों ने कहा कि हे रानी! ये श्रृंगार और आभूषण तुझे ही शोभा देते हैं। तू वस्तुतः संसार में चंद्र-मूर्ति के समान है। तेरी शोभा दिव्य है। गगन का चद्रमा तो सकलंक ही है जो राहू के द्वारा ग्रसित होता है। किन्तु पद्मावती का चेहरा निष्कलंक है तथा इसकी तुलना में कोई दूसरा नहीं है। जायसी कहते हैं कि किसी ने प्रसन्नता में आकर

हाथ में वीणा ले ली और किसी ने मृदंग की आवाज की। सम्पूर्ण दिवस सखियों ने आनन्द और उल्लास से बिताया।

विशेष—इस पद में प्रतपि और व्यतिरेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। सातवीं पंक्ति में व्यतिरेक का प्रयोग प्रभावशाली है।

पदमावति कह सुनहु, सहेली। हौं सो कंवल, तुम कुमुदिनि-बेली॥
कलस मानि हौं तेहि दिन आई। पूजा चलहु चढ़ावहिं जाई॥
मंझ पदमावति कर जो बेवानू। जनु परभात परै लखि भानू॥
आस पास बाजत चौडोला। दुंदुभि, झांझ, तूर, डफ, ढोला॥
एक संग सब सोंधे-भरी। देव-दुवार उतरि भइ खरी॥
अपने हाथ देव नहवावा। कलस सहस इक घिरित भरावा॥
पोता मंडप अगर औ चंदन। देव भरा अरगज औ बंदन॥
कै प्रनाम आगे भई, बिनय कीन्हि बहु भांति।
रानी कहा चलहु घर, सखी! होति है राति॥ २॥

शब्दार्थ—बेली=लतायें। कलस मानि=कलश चढ़ाने की प्रतिज्ञा करके। तिहि दिन=उस दिन। बेवानु=विमान। चौडोला=पालकी। सोंधे=सुगन्ध। देव दुवार=शिवजी के मंदिर में। बंदन=सिंदूर। बहु भांति=बहुत प्रकार से।

ससंदर्भ व्याख्याः—प्रस्तुत पंक्तियों में पद्मावती सखियों की बात का उत्तर देती हुई कहती है कि अरी सखियो! सुनो, मैं यदि कमल हूं तो तुम कुमोदिनी के पुष्प हो। उस दिन मैं शिवजी के मण्डप में कलश चढ़ाने का संकल्प कर आयी थी। अतः चलो, चलकर वहां संकल्प की हुई पूजा चढ़ा आवें। वे सभी चल पड़ीं, सभी के मध्य में पद्मावती का विमान था जो प्रभात-कालीन सूर्य की भांति जान पड़ता था। पालकियों के इधर उधर दुंदुभी, झांझ तुरही, ढ़प और ढ़ोल बज रहे थे। सुगन्धित वस्त्रों में सजी धजी पद्मावती सभी सखियों के साथ पालकी से उतर कर शिव मंदिर के द्वार पर जा खड़ी हुई।

जायसी कहते हैं कि पद्मावती ने अपने हाथों से महादेव की मूर्ति को घृत से भरे हुये एक हजार कलशों से स्नान कराया। समस्त मण्डप अगर और चंदन से पोता गया तथा महादेव की मूर्ति में चंदन और सिंदूर लगाया गया। पद्मावती मूर्ति को प्रणाम करने आगे खड़ी होगई और अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगी। सखियों ने कहा, हे रानी अब घर चलो, रात्री होने का समय होगया है।

भइनिसि, धनि जस ससि परगसी। राजैं देखि भूमि फिर बसी॥
भइ कटकई सरद ससि आवा। फेरि गगन रवि चाहै छावा॥
सुनि धनि भौंह धनुक फिरि फेरा। काम कटाछन्ह कोरहि हेरा॥
जानहु नाहिं पैज, पिय! खांचौं। पिता सपथ हौं आजु न बांचौ॥
कालिह न होइ, रहो महि रामा। आजु करहु रावन संग्रामा॥
सेन सिंगार महूं है सजा। गज-गति चाल, अंचल-गति धजा॥
नैन समुद और खड़ग नासिका। सरवरि जूझ को मो सहुं टिका?॥
हौं रानी पदमावति मैं जीता रस भोग।
तू सरवरि करु तासौं जो जोगी तोहि जोग॥ ३॥

शब्दार्थ — भइनिसि=रात्री हुई, जस=जैसे, कटकई = चढ़ाई या सेना का साज, बहुरि=फिर, धनुक=धनुप, कटाछन्ह=कटाक्ष कोरहि हेरा=कोने से ताका, खाचौं = प्रतिज्ञा करती हूँ, हौं=मुझसे, रही महि=पृथ्वी पर पड़ी रही, सरवरि=समान, मो सहुं=मेरे सामने।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कवि जायसी कहते है कि रात्री हुई तो धन्या पद्मावती ऐसी शोभित हुई जैसे चद्रमा प्रकाशित होता है। उसकी चद्राभा को देखकर राजा को ऐसा प्रतीत हुआ मानो धरित्री पर सृष्टि का नव सृजन हो रहा हो। दूसरे शब्दो में सृष्टि नवीन, आकर्षक और मोहक लगने लगी। उसका मन पहले समागम को भूलकर तथा नव-सज्जित शृंगार से विमोहित होकर नये ढ़ंग से आकर्षित होने लगा। राजा को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे शरद् ऋतु का चंद्रमा पद्मावती के शृंगार के रूप में अपनी सेना सजा कर आगया हो। दूसरी ओर सूर्य रूपी रत्नसेन पुनः आकाश को आच्छादित कर देना चाहता था। यह सुनकर पद्मावती ने अपने भौंह रूपी धनुष को घुमाया और काम-कटाक्ष रूपी बाण के द्वारा इस इच्छा से देखना शुरू किया जैसे वह काम के वशीभूत होगई हो। उसने कहा कि हे प्रियतम ! तुम नहीं जानते कि मैं आज नये रूप में हूं और तुमने कहां तक काम की रेखा खींच रखी है यह भी नहीं मालुम, किन्तु इतना निश्चित है कि मैं आज काम-कला में तुम्हें परास्त कर दूंगी। मैं पिता की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करती हूं कि तुम आज युद्ध में मुझ से नहीं बच सकोगे। कल की तरह मैं पृथ्वी पर पड़ी नहीं रहूंगी, आज तो मैं रमण रूपी रावण, तुमसे संग्राम करूंगी। मैंने भी शृंगार की सेना तैयार करली है। मेरी गति ही हाथी की चाल है। मेरे अंचल का फहरना ही ध्वजा का फहरना है। मेरे नेत्र ही समुद्र और नासिका ही खड़ग् है। सम्मुख युद्ध करके मुझसे कोई नहीं जीत सकता है। मैं पद्मावती रानी हूं, मैंने सभी रस भोगों पर विजय प्राप्त करली है। तुम तो उस योगी से अपनी समानता करो जो तुम्हारे योग्य हो।

विशेषः—सांगरूपक अलकार का प्रयोग किया गया है।

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ॥
उहां सामुहें रिपु दल माहां। इहां त काम-कटक तुम्ह पाहां॥
उहां त हय चढ़ि कै दल मडौं। इहां त अधर अमिय रस खडौं॥
उहां त खड़ग नरिंदहि मारौं। इहां त बिरह तुम्हार सघारौं॥
उहां त गज पेलौं होइ केहरि। इहवां काम कामिनी-हिय हरि॥
उहां त लूटौं कटक खंधारू। इहां त जीतौं तोर सिंगारू॥
उहां त कुंभस्थल गज नावौं। इहां त कुच-कलसहि कर लावौं॥
परैं बीच धरहरिया, प्रेम-राज को टेक ?।
मानहिं भोग छवौ ऋतु मिलि दूवौ होइ एक॥ ४॥

शब्दार्थ—अस जोगि=ऐसा जोगी, जान सब कोऊ=सभी कोई जानते हैं, उहां=वहां, सामुहें=सामने, तुम्ह पांहा=तुम्हारे पास, मडौं=शोभित करता हूं, अमिय रस = अमृत रस इहवां काम कामिनी हिय हरि=यहां कामिनी के हृदय से काम ताप को हर कर ठेलता हूं, खंधारू=स्कंधावार, तम्बू या छावनी। धरहरिया=बीच बिचाव करने वाला।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी कहते है कि पूर्व संदर्भानुसार पद्मावती के उत्तर में रत्नसेन कहता है—हे पद्मावती ! ये सब जानते हैं कि मैं एक योगी हू, मैने वीर और शृंगार दोनों पर विजय प्राप्त करली है। वहां चित्तोड़ में तो सदैव शत्रु सेना के समक्ष मैं युद्ध स्थित रहता था और यहां तुम्हारे समीप कामदेव की सेना के समक्ष हूँ। वहां पर मैं क्रोधाविष्ट होकर अश्व पर सवार होकर सैनिकों के दल का संहार करता था और यहां तेरे अधरों के रस को भोगता हुआ उन्हें खंडित कर दूंगा। चित्तौड़ में मैं तलवार के सहारे शूर वोर राजाओं का संहार करता था और यहां तुम्हारी विरहाग्नि का संहार करूंगा। वहां तो सिंह बनकर हाथियों पर टूटता था और यहां हे कामनी ! तुम मुझसे अपनी रति रक्षा के लिये हाय-हाय पुकारोगी। चित्तोड़ में मैं स्कंधावार और कटक को लूटता हूँ तो यहां तुम्हारे शृंगार को लूटूंगा। वहां तो सेना के हाथियों का गण्डस्थल अपने प्रहारों से झुकाता था और यहां तुम्हारे स्तन कलशों का मर्दन करूंगा।

जायसी कहते हैं कि प्रेम राज्य में यदि कोई मध्यस्थ आ पड़े तो उसे कहां आश्रय मिल सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रेम की अग्नि को रखने के लिये राजा वीर और शृंगार रस का समन्वय मध्यस्थ बन गया था। पद्मावती और रत्नसेन दोनों एक होकर छैहो ऋतुओं में आनंद का उपभोग करने लगे।

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुऋतु चैत बैसाख सोहाई ॥
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहसि भरि मंगा ॥
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कबिलासू ॥
सौर सुपेती फूलन डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी ॥
पिउ सजोग धनि जोबन बारी। भौंर पुहुप संग करहिं धमारी ॥
होइ फाग भलि चांचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जस होरी ॥
धनि ससि सरिस, तपै पिय सुरू। नखत सिंगार होहिं सब चूरू ॥
जिन्ह घर कंता ऋतु भली, आव बसंत जो नित्त।
सुख भरि आवहिं देवहरैं, दुःख न जानै कित्त ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—नवल—नयी, सुऋतु—सुन्दर ऋतु। मगा—मांग में। डासी—बिस्तर। धमारी—क्रीड़ा करना। चांचरि—एक विशेष नृत्य। सरिस—समान। सुरू—चादर। देव हरैं—देव मंदिर में।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं कि सर्व प्रथम बसंत की नई ऋतु का आगमन हुआ। वह सुहावनी चैत, वैशाख की ऋतु आनन्दमयी प्रतीत हुई। सुन्दरी पद्मावती ने अपने शरोर पर चदन के सुगंधित वस्त्र धारण किये और हसते हंसते अपनी मांग में सिन्दूर भरा। इसी प्रकार उस धन्या ने फूलों के हार पहिने और परिमल की सुगंधि लगाई। अपने धवल-गृह के सप्तखण्डे पर मलयगिरि के चंदन का छिड़काव किया। शैया पर श्वेत चादर बिछायी गई। इस प्रकार वरवधु अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती परस्पर शयनागार में मिले—अभिसार करने लगे। इधर तो यौवन की वाटिका में प्रिया और प्रियतम का संयोग हुआ, उधर भ्रमर पुष्पों के साथ क्रीड़ा करने लगे। संभोग के आनंद का फाग खेला जाने लगा और परस्पर पति-पत्नी में

चांचरि का मधुर नृत्य होने लगा। वसंत में जैसे होली जलायी जाती है वैसे ही विरह जला दिया गया। पद्मावती चंद्रमा के समान शीतल थी और रत्न-सेन सूर्य के समान तप्त हो रहा था। चंद्र का समस्त शृंगार विलास क्रीड़ा में चूर-चूर होगया। जायसी कहते हैं जिस घर में नारी का पति है वहां तो सदा ही सुहाग रूपी वसंत ऋतु बनी रहती है। उनके वसंत विहार मंदिर में सदा सुख की पूजा होती है और दुख कोई जानता तक नहीं है।

ऋतु ग्रीषम कै तपनि न तहां। जेठ असाढ़ कंत घर जहां॥
पहिरि सुरंग चीर घनि झीना। परिमल मेद रहा तन भीना॥
पदमावती तन सिग्रर सुवासा। नैहर राज, कंत-घर पासा॥
औ बड़ जूड़ तहां सोवनारा। अगर पोति, सुख तने ओहारा॥
सेज बिछावन सौंर सुपेती। भोग बिलास करहिं सुख सेंती॥
अधर तमोर कपुर भिमसेना। चंदन चरचि लाव तन बेना॥
भा अनंद सिंघल सब कहूं। भागवंत कहं सुख ऋतु छहूं॥
दारिउं दाख लेहिं रस, आम सदाफर डार।
हरियर तन सुअटा कर जो अस चाखनहार॥६॥

शब्दार्थ—परिमल मेद=सुगंधित पदार्थ, तन भीना=सुगंधित शरीर, झीना=पतेला, सिग्रर=शीतल, सोवनारा=शयनागार, ओहारा=परदा, सौंर सुपेती=कोमल बिस्तर, सेंती=से, भिमसैना=भीमसैनी कपूर, चरचि=चुपड़कर, भाग वंत=भाग्यशाली।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं कि जिस स्थान पर जेठ और आषाढ़ के महिने में स्वामी घर पर रहते हैं वहां ग्रीष्म की ऋतु में भी तपन का अनुभव नहीं होता है। स्त्रियां उन दिनों लाल रंग का झीना वस्त्र पहनती हैं। उनका शरीर परिमल और मेद की सुगंधि से सुगंधित रहता है। पद्मावती की भी यही स्थिति है। पद्मावती ग्रीष्म ऋतु में सुगंधित और शीतल वस्त्र धारण किये हुये है। उसका तन-मन शीतल है, कारण वह पिता के घर पर है और उसे अपने पति का भी सुख प्राप्त है। इतना ही नहीं उसका शयन कक्ष भी बड़ा शीतल और सुगंधित है। वह अगर से पुता हुआ है तथा उसमें अनेक सुख प्रदान करने वाले पर्दे लगे हुये हैं। शैया पर श्वेत रंग की चादर बिछी हुई है। वह पद्मावती हमेशा सुख पूर्वक भोग विलास किया करती है। पद्मावती के अधरों पर पान की लाली दिखाई देती है, वह भी साधारण नहीं, भीमसैनी कपूर से मिली हुई। शरीर पर चंदन का अवलेप है। खस की सुगंध लगी हुई है। सिंहल में सर्वत्र आनंद छाया हुआ है। ठीक ही है कि भाग्यशाली व्यक्तियों को छहों ऋतुओं में सुख भोग और आनंदोपलब्धि होती रहती है। ग्रीष्म के दिनों में दाड़िम और द्राक्षा रंग ग्रहण कर रहे हैं अर्थात् पक रहे हैं। सदा फलने फूलने वाले आम डालियों पर लगे हुये हैं। जो व्यक्ति इनको चखता है वह आनंदमग्न रहता है ठीक वैसे ही जैसे इन फलों को देखकर तोते का शरीर हरा रहता है।

रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
पदमावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन, भूमि सोहाई॥
कोकिल बैन, पांति बग छूटी। धनि निसरीं जनु बीरबहूटी॥

चमक बीजु, बरसै जल सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ।।
रंग-राती पीतम सग जागी । गरजे गगन चौंकि गर लागी ।।
सीतल बूंद, ऊंच चौपारा । हरियर सब देखाइ संसारा ।
हरियर भूमि, कुसुंभी चोला । ग्रौ धनि पिउ संग रचा हिंडोला ।।

पवन झकोरे होइ हरष, लागे सीतल बास ।
धनि जानै यह पवन है, पवन सो अपने पास ।।७।।

शब्दार्थ—अधिक सोहावा—अधिक शोभायमान लगती है, चाहत—मनभावन या मनहरण ऋतु, सोहावन—शोभायमान, पांति बग—बगुलों की पंक्ति, निसरी—निकली, बरसै जल सोना—कौंधे की चमक में पानी की बूंदें सोने की बूंदों सी लगती हैं, सुठि—अच्छा, लोना—लावण्य, रंग राती—रंग में अनुरक्त, गर लागी—गले से लगी हुई, चोला—पहनावा धनि जानै यह पवन है, पवन सो अपने पास—स्त्री समझती है कि वह हर्ष और शीतलवास पवन में है पर वह उस प्रिय में है जो उसके पास है, हरियर—हरियाली, कुसुंभी—कुसुंभी रग का वस्त्र ।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी पावस ऋतु का वर्णन करते हुए कहते हैं। पावस ऋतु के प्रारम्भ में यदि प्रिय मिल जाय तो श्रावण और भाद्रपद के मास अधिक मनभावन लगते हैं। पद्मावती को मनचाही ऋतु प्राप्त हो गई है। आकाश सुहावना है। पृथ्वी शोभायमान है। कोयल मीठी वाणी बोल रही है। बगुलों की पंक्ति उड़ रही है। स्त्रियां मानो वीरबहूटियों के रूप में निकल रही हैं। विद्युत चमक रही है, जिसकी दीप्ति में पानी की बूंदे सोने की बूंदों के समान मालुम पड़ती हैं। दादुर और मयूर के शब्द अत्यन्त प्रिय लगते हैं। पद्मावती प्रेम के रग में रंगी हुई, पति के साथ रात में जागती है।

जायसी कहते हैं कि जब बादल गरजता या चमकता है तो वह चौंक कर पति के कठ से लिपट जाती है। ऊंचे चौबारे पर ठंडी-ठंडी बूंदें पड़ती हैं। सारा ससार हरा भरा दिखाई देता है। मलय पवन बह रहा है। मुख में सुगंध है। लताओं और पुष्पों की सेज बिछी है, हरी हरी भूमि है। कुसुंभी रग के पहनावे को पहनकर पद्मावती हिंडोले पर बड़ी भली प्रतीत हो रही है। हवा का झकोरा लगता है, शीतल पवन बहता है, और परिणामस्वरूप हृदय में हर्ष उत्पन्न हो रहा है। इसका कारण पद्मावती का साथ है। वह समझती है कि हवा शीतल है, किन्तु यह पवनगत शीतलता तो प्रिया की आशा से अनुभव होती है। तात्पर्य यह है कि विह्वलता पवन के कारण नहीं है वरन् प्रिय मिलन की आशा है। इसी से मन में सुख और आनंद की भावनाएं दिखाई देती हैं।

आइ सरद ऋतु अधिक पियारी । आसिन कातिक ऋतु उजियारी ।।
पदमावति भई पूनिउं - कला । चौदसी चांद उई सिंघला ।।
सोरह कला सिंगार बनावा । नखत - भरा सूरुज ससि पावा ।।
भा निरमल सब धरती अकासू । सेज संवारि कीन्ह फुल - बासू ।।
सेत बिछावन औ उजियारी । हंसि हंसि मिलहिं पुरुष औ नारी ।।
सोन-फूल भइ पुहुमी फूली । पिय धनि सौं, धनि हिय सौं भूली ।।

चख अंजन देइ खंजन देखावा । होइ सारस जोरी रस पावा ।।
एहि ऋतु कंता पास जेहि, सुख तेहि के हिय माहं ।
धनि हंसि लागै पिउ गरै, धनि-गर पिउ कै बाहं ।।८।।

शब्दार्थ—आसिन=आश्विन, उजियारी=उज्ज्वल या शुभ्र पूनिउं कला=पूर्णिमा की कला, उई=उदित होना नखत-भरा ससि=आभूषणों के सहित पद्मावती, फुलबासू=फूलों से सुगंधित, तेहि के हिय मांह=उसके हृदय मे, पिउ गरै=प्रियतम के गले, बाहं=भुजा ।

ससंदर्भ व्याख्या—इस पद में जायसी शरद ऋतु का वर्णन कर रहे है । वे कहते हैं कि शरद ऋतु आ गई है । इसमें नवरात्र से युक्त आश्विन और कार्तिक के दो मास होते हैं । पद्मावती, सम्पूर्ण कलाओं के साथ पूर्णिमा के चन्द्र रूप में सिंहल में उदय हुई । उसने सोलहों कलाओं के शृंगार से अपने को सजाया । नक्षत्रों से भरे हुए चन्द्रमा को, आभूषणों से लदी हुई पद्मावती को, सूर्य अर्थात् रत्नसेन ने प्राप्त किया । उस समय धरित्री और आकाश सभी निर्मल बन गये थे । शैय्या अधिक सुन्दर ढंग से सजाइ गई है । उस पर श्वेत पुष्प सजा रखे हैं । सफेद बिस्तर है और शरद की चांदनी है । रत्नसेन ने इस प्रकार सजी धजी नारी पद्मावती को प्राप्त किया ।

जायसी कहते हैं कि स्त्री और पुरुष, पद्मावती और रत्नसेन परस्पर मिलने लगे । स्वर्ण फूलों के रूपों में पृथ्वी प्रसन्न होने लगी । ऐसा प्रतीत होता है जैसे धरित्री की छाती पर सोनफूली विकसित हो गई हो । पति-पत्नी परस्पर मिलकर सुध-बुध खो बैठे । पद्मावती की आंख अंजन लगाने से खंजन पक्षी सी दिखाई देने लगीं । सारस पक्षी सी जोड़ी बनकर पति-पत्नि आनंद करने लगे ।

इस ऋतु में जिस स्त्री के पास उसका पति है उसके हृदय में अजीब किन्तु अदभुत सुख है । पत्नी तो हंसकर या प्रसन्न होकर प्रिय के गले से लिपटती है या वक्ष से लिपटती जाती है । इसी कारण, प्रिय की बाहें प्रिया के गले में क्रीड़ा करती जाती हैं ।

विशेष—वर्णन स्वाभाविक और व्यावहारिक है । सुख-दुख की स्थिति मनोनुकूल होती है । पति के साथ स्त्रियों के सुख की व्यंजना इस पद में की गई है ।

ऋतु हेमंत सग पिएउ पियाला । अगहन पूस सीत सुख-काला ।।
धनि औ पिउ महं सीउ सोहागा । दुहुंन्ह अंग एकै मिलि लागा ।।
मन सौं मन, तन सौं तन गहा । हिय सौं हिय, बिचहार न रहा ।।
जानहुं चंदन लागेउ अंगा । चंदन रहै न पावै संगा ।।
भोग करहिं सुख राजा रानी । उन्ह लेखे सब सिस्टि गुड़ानी ।।
जूझ दुवौ जोबन सौं लागा । बिच हुंत सीउ जीउ लेइ भागा ।।
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं । ऐस मिलहिं, तबहुं न अघाहीं ।।
हंसा केलि करहिं जिमि, खूंदहिं कुरलहिं दोउ ।
सीउ पुकारि कै पार भा, जस चकई क बिछोउ ।।९।।

शब्दार्थ—सुख-काला—सुख का समय । धनि औ पिउ महं सीउ सोहागा—शीत, दोनों के बीच सोहागे के समान है, जो सोने के दो टुकड़ों को

मिलाकर एक करना है। बिचहार—बिचौलिया या मध्यस्थ। उन्ह लेखे—उनकी समझ में। सिस्टि—सृष्टि। अछाहीं—सन्तुष्ट। केलि करहिं—क्रीड़ा करते हैं। खूंदहि कुरलहिं—उमंग में क्रीड़ा करते हैं। पार भा—पार हो गया, किसी भी प्रकार अपना कर चला जाना। चकई क बिछोउ—चकवी का बिछोह हो गया।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हेमन्त ऋतु में तो प्रिय के सम्पर्क में प्रेम का प्याला पिया जाना चाहिए। अगहन पूस के महिने में शीत सुख का काल है। तात्पर्य, सुख का कारण है। शीत, प्रिय और प्रिया के बीच में सोहागे के समान है, जो सोने के दो टुकड़ों को मिलाकर एक करता है। इस ऋतु में प्रिय और प्रिया के मन से मन और तन से तन परस्पर मिल गये। हृदय से हृदय मिल गया, बीच में कोई भी व्यवधान नहीं रहा। जायसी कहते हैं कि एक को दूसरे के स्पर्श से शरीर में चन्दन लेप के समान सुख प्राप्त होता है। जब पद्मावती और रत्नसेन परस्पर एक दूसरे से मिलने लगे तो विरह बीच से ही भाग खड़ा हुआ है। यौवन का शीत इस प्रकार भी क्या कि विरह बीच से भाग खड़ा हो। राजा और रानी परस्पर सुखपूर्वक भोग-विलास में रत रहने लगे। जब दोनों एक ही शरीर हो गये तो भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। जिस प्रकार हंस परस्पर क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार ये दोनों उमग में भरे हुए क्रीड़ा कर रहे थे। चकवी के वियोग की भांति शीत रूपी चकवा किनारे पर खड़ा-खड़ा चिल्ला रहा था।

आइ सिसिर ऋतु, तहां न सीऊ। जहां माघ फागुन घर पीऊ।।
सौर सुपेती मंदिर राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भांती।।
घर घर सिंघल होइ सुख जोजू। रहा न कतहुं दुख कर खोजू।
जहं धनि पुरुष सीउ नहीं लागा। जानहुं काग देखि सर भागा।।
जाइ इन्द्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदमावति देस निसारा।।
एहि ऋतु सदा सग महं सेवा। अब दरसन तें मोर बिछोवा।।
अब हंसि कै ससि सूरहि भेंटा। रहा जो सीउ बीच सो मेटा।।

भएउ इंद्र कर आयसु, बड़ सताव यह सोइ।
कबहुँ काहु के पार भइ, कबहुं काहु के होइ।।१०।।

शब्दार्थ—तहां न सीऊ-वहां शीत नहीं है, सौर-चादर, राती-रात में, दगल-दगला-एक प्रकार का अंगरखा या चोला, जोग-भोग, खोजू-निशान, चिन्ह या पता, सर-बाण या तीर, धनि पुरुष-सौभाग्यशाली पुरुष, जानहु काग-यहां इन्द्र के पुत्र जयंत की ओर लक्ष्य है, आयसु भएउ-इन्द्र ने कहा, देस निसारा-देश निकाला, मोर-मेरा, बिछोवा-वियोग, ससि सूरहिं भेंटा-चन्द्ररूपिणी पद्मावती, सूर्य रूपी रत्नसेन से मिली, बड़ सताव यह सोई-यह वही है जो लोगों को बहुत सताता है।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में जायसी शिशिर ऋतु का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं-माघ और फागुन के दिनों में शिशिर ऋतु का आगमन हुआ है किन्तु प्रिय जब घर में हो तो कोई भय नहीं है। तात्पर्य प्रिय के साथ घर पर रहने पर शीत का अनुभव नहीं होता है। स्त्री-पुरुष, निशा-दिवस सौर सुपेती ओढ़े रहते हैं। इतना ही नहीं वे अनेक प्रकार के मोटे (दगल) कपड़े

पहने रहते हैं। सिंहल के घर घर में सुख का उपभोग हो रहा है। दुख का कहीं नामोनिशान नहीं है। जहां स्त्री और पुरुष इकटठे हों वहां से शीत वैसे ही भागता है जैसे बाण को देखकर कौत्रा भागता है। यह शीत-रूप कौआ (इन्द्र का पुत्र जयन्त जिसने कौवे का रूप धारण कर सीता के स्तन पर चंचु से प्रहार किया था) मानो इन्द्र से जाकर पुकार करने लगा है कि मुझे पद्मावती ने देश निकाला दे दिया है। इस ऋतु में तो मैं साथ-साथ रहा करता था किन्तु अब तो दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं और बडे कष्ट से दिन बिता रहा हूं। अब तो शशि रूपिणी पद्मावती प्रसन्न होकर सूर्य रूपी रत्नसेन से भेंट कर रही है। शिशिर के दिनों मे सूर्य और चन्द्र एक साथ आकाश में दिखाई दे जाते हैं।

जायसी कहते हैं कि इन दोनों के बीच में जो शीत था वह सब नष्ट हो गया है। इन्द्र ने कहा कि यह वही है जो लोगों को बहुत सताया और तड़फाया करता है। यह तो संसार का नियम है कि कभी किसी की पारी होती है और कभी किसी की। तात्पर्य, प्रभुता और निर्धनता तो सभी को प्राप्त होती रहती है। समय की बात है। इससे मुक्त कोई भी नहीं है। शीत कभी किसी को कष्ट देता है तो कभी कष्ट पाता है। इसने अकेले व्यक्ति को कष्ट दिया तो अब दोनों के साथ रहने से शीत कष्ट पा रहा है। व्यजना है कि पति-पत्नी के साथ रहने से अब शीत पास नही भटकता है। इस पर कवि की हेतूत्प्रेक्षा है कि यह दोनों के पास-पास रहने से भयभीत होकर नहीं आता है। यह तो समय की बात है। आज हमारा समय है, कल इसका था।

विशेष—जायसी ने नारी-पुरुष के संसर्ग सुख का वर्णन शीत के साथ किया है। जायसी ने बड़ी व्यावहारिक बात कही है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग अच्छा हुआ है।

नागमती-वियोग-खण्ड

टिप्पणी—नागमती का विरह-वर्णन पद्मावत का सबसे अधिक रसात्मक स्थल है। इसमें विरह व्यंजना मार्मिक ढग से और प्रभावकारी ढग से अभिव्यक्त की गई हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात-रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु-पक्षी, पेड़-पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ता है कि इनको दुख सुनाने से जी हल्का हो जायगा। सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा, उसकी पटरानी, जो कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान नहीं देती थी, वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, उनके सामने अपना हृदय खोल रही है।" इस व्यापक भावना को बड़ी व्यावहारिक वर्णन शैली में कवि ने यहां प्रस्तुत किया है।

नागमती चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा ॥
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसौं हरा ॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहि जात, जात बरु जीऊ ॥
भएउ नरायन बावँन करा। राज करत राजा बलि छरा ॥

करन पास लीन्हेउ कै छंदू । बिप्र रूप धरि झिलमिल इंदू ।।
मानत भोग गोपिचंद भोगी । लेइ अपसवा जलंधर जोगी ।।
लेइगा कृस्नहि गरुड़ अलोपी । कठिन बिछोह, जियहिं किमि गोपी? ।।

सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ?
झुरि झुरि पींजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह ।। १ ।।

शब्दार्थ—चितउर—चित्तौड़, पथ हेरा—मार्ग की ओर दृष्टि रखी, फेरा—वापिसी, नागर—नायक, काहु—किसी, बांवन करा—वामन रूप, छरा—छलना, करन—दानी कर्ण, छंदू—छल छद्म, झिलमिल—कवच, अपसवा—चल दिया, किमि—कैसे, पींजर—ठठरी।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि वर्णन करता है कि जब राजा रत्नसेन नहीं लौटा तो नागमती को चिन्ता हुई। कवि वर्णन करता है—

दीर्घकाल के पश्चात् भी जब रत्नसेन नहीं लौटा तो नागमती ने चित्तौड़ आने वाले मार्ग की ओर प्रतीक्षारत दृष्टि लगाई। उसने सोचा कि प्रिय को गये हुए काफी समय हो गया है किन्तु अभी भी वे वापस नहीं आये हैं। उसने हृदय में सोचा कि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय और चतुर नायक को किसी नारी ने अपने वश में कर रखा है। उसी ने प्रिय को अपने वश में किया है और उसी चतुर नारी ने प्रिय को मुझ से छीन लिया है या हर लिया है। तोता तो साक्षात् काल-स्वरूप था जो मुझ से मेरे प्रिय को दूर ले गया। कितना अच्छा होता कि वह मेरे प्रिय को न ले जाता और उसके बदले में मेरे प्राणों को ले जाता। वह तो भगवान वामन छल विद्या वाला था। उसने मुझ से ही छल किया ठीक वैसे ही जैसे राजा बलि को वामन ने बिना कारण ही छल लिया था। या इन्द्र ने धोखे से ही राजा से उन बाणों को मांग लिया था जो आगे कर्ण की मृत्यु के कारण या निमित्त बने। राजा भर्तृहरि को आनन्द ने मिलकर छल लिया था। राजा गोपीचन्द भी सुखपूर्वक अपना जीवन बिता रहा था कि जालंधर योगी उसे लेकर चला गया। अक्रूर, कृष्ण को लेकर चले गये और परिणामस्वरूप गोपियों को दारुण विरह सहना पड़ा। भाव यह है कि पति विरह में नारी नागमती का जीवन दूभर और असह्य हो गया है।

जायसी कहते हैं कि नागमती और रत्नसेन की सारस की जोड़ी थी जिसे विरह देकर किसने बिछुड़ा दिया ? क्या किसी आखेटक ने उसके प्राणों की बलि लेली है ? मैं सूखकर कांटा हो गई हूं। यह विरह रूपी काल मेरे शरीर को खाये जा रहा है। अब तो विरह में नागमती का शरीर अस्थिपुंज मात्र रह गया है।

विशेष—१. करन—(कर्ण)—कुन्ती के प्रार्थना करने पर इन्द्र ने ब्राह्मण रूप धारण करके कर्ण से अक्षय कवच मांग लिया था।

२. गरुड़—यहां पर अक्रूर होना अधिक संगत बैठता है। कारण, कृष्ण और गोपियों के बीच बाधक बनने वाला अक्रूर ही था।

३. गोपीचन्द—बंगाल के राजा माणिकचन्द और रानी मैनावती के पुत्र राजा गोपीचन्द ही थे।

४. जालंधर जोगी—गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई थे। ये जाति के हाड़ी थे। इसीलिए इन्हें हाड़ीया कहते थे। ये बड़े ही सिद्ध थे और कापालिक शाखा के प्रवर्तक थे।

पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बोलै 'पिउ पीऊ'॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुवा गयउ पिउ नामा॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज, भीजि गइ चोली॥
सूखा हिया, हार भा भारी। हरे हरे प्रान तर्जाह सब नारी॥
खन एक आव पेट मह़ं! सांसा। खनहि जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं, सींचहिं चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला॥
प्रान पयान होत को राखा? को सुनाव पीतम कै भाखा?॥

आहि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर महं, पांख जरा, गा भागि॥ २॥

शब्दार्थः—बाउर–बावली या पगली, निति बोलै–नित्यप्रति बोलता है, दाधै–जलाता है, सो रामा–उस स्त्री को, हरि लेइ–हर करके. चोली–वस्त्र विशेष, खन एक-क्षण भर में, निरासा–निराश, पहर एक समुझहि मुख बोला–इतना अस्पष्ट बोल निकलता है कि अर्थ समझने में पहरों लग जाते हैं, प्रान पयान–प्राणों का हरण होने लगता है, को राखा–कौन रक्षा करने में समर्थ सिद्ध हो सकता है, हंस-शरीरस्थ आत्मा, पांख जरा–पख जल गया, गा भागि-भाग गया।

ससंदर्भ व्याख्या—इन पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि नागमती का शरीर विरह में सूख-सूखकर क्षीण हो गया है। नागमती की दशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—पति के वियोग में उसका जीव इतना बावला हो गया है कि वह पपीहे की भांति पीउ–पीउ पुकारती है। कामदेव की अग्नि से वह स्त्री जली जा रही है। वह तोता तो उसके प्रिय के साथ प्राणों का भी हरण कर ले गया। विरहाग्नि में तपते रहने के कारण उसके शरीर से आग निकलती रहती है। परिणामतः, न तो वह पति का नाम ले सकती है और न विरह में जलती रहने के कारण इधर–उधर घूम ही सकती है। विरह के बाण की तीव्रता से खून से उसका शरीर पसीजने लगा है तथा उसकी चोली भी भीग गई है। हृदय सूख गया है। हार भी उसे शरीर पर बोझ के रूप में प्रतीत होता है। काम से पीड़ित नागमती के प्राणों पर बन आई है। क्षण भर में उसके प्राणों में सांस आने लगती है जिससे उसके जीवन की आशा हो जाती है और क्षण भर में सांस बन्द हो जाती है। क्षणभर में प्राण चले जाते हैं तो सखियों को बड़ी निराशा होने लगती है।

जायसी कहते हैं कि सखियां हवा करती हैं और उसके वस्त्रों पर पानी इस आशा से छिड़कती हैं कि यह होश में आ जाये। क्षणान्तर में वह होश में भी आ जाती है, किन्तु तुरन्त ही उसके प्राण निकलना चाहते। वास्तव में ऐसा कौन है जो उसकी रक्षा कर सकता है? कौन ऐसा है जो चातक की पूरी बोली बोल सकता है। व्यंजना है प्रिय का नाम लेकर उसके प्राणों की रक्षा करने में समर्थ और तत्पर हो सकता है। विरह से भरी हुई आग उसने अपने शरीर से निकाली। उससे शरीरस्थ

हंस या आत्मा रूपी जीव जल गया तथा शरीर थक गया। तात्पर्य, नागमती प्रिय विरह में जलती-बलती शिथिल हो गई है।

पाट-महादेइ ! हिय न हारू। समुझि जीउ, चित चेतु सँभारू ।।
भौंर कवल संग होइ मेरावा। संवरि नेह मालति पहं आवा ।।
पपिहै स्वाती सौं जस प्रीती। टेकु पियास, बांधु मन थीती ।।
धरतिहि जैस गगन सौं नेहा। पलटि आव बरषा ऋतु मेहा ।।
पुनि बसंत ऋतु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली ।।
जिनि अस जीव करसि तू बारी। यह तरिवर पुनि उठिहि संवारी ।।
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा ।।

मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि अहंता।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत ।। ३ ।।

शब्दार्थ—पाट-महादेइ—पट्ट महादेवी या पटरानी। मेरावा—मिलाप; पहं आवा—पास आना। टेकु=संभालो। थीती—स्थित या स्थिरता। नशा—नाश, बिगड़ा। मृगसिरा—ज्येष्ठ के मास में, मृगशिरा नाम का नक्षत्र लगता है जब गर्मी अपनी चरम सीमा पर होती है। अंकम भेटि—हृदय से भेंट कर। अद्रा—आषाढ़ मास का पहला नक्षत्र (अर्द्रा) जिसमें वर्षा प्रारम्भ होती है। पलुहत—पल्लवित होते है या पनपते हैं।

ससदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पद में सखियां नागमती को सांत्वना दे रही हैं। जायसी उसी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

सखियों ने कहा कि हे महारानी ! हृदय में निराश मत होओ। मन में कुछ सोचो समझो तथा जीवन को संभाल कर धारण करो। यद्यपि यह ठीक है कि भ्रमर (रत्नसेन) और कमल (पद्मावती) का मिलन हो गया है, किन्तु यह भ्रमर मालती (नागमती) के प्रेम का स्मरण आते ही उसके निकट अवश्य आयेगा। तात्पर्य यह है कि हे महारानी ! भले ही तुम्हारा प्रिय किसी भी नारी के संसर्ग में आकर भूल गया हो किन्तु तुम्हारा स्मरण होते ही वह अवश्य लौटकर आयेगा और तुमसे मिलकर अपने हृदय की तपन को शांत करेगा। जिस प्रकार पपीहे को स्वांति से प्रेम होता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी प्यास को संभालो और मन में स्थिरता लाओ। तात्पर्य यह है कि जैसे पपीहा अपनी प्रिय, स्वांति बूंद के लिए मन में धैर्य धारण करता है उसी प्रकार तुम भी करो—मन में संयम लाओ और उससे मिलन के निमित्त शांति से काम लो। इस प्रकार विचलित होकर धैर्य खोने से कोई लाभ नहीं होगा। जिस प्रकार पृथ्वी आकाश से प्रेम होने के कारण, भाप बनकर उड़ा हुआ जल, वर्षा ऋतु में पहले पहल प्राप्त करती है; जिस प्रकार वसंत ऋतु के आ जाने पर भ्रमर और लताएं अपना पूर्व प्रेम धारण करती हैं उसी प्रकार तुम्हारा यह मुरझाया हुआ शरीर रूपी वृक्ष स्वामी रूपी वर्षा के आगमन से पुनः हरा भरा होकर पल्लवित हो उठेगा। अत. हे रानी ! तू अपने हृदय में चिन्ता मत कर। जिस प्रकार कुछ दिन वृष्टि न होने के कारण तालाब का पानी सूख जाने से उसके हंस आदि पक्षी उड़ जाते हैं, लेकिन वृष्टि होते ही तुरन्त तालाब

के मर जाने पर वे फिर लौट आते हैं, उसी प्रकार बिछुड़े या वियुक्त प्रियतम भी अपने इष्ट जनों से अवश्य ही मिलते हैं। यह तो सृष्टि का ही नियम है, फिर तुम्हारे प्रिय तुम्हें अवश्य मिलेंगे।

जायसी कहते हैं कि जो वियुक्त हैं वे फिर अवश्य मिलते हैं। जो प्रिय बिछुड़ गये हैं वे अपनी प्रियाओं से अवश्य मिलेंगे। कवि दृष्टान्त देता हुआ कहता है कि मृगशिरा नक्षत्र की गर्मी से जो लता आदिक सूख जाते है, वे आर्द्रा की वर्षा से पुनः हरे भरे हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार विरह की आग में तपती हुई नारियां प्रिय आगमन तथा मिलन-आर्द्रता से फिर मन में हरियाली अनुभव करेंगी—इसमें सन्देह नहीं है। अतः हे महारानी ! तुम्हें निराश नहीं होना चाहिये, अपितु मन में धैर्य धारण करके मिलन की आशा में प्रसन्न चित्त रहकर जीवन यापन करना चाहिये।

विशेष—दोहे में दृष्टान्त अलंकार तथा समस्त पद में उपमा और उत्प्रेक्षा के सहारे अभिव्यक्ति में सौन्दर्य समाविष्ट हो गया है।

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पांति देखाए॥
खड़ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरसहिं घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला, पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ॥
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा? ॥
अद्रा लाग, लागि भुइं लेई। मोहिं बिनु पिउ को आदर देई? ॥

जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब॥ ४॥

शब्दार्थ :—घन गाजा—बादल गर्जने लगे। दुंद—दुंदुभी। बाजा—वाद्य बजने लगे। धूम—धुआंरे। साम—श्याम। धौरे—धवल या श्वेत। सेत धजा—श्वेत ध्वजा। बग-पांति—बगुलों की पंक्ति। खड़ग बीजु—खड़ग-विद्युत। ओने—झुकी हुई। फेरी—आरे। बेध—बेध तीर मारना। पुरब—नक्षत्र, यह आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्र के पश्चात् आता है। इसे अवधी प्रान्त में 'चिरैया' भी कहा जाता है। नाह—स्वामी। मन्दिर—मकान। गारौ—गौरव या अभिमान। मेह—मेघ। बाहिरै—बाहर या परदेश में। सुख भूला सर्व—उसका सभी सुख भूला हुआ सा है।

ससंदर्भ व्याख्या—इस पद से जायसी 'बारहमासा' वर्णन की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। लोकगीतों में विरहावस्था के अन्तर्गत विरहिणी नारियां बारह मासों की अवस्था को व्यंजित करती है। प्रत्येक मास विरह की घड़ियों में अपने ढंग का प्रभाव छोड़ जाता है और विरहिणी के मानस में एक अजीब सी उथल-पुथल मचा देता है। जायसी उसी 'बारहमासा' पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। वे कहते हैं—

आषाढ़ का मास आ गया। आकाश में बादल गरजने लगे। इस गर्जना को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो विरह ने अपनी सेना एकत्र करली हो। धूमिल रंग के श्याम और धवल बादल जो चारों ओर उड़ रहे हैं; वे

ही सैनिक हैं और बगुलों की जो पंक्तियां आकाश में दृष्टिगोचर होती हैं, वे हीं सेना की श्वेत ध्वजायें हैं। चारों ओर जो विद्युत चमकती है वही तलवार है और बूंदे बाण हैं जो घनघोर रूप में बरस रही हैं।

जायसी कहते हैं कि नागमती कहती है—हे प्राणनाथ! सर्वत्र-चतुर्दिक बादल घिरे हुए हैं। कामदेव ने मुझे पूर्णतः घेर लिया है। आप इस दुख से मेरा उद्धार कीजिए। आर्द्रा नक्षत्र के लगते ही बिजली पृथ्वी तक चमकने लगी है। इस स्थिति में किसी भी नारी का सहारा पति ही हो सकता है। वर्षा ऋतु में दादुर, मयूर और कोयल व पपीहे, तीर चला कर बेध रहे हैं। हृदय मे जीव का रहना कठिन है। बिजली के गिरने से हृदय और प्राण भी सूख जाते हैं। पुष्य नक्षत्र आगया है। इस नक्षत्र में अत्यन्त घोर वृष्टि होने लगती है, पर मेरे स्वामी घर नहीं है। अब मेरे इस प्राचीन भवन की मरम्मत कौन करावेगा। नागमती कहती है कि पुष्य नक्षत्र के आगमन से वर्षा ऋतु में खूब जल बरसने लगा है और स्वामी भी घर पर नहीं हैं फिर मेरे टूटे-फूटे मकान पर कौन छाया करेगा या छप्पर छवा कर रखेगा। वह विरहाकुल हो कहती है—वास्तव में जिन नारियों के पति घर पर हैं, वे सुखी हैं और गौरव युक्त हैं। मैं तो इस सुख से वंचित हूँ क्योंकि मेरे प्रियतम विदेश में हैं और उनके अभाव में मुझे सुख नहीं मिल रहा है और पूर्व प्राप्त सुखानुभूति भी विस्मृत सी होती चली है।

विशेष—इस पद में जायसी ने नागमती के विरह की मार्मिक व्यंजना की है। वह साधारण स्त्री की भांति विरह की घड़ियों में पति मिलन की कामना करती है। वस्तुतः यही भारतीय नारीत्व है जिसका प्रतिनिधित्व नागमती ने किया है।

सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी, हौं बिरह झुरानी॥
लाग पुनरवसु पीउ न देखा। भइ बाउरि, कहं कंत सरेखा॥
रकत कै आंसु परहिं भुइं टूटि। रेंगि चलीं जस बीरबहूटी॥
सखिन्ह रचा पिउ सग हिंडोला। हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा॥
बाट असूझ अथाह गभीरी। जिउ बाउर, भा फिरै भंभीरी॥
जग जल बूड़ जहां लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥

परवत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बनढांख।
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह? ना मोहि पांव न पांख॥ ५॥

शब्दार्थ—मेह=वर्षा। भरनि=भरणी नाम का नक्षत्र। झुरानी=व्याकुल। पुनरवसु=नक्षत्र विशेष, जो आषाढ़ के शुक्ल पक्ष में लगता है। (जायसी ने भ्रमवश कुछ गलती कर दी है। 'पुष्य' को भ्रम से 'पुनर्वसु' नक्षत्र लिख दिया है।) बाउरि=बावला। सरेखा=चतुर। भुइं टूटी=पृथ्वी पर टूट-टूटकर। रेंगि चली=धीमी गति से-कीड़े-मकोड़ों की 'रेंगनी' चाल से। भंभीरी=एक प्रकार का पतंगा जो बरसात में संध्या के समय आकाशमें उड़ता दिखाई पड़ता है। जहां लगि ताकी=जहां तक दृष्टि जाती है। मोर नाव=मेरी नौका। खेवक बिनु=केवट के बिना। वेहड़=बीहड़ या अगम। ढंख=वृक्ष तथा झाड़ झखाड़।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं कि श्रावण का मास आया और बड़ी तीव्रता और अधिकता के साथ जल वृष्टि होने लगी। 'भरणी' नक्षत्र में वर्षा होने के कारण जलाशय पानी से पूरित होने लगे। किन्तु नागमती विरह के आघातों से सूखती जा रही है तथा व्याकुलता का अनुभव कर रही है। पुनर्वसु नक्षत्र भी आ गया है। इतने पर भी वह अपने प्रियतम के दर्शन नहीं कर पाई है। वह स्वयं तो विरहावस्था में पागल हो गई है। हे चतुर प्रियतम ! तुम कहां पर हो—अब तो 'आश्लेषा' नक्षत्र भी आ गया है। खून के आंसू भूमि पर टूट टूटकर गिरते जा रहे हैं। खून के आंसू जो पृथ्वी पर पड़ते हैं, वे इस प्रकार प्रतीत होते हैं मानो पृथ्वी पर वीरबहूटियां चल रही हों। सखियों ने अपने पति के साथ हिंडोला डाल रखा है। पृथ्वी हरी भरी है और उन्होंने कुसुंभ रग के वस्त्र धारण किये हैं। मेरा हृदय ही इस प्रकार डोल रहा है जैसे झूला; और विरह उसे झकोरे दे देकर झुला रहा है। जायसी वर्णन करते हैं कि नागमती का हृदय इस प्रकार डोल रहा है-जैसे झूला; और विरह उसे झकोरे दे देकर झुला रहा है। रास्ते अगम्य और दृष्टि से परे हैं। साथ ही वे अथाह और कठिन हो गये हैं। उसका हृदय बावला होकर इस प्रकार चक्कर खा रहा है जैसे भभीरा नाम का पतंगा आकाश म चक्कर लगाता है। जिधर भी दृष्टि जाती है वहीं सम्पूर्ण समार पानी में डूब गया है। मेरी नाव तो मेरे खिवैया अर्थात्, पति प्रियतम के बिना डगमगा रही है और थक भी गई है।

जायसी कहते है कि नागमती ने कहा कि मेरे और मेरे प्रियतम के बीच में बड़ा अन्तर है—अनेक पर्वत, अगम समुद्र, बीहड़-वन और जगल बीच में हैं। हे प्रियतम ! मैं तुमसे कैसे मिलू ? न तो तुझ तक पहुंचने के लिए मेरे कदमों में (पगों में) शक्ति है और न मेरे पंख ही हैं कि उड़कर तेरे पास तक पहुंच कर जीवन धन्य और कृतार्थ करूं।

भा भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अंधियारी॥
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा। विरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
धनि सूखै भरे भादौं माहां। अबहुं न आएन्हि सींचेहि नाहां॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥

थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक।
धनि जोबन अवगाह महं दे बूड़त, पिउ ! टेक॥ ६॥

शब्दार्थ—दूभर=कठिन। कैसे भरौं=कैसे काटूं। रैनि अंधियारी अंधेरी रात्रि। मंदिर सून=हृदय मंदिर शून्य या सूना। अनतै=अन्यत्र जाकर। फिरि-फिरि डसा=पकड़-पकड़कर काटने को आती है। गहे एक पाटी=एक पाटी-चारपाई के एक कोने में। नैन पसारि=नेत्र पसार कर। हिय फाटी = हृदय फटा जाता है। तरासा=डराता है। गरासा= खाया। झकोरि झकोरी=झकझोर कर। मघा और पुरवा=नक्षत्रों के नाम। ये दोनों नक्षत्र भाद्रपद के कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष में लगा करते हैं।

आक जवास=अर्क या मंदार और जवास नामक कंटीली झाड़ी जो वर्षा में झुलस जाती है। (तुलसी ने भी तो लिखा है-अर्क जवास पात बिनु भयऊ।) अपूर=भरपूर। अवगाह=डूबते हुए। टेक=व्रत।

ससन्दर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार, जायसी भाद्रपद मास में नागमती की विरहानुभूति का वर्णन करते हुए कहते हैं—भादों का जलयुक्त मास आ गया है, जो कठोर और दुख देने वाला है। अंधकार से भरी हुई रातें बिताना बड़ा कठिन है। मेरे महल को सूना करके प्रियतम कहीं और जा बसे हैं। सेज नागिन के समान दौड़ दौड़कर डसती है। विरह की घड़ियों में मैं चारपाई की पाटें पकड़े हुए पड़ी रहती हूं। (नागमती का विरह सचमुच ही अपार है।)

नागमती कहती है कि मेरे नेत्र फटे-फटे से हो गये हैं। हृदय के विदीर्ण होने से मैं मरी जा रही हूं। बिजली चमककर और बादल गरज कर मुझे सत्रस्त करते हैं। काल सा विरह प्राणों को डसता हुआ भक्षण करने में लगा हुआ है। मघा नक्षत्र झकझोर कर जोर-शोर से बरसने लगा है। मेरे दोनों नेत्र पर्नाली जैसे चू रहे हैं। पूर्वा नक्षत्र लग गया है और धरित्री जल-मग्न हो गई है। मैं सूखकर ऐसी हो गई हूं जैसे पावस में अर्क और जवास पत्रहीन होकर समाप्त प्रायः हो जाते हैं। हे स्वामी! भादों के इस जलवर्षित वातावरण में भी तुम्हारी विरहिणि कांटा हो गई है और अब इससे जीवन काटे नहीं कटता है। अब तो इसे आकर प्रेम रस से सींच दो। यदि सींच दिया तो प्रेम-वारि का पान कर यह हरी-भरी हो जायगी।

पृथ्वी के ऊंचे-ऊंचे स्थान भी पूरी तरह जलमग्न हो गये हैं। इस वर्षा में धरती आकाश मिलकर एकाकार हो गये हैं, भयंकर वर्षा के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है। अतः हे प्रियतम! इस मौसम में या इस प्रकार के वातावरण में यौवन के अगाध जल में डूबती हुई अपनी प्रिया नागमती की खबर ले लो। तात्पर्य, उसे दर्शन देकर उबार लो।

लाग कुवार, नीर जग घटा। अबहूं आउ, कंत! तन लटा ॥
तोहि देखे, पिउ! पलुहै कया। उतरा चीतु, बहुरि करु मया ॥
चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा ॥
उआ अगस्त हस्ति-घन गाजा। तुरय पलानि चढ़े रन राजा ॥
स्वाति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं, खंजन देखाए ॥
भा परगास, कांस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले ॥
विरह हस्ति तन साले, घाय करै चित चूर।
वेगि आइ, पिउ! बाजहु, गाजहु होइ सदूर ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—घटा—कम हो गया। तन लटा—शरीर कमजोर हो गया है। तोहि देखे—तुझे देखकर। पलुहै कया—शरीर फिर से पनपने लगेगा। उतरा चीतु—चित्त से उतरी हुई बात को स्मरण कर। चित्रा—नक्षत्र विशेष। तुरय पलानि—घोड़े जीन कसकर तैयार हैं। कुरलहिं—क्रीड़ा करते हैं। परगास—प्रकाश। फिरे—लौटे। तन साले—शरीर को कष्ट देता है। घाय—घाव। सदूर—शार्दूल या सिंह।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कुआर मास का वर्णन करते हुए कवि जायसी कहते हैं—क्वार का महीना लग गया है – संसार में से जल कम होने लगा है। हे प्रिय अब तो वापस आ जाओ। तुम्हारे दर्शन करने से मेरा विकृत मुख और म्लान मन फिर से हरा भरा होकर प्रफुल्लित हो उठेगा। अत: अब कृपा करके चित्त में ध्यान करके अर्थात् मुझे स्मरण करते हुए वापस आ जाओ। अब तो चित्रा का मित्र चन्द्रमा मीन राशि में आ पहुंचा है। अगस्त के उदय होने पर हस्त नक्षत्र का बादल गर्जना करने लगा है। घोड़ों पर सवार, जीन रखकर राजाओं ने युद्ध की तैयारी कर दी है।

इतना ही क्यों कोयल ने भी अपनी मर्म भेदी पुकार से प्रियतम का हृदय विजित कर लिया है और उसके प्रियतम आ गये हैं। इस प्रकार कोयल अपने प्रियतम को पाकर धन्य भाग समझती हुई मौन हो गई है। स्वांति नक्षत्र की बूंदें चातक के मुख ने प्राप्त कर ली हैं। समुद्र की सीपियां गर्भवती हो गई हैं— उनमें मोती पैदा हो गये हैं। सरोवर की केलि-क्रीड़ा का स्मरण कर के हंस लौट आए हैं। सारस बोलने लगे हैं। खंजन पक्षी फिर दिखाई देने लगे हैं। मैदानों में प्रियतम, कास के वन फूल उठे हैं। हे प्रियतम! पर तुम परदेस में मुझे और मेरे यहां का सारा रासरंग ऐसे भूले कि लौटने का नाम ही नहीं लेते हो।

विरह की घड़ियों में नागमती प्रिय के अभाव का अनुभव कर रही है। वह कहती है कि मेरे शरीर को विरह–रूपी हाथी वेदना दे रहा है। वह इसे अपना भोजन बनाकर समाप्त करने पर उतारू है। व्यंजना यह है कि विरह आघातों से शरीर, जर्जर और रसहीन होता जा रहा है। अब तो आकर दर्शन दे दो। अतः अब प्रियतम शीघ्र ही आ जाओ और इस विरह कुंजर (हाथी) के समक्ष आकर सिंह या शार्दूलवत् गर्जना करो, जिससे मेरा जीवन बच जाय। (*व्यंजना है कि यदि प्रिय तुम शीघ्र नहीं आये तो विरह इस कृश–गात को* शीघ्र ही समाप्त कर देगा।)

कातिक सरद–चंद उजियारी। जग सीतल, हौं विरहै जारी॥
चौदह करा चांद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा॥
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहं चंद, भएउ मोहिं राहू॥
चहूँ खड लागै अंधियारा। जौं घर नाहीं कंत पियारा॥
अबहूँ, निठुर! आउ एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा॥
सखि झूमक गावैं अंग मोरी। हौं झुरावं, बिछुरी मोरि जोरी॥
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा। मो कहं बिरह, सवति-दुख दूजा॥
सखि मानैं तिउहार सब गाइ, देवारी खेलि।
हौं का गावौं कंत बिनु, रही छार सिर मेलि॥ ८॥

शब्दार्थ—सरद-चन्द–शरद-चंद्र, उजियारी–उज्ज्वल, जग सीतल–संसार शीतलता का अनुभव कर रहा है, हौं विरहै जारी–मैं विरह की आग में जल रही हूँ, करा–कला, परगासा–प्रकाशित हुआ है, अगि दाहू–आग का दहन, चहूं खण्ड–चारों खण्डों में, नाहीं-नहीं, कंत–पति, आउ एहि बारा–इस दरवाजे पर आ जाओ, परब देवारी–दिवाली का पर्व, झूमक–मनोरा-झूमक नाम का गीत, झुरावं–सूखती हूं, सवति–सौत, तिउहार–त्योहार, छार सिर मेलि–सिर में राख डालना–मुहावरा है।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ नागमती के कार्तिक मास की विरहानुभूतियों को उद्घाटित करती हैं। वह सामान्य विरहिणी की भांति कह रही है—

कार्तिक के महीने में शरद के चन्द्रमा का उजाला फैला हुआ है। सारा संसार शीतल है-केवल मैं अकेली विरह में जली जा रही हूं। चन्द्रमा अपनी पूर्ण कलाओं के साथ प्रकाशित हो रहा है। इस चन्द्रमा को विकसित देखकर मैं अनुभव करती हूं कि सम्पूर्ण धरित्री और आकाश जले जा रहे हैं। शरीर, मन और शय्या सभी अग्नि से जल रहे हैं। सभी के लिए तो यह शीतल चन्द्रमा है पर मेरे निमित्त यह राहू के समान कष्ट दे रहा है। मुझे तो इस विरह में सर्वत्र अंधेरा ही अंधेरा प्रतीत होता है क्योंकि मेरे घर में मेरा प्रियतम नहीं है।

हे निष्ठुर पति ! मैं तुमसे निवेदन करती हू कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, एक बार आकर दर्शन दो और कृतार्थ करो। सम्पूर्ण संसार में दिवाली का त्योहार मनाया जा रहा है। सखियों के झुंड के झुंड झूम कर गीत गा रहे हैं और मैं इस आनंद के अवसर पर भी दुखी हूं क्योंकि मुझे दुखानुभव हो रहा है। जिन सखियों के घर में पति हैं वहां सप्तऋषियों की पूजा हो रही है—तात्पर्य, ब्राह्मणादि देवता या देवत्व से युक्त साधू भोजन कर रहे हैं, किन्तु यह सब होते हुए भी मुझे तो विरह दुगना दुख प्रदान कर रहा है।

जायसी, नागमती से कहलाते हैं कि सभी सखियां तो त्यौहार मना रही हैं, गा-गाकर दीपावली का खेल खेल रही हैं। मैं पतिविहीना नारी क्या आनंद लूं और क्या खेल खेलूं। अतः मैं इस विरह में अपने सिर पर धूल डालती हूं; और चारा भी क्या है? तात्पर्य है कि इस प्रकार के पर्व पर भी तुम प्रिय नहीं आये तो मेरा जीवन व्यर्थ है।

विशेष—विरह-वेदना का मार्मिक और अनुभूति परक वर्णन किया गया है।

अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी ?॥
अब यहि विरह दिवस भा राती। जरौं विरह जस दीपक बाती॥
कांपै हिया जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ सग पीऊ॥
घर घर चीर रचे सब काहू। मोर रूप-रग लेइगा नाहू॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै, फिरै रग सोई॥
बज्र अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलुगि-सुलुगि दगधै होइ छारा॥
यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जनम करै भसमंतू॥
पिउ सौं कहेहु सदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग ! ।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवां हम्ह लाग॥ ६॥

शब्दार्थ—दिवस घटा-दिन घट गया है, निसि बाढ़ी-रात्रि बढ़ गई है, दूभर—कठिन, सीऊ-शीत, चीर रचे—वस्त्र रग लिये हैं, रूप-रग—रूप-सौन्दर्य, लेइगा नाहू-पति ले गया है, पलटि न बहुरा—पलटकर नहीं लौटा, हिय जारा—हृदय जल गया, संदेसड़ा-संदेश, सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुआं हम लाग—वही धुआं लगने के कारण मानो भ्रमर और कौए काले हो गये हैं।

(नागमती तो विरह की आग में जल गई और उसी आग के धुंए से हम सभी काले हो गये हैं)—

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार कवि जायसी कहते हैं—

अगहन मास में दिन तो घट गया है किन्तु रात्रि बढ़ गई है। नागमती सोचती है मेरा दुख बड़ा असह्य है। फिर रात कैसे कटेगी ? अब तो नागमती को दिन भी रात की तरह होकर व्यथित करता है। विरह की घड़ियों में वह नागमती ऐसे जल रही है जैसे दीपक की लौ जलती है। शीत के भयंकर प्रभाव के कारण हृदय कांपता है। जायसी कहते हैं कि यदि प्रियतम साथ हो, तभी शीत जा सकता है। तात्पर्य है शीत की रातें प्रियतम के संसर्ग में रहने पर ही अच्छी तरह कट सकती हैं।

नागमती कहती है कि हे प्रियतम ! शीत काल में सभी ने अपने-अपने घर में गर्म रंगे हुए वस्त्र निकाल लिये हैं किन्तु मैं किसके लिए सजूं-धजूं। मेरा सभी शृंगार तो प्रियतम के साथ ही विदा हो गया है। तात्पर्य यह है कि शृंगार का मूल्य जभी है जब कि प्रियतम साथ हो। यदि प्रियतम साथ होता है तो शृंगार भी मन को भाता है और यदि वह नहीं है तो शृंगार भी बेमानी प्रतीत होता है। रानी सोचने लगी है कि जबसे यह विद्रोही गया है, प्रियतम बिछुड़ा है, तब से लौटकर नहीं आया है। इतने पर भी यदि प्रियतम लौटकर आ जाये तो यौवन पर निखार आ सकता है या वह हरा भरा होकर आनंदमग्न हो सकता है।

शीत अग्नि बनकर विरहिणी के मानस को जला रहा है। हृदय भी विरह में जलते-सुलगते हुए राख बन गया है। प्रियतम यह विरह दुख नहीं समझ रहा है। यही विरह दुख मेरे शरीर को भस्म किये दे रहा है। वह नागमती भवरे और काग को संदेशवाहक बनाकर कहती है कि हे भंवरे और काग ! तुम मेरे प्रियतम से जाकर संदेश कह देना कि तुम्हारी वह रमणी नागमती विरह में जल गई है और उसी का धुंआ हमें लग गया है। परिणामतः हम भी काले पड़ गये हैं।

पूस जाड़ थर थर तन कांपा। सुरुज जाइ लंका-दिसि चांपा ॥
बिरह बाढ़, दारुन भा सीऊ। कपि कपि मरौं, लेइ हरि जीऊ ॥
कंत कहां लागौं ओहि हियरे। पथ अपार, सूझ नहिं नियरे ॥
सौंर सपेती आवै जूड़ी। जानहु सेज हिवंचल बूड़ी ॥
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला। हौं दिन राति बिरह कोकिला ॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछोही पखी ॥
बिरह सचान भएउ तन जाड़ा। जियत खाइ औ मुए न छांड़ा ॥

रकत ढुरा मांसू गरा, हाड़ भयउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख ॥ १० ॥

शब्दार्थ—लंका दिसि—दक्षिण दिशा को, चांपा जाइ-दब जाता है, सचान—बाज, ररि मुई—रटकर मर गई, पीउ समेटहि पंख—प्रिय आकर अब पर समेटे।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी कहते हैं कि विरहिणी नागमती का शरीर पूस की शीत रात्रि से थरथर कंपित होने लगा। सूर्य भी

अत्यधिक शीत से जड़ हो गया है और वह दक्षिण दिशा (लंका) की ओर तापता है। विरह की उद्दीप्ति से शीत और भी दुखदायी हो गया है और ये मेरे प्राण लेकर छोड़ेगा। मेरा प्रिय जाने कहां है ? उसे मैं अपने हृदय से लगा लूं। पास का रास्ता भी स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में अत्यधिक अश्रु धारा से देखना भी असम्भव हो गया है। बिस्तर में भी मानो शीत की जूड़ी आ गई है। शैय्या इतनी शीतल है मानो हिमाचल प्रदेश की वर्फ में निमज्जित हो। चकवी तो दिन में बिछुड़कर रात्रि में चकवे से मिल जाती है, किन्तु मैं दिन रात कोकिल की भांति पुकारती रहती हूं। रात्रि मेरे को अत्यन्त एकाकी है, मेरे साथ मेरी सहेली भी तो नहीं है जिससे मन लग जाय। मैं विछोही पक्षी के सदृश्य कैसे जीऊं। विरह रूपी बाज अपनी भवें तान रहा है, वह मृतक शरीर को तो खाता ही है, जीवित को भी खाये जा रहा है।

जायसी कहते हैं कि विरहिणि नागमती के शरीर का रक्त बह चला, मांस विरहाग्नि में गल गया है, हड्डियां अत्याधिक शुष्कता से शंख की भांति सूख गई हैं। वह विरहिणी नागमती सारस की जोड़ी की भांति प्रियतम का नाम लेते मर चली, अब तो अन्त्येष्टि क्रिया में उसके पंखों को समेट लो।

विशेष—अन्तिम दो पंक्तियों में जायसी पर फारसी प्रभाव दृष्टिगत किया जा सकता है। रक्त का बहना, हड्डियों का शंख बनना, मांस का विरह की अग्नि में गलना हास्यास्पद स्थिति की सृष्टि तो कर सकता है, काव्य सौन्दर्य की नहीं।

लागेउ माघ, परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला ॥
पहल पहल तन रूई झांपै। हहरि हहरि अधिकौ हिय कांपै ॥
आइ सूर होइ तपु, रे नाहा। तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा ॥
एहि माह उपजै रसमूलू। तूं सो भौंर, मोर जोबन फूलू ॥
नैन चुवहिं जस महवट नीरू। तोहि बिनु अंग लाग सर-चीरू ॥
टप टप बूंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला ॥
केहि क सिंगार, को पहिरु पटोरा ? गीउ न हार, रहि होइ डोरा ॥
तुम बिनु कांपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अब पाला—भयंकर शीत। जड़काला—जाड़े के मौसम में, माहा—माघ में। एहि माह—इस माह में। महवट—मघवट या माघवृष्टि। माघ की झड़ी को माघवृष्टि कहा जा सकता है। सर—वाण। मारै झोला—वात के प्रकोप से अंग का शून्य हो जाना। केहि क सिंगार—किसका शृंगार। पटोरा—एक प्रकार का रेशमी कपड़ा। डोरा—क्षीण होकर डोरे के समान पतली। तिन र—तिनके का समूह। झोल—राख या भस्म।

सप्रसंग व्याख्या—पूर्व पद के प्रसंग में कवि जायसी कहते हैं—

माघ मास लग गया है और पाला गिरने लगा है। जाड़े के समय में विरह काल, कराल सा ही बन गया है। शीत से बचने के लिए अंग को ज्यों ज्यों रुई से ढकते हैं त्यों-त्यों अधिक हृदय हहर-हहर कर कम्पायमान होता है। हे स्वामी ! अब तो तुम आकर सूर्य के समान तपो-मुझे अपने प्राण का

ताप दो। हे प्रियतम! तुम्हारे अभाव में अब माघ मास का शीत दूर नहीं हो सकता है। इसी मास में प्रकृति की जड़ों में वह रस उत्पन्न होता है जिससे फूल खिलते हैं। वास्तव में तुम ही मेरे यौवन के फूल का रस लेने वाले भ्रमर हो। अब तो प्रिय, मुझे रस प्रदान करो तथा आलिंगन से मेरे हृदय की तपन शान्त करो।

जायसी कहते हैं कि विरह में नागमती के नेत्र इस प्रकार बरस रहे हैं जैसे माघ मास की वर्षा में जल बरसता है। जल से ही प्रिय के अभाव में शरीर जलता है तथा शरीर पर धारण किये हुए वस्त्र चुभते हैं। बूंदें टूट-टूटकर ओलों जैसा प्रहार करती हैं। विरह वायु सा बनकर उन ओलों की झौर मारता है। विरह की घड़ियों में नागमती सोचती है कि अब प्रिय ही जब नहीं तो यह शृंगार किस के लिए किया जाय? रेशमी वस्त्र भी किसके लिए धारण किये जावें। मेरी ग्रीवा में हार नहीं रहा है क्योंकि उसके डोरे सी पतली या क्षीण मैं रह गई हूँ—तात्पर्य, बहुत दुर्बल शरीर हो गई हूँ।

हे स्वामी! तुम्हारे बिछोह में प्रिया बहुत हल्के शरीर की हो गई है। इतना ही क्यों, उसका शरीर पूर्णतः अस्त व्यस्त हो गया है। इतने पर भी विरह का शमन नहीं हो सका है। वह चाहता है कि जलाकर राख बनाकर शरीर को ही उड़ादे।

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा॥
तरुवर झरहिं, झरहिं बन ढाखा। भइ ओनंत फूलि फरि साखा॥
करहिं बनसपति हिये हुलासू। मो कह भा जग दून उदासू॥
फागु करहिं सब चांचरि जोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी॥
जो पै पीउ जरत अस पावा। जरत-मरत मोहिं रोष न आवा॥
राति-दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत अब तोरे॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन! उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहं पांव॥ १२॥

शब्दार्थ—फागुन पवन—फागुन मास की फगनौटी हवा। (यह शीत ऋतु के अन्त में तीन दिन चलती है और पेड़ों की पत्तियों को गिरा देती है। फाल्गुनी हवा के बाद ही कलियां नये ढंग से फूटती हैं।) सीउ—शीत। झकझोरा—शरीर को झकझोरता है। ओनत—झुकी हुई। चांचरि—गति विशेष। मकु—कदाचित। छार—राख। (पाठान्तर 'थार' भी मिलता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल 'थार' को ही शुद्ध पाठ मानते हैं क्योंकि हृदय की उपमा जायसी ने एक दूसरे स्थान पर 'थाल' से ही की है किन्तु यहां पर अपने जलने और राख बनने की कल्पना है। अतः राख बनकर ही पति के अंग से मिलने की कामना अधिक समीचीन है। अतः 'छार' पाठ ही उपयुक्त जान पड़ता है।)

ससंदर्भ व्याख्याः—जायसी इन पंक्तियों में पूर्व पंक्तियों के संदर्भ में ही नागमती के विरह का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

फागुन के महिने में हवा झकझोर कर बहने लगी, शीत चौगुना हो गया है। यह सब किस प्रकार सहन किया जा सकता है? विरह में मेरा शरीर भी वैसा ही पीला होगया है जैसे इस महिने में पेड़ों के पत्ते होगये हैं।

विरह पवन बनकर झकझोर रहा है। इससे जीवन काटना कठिन होगया है। जंगल में पलाश तथा अन्य पेड़ों के पत्ते झड़ रहे हैं। पेड़ों की डालियां पत्तों से विहीन हो गई हैं किन्तु साथ ही उनमें फल—फूल भी आने लगे हैं।

जायसी कहते हैं कि सम्पूर्ण वनस्पतियां आनद से भर उठी हैं, किन्तु मेरे मन की उदासी तो द्विगुणित हो गई है। सभी व्यक्ति फाग खेलते हैं और चांचरि नामक नृत्य और गीत चल रहा है। इतने पर भी मेरे हृदय में होली जलाई जाती है। यदि मेरे पति को मेरा जलना ही अच्छा लगता है तो जलते और मरते हुए मुझे किसी प्रकार का क्षोभ या दुख नहीं है। दिन रात मेरे मन में यही बात आती रहती है कि हे पतिदेव! राख बनकर तुम्हारे हृदय से लग जाऊं। नागमती कहती है कि हे प्रियतम! मेरी कामना है कि इस शरीर को जला दूं और इसकी राख को मैं पवन के माध्यम से उड़ा दूं। यह इसीलिए कि कदाचित् यह शरीर की राख उड़कर वहां जा गिरे जहां स्वामी के चरण पड़ें।

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में नारी हृदय का उत्सर्ग व्यंजित है। यह साधारण त्याग नहीं है बल्कि मृत्यु के बाद भी प्रिय चरणों में सौभाग्य पाने की कामना है। इसी से इन पंक्तियों के भाव को भी मिलाया जा सकता है—

कागा सब तन खाइयो चुन चुन खाइयो मांस।
दो नयना मत खाइयो मोहि पिया मिलन की आस॥

साथ ही मीरा की यह पंक्तियां—

अगर चंदन की चिता रचाऊं। उसमें आग लगा जा॥
जल—जल भई राख की ढ़ेरी अपने अंग लगा जा॥
जोगी मत जा, मत जा, मत जा!

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौं बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मजीठ टेसु बन राता॥
बौरे आम फरै अब लागे। अबहुं आउ घर, कंत सभागे॥
सहस भाव फूलीं बनसपती। मधुकर घूमहिं सवरि मालती॥
मोकहं फूल भए सब कांटे। दिस्टि परत जस लागहिं चांटे॥
फरि जोबन भए नारंग साखा। सुआ बिरह अब जाइ न राखा॥
घिरिनि परेवा होइ, पिउ! आउ बेगि, परु टूटि।
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पाव न छूटि॥ १३॥

शब्दार्थ:—धमारी—होली का एक राग–धमार, तथा धमार नामक उत्सव। पंचम—कोकिल का पंचम स्वर। पंच सर—कामदेव जिसके पांच फूलों के बाण होते हैं। सगरौं–सम्पूर्ण। नारंगी—नारंग या स्तन। परेवा–गिरहबाज कबूतर जो अपने जोड़े को छोड़कर क्षण भर के लिए उड़ जाता है, पर ज्योंही स्मरण आता है, बड़ी तेजी से टूट पड़ता है और निकट आजाता है। सोवा—सुआ।

ससंदर्भ व्याख्या:—पूर्वसंदर्भानुसार जायसी कहते हैं—

चैत्र बैसाख की अनेक सुख रंग-रेलियां की जा रही हैं। वसन्त और धमार के गीत हो रहे हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में सभी संसार उजड़ा हुआ प्रतीत होता है। कोयल का पंचम स्वर मुझमें कामोद्दीपन कर रहा है। कोयल की आं:

लाल हैं मानो उसकी आँखें भी विरह के कारण लाल हैं वह रक्त के आंसू वन में गिरा रही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो वन के सारे नव पल्लव लाल रंग के कारण बाणों से चुटियल जान पड़ते हैं। सभी वृक्षों के पल्लव खून में डूबे हुए हैं। मंजीठ का फूल भी इसीलिए लाल है कि वह भी उसी खून से भीग कर लाल होगया है। टेसू वन की लालिमा का कारण भी यही है।

आम में बौर लग गया है, उसमें फल भी लग गये हैं। हे सौभाग्यशाली पति! अब तो स्मरण करके लौट आओ। वनस्पतियां हजार रंगों में फूली हुई हैं। भ्रमर भी मालती को याद करता हुआ घूम रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है मानो ये कांटे हों। फूलों को हंसता हुआ देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण शरीर में चीटियां लग गई हों। जवानी से भरी हुई यह नारंगी की शाखा रूपी शरीर है। तात्पर्य है कि नारंगी सदृश स्तन, यौवन का उभार व्यक्त कर रहे हैं। उसे विरही रूपी तोता खा रहा है, उसकी रक्षा अब किसी प्रकार भी संभव नहीं है।

नागमती ने कहा कि हे पति! तुम अब तो शीघ्र ही आजाओ। शीघ्रता करके तुम वैसे ही आजाओ जैसे गिरहबाज कबूतर ऊपर से टूटकर अपने जोड़े के पास पहुँच जाता है। मन में सोचो तो सही कि तुम्हारी प्रिया जो तुम्हारे ही हाथों में रहनी चाहिए थी वह अब दूसरे (विरह) के हाथों में पड़ गई है। अब वह बिना तुम्हारे मुक्ति नहीं पा सकती है। अतः कृपा करके शीघ्र ही आजाओ।

विशेष—इन पंक्तियों में नागमती के मन की अटूट और दृढ़ प्रेम भावना तथा प्रिय के अभाव की स्थिति बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति पा सकी है। कवि का वर्णन बड़ा हृदयद्रावक है।

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोआ चीर चंदन भा आगी॥
सूरुज जरत हिवचल ताका। बिरह बजागि सौंह रथ हांका॥
जरत बजागिनि करु, पिउ! छाहां। आइ बुझाउ अंगारन्ह माहां॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी॥
लागिउं जरं, जरं जस भारू। फिरि फिरि भूंजेसि, तजिउं न बारू॥
सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिया करहु, पिउ! टेका। दीठि-दवंगरा मेरवहु एका॥
कवंल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुं बेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आइ॥ १४॥

शब्दार्थ—भा बैसाख—बैसाख हुआ, तपनि—आग, हिवंचल ताका—सूर्य उत्तरायण हुआ, बिरह बजागि सौंह रथ हांका—सूर्य तो सामने से हटकर उत्तर की ओर खिसका हुआ चलता है, उसके स्थान पर विरहाग्नि ने सीधे मेरी ओर रथ हांका, नारी—स्त्री अथवा नाड़ी, भारू—भाड़, भूंजेसि—भूंजता है। सरवर हिया घटत निति जाई। टूक-टूक होइ कै बिहराई—तालों का पानी जब सूखने लगता है तब पानी सूखे हुए स्थान में बहुत दरारें पड़ जाती हैं जिससे बहुत से खाने कटे दिखाई पड़ते हैं, दवंगरा—वर्षा के आरम्भ की झड़ी, मेरवहु एका—दरारें पड़ने के कारण जो खण्ड-खण्ड हो गये हैं उन्हें मिलाकर फिर एक कर दो।

ससंदर्भ व्याख्या—पूर्व संदर्भानुसार जायसी, नागमती के विरह का वर्णन करते हुए कहते हैं—विरहिणी नागमती प्रियतम रत्नसेन के विरह में परेशान रहती है। वैशाख मास आ गया है। वैशाख में एक तो वैसे ही गर्मी रहती है और दूसरे विरह की आग ने भी विरहिणी नायिका के शरीर को जलाने में कसर नहीं रख छोड़ी है। चन्दन का शीतल वस्त्र भी विरह के कारण आग में जल रहा है। सूर्य जलता हुआ उत्तरायण हो गया है और विरह की आग मेरी ओर आ रही है। हे प्रियतम! इस विरह की वज्र आग में जलते हुए मुझे छाया दो तथा आकर अंगारों को शान्त करो। हे प्रियतम! तेरे दर्शनों से मेरी नाड़ियां शीतल हो जायेंगी, आकर इस आग को फुलवारी बना दो। भावार्थ यह है कि तुम्हारे आगमन पर सारे अंगार मेरे लिए पुष्पवत हो जावेंगे। हे प्रिय! अब मैं भाड़ की भांति जल रही हूं। यदि, अब और मुझे विस्मृत किया तो भी मैं द्वार नहीं छोड़ सकती या तुम जो की भांति भून डालोगे तो भी मैं बालू को नहीं छोड़ूंगी (जो को भूनने के पश्चात् जो बालू रहती है उसी की ओर संकेत है।)

जिस प्रकार सरोवरों का जल गर्मी के कारण घट रहा है उसी प्रकार मेरा हृदय भी दबता जा रहा है। जैसे तालाबों की मिट्टी पानी के सूख जाने पर टुकड़े-टुकड़े होकर फटी जा रही है उसी प्रकार मेरा हृदय भी वियोग की अवस्था में फटा जा रहा है। इस फटते हुए हृदय को मेरे प्रियतम, आश्रय दो। अपनी दृष्टि रूपी जल वर्षा से इन फटी हुई दरारों को एक कर दो।

जायसी कहते हैं कि जो कमल मानसरोवर में खिला था वह शुष्क होकर मिट्टी में मिल रहा है अर्थात् मेरे मन की सम्पूर्ण प्रसन्नता नष्ट हो रही है, पर अब भी मेरे हृदयकमल की बेल पल्लवित हो सकती है। अतः हे पति! तुम आकर इसे सींच दो। तात्पर्य, दर्शन देकर इसे हरा-भरा कर दो।

जेठ जरै जग, चलै लुवारा। उठहिं बवंडर परहिं अंगारा॥
बिरह गाजि हनुवंत होइ जागा। लंका-दाह करै तनु लागा॥
चारिहु पवन झकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी॥
दहि भइ साम नदी कालिंदी। बिरह क आगि कठिन अति मंदी॥
उठै आगि औ आवै आंधी। नैन न सूझ, मरौं दुख-बांधी॥
अधजर भइउं, मांसु तनु सूखा। लागेउ बिरह काल होइ भूखा॥
मांसु खाइ अब हाड़न्ह लागै। अबहुं आउ, आवत सुनि भागै॥
गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि॥ १५॥

शब्दार्थ—लुवारा-लू, गाजि-गरजकर, पलंका-पलग, दहि भइ-जलकर हो गई, साम-श्याम, मंदी-धीरे-धीरे बहने वाली, अधजर-अर्ध प्रज्ज्वलित सती सराहिए-सती नारी की सराहना करनी चाहिए।

ससंदर्भ व्याख्या—जायसी ज्येष्ठ मास की गर्मी का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—जेठ के महिने में लू चल रही है, सम्पूर्ण संसार जल रहा है। बवंडर उठते हैं और पहाड़ जलने लगते हैं। विरह हनुमान होकर गरज रहा है और लंका रूपी शरीर को जलाने लगा है। चारों ओर से हवा चल कर उस आग को प्रज्ज्वलित करती जा रही है। लंका रूपी शरीर को जलाने

के बाद पलंगों में भी आग लग रही है। जल जाने के कारण ही तो यमुना नदी काले रंग की हो गई है। विरह की अग्नि धीरे-धीरे जल रही है। आग उठती है, आंधी चलती है, आंखों से दिखाई नहीं पड़ता है और मैं दुख से बंधी मर रही हूं। अधजली तो हो गई हूं। शरीर का सारा मांस सूख गया है। विरह रूपी कौआ भूखा होकर शरीर को खा रहा है। अब तो लगभग सारे मांस का भक्षण कर चुका है। वह तो अब सारे मांस को खा चुका है—अब हड्डियों में लग गया है। हे पति ! अब भी आ जाओ। तुम्हारे आते ही यह विरह का कौवा भाग जायगा।

जायसी कहते हैं कि विरह की आग को पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा और सूर्य तक नहीं सह सकते। अतः अब तो केवल उस सती की प्रशंसा या सराहना करनी चाहिए जो प्रियतम के निमित्त इस प्रकार विरह में जल रही है।

तपै लागि अब जेठ-असाढ़ी। मोहि पिउ बिनु-छाजनि भइ गाढ़ी ॥
तन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख-आगरि जरी ॥
बंध नाहि औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई ? ॥
सांठि नाठि, जग बात को पूछा ? । बिनु जिउ फिरै मूंज तनु छूंछा ॥
भई दुहेली टेक विहूनी। थांम नाहि उठि सकै न थूनी ॥
बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥
कोरौं कहां ठाट नव साजा ? तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा ॥

अबहूं मया-दिस्टि करि, नाह निठुर ! घर आउ।
मंदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—जेठ असाढ़ी–जेठ-असाढ के कठिनतम ग्रीष्म दिवस; छाजनि–छप्पर, गाढ़ी—कठिन, तिनउर–तिनकों का ठाट, झूरौं–सूखती हूं, आगरि–अग्रिम, बंध-ठाट बांधने के लिए रस्सी, कंध न कोई–अपना सहायक या संरक्षक कोई भी नहीं है, सांठि नाठि–पूंजी नष्ट हुई, मूंज तनु छूंछा–बिना बन्धन की मूंज के जैसा शरीर, थांभ–खम्भा, थूनी–लकड़ी की टेक, नैनाहां–नेत्रों का बरसना, चुवहि–चूना या टपकते हुए, छपर–छपर—सराबोर, कोरौं–छाजन की ठाट में लगे बांस या लकड़ी, नव कै–नए सिरे से।

ससदर्भ व्याख्या—कवि जायसी कहते हैं कि अब ज्येष्ठ और आषाढ़ की गर्मी तपने लगी है। गर्मी के दिनों में मुझे (नागमती को) यह छप्पर अत्यन्त कष्टप्रद हो गया है। शरीर तृणों का छप्पर हो रहा है और मैं (नागमती) खड़ी-खड़ी सूखती जा रही हूं। विरहाग्नि तो आगे-आगे सिर पर पड़ रही है। पूंजी समाप्त होने पर कोई भी नहीं पूछता है। प्रियतम के अभाव में यह शरीर मूंज के सदृश व्यर्थ और नीरस हो गया है। मेरा न तो कोई बंधु है और न आश्रयदाता ही। मुख से विरह में आवाज नहीं निकलती है। ऐसी स्थिति में किस के सामने अपना दुखड़ा रोऊं। प्रियतम का नाम रटते रटते मैं आश्रयहीन और दुबली हो गई हूं। कोई भी खंभा ऐसी पद्धति का बना हुआ नहीं है जो थूनी वाली लकड़ी को खड़ा कर सके।

विरह में नेत्रों से अश्रुओं के रूप में जलवृष्टि होने लगी है—घर चूने लगा है। अतः हे प्रियतम ! तुम्हारे बिना न तो मेरे पास छप्पर है और न

छांह। ऐसा कौन है जो मेरा नवीन छप्पर बना कर तैयार करे। हे स्वामी! तुम्हारे बिना मेरा छप्पर भी नहीं बन सकता है। हे स्वामी! अब तो आकर और दर्शन देकर मेरे ऊपर दया करो। अब तो सभी को छोड़-छाड़ कर तुम्हें घर आजाना चाहिए। घर उजड़ रहा है किन्तु आकर इसे नवीनता प्रदान करो। तात्पर्य, नये सिरे से इसे बना कर या छवा कर तैयार कर दो।

[डॉ० मनमोहन गौतम ने मुद्रा और श्लेष अलंकार के सहारे इसका एक अन्य अर्थ भी किया है जो शुद्ध छप्पर विषयक है—

अब जेठ असाढ़ की तपन होने लगी है। मेरे लिए पुरानी छाजन कष्ट-कर है। इसका तान सारा सिवट गया है। गर्मी की हवा से फूस का फैलाव सिमट जाता है। मैं उसके नीचे खड़ी सूख रही हूं। उसकी ओरी (अर्गला) टूट गई है और उसके बंधन टूटने से द्वार खोलते ही सिर पर आ गिरती है। इसमें सरकड़े नहीं लगे हैं, बांस के बचे हुए वत्ते की कौन चलाये। टाट के बीच के बंधन टूट चुके हैं और छप्पर को संभालने वाले कंधे भी एक नहीं रह गये हैं। बांक नामक छोटी आड़ी लकड़ी भी नहीं है। मैं किसे रोकर अपनी कथा सुनाऊं। यह दुपालिया छान अपनी जगह से हट कर सहारे को छोड़ चुकी है। इसमें खंभे भी नहीं रह गये हैं। सहारे की थूनी भी टूट चुकी है। धुंआ निकालने के लिए जो धमाले बने थे वे अब पानी बरसने पर टपकते हैं। हे कन्त! तुम्हारे बिना मेरी छाजन भी छाया नहीं करती है। बांस कहां है जिससे टाट नया बनाया जा सके? हे प्रिय! तुम्हारे बिना छाजन नहीं रह सकती है। अब भी कृपा कीजिए और विग्रन छोड़िये। यह उजड़ा हुआ राज मंदिर आकर बसादो।]

रोइ गंवाए बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक सांसा॥
तिल तिल बरस बरस परि जाई। पहर पहर जुग जुग न सेराई॥
सो नहिं आवै रूप मुरारी। जासौं पाव सोहाग सुनारी॥
सांझ भए झुरि झुरि पथ हेरा। कौन सो घरी करै पिउ फेरा?॥
दहि कोइला भइ कंत सनेहा। तोला मासु रही नहिं देहा॥
रकत न रहा, विरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥
पाय लागि जोरै धनि हाथा। जारा नेह, जुड़ावहु नाथा॥

बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झंखि।
मानुष घर घर बूझि कै, बूझै निसरी पंखि॥ १७॥

शब्दार्थ—बारहमासा—बारह महिने। सेराई—व्यतीत किया। सोहाग—सौभाग्य। सो न—वही नहीं। झुरि झुरि—सूख सूख कर।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि कहता है कि नागमती ने रो-रो कर बारह मास बिता दिये। उसकी एक-एक श्वांस में हजारों दुख भरे थे। क्षण-क्षण वर्ष के समान प्रतीत होता है और एक-एक पहर युगवत् व्यतीत होती है। इस प्रकार समय कटता ही नहीं है। नागमती कहती है कि वह स्वरूपवान पति नहीं आ पा रहा है जिसके कारण वह अपने जीवन के सौभाग्यपूर्ण क्षणों का आनंद ले सके। (श्लेष की सहायतार्थ अर्थ होगा—सोने में चांदी मिलने से उसमें खोट आ जाती है जिसको शुद्ध करने के लिए सोहागा मिलाया जाता है।) व्यंजना यह है कि विरह की घड़ियों में नागमती चांदी

रून के समान हो गई है, किन्तु मेरा पति ही नहीं आता है। यदि वह आजाये तो पुनः सुहाग प्राप्त करके सुखानुभव करूं।

नागमती पति आगमन की प्रतीक्षा में सारे मार्गों को देखती रहती है, किन्तु सांयकाल हो जाता है। वह कहने लगती है कि हे प्रिय ! वह घड़ी कौन सी होगी जब तुम वापस आओगे। प्रिय के स्नेह में जल कर वह कोयला हो गई है। शरीर में एक तोला भी मांस नहीं रहा है। शरीर में से रक्त भी निकल गया है या विरहानुभूति के क्षणों में वह भी सूख गया है। सम्पूर्ण शरीर जल गया है। आंखों से रत्ती-रत्ती खून भी बह गया है। वह कहती है कि हे प्रिय ! तुम्हारे पैरों में लगकर यह दासी हा हा करती हुई प्रार्थना करती है कि चूड़े के स्नेह को तो सार्थक करो। जायसी कहते हैं कि सम्पूर्ण वर्ष रो रो कर पश्चाताप करते करते तथा दुखी होते होते नागमती ने बिता दिया। वह मनुष्य के घर-घर में प्रिय का पता पूछती फिरी किन्तु निराशा ही हाथ लगी। तदनंतर वह पक्षियों से उसका पता पूछने के लिए घर से बाहर निकल पड़ी। (यह सामान्य नारी की सी स्थिति है।)

भई पुछार, लीन्ह बनवासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिलवांसू ॥
होइ खर वान बिरह तनु लागा। जौं पिउ आवै उड़हि तौ कागा ॥
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहं पठवौं कौन परेवा ? ॥
धौरी पंडुक कहु पिउ नाऊं। जौं चित रोख न दूसर ठांऊं ॥
जाहि बया होइ पिउ कंठ लावा। करै मेराव सोइ गौरवा ॥
कोइल भई पुकारति रही। महरि पुकारै 'लेइ लेइ दही' ॥
पेड़ तिलोरी औ जल हंसा। हिरदय पैठि बिरह कटनसा ॥

जेहि पंखी के निअर होइ कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पुछार-पूछने वाली और मयूर, चिलवांसू-चिड़िया फंसाने का एक फंदा, कागा-स्त्रियां बैठी कौवे देखा करती हैं और उन्हें यह कहती हुई उड़ाती हैं कि 'प्रिय आता हो तो उड़ जा', हारिल-पक्षी विशेष, थकी हुई, पठवौं-भेजूं, धौरी-सफेद रंग पडुक-पक्षी विशेष भी और पीले रंग का, चित रोख-चित्तगत रोष या क्रोध, गौरवा-गौरव युक्त, गौरैया पक्षी विशेष, तिलोरी-तेलिया मैना, कट नंसा-काटता और नष्ट करता है, कटनास या नीलकंठ भी, निपात-पत्रहीन।

ससंदर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जायसी कहते हैं कि नागमती ने अपने प्रिय की पूछताछ करने के निमित्त मोरनी होकर वनवास धारण किया किन्तु शत्रु सवति ने उसे चिड़नवांस के चक्कर में डाल दिया। तात्पर्य यह है कि मोरनी जंगल में रहती है, किन्तु फंदे में पड़कर दुखी हो जाती है। इसी भांति नागमती अपने पति के लिए चिल्ला-चिल्ला कर वन में पति की पूछ-ताछ करती फिरती है। सौत पद्मावती ही इसका मूल कारण है। वह कहती है कि इस समय ता बाणों को तीव्र करके मेरा प्रियतम मुझ पर प्रहार कर रहा है। तात्पर्य विरहानुभूति हो रही है। हे कौवे ! तू उड़कर बता कि क्या अब भी मेरा पति घर आयगा। मैं हारिल पक्षी बन गई हूं अर्थात् मार्ग में चलते-चलते थक गई हूं। अब प्रियतम के पास संदेश लेकर किस पक्षी को

भेजूं । हे धौरी पंडुक ! मेरे पति का स्थान बतलाओ। व्यंजना यह है कि प्रिय अब तो आजाओ । मैं विरह में जलता भुनती श्वेत और पीली हो गई हूं । मैं केवल अपने प्रिय पर निर्भर रहती हूं, जब तक मन और तन में शक्ति है तब तक मैं किसी दूसरी ओर उन्मुख नहीं हो सकती हूं ।

हे बया पक्षी ! तुम भी जाओ और कंठ लग कर मिलने वाले प्रिय का बुला कर लाओ । जो मिलन करा सकता है, वही गोरैया या गौरवशाली है । तात्पर्य, प्रियतम से भेंट कराने में जो पक्षी सफल होगा वही गौरवान्वित होगा। उसको पुकारते-पुकारते मैं कोयल के सामन काली हो गई हूं । महरि की तरह मै भी 'रे जली' 'रे जली' कहती पुकार रही हूं । पीली और तिलोरी मैना और जल-हंस आते हैं । नीलकंठ पक्षी भी बैठ कर उड़ गया है अर्थात् मेरा हृदय जल रहा है । विरह हृदय में प्रवेश करता हुआ जला जा रहा है ।

नागमती कहती है कि जिस पक्षी को ही मैं संदेश भेजने के लिए प्रेरित करती हूं वही विरह की बात जाकर प्रियतम से कहे । विरह की बात सुनकर पक्षी स्वयं ही जलता है और जो भी वृक्ष पक्षियों से भर उठता है वह पत्रहीन होकर नष्ट होता दिखाई देता है । व्यंजना यह है कि मुख से जैसे ही विरह का संदेश निकलता है त्योंही आग की जलती हुई लपट के समान पक्षी और पत्ते झुलस जाते हैं ।

विशेष—१. इस छन्द में पक्षियों के माध्यम से जायसी ने नागमती के व्यापक विरह की व्यंजना की है । भावना के आवेश में अभिव्यक्ति की मर्यादित वाणी शिथिल हो गई है । परिणामतः अर्थ में उतना प्रवाह और प्रभाव नहीं रहा है ।

२ श्लेष अलंकार का प्रयोग है । इसके साथ ही अनेक पक्षियों की नामावली, श्लेष की सहायता से अर्थ देती है । मुद्रा अलंकार की योजना भी है । अन्तिम पंक्ति में संभावनातिशयोक्ति अलंकार है ।

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रकत-आंसु घुंघुची बन बोई ॥
भइ करमुखी नैन तन राती । को सेराव ? बिरहा-दुख ताती ॥
जहं जहं ठाढ़ि होइ बनबासी । तहं तहं होइ घुंघुचि कै रासी ॥
बूंद बूंद महं जानहुं जीऊ । गुंजा गूंजि करै 'पिउ पीऊ' ॥
तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूं ॥
देखौं जहां होइ सोइ राता । जहां सो रतन कहै को बाता ! ॥

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसंत ।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—घुंघुची—गुंजा या रत्ती । करमुखी—कृष्ण मुख वाली । तन राती—लाल शरीर वाली । सेराव—शीतल करे या ठण्डा करे । रासी—राशि या समूह । परास—पलाश । बिम्ब—बिम्बाफल । तेहि लोहू—उसके रक्त से । परवर—परवल । गोहूं—गेहूं ।

सन्दर्भ व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियां नागमती विरह से सम्बन्धित हैं । नागमती का विरह हिन्दी साहित्य में अद्वितीय वस्तु है । उसके आंसुओं